सटीक विवेक प्रकाश

मूल्य - ३६)



सद्गुरवे नमः

पूज्यपाद सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कृत

विवेक प्रकाश

(सटीक)



टीकाकार

अभिलाषदास

सत्कबीराब्द ५७२

प्रकाशक :—

साधुशरणपालदास जी, शंकरभक्त जी

श्रीकबीर मन्दिर बड़हरा

पो० मद्दौबाजार

जि० गोंडा (उ. प्र.)

द्वितीयावृत्ति २०००

सम्वत् २०२८ सन् १९७१

मुद्रक :—

श्री विश्वेश्वर प्रेस

बुलानाला, वाराणसी

मङ्गलाचरण

मङ्गल मूल अमङ्गल हारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय।
सुख दातारी दुःख प्रहारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥टेक॥

सम्यक् जड़ चैतन्य परख विद्, नित्य निरन्तर चिन्तत् सद् चिद्।
जगत् वासना ग्रन्थि विदारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ १ ॥

अनघ अकाम अमद अविकारी, अजर अमर पद पाय सुखारी।
शोक मोह दुख द्वन्द्व निवारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ २ ॥

अनुभव ज्योति निकर रविकर सम, जगमगात नहिं रह अबोध तम।
हिंसा झूठ उलूक छिपारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ ३ ॥

समता क्षमा शील को धारे, सब जीवन पर दया विचारे।
ममता क्रोध द्रोह कर छारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ ४ ॥

विचरि विचरि जग जीव जगावत, भूल निवारि सुपन्थ लगावत।
निःस्वारथ अति पर उपकारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ ५ ॥

उदासीन आसीन परम पद, सब आचार विचार शुद्ध सद्।
पावन सन्त वेष व्रत धारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ ६ ॥

तव पद पाय भयों बड़भागी, पद पाथोज पराग अनुरागी।
भ्रमर मग्न अभिलाष सदारी, जय गुरु जय गुरु जय हे जय ॥ ७ ॥



भूमिका

महत्तम संत कबीर देव को कौन नहीं जानता; उनकी पैनी वाणियाँ किसको नहीं झकझोर देतीं, तथा उनका निष्पक्ष, निर्भय, दार्शनिक तथा आचरणनिष्ठ व्यक्तित्व किस मानवीय हृदय को नहीं आकर्षित करता। उनके प्रति अनुदारता रखने वालों के मुख से भी उनके महानता-द्योतक दो वाक्य निकले बिना नहीं रहते।

उनकी वाणियाँ इतनी ज्ञानपूर्ण तथा व्यवहारिक हैं कि विद्वानों से लेकर सामान्यग्रामीणों तक के घट में समायी हुई हैं। सड़कों, खेतों, बाजारों, शहरों में लोगों-द्वारा जगह-जगह सुना जाता है "कहहिं कबीर सुनो भाई साधो।"

१. प्रस्तुत ग्रन्थ

आप गुरुदेव के आचार-दर्शन का कोष 'बीजक' सद्ग्रन्थ है। उसके अनुसार, उसका ही भाव लेकर प्रस्तुत सद्ग्रन्थ 'विवेक प्रकाश' की रचना सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब जी द्वारा हुई है। यह सद्ग्रन्थ साखी, शब्द, सोरठा, चौपाई, छन्द, कुण्डलिया, लावनी, सवैया तथा कवित्तादि-द्वारा खण्डित एवं चार प्रकरण सात पाठ तथा विविध प्रसंगों में विभाजित है।

२. टीका तथा उसकी विशेषता

मूल पद की सरल टीका तथा व्याख्या की गई है, जगह-जगह लगभग सवा सौ दृष्टांत, कवित्त, छन्द तथा लगभग सौ गीत रखे गये हैं।

इसमें जड़-चेतन का भिन्न विवेक, जगत् की अनादिता, पुनर्जन्म-कर्म-फल-भोग, बन्ध-मोक्ष, सदाचार, दैवी सम्पदा, स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति तथा उसकी रहनी आदि का सविस्तृत वर्णन है। इसमें जैसे ज्ञान की उच्च-स्थितिका वर्णन है, उसी प्रकार सामान्य जनता के लिये पर्याप्त शिक्षा है।

३. क्षमा-याचना

सभी बातों की एक काल में परीक्षा न होने से, दृष्टिदोष, असावधानी तथा अनभिज्ञता-वश मनुष्य से त्रुटियाँ हो जाया करती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी भाषादि की अनेक त्रुटियाँ रह सकती हैं; क्योंकि मैं कोई विद्वान नहीं हूँ।

इसमें जो कुछ उत्तमता है, वह सद्गुरु-कृपा का फल है, और जो त्रुटियाँ हैं वे मेरी बालचपलता के परिचायक हैं। सत्य-इच्छुक जब भित्त पर लिखी शिक्षा को भी सहर्ष ग्रहण कर लेते हैं, तब मेरी त्रुटियों को क्षमा कर इसे क्यों न अपनायेंगे।

४. सद्गुरुदेव तथा संत-समाज की विशेषता

इस टीका के लिखने तथा प्रकाशन करने का सारा श्रेय सद्गुरुदेव को ही है; साथ-साथ सन्त-महात्माओं, गुरु-भ्राताओं तथा ब्रह्मचारी साधकों का पर्याप्त सहयोग है। बड़हरा संत-समाज के राग-द्वेष-रहित पारस्परिक प्रेम-मय सुन्दर व्यवहार से इस दास को पूर्णसंतोष मिला है। हम लोग गुरुदेव से यही आशीर्वाद चाहते हैं कि हम इसी प्रकार भविष्य में भी परस्पर निष्काम भाव पूर्वक सुन्दर व्यवहार बरतें तथा आपस में मैत्रीभाव व सेवक-सेव्य-भाव रख कर स्व-पर कल्याण करें।

५. कृतज्ञता-ज्ञापन

जिन महापुरुषों के जीवन तथा रचनाओं से मुझे अपने जीवन आचरण तथा रचनाओं में कुछ भी सहायता मिली है उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

६. टीका का द्वितीय संस्करण

मैं जब पहली बार इस टीका को लिखा था, मेरा प्रथम गद्यात्मक प्रयोग था, अतएव इसकी भाषा तथा शैली पर्याप्त लचर थी। अबकी बार उसका सामान्यतः सुधार कर दिया गया है। इसकी सरलता अक्षुण्ण रखने की भरसक चेष्टा रखते हुए परिमार्जन किया गया है। इस क्रम में पूरी पुस्तक को पुनः लिपिबद्ध करना पड़ा।

हमारी अनेक पुस्तकों की पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ साधु शरणपाल दास जी करते रहे। अब कुछ दिनों से ब्रह्मचारी नन्दकुमार जी कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रकाशन-सामग्री की प्रतिलिपि इन्होंने ही की है।

७. शुभकांक्षा

अबकी बार चौमासा काशी-वास में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। साधु सजीवनदास जी, ब्रह्मचारी नन्दकुमार जी, ब्रह्मचारी जीवनलाल जी, ब्रह्मचारी रामप्रकाश जी ने प्रूफ-संशोधन आदि सेवा-कार्य में अत्यन्त श्रद्धा से अथक परिश्रम किया है; अन्य बीसियों साथी तथा साधक जो इस संदर्भ में सेवाकार्य करना चाहते हैं, परन्तु स्थानाभाव से अवसर नहीं दे मिलता उन सभी कल्याणार्थियों के प्रति शुभाकांक्षा है।

अघटित परमार्थ-प्रेमी बाबू प्रेम प्रकाश जी (कलकत्ता) 'पारख-प्रकाश' पत्र का सहसम्पादन, प्रकाशन तथा व्यवस्थापन करके और बाबू कमलसिंह जी (दर्रा-रायपुर) तथा बाबू रामलाल जी (बभनान-बस्ती) पुस्तकों का संरक्षण एवं प्रेषण करके साहित्य-सेवा को अथक और पर्याप्त योगदान कर रहे हैं। अतएव ये साथी तथा इन-जैसे अनेक सहयोगी सज्जन अनन्त धन्यवाद के पात्र हैं।

८. समर्पण

अन्य सब कुछ होते हुए, सबका मूल तथा सूत्रधार श्री गुरुदेव ही हैं। सारी उन्नति, निज-पर का कल्याण आप के ही कृपाबल पर निर्भर है। अतएव आप की वस्तु श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आपके करकमलों में सादर समर्पित है।

श्रीकबीर मंदिर बड़हरा
पो० महौ बाजार
जि० गोंडा (उ.प्र.)

विनम्र
अभिलाषदास

विचार की बातें

गम्भीरता पूर्वक विचारिये—परमार्थ-विहीन जीवन निस्सार तथा क्षण-भंगुर है। यहाँ की जितनी भोग वस्तुयें हैं सब माया-जाल में फँसाने वाली हैं। विवेक न होने से अधिक विद्या प्रमाद-वर्धक है, जवानी उन्मादकर है, कुटुम्बी-मोह बृद्धकर हैं, धन लोभ-क्रोध-मदादि-उत्पादक हैं, स्वामित्व-अधिकार अहन्ता-ममता-जनक हैं; और फिर ये हैं कैसे! पानी के बुलबुले के समान, स्वप्न की भाँति; क्षणभंगुर, असत्य। किसी कविने कहा है—

मन में सोच विचार, बुलबुला पानी का।
दो दिन में मिट जाये, नशा जवानी का॥

फिर भी मनुष्य इस स्वप्न की सम्पत्ति के लिये क्या-क्या पापकर्म नहीं कर डालता। चोरी, डकैती, ठगी, घूसखोरी, छल, हिंसा, व्यभिचारादि! न तो प्राणी कुछ लेकर आता है और न कुछ लेकर जायेगा ही, तथापि दो दिन के जीवन में आकाश-पाताल एक करना चाहता है। लोक-परलोक-सुधार तथा जीवन का सच्चा सुख आत्मशांति के लिये कोई चिंता नहीं।

मनुष्य दूसरे की अचानक मृत्यु सुनता है, तो भौचक्का-सा रह जाता है। सोचता है—"आयँ! अमुक मनुष्य अभी-अभी था और अभी वह मर गया।" उसे दस मिनट के लिये रह-रह कर संसार की निस्सारता दर्शने लगती है, परन्तु पश्चात् होता क्या है, वह पुनः उसी माया-मोह में लिप्त हो जाता है। जो अचानक काल-आक्रमण दूसरे पर सुना गया, वह अपने शरीर पर नहीं सोचता। भूला मानव! तुम्हारे जीवन रूपी नैया में काल रूपी जल भर रहा है, अर्थात् तुम्हारी जीवनलीला को काल शीघ्र ही मिटाना चाहता है, आज हो या कल। सद्गुरु श्री कबीर साहेब कहते हैं—

साखी—"आज काल दिन कइक में, स्थिर नाहिं शरीर।
कहहिं कबीर कस राखिहो, काँचे बासन नीर॥ बी०"

अतः मनुष्य को सावधान हो जाना चाहिये। यह उत्तम मनुष्य जन्म केवल मोक्षसाधना योग्य है। शरीर-निर्वाहिक धन्धाओं को करके अथवा निर्वाहिक धन्धाओं को करते हुए भी, सदैव परमार्थ, सत्संग, सद्विचार में मन लगाये रखना चाहिये। सत्संग-भक्ति आदि पारमार्थिक कार्यों के लिये मनुष्य समय ही नहीं निकाल पाता. फिर अपना समय खर्च करता है केवल पेट-धन्धा में, दूसरे को ठग कर खाने में, विषय-वासना, सैल-सपाटा, आलस्य-प्रमाद में। हर क्षण मोक्षसाधना में लगाने योग्य उत्तम नर जन्म को यदि २४ घण्टे में से १-२ घण्टे भी परमार्थ-मार्ग में नहीं लगाया गया तो जीवन-सुधार कैसे होगा ?

दोहा--"खाया पीया अघाय के, सोया पाँव पसार।
भोंदू कुछ जाने नहीं, को हम को संसार॥ पं०॥"

शरीर के स्वार्थ और पाँचों विषयों के भोग भोगने में तो पशु-पक्षी, बन्दर-शूकर भी प्रवीण हैं, यदि मनुष्य की बुद्धि भी केवल शरीर-स्वार्थ और विषय भोग तक ही रही तो पशु-मनुष्य में अन्तर ही क्या रहा! अतएव मनुष्य का परम लाभ परमार्थ-प्रियता ही है और परमार्थ-प्रियता का फल है शान्ति-स्थिति। इस पर प्रश्न यह उठता है कि परमार्थ-प्रियता जँचे कैसे ? तो उत्तर में यही निश्चय होता है कि विवेकी सन्तों के सत्संग तथा सद्ग्रन्थ-अध्ययन से हृदय में सद्विचारों का प्रकाश होगा और तब परमार्थ प्रियता जँचेगी। नित्य विवेकी सन्तों का सत्संग मिलना दुर्लभ है, इसलिये उनके अनुभव पूर्ण सद्ग्रन्थों का नित्य अध्ययन किया जाय। मनुष्य जन्म सुधारने के लिये सद्ग्रन्थ अध्ययन करना अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वोत्तम साधन है।

दुःख और उससे निवृत्ति

यह जगत् तथा अपना जीवन दुःख पीड़ाओं से भरा हुआ है। कीट से हस्ती, रंक से राजा, अविद्वान् से विद्वान, बालक-वृद्ध नर-नारी एवं प्राणी मात्र दुःख से पृथक् नहीं हैं। क्योंकि गर्भ दुःख, जन्म दुःख, शिशु तथा बाल्य-कालिक दुःख, कौमार एवं यौवन अवस्था के इन्द्रिय-मन कृत चंचलता का दुःख,

अधेड़ अवस्था की चिन्ता का दुःख, वृद्धपन का दुःख, मृत्यु का दुःख, शीत-धूप, भूख-प्यास मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, संयोग-वियोग, रोग-व्याधि, भूल-भ्रम, लज्जा-घृणा, ईर्ष्या-सन्ताप, शोक-चिन्तादि त्रिविधि तापों के विविध दुःखों से कौन सा प्राणी पृथक् है ! सर्व दुःखों की जड़ तो यह चिन्तन-स्मरण-सङ्कल्प हैं, और जब तक जन्म धारण करना पड़ेगा तब तक देह में आना पड़ेगा और देह में आने से चिन्तन-स्मरण-सङ्कल्प अवश्य होते रहेंगे और जब तक चिन्तन होते रहेंगे तब तक दुःख बने रहेंगे।

इसलिये उपर्युक्त दुःखों से सर्वथा निवृत्त होने के लिये संसार का राग और इन्द्रियों के मनःकल्पित सुख भोगों का त्याग करना चाहिये। शम-दमादि साधन पूर्वक इन्द्रिय, मन को स्ववश करना चाहिये। सर्व वस्तु-प्राणियों के ममता-द्वेष से रहित हो जाना चाहिये। सत्संग में निवास करके बोध-वैराग्य-भक्ति आदि सद्गुणों तथा सदाचरणों को धारण कर और जड़-वासनाओं को मिटाकर निर्द्वन्द्व शुद्ध अविनाशी स्वस्वरूप में स्थित होना चाहिये इस प्रकार जड़ वासना से सर्वथा मुक्त हुआ स्वरूपस्थ साधक प्रारब्ध शरीर अन्त होने के पश्चात् पुनः जन्म नहीं धारण करेगा, और जन्म न होने से देहोपाधि नहीं रहेगी तथा देहोपाधि न होने से कोई चिन्तन-स्मरण-संकल्प नहीं होंगे, फिर तो सर्वदा के लिये दुःखों से सर्वथा निवृत्ति हो जायगी। जिनकी बुद्धि में यह दुःख-द्वन्द्व-रहित मोक्षपद नहीं जँचता हो; संसार के भोग ही जिन्हें सुखरूप भासते हों, उन्हें भी दुराचरण त्याग कर सत्कर्म तथा धर्म-पुण्य करना चाहिये, क्योंकि सांसारिक भोग भी धर्म करने से ही मिलते हैं। जो नहीं देगा वह क्या पायेगा ?



समर्पण

जेहि गुरु कृपा बल सत्य पद परकाश पारख होय है।
अन्तःकरण के दोष कलिमल पाप संसृति खोय है॥
अरु उर अविद्या ग्रन्थि की नीवृत्ति हो दुख जावई।
अक्षय असंग स्वरूप में यह जीव स्थिति पावई ॥ १ ॥
जो पूर्ण काम अराम नित्य स्वधाम सुख को रास हैं।
तेहि कौन वस्तू अर्पि ऋण से मुक्त हों ये दास हैं॥
हे सद्गुरु ! निज मानसिक के शुद्धि हित हम दास जन।
तन मन वचन निज अर्पि के हैं चाहते सद्ज्ञान धन ॥ २ ॥

समर्पक

शंकरभक्त, कमलसिंह, जगतपालजी, रामजैस, रामचन्द्र, सिवनी-
मण्डलिन, अनाथदास, भानमती बाई आदि
बस्ती-छत्तीसगढ़ के सेवकजन



अबकी बार ग्रन्थ-प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री गुरुदेव के चरणों में आर्थिक सेवा समर्पित करने वालों के नाम, ग्राम और जिले।

(नामांकन प्रायः द्रव्य के अनुसार अधिक वालों का प्रथम,
कम वालों का क्रमशः पीछे है।)

ललित कुमारी देवी	काठमाण्डू	नेपाल
भागवती बाई	दर्रा	रायपुर
साधु अटलदासजी	बड़हरा	गोंडा
बिसाहिन बाई	खुंदनी	दुर्ग
गोबिन्ददास, राममिलन	बोहारा	दुर्ग
महन्त श्री हीरा साहेब जो	गातापार	दुर्ग
सोनासरदीन व रोहित प्रसाद की माता	पूरे हिन्दू सिंह पुरवा	बहराइच

बैसाखिन बाई	बोहारा	दुर्ग
अकलवन्ती बाई	दुपचेरा	दुर्ग
शीलवती बाई	दर्रा	दुर्ग
असवन्तिन बाई	भानपुरी	रायपुर
साधु सेवाशरण दास जी	बड़हरा	गोंडा
रामदेव मिस्त्री	फत्तेपुर	कलकत्ता
साधु धर्मदासजी	बड़हरा	गोंडा
जयलाल जी	कोर्रा	दुर्ग
सोना बाई	दुपचेरा	दुर्ग
बिसवनी बाई	करहीभदर	दुर्ग
सुशीला बाई	दुपचेरा	दुर्ग
सावित्री बाई	दुपचेरा	दुर्ग
यशोदा बाई	कँवर	दुर्ग
भागवती बाई	परतेवा	रायपुर
देवन्ती बाई	भैंसमूड़ी	रायपुर
रामचन्द्र मौर्य	कर्नलगंज	गोंडा
सोनिया बाई	दुपचेरा	दुर्ग
शांति बाई	दुपचेरा	दुर्ग
अंजनी बाई	दुपचेरा	दुर्ग
संतसनेही (परऊ)	दुपचेरा	दुर्ग
ज्योति कुँवर बाई	भानपुरी	रायपुर
रमौतिन बाई	भानपुरी	रायपुर



विषय-सूची

प्रथम प्रकरण अमृतबोध, प्रथम पाठ

द्वितीय पाठ

पंचम पाठ

चतुर्थ प्रकरण रहस्य विचार षष्ठ पाठ

सप्तम पाठ



सद्गुरवे नमः

टीका में आये हुए टीकाकार कृत पदों का सूचीपत्र



ग्रन्थ महिमा

यह विवेक परकाश प्रकाशक, शिक्षक ग्रन्थ निराला है ।
अमर अचिन्त अनोखी अनुपम, शान्ति को देने वाला है ॥ टेक ॥

गुरु भक्ती सद्बोध से पूरे, विरति अभंग अमल फल रूरे ।
जन्म मरण से पिण्ड छुड़ाकर, अमर बनाने वाला है ॥ १ ॥

अमृत बोध अमर पद दायी, पद्य पद्य में अमृत लाई ।
सजग सजगतासार दृढ़ाई, पढ़ि गुनि होय निहाला है ॥ २ ॥

सद् निर्णय सिद्धांत समोदक, रहस विचार रहस प्रति बोधक ।
जड़ हन्ता तजि मुक्त होन को, इसमें भरा मसाला है ॥ ३ ॥

आदि गुरू कब्बीर दयाला, बीजक पारख बोध रसाला ।
वही भाव वहि गुण वहि धन सब, खोल बताने वाला है ॥ ४ ॥

संत गुरू संसृति दुख नाशी, पारख अमृत वचन प्रकाशी ।
जड़ आसक्ति निविड़ तम माँहीं, यह आदित्य उजाला है ॥ ५ ॥

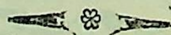


अमृतबोध — हेतु छन्द

सुख आश संशय धार में, नर मीच भोग जु गह रहे।
गो इन्द्रियों की चाह वश, त्रय ताप ज्वाला सह रहे॥
अमृत अमर निजरूप जो, जड़ ध्यास वश मरणज लहे।
गुरु भक्ति सद् वैराग्य बिन, कैसे स्ववश निज पद गहे॥ १॥

सो अति विषय विष कष्ट प्रद हर, बोध अमृत गुरु दिये।
सादर सहर्ष प्रसन्न चित, जिज्ञासु जन अमृत पिये॥
अब आधि व्याधि उपाधि गत, चैतन्य राज सुरक्षिए।
नित प्रेम सद्गुरुदेव पद, पाठन पठन शुभ लक्षिए॥ २॥

पंच विषय विष रूप जो, जीव ताहि सुख मान।
दुखित देखि गुरुवर कियो, अमृत बोध प्रदान॥



सद्गुरवे नमः

सद्ग्रन्थ

विवेक प्रकाश

सटीक

प्रथम प्रकरण अमृतबोध

प्रथम पाठ

प्रारम्भ

मङ्गलाचरण सोरठा

नाशक मर्णज पीर, विघ्न हरण अशरण शरण ।
कृपासिंधु कबीर, जन रक्षक श्री सद्गुरू ॥१॥

टीका—जन्म-मरण के कष्ट को नष्ट करने वाले, कल्याण-पथ की बाधाओं को दूर करने वाले, शरण-रहितों को शरण देने वाले, कृपा के सागर, जिज्ञासुजनों के रक्षक सद्गुरु श्री कबीर साहेब हैं ॥ १ ॥

व्याख्याः—धर्म प्रधान इस समुज्जवल भारत वर्ष में मनुष्य-शरीर-धारी, बाल-ब्रह्मचारी, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण सम्पन्न, निर्मल तथा अन्यतम संत-महात्मा सद्गुरु श्री कबीर साहेब हो गये हैं। आप स्व-स्वरूप की भूल तथा विषयासक्ति के नाशक थे, इसलिये जन्म-मरण के बीज को दग्ध करने वाले थे। कल्याण-मार्ग के जितने रोड़े हैं— अन्ध विश्वास कल्पित हानिकारी रूढ़ियाँ, मत-पथ-ग्रंथ के पक्ष, सुखाध्यास, अभिमान, विषयासक्ति— इन्हें आप दूर किये। आप मानव-समानता के उदात्त विचारों के प्रसारक, मानवता के उन्नायक, कल्याण-इच्छुकों की रक्षा करने वाले, अपार करुणावरुणालय थे।

जैसे सबका पार्थिव शरीर प्रकृति में विसर्जित हो जाता है, वैसे आपका भी शरीर प्रकृति में लीन हो गया; परन्तु आपके विचार, ज्ञान तथा आचार-मीमांसा आज भी करोड़ों मनुष्यों का कल्याण कर रहे हैं। आपको विदेह-मुक्त हुए शताब्दियों हो गये, अतः आज आप न तो किसी की वंदना सुन सकते हैं और न तो व्यक्ति रूप में आकर या अलक्षित रूप में ही किसी को कुछ प्रेरणा दे सकते हैं; परन्तु आपकी दिव्य ज्ञानमयी पैनी वाणियाँ शत-सहस्र गुणी होकर सर्वत्र मनुष्यों को एवं मुमुक्षुओं को प्रेरणा दे रहीं तथा कल्याण कर रहीं हैं।

आज हमारे द्वारा की गयी वन्दना को सद्गुरु कबीर सुन नहीं सकते; परन्तु अपने कृतज्ञता-ज्ञापन, मानस-शुद्धि एवं श्रद्धांजलि-समर्पण के रूप में हम उनकी वन्दना करते हैं। अथवा काया के विकारों को जीतने में वीर जो आज जितेन्द्रिय महापुरुष हैं, वे ही कबीर हैं, प्रत्यक्ष रूप में उन्हीं की वन्दना करना सच्चे कबीर-अनुयायियों को इष्ट है।

हम यह अन्धविश्वास कभी नहीं करते कि 'कबीर' 'कबीर' नाम पुकारने से या कबीर साहेब की वंदना करने से सद्गुरु कबीर आकर हमें उबार लेंगे या हमारे पापों का नाश कर देंगे या स्वतः पापों का नाश हो जायगा। किन्तु जिनका ज्ञान-भण्डार पाकर हम कृतकृत्य हुए हैं, उनके प्रति यदि हम दो-चार वाक्यों में श्रद्धांजलि भी नहीं समर्पित कर सके तो हमारे सदृश कृतघ्न और कठोर-हृदय कौन होगा! और श्रद्धा-भक्ति का भी स्थान क्या होगा! इन सब दृष्टियों से यहाँ वन्दना की गयी है।

अघ तम देत नशाय, विरति ज्ञान दिनकर निकर।
गुरु पद भेषज पाय, शमन होत भव रुज सकल ॥२॥

टीका—ज्ञान-वैराग्य रूपी सूर्य के किरण-समूह दुराचार एवं विषयासक्ति रूपी अन्धकार को सर्वथा नष्ट कर देते हैं। सद्गुरुचरण की शरण, स्वरूप-ज्ञान एवं स्वरूप-स्थिति रूपी औषधि को पाकर सम्पूर्ण मानसिक-जन्मादिक रोग समाप्त हो जाते हैं ॥२॥

व्याख्याः—'दिनकर' कहते हैं सूर्य को और 'निकर' कहते हैं समूह को। जैसे सूर्य के प्रकाश-समूह अंधकार को दूर करते हैं, वैसे ज्ञान-वैराग्य पाप को दूर करते हैं। 'गुरुपद' के मुख्य तीन अर्थ हैं—सद्गुरु का पार्थिव चरण, चेतन का शुद्ध स्वरूप-पारख तथा सद्गुरु की स्थिति दशा। 'भेषज' कहते हैं औषधि को। अतएव सद्गुरु के चरणों की शरण, शुद्ध चेतन स्वरूप का ज्ञान तथा सद्गुरु की स्थितिदशा, अर्थात् हंस रहनी के संयुक्त जीवन्मुक्ति की स्थिति--ये जन्म-मरण तथा मानसिक रोगों को नाश करने के लिये महान औषधियाँ हैं।

पर उपकारी संत, पारखनिष्ठ उदार चित।
पार कियो जन कंत, अति प्रवाह भव धार से ॥३॥

टीका—दूसरे जीवों के उपकार करने वाले, समता और दयादृष्टि पूर्वक सद्शिक्षा रूपी दान देने में अत्यन्त उदार-हृदय स्वरूपज्ञाननिष्ठ हे विवेकी संत-महात्मन्! हे मुमुक्षुजन के स्वामी! हिंसा, चोरी, व्यभिचार, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, विषयासक्ति, देहाभिमान रूपी मनोमय के अत्यन्त वेगवान् धारा-प्रवाह से अथवा जन्मादिक कष्टों से बचाइयेगा, यही बारम्बार विनय है ॥ ३ ॥

आयो तव पद पास, श्रवण सुयश सुनि दास यह।
पूरण कीजे आश, दीनबन्धु करुणारमण ॥४॥

टीका—यह दास अपने कानों से आपकी निर्मल कीर्ति सुनकर आपके चरणों के निकट आया है। दीन-बन्धु, दयास्वभाव प्रिय! हमारी आशा पूर्ण कीजिये ॥ ४ ॥

तव पद में सिर टेक, छुटन चहत भव दुक्ख से।
करुणानिधी विवेक, शमन करो बलदे प्रभू ॥५॥

टीका—आपके चरणों में सिर झुकाकर अर्थात् आपके चरणों की शरण लेकर, किंवा आपके दिये हुए स्वरूप-ज्ञान में टिककर यह दास मानसिक-जन्मादिक दुखों से छूटना चाहता है। हे कृपानिधि सद्गुरु

श्री विवेक साहेब ! अपना विवेक बल देकर हमारे समस्त भ्रमों का नाश कीजिये ॥ ५ ॥

व्याख्याः—इस ग्रन्थ के रचयिता पूज्यपाद सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब के, पूज्य श्री विवेक साहेब सद्गुरु हैं। अतएव आप अपने गुरुदेव की श्रद्धा-भक्ति पूर्वक वन्दना करते हुए उनसे विवेक-बल की प्राप्ति चाहते हैं।

तव पद में विश्राम, दयानिधे मम उर बसो।
कर पुट जोरि प्रणाम, त्रय वच से नित बंदगी ॥६॥

टीका—हे कृपानिधि गुरुदेव ! आपके चरणों की शरण में, किंवा स्वरूपज्ञान में स्थित होने से ही जीव को सर्व दुखों से छुटकारा मिलने वाला है; अतएव आपकी ज्ञानमूर्ति एवं स्वरूप-ज्ञान हमारे हृदय में निवास करे। हाथ जोड़ तथा अंजुलि बाँधकर त्रयबार साहेब बंदगी व प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

विनय

हे सद्गुरु ! हे सुख दातार। नमों नमों पद बारम्बार ॥ टेक ॥

मैं मति मंद अधम अति भारी, बिषय बासना बिवश दुखारी।
पावन पतित करो अविकार, नमों नमों पद……… ॥ १ ॥

यद्यपि स्वप्न रूप जग सारा, तदपि न मोह तजत गृह दारा।
ममता हरि करिये भव पार, नमों नमों पद……… ॥ २ ॥

नहिं तव भक्ति नहीं कछु ज्ञाना, नहिं कछु साधन विरति अमाना।
सकल भाँति मैं अधम लचार, नमों नमों पद……… ॥ ३ ॥

तन मन वचन प्रबल भवधारा, तेहि वश थिर न लहत निशि वारा।
दै निज शक्ति करो निरुवार, नमों नमों पद……… ॥ ४ ॥

जन्म मरण से लेहु बचाई, विनय करों प्रभु होहु सहाई ॥
तुम बिन कौन हरे भव भार, नमों नमों पद……… ॥ ५ ॥

एक मात्र याही अभिलाषा, मिले मोक्ष छूटे दुख पासा।
दया करो त्रय जन हितकार, नमों नमों पद ॥ ६ ॥

विनय प्रसंग १

शब्द—२

श्रीगुरु चरण कमल नित ध्याऊँ ॥टेक॥

तजि सब आश फाँस दुख जग की, पारख में चित लाऊँ १
महिमा अमित पतित पावन की, केहि विधि सब मैं गाऊँ २
रवि से अधिक तेज तव जग में, जड़ तम अज्ञ नशाऊँ ३
जो नहिं जानत अंध सरिस ते, दिनहिं को तिमिर लखाऊँ ४
महा भयानक कानन तिनको, भरमि भरमि दुख खाऊँ ५
सब सुख कारण तारण गुरुवर, तेहि तजि अंत जो जाऊँ ६
फिर सुख शांति कहाँ वह पावत, जन्म जन्म पछिताऊँ ७
ताते चरण शरण गहि गुरु की, पुनि पुनि पद शिर नाऊँ ८

टीकाः—पूज्य सद्‌गुरुदेव के भवतारक चरण-कमलों का मैं नित्य ध्यान करूँ ॥टेक॥ दुःखपूर्ण संसार के विषयों की आशा रूपी फाँसी को तोड़कर स्व-स्वरूप-चिंतन में ही लक्ष्य दूँ ॥१॥ अधमोद्धारक गुरुदेव का अपार महत्व है, मैं उसकी सम्पूर्ण व्याख्या कैसे कर सकता हूँ ॥२॥ सूर्य तो केवल बाहरी प्रकाशक है, मनुष्यों के हृदय का नहीं, परन्तु गुरुदेव मनुष्यों के हृदय के प्रकाशक हैं, अतएव संसार में सूर्य से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाश आप गुरुदेव का है, जिससे जड़ासक्ति एवं अज्ञान रूपी अँधियारी समाप्त हो जाती है ॥३॥ जो आपके ज्ञान-प्रकाश के महत्व को नहीं जानते वे अंधे के सदृश हैं, उनको उलूक पक्षी के समान दिन ही में अंधेरा दिखता है ॥४॥ उनका हृदय-कानन महान भयानक है, वे उसी में भ्रम-भ्रम करके दुःख उठा रहे हैं ॥५॥ निर्वासना-जनित सच्चे सुख के मूल भवाब्धि-तारक गुरुवरदेव की अवहेलना करके जो पृथक जायगा ॥६॥ फिर वह वास्तविक सुख-शांति कहाँ पा सकता है; प्रत्युत जन्म-जन्मान्तरों तक पश्चाताप करता रहेगा ॥७॥ अतएव पूज्य गुरुदेव के चरणों की शरण लेकर पुनः-पुनः उनके चरणों में सिर झुकाता हूँ ॥८॥

व्याख्या: — दया, क्षमा, सत्य, शील, विचार, विवेक, वैराग्य, भक्ति, समता, संतोषादि सद्गुण-सम्पन्न सद्गुरुदेव का अपार महत्व है। ऐसे गुरुदेव की शरणागति ही कल्याण का मुख्य द्वार है। जैसे अग्नि के स्पर्श से उष्णता तथा जल के स्पर्श से शीतलता की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार निर्दोष चित्त वाले संत-गुरु के सहवास से मनुष्य निर्दोष होता है; परन्तु ऐसे संत-गुरु के महत्व को मूढ़ मानव उसी प्रकार नहीं जानता, जैसे उलूक पक्षी सूर्य के महत्व को। सत्संग-विवेक रूपी नेत्र बिना उनका नर-शरीर रूपी दिन अंधकारमय है। जिन साधकों को कल्याण प्रिय है, सर्व लौकिक लाभों की अपेक्षा आत्मशान्ति का ही लाभ जिसे जँचता है, ऐसे मुमुक्षु-साधक के लिये साधन सम्पन्न सद्गुरु के समान कोई सहारा नहीं है। योग्य वैराग्यवान सद्गुरु की शरण में अपने को निर्मानता पूर्वक डाल देने के समान कोई अमोघ साधन नहीं है। अतएव कल्याणार्थी को अपना अहंकार मर्दन करके गुरुदेव की शरण लेनी चाहिये।

विनय-शब्द

प्रभु ! मम चित्त में—मैं बस जाऊँ ॥ टेक ॥

तन धन धाम धरणि घरणी सुख, पंच विषय बिसराऊँ ॥ १ ॥
अज अविकार अचल अमृत पद, तेहि स्थिति ठहराऊँ ॥ २ ॥
जस त्रय काल जगत मों·में नहिं, तस सब भास दुराऊँ ॥ ३ ॥
दृढ़ अभिलाष प्रेम अपने में, समुझि-समुझि सुख पाऊँ ॥ ४ ॥

शब्द—२

श्री गुरु मंगलमय सुखदाई ॥ टेक ॥

जन्म-मरण सब दुक्ख बिनाशक, देते ज्ञान दृढ़ाई १
अशरण शरण हरण भव भञ्जन, पारख रूप सदाई २
भक्त जनन के हृदय सरोवर, रहते सदा समाई ३
दारुण द्वन्द अविद्या उर की, करते सकल सफाई ४

कृपासिन्धु दीनन के रक्षक, विदित जगत प्रभुताई ५
शिशु "सूरत" के मात पिता गुरु, तुमही एक सहाई ६

टीका:— हंस गुण सम्पन्न श्री गुरुदेव जी कल्याण रूप हैं और वास्तविक सुख के दाता हैं ॥टेक॥ जन्म-मरण एवं मानसिक-देहोपाधिक-समस्त क्लेशों का जहाँ अन्त हो जाता है ऐसे स्वरूप ज्ञान का निश्चय कराने वाले हैं ॥१॥ अनाथों को शरण में लेनेवाले, मानसिक-जन्मादिक घोर कष्टों को हरण किंवा नाश करनेवाले, सदैव सर्वपरीक्षक, निर्मल, एक-रस हैं ॥२॥ भक्त जनों के हृदय-सरोवर में आप सदैव समाये हुए हैं अर्थात् भक्तों के हृदय में आपका अपार महत्त्व विद्यमान है ॥३॥ राग-द्वेष के भयंकर द्वन्द्व तथा हृदय के अविवेक को आप सम्पूर्ण प्रकार से धो देनेवाले हैं ॥४॥ दयासागर, दुखियों के रक्षक आप गुरुदेव का महत्त्व संसार में प्रकट है ॥५॥ और अल्पज्ञ बालक "रामसूरतदास" के तो हे गुरुदेव ! आपही धर्म के माता-पिता हैं और आपही सब प्रकार के संरक्षक हैं ॥६॥

व्याख्या:— 'दारुण द्वन्द्व' भयंकर झगड़ा राग-द्वेष है, इन दोनों का अंत करना ही कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है। विषयासक्ति ही सब बंधनों का मूल कारण है, इसकी निवृत्ति से ही जीव का कल्याण है:—

कुण्डलिया

केवल विषयाध्यास से, रह्यों आजतक बंध।
गुरु परखाय छुड़ाय सो, कीन्हों भल निर्द्वन्द्व ॥
कीन्हों भल निर्द्वन्द्व, विषय की नाश्यो बूटी।
पियों अमर अब होऊँ, अमिय निज पद की घूँटी ॥
बार बार को मरे, कौन अब जन्मे आई।
जरा-व्याधि दुख हर्ष-शोक से पिण्ड छुड़ाई ॥
अब निज पद पारख भई फिर न परों तन गंद ।
केवल विषयाध्यास से रह्यों आज तक बन्ध ॥

शरीर अनित्य है, अशुचि है, जड़ एवं दुःखपूर्ण है। इसमें रमणीयत्व, नित्यत्व, आत्मत्व एवं सुखत्व की प्रतीति होना विपरीत भास है और यही 'अविद्या' का स्वरूप है। इसका अन्त करना मुमुक्षु का परम

कर्तव्य है। इन सब के अन्त के लिये निर्मल गुरु-संतों का आधार लेना अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त संसार-सागर से जीव को पार लगाने वाला कोई नहीं है।

कवित्त

कोई के तो ईश ब्रह्म खुदा गाड तीर्थ मूर्ति, कोईके तो भूत प्रेत काली देवी देव हैं।
कोई के तो राज पाट महल जगीर धन, ओहदा व विद्या वेद मित्र बंधु केव हैं॥
कोई के तो सार ससुरार सारी सरहज, कोई के तो नारी पूत जातिकुल भेव हैं।
जगमाहिं सबके तो सब कोई देख परे, हमरे तो कोई नहीं एक गुरुदेव हैं॥

शब्द—४

क्षमा प्रभु कीजे चूक हमार ॥ टेक ॥

बालक अवगुण पिता न खीझत, माता सुतहिं पियार
त्यों ही मातपिता गुरु सब के, पुनि पुनि करत सुधार १
जो कभि निठुर भयो गुरु मो पर, नाहिन धर्म तुम्हार
अब तो टेक याहि तव पद में, करिये मोर उबार २
वेद पुराण निरूपत सबहीं, गुरु महिमा विस्तार
पतित उधारण नाम तुम्हारो, तारयो पतित अपार ३
नाथ विलम्ब काह अब मोपर, कृपा सिंधु सरकार
मैं अनाथ भव सिंधु में डूबत, पार करो कढ़िहार ४

टीकाः—हे स्वामिन ! मेरी भूल को क्षमा कीजिये ॥ टेक ॥ जैसे छोटे बालक का दुर्गुण देखकर पिता क्रोध नहीं करता, और माता को अबोध दुष्ट पुत्र भी प्यारा ही लगता है। "जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहि मुदित मन पितु अरु माता ॥रामायण॥" हे सद्गुरुदेव ! वैसे ही हम सब जिज्ञासुजनों के आप धर्म सम्बन्धी माता-पिता हैं, बारम्बार सुधार करने वाले हैं ॥१॥ मेरी अत्यंत अधमता को देखकर यदि मुझ पर कभी आप कठोर होंगे, भाव—अपनी शरणों से यदि हमें कभी हटायेंगे तो हे दयालु सद्गुरुदेव ! यह आपका कदापि धर्म नहीं है। हे प्रभु ! मेरे तो अन्य कोई आश्रय नहीं, अब तो आपके चरणों का ही दृढ़ सहारा है, हे नाथ !

कामादिक, मनोमय तथा जन्मादिक घोर कष्टों से मुझे बचाइये ॥२॥ वेद-पुराणादि यावत् सद्ग्रंथ सभी आप सदगुरु का महत्त्व विस्तृत वर्णन करते हैं। पतित-पावन आपका नाम भी संसार में प्रचलित है, बोध-वैराग्य आदि सद्रहस्य प्रदान कर अगणित पापियों को जन्मादिक सागर से तार दिये ॥३॥ फिर हे नाथ ! हे दयासागर स्वामिन ! मुझ पतित के उद्धार करने (शरण देने) में कौन सी देरी है ? मैं सब भाँति से आश्रय-हीन होकर काम-क्रोधादि मनोमय-सागर में गोता लगा रहा हूँ। संसार-सागर के मल्लाह रूप हे सद्गुरुदेव ! हमें मानसिक, देहोपाधिक एवं जन्मादिक घोर कष्ट-सागर से शीघ्र पार कीजिये, यही आपके समक्ष नम्र निवेदन है ॥४॥

छन्दः—है मोह का सागर प्रबल, आशा व तृष्णा तट घने।
चिन्ता लहर घड़ियाल द्वेष, वो राग सर्प अमित फने ॥१॥
अरु भँवर रूपी काम गहि, गहि बोरता भव भोग में।
सर सर सलिल भव का बहे, बहु फंद मन वश लोग में ॥२॥
ऐसे उदधि विकराल भव में, मैं बहा अब जा रहा।
जल्दी बचाओ नाथ ! अब, दुख का तराना गा रहा ॥३॥

व्याख्याः— मनुष्य की इन्द्रियाँ निरन्तर भोगों के लिये आतुर हैं। मन मान के लिये चंचल है। वह मनःकल्पित सुख के लिये ममता, ईर्ष्या, अभिमान में सदैव जला करता है। वह न तो वैराग्य-बोधनिष्ठ गुरुदेव का दास बन पाता है और न तो अपने मन को अपना दास बना पाता है; परन्तु दूसरे को मूड़कर अपना दास बनाना चाहता है। उसको गुरुजनों की सेवा नहीं रुचती, परन्तु दूसरे से अपनी सेवा कराने के लिये आतुर रहता है। वह गुरुजनों की बराबरी तथा पटैती करता है, परन्तु दूसरों से अपने को पुजवाने की चेष्टा करता है।

मनुष्य जितना मान और विषय सुख चाहता है उसका एक अंश भी ज्ञान, भक्ति, वैराग्य की ओर मन दे तो उसका निश्चय ही कल्याण हो जाय। अधिकांशतः साधकों में दम्भ देखा जाता है। मनुष्य का ज्ञान-कथन बहुत ऊँचा हो जाता है, परन्तु करनी बहुत पीछे रह जाती

है। वाक्यबखरता तथा वाचिकज्ञान ही में मनुष्य अपने को कृतकृत्य मान लेता है और इसी में अपने को बड़ा मानता है।

मनुष्य गुरुभक्त कहलाकर नित्य मन की चाकरी करता है। उसका मन 'बनिया के पूत[1] के समान' सदैव मान-बड़ाई और भोग-सुख पर ही गिरता रहता है। उसमें विनयशीलता भी यदि दम्भपूर्वक है तो वह भी अहंकार का ही पोषक है। अतएव बोध-वैराग्य-निष्ठ सद्गुरुदेव तथा सन्तों में निष्कपट श्रद्धा-भक्ति रख कर अपना कल्याण करना चाहिये।

प्रार्थना

जो हम हैं पतित तो हो पावन पतित तुम,
ये औसर प्रभू जी ! भले ही मिला है ।। टेक ।।
नख शिख से नाथ ! मैं भरा पापों क खजाना,
हूँ दास आपका, मेरा है मात्र कहाना।
नहीं शक्ति साधन न वैराग्य मन में,
नहीं भक्ति किंचित हृदय में भला है ।।१।।

---

१. दृष्टांतः—एक बनिया का पुत्र घी खरीदने गया और बाजार से घी लेकर आ रहा था इतने में मार्ग पर असर्फियों से भरी हुई एक थैली देखने में आयी। बनिया का पुत्र सोचने लगा यदि इसे झुक कर उठाऊँगा तो सब लोग देख लेंगे और हमारे हाथ से असर्फियाँ चली जायँगी। अतः सोच-विचार कर जब असर्फियों के पास पहुँचा तो जान बूझकर लड़खड़ा कर गिर पड़ा, घी का मटका दूर गिरा और असर्फियों की थैली को तुरंत अपने जेब में रखकर पश्चात् रोने लगा। लोग दौड़-दौड़े आये और उठाये। उसके पाँव में कुछ चोट लग गयी थी। लोग गिरने का कारण पूछे, तो उसने रो-रो कर बताया कि यों ही लड़खड़ा कर गिर पड़ा था। इतने में शीघ्र कोई जाकर यह समाचार बनिये से कहा। बनिया अपने मन में सोचा "बनिया का पूत तो लाभ पर ही गिरता है, वह निरर्थक नहीं गिरा होगा"।

सिद्धान्तः—"बनिया का पूत" यह मन है, यह मान-भोग रूपी लाभ पर ही गिरता है। परमार्थ-भक्ति के लिये आलसी बनता है।

मेरे अनेकों भूल को प्रभुवर सुधारेंगे,
फिर फिर गिरूँगा भव में तो फिर फिर सम्हारेंगे।
कठिन रोग जन्मादि से अब बचालो,
तेरे शीश पर नाथ मेरी बला है ॥२॥
पापी समझ के आप जो मुझको हटायेंगे,
तो इस मलीन दास को फिर को निभायेंगे।
अतः आप अपनी शरण में लगाओ,
हृदय पाप तापों से मेरा जला है ॥३॥
जो पाप के समूह मैं पावन समूह तू,
भव नद में बहइया जो मैं भव से खेवइया तू।
यही एक अभिलाष आशा किये हैं,
दया देव "सूरत" स्वतः पद मिला है ॥४॥

शब्द—५

धनि धनि श्री गुरुदेव हमारे ॥ टेक ॥
पंच विषय सुख भास आश में, पड़ि दुख अमित सहारे
कृपा सिंधु सद्ज्ञान दान दे, जीवन के दुख टारे १
जीव रहित निर्जीवहिं कहिए, कारण कार्य पसारे
सत्य सो जीव भिन्न सबहिन से, जड़तम दृश्य असारे २
सो सब कृपा दृष्टि परखायो, खानि बानि विकरारे
नीर क्षीर निर्णय जड़ चेतन, लखि टकसार सुधारे ३
वारों तन मन वचन निरन्तर, श्री गुरुशरण तुम्हारे
गुरु विवेक जानि जन आपन, करहु दयाल सहारे ४

टीका:—वैराग्य मूर्ति हमारे श्री गुरुदेव अनन्त महिमा-भाजन हैं, क्योंकि ॥ टेक ॥ शब्दादि पंच विषयों के सुख-भ्रम-वश उनकी आशा में पड़कर जीव अपार दुःख सह रहा है। उस दुःख को दयासागर गुरुदेव स्वरूपज्ञान देकर मिटा देते हैं ॥१॥ पृथ्वी-जलादि कारण तत्त्व तथा

इनके अनन्त कार्य पदार्थों का जहाँ तक विस्तार है, सब चेतना रहित निर्जीव ही कहना चाहिये। जड़ कारण-कार्य अंधकार रूप, दृश्य तथा सारहीन हैं, और इन दृश्यों से सर्वथा पृथक चेतन अविनाशी एवं अपरिवर्तनशील है ॥२॥ इस जीव के दो विकट बन्धन हैं—एक मोटी माया (स्त्री-पुत्र-धनादि की आसक्ति) दूसरी झीनी माया (स्वस्वरूप से पृथक ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देव, भूत-प्रेतादि तथा मान-बड़ाई आदि की भ्रम-मान्यता) गुरुदेव कृपा करके इन सबका रहस्य परखा दिये हैं। महान तत्त्वदर्शी ग्रन्थ "बीजक" का मनन करके जड़-चेतन का नीर-क्षीर विवेक किया; और गुरुकृपा से इस मानव-जन्म का सुधार हुआ ॥ हे गुरुदेव ! आपकी शरणों में सदैव के लिये तन, मन, वचन न्योछावर हैं। हे दयालु गुरुवर श्री विवेक साहेब ! अपना दीन दास जानकर आश्रय दीजिये ॥४॥

व्याख्या:— शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पाँच विषय हैं। इनकी आसक्ति में फँसकर जीव समुदाय दुखी है। सच्चा कल्याणार्थी इन विषयों से अपने को बचाने का प्रयत्न करे।

शिष्य ने शंका की कि हे गुरुदेव ! पंच विषयों की आसक्ति में जीव कैसे अनंत कष्ट पाता है ? इसको भली-भाँति उदाहरण द्वारा समझाने की कृपा कीजिये। गुरुदेव बोले — हे शिष्य ! ध्यान देकर एकाग्र चित्त से सुनो ! मैं भली प्रकार प्रमाण देकर समझाता हूँ।

पद

स्पर्श विषय में पड़कर, देखो हस्ती बाँधा जाता है।
मानुष के हाथों में पड़कर, नित भाला डंडा खाता है ॥
देखो रस में पड़कर मछली, केचुवायुत बंशी खाती है।
बंशी मुख में फँस जाती है, आरत होकर बिललाती है ॥
निदान वह मारी जाती है, परवश होकर रस हेतू से।
चीटी भी अंग भंग होती, देखो ! उस ही रस हेतू से ॥

दोहा:—रूप विषय में मस्त हो, जरत सलभ समुदाय।
अहो ! मोह महिमा प्रबल मोसो कही न जाय ॥१॥
ज्यों ज्यों शब्द सुनत मृग, त्यों त्यों होवत अंध।
शब्द विषय में गर्क हो, परत शिकारी फंद ॥२॥

कमल सुमन विकसित निरखि, भँवर सुगंधित हेत।
जाय बैठ तेहि सुमन महँ, पुनि सम्पुट कर लेत ॥३॥
इतने में दिनकर मचल चले अरु निश होने को जब आई।
उस दास्तान को तो सुनिये ! ऐ सज्जन गण ! सब मन लाई ॥
भँवरा मन ही मन सोच रहा ये सुमन काटना ठीक नहीं।
रात्री व्यतीत हो इस ही में तज सुगन्ध जाना ठीक नहीं ॥
प्रातः रविदेव उदित होंगे तब स्वयं पुष्प खिल आयेगा।
मैं भी प्रस्थान करूँगा तब सहजिक मेरा बन जायेगा ॥
इतने में रजनी खिसक गई, अरु चार बजे का समय हुआ।
मानों भँवरा के कालदेव का एकमात्र आगमन हुआ ॥
दोहा:—आइ गयो तेहि काल में, जंगल से गज वृन्द।
सुमन तोड़ि गज मुख कियो, भँवर मरयो हित गंध ॥४॥
जो कठिन काष्ट को भेद सके, वह क्या फूलों से गस खाए।
पर हाँ अपनी आसक्ती वश, जाकर पंकज में फँस जाए ॥
जब एक विषय इतना घातक, इतना चंचल इतना बाधक।
हे भाई ! तिसे तू मान रहा, सुख शांती में अपना साधक ॥
उन पशु कीटों अरु कीड़ों को, एक एक विषय हैरान किए।
ये दैव प्रचण्ड विषम विष ने, बेचारों को गल्तान किए ॥
मानुष तन में तो पाँचों विष, एकत्र हुये हैं आ कारके।
हे नर जीवों क्यों फूल रहे, ये विषम हलाहल पा करके ॥
यह आदत मात्र हैरानी है, इसमें नहिं सारभूत कुछ है।
हाँ आवागमन का कारण है अरु आदि अंत दुख ही दुख है।
दोहा:—शिष बोल्यो गुरुदेव से, हे प्रभु ! कृपानिकेत।
किमि ये आसक्ती छुटै, होवे निजपद चेत ॥५॥
गुरु बोल्यो हे शिष्य सुनु, कहौ जो तोको बात।
मनन चितवन धारि उर, करहु अपन कुशलात ॥६॥
सबसे भिन्न स्वरूप निज, बंधन रहित अकाम।
तैसे सद् रहनी गहै, तजै बचाली बाम ॥७॥

चौपाई

प्रथम करहु संतन कर संगा। दूजे गुरु पद प्रीति अभंगा ॥

तीजे सद्ग्रन्थन चित दीजे । चौथे साधु सुधा वच पीजै ॥
पंचम पाँच विषय दुख जानों । छठा देह दुख रूप पिछानो ॥
सतयें कुसँग भली विधि त्यागें । अठयें निज पद में अनुरागे ॥
नवाँ सदा निर्मान रहावे । दसयें उदासीन चित लावे ॥
ग्यरहें निज पारख में लीना । बरहें जगत् स्वप्न सम चीन्हा ॥
तेरहें मनन दृश्य को त्यागै । चौदह सजग वीरता पागै ।
पंद्रहवें साहस दिन दूना । सोरहवें तन भाव विहूना ॥
सत्रहवें निज पद ठहरावा । अष्टादस जग-ब्रह्म अभावा ।
दस नव में स्थिति विश्रामा । विशवावीस छूटै तन सामा ।

दोहा:—धीरे-धीरे सब मिलै, प्रथम भक्ति गुरु साधु ।
पुनः व्रत ब्रह्मचर्य गहि, तहँ गुण बीस अगाधु ॥८॥
सुनि साधन गुरुमुख वचन, नाय चरण में शीश ।
शिष्य सहर्ष सप्रेम मन, हृदय धरत गुण बीस ॥९॥
जीति विषय दलि वासना, निज पद स्थिति नित्य ।
जन्म मरण सब दुख गयो, छुट्यो नित्य को नृत्य ॥१०॥

शब्द—६

दयानिधि पार करो मोरि नइया ॥ टेक ॥

भव जल धार में नाव पड़ी है, मन तरंग बहु उठै दुख दइया १
पंच विषय परवाह में डूबत, नहिं कहुँ पार सुझइया २
भँवर रूप चौरासि चक्र में, भूलि भटकि बहु कष्ट सहइया ३
मान अमान मीन जल माहीं, दुखसुख सीप सेवारहे कइया ४
गरीब निवाजजानि जनआपन, दैमोहिं भक्तिशरण सुखदइया
दोउ करजोरि नमत पद तेरे, गुरु कबीर हो दयाल खेवइया ६

टीका:—हे कृपा के भण्डार सद्गुरुदेव ! मनोमय भँवर में पड़ी हुई पारमार्थिक जीवन रूपी हमारी नावका को किनारे लगा दीजिये ॥ टेक ॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि वेगों में हमारी नौका पड़ी है, हर्ष-शोक राग-द्वेषादि के अनेक कष्टदायी मानसिक हिलोरें उठती हैं ॥१॥ पंच

विषयासक्ति की प्रवाह-धारा में मैं डूब रहा हूँ, हे नाथ ! कहीं किनारा नहीं दिखता ॥२॥ स्वरूप की भूल-वश अण्डज, पिण्डज, उष्मज और मनुष्य इन चार खानियों के फेर रूपी भँवर में भटक-भटक कर हे नाथ ! मैं अधिक क्लेशों को प्राप्त हुआ हूँ ॥३॥ मान-अपमान रूपी भयंकर मछलियाँ मानसिक भव-जल-धार में निवास करती हैं। और दुःख-सुखादि की कल्पना ही वहाँ सीप, सेवार तथा काई हैं, ये सब हमारी पारमार्थिक नौका को पार नहीं लगने देतीं ॥४॥ दीनों पर दया करने वाले हे सद्गुरु-देव ! अपना दास जानकर अपनी सुखदायी भक्ति और शरण दे दीजिये ॥५॥ दोनों हाथ जोड़ कर आपके चरणों में नमस्कार करता हूँ। हे कृपालु सदगुरु श्री कबीर साहेब ! जिज्ञासुओं की नौका को संसार-सागर से आप ही खेयकर पार लगाने वाले हैं। अतएव मुझे भी पार लगाने की कृपा कीजिये ॥६॥

व्याख्याः—कायासक्ति को जीते हुऐ स्वरूपनिष्ठ संतों को "श्री कबीर साहेब" कहते हैं और ऐसे निर्मल संत ही जीव को संसार-सागर से पार कर सकते हैं।

शब्द—७

कृपा कब करिहो गरीब निवाज ॥ टेक ॥

मैं हूँ पतित अनेक जन्म के, तुम पावन सुख साज
देखि दीनता बहु दीनन की, हरो दीनता आज १
छल, बल, कपट भरा बहु उर में, सन्मुख आवत लाज
तवबिन चूक मिटत नहि उरकी, सब उपाय करिआयोंबाज २
धर्म विटप प्रभु आप विराजत, पुष्प सुगंधित साज
सो सुगंध निज जन को दीजे, बाँह गहे की लाज ३
आपहि मात पिता गुरु रक्षक, आप सुधारन काज
हरहु दीनता आज हमारी, दासन के सिरताज ४

टीकाः—दीनों पर दया करनेवाले हे सद्गुरुदेव ! हम पर कब कृपा

करेंगे ॥टेक॥ मैं तो अगणित जन्मों का पापी हूँ, हे प्रभु वैसे ही आप पवित्र कल्याणकारी क्षमा, शील, विवेक, वैराग्यादि सद्‌गुणों के साज हैं। अतएव हम दीनों की अत्यधिक दरिद्रता को देखकर आज ही उसे हरण कर लीजिये ! १॥ हे नाथ ! मनमें मान-भोग-कामना की अधिकता होने से बहुत-से छल-बल, कपट-दुराव अन्तःकरण में भरे हुए हैं, जिससे आपके सामने आने में लज्जा लगती है। मनःकल्पित साधन-तपस्यादि सब युक्ति करके मैं हार गया, किन्तु हे प्रभु ! आपके बिना हमारे हृदय की भूल नहीं जाती ॥२॥ हे प्रभु ! आप तो सद्धर्म के वृक्ष हैं, विवेक-वैराग्यादि अनेक सद्‌गुण रूपी सुगन्धित फूल-साजों से सुशोभित हो रहे हैं। वही सद्‌गुण रूपी सुगंधी अपने दास को भी दीजिये, संसार-सागर से तार देने के लिये जो हमारा हाथ पकड़कर सहारा दिये हैं अर्थात् हमें शरण में लिये हैं, उसकी लज्जा कीजिये। भाव यह कि किसी भाँति भी हमारी भूल-चूक उल्टी-पल्टी क्रिया को सहन एवं क्षमा कर हमें मानसिक घोर कष्टों से बचाइये ॥३॥ हमारे तो अन्य कोई आश्रय नहीं है, इस दास के आप ही धर्म के माता-पिता हैं। हे गुरुदेव ! आप ही रक्षक हैं, आप ही हमारे कल्याण के बनानेवाले हैं। हे दासों के सिर मुकुट सद्‌गुरुदेव ! हमारी विषय-वासना रूपी दरिद्रता आज हरण कर लीजिये, यही प्रार्थनापत्र आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ ॥४॥

कुण्डलिया

भूलि भटकि चहुँ दिश फिरा, कहूँ न पाया ठौर।
शरणागत अब लीजिये हे गुरुवर ! सिरमौर॥
हे गुरुवर ! शिरमौर, न कोई साथ देवइया।
मात तात सुत दार, मित्र सग सार व भइया॥
अपने स्वारथ हेतु, हमहिं से नाता जोरें।
स्वारथ होते भंग, लट्ठ से खोपड़ी फोरें॥
धर्म भक्ति की ओर देखि हमको अनखावैं।
डारै हमको मार, यदी मुट्ठी तर पावैं॥
गुरु तेरी दाया बिना, दास लखा करि गौर।
भूलि भटकि चहुँ दिश फिरा, कहूँ न पाया ठौर॥

शब्द—८

गुरु जी आप शरण मोहिं लीजै ।।टेक।।

मैं अति दीन मलीन हूँ स्वामी, दोष क्षमा प्रभु कीजै
सब विधि समरथ आप दयानिधि, तातै अरज सुनीजै १
त्रिविधि ताप में जरते आये, कबहुँ न शान्ति लहीजै
अब तो शरण तुम्हारी गुरुवर, यह मम टेक गहीजै २
सब विपरीत बालवत् लखिके, मातपिता नहिं खीजै
तैसे धर्म आपके साहिब, अब मोहिं पावन कीजै ३
है अपराध महान दास का, कहते नाहिं बनीजै
जानत हो उर अंतर्यामी, क्षमि अपराध अभयपद दीजै ४

टीका:—हे सद्गुरुदेव जी ! आप अपनी शरण में मुझे ले लीजिये ।। टेक ।। मान-भोग की अनेक कामना करके विषय-तृष्णा-वश मैं तो अत्यंत दरिद्र हो गया हूँ, ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि सद्गुण-रहित ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, हिंसादि पापों से मलिन हो रहा हूँ। हे प्रभु ! हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये। हे कृपानिधि गुरुदेव ! सब प्रकार आप समर्थ, तरण-तारण रूप हैं, अतएव इस दीन दास की प्रार्थना को सुनने को अवश्य कृपा कीजिये ।। १ ।। "तप्त कड़ाही में जलने न्याय" देहिक, दैविक, भौतिक इन तीन प्रकार के तापों में अनादि काल से जलते आये हैं। आपके भक्ति, ज्ञान, विचारादि सद्गुण बिना कभी भी शांति नहीं प्राप्त कर सके। हे श्रेष्ठ सद्गुरुदेव ! चारों ओर से विवश-असंतुष्ट होकर अब तो आपकी शरण में दृढ़ता पूर्वक पड़ा हूँ, इस मेरे टेक अर्थात् हठता को क्षमा की दृष्टि से स्वीकार कीजिये ।। २ ।। सर्व प्रकार अबुध बालक की उल्टी क्रिया को देखकर माता-पिता क्रोध नहीं करते ! हे स्वामिन् ! वैसे ही हमारी बालबुद्धि जानकर हमारे दोषों पर क्षमा करना आपका धर्म है, अतएव हे प्रभु ! हमें अब पवित्र कीजिये ।। ३ ।। यों तो इस पतित दास के बहुत

बड़े-बड़े अपराध हैं,[१] जो कि कहते नहीं बनता, कहाँ तक सुनाऊँ कहने में भी लज्जा लगती है। किन्तु प्राणियों के मानसिक-गति के परीक्षक हे अंतर्यामी सद्‌गुरुदेव! आप तो हमारे मलिन अंतःकरण को भलीभाँति जानते हैं, विशेष कुछ कहते-सुनते बनता नहीं, मात्र यही प्रबल अभिलाषा-निवेदन है कि हमारे अपराधों को क्षमाकर जड़ाध्यास-राग-रहित निर्भय स्वरूपस्थिति पद को भिक्षा रूप में दे दीजिये ॥ ४ ॥

विनय

प्रभो! हमारी अधमता अथाह हो गयी है, मैं आपकी शरण में आकर मुक्ति-लाभ लेना चाहता हूँ और साथ-ही-साथ मान-बड़ाई-पूज्यता तथा भोगों का भी इच्छुक बना हूँ। आपके आज्ञानुसार मैं नहीं चल पाता हूँ, बल्कि आपको ही अपने मनसानुसार चलाना चाहता हूँ। आपका दास बनकर भी बाह्य पदार्थों में आपकी बराबरी करना चाहता हूँ। रहस्यों को नहीं धारण कर पाता हूँ। क्षण-क्षण मन का गुलाम बना हूँ। नाथ, क्षमा कर किसी भाँति इस पतित को निभाइये।

पद

यदी गुरु की दया होती, तो मम उद्धार हो जाता।
जगत् के मोह ममताओं, से छुटकर पार हो जाता ॥ टेक ॥
अनादी से मैं भटका हूँ, रहट चक्रों में लटका हूँ।
ये आवागमन के झगड़े, से, मम उपकार हो जाता ॥ १ ॥

---

१ कुण्डलियाः-हम अपराधी के चरित, जो देखो करि ध्यान।
जन्म-जन्म नहीं छूटि हैं, यह मेरो अज्ञान ॥
यह मेरो अज्ञान, सदा उल्टे चलि आए।
संत भक्ति के माहिं, कबहुँ नही प्रेम लगाए ॥
विद्या धन अरु नारि, भोग यौवन में अंधा।
शरण तुम्हारी छोड़ि, कियो तन विषय छछन्दा ॥
साधु गुरू को देखि, कियों बहु हँसी ठिठोली।
यम का पासा पड़्यो, जात न मुख से बोली ॥
दुख में जरते आइया, बहुरि परै दुख आन।
हम अपराधी के चरित, जो देखो करि ध्यान ॥ १ ॥

अनेकों जन्म की कलियाँ, जो सूखी हैं निजातम की।
वारि उपदेश से गुरु के, चमन गुलजार हो जाता ॥ २ ॥
विषय के पंक में धँसकर, जगत के मोह में फँसकर।
मैं निजपद भूल बैठा हूँ, मनुज तन सार हो जाता ॥ ३ ॥
ये भवनिधि का झकोरा है, दीन अभिलाष टेरा है।
करो गुरुवर दया दृष्टी, तो बेड़ा पार हो जाता ॥ ४ ॥

शब्द—६

गुरु मन मोर चहत तव ध्याना ॥ टेक ॥
यह जग में परपंच कपट सब, छलबल भरा है नाना
बिन तव कृपा सुखी नहिं होवै, यह निश्चय मन माना १
पंच विषय विष भूलि मैं पामर, हित अनहित नहिं जाना
श्वास-श्वास पारस मणि जीवन, दुर्गुण माहिं नशाना २
ज्यों मृग नाभि माँहि कस्तूरी, खोजत फिरै अयाना
त्यों निज रूप भुलाय निरंतर, शांति न क्षण एक आना ३
देखि स्वभाव आपनो चंचल, क्षण-क्षण मन अकुलाना
परख जाल सब डार विजाती, गुरू चरण लपटाना ४

टीकाः—गुरुदेव ! मेरा मन आपके चरणों का ध्यान चाहता है ॥ टेक ॥ इस संसार में तो नाना प्रकार के छल, बल, कपट-प्रपंच सब भरे हुए हैं। अतः हमारा मन यह निश्चय कर लिया है कि आव के कृपा के बिना हम सुखी नहीं हो सकते ॥ १ ॥ मैं नीच, जो पाँच विषय विष के तुल्य हैं, उन्हीं में भूल कर हिताहित का विवेक खो दिया हूँ। मानव-जीवन के एक-एक श्वास जो पारस पत्थर के समान मूल्यवान हैं, उनको दुर्गुणों में नष्ट कर दिया ॥ २ ॥ जैसे मृगा की नाभि में सुगन्धित कस्तूरी होती है और उसी से उसको सुगंधी आती है, परन्तु वह अज्ञानी उस सुगंधी का कारण अन्यत्र समझ कर उसे घास-फूसों में खोजता फिरता है। इसी प्रकार जीव अपने तृप्त सत्य चेतन स्वरूप को भूलकर, विषयों

में तृप्ति को खोजता है, अतएव उसे एक क्षण भी शांति नहीं मिलती ॥ ३ ॥ अपना स्वभाव विषय के वशी चंचल देखकर इस दास का मन क्षण-क्षण व्याकुल होने लगा। और जड़-विषय-जाल को दुख रूप परख कर और त्यागकर आप गुरुदेव के चरणों की शरण ली ॥ ४ ॥

व्याख्याः—संसार के विषय-जाल और प्रपंचों से हारे-थके मनुष्यों में से कुछ ऐसे सुज्ञ जीव होते हैं, जिन्हें उनके प्रति वेदना की प्राप्ति होती है। वे संसारी जंजालों से घबरा जाते हैं और वे निश्चय करते हैं कि अब स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, मान, भोग, जगत-प्रपंचों का ध्यान न करके निर्मल वैराग्य सम्पन्न गुरुदेव के चरणों की भक्ति ही करना है और उनकी शरणाधीनता में रहकर जीवन का कल्याण करना है। स्वार्थी संसार की स्थिति को देखकर संवेदनशील व्यक्ति उस पर विवेक करता है।

कवित

नारि पुत्र मित्र बन्धु खास जो कुटुम्ब सब,
दाँव निज पाय कर घात हूँ करतु हैं।
जाहि से संबंध बहु काल से मिताई रह्यो,
थोरे थोरे खेत द्रव्य हेतु वे लरतु हैं॥
निज निज स्वार्थ हित सबको दबावें सब,
राग द्वेष मार काट माहिं सो जरतु हैं॥
चोरी व्यभिचारी फौजदारी छल बल करि,
राज दराड कूट मार जेल में सरतु हैं॥ १॥
कोई अंग्रेजी संस्कृत बहु विद्या पढ़ि,
कूट नीति नाम धरि छल हूँ करतु हैं॥
नारि पति छोड़ि देत पति नारि छोड़ि देत,
निज सुख हानि जानि प्राणहूँ हरतु हैं॥
याहि हेतु मूढ़ बहु पाप हूँ बटोरि कर,
बार बार जन्म मरण गर्भ में जरतु हैं।
चारों ओर कहूँ न सुहाय अब गुरुदेव।
याहि हेतु दास यह पग में परतु है॥ २॥

जीव का वास्तविक स्वरूप परम निर्मल एवं अनन्त शांत है, और वह अपने आप चेतन है; किन्तु वह भूल-वश मृग-कस्तूरी न्याय उस निर्मलता तथा अनन्त शांतता को जड़-भोगों में खोजता है, जेहि को खोजत, सो हौ खुद ही, यह नहिं जानि पहै।"

अहंकारी मनुष्य को तो कुछ पता नहीं चलता, किन्तु सिर की अहंकार रूपी गर्मी को उतार कर जब मनुष्य निर्मानता, गम्भीरता और विचारपूर्वक अपने भोग-मान-लोलुप अत्यन्त चंचल स्वभाव को देखता है; तब उसका मन व्याकुल होने लगता है। वह विवेक करता है, 'अहो! ईर्ष्या, क्रोध, मद, सुखाध्यास में रात-दिन मैं नाचा करता हूँ; तिस पर भी मैं उत्तम कोटि का संत, भक्त और ज्ञानी बनने का दावा करता हूँ। कितनी तुच्छता है मेरे में! अतः ऐसे निज-दोष-द्रष्टा पुरुष अपने दोष-तुसार को फाड़कर सूर्य के समान चमक उठते हैं।

अपना कल्याण तो तभी होता है, जब सच्चे वैराग्यवान सद्गुरु-संत मिल जायँ और कल्याण के लिये उनमें अपना निश्छल और दृढ़ श्रद्धा हो जाय या अपने में ही निर्मानता पूर्वक मुमुक्षता, वैराग्य-भावना और शोधन-शक्ति विशेष हो तो सामान्य गुरु तथा सत्संग मिलने पर भी अपना कल्याण हो जाता है।

यह मानव-शरीर का एक-एक श्वास पारस-पत्थर के समान, प्रत्युत उससे भी कहीं बहुत अधिक मूल्यवान है। पारस-पत्थर तो कल्पित प्रतीत होता है, किन्तु मानव-शरीर की विशेषता सबको विदित है। ऐसे कल्याणदायी अवसर से चूकना धोखा खाना है।

आज का काम कल पर मत छोड़ो

दृष्टान्तः— एक महात्मा एक भक्त के ऊपर प्रसन्न हो अपनी पारस-पत्थर की बटिया देकर कहे कि देखो! इस पारस-पत्थर से तुम जितना जी चाहे लोहा से सोना बना सकते हो, किन्तु यह स्मरण रखना कि यह बटिया छठें महीने की अन्तिम घड़ी में नष्ट हो जायगी।

ऐसा कहकर महात्मा चल दिये। वह मनुष्य सोचा अभी क्या अकाज है, अभी तो छे महीने बहुत दूर हैं। तब तक बहुत लोहा इकट्ठा कर लूँ, फिर एक ही दिन अधिक सोना बना लूँगा। इस प्रकार टालमटोल करते-करते छठे महीने में दो दिन और रह गये। इतने में उसे ध्यान आया कि अब तो दो ही दिन और बाकी हैं, यदि सोना न बना लिया तो बटिया नष्ट हो जायगी। शीघ्र नौकर से कहा कि आज ही जाकर बाजार से बहुत सा लोहा खरीद कर गाड़ी द्वारा ले आओ। तुरन्त नौकर बाजार गया और लोहा के गोदाम बाबू से कहा—जितना आपके गोदाम में लोहा हो सब उचित मूल्य लेकर हमें दे दीजिये। उसने कहा—आज ठहरो! लोहा कल मिलेगा, क्या करे "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" निदान रुकना ही पड़ा। पुनः दूसरे दिन लोहा लेने-देने में कुछ विलम्ब हो गया, और पारस-पत्थर [बटिया] की अवधि पूरी होने पर नौकर लोहा लेकर घर पहुँचा। घरवाला मनुष्य जाकर देखा तो बटिया गायब हो गयी थी अन्त में रोता-झँखता हुआ अपनी करनी को धिक्कारने लगा किन्तु "पछताये से होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत।" अहो मैंने घर का सारा धन देकर लोहा खरीद लिया और सोना भी नहीं बना पाया, हाय! "दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम"।

सिद्धान्तः — मनुष्य देह ही पारस-पत्थर की बटिया है। अज्ञान-वश यह जीव लोहारूप जड़ाध्यासी हो रहा है। मोक्षप्रद मनुष्य शरीर के आधार से सत्संग-सद्बोध द्वारा लोहारूपी अज्ञानी जीव सोनावत् शुद्ध मुक्त हो सकता है। इस शरीर में रहने की जितनी प्रारब्ध-आयु है, वही बटियारूप देह रहने की अवधि है। महात्मा रूप साधु गुरु ऐसा सावधान कर देते हैं, किन्तु मोह-माया में भूलकर प्राणी उत्तम मनुष्य जन्म को व्यर्थ विषयों में नष्ट कर देता है। न विषय-सुख-भोग, गृह, धन, कुटुम्ब, मान, बड़ाई ही साथ जाते हैं, न मुक्ति ही बन पाती है; फिर अन्त में क्या हो, शरीर की आयु समाप्त होते ही यह नाश हो जाता है और सबको त्याग कर

"सिर धुनि हंसा उड़ि चले हो रमैया राम। सरवर मीत जो हारि हो रमैया राम ।बी०॥" फिर गर्भ-जन्म-मरणादिक संकट भोगने पड़ते हैं। अतएवइस क्षणभंगुर जीवन में अपना कल्याण शीघ्र बना लेना चाहिये।

"चेतावनी भजन"

दो दिन है इस घर में रहना, आखिर जाना जरूरी रे।
किस हित मैं धन जन को जोड़ूँ, झूठा राज जगीरी रे॥ टेक॥
हाड़ की ठटरी मांस क छाजन ऊपर चाम मढ़ीरो रे।
दुख का कोट नरक तन मैला, जिसका करे गरूरी रे॥ १ ॥
घर धन वाज वाक्य चतुराई, वोहदा शान अमीरी रे।
पानी बीच बताशा जैसे, स्वप्न खुशी दिलगीरी रे॥ २ ॥
सुत दारा औ सारा सरहज, नौकर दास हुजूरी रे।
अंत समय कोई काम न अइहैं, मिथ्या भास भईरी रे॥ ३ ॥
गर्भवास में अति दुख पायो, ताको भूल गईरी रे।
नर तन पाय भजन कर वन्दे, कोइ नहीं साथ भईरी रे॥ ४ ॥
आज-काल में तन छूटेगा, किस पर फूल फूलेरी रे।
कह "अभिलाष" आश तजि जग की, सच्चा काम फकीरी रे॥ ५ ॥

भक्ति प्रसंग–२

शब्द—१०

निज मन शुद्ध भक्ति किये भाई ॥ टेक ॥

साधक है साधन मन लावै, तजि छल बल चतुराई
करि पुरुषार्थ मोह तजि सबसे, राग द्वेष सब छिद्र दुराई १
है निराश परखत रहु मन को, नहिं ठग ठगत भुलाई
च्छण च्छण माहिं विषय रस धावत, ज्ञान ध्यान बल तेज गँवाई २
ज्ञानी गुणी शूर कवि योगी, मनोजाल भरमाई
याते रहहु सजग निशिवासर, कर गहि शस्त्र युक्ति बहुलाई ३

गुरू कृपा मन जीत पाव जो, तबहूँ सजग सवाई
नहिं तो मन अरि पलटत क्षण में, घात करत गौं पाई ४
पाय स्वराज्य अभय पद पारख, अचल शांति सुखदाई
दुर्गुण ताहिं निकट नहिं आवे अपने आप रहाई ५
गहि उत्साह हर्ष श्रद्धा युत, गुरु कबीर शरणाई
तज सब भास आश यह जग की, मर्णज जात नशाई ६

टीका:— हे भाई ! अपना अन्तःकरण तो तभी शुद्ध होता है जब विवेकी संत-गुरुजनों की सेवा आज्ञा-पालन रूप भक्ति की जाय ।।टेक।। साधक बनकर छल, बल चालाकी को सर्वथा छोड़कर भक्ति-विवेक-वैराग्यादि साधना में मन लगावे । साहसी और कर्तव्यनिष्ठ बनकर सबका मोह छोड़े, और राग-द्वेष तथा अन्य समस्त दोषों को दूर करे ।।१।। सांसारिक विषयों से निराश होकर अपने मन की चालों को परखता रहे, अन्यथा थोड़ा भी असावधान होने पर यह मनवंचक ठग लेगा । यह मन स्वरूपज्ञान, स्वरूप-लक्ष्य, साधनाशक्ति तथा सदाचरण-प्रकाश को दूर डालकर क्षण-क्षण विषय-स्वाद के लिये दौड़ता रहता है ।।२।। साधारण को कौन कहे, इस मन के जाल ने ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि तथा योगियों तक को भटका दिया है । अतएव अन्तःकरण रूपी हाथ में विवेक-वैराग्यादि तथा बहुत-सी साधन-युक्ति रूपी शस्त्र को लेकर मन-शत्रु से रात-दिन सावधान रहो ।।३।। गुरु की कृपा तथा स्व-प्रयत्न से मन पर विजय हो गई हो, तो भी सवाई सावधान रहो । अन्यथा मन-शत्रु क्षण ही में घूमता है और अवसर पाकर वार कर देता है ।।४।। अविचल शांति, सुखप्रद 'पारख-स्थिति' का निर्भय स्वराज्य पा जाने पर साधक के निकट किसी प्रकार के दुर्गुण नहीं आते, वह अपने आप ही में मग्न रहता है ।।५।। उत्साह, हर्ष और श्रद्धा के सहित जितेन्द्रिय सद्गुरु रूपी कबीर की शरणाधीनता लेकर और इस जड़-जगत के विषयों का सुख-भ्रम एवं उसकी आशा सर्वथा त्याग देने पर, जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो जाता है ।।६।।

व्याख्या:—मन कहता है—इस समय रूप, शब्द, रस, स्पर्शादि

विषय सुख सम्मुख हैं, थोड़ा भोग लो फिर न भोगना। इतने में तो कोई विशेष हानि नहीं, आगे चलकर साधना-द्वारा वासना को मिटा देना। ज्ञान प्राप्त ही है, मुक्ति भी कभी मिल जायगी। इस शरीर में नहीं तो आगे शरीर में ज्ञान संस्कार भी तीव्र रहेगा, मान-सुख भी विशेष मिलेंगे, अंततः मुक्ति भी मिल जायगी। विशेष गुरु-संतों की भक्ति, सेवा, आज्ञापालन, सत्संगादि से क्या लाभ? मुख्य काम तो वासना मिटाना है। अथवा मैं भक्ति करता हूँ, धर्म-प्रचारक हूँ, बहुतों का आधार हूँ; इस प्रकार मानकर शम, दम, एकान्तवास, वाक्य-संयम, स्थिति-साधना से दूर रहना आदि वैराग्य, भक्ति, धर्म-प्रचार के आधार में मान-भोग की कामना रखना ही मन की छल-चतुरता है। इसको त्यागकर कल्याणार्थ शुद्ध भक्ति, वैराग्य, धर्मादि औषधि-वत् उचित मात्रा में ग्रहण कर मुक्ति-साधनों में मन लगाना चाहिये।

अतएव साधक को छल-कपट से बहुत दूर रहना चाहिये। उसे अपनी साधना में ही निरन्तर ध्यान रखना चाहिये। क्षमा, सहन, दया, शील, संतोष, समता, कष्ट-सहिष्णुता, विवेक, वैराग्य, भक्ति, वाक्य-संयम, एकान्तवास, द्रष्टा-अभ्यास, स्थिति आदि साधनों में परिश्रम करके स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, धाम, दास, दासी, शरीरादि दृश्य वर्ग की मोह-व्याधि को दूर करना चाहिये।

जिनके राग-द्वेष एवं मोह की व्याधि दूर हो गयी है, जो प्रगाढ़ स्व-स्वरूप स्थिति में निमग्न होकर मन-माया एवं दोषों से बहुत ऊपर उठ गये हैं; उनके पास दुर्गुण नहीं फटकते; किन्तु ऐसी अवस्था में भी सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि जब तक प्रारब्ध शरीर है, तब तक भूल का स्थान है। मन हमें धोखा नहीं दे सकता, इस प्रमाद को त्याग कर, मन से निरन्तर सावधान रहना चाहिये। धीरे-धीरे मन किस प्रकार भुला देता है, आगे के उदाहरण से समझिये:—

भगवान विष्णु और नारद जी

दृष्टान्तः—एक बार नारद जी को साथ लेकर भगवान् विष्णु टहलने निकले। टहलते-टहलते कुछ दूर पर गये वहाँ एक बाग मिला, बाग से कुछ दूर पर ही नदी थी। भगवान वहाँ आसन लगाकर बैठ गये पास में नारद जी भी बैठे। इतने में नदी की ओर से एक स्त्री के रोने की आवाज आई। नारद जी भगवान से कहने लगे—भगवन्! उस स्त्री के रोने पर मुझे बड़ी दया आती है। आप आज्ञा देते तो मैं जाकर देखता वह क्यों रोती है? भगवान विष्णु बोले—यह तो संसार-सागर है, कोई रोता है-कोई हँसता, तुम अपना भजन करो। नारद जी जाने का फिर आग्रह किये। भगवान कहे- श्रेणी के प्रतिकूल दूसरे पर अनुचित दया करने से अपने वैराग्य, भजन, भक्ति में ही हानि होने लगती है। हे नारद! मन-माया की महिमा बड़ी प्रबल है, सावधान रहो। साधक अपने को माया से बचाकर साधन-रत रहकर ही अपने-पराये का हित कर सकता है। जो साधन-हीन होकर स्वयं माया के हाथ बिक जायगा, वह क्या अपना कल्याण करेगा, क्या दूसरे का। नारद कहे—भगवन्! अपने मन में वैराग्य रहे तो किंचित् सम्बन्ध करने से माया दौड़कर बल पूर्वक थोड़े लिपट जायगी? आप इतनी माया की प्रबलता क्यों बतलाते हैं? हमारी तो माया कुछ नहीं बिगाड़ सकती, मैं सदा वैराग्य और आपके भजन, भक्ति में लीन रहता हूँ। "नारद को ज्ञान का अभिमान हो गया है, इन्हें वासना की विवशता का ज्ञान नहीं है" ऐसा विचार कर भगवान चुप हो गये। नारदजी जब नदी पर गये, तो देखा कि वहाँ एक अत्यन्त सुन्दरी सोलह वर्ष की कुमारी नवयुवती बैठकर रो रही है। नारद के मन में करुणा आई, और निकट जाकर रोने का कारण पूछे। उसने कहा—मैं नदी पार जाना चाहती हूँ, मेरा पति मर गया है, मैं आश्रय-हीन हूँ, नदी गहरी है, कैसे पार जाऊँ? इसी चिन्ता में रोती हूँ। नारद जी के मन में और दया लगी,

फिर तो आगे-आगे नारद जी नदी में प्रवेश किये और पीछे-पीछे उस अबला को पार करने के लिये साथ में ले लिये। जब गहरी नदी में गये तो वह अबला भयभीत होकर नारद का हाथ पकड़ी। नारद जी असमय जानकर उसको अपनी पीठ पर बिठला कर नदी पार कर गये। जब नदी उस पार गये तो वह नारद जी का पाँव पकड़कर बैठ गई, और रोकर कहने लगी--हे स्वामिन ! आप ही हमारे प्राण बचाये हैं, अतः आप ही हमारे पति हैं। मैं आपको त्यागकर कहाँ जाऊँ ? मैं आपके वैराग्य में बाधा नहीं करूँगी, आपकी शरण में रहकर मैं भी भजन-भक्ति करते हुए अपना कल्याण करूँगी। नारद जी सोचे कोई हानि नहीं, यह भी साथ रहेगी भजन-भक्ति करके अपना कल्याण-सुधार करेगी, हमारे मन में वैराग्य रहेगा तो क्या मैं विषयासक्त थोड़े हो जाऊँगा ! ऐसा विचार कर उस स्त्री को साथ में ले लिये। निदान कुछ काल में संसर्ग-दोष से नारद जी मोहित हो गये और उससे सम्बन्ध कर लिये और उस नदी तट पर एक पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। वन से फल-फूल लाकर खाते-पीते और शरीर-निर्वाह करते थे। कुछ काल में दो-तीन पुत्र-पुत्रियाँ हुईं। एक दिन नदी में बाढ़ [पूर] आयी और दो पुत्र तथा घर नदी में बह गये। नारद जी पुत्र और पर्णकुटी के वियोग में रो रहे थे। इतने में भगवान् विष्णु टहलते-टहलते आ निकले और नारद का हाथ पकड़ कर कहने लगे— नारद ! माया की महिमा प्रबल है कि नहीं ? नारद सिर उठाकर भगवान् विष्णु को देखे और लज्जित होकर कहने लगे— भगवन् ! मन-माया अवश्य बलवती है। जो मन-माया से सावधान नहीं रहेगा, वह अवश्य ही उसके मुख में चला जायगा।

सिद्धांतः—भगवान् विष्णु यहाँ सद्गुरु हैं, नारद शिष्य है। सद्-गुरु शिष्य को सावधान करते हैं कि मन-माया की महिमा बड़ी प्रबल है। सबसे बड़ी माया तो अपने अन्तःकरण की भूल एवं वासनायें हैं। अतः देह रहे तक अपने को वासना-वश जानकर माया-स्त्री के संसर्ग से बहुत दूर, सद्गुरु-भक्त व सत्संगनिष्ठ और साधन-रत रहना। किन्तु

बहुतेक शिष्य गुरु-आज्ञा उलंघन कर दूसरे के सुधार करने के लिये संसार का अनुचित सम्बन्ध करने लगते हैं, और अंत में माया में लीन हो जाते हैं। ज्ञान-वैराग्य भी तभी स्थिर रहेंगे, जब कुसंग से दूर रहेगा। कुसंग करने से प्रथम का किया-धरा ज्ञान भी शिथिल पड़ जाता है। दूसरे का सुधार भी तभी कर सकते हैं, जब अपना भली-भाँति सुधार करलें, माया से सावधान रहें। गुरु-आज्ञा, सत्संग, संतों का प्रेम, परीक्षा-दृष्टि अपने गुण-दोषों की निरख-परख यदि त्याग देंगे, तो मन धोखा नहीं देगा, यह कैसे दावा बाँधते हैं? यह संसार-शरीर सहित मन तो एक ऐसा भूलघर है कि वहाँ हर क्षण भूल होने का भय लगा रहता है। वाचिकज्ञान, वैराग्यादि का अभिमान त्याग करके देह रहे तक अत्यंत सावधान, माया-त्यागी ही परमार्थ-पथ को निर्विघ्न समाप्त करते हुए मोक्ष-लाभ कर सकता है। इस शिक्षा का सारांश यह नहीं है कि मन [माया] बड़ा प्रबल है, उसे जीतना असम्भव है; बल्कि मन मेरी भूल की सत्ता से शक्तिमान है। इसलिये कल्याण की सच्ची निष्ठापूर्वक सद्-उपासना युक्त विवेक-वैराग्यादि के एकरस अभ्यास द्वारा मन को जीतना सरल और सहज है। शरीर प्रारब्ध रहे तक अपने को वासना से बँधा जान, ज्ञान-वैराग्यादि का मद त्याग कर, अलिप्त होने का दम्भी न बनकर, कुसंगी न होते हुए सदा "रोगी-औषधि" न्याय साधन रत साव-धान रहने के लिये उपर्युक्त शिक्षायें दी गयी हैं।

छन्दः— किस भाँति मेरे दुःख छुटैं, किमि वासना की हान हो।
कल्याण-इच्छुक को यही, दिन रैन मन में ध्यान हो॥
नहिं भूल मद लावे कभी, नहिं बाम वंचक प्रेम हो।
रोगी दवा परहेज लखि, साधन रहस्यक नेम हो॥ १॥

चौपाई:—प्रथम साधु गुरु की दृढ़ भक्ती। दूजे यकरस विरति की शक्ती॥
तीजे पारखबोध अछीना। चौथे दृष्टि परीक्षा चीन्हा॥
पंचम कुसंग त्यागि दुखदायी। निःसन्देह विजय पद पायी॥

दृष्टांतः—एक शिष्य ने अपने गुरु से कहा—मैं तो अब निर्वासनिक स्वरूप-स्थिति [परम पद] जो प्राप्त हो चुका हूँ। गुरु ने कहा—धन्यवाद ! मैं तो अभी सत्संग की थोड़ी-थोड़ी रीति-भांति जानने लगा हूँ।

शिक्षाः—सत्य है, थोड़ी बुद्धि वाला अपने को शीघ्र ही सर्व-कुशल और पूर्ण मानकर अहंकारी हो जाता है, परन्तु विवेकशील महापुरुष तो अपने में कसर खोट देख-देख कर सदा नम्र निरहंकारी बने रहते हैं। क्योंकि देहोपाधिक विवशता में किसी वस्तु का अहंकार करने का स्थान ही कहां है ?

शब्द—११

हमारे मन गुरुभक्ती उर धारो ॥टेक॥

कर सत्संग देर न लाओ, मानुष जन्म सुधारो
त्यागि कुसंग जानि दुखमय अति, यह संसार असारो १
खानि बानि परवाह धार यह, जगत समुद्र अपारो
काल अहेरी जाल पसारे, नारि मनोज करारो २
बालक वृद्ध कोई ना छाड़े, नैन वाण उर मारो
सैन बैन सब यक करि पावै, ज्ञान ध्यान सब जारो ३
औसर लेकर शरण जाय, सद्‌गुरु के ज्ञान विचारो
एक एक की पारख करिके, तजो सकल व्योहारो ४
मन माया परपंच जानि सब, झूठ सभी विस्तारो
दया क्षमा सत धीर धारि दृढ़, वृत्ति करो निर्धारो ५
गुरु पद पंकज ध्यान करै नित, निर्णय वाक्य उचारो
अवगुण त्याग भाव संतन गहु, तबहिं जनम निस्तारो ६

टीका:— मेरे मन ! हृदय में गुरु-भक्ति धारण करो ।।टेक।। सत्संग करो, विलम्ब न करो, उत्तम मनुष्य जन्म का सुधार करो । कुसंग अत्यन्त दुःखपूर्ण समझकर उसे सर्वथा त्याग दो, और इस संसार के सारे व्यवहार को सार-हीन समझो ।।१।। यह खानि-वाणि की प्रवाह धारा ही अपार संसार-समुद्र है । कल्पना-शिकारी कल्पना का जाल फैलाये हैं और कामिनी की आसक्ति में उत्पन्न हुआ काम भयंकर है ।।२।। रसीले-छैल-चिकनियों को कौन कहे, यह कामिनी, बालक-वृद्धादि किसी को नहीं छोड़ी, कटाक्ष-बाण सबके हृदय में मारी । जब यह तिरछी चितवन तथा मधुर वाणी से पुरुष के चित्त को अपने चित्त में मिलाकर एक कर पाती है, तब पुरुष के ज्ञान-ध्यान को भस्म कर देती है ।।३।। इसलिये समय निकालो और वैराग्यवान सद्गुरु की शरण में जाकर ज्ञान की बातों पर विचार-विवेक करो, और एक-एक दोष तथा त्रुटियों को परीक्षा करके उन सारे मलीन व्यवहारों को सर्वथा छोड़ दो ।।४।। मन से कल्पित समस्त माया प्रपंचरूप है और गृह, धन, कुटुम्ब, शरीरादि समस्त मायावी विस्तार झूठे हैं । अतः इनकी आसक्ति त्याग कर दया, क्षमा, सत्य, धैर्यादि सद्गुणों को दृढ़ता पूर्वक धारण करके और अपनी मनोवृत्ति को माया से घुमाकर निराधार शान्त करो ।।५।। गुरुदेव के चरण-कमलों का नित्य ध्यान करो, निर्णय वचन बोलो, दुर्गुणों का त्याग करो और निर्मल संत-महात्माओं में श्रद्धा रखो, तभी जीवन का कल्याण सम्भव है ।।६।।

व्याख्या:—मनुष्य के उद्धार का मार्ग विवेकी सन्तों का सत्संग और उनके प्रति श्रद्धा का होना है । जब तक जीवन सत्संग-भक्ति में नहीं लगेगा, तब तक उसका उद्धार नहीं हो सकता । परन्तु सत्संग-भक्ति के लिये मनुष्य के मन में अनेक भुलावे हैं । मनुष्य सोचता है—

कवित्त

घर बनवाइ लेई लड़की विवाह लेई,
लड़िका कै गौन लाय तब भक्ति करबै ।
सत्संग-भक्ति हित कौन हरबरी अहै,
सुन्दर जवानी पाय भोग सुख सरबै ।।

अबही तो थोड़ी ही उमर मेरी बीती जाय,
वृद्ध होय जाब तब धर्म पुण्य करबै ॥
ऐसे ऐसे मन के भुलावा मांहि भूलि जीव,
यह नहीं जानै आज काल बीच मरबै ॥

जीवन का ठिकाना नहीं है। यह काया पानी के बताशे के समान क्षणभंगुर है। अतः कल्याण-साधन में विलम्ब करना अपने को धोखा में डालना है। जिस संसार के मोह में पड़कर हम भजन-भक्ति से हीन होते हैं, वह अत्यंत सार-हीन है, प्याज के छिलके और केले के स्तम्भ के समान निस्सार है।

कल्याण-मार्ग का बहुत बड़ा रोड़ा कुसंग है। स्त्री, पुत्र, धन, घर आदि मोटी माया खानी जाल है तथा देवी-देवता, भूत-प्रेत, कर्ता-धर्ता की कल्पना तथा मान-बड़ाई आदि वाणी जाल है। ये दोनों बहुत बड़ी धारायें हैं, जिसे पार करना कल्याणार्थी का कर्तव्य है। समस्त भ्रांतियों का अंत करके स्व-स्वरूप-ज्ञान में ही दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये।

कल्याण-इच्छुक स्त्री हो या पुरुष, उनको विषयों की आसक्ति एवं काम-वासना विष के समान होना चाहिये। जब तक नर-नारी की पारस्परिक आसक्ति एवं विषय-वासनायें समाप्त न होंगी तब तक स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती।

कल्याण का सीधा मार्ग गुरु-संतों की शरण तथा सत्संग है। संत्संग के लिये प्रायः लोग समय नहीं निकालते। मानव जीवन के समय का बहुत बड़ा महत्व है। मानव अपने जीवन के समय में धन कमा सकता है, संतान उत्पन्न कर सकता है, विद्याअध्ययन कर सकता है तथा लोक-मान्यता और पूज्यता प्राप्त कर सकता है; परन्तु धन, सन्तान, विद्या और मान पूज्यता—सब मिलकर मनुष्य के जीवन के समय का एक पल भी बढ़ा नहीं सकते। ऐसे महामूल्यवान् समय को कल्याण-साधन, सत्संग, भक्ति में न लगाना समय का भयंकर दुरुपयोग है।

प्रायः लोग कहते हैं कि, 'सद्ग्रंथ पढ़ने, सत्संग करने का हमें समय

नहीं मिलता। परन्तु जो महत्वपूर्ण काम होता है जिसे प्राथमिकता दी जाती है, उसे समय निकाल कर किया जाता है; और जो साधारण काम होता है उसे समय मिलने पर किया जाता है। कोई नहीं कहता कि समय न मिलने से दस दिन हो गये हम भोजन नहीं किये या टट्टी-लघुशंका नहीं गये। यह भलीभाँति समझ लेना होगा कि जीवन की निर्दोषता और सच्चे सुख एवं शांति के कारण होने से सत्संग, सद्ग्रंथावलोकन, भक्ति आदि जीवन के महत्वपूर्ण कार्य हैं।

अतएव अवसर निकाल कर सत्संग में जाना चाहिये, सद्ग्रन्थ पढ़ना चाहिये, सेवा-भक्ति करना चाहिये और अपने गुणदोषों की परख करके सद्गुणों का ग्रहण तथा दोषों का परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर परखपूर्वक एक-एक दोष को निकालते हुए जीवन को पूर्ण निर्दोष बना लेना ही सच्ची मानवता, सुख का रास्ता तथा श्रेष्ठता का लक्षण है। शरीर, संसार तथा संसार की वस्तुओं को मनुष्य जहां तक अपना मान रखा है, सब धोखा है, झूठा प्रपंच है। अतएव अहंता-ममता परित्याग कर जीवन को निर्मल बनाने की ही चेष्टा करनी चाहिये। अन्ततः अपनी चित्त-वृत्ति को दृश्य-माया से हटाकर स्वस्वरूप-चेतन में ही निरंतर मग्न होना चाहिये। किन्तु सफलता का मुख्य कारण वैराग्यवान सद्गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना ही है। बिना गुरु-भक्ति एवं संत-सेवा किये मनुष्य दुर्गुण तथा अबोध के दलदल से निकलकर सच्ची मानवता, श्रेष्ठता तथा कल्याण नहीं प्राप्त कर सकता। आगे आप एक गुरु-भक्त दयासागर का उदाहरण पढ़ने जा रहे हैं जो अत्यंत उद्बोधक, तलस्पर्शी एवं हृदयद्रावक है।

दया-क्षमा की अनोखी मूर्ति—दयासागर

दृष्टांतः— एक नगरी में दयासागर नामक अत्यंत साधु-सेवी भक्त रहता था। उसी ग्राम में राजस-तामस युक्त एक धूर्तचन्द्र नामक मनुष्य रहता था। संयोगाधीन दोनों किसी दूर देश की यात्रा में जा रहे थे।

जिस दिशा में वे दोनों जा रहे थे, उसमें आने-जाने का न तो कोई चौड़ा मार्ग था, न रेल, मोटर आदि साधन थे और न शहर-ग्राम ही। बस केवल जंगल, पर्वत, खाईं आदि ही विशेष रूप में पड़ते थे।

मार्ग में चलते-चलते धूर्तचन्द्र ने कहा— मित्र जी! आपके पास जो अन्न-जलादि हैं उन्हें ही पहले खर्च किये जायँ, जिससे आपका बोझा हल्का हो जाय। पुनः उनके पश्चात् मैं अपना खर्च करूँगा। दयासागर तो साधुपुरुष था ही, वह कहा—मित्र जी! बहुत अच्छा, पहले हमारे ही अन्न-जलादि खाइये। निदान दयासागर के अन्न-जलादि जब खा-पीकर समाप्त कर दिये गये तब दोपहर होने पर उन्होंने धूर्तचन्द्र से कहा मित्र! अब कुछ जलपान करने का समय आ गया है, यहीं कुछ खा-पी लेना चाहिये। धूर्तचन्द्र ने कहा—"अरे भाई, ऐसा नहीं बनेगा, आप पहले तो अपना सब सामान खर्च कर दिये अब हमारे सामान पर भी हाथ फेरना चाहते हो।" ऐसी विश्वासघातपूर्ण बातें सुनकर दयासागर बहुत कम्पित हुआ, किन्तु अब करता ही क्या?

आगे मार्ग चलते-चलते भूख-प्यास से जब दयासागर विह्वल हो गया, तब उसकी निर्बल दशा देखकर धूर्तचन्द्र ने उसको पकड़ कर और उसके नेत्रों में कोई विषैली वस्तु डालकर उसको तत्काल के लिये अंधा बना दिया। जब वह अन्धा हो गया, तब धूर्तचन्द्र उसके पास की शेष वस्तुओं को छीनकर और उसे लेजाकर एक कूप में धकेल दिया और चलता बना। सौभाग्य-वश कूप में थोड़ा जल था, उसको पीकर और कूप में झुकी हुई बौड़ियों को पकड़कर दयासागर खड़ा हो गया।

एक महात्मा नित्य संध्या होने पर उस कूप पर आया करते थे। संध्या होते ही महात्मा जी कूप पर आकर आसन लगाये और बैठ गये। कूप में मनुष्य की कुछ आहट पाकर उसमें झांके और पुकारे कि इसमें कौन है? दयासागर महात्मा को 'बहते हुए को नावका' की भांति पाया, अतः अपना परिचय दिया। महात्मा एक बौड़ी का संकेत करते हुए कहे कि इसी को पकड़ कर चले आओ। दयासागर बौड़ी के सहारे

बाहर चला आया। महात्मा जी एक जंगली जड़ी [बूटी] के रस को निचोड़ कर दयासागर के नेत्रों में डाल दिये। उसके लगते ही दयासागर के नेत्र पहले के समान बिलकुल ठीक हो गये, साफ़-साफ दिखने लगा और पीड़ा भी मिट गयी। नेत्रों के तिमिर हटते ही आगे महात्मा खड़े हैं ऐसा देखकर दयासागर उनके चरणों में गिर पड़ा। महात्मा आशीर्वाद देते हुए उठाये और कूप में गिरने आदि के कारण पूछे। दयासागर अपना पूरा समाचार कह सुनाया। महात्मा बोले—ठीक ही है, बुरों की संगत से दुःख होता है। देखो श्री कबीर साहेब कहते हैं।

संगति से सुख उपजै, कुसंगति से दुख होय।
कहहिं कबीर तहँ जाइये, जहं अपनो संगत होय॥

महात्मा जी ने दयासागर को कई प्रकार की जंगली जड़ी-बूटियाँ दीं, जो अनेक घातक रोगों की अचूक औषधियाँ थीं, और दयासागर को विदा करते हुए कहा कि कभी किसी प्रकार की आपत्ति पड़े तो हमारे पास चले आना; और सर्वत्र अपने व्यवहार को उत्तम बनायें रखने के लिये यह महामन्त्र याद रखना--

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल।
तोको फूल को फूल है, वाको है तिरशूल।

'वाको है तिरशूल' - इस अंश को यद्यपि विवेकी सुनना तक नहीं चाहते, परन्तु वास्तविकता तो है ही कि अपने किये का फल सबको भोगना पड़ता है।

दयासागर जड़ी-बूटियों को ले और आज्ञा (महामंत्र) को स्वीकार कर तथा महात्मा जी के चरणों में सिर टेककर चल दिया। जाते-जाते मार्ग में एक शहर के पास बाग मिला। दोपहर हो जाने से दयासागर उस बाग में ठहर गया। इतने में वहाँ का राजा जो कोढ़ से अति व्याकुल था एक सवारी पर बैठकर उस बाग में आ निकला। दयासागर की शांति-वृत्ति देखकर और उन्हें एक सज्जन पुरुष जानकर राजा ने आकर उनसे अपने कोढ़ रोग की निवृति के लिये औषधि पूछी।

राजा की करुणापूर्ण वाणी सुनकर दयासागर द्रवित हो गया। महात्मा की दी हुई बूटी को जल में घिस कर उसको पिलाया और कहा कि इसी प्रकार कुछ दिनों तक औषधि-सेवन करने से रोग निवृत्त हो जायगा। राजा ने बहुत आग्रह करके दयासागर को अपने राजभवन पर ले गया और उन्हें बड़े आदर-सत्कार पूर्वक टिकाया। इधर निरन्तर औषधिसेवन तथा संयम से कुछ दिनों के पश्चात् राजा का रोग अच्छा होकर काया कंचन-वर्ण हो गयी।

एक दिन राजा प्रसन्न होकर दयासागर से अपनी पुत्री के साथ विवाह करने तथा उनको अपना आधा राज्य समर्पित करने की प्रार्थना की। दयासागर बोला— हे राजन्! इस राज्य को लेकर मैं क्या करूँगा? अथवा आपकी पुत्री के साथ विवाह करके ही क्या करूँगा? क्योंकि ये सब भोगों की तृष्णा बढ़ाकर अंत में छूटने वाले ही हैं। तब भला! सद्गुरु-संतों की भक्ति, स्वस्वरूप-ज्ञान, सदाचार एवं कल्याण-पथ त्याग कर व्यर्थ कंचन-कामिनी के ऊपरी चमक-दमक में पड़कर कहाँ सुख शांति है? अतः मैं राज, सम्पत्ति, युवती विषय-भोगादि कुछ भी नहीं चाहता।

दयासागर की इस प्रकार की ज्ञान-संयुक्त वाणी सुनकर राजा बोला—साधु-गुरु की भक्ति तथा सत्संगसाधन करने से आपका हृदय अति शुद्ध हो गया है। इसलिये आप जो कुछ कहेंगे ठीक ही कहेंगे। अच्छा, अब मुझे यह बतलाइये कि मैं आपसे किस प्रकार उऋण होऊँ? दयासागर बोले—यदि आप ऐसा ही चाहते हैं तो अनाथालय, औषधालय, पाठशाला खुलवाइये, जनता एवं दीन-दुखियों की सेवा में धन खर्च कीजिये और संत-मठ बनवाइये, संतों को बुलाकर सेवा-सत्संग कीजिये तो जानो हमारी ही सेवा करते हैं। यह सुनकर राजा आय का आधा धन परमार्थ या परोपकार ही में लगाने लगा, और कुछ दिनों के लिये दयासागर को अपने घर पर रोक लिया।

एक दिन दयासागर कुछ आवश्यक कार्य-वश बाजार गया था।

इतने में पूर्व का कपटी मित्र-धूर्तचन्द्र अपने सब धन-माल यहाँ तक कि शरीर के कपड़े-जूते तक जूवा में हारकर तथा दरिद्र-दशा को धारण किये उधर से आ निकला। दयासागर धूर्तचन्द्र को देखते ही उसे गले से लगा लिया और अपने आश्रम पर लिवा लाया। दयासागर राजा से बताकर बाहर नित्य-क्रिया के लिये चला गया कि ये हमारे प्राचीन मित्र हैं, इनकी उचित सेवा होनी चाहिये। राजा ने धूर्तचन्द्र की सेवा में टहलुयें नियुक्त कर दिये। धूर्तचन्द्र कई दिन रहकर और राजा से मीठी-मीठी बातें करके उनका मन अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। राजा की रुझान अपनी ओर पाकर धूर्तचन्द्र दयासागर के विषय में कुछ दोषपूर्ण बातें करने लगा। राजा ने कहा— दयासागर के बारे में आप क्या जानते हैं? राजा का मन-रुख पाकर धूर्तचन्द्र ने कहा— वैसे मनुष्य में गुण-दोष दोनों होते हैं; परन्तु जब दोष की मात्रा अधिक हो जाती है, तब उसके गुण भी दोषपूर्ण माने जाते हैं। दयासागर जाति का चमार है। ऊपर से त्याग की झलक दिखाकर पीछे धोखा देना इसका काम है। अभी एक राजा के यहाँ औषधि किया है, पहले उन्हें भी त्याग की झलक दिखाया और पीछे उनकी हत्या करके सम्पत्ति को अपहरण कर लिया है, और उसी अपराध में पुलिस के डर से यहाँ भाग आया है। राजा ने कहा—मैं तो उन्हें अपनी पुत्री और आधा राज्य भी दे रहा था; परन्तु उन्होंने नहीं लिया।

धूर्तचन्द्र ने कहा— वह आधा राज्य क्यों ले? थोड़े दिनों में सारा राज और सभी धन-जन लेगा।

कहा जाता है पहले के राजा लोग प्रायः किसी बात पर सोच-विचार कम करते थे, सुनी हुई बातों पर विशेष ध्यान देते थे। धूर्तचन्द्र की बातों से राजा का मन बिगड़ गया। वह दयासागर को बहुत बड़ा छली समझ लिया और उनकी फाँसी की आज्ञा दे दी। मंत्री ने दयासागर से कहा—आप जिससे मिलना चाहें मिल लें और जो खाना चाहें खा लें। दयासागर ने कहा—मैं केवल राजा से मिलना चाहता हूँ। राजा

दयासागर को दर्शन देने आया। दयासागर ने राजा से कहा मुझे एक सप्ताह के लिए छुट्टी मिलनी चाहिये। मैं एक महात्मा से मिलने जाऊँगा, साथ में आप अपनी पुलिस भी करदें, लौटने पर मेरी फाँसी करवा दीजियेगा। राजा ने स्वीकार कर लिया। पुलिस के साथ दयासागर चल पड़े।

जब जंगल में पहुँचे, तब पुलिस आदि को एक जगह पर छोड़कर दयासागर उन महात्मा के पास गये, जो उन्हें कूयें में से निकालकर नेत्रों का दोष दूर किये थे। सायंकाल हो गया था। महात्मा कूप पर आगये थे। दयासागर जा कर महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और अपना कु-समय का समाचार कह सुनाया। पुनः दयासागर ने कहा—हमें फांसी की चिंता नहीं है, बल्कि मुख्य चिन्ता यह है कि राजा की ओर से धर्म-क्षेत्र, औषधालय, विद्यालय, संत-आश्रमादि खुले थे और आधे राज्य का धन धर्म में खर्च होता था; किन्तु जब हमारी फाँसी हो जायगी फिर तो धर्म में खर्च होने वाला धन भी राजा नहीं देगा। इसलिये वे धर्म-क्षेत्र बंद हो जायंगे। महात्मा दयासागर को साथ ले जाकर कुछ दूरी पर पर्वत में रत्नों की एक खानि बतला दी और दयासागर बहुत -से रत्न खुदवाकर तथा गाड़ी-छकड़ों पर लदवा कर पुलिस-सहित राजद्वार पर आ उपस्थित हुआ और राजा के पास धर्मार्थ सारे रत्नों को सौंप कर अपनी फाँसी होने की याचना की। दयासागर की अतुल सम्पत्ति और परोपकार तथा परमार्थप्रियता को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और विचार किया कि 'दयासागर बड़ा प्रतापी व्यक्ति है। वह धूर्तचन्द्र झूठे ही आक्षेप किया था'। राजा ने लज्जित होकर दयासागर से क्षमा माँगी। एक दिन उसी शहर में धूर्तचन्द्र पुनः आ निकला, अब उसकी दशा बहुत ही बिगड़ गयी थी। कोढ़ रोग से उसके हाथ पाँव की उँगुलियाँ फूट-फूट कर बह रहीं थीं। शरीर से अति दुबला-पतला एक चिथड़ी लपेटे दृष्टिगोचर हो रहा था। धूर्तचन्द्र की ऐसी दुःखमयी दशा देखकर दयासागर करुणा से विह्वल

हो पूछने लगा—अहो मित्र ! यह दुखमय जीवन कैसे हो गया? धूर्तचन्द्र डरते हुए बोला—अहो धर्मवीर ! आप ऐसे साधु-पुरुष के साथ मैंने कई बार कुठाराघात किया, उसी का फल अब भोग रहा हूँ। दयासागर बोला—ठीक ही है, बुरे कर्तव्य का फल बुरा होता ही है; किन्तु मैं आपके रोग-निवृत्ति के लिये प्रयत्न करूँगा। ऐसा कह कर उसे साथ में अपने आश्रम पर लिवा लाया। उन्हीं महात्मा की दी हुई बूटी को कुछ काल सेवन कराया, फलतः कोढ़ अच्छा होकर शरीर सुंदर हो गया। पश्चात् दयासागर ने कुछ धन विदाई में देकर धूर्तचन्द्र को विदा किया, जिससे यह भी अपना जीवन आनंद पूर्वक व्यतीत करे।

शत्रु के साथ भी मैत्री का व्यवहार देखकर राजा ने दयासागर से प्रश्न किया—आप कैसे अरि-मित्र में समबुद्धि रखते हैं; अथवा बड़े-बड़े पंच विषय-भोगों में लोलुप नहीं होते? आप में कौन-सी-शक्ति भर गयी है? दयासागर बोला—हमें विवेकी साधु-गुरु की भक्ति हृदय से अति प्रिय है, मैं अपना जीवन संत-सेवा में ही सफल समझता हूँ। संत-सेवा तथा गुरु-भक्ति करने से साधु-गुरु-द्वारा सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान की शक्ति से मैं जड़ विषयों में मोहित नहीं होता; क्योंकि ज्ञान से संतोष की प्राप्ति होती है और संतोष ही परम धन है।

दोहा—गो धन गज धन बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान॥
(सद्गुरु कबीर)

उस ज्ञान का संक्षिप्त वर्णन यहाँ करते हैं, सुनो !

मैं चेतन अविकार स्वरूपा। तीन काल यकरस पद भूपा॥
धन कुल राज कुटुम अरु देहा। स्वप्न समान क्षणहिं में खेहा॥
नहिं कोई आपन नहिं कोइ दूजा। पृथक सबन चेतन मति बूझा॥
केहि से करों प्रेम अब भाई। केहि से करों क्रोध कुटलाई॥
नाव रेल सम मेल दिखावा। क्षण महँ जहाँ तहाँ होइ जावा॥

पाय मनुष तन मोक्ष निसेनी । सफल ताहि जो गुरु मग लेनी ॥
नहिं तो पशु सम जन्म बितावा । नाहक मनुष देह धरि आवा ॥

दोहा—चारि वेद षट् शास्त्र पढ़ि, इंगलिश उर्दू ढेर ।
गुरु भक्ति सद्ज्ञान बिनु, सुमन गंध बिन हेर ॥
विद्या धन कुल रूप यश, दुर्गुण सकैं न टार ।
दुर्गुण नाशन हेतु यक, गुरु पद भक्ति विचार ॥

छन्दः—पशु भी चतुर आहार निद्रा मैथुनादिक भोग में ।
इतने ही में यदि नर रहे, पशु से पृथक क्या भोग में ॥
सत्संग भक्ती धर्म हो दुष्कर्म से यदि त्याग है ।
मानव जनम उसका सफल सद्ज्ञान मग जो लाग है ॥

इतनी शिक्षा सुनकर राजा का जिज्ञासा-मनन—

पद

बसेगी भक्ति कब गुरु की, स्वरूपक ज्ञान दिल अन्दर ।
तजेंगे मान विद्या धन, गहें निर्मानता सुंदर ॥ टेक ॥

न मनमें क्रोध लायेंगे, अहं दिल से निकारेंगे ।
न कोई मित्र, अरि होगा, न ईर्षा डाह की गन्दर ॥ १ ॥

गुरू वो साधु सेवा में, न आलस होयगी रंचक ।
लोभ वो मोह को तज के, कपट छल छोड़ि उर मन्दर ॥ २ ॥

गुरू की भक्ति में अपना हि, जीवन धन्य समझेंगे ।
सदा सद्ग्रंथ सत्संगत, कथा में प्रेम उर सुन्दर ॥ ३ ॥

कभी भी भूलकर तन को, न अपना रूप समझेंगे ।
मैं चेतन सर्व से न्यारा, दुखद तन दृश्य मन बन्दर ॥ ४ ॥

सदा सद्गुण भरे होंगे, व क्षमता नम्रता समता ।
अहो कब पूर होयेगी, ये अभिलाषा मेरी सुन्दर ॥ ५ ॥

शब्द—१२

हम गुरु भक्ति यतन मन लइबै ॥टेक ॥

जगत प्रपंच छोड़ि दुःख दायक, जग से प्रीति हटइबै
जेहि विधि मगन होहिं गुरु साहेब, सोई उपाय लगइबै १

कर्म वचन मन अर्पण करिके, गुरु ज्ञान उर लइबै
गुरु आज्ञा पालन करि निशिदिन, चरणकमलरज ध्यइबै २
जो कछु कष्ट पड़ै यहि तन पे, निज हित जानि सहइबै
दास भाव पूरण करि सबहीं, निज ठहराव बनइबै ३
बड़ी भाग्य से नर तन पायों, अब गुरु भक्ति कमइबै
चिंता शोक भार तजि जग की, हम गुरु शरण रहइबै ४

टीका:— हम प्रयत्न पूर्वक अपने मन में गुरु-भक्ति लायेंगे ।।टेक। पीड़ाप्रद सांसारिक झंझटों को त्याग कर जड़-विषयों से प्रेम हटायेंगे। पूज्य गुरु-स्वामी जिस प्रकार प्रसन्न हों वही उपाय करेंगे ।।१।। गुरुदेव के चरणों में अपने शरीर, वाणी और मन को अर्पित करके, उनका ज्ञान हृदय में टिकायेंगे; और रात-दिन उनकी आज्ञा का पालन करके, उनके चरण-कमलों के रज का ध्यान करेंगे ।।२।। भक्ति-साधना करने में इस शरीर पर जो कुछ कष्ट पड़ेगा उसका परिणाम कल्याणकारी समझकर उसे सहर्ष सहेंगे। और शिष्य को जिस प्रकार पूर्णरूपेण दासभाव धारण करना चाहिये, उसको अपनाकर अपनी स्व-स्वरूप स्थिति करेंगे ।।३।। बड़े भाग्य से यह नर-तन-रत्न मिला है; अतः अब सद्गुरु की भक्ति की ही कमाई करेंगे। संसार की चिन्ता, शोक और बोझा को त्याग कर, अब हम गुरुदेव की आधीनता में ही रहेंगे ।।४।।

व्याख्या:— पूज्य के प्रति अविचल श्रद्धा का नाम भक्ति है। जिसके प्रति अविचल श्रद्धा होती है, उसकी सेवा तन, मन, धन— सबसे की जाती है। जिसके प्रति अविचल श्रद्धा है और जिसकी सेवा सर्वतोभाँति की जाती है उसके गुण तथा आचरण अपने जीवन में उतरने लगते हैं। इसलिये जिनके आचरण और ज्ञान दिव्य हों उन्हीं की भक्ति करनी चाहिये; जिससे उनका दिव्य आचरण का प्रभाव अपने जीवन पर पड़े। परन्तु भक्ति करने में रोड़े हैं आलस्य, प्रमाद, अहंकार, सुखाध्यास, मान-भोग की कामना। कल्याण-इच्छुक कहता है कि हम सब

प्रकार से मन की दुर्बलताओं का त्याग कर भक्ति करेंगे। विवेक-वैराग्य-सम्पन्न दिव्य पुरुष जब तक इष्ट रूप में नहीं मिलते तब तक भक्ति में स्थायित्व नहीं हो पाता। अतः उक्त महापुरुष की खोज करनी चाहिये और उनकी भक्ति करनी चाहिये।

कल्याण-इच्छुक कहता है कि हम संसार के प्रपंचों को छोड़कर शुद्ध गुरु-मार्ग पर चलेंगे यथा—

कवित्त

गाँजा भाँग बीड़ी सिगरेट वो तमाकू चर्स,
राग द्वेष काम क्रोध लोभ मोह छोड़िहौं।
चोरी व्यभिचारी फौजदारी मार काट लूट,
चुँगुली चलाकी बकवाद मुख मोड़िहौं॥
अरि हूँ न दुख देब सब से मिताई राखि,
नाशवान् भोग जानि जड़ध्यास तोड़िहौं।
अभिलाष जग परपंच सब छोड़ि कर,
गुरुदेव भक्ति प्रेम माँहि मन जोड़िहौं॥

विषय-मार्ग में जीव अनादिकाल से चलता आया है, अतः उसमें जीव की स्वाभाविक-सी गति हो गयी है; परन्तु भक्ति-मार्ग में जीव कभी नहीं चला है, इसलिये इसमें उसको कठिनता का बोध होता है। परन्तु समझदार मनुष्य कहता है कि भक्ति-मार्ग में चलने में, अहिंसा-ब्रह्मचर्य-पालन करने में, मन-इन्द्रियों को जीतने में, विवेक-वैराग्य की साधना करने में हमें जो कुछ कष्ट का बोध होगा, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, सुख-दुःख मिलेंगे, उनको सहेंगे। सहन-रहित अभिमानी नहीं बनेंगे। सच्ची भक्ति एवं साधना करके स्वरूपस्थिति करेंगे।

यह मनुष्य शरीर बड़ा अनोखा है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:—

चौपाई

नर समान नहिं कौनिउ देही। जीव चराचर याचत जेही॥
नर्क स्वर्ग अपवर्ग निशेनी। ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी॥
सो तन धरि हरि भजहि न जे नर। होंय विषय रत मंद मंद तर॥
कंचन कांच बदलि सठ लेही। कर ते डारि परस मणि देही॥

दोहाः—जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाय।
सो कृतनिदंक मंद मति, आतमहन गति जाय॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं।
मानुष जन्म नर पाय के, चूके अबकी घात।
जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात॥

मनुष्य के जीवन में आये दिन ऐसी घटनायें घटा करती हैं, जिससे उसका चित्त झकझोर उठता है। वह चिन्ता-शोक में निमग्न,त्रस्त और उत्पीड़ित हो जाता है। परन्तु उनके कारणों पर विचार किया जाय, तो उनमें कोई सार नहीं रहता। जिनके लिये हम शोक-चिंता करते हैं वे सब अन्ततः धूल और अपने से दूर ही सिद्ध होते हैं। अतः मनुष्य को मायावी पदार्थों के सम्बंध में चिंता-शोक न करके कल्याण-साधन पर ही ध्यान देना चाहिये।

भक्ति-साधना में कायरता क्यों ?

दृष्टांतः—एक महाशय जी घोड़ा पर बैठे जा रहे थे। बहुत दूर से चलने के कारण घोड़ा प्यासा हो गया था। संयोगाधीन मार्ग में जल का रहँट चल रहा था। सवार महाशय ने सोचा कि इस रहँट पर घोड़े को जल पिला लें। ज्योंहि रहँट की ओर घोड़े की लगाम फेर कर हाँका, त्योंहि रहँट के चर-चर मर-मर शब्द सुनकर घोड़ा पिछड़ने लगा। सवार ने रहँट हाँकने वाले से कहा—ऐ भाई! रहँट बन्द करदो, मैं घोड़ा को जल पिलाऊँगा। ऐसा सुनकर रहँटवाला! रहँट बन्द कर दिया। जब सवार रहँट के पास घोड़ा ले गया, तो वहाँ जल ही नहीं था; क्योंकि जब रहँट से जल आता था तब आगे रुकता था, जब रहँट बंद होता था तब जल न आने के कारण आगे रहे ही क्या? अतः सवार बोला—अरे भाई! इसमें तो जल ही नहीं हैं, घोड़ा को क्या पिलाऊँ? रहँटवाला बोला—आपही तो रहँट बन्द करवा दिये थे। अच्छा, अब हम रहँट चलाते हैं। ऐसा कहकर जैसे पुनः रहँट चलाने

लगा, वैसे उसका शब्द चर-चर मर-मर सुनकर घोड़ा फिर पीछे हटने लगा। सवार क्रोध में आकर कहने लगा हमारा घोड़ा कैसे जल पीये ? रहँटवाला बोला—यदि आप घोड़ा को जल पिलाना चाहते हैं तो उसकी लगाम बलपूर्वक पकड़ कर रहँट के पास लाइये। क्योंकि जब रहँट से जल निकलेगा, तब चर-चर मर-मर शब्द अवश्य होगा।

सिद्धांत—सवार जीव है, घोड़ा मन है। यह मन रूपी घोड़ा अनादिकाल से विषयमार्ग में चलते-चलते भोगों का अति प्यासा हो गया है। इतने में इसे जीवन-पथ में साधु-गुरु रूपी रहँटवाला भक्ति-ज्ञान रूपी रहँट से संतोष रूपी जल निकालते मिलते हैं। यह देखकर कोई सुज्ञ जीव अपनी कामना रूपी प्यास को शान्त करने के लिये भक्ति-ज्ञास रूपी रहँट से मन रूपी घोड़े को संतोष रूपी जल पिलाना चाहता है; किन्तु मन रूपी अति चंचल घोड़ा भक्ति-ज्ञान में जो चर-चर मर-मर रूपी परिश्रम है, उसको नहीं सहना चाहता। दुःख रूप संसार की ओर अति विघ्न परिश्रम सहा; किन्तु मोक्ष-दाता सद्गुरुदेव के भक्तिज्ञान निमित थोड़ा भी विघ्न-परिश्रम नहीं सहना चाहता। स्त्री-भोग हित उसका दास बना। उसके गहने-कपड़े ठाट-बाट के लिये रात-दिन सुख मान कर परिश्रम किया। ऊपर से स्त्री का ताना भी सहा। जब स्त्री पुरुष को पूरा अपना दास बना लेती है तब कहती है—"हाय ! मेरे माता-पिता तुम्हारे साथ मेरा विवाह नहीं किये, बल्कि मेरा गर्दन काट कर मुझे कुएँ में छोड़ गये। अहो भगवान् ! हमारी लगन इन्हीं के साथ जोड़ रखी थी। देखो ! हमारी पड़ोसिनें हमारे साथ-साथ आयी हैं, और उनके पतियों ने उन्हें गहने-कपड़ों से साज दिये हैं, नाना भाँति से सुख देते हैं और मैं तो जब से आयी, तब से जब गहने-कपड़े आदि के बारे में कुछ भी कहती हूँ, तब ये जल मरते हैं, उल्टा श्वास लेने लगते हैं। इनकी कमाई में आटता ही नहीं।" कहाँ तक कहें, इस प्रकार नारियों की नाना घुड़की धमकी सहे। उपर्युक्त बातें तो भदेसिल स्त्रियों की हुई, सभ्य स्त्रियां भी कह बैठती हैं। "हमारे भाग्य में सुख ही

होता तो राम यही दरबार दिखाये होते; का कंथा के घर रहे, का भये गये विदेश।"

रात-दिन विषय-प्रपंच, पद, प्रतिष्ठा, मान, अधिकार, द्रव्य-पृथ्वी, कुटुम्ब के लिये अशांत हो कुत्तों की भाँति दौड़े। धन-कुटुम्ब मायावी पदार्थ पाकर अभिमानी बने, भजन-भक्ति से हाथ धोकर हिंसा, अनीति, विषयासक्ति, चिंता, तृष्णा, शोक, मोह में जलते रहे। दीन होकर अन्न बिना भूखों मरे, कपड़ा बिना जाड़े में काँप-काँप कर जीवन काटे। अहो! कहीं अन्न नहीं है, कहीं वस्त्र नहीं, कहीं लगान (मालगुजारी) चुकाने को द्रव्य नहीं। कहीं किसी से राग-द्वेष-फौजदारी मुकदमेबाजी, कहीं लड़ाई-झगड़े में मारे-काटे गये। कहीं विद्या पढ़ते समय फेल हो गये, अथवा पढ़-लिख कर नौकरी नहीं मिली। कोई आज मर रहा है या घर गिर पड़ा है उसे बनवाना है, हजारों लाखों रुपयों का कर्ज लदा है वे सब रात-दिन तकाजा करके जान निकाले लेते हैं। इत्यादि कह कर कहां तक गिनावें, भाड़ा के टट्टू वत् स्त्री, पुत्र, गृह धनादि के लिये रात-दिन हम दौड़े व दौड़ते हैं, उसमें हार नहीं माने न मानते हैं बल्कि और रात-दिन साहस बाँधकर सुख मानते हुए उसी ओर चले तथा चलते हैं। अहो मित्र मन! परमार्थ, गुरु-भक्ति, इन्द्रिय-दमन आदि में उपर्युक्त परिश्रम-विघ्नों की अपेक्षा सौवाँ भाग परिश्रमादि हैं, तिस पर भी तू सहन-रहित कायर हो रहा है।

छन्दः— जग भोग के परिश्रम में तृष्णा अगिन की बाढ़ है।
फिर फिर जनम फिर फिर मरण, त्रयताप ज्वालागाढ़ है॥
गुरुभक्ति हित मन नाश में, परिश्रम दुख से मुक्त है।
फिर भी इधर क्यों ना चले, कुछ भी विचारो युक्त है॥ १॥

कामी भि पूरण काम हित, सुख से दुसह दुख सह रहे।
लोभी भि धन संग्रह लिये, नाना परिश्रम कर रहे॥
मोही भी निज परिवार हित, सांसति अनेकों दुख लहे।
तब भक्ति स्थिति हेतु क्यों ना, विघ्न थोड़ा श्रम गहे॥ २॥

जब नाशकारी भोग हित, इतने सहन साहस घने।
तब त्याग मुक्ती हेतु क्यों न सहन साहस दृढ़ ठने॥
बस एक जीवन दो बिता, जड़ भास सुख आशा बिना।
फिर नित्य अविचल शांत हो, करके न खुद देखो किना॥ ३॥

शिक्षा—जिस परमार्थ-पथ में पैर रखते ही, गुरुशरण में आते ही बहुत-बहुत दुख-द्वन्द्व छूट जाते और नाना प्रकार मनवांछित सुख मिल जाता है, ऐसे परमार्थ-गुरुशरण की निरालस होकर सदैव रक्षा करनी चाहिये।

भजन

हम सब गुरु प्रेमी भक्त जनों मिलि आओ, गुरुविजय ध्वजा फहराओ॥टेक॥
भरमिक गुरुवों के फाँसों को, देवी देवादिक गाँसों को।
सब मन के भ्रम को दिल से दूरि बहाओ॥ गुरु वि०॥ १॥
गाली निन्दा से मुख मोड़ो, हिंसा व्यभिचार से मन तोड़ो।
सारे अवगुण को त्यागि सुबुधि अपनाओ॥ गुरु वि०॥ २॥
हम सब भक्तों में प्रेम रहे, गुरुभक्ति में दृढ़ नेम रहे।
दर्शन पर्शन सद्गुरु संतों के जाओ॥ गुरु वि०॥ ३॥
प्रेमी भक्तों जिज्ञासु जनों, सद्गुण साहस युत वीर बनो।
ये मानव तन उद्धार करन चित्त लाओ॥ गुरु वि०॥ ४॥
गुरुबोधक परख विहारी हो, अज्ञान मोह भ्रमहारी हो।
हम दीन हीन दुखियों को शरण लगाओ॥ गुरु वि०॥ ५॥

शब्द—१३

सुजन जन गुरुमति गहहु महान॥ टेक॥
सार असार परख जड़ चेतन, भेद सकल मत जान
तम अज्ञान शमन करि सबही, लहहु दिवाकर ज्ञान १
राग द्वेष अरु शत्रु मित्र सब, दुख सुख जग भुगतान
सबसे पृथक परख पद माहीं, रहहु सदा गलतान २

भास अध्यास अनुमान कल्पना, सृष्टि मनोमय जान
द्रष्टा चेतन सबसे न्यारा, गो माया लपटान ३
शम दमादि साधन गहि निशिदिन, हंस लच्छ मतिमान
साधु गुरू के चरण सरोरुह, लहु भक्ती सुखदान ४

टीका:— सज्जन वृन्द ! महान गुरु-बुद्धि को धारण करो ।।टेक।। सार-असार, जड़-चेतन की परख करो, और सम्पूर्ण मतों, वादों एवं सम्प्रदायों के मर्म को समझो । सब प्रकार के अज्ञान रूपी अंधकार को समाप्त करो । और सूर्यवत् अखण्ड प्रभाशील स्वरूपज्ञान को धारण करो ।।१।। मोह और वैर, शत्रु और मित्र, दुःख और सुख—सभी जगत-प्रपंच बीत जानेवाले किंवा समाप्त हो जाने वाले हैं । इन सभी प्रपंचों से पृथक जो अपना पारख-पद (चेतन स्वरूप) है, उसी की स्थिति में, चिंतन में लवलीन रहो ।।२।। भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना—सब मनोमय सृष्टि हैं । इनका द्रष्टा चेतन है और इन सबसे पृथक है; वह अपनी भूल-वश इन्द्रिय-भोगों में लिपटा है ।।३।। अतः रात-दिन शम-दम आदि साधनों को धारण करके अपने को विषयासक्ति से पृथक करो, हे बुद्धिमान मनुष्य ! तुम हंसवत् विवेकी हो, तुम्हारा उद्देश्य नीर-क्षीर-विवेक करना है । इन सभी के लिये विवेकी संत-गुरु के चरण कमलों की सुखदायी भक्ति धारण करो ।।४।।

व्याख्या:—सदगुरु के श्रेष्ठ विचार ही गुरुमति या गुरुबुद्धि है । उसको धारण करके उसके अनुसार आचरण बनाने से ही मानव जीवन का कल्याण है । पंच विषययुत यह संसार-शरीर सारहीन है और अपना चेतन स्वरूप सार है । अतः जड़ विषयों से हटकर अपने चेतन स्वरूप में ही स्थिति करो ।

ऊपर बात आयी है कि 'सबके मत पंथों के भेदों को जानो ।' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन पर्यन्त संसार के अनेक सम्प्रदायों की बातों को ही जानने में भटकते रहो । भाव है कि नाना मत पंथों में सार बातों के अतिरिक्त जहां तक अन्य मान्यतायें हों सब धोखा रूप समझो । सार यह है कि सभी दृश्यों का द्रष्टा अपना अविनाशी चेतन

स्वरूप है, जो अंश-अंशी, कारण-कार्य तथा व्याप्य-व्यापक से रहित है। पांचों विषयों की आसक्ति तथा तज्जन्य दुर्गुणों को छोड़कर दया, शीलादि सद्‌गुणों के संयुक्त स्वरूपज्ञान में स्थित होना ही परम कर्तव्य है। यह सब प्रत्यक्ष विवेकी सद्‌गुरु-संतों की सेवा-भक्ति से ही सुलभ हो सकता है। बस यही सार है, इसके अतिरिक्त भटकना मतों की खाईं में गिरना है।

आज हम जिन क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों के लिये मोह-लोभ करते हैं, वे सब पलक मारते छूट जाने वाले हैं। अज्ञान-वश ही लोग सांसारिक पदार्थों को अपनाने के लिये परस्पर छीना-छपटी करते हैं। जिनके लिये हम मोह-वैर में पचते हैं, वे सब सार-हीन हैं, क्षण-भंगुर हैं।

सवैया

शत्रु व मित्र व राग रु द्वेष, व सुक्ख रु मान तमाम छुटैंगे।
ऐसेहु दिन इक आय पड़े, जब पानी के कुल्ला न जाय घुटैंगे॥
जाहि तु आपन मानि रह्यो, वह देखत ही सब लोग लुटैंगे।
मानहु बात ये जात जमात, वो आजहि काल में प्राण छूटैंगे॥ १॥

पांचों विषयों में सुख का प्रतीत होना—भास है, विषयासक्ति के गहरे संस्कार ही—अध्यास हैं, प्रत्यक्ष जगत की स्थिति प्रत्यक्ष जड़-चेतन से न समझकर इसके अन्य कारण-कर्ता, देवी-देवता आदि होने का भ्रम करना—अनुमान है, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम क्रोधादि मन में उठते रहना—कल्पना है। यह सब मन के विकार हैं। इनका त्याग करना कल्याणार्थी का कर्तव्य है।

मानसिक विकारों का नाश करना--शम है, तथा इन्द्रियों को उत्तेजना से रहित करना—दम है। इस प्रकार शम-दम का अभ्यास करके मन को निर्मल बनाओ। जीवन की श्रेष्ठता तथा सुख मन की निर्मलता में ही निहित है। परन्तु इन सबके मूल में पूज्य गुरुजनों के चरणों में अघटित भक्ति-श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। क्योंकि—

सवैया।

भक्ति बिना मन जीति सके नहिं, भक्ति बिना नहिं ज्ञान रुकैते ।
भक्ति बिना न विराग बनै पुनि, भक्ति बिना नहिं बोध टिकैते ॥
भक्ति बिना नहिं स्वारथ में सुख, भक्ति बिना परमार्थ डिगैते ।
भक्ति बिना सिर आय परे दुख, या हित भक्ति में प्रेम करैते ॥

शब्द—१८

गुरुपद प्रीति करो नर नारी ॥ टेक ॥
यह जग निज स्वारथ के संगी, मतलब के सब यारी
स्वारथ भंग काम नहिं आवत, मारहिं मार पुकारी १
ऐसी दशा देखि नहिं चेतत, मूरख निपट अनारी
बिन सत्संग दया सद्गुरु की, मोह न छूटत भारी २
याहि हेतु सब साधु गुरु नित, समुझावत दुख सारी
अजहूँ चेत करो नर प्यारे, शरण गये सुखकारी ३
परउपकार जीवन हित दाया, संत बड़े हितकारी
सब बिधि सेव्य भाव गहि उर में, मानुषजन्म सुधारी ४

टीकाः— कल्याणार्थी नर-नारियो ! गुरु-पद में प्रेम करो ॥टेक॥ इस संसार में सब संसारी जीव स्वार्थ के साथी हैं, सारी मित्रता अपने दाँव गाँठने के लिये करते हैं। अपने स्वार्थ में कमी पड़ने पर कोई थोड़ा भी काम आनेवाला नहीं है, अपितु स्वार्थ में विरोध पड़ने पर 'मारो, छीन लो' की ही ध्वनि करने लगते हैं ॥१॥ ऐसी स्थिति देखकर भी नितान्त अज्ञानी एवं मूर्ख मनुष्य सावधान नहीं होता। सत्संग तथा गुरुकृपा की प्राप्ति बिना यह महान मोह (अज्ञान) नहीं छूटता ॥२॥ इसीलिये सभी विवेकी साधु-गुरु स्वार्थ से पूर्ण मोह-जाल के सारे दुःखों को समझाकर सावधान करते हैं। हे प्यारे मनुष्यो ! आज भी चेत करो, स्मरण रखो, सद्गुरु-संतों की शरण में जाने से ही तुम्हारे सुखमय दिवस आयेंगे ॥३। परोपकार करनेवाले, जीवों पर कृपा करनेवाले संत सबके बड़े हितकर होते

हैं। अतएव विवेकी गुरु-सन्तों के प्रति अपने हृदय में सब प्रकार से सेव्य-भाव धारण करके अपने नर जन्म का सुधार करो ॥४॥

व्याख्याः— विवेक वैराग्यादि सद्गुण सम्पन्न सद्गुरु के चरण, बोध-वैराग्य और हंस रहनी संयुक्त गुरु का दर्जा और अपना चेतन स्वरूप ये तीन गुरुपद के तात्पर्य हैं। पहले गुरुदेव के चरणों में अर्थात् उनकी सेवा-आज्ञापालन में प्रेम करे, और हंस रहनी संयुक्त गुरु दर्जा अर्थात् स्वरूपस्थिति के आचरणों में प्रेम करे, और पुनः अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में प्रेम करे —बस यही गुरु पद में प्रेम करने का तात्पर्य है। इसके नर-नारी दोनों अधिकारी हैं।

संसार स्वार्थ की रस्सी में बँधा है। संसारी जीव अपनी स्वार्थ-पूर्ति न देखकर केला के पत्ते-सदृश फट जाने वाले हैं। अतः इनके मोह में आसक्त रहकर भजन-भक्ति से हाथ धोये रहना बहुत बड़ा अज्ञान है। इन स्वार्थी मनुष्यों-द्वारा बारम्बार ठगाये जाना, चेत में न आना— कितना घोर अज्ञान है।

कवित्त

रात दिन मारा गरियावा दुरियावा जात,
फिर फिर हित मानि ताहि में धँसाई है।
कोई कहै साधु की शरण भक्ति ज्ञान सिखो,
ताहि कटु बैन कहि जोर से रिसाई है॥
नीम कीट मल कीट ताहि सुख मानि रह्यो,
तेहि छोड़ि अमृत न वाहि को सोहाई है।
तैसे यह मूढ़ मन जग सुख मानि रह्यो,
साधु गुरु भक्ति माँहि आवत रोवाई है॥

जीव रक्षक से भागता है और भक्षक से लिपटता है। वास्तव में मोह महा बलवान है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं:—

माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥
मोर तोर में सबै बिगुर्चा। जननी गर्भ बोद्र भा सूता॥
(बीजक, रमैनी ८४)

गोस्वामी जी कहते हैं

मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि ते पुनि उपजै बहु शूला॥
मोह निशा सब सोवन हारा। देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा॥
यहि जग यामिनी जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥
जानहु तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥
(रामायण)

अज्ञान-अंधकार से मुक्त होने के लिये संतों का सत्संग करना चाहिये, सच्चे संत मन-वाणी, कर्म से परोपकारी होते हैं। माता-पिता, भाई, स्त्री-पुत्रादि के पास जाइये तो वे पूछते हैं हमारे लिये क्या कमा कर लाये हो? और सन्तों के पास जाइये तो वे पूछते हैं तुमने आज तक कितना सुधार किया? कितने दुर्गुण, दुर्व्यसन छोड़े? वास्तव में संसार में सन्त ही मनुष्यों के पथ-प्रदर्शक, कर्णधार एवं उद्धारक हैं।

आज का सभ्य कहा जाने वाला समाज अध्यात्म से हटकर भौतिकवादी होता जो रहा है। वह अध्यात्म का कुछ महत्व ही नहीं समझता। वास्तव में हमारा जीवन दो प्रधान मूलद्रव्यों से स्थित है, उसमें एक जड़ तथा दूसरा है चेतन। जड़-द्रव्यों से तो काया का सृजन हुआ है तथा चेतन उसमें निवास करता है। जड़-भाग—शरीर की स्थिति के लिये भौतिकता की उन्नति अनिवार्य है; क्योंकि बिना भौतिक वस्तुओं के जड़ शरीर का संरक्षण असम्भव है; परन्तु चेतन, जो मैं के रूप में विराजमान है, उसकी स्थिति के लिये आध्यात्मिक उन्नति, अर्थात् सत्संग, भक्ति, सदाचरण-द्वारा आत्मिक-उन्नति करना अत्यंत आवश्यक है।

निस्सीम भौतिक-उन्नति हो जाने पर भी जड़-विज्ञान-द्वारा भोगों

की राशि इकट्ठी कर लेने पर भी, बाहरी दिखावा में अपार भोग, धन, शासन, स्वामित्व से सम्पन्न हो जाने पर भी वह हृदय से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसके हृदय की कामना-ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। यह ठीक है कि भौतिक उन्नति के बिना न जीवन सुखपूर्वक चल सकता है और न आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है; परन्तु आध्यात्मिक उन्नति के बिना मनुष्य सच्चे अर्थ में न सुखी हो सकता है न श्रेष्ठ। भौतिक उन्नति शरीर-रक्षण के लिये है तथा शरीर-रक्षण आध्यात्मिक उन्नति के लिये है। अतएव हमारा लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति होना चाहिये, और भौतिक उन्नति को साधन समझना चाहिये।

जड़ से भिन्न अविनाशी चेतन (जीव) का अस्तित्त्व, कर्म-संस्कार-वश उनका चारों खानियों (मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि) में भटकना, पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार आज या देहान्त में सुख-दुःख की प्राप्ति, सदाचार, सत्संग, भक्ति, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, शम-दमादि सद्गुणों-द्वारा जीव का उद्धार— ये मानवहितकारी बातें जब तक मनुष्य की बुद्धि में निश्चय नहीं होंगी तब तक उसको जीवन का सुखमय पथ नहीं मिल सकता।

संसार में मनुष्यों को कुपथ से हटाकर सुपथ में लगाने वाले विवेकी संत हैं। उनकी संगत बिना मनुष्य, पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकता। ऐसे संतों के महत्त्व को जो नहीं समझते हैं, वे उनकी हँसी करते हैं, उन्हें निरर्थक समझते हैं, प्रत्युत उनको समाज का बोझ रूप मानते हैं। जो साधु नामधारी साधुता से रहित हैं, ऐसे लोग अवश्य निरर्थक किंवा समाज के बोझ रूप हैं; परन्तु सच्चे सन्त तो समाज के बहुत बड़े उपकारी हैं। वे समाज से किंचित शारिरिक रक्षण [वह भी अयाचित] लेते हैं और बदले में समाज को निर्मल विचार तथा सद्प्रेरणा देते हैं। आज के युग के लिये जितनी आवश्यकता वकील, डाक्टर तथा मास्टर की है; उससे अधिक आवश्यकता नैतिकता तथा सच्चरित्रता के प्रेरक सच्चे सन्तों की है।

'सच्चे सन्त संसार में अपेक्षया कम हैं'—यह पृथक बात है; किन्तु इससे सच्चे सन्तों की महिमा कम नहीं हो जायगी। भूसी के साथ चावल को, कंकर के साथ कंचन को तथा सीपी के साथ मोती को फेंक देना जैसे समझदारी नहीं है, इसी प्रकार नकली साधु—वेषधारियों के साथ सच्चे सन्तों से विमुख हो जाना विवेकी का काम नहीं है। अतएव कल्यार्थी का कर्तव्य है कि वह विवेकी सन्तों की विनम्र सेवा-सत्संग करके जीवन लाभ लें।

साधु बिरछ सद्ज्ञान फल, शीतल शब्द बिचार।
जग में होते साधु नहिं, जरि मरता संसार॥
(सदगुरु कबीर)

संत संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।
श्रुति पुराण कवि कोविद, कहहिं सकल सद्ग्रन्थ॥
(मानस रामायण)

प्रस्तुत शब्द के शीर्षक में आया है 'गुरु पद प्रीति करो नर-नारी' अर्थात् नर-नारी दोनों को समान गुरु-भक्ति तथा कल्याण-पथ पर चलने को बताया गया है। नर-नारी— सबके लिये इस पुस्तक में उपदेश दिये गये हैं, यहाँ नारियों के लिये मुख्य रूप से कुछ दृष्टांत दिये जाते हैं; मनन करें।

शकुंतला और किशोरीदेवी

दृष्टांत—एक ग्राम में अत्यन्त साधु-सेवी, गुरु-पद-निष्ठक सत्संगी और सदाचारिणी श्रीमती शकुन्तलादेवी रहती थीं। वे अपने इष्ट के ध्यान में तन्मय हो स्वस्थ चित्त से बैठी थीं। इतने में श्रीमती किशोरी देवी आ गयीं और शकुन्तला देवी को नमस्कार करके बैठ गयीं।

कुछ विलम्ब-पश्चात् शकुन्तला ने बड़ी कोमलता पूर्वक किशोरी देवी से पूछा—बहन! तुम सत्संग में क्यों नहीं आती और सद्ग्रन्थें क्यों नहीं पढ़ती? तुम्हें तो अपने सर्व पड़ोसिन-महिलाओं को साथ लेकर

नित्य सत्संग में आना चाहिये। हमारे पिता के यहाँ एक-न-एक विवेकी सन्त सदा आया करते हैं, ऐसे शुभ अवसर में अपना जीवन तो अवश्य सुधारना चाहिये।

किशोरीदेवी खिन्न होकर बोली—क्या करूँ वहन! सन्त लोग तो विशेष स्त्रियों की निन्दा ही किया करते हैं और जितने सद्ग्रन्थ बने हैं सब में नारियों की निन्दा कूट-कूट कर भरी है, इससे हमारा मन सद्ग्रन्थ, सत्संग में नहीं लगता।

शकुन्तला—न-न बहन! ऐसा कभी न समझना, वह हम लोगों की निन्दा नहीं है। एक तो सब ग्रन्थों में स्त्री-दोष-दर्शन लिखा नहीं है, और जहाँ लिखा है उसका कारण है, विशेष पुरुष ही वैराग्यवान होने से उन लोगों ने नारि-देह को दुःख रूप निश्चय किया है। जिससे नारि-विषय से मन उपराम होकर वैराग्य ज्ञान की स्थिरता हो। उसमें क्या है, हम लोग उसे उलटकर पुरुष के विषय में लगा लें। जैसे मुमुक्षु-पुरुष को स्त्री-विषय घातक है, वैसे मुक्ति-इच्छुका स्त्री के लिये पुरुष-विषय घातक है। देखो बहन! हम सब जितने जीव हैं, सब शुद्ध ज्ञान मात्र हंस रूप हैं। नारि-पुरुष तो ऊपर का देह रूप वक्तर (कपड़ा) हैं। स्त्री-पुरुष परस्पर दोनों की देहों को दुःख रूप, अपवित्र जड़ (जैसे वास्तव में वह है वैसे) निश्चय कर अखण्ड ब्रह्मचर्य पूर्वक सत्संग द्वारा जीव का कल्याण करना चाहिये।

किशोरी देवी प्रसन्न चित्त हो पूछने लगी— अच्छा बहन! हमें यह बतलाओ कि गृहस्थी में रहते हुए हम नारि जाति का किस प्रकार सुधार होवे? इतना कह न चुकी थी कि ग्राम से झुंड की झुंड नारियाँ आ गईं और सब परस्पर नमस्कार करके बैठकर उपदेश सुनने लगीं।

शकुंतला बोली— बहनो! प्रथम तो हम सब को 'शील' और 'दया' धारण करना चाहिये, कम खर्चीली बनना चाहिये। हमारी नारी जाति इतनी अज्ञान दशा को धारण कर ली है जिसकी सीमा नहीं। हम अधिकांश महिलाओं को देखती हैं तो वे अपने घर ही में नित्य-

नित्य कलह मचाये रहती हैं। कभी भोजन बनाने में पारी बाँधती हैं तो कहीं बर्तन माजने में, आँटा पीसने, चावल कूटने में इत्यादि। हाँ यदि पारी भी बाँधे तो व्यवहार की शुद्धि और सुविधा के लिये, न कि ईर्ष्या-द्वेष-वश। नारियों में इस प्रकार अज्ञान छाया है कि एक दूसरे के पुत्र, धन, सौंदर्य को देखकर जलती हैं। इधर पुरुष से नित्य नाना इच्छायें किया करती हैं। चाहे पुरुष बिक जाय किन्तु मूल्यवान साड़ी और आभूषण अवश्य चाहिये। यह सब दुर्भावनायें जबतक नहीं निकाली जायँगी, तबतक हम सुखी कैसे हो सकती हैं ?

घरेलू काम-धन्धों में सदा आगे रहना चाहिये। काम करने से जी नहीं चुराना चाहिये, कुटुम्ब के सभी लोगों से सच्चा प्रेम रखना चाहिये नाना शौक-शृंगार के लिये पुरुष को कष्टित नहीं करना चाहिये। कपड़ा तो मोटा और कम-दाम का पहनना अत्यन्त आवश्यक है। गहने तो बिलकुल पहनना ही नहीं चाहिये। इनमें केवल पैसे नष्ट होते हैं। दूसरे अपने शरीर पर भार भी रहता है। उसी पैसे को यदि धर्म, भक्ति परोपकार में लगाया जाय तो अपने लोक-परलोक का कितना सुधार हो। नारियों के लिये तो आभूषण, केवल हाथ की चूड़ी काफी है और हाथ की उँगुलियों में छल्ला-मुन्दरी कभी भूल कर भी नहीं पहनना चाहिये। क्योंकि उनमें कचड़ा जम जाता है, और हाथ ही से सर्व भोजन-भण्डार का काम करना पड़ता है। हम सब तभी सुखी हो सकती हैं, जब अपने खर्च को कम करें। बड़े दुःख की बात है कि हमारी बहुत सी बहनें तम्बाकू, पान, बीड़ी, सिगरेट, चर्स,चाय आदि खाती-पीती हैं। कोई-कोई शराब-मांस तक पी-खा लेती हैं। यह कितनी भूल है ? हम लोगों को केवल शुद्ध सात्विक अंकुरज शाक, फल, फूल, अन्न, जल, मेवा, मिष्टान्न आदि को ही सादगी पूर्वक खाना चाहिये; और दुर्व्यसन तो अग्नि रूप होकर जलायेगा ही। इसके अतिरिक्त जितने छोटे-बड़े देहधारी जीव हैं सभी पर दया और शील का वर्ताव करना चाहिये। नारियों के सिर पर बड़े बड़े बाल होते हैं, उनमें स्वच्छता न रखने से जूवें पड़ जाते हैं।

उन्हें नारियाँ अधिकतर निकाल-निकाल नख पर रख कर मार देती हैं। अहो ! यह कितनी निर्दयता है ? जैसे कोई तुम्हें एक पत्थर पर रखकर ऊपर से दूसरे पत्थर से दबा देवे तो कैसा लगेगा ? वैसे ही अन्य के प्रति भी समझना चाहिये । जितने छोटे-बड़े देहधारी जीवों को शक्ति चले तक न बचाकर मारा जायगा, उसका बदला अवश्य देना पड़ेगा। श्री कबीर साहेब कहते हैं—

जीव घात ना कीजिये बहुरि लेत वे कान।
तीरथ गये न बाँचिहो, जो कोटि हीरा देहु दान ॥
(बी० साखी)

पहले तो अपने शरीर, बाल एवं कपड़ों को जल-मिट्टी साबुन से पवित्र रखना चाहिये। कदाचित् जीव पड़ जावें तो उन्हें निकाल कर जीते जी कहीं दूर फेंक देना चाहिये। 'भोजन बनाने में जीव हिंसा न हो', हमें इस बात पर ध्यान देना परम आवश्यक है। हम देखती हैं, चाहे स्त्रियाँ दिनोंदिन घर-घर घूमती रहें, प्रपंच-वार्ता करती रहें, किन्तु उनसे चावल-दाल विचारना, जल-छानना नहीं बनता। हम सबों को नित्य चावल, दाल, आँटा आदि को खूब लक्ष्य पूर्वक विचारना व छानना चाहिये। उनमें जीव न रह जायें। जल को गाढ़े कपड़े से छान कर तब भोजन बनाने, पीने या किसी काम के लिये औटाने के लिये लेना चाहिये। चूल्हा जलाते समय चूल्हा झाड़ और देख लेना चाहिये। लकड़ी-कण्डा [छेना] झाड़ और देख लेना चाहिये, उनमें छोटे-छोटे जीव रहते हैं। जहाँ नित्य-नित्य भोजन बनाया जाता हो, वहाँ चूल्हे के ऊपर एक टाट या कपड़ा [चाँदनी] तान देना चाहिये, जिससे भोजन में ऊपर से जीव या कचड़ा न गिरें। चौका लगाते, घर लीपते समय बायें हाथ से झाड़ू से धीरे-धीरे बुहारते हुए लीपना चाहिये। क्योंकि छोटी-छोटी चीटियाँ दौड़-दौड़ कर आगे आया करती हैं, न ध्यान रखने से पोतने में लिपट कर वे मर जाती हैं। और भी चलते-फिरते या किसी भी समय तन, मन, वचन से किन्हीं भी देहधारी जीवों को कष्ट नहीं

देना चाहिये, बल्कि किसी का कष्ट देखकर मनमें करुणा लानी चाहिये और यथाशक्ति जीवों की रक्षा करनी चाहिये। यही परम तप और धर्म है यथाः—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

नारियों का धर्म है, वे खास अपने पति से उचित सम्बन्ध रखें। पर पुरुष को पिता, पुत्र और भाई के समान समझें, और विधवा, अविवाहिता तथा ब्रह्मचारिणियों का धर्म है कि वे विषय-वासनाओं के अखण्ड त्यागी होवें। अतिथि-सत्कार, अन्न, जल, वस्त्र, ज्ञान का दान; भजन-पूजन करते हुए सत्संग-सद्ग्रन्थ-द्वारा अपना जीवन लाभ उठावें। पुत्र, पुत्री, धनादि के लिये कल्पित भूत-भवानी, देवी-देव के पूजन-अर्चन में न लगें। यह सब कोरा भ्रम है। जो अपने प्रारब्ध में होगा वही होगा। आगे मुक्ति-इच्छुक नारियों को समझना चाहिये कि विषयों की आसक्ति-वश ही जन्म-मरण के घोर कष्टों को उठाना पड़ता है। काम-वश ही नारियों को गर्भ तथा प्रसव का भार उठाना पड़ता है। जीवन पर्यन्त पूरी भोगिनी बनना पड़ता है। पुत्र, पुत्री के न होने, रोगी-दोषी होने, मर जाने आदि की अनेक चिंताओं में जलना पड़ता है। अंत में पुत्र-पुत्री, घर-धन, पति-सुख सब यहाँ के यहाँ ही छूट जाते हैं। केवल दुःख, त्रय-ताप, जन्म-मरण की पीड़ा ही हाथ आती है। इसलिये मुक्ति-इच्छुका को विषय त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये। ब्रह्मचर्य की रक्षा सत्संग से, सजगता से, सद्ग्रन्थ पढ़ने से, कुसंग के त्याग से, आरामतलबी छोड़ने से, पुरुषों से प्रेम न रखने से, बार-बार विषय-भोगों को दुःख रूप निश्चय करते रहने से, शरीर को जड़-अशुचि रूप समझने से, मौत की याद रखने से, प्रपंची वेषधारियों से दूर रहने से, मद-मान-अभिमान एवं चपलता त्यागने से अपने घर में रहकर साधना करने से नारियाँ अपने त्याग-वैराग्य को निभा कर कल्याण कर सकती हैं। विचरण करने वाली, स्वच्छन्द रहने वाली स्त्री के पतन

होने में कोई विलम्ब नहीं है। निदान—[१] स्वरूप-बोध [२] गुरुभक्ति [३] परीक्षा-दृष्टि, [४] दया [५] विवेक [६] विषयत्याग, [७] सत्संग। ये सात मोक्ष के मुख्य फाटक हैं। अतः जीवन भर इन साधनों में रहकर शरीराध्यास शिथिल करके मुक्त हो जाना चाहिये। इतनी शिक्षा सुनकर सब नारियों के सहित किशोरीदेवी बहुत प्रसन्न हुई और शकुन्तलादेवी का नमस्कार कर सब अपने-अपने घर गयीं और सब अपना-अपना सप्रेम सुधार करने लगीं।

कमलादेवी की शुशीलता

एक ग्राम में एक 'आत्माराम' नामक ब्राह्मण रहते थे। उनके चार पुत्र थे। चारों का विवाह हो चुका था। तीन की स्त्रियाँ आ चुकी थीं। वे तीनों बहुयें सासु-श्वसुर तथा ननद से परस्पर लड़ा करती और काम करने में एक-का-एक हिसका-पटैती किया करतीं, और एक दूसरे की संतान देख कर जला करती थीं। कुछ दिन के पश्चात् चौथे छोटे पुत्र की बहू भी आयी। वह एक सदाचारी, भक्त एवं सत्संगी गृहस्थ की पुत्री थी। वह साधारण पढ़ी-लिखी भी थी। उसे सद्ग्रंथ अध्ययन और संतों के सत्संग द्वारा समता, शील, दयादि सद्गुण-सदाचार प्राप्त थे। उसका नाम कमलादेवी था। जब वह अपने ससुराल आयी तब चार-छः दिनों के पश्चात् ही सासु-ननद और जेठानियों का परस्पर लड़ना-झगड़ना तथा घर के काम-काजों में हिसका-पटैती करना, भोजन बनाने, बर्तन माजने में पारी बाँधना इत्यादि, गड़बड़ दशा देखकर सुधार की युक्ति सोचने लगी। कमलादेवी का तो यह नित्य का नियम था कि ४-५ बजे तड़के उठकर इष्ट-गुरु का ध्यान किया करती। सद्ग्रन्थों का पाठ करती और अपने गुण-दोषों का विचार करती थी। अब यह प्रातः काल उठकर एक आध घंटा भजन- पूजन में लगकर पश्चात् घर-द्वार में झाड़ू लगाती, चौका-बर्तन ठीक करती, तब कहीं घर की स्त्रियाँ सोकर उठतीं और चौका बर्तन घर-द्वार पवित्र देखकर आश्चर्यित-सी हो जातीं।

इस समय भोजन बनाने की बड़ी जेठानी की पारी थी। कमलादेवी ने बड़ी जेठानी से बहुत प्रार्थना कर के भोजन बनाने का अधिकार अपने सिर पर ले लिया। आटा मील से पिसाया जाता था। मील का पिसाया आटा शक्तिहीन हो जाता है, पैसा भी लगता है; अतः इसे मैं पीस लिया करूँगी, ऐसा कह कर कमलादेवी आटा घर पीस लिया करती।

एक दिन सासु प्रसन्न होकर करुणापूर्वक कहने लगी—"बेटी! अभी तुम्हारा समय खेलने-खाने का है, पर तू ने तो घर का सारा भार अपने सिर पर रख लिया है।"

कमला—माताजी! हमारी धृष्टता को क्षमा करेंगे। खेलने-खाने में समय बिताना तो अल्पज्ञ बालकों का काम है। हमारे पिता के यहाँ विवेकी संत-महात्मा आते हैं। वे कहते हैं, मनुष्य शरीर बड़ा अनमोल है, यह मोक्ष-प्राप्ति के लिये मिला है। इस मानव-शरीर को प्राप्त कर जो जितना ही माता-पिता बड़े-बूढ़े की सेवा करता, सत्कर्तव्यशील रहता, दया, दान, परोपकार करता, वह उतना ही अपना कल्याण करता है। इसलिये हे माता! मैं अपने कल्याण के लिये ही कर रही हूँ। इसमें हमें कोई कष्ट नहीं, बल्कि प्रसन्नता ही है।"

उसके चरित्र को देख-सुन कर घर की सब स्त्रियाँ परस्पर राग-द्वेष ईर्ष्या आदि छोड़ दीं और सभी प्रातःकाल उठकर घर का काम-काज करना चाहतीं; अर्थात् जिस काम के लिये परस्पर पारी बाँधी जाती थीं, वही काम प्रसन्नता पूर्वक सब हाथों-हाथ कर लेने लगीं। घर में झगड़ा होना बंद हो गया। सब समता शांति पूर्वक रहने लगे।

करकसा नारी

एक स्त्री बड़ी लड़ाका (कर्कशा) थी, उसका इस प्रकार स्वभाव था, किसी कविने कहा है—

कवित्त

सासु के देखे सिंहनी सी जमुहाई लेत,
समुर के देखे डाकिनी सी डरपावती ।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठि,
देवर के देखे बाघिनी सी मुख बावती ।
भनत प्रधान मूँछे जारति परोसिन की,
खसम के देखे खाँव खाँव कर धावती ।
कर्कसा कसाइन कुबुद्धिन कुलक्षनि ये,
कर्म के फूटे घर ऐसी नारी आवती ॥१॥

एकदिन वह बीमार पड़ गयी । नित्यबीमारी बढ़ते-बढ़ते शक्ति-हीन होगयी । पुरुष जाकर चारचाई पर बैठा और कहने लगा—"कैसी तबियत है ?

स्त्री बोली—बड़ी बुरी हालत है । अब हमारे जीने का कोई आशा-भरोसा नहीं है । मैं सोचती हूँ भला जब मैं मर जाऊँगी तो आप का कैसे बीतेगा ?

पुरुष बोला—भला मैं यह सोचता हूँ कि तू फिर अच्छी हो गई तो मेरा कैसा बीतेगा ?

शिक्षा— स्त्री-पुरुष सभी का कर्तव्य है कि परस्पर ईर्ष्या-डाह, राग-द्वेष, कर्कशपन-कड़ा स्वभाव त्याग कर शुद्ध शील, समता, क्षमा अंगों से बरतते हुए सद्गुरु-सत्संग-भक्ति-द्वारा लोक-परलोक का सुधार करें ।

स्त्री-शिक्षा पद

बहनो भक्ति में मन को लगाओ जरा ।
बहनो सत्संग में प्रेम बढ़ाओ जरा ॥टेक॥

दो०—मेरी नारी जातियां, बहुत पड़ी हैं दूर ।
धर्म भक्ति को त्यागि के, भईं मंद मति मूढ़ ॥
अपने नर तन को सफल बनाओ जरा ॥१॥

दो०—शौक ठाट आलस्य में, देतीं तन धन खोय ।
सद्गुण सत्संगत नहीं, कैसे सुखिया होय ॥
पिछड़ी जाति को आगे बढ़ाओ जरा ॥२॥

दो०—खटमल जूँ चीलर सभी, बिच्छु सर्प जो होय ।
जीव जन्तु छोटे बड़े, मत मारो इन कोय ॥
मन में शील वो दाया टिकाओ जरा ॥३॥

दो०—जल घी आटा छानि के, चावल दाल विचार ।
कबहूँ हिंसा हो नहीं, ऐसे मन में धार ॥
नित्य भोजन को ऐसे बनाओ जरा ॥४॥

दो०—भूखा नंगा भिक्षु जो, द्वारे आवे कोय ।
यथाशक्ति तेहि तृप्त करि, सबहिं रक्षिये सोय ॥
अपने धन को धरम में लगाओ जरा ॥५॥

दो०—निन्दा ईर्ष्या मान छल, कबहुँ न मन में लाव ।
चोरी जारी झूठ जो, दिल से दूरि बहाव ॥
अपने अवगुण को आप हटाओ जरा ॥६॥

दो०—जन्म मरण का मूल है, विषय भोग परसंग ।
ताहि त्यागि गुरुभक्ति धरु, ब्रह्मचर्य सत्संग ॥
अपने मन को विषय से हटाओ जरा ॥७॥

दो०—पति पुत्री सुत मात पितु, घर तन धन छुटि जाय ।
पाप पुण्य जो कुछ करो, सोई साथे जाय ॥
इससे आगम को अपने बनाओ जरा ॥८॥

दो०—दया क्षमा सत् शील जो, भक्ति विवेक विचार ।
सब जीवन से प्रेम करि, मानुष जन्म सुधार ॥
ऐसे सद्गुण को मनमें बसाओ जरा ॥९॥

दो०—पाठ करो सदग्रन्थ का, नित्य करो सत्संग ।
कुकरम पांव न दीजिये, सदा चलो सद्पन्थ ॥
ऐसे 'अभिलाष' अपना बढ़ाओ जरा ॥१०॥

शब्द—१५

गुरु पद आप परखि जिन पावा ॥ टेक ॥
सबसे घूमि हटकि मन आपन, वाद विवाद बहावा
निज स्वरूप पद जमा यथारथ, लहि समाधि ठहरावा १
परम श्रेय श्री सद्गुरु पद लखि, सब मद मान हटावा
सन्मुख रहत सदा सद्गुरु के, देह ब्रह्म जगध्यास नशावा २
जनसंसर्ग दोष सब तजि कर, उर वैराग्य बढ़ावा
जस जस परखै फीका होवे, सत्संगति मन भावा ३
जाति पाँति परपंच भेष सब, तम अज्ञान मिटावा
कहैं कबीर सजग निशिवासर, आपुहिं आप रहावा ४

टीका:— गुरुपद अपना स्वरूप ही है—ऐसी पूर्ण परीक्षा जिसको हुई ॥टेक॥ वह सबसे मुड़कर तथा वाद-विवाद छोड़कर, अपने मन को ही मारता है। वह अपने अव्यय और त्रयकाल सत्य स्वरूप का बोध पाकर उसी की समाधि में—स्वरूपज्ञान की में तन्मयता तत्पर हो जाता है ॥१॥ शिष्य को जो अविनाशी चेतनपद का बोध होता है, उसका सारा श्रेय श्री सद्गुरु को ही है—ऐसा विचार कर वह विवेकी साधक ज्ञान होने के मद-मान को भी दूर कर देता है। वह सदैव सद्गुरु के ही सम्मुख रहता है; अर्थात् उन्हीं के आज्ञास्वरूप सिद्धान्त-आचरण में स्थित रहता है, शरीर, संसार और संसाराभिन्न ब्रह्म—सबके अध्यास-भास-वासना का पूर्ण परित्याग कर स्वरूप-स्थिति में ही मग्न रहता है ॥२॥ प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले दोषों का सर्वतोभावेन परियाग कर वह अपने हृदय को वैराग्य से परिपूर्ण कर लेता है। उसको धीरे-धीरे जैसे-जैसे संसार की वास्तविकता की परख होती जाती है उसे वैसे-वैसे समस्त दृश्य पदार्थों की सारहीनता का बोध होता जाता है और कल्याणार्थ सत्संग के लिये उसके मन में प्रेम बढ़ता जाता है ॥३॥ वह जाति-पांति के अहंकार को, वेषधारियों के तमाम वेष प्रपंचों को और

अज्ञान-अंधकार को मिटा देता है। महान संत कबीर साहेब कहते हैं कि वह विवेकी साधक मन-माय से रात-दिन सावधान होकर अपने आप अविनाशी चेतनस्वरूप में ही स्थित रहता है ॥ ४ ॥

व्याख्या:—पीछे १४ वें शब्द की व्याख्यारम्भ में गुरुपद का स्वरूप बतलाया गया है। प्रस्तुत शब्द में गुरुपद केवल अपने चेतन स्वरूप को ही कहा गया है। जिसने पारखपद, गुरुपद को समझ लिया कि अपना स्वरूप ही है, वह स्वरूप ज्ञान को छोड़कर बाहर नहीं भटकता। अर्थात् वह ईश्वर, ब्रह्म, खुदा, गाड, राम-रहीम सत्पुरुष, कबीर, पारखपद, गुरुपद तथा अपनी मुक्तिभूमिका को कहीं बाहर नहीं खोजता। वह यह समझ लेता है कि परमपद, परमतत्त्व अपना चेतनस्वरूप ही है।

"बाँह मरोरे जात हो, मोहि सोवत लियो जगाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥"

इस साखी के नीचे वाली पंक्ति की टीका करते हुए श्री पूरण साहिब कहते हैं—"हे विचारवान् जीव ! तुम यथार्थ विचार करके देखो, कि जाको तुम कबीर कहते हो और गुरु कहते हो, सो कहाँ है ? हक नाहक मिथ्या धोखे में परो मत। इस पिण्ड में पारख पर स्थिर होओ। जिससे तुमने सब परखा सोई पारख और गुरुपद, ताके ऊपर और कछु नहीं। यह जान के तुमहूँ पारख में थीर होहु, भ्रम में चले जाओ मत। 'हम तो कहीं आयँ न जायँ, सदा एकरस नाहि नसायँ' सो तू कहीं घबराय के पारख छोड़ के मत जाना॥ बीजक साखी ११६ ॥ टीकायुक्त ॥

सारांश—किसी अन्य कर्ता या गुरु के स्वरूप में मिलकर मुक्ति नहीं होती। बल्कि अपना ज्ञान स्वरूप चैतन्य ही अजर, अमर, अविनाशी, निराधार, स्वरूप से गुरुपद—मुक्तपद है। उसी को जन्मादि दुःखों से छुड़ाने के लिये बोधदाता सद्गुरु और विवेकी संतों की भक्ति करनी चाहिये।

यह गुरुपद—चेतन स्वरूप ही जमापद=अव्ययपद=अखर्चपद=

अखण्डपद है। विजाति-वासना त्यागकर उपर्युक्त वर्णित स्वस्वरूप ही में समाधिनिष्ठ होना चाहिये। समाधि का स्वरूप इस प्रकार है

कवित्त

न काम है न क्रोध है न लोभ है न मोह है,
न राग है न द्वेष है न आश है न भासजू
न आवन न जान है न मिलन बिछोह दुख,
मनोमय सुखाशा दृश्य भास सब नाशजू
अगिन प्रचण्ड विष भोग सुख देखियत,
हर छिन निज रूप थिरता को बाशजू।
एकरस वृत्ति जो स्वरूप ही में लीन नित,
मुदित समाधि अभिलाष सुख न्नासजू॥

पहले तो विवेकी-सद्गुरु की सेवा करना, साथ में रहकर आज्ञा पालन करना शिष्य का कर्तव्य है। आगे चलकर सद्गुरु के बोध को विवेक-वैराग्ययुत धारण करना ही उनकी आज्ञा पालन करना या उनके सम्मुख रहना है।

सम्मुख गुरु के आज्ञा कारी। पारख पद तेई अधिकारी॥
(पंच ग्रन्थी)

ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म जगत् को उसी प्रकार अभिन्न तथा एक माना है, जैसे जल और उसका तरंग, मिट्टी और उससे बना घट तथा स्वर्ण और उससे बने आभूषण; अतएव विवेकी को संसार की आसक्ति से छूटने के लिये ब्रह्म की आसक्ति से भी छूटना पड़ेगा; क्योंकि ब्रह्म-जगत नाम मात्र पृथक है वस्तुतः एक है। अतएव विवेकी पुरुष देह, जगत, ब्रह्म—सबकी आसक्ति एवं भास-अध्यास से रहित होकर स्वरूपनिष्ठ हो जाता है।

बहुत मनुष्यों के संसर्ग से वैराग्य में शिथिलता आती है, और शरीर के स्वभाव-दोष भी उत्पन्न होते हैं। अतएव कल्याणार्थी पुरुष बहुत मनुष्यों के संसर्ग से बच-बच कर रहते हैं। वर्तमान प्राप्त संग में

विवेक-वैराग्यादि साधना पूर्वक अभ्यास करके निर्दोष रहने का प्रयत्न करते हैं। जितनी पारख दृष्टि (परीक्षा दृष्टि) दृढ़ होगी, उतनी ही संसार की सार-हीनता का गहरा अनुभव होगा; और जितना ही संसार की सारहीनता का अनुभव होगा उतना ही स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त सब कुछ फीका एवं खोखला प्रतीत होगा।

जस-जस परखै फीका होई। व्यापै न काल कला पुनि सोई ॥
(पंचग्रंथी)

पारख अटल समाधि है, देह भिन्न सब काल।
देह रहे या न रहे, यक सम जानि निहाल ॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूँ नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहाँ रहे सब फीक ॥
(मुक्तिद्वार ५।१३५,१३६)

बोधवान पुरुष जाति-पाँति के मद यहाँ तक शुद्ध साधु वेष के अहंकार को त्यागकर तथा समस्त आसक्ति अँधियारी को नष्ट कर निरन्तर जागरूक स्वरूपस्थिति में निमग्न रहते हैं। कहा है—

देह मान अभिमान से, निरहंकारी होय।
वर्ण कर्म कुल जाति से, हंस निन्यारा होय ॥
जग विलास है देह को, साधो करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, यथा भक्ति उर धार ॥
(बीजक पाठ फल ८, ९)

प्रश्नः— जीवन्मुक्ति सुख क्या है ?

उत्तरः— स्वरूपनिष्ठा पूर्वक विजाति-वासना निवृत्ति-जनित स्थिर वृत्ति का जो अनुभव है वही जीवन्मुक्ति सुख है।

प्रश्नः— दास-दासी, जन-समाज एवं जड़ पदार्थों द्वारा प्राप्त हुए मान, बड़ाई, पूज्यता, देह सुख क्या जीवन्मुक्ति सुख का एक अंग नहीं है।

उत्तरः— कदापि नहीं, असावधान हो जाने पर ये तो भूल, भ्रम और दुःखउत्पादक तथा जीवन्मुक्ति सुख के विरोधी हैं। इसीलिये तो विवेकी पुरुष को इनसे सावधान रहना पड़ता है। दूसरे— मान-सुख आदि तो जगत् जीवों को भी प्राप्त हैं, फिर वे मुक्त क्यों नहीं कहे जाते?

शब्द—१६

हमारे मन सद्गुरु पद लव लाव ॥ टेक ॥
पंच विषय यह देह विनश्वर, तासे प्रीति हटाव
मन वच कर्म जो दोषजनित सब, त्याग सकल दुर्भाव १
जड़ चेतन नित करै विवेचन, सत्संगति में भाव
निज स्वरूप लखि जमा यथारथ, अटलशांति पद पाव २
मत पथ पक्ष विरोध तजे सब, जीवहिं सत अपनाव
नहिं कोइ हेतु जानि निज आपन, वाद विवाद बहाव ३
यथा लाभ संतोष ताहि में, तजि धन की चित चाव
तृप्त सदा निजरूप निरन्तर, पारख पद ठहराव ४
बाजीगर का खेल जगत् सब, दुख सुख सबहिं दिखाव
कहैं कबीर हाथ कछु नाहीं, अन्त समय पछिताव ५

टीका:— मेरे मन! गुरुदेव के चरणों में प्रेम करो ॥ टेक ॥ पंच विषयों का स्वरूप यह शरीर नाशवान है, अतः इसकी आसक्ति को दूर करो। मन, वाणी, शरीर से जो दोष उत्पन्न होते हैं तथा हृदय की जो अन्य बुरी भावनायें हैं उनका पूर्णरूपेण त्याग करो ॥ १ ॥ सदैव जड़-चेतन का विवेक करो, सत्संग में प्रेम रखो। अपना चेतन स्वरूप अविनाशी है, त्रय-काल सत्य है उसी में अविचल भाव से सन्तुष्ट होओ ॥ २ ॥ नाना मत पंथों का पक्षपात एवं विरोध छोड़ कर सबका द्रष्टा स्वरूप जो जीव है, वही सत्य है, उसी सिद्धांत को अपनाओ। अपना कोई प्रयोजन न जानकर वाद-विवाद करना दूर डाल दो ॥ ३ ॥ अपने प्रारब्ध-पुरुषार्थ में जो प्राप्त हो,

उतने ही में संतोष रखो, अपने मन से अधिक धन की तृष्णा छोड़ दो। अपने निश्चय स्वरूप की स्थिति ही में सदैव सन्तुष्ट रहो और अपने सर्व परीक्षक स्वरूप--पारख-पद में स्थिति करो ॥ ४ ॥ इस संसार में आकर सुख दुःख, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, मिलन-वियोग—जहाँ तक द्वन्द्व दिखते हैं—सब बाजीगर के खेल के सदृश असत्य हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं संसार की कोई वस्तु तुम्हारे हाथ में आने वाली नहीं है; ऐ मानव! अंत समय में तेरे को पश्चाताप करके संसार से जाना पड़ेगा ॥ ५ ॥

व्याख्याः—सज्जनो! सच्चे सद्गुरु की खोज करो, उनकी शरण लो तथा उनमें अघटित स्नेह करो। क्योंकि कल्याण के वही मूल स्रोत हैं।

यह शरीर अत्यन्त क्षणभंगुर है। जैसे पानी का बुदबुदा, ओस का कण तथा इन्द्रधनुष क्षणस्थायी हैं, इसी प्रकार इस शरीर का एक क्षण के लिये भी विश्वास नहीं किया जा सकता। यह काया कच्ची सामग्रियों से बनी हुई वायु के झोंके में रखे हुए दीपक की लौ के सदृश अब बुझी—अब बुझी-सी हो रही है। इस नर-शरीर से साधन-भजन करना ही सार है, इसमें आसक्त होना तो बहुत बड़ा दुःख का कारण है। शरीराभिमान से ही शरीर, वाणी और मन में चोरी, हिंसा, व्यभिचार, गाली, निन्दा, असत्य-भाषण, ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, छल आदि दोष उत्पन्न होते हैं। जब तक इन समस्त दुर्भावनाओं को दूर नहीं किये जायँगे, तबतक जीवको शांति नहीं मिल सकती। जड़-शरीर पृथक है और उसका द्रष्टा चेतन उससे पृथक है—यह निश्चय करके शरीराभिमान को सर्वथा छोड़ो।

छन्दः— जड़ देह विकारी चंचलकारी कष्ट रूप मलकूपा।
मैं चेतन न्यारा, रहित विकारा एकरस शान्त अनूपा ॥
यह भाव अखण्डा त्रण नहिं द्वन्द्वा एकरस चाल अटूटै।
आगे दुख राखे भूल न चाखै जन्म मरण तेहि टूटै ॥

संसार में नाना मत, पंथ और सम्प्रदाय हैं। आपस में सबका कुछ

न-कुछ सिद्धांत, आचार और विचारों में विरोध है। सभी पक्षों में सबका न कभी ऐक्य हुआ है, न हो रहा है और न होगा; क्योंकि देश, भाषा, परिस्थिति, वातावरण, अन्तःकरण, रुचि, प्रकृति, मान्यता का विभिन्नत्व होने से सभी पक्षों में सबका ऐक्य होना असम्भव है। अतएव ऐसी स्थिति में वाद-विवाद करके सबको अपनी बातें मनवाने का दुराग्रह करना बुद्धि-विवेक का दिवाला निकल जाना है। इसीलिये विवेकी पुरुष निर्विवाद रहते हैं।

जिज्ञासु को सत्य ग्रहण करने की आवश्यकता है। जहाँ तक मत, पंथ हैं उनके चलाने वाले जीव ही हैं। ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देवता, भूत-प्रेत की कल्पना करने वाले जीव हैं। वेद, कुरान, बाइबिल तथा नाना शास्त्रों के रचयिता जीव हैं। ज्ञान-विज्ञान के आविष्कारक जीव हैं। अतएव यह अविनाशी चेतन जीव ही सर्वोपरि एवं परम तत्व है। ऐसा जानकर एवं सर्व भ्रांतियों को छोड़ कर स्व-स्वरूप में ही स्थित होओ।

संसार में जहाँ तक मानी हुई सुख की सामग्रियाँ—सर्वांगसम्पन्ना नवयुवती, सुन्दर पुत्र, अनुकूल प्राणी, अतुल धन, भव्य भवन, मोटर-वाहन, कीर्ति, जगत-प्रसिद्धि आदि हैं, और दुःख के साज—अंगहीनता, दरिद्रता, प्राणियों की प्रतिकूलता आदि हैं—सब स्वप्न के सदृश, बाजीगर के तमाशा के समान असत्य हैं, क्योंकि ये क्षणभंगुर हैं। अन्त में न तुम्हारे हाथ में सुख आयेगा न दुःख। यदि तुम अपना कल्याण नहीं किये तो अन्त काल में पेट भर पछताना पड़ेगा।

कहहिं कबीर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जइहो।
(बीजक शब्द)

इस मोहनगरी संसार में मनुष्य भूला है। उसे अपने कल्याण का ध्यान नहीं है। उसे जो कार्य करना चाहिये उसे न करके कुछ विपरीत ही कर रहा है।

कवित्त

चारों ओर आग बढ़ी विषय मनोरथ की,
जरत है देह-वन जीव तेहि बीच में।
रात-दिन हँकरि हँकारि दुख सहि सहि,
तहूँ सुख मानत है जीव तक कीच में॥
जौन काल बोध वो विराग में बितान चाही,
तौन काल खोवत है बकवाद मीच में।
जानत न आज काल बीच में रवानगी है,
'अभिलाष' अभिमान वश मति नीच में॥

मरने के बाद मनुष्य के साथ एक कौड़ी भी नहीं जाती; परन्तु मोह-वश धर्म, भक्ति तथा परमार्थ की कमाई नहीं कर पाता। मनुष्यो! अन्त में तुम्हारा कोई साथी नहीं होगा। अपनी अच्छी कमाई कर लो, नहीं तो अन्त में धोखा खाओगे।

धर्म से चूका धोखा खाता है

दृष्टान्तः— एक सेठ देशाटन करने चला। उसने मुनीम से कहा- चाँदी, सोने, हीरे, रत्नादि अधिक रूप में ले लो, जिससे परदेश में कष्ट न हो।

मुनीम बोलाः— चाँदी, सोने, हीरादि यात्रा में बोझ हो जायँगे। अतः कई हजार के नोट ले लिये जायँ, इस बात को सेठ ने स्वीकार कर ली। निदान अपने देश से चल कर कई देश लाँघते-लाँघते एक टापू में जा पहुँचे।

सेठ ने मुनीम से कहाः— जाकर बाजार से खाने-पीने की वस्तुयें ले आओ और रहने के लिये किराये पर मकान ठीक करते आओ। मुनीम यह आज्ञा पाकर बाजार में गया और दुकानदार से भोजन माँगा। मुनीम के कथनानुसार दुकानदार ने वस्तुयें दे दीं। दाम चुकाते समय मुनीम ने एक हजार रुपये का नोट निकाला। दुकानदार नोट निकालते

देखकर बोला — अरे भाई ! ये हम कागज लेकर क्या करेंगे ? यह तो हमारे राज्य में चलता ही नहीं, यदि आपको वस्तुयें लेनी हैं तो सोने-चाँदी आदि के सिक्के लाओ तो काम चल सकता है; नहीं तो हमारी वस्तुयें रख दो। बेचारे मुनीम जी करते ही क्या, इधर-उधर देख कर सामान रखना ही पड़ा। वहाँ से मुनीम जी रहने के लिये किराये पर मकान ठीक करने के लिये गये, तो वही उत्तर वहाँ भी मिला अर्थात् ये कागज के नोट यहां नहीं चल सकते। मुनीम जी शोकित होकर सेठ से आकर सारा समाचार कह सुनाये। सेठ जी बड़ी चिंता में पड़ गये। क्योंकि वहाँ से डाक-तार आदि द्वारा घर से रुपये मँगाने की सुविधा भी नहीं थी।

उस देश के राजा का यह कानून था, कि जो हमारे राज्य में आ जाय वह तीन वर्ष तक अपने देश नहीं जा सकता और न वह अपने घर से तीन वर्ष तक कोई सम्बन्ध ही रख सकता है। इसलिये सेठ जी घूमकर अपने घर भी तीन वर्ष तक नहीं जा सकते थे।

अब क्या करें, सेठ-मुनीम दोनों उन कागज के रुपयों को फेंककर अन्य जगह नौकरी न पाने से एक चमड़े की दूकान पर चमड़ा काटने का काम कर अपना जीवन बिताने लगे। एक दिन चमड़ा काटते-काटते सेठ जी गाते हैं—

पद— अहो ! बहुत मैंने धन जाया, हीरे मोहरे महल भरे।
आज काम देते नहिं कोई, हाय दैव ! यह दुःख भिरे ॥१॥
तब तो पलंग मसहरी गद्दा, नव वधुओं का प्यारा था।
अब तो दिन भर चाम काटते, बना गुलाम चमारा का ॥२॥
तब तो खाते पूड़ी लड्डू, अब तो साग सेवारा है।
तब तो रेशम खासा मलमल, अब तो फिरै उघारा है ॥३॥

सिद्धांत — सेठ जीव है, मुनीम मन है। जीव-सेठ मन-मुनीम-द्वारा कागज के नोट रूप गृह, धन, कुल, कुटुम्ब, शरीर, विद्यादि मायावी वस्तुओं को अपना खास धन मानकर इसी के भरोसे रहता है। किन्तु

जीव जब मनुष्य तन त्याग कर परदेश रूप परलोक (पुनर्जन्म) में जाता है, तब यहाँ के घर-धनादि रूप नोट वहाँ काम नहीं देते। धर्म, पुण्य, भक्ति, परोपकार रूप चाँदी, सोने, हीरे ही काम देते हैं। किन्तु धर्मादि रूप धन तो उसने अपने पास रखा ही नहीं, तब उसे परलोक में कैसे सुख प्राप्त होवे ? पुनः वासना रूपी राजा का यह कानून है कि तीन खानियों के कर्मफल भोगे बिना जीव अपने देश रूप मनुष्य तन में आ भी नहीं सकता। अतः सेठ-जीव मुनीम-मन के साथ कर्मानुसार चमड़ा काटना रूप तीन खानियों में नाना देहें बनाता है और रात-दिन दुःख भोगता है। यहाँ के तोषक-तकिये, नवयुवतियों का विहार, नाना धन-सम्पत्ति एवं पंच विषयों के सुख वहाँ काम नहीं देते। सद्गुरु श्री कबीर साहेब कहते हैं—

साखी— जिन जिन सम्बल न कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन आथये, सम्बल कियो न जाय॥
यहाँई सम्बल करि ले, आगे विषयी बाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनिया न हाट॥बी०॥

शिक्षा पद

धरम बिन कोई साथ न जाई॥ टेक॥

मात पिता कुल कुटुम भतीजा, प्रिय नारी सुखदाई।
नात मीत अरु सगा सहोदर, सब क्षण में छुटि जाई॥ १॥
कुल धन विद्या रूप जवानी, ओहदा महल बड़ाई।
आज काल में सब छुटि जइहैं, कर्म भोग फल पाई॥ २॥
यह तन छोड़ि अन्य तन धार्यो, चौ खानिन में जाई।
जो धन माल अपन करि राख्यो, सो तहँ काम न आई॥ ३॥
साधु देखि तब तो अनखायो, कुकरम प्रेम लगाई।
अब पशु कीट नरक तन धै धै, रोय रोय पछिताई॥ ४॥
स्वप्न समान जगत की माया, अन्त समय कोई नाई।
सम्बल करो राह कर प्यारे, केहि अभिलाष भुलाई॥ ५॥

शब्द—१७

गहो मन सद्‌गुरु शरण कबीर ।।टेक।।
भवजल नदिया बहुत गहिर है, सूझत नाहीं तीर
गुरु पद ज्ञान थान ले आश्रय, धरहु हिया में धीर १
गर्भवास नौ मास बितायो, दसयें प्रगट शरीर
बालापन सब खेलि गँवायो, युवा मद बह्यो समीर २
वृद्ध भयो तन काँपन लाग्यो, भरो नयन में नीर
कुल कुटुम्ब कोइ बात न पूँछत, बोलत बोलि गम्भीर ३
ऐसन दशा देखि मन मूरख, तबहुँ न छोड़े लकीर
पारख रूप शरण गहि गुरु की, लहो अटल पद थीर ४

टीका:— हे मन ! जितेन्द्रिय सद्‌गुरु की शरण लो ।।टेक।। मनोमय भवसागर में वासना-जल बहुत गहरा है, उसमें पड़कर किनारा नहीं दिखता। हृदय में धैर्य धारण कर और गुरुपद किंवा गुरुज्ञान रूपी जहाज का आधार लेकर ही इससे तरा जा सकता है ।।१।। तूने माता के गर्भ में नौ महीने निवास करके बिता दिया और दशवें में तेरा स्थूल शरीर उससे प्रकट हुआ। बाहर आकर बाल्यपन को खेलकर खो दिया और जवानी में युवा-मद का वायु चला ।।२।। वृद्ध होने पर शरीर काँपने लगा और दुखी होकर नेत्रों में आँसू भर-भर कर रोने लगा। ऐसी अवस्था में कुल-कुटुम्ब वाले कोई बात नहीं पूछते हैं, प्रत्युत हृदय को चीर डालने वाली 'मर्म भेदी' बातें बोलते हैं ।।३।। यह मूर्ख मन ऐसी दशा देखकर भी कुटुम्बियों के मोह का पक्ष नहीं छोड़ता। अतः हे मानव ! मन-माया के परीक्षक स्वरूपज्ञान निष्ठ सद्‌गुरू की शरण लेकर माया-मोह से बचो और अविचल तथा स्थिर—स्वरूप स्थिति—पद प्राप्त करो ।।४।।

व्याख्या:— काया के विकारी आदतों को जीत लेने वाले जितेन्द्रिय पुरुष ही कबीर साहेब हैं, उन्हीं की शरण लेना कबीर साहेब की

शरण लेना है। अथवा सद्गुरु कबीर के सिद्धांत, आचार और विचारों का ग्रहण करना ही सद्गुरु कबीर साहेब की शरण लेना है।

जन्म, उत्पत्ति, मनोमय, कामादि विकार, सांसारिक मोह-माया, सांसारिक दुःख ये सब भव के तात्पर्य हैं। इस अपार भवसागर से मनुष्य तभी बच सकता है जब वह गुरु-ज्ञान तथा भक्ति का दृढ़ आधार ले।

दुःखपूर्ण दस अवस्थाओं में जीव का भ्रमण

यह जीव तो परम पवित्र स्वरूप से निर्बन्ध है, किन्तु अनादि काल से वासनावश देहोपाधि से इसे बहुत घोर कष्ट भोगने होते हैं, किन्तु अमर होने से इसका नाश तो नहीं होता; अन्यथा सर्व असह क्लेशों को भोगता है। अपवित्र, असह, दुःखपूर्ण दस अवस्थाओं में जीव सदा भ्रमण किया करता है। वे दस अवस्थायें ये हैं— १-गर्भ अवस्था, २-जन्म अवस्था, ३-शिशु अवस्था, ४-बाल्य अवस्था, ५-कुमार अवस्था, ६-युवा अवस्था, ७-अधेड़ अवस्था, ८ वृद्ध अवस्था, ९-मृत्यु तथा अवस्था, १०-आवागमन अवस्था।

प्रथम गर्भ अवस्था है। पुराणों में वर्णित कुम्भीपाक आदि २१ नरक कुण्डों से भी यह गर्भवास महान भयदायक और दुःखपूर्ण नरक है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने का विषय है— जो माता एक-डेढ़ पाव भोजन करती है और उसका पेट भर जाता है; उससे विशेष वह नहीं खा सकती; जिस माता के पेट में प्रज्वलित जठराग्नि में रोटी, पूड़ी, साग, चबैनादि कठिन खाद्य पदार्थ गल करके पच जाते हैं, उसी माता के अत्यंत संकुचित (संकरा) और अपवित्र गर्भाग्नि की आँच में बारम्बार इस अविनाशी जीव को औंधा मुख किये बहुत दुःख उठाना पड़ता है। अहो! जिस गर्भाशय में चारों ओर से अपवित्र चर्म की दीवारें हैं, नसों-हड्डियों से तना है, मल-मूत्र-रक्त अपवित्र पदार्थ भरे बजबजाते हैं, गर्मी का तड़ाका लगता है, ऐसे संकीर्ण, कठिन,

क्लेशयुत अपवित्र स्थल में विषय-वासना एवं अपनी भूल-वश यह जीव पड़ा-पड़ा असह दुःख उठाता है। तत्पश्चात्—

दूसरी जन्म अवस्था आती है। इस अवस्था में गर्भ से बाहर होते समय इतना कठिन दुःख होता है, जिससे जीव को होशहवाश नहीं रहता, मूर्च्छित हो जाता है। बाहर आने पर कोमल त्वचा में तीर के समान वायु लगता है। इस अवस्था का दुःख असह है।

तीसरी शिशु अवस्था आती है। इस शिशु को माता जब गोद में लेती, सेवा करती, तब शान्त रहता है; नहीं, मल-मूत्रों में पड़ा रोया करता है। बच्चे के पेट में शूल हो रहा है, सिर में पीड़ा है, अथवा वह और कोई शारीरिक-मानसिक कष्ट से रो रहा है। मुख से कहने की शक्ति तो है नहीं। माता-पिता समझते हैं "बच्चों का स्वभाव ही होता है रोया करना।" इस प्रकार विवश दुःखों का शिकार बना रहता है। यह अवस्था अत्यंत कोमल होती है, अतएव इस अवस्था में रोग अधिक आक्रमण करते हैं, इसलिये यह अवस्था महान कष्टप्रद है।

चौथी बाल्य अवस्था आती है, इस अवस्था में मन अत्यंत चञ्चल होता है। बालक के हाथ-पैर एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रहते। वह बंदर के समान ही उधम मचाया करता है। बच्चों में परस्पर झगड़ा झंझट करके दूसरे को मारता तथा दूसरे से स्वयं मारा जाता है। उसकी इच्छायें प्रबल होती हैं। अन्होंन चीजों की भी इच्छा किया करता है। उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती। बीरबल ने बालक बनकर अकबर बादशाह के दरबार में यह प्रमाणित किया था कि बालक की संतुष्टि कोई नहीं कर सकता। यह हर क्षण नये-नये पदर्थों की ओर दौड़ा करता है। इस बच्चे को डराने के लिये अज्ञानी माता-पितादि कल्पित भूत, भवानी, भकाऊँ, घोघर तथा जोगई-बाबा आदि का भय एवं पशु-पक्षी का डर दिला देते हैं, जिससे बालक सदा भयभीत रहता है। पक्षी को भी देखकर भयवश भाग कर घर में छिप जाता है। रात में अकेले एक

कोठरी में से दूसरी कोठरी में भी कल्पित भूत-भवानी के डर-वश नहीं जा सकता। पुनः पढ़ने-लिखने का भार सिर पर आ जाता है। खेल-कूद के आगे यह पढ़ना नहीं चाहता; किन्तु माता-पिता के भय-वश पाठ-शाला में जाता है। शिक्षकों के भय से निशदिन भयभीत रहता है। तत्पश्चात्—

पाँचवीं कुमार अवस्था आ जाती है। पढ़ाई-लिखाई में रात-दिवस चिन्तित रहता है। अनुत्तीर्ण (फेल) होने में तो महान शोकित होता है। यदि टेन्थ या बी. ए. एम. ए. अथवा विशारद आदि उच्च श्रेणी में पढ़ कर अनुत्तीर्ण होता, तब तो आज्ञान-वश मृत्यु से भी अत्यंत घोर कष्ट होता है। यहाँ तक कि कोई-कोई फाँसी भी लगा लेते, रेल के नीचे कट कर मर जाते हैं। अहो ! इस देह-ग्रन्थि में पड़ कर अविनाशी जीव को अज्ञान-वश कितना दुःख उठाना पड़ता है ! सीमा नहीं, हद नहीं। इसके अतिरिक्त—

छठीं युवा अवस्था आने पर यदि सत्संग-ज्ञान नहीं है तो इस अवस्था में अपूर्ण काम-विकार की अत्यन्त प्रबलता हो जाती है। माता-पिता, लोक-परलोक, पोथी-पुराण, सन्त-गुरु, धर्म-कर्म को पृथक डालकर मनमती, उन्मादी, फैशनबाज, जुवक्कड़, पियक्कड़ एवं इन्द्रिय-लम्पट हो जाता है।

कवित्त

काम के बयार माहि जीव पगलाय कर,
युवा मद अंध दिन रैन बिललाय जू !
भामिनी भयावनी जो गर्भकूप दायनी के,
प्रेम माहि हाय-हाय करि बिलखाय जू ॥
कोई मित्र मिले तहाँ नारि की बखान करै,
ताहि छोड़ि भक्ति सत्संग नहिं भाय जू।
बिनु गुरु ज्ञान धर्म पितु मातु छोड़ि कर,
चाम कीट होय जरि मारि झुलसाय जू ॥

जब माता-पिता कुछ सद्‌शिक्षा देते हैं, तब कहता है—"बुड्ढे ! तुम व्यर्थ ही टें-टें क्या करते हो ! तुम सब बुड्ढे हो गये हो, तुम लोगों की बुद्धि पगली हो गई है। तुम सब क्या जानो। पुरानी लकीर के फकीर बने हो। जमाना बदल गया है। विषयासक्ति, फैशनबाजी ऐश-आराम ही तो आधुनिक विज्ञान युग की श्रेष्ठ सभ्यता है। पोपाबाई धर्म-कर्म, माता-पिता, गुरु-आज्ञा के पीछे कौन पड़ता है !" तात्पर्य यह कि धर्म, सत्संग-विहीन नवयुवक के लिये इन्द्रिय-सुख और स्त्री ही सब कुछ हो जाती है। कहा भी है—

"सुत मानहि मात पिता तब लौं, अबलानन देखि नही जब लौं।
ससुरारि पियारि लगी जब ते, रिपु रूप कुटुम्ब भये तब ते।।

विषय-विवश तृष्णा, कमी, अतृप्ति, रोग, शोक का प्रतिक्षण शिकार बना रहता है। विषयासक्ति-वश विशेष पृथ्वी-द्रव्य की कामना तथा कामना में भंग पड़ने पर क्रोध होता है। पुनः कामना ही करके हिंसा, अनीति, कपट, छल, जबर्दस्ती, झूठ, पार्टीबन्दी, लड़ाई, झगड़ा, पर द्रव्य हरण, चोरी, डकैती, ठगी, व्यभिचार, धोखेबाजी आदि सम्पूर्ण कष्टदायी दुर्गुणों-पापों को एकत्रित कर लेता और उसके फलस्वरूप दूसरे से बाँधे, मारे, सतायेजाता है। आगामी नीच योनियों में शरीर धारण करने के लिये अनेक कर्म वासनायें बन जाती हैं। यह अवस्था दुःखमूल सर्व काम-मदादि दुर्गुणों की उत्पादिका है।

सातवीं अधेड़ अवस्था आती है। इस अवस्था में पुत्र-पुत्रियों के लालन-पालन और विवाह-गौन की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है। प्रिय-वियोग में, धन-उपार्जन और घर बनाने के शोक में चित्त झँवाझार हो जाता है। कहीं निर्धनता, कहीं कुटुम्ब-हीनता, कहीं प्रतिकूलता, कहीं किसी से राग-द्वेष, झगड़ा-झंझट में जलता रहता है। कितनी शोकपूर्ण यह अवस्था है ! तत्पश्चात्—

आठवीं वृद्ध अवस्था आती है। इस अवस्था में शरीर के सारे अंग शिथिल हो जाते हैं। शक्ति कम हो जाती है। आँखों से दिखाई नहीं देता, कानों से सुनाई नहीं पड़ता। हिल-हिल कर दाँत गिरते और कष्ट देते हैं। चमड़े सिकुड़ जाते हैं। कमर टेढ़ी हो जाती है। पृथ्वी पकड़ कर उठता है। लाठी पकड़ कर कठिनता से चलता है। खाँसी और कफ से गला घरघराया करता है। जिस युवा अवस्था में मदोन्मत्त हो धर्म-भक्ति की कुछ भी कमाई नहीं किये थे, किसी सन्त-भक्त के चेताने पर भी कहते थे "अभी क्या! वृद्धपन में कर लेंगे।" वही वृद्धपन आने पर रक्त के आँसू से रोना पड़ता है। जिसे अपने शरीर को ही सम्भालना दूभर हो जाता है, वह बेचारा धर्म-भक्ति, इन्द्रिय-संयम क्या कर सकता है! किन्तु यदि इस अवस्था में भी चेत जाय और मानसिक भजन-भक्ति, पराये का हित चिन्तन करते हुए अपने धन को धर्म में लगावे तो भी जीवन सुधर जाय, किन्तु मोह-मदिरा में गाफिल बना रहता है। प्रायः घर वाले बुड्ढे को निकम्मा जान कर उससे बात तक नहीं पूछना चाहते। बल्कि हृदय को पार करने वाली बोली बोलते हैं। उसके मल-मूत्र धोते समय, कुछ सेवा करते समय कुटुम्बी लोग नाक-भौं सिकोड़ कर कहते हैं—"जवान-जवान की मृत्यु आती है, इस बुड्ढे की नहीं आती, यह शीघ्र क्यों मरेगा! हम लोगों को जलाने के लिये रहेगा।" जिन स्त्री—पुत्र-कुटुम्बियों के लिये युवा अवस्था में सामर्थ्य रहने पर धर्म-अधर्म बुढ़ऊ नहीं सोचे, हर प्रकार धन-संचय में जीवन बिताये। अहो! वे ही स्वार्थी कुटुम्बी आज बुढ़ऊ को देखकर नाग-फेटार की भाँति फनफनाते-तनतनाते हैं। उन्हें अन्न-पानी देना कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में भी गृह-कुटुम्बियों की मोह-ममता बुढ़ऊ के मन से नहीं जाती। चारपाई में पड़े-पड़े ही घर बनाने की चिन्ता में विकल हैं। अहो! अब संसार के प्राणियों से ठुकराये जाने पर भी, काल के गाल में होते हुए भी, जगत्-मोह छोड़ कर भजन की ओर चित्त नहीं जाता। इधर स्वार्थी कुटुम्बियों से

ठुकराया जाता है, दूसरी ओर अनेक व्याधियों से शरीर जर्जरीभूत होता है, तीसरी ओर मोह-ममता तथा चिन्ता मन में अधिक हो रही है। अहो ! कितनी वेदनापूर्ण यह अवस्था है ।

नवीं मृत्यु अवस्था है। मायासक्त मनुष्य को यह अवस्था सर्व अवस्थाओं से भयदायक तथा दुःखपूर्ण लगता है। इस अवस्था के आते ही नाड़ियाँ बन्द होने लगती हैं, गला रुँधने लगता है, और मनुष्य जान लेता है कि अब हमारे प्रिय शरीर का अवश्य वियोग हो जायगा। अतएव वह घबरा उठता है। प्रिय पुत्र, स्त्री, कुटुम्बी, मित्र, घर, धन खेत, बाग, पशु, पक्षी आदि में जहाँ तक मानकर दृढ़ ममता की है; उस-उस को सोच-सोच कर बेचैन होता है। अपने नेत्रों के सामने अपने माने हुए घर, धन, कुटुम्बियों को देखता है और सोचता है— "हाय ! ये सब हम से सदा के लिये छूट रहे हैं, अब ये फिर न मिलेंगे।" पड़ोसी मित्रों को बुलाकर अपने कुटुम्बियों को उनके हाथ में सौंपता है—"देखियो भइया ! हमारे कुटुम्बियों को सँभालियो, ये बहने बिलाने न पावें।" हाय रे अविद्या ! स्वयं काल के गाल में जा रहा है, अपने परलोक की तनिक भी चिन्ता नहीं करता और स्वप्न के साथी स्वार्थी कुटुम्बियों की ममता में अब भी फँसा है, इस समय भी साधु-गुरु तथा उनके ज्ञान-विचारों पर ध्यान नहीं। क्या करे, जीवन भर अधिक माया-मोही होने से वही लक्ष्य अन्त में भी रहता है। कोई-कोई मरते समय पुत्रों से कहते हैं—"देखियो भइया ! हमरे किरिया-करम में ज्यादा खर्चा-बर्चा ना करियो, तेरह बरहमन खियाय कै शुद्ध होइ जायो।" अहो ! मरते दम तक बुड्ढे को धर्म करना पसन्द नहीं है। 'आप मरे औरन लग रोवे" हाय पुत्र ! हाय स्त्री ! हाय घर ! हाय धन !" कह कर प्राण त्यागने लगता है। इस समय अनेक वासनायें उठती हैं और वर्तमान क्रियमान कर्म के अनुसार पूर्व संचित कर्मों तथा घटाध्यास का उदय होकर और दोनों कर्मों का मिलान होकर आगे

देह धरने की बीज-वासना बन जाती है और जीव की सुषुप्ति अवस्था हो जाती है अर्थात् शरीर छूट जाता है। तत्पश्चात् अन्तिम—

दसवीं आवागमन अवस्था आजाती है। यह अवस्था मृत्यु अवस्था के पश्चात् तुरंत आती है। इस अवस्था में जीव के साथ केवल वासना-वेष्टित सूक्ष्म शरीर ही रहता है। इस अवस्था में जीव बेभान रहता है। जन्मादिक हेतु रूप बीज-वासनाओं का मूल-कारण होने से यह अवस्था महान क्लेशप्रद है। कर्म-वासना रूप यमदूत सहित सूक्ष्म शरीर जीव ही की सत्ता-द्वारा जीव को आकर्षित कर योग्य कर्म-फल-भोग-क्षेत्र माता-पिता के विषय-क्रिया-द्वारा योनिज त्रय खानि के प्रथम गर्भ अवस्था एवं अयोनिज उष्मजी खानि की भूमिका में पहुँचा देता है।

इस प्रकार गर्भ, जन्म, शिशु, बाल्य, कुमार, युवा, अधेड़, वृद्ध, मृत्यु तथा आवागमन आदि दुःखपूर्ण मुख्य इन दस अवस्थाओं में जीव का निरन्तर भ्रमण होता रहता है। जब तक मोक्ष नहीं मिलेगा, तब तक यह क्लेश नहीं छूट सकता। इसलिये मोक्षदायी उत्तम नर-देह आज मिली है, सबकी ममता त्यागकर भजन करो और मोक्ष लो; धन-यौवन क्षण भंगुर हैं, कुटुम्बी स्वार्थी हैं, किसी में मत फँसो।

संसार स्वार्थ का सगा है

दृष्टांत— एक मनुष्य बहुत द्रव्य वाला था। उसके कई पुत्र और पुत्र-वधुयें थीं। उसका उन कुटुम्बियों में अधिक मोह था। वृद्ध अवस्था आने पर विशेष प्रेम-वश थोड़ा द्रव्य अपने पास रखकर बाकी सारा पैसा पुत्रों को बाँट दिया। जब तक कुछ द्रव्य बुड्ढे के पास था, तब तक तो पुत्र और पुत्र-वधुयें प्रेम-पूर्वक सेवा करते रहे। पश्चात् जब समझ गये कि बुड्ढे के पास अब कुछ नहीं है, तब सेवा करना सब ढील कर दिये। यहाँ तक कि उचित समय पर बुड्ढे को जल-भोजन मिलना भी कठिन हो गया। एक दिन बुड्ढा अपने प्राचीन मित्र के पास गया और अपना दुःख कह सुनाया। उसके बुद्धिमान मित्र ने चाँदी के पन्द्रह रूपये

देकर कहा—इसको आप ले जाइये और एक गठरी-ठीकरा (कंकड़) चुपके से अपनी कोठरी में रख लीजिये। किसी-किसी दिन जब दस बजे रात्रि का समय होवे, तब अपने कमरे का किवाँड़ बन्द करके और भीतर में बैठकर एक पत्थर पर इन चाँदी के रुपयों को पटक-पटक कर एक-दो-दस-पचास सौ-दो सौ, हजार-चार हजार कह कर गिनते जाइये। अन्त में ठीकरे की गठरी को सन्दूक में जोर से रखिये। इस प्रकार करने से पुत्र और पुत्र-बधुयें अपनी-अपनी कोठरियों में से शब्द सुन-सुन कर समझने लगेंगे कि अभी बुढ़ऊ के पास अधिक द्रव्य है। अतः द्रव्य के लोभ-वश फिर से सेवा करने लगेंगे। इस प्रकार मित्र के कहने पर बुढ्ढा ऐसा ही किया। निदान पुत्र और पुत्र बधुयें बुढ्ढे के पास द्रव्य जान कर स्वार्थ-वश आज्ञा-सेवा में उपस्थित रहने लगे। अपने-अपने सेवा-प्रेम को अधिक दर्शाने के लिये एक-से-एक बढ़ कर सेवा करते। कोई स्नान कराता, तो कोई भोजन खिलाता, कोई पैर दबाता इत्यादि, अहो! यह तो है स्वार्थपूर्ण संसार का रहस्य, फिर भी मनुष्य चेत नहीं करता।

शिक्षाः—मनुष्यो! शीघ्र सावधान होओ। स्वार्थ के सगे स्वप्न के साथी स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बियों के मोह-वश मुक्तिदायी नर-जन्म न नष्ट करो। सब जीव पंथी हैं; तुम्हारा कोई नहीं है। इसलिये शत्रु-मित्र का भाव त्यागकर मात्र शुद्ध प्रेम सबसे रखो, सद्गुरु-सत्संग करके मुख्य जन्मादिक दुःखों से मुक्ति लो। यही तुम्हारा मुख्य कर्तव्य है।

गर्भवास, जन्म, शिशु, बाल्य, कुमार, युवा, वृद्ध, मृत्यु, आवागमन किन्हीं भी अवस्थाओं में सुख नहीं है। सब दुःख-ताप से भरे रहते हैं। संसार का सम्बन्ध स्वप्नवत् है। भोग वस्तुयें तथा शरीर क्षणभंगुर नाशवान् हैं। जगत् प्राणी मन-वश स्वार्थी हैं। यह विश्व ही कष्ट का स्वरूप है। इसलिये मोह त्यागो, धर्म, भक्ति, दया, परोपकार, सत्संग करो; संसार से मुक्ति लो, यही सार है और सारा संसार शरीर निस्सार है।

पद चेतावनी

हमारे मन कोई नहीं अपना ॥ टेक ॥

स्वारथ के साथी सब देखो, नटखट जगत जना ।
तेहि में कहो कौन है काको, पंथी जीव बना ॥ १ ॥
दस दिन के सम्बंध में भूले, माने सब अपना ।
यक यक दिना वियोग सबन से, पइहौ दुखहि मना ॥ २ ॥
दो दिन की है चटक चाँदनी, फिर अन्धेरी घना ।
तन धन यौवन कुटुम कबीला, नाशे ओस कना ॥ ३ ॥
योग वियोग धनी औ निर्धन, नट ज्यों स्वाँग बना ।
यह संसार निपट त्यों दर्शै, ज्यों रजनी सपना ॥ ४ ॥
करि विचार निःसार जगत् यह, झूठी सब रचना ।
तजि 'अभिलाष' मोह ममता सब, गुरू नाम जपना ॥ ५ ॥

शब्द—१८

गहो गुरुबोध सबन से न्यारा ॥ टेक ॥

जीव अमर अविनाशी चेतन, सबको जाननहारा
निजको भूलि भ्रमत निशिवासर, खानि बानि की धारा १
सो गुरु दीन दयाल दया करि, दियो बोध टकसारा
पृथक पृथक सब जाल प्रखायो, जीवस्वरूप सदा निर्धारा २
पंच विषय की सुख मानंदी, बंधन सकल करारा
सत सिद्धांत प्रखाय स्वरूपहिं, भव से कीन्ह किनारा ३
संस्कार शुभ जाहि मनुष के, कीन्हो परम विचारा
भयो कृतारथ जन्म ताहि के, संत गुरू के द्वारा ४
सोई विवेक गुरु रूप कहायो, पाय परख पद सारा
दै अवलम्बन और जनन को, कियो परख निस्तारा ५

जाति पाँति सब भेष जाल तजि, आपन कीन्ह सुधारा
सोई भयो सहाय जीव को, परम्परा विस्तारा ६
जो जो पाय निहाल भयो अब, गर्ज मिटी जग भारा
रङ्क से भूप विराजत जग में, जानत सब संसारा ७
गुरु कबीर निज बोध विशालहिं, तव महान उपकारा
"सूरतदास" सोई गुण गावत, मिल्यो मोहि आधारा ८

टीका:— सर्व भास-दृश्यों से पृथक स्वरूप-बोध को ग्रहण करो ॥ टेक ॥ चेतन जीव अमर है, अविनाशी है और सबका जानने वाला है। अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर ही रात-दिन खानी-वाणी की धारा में बहता है ॥ १ ॥ अनन्त करुणा-वरुणालय श्रीगुरुदेव ने उक्त रहस्य का ज्ञान बीजक में भलीभाँति कराया है। उसमें सभी बन्धनों को भिन्न-भिन्न करके परखा दिया है और जीव का स्वरूप कारण-कार्य, अंश-अंशी-रहित, नित्य निराधार बतलाया है ॥ २ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध पाँचों विषयों के प्रति सुख मान्यता तथा और भी सम्पूर्ण विकट बन्धनों का और इनसे पृथक सत्य सिद्धान्त—अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान देकर गुरुदेव संसार-सागर से पार पाने का दृढ़ आधार दे दिये ॥ ३ ॥ जिन मनुष्य के हृदयों में पूर्व या वर्तमान के सत्कर्मों के परिणाम स्वरूप शुभ संस्कार होते हैं, वे उपर्युक्त बातों पर श्रेष्ठ विवेक करते हैं। सन्त-गुरुजनों के सत्संग से उन्हीं सज्जनों का नरजन्म कृतार्थ होता है ॥ ४ ॥ उपर्युक्त जड़-चेतन का वास्तविक विवेक तथा सत्य पारखपद की स्थिति पाकर मनुष्य गुरुरूप-मुक्तरूप हो जाता है। ऐसे पुरुष ही अन्य जिज्ञासुओं-मुमुक्षुओं को पारख ज्ञान का आधार देकर उनका कल्याण कर देते हैं ॥ ५ ॥ कल्याणार्थी गुरुज्ञान पाकर जाति-पाँति के अहंकार तथा वेष के जाल-बन्धनों को त्यागकर अपना सुधार कर लेते हैं। ऐसे पुरुष ही परम्परया अन्य जीवों के सहायक होते हैं और उन्हीं से ज्ञान का विस्तार होता है ॥ ६ ॥ जो लोग गुरुबोध को प्राप्त किये, वे कृतार्थ हो गये। उनकी विषयों की इच्छायें—जो मुख्य सांसारिक बोझा है— समाप्त हो जाती हैं। वे दीन से महान हो जाते हैं। संसार के सभी लोग

जानते हैं कि इन्द्रिय-मन पर विजयी पुरुष ही सच्चा श्रेष्ठ और सुखी होता है ॥ ७ ॥ सद्गुरु कबीर का प्रदान किया हुआ स्वरूपबोध सर्वोपरि विशाल ज्ञान है, मुमुक्षुओं के प्रति आपका उपकार अनन्त है। पूज्य ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि आपके उपर्युक्त गुणों का मैं गायन करता हूँ; आप गुरुदेव! भ्रम में बहते हुए जीव को आधार मिले ॥ ८ ॥

व्याख्या:—गुरुदेव का उपकार अनन्त है। गुरुदेव का बोध पाकर जब जीव अपने को सर्व मलीनताओं से छुड़ा लेता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

कवित्त

माया के स्वरूप को प्रबल दुख जानिकर,
त्यागि दिये दिल से सो शान्त पद भान है।
कामिनी को भोग अरु नाना विष रोग छुट्यो,
शत्रु मित्र मान अपमान में समान है॥
भोग चाह गर्ज गयो मानो सब मर्ज गयो,
धन्य सो पुरुष जाहि कामना विलान है।
जन्म मर्ण गर्भ तीन ताप दुख नाश भयो,
'अभिलाष' तेहि पद वन्दत अमान है॥ १ ॥

चौपाई

जन्मादिक दुख मेटनहारे। गुरु के हैं उपकार अपारे॥
का करि प्रत्युपकार करीजै। केवल श्रद्धा भक्ति लहीजै॥
दो०—गुरु सम नहिं कोइ दानियाँ, गुरु सम नहिं कोइ देव।
गुरु सम उपकारी नहीं, यह मन भाव करेव॥

शब्द—१६

हमारे मन गुरु पद कर अनुराग ॥ टेक ॥

तजहु जगत के राग-द्वेष सब, शरण गुरू की लाग
दया विचार क्षमा गहि उर में, विषय सुखों से भाग।

संग कुसंग परीक्षा धारण, निज पद में अनुराग
साधन सहित शुद्ध करि मन को, गुरु रहस्य में पाग २
तौल तौल के बोल चाल सब, निज स्वरूप लखि जाग
पारख दृष्टि एकरस सन्मुख, धँसै न उर में राग ३
वर्ण जाति विद्या धन नश्वर, जानि तजे दुख आग
अब तो और करै नहिं आशा, पारख पद गहि त्याग ४

टीका:— मेरे मन ! गुरु के चरणों में, गुरु की रहनी में तथा स्वस्वरूप चेतन में प्रेम करो ॥ टेक ॥ संसार के सम्पूर्ण राग-द्वेष को त्याग कर सद्-गुरु की शरण में लग जाओ और दया, विवेक, क्षमादि सद्गुणों को हृदय में धारण करके विषय-सुखों से भाग चलो ॥ १ ॥ और सत्संग-कुसंग की परीक्षा-दृष्टि धारण करके तथा कुसंग का त्याग कर, सत्संग में प्रेम करो और अपने स्वरूप में अनुराग करो । साधन सम्पन्न होकर अपने मनको शुद्ध करो, तथा गुरु की रहनी में लवलीन हो जाओ ॥ २ ॥ खूब सावधानी से परीक्षा कर-कर के बातें बोलो और आचरण बरतो, स्वस्वरूप ज्ञान की दृष्टि धारण करके जागृत हो जाओ । चित्त के सम्मुख स्वरूपज्ञान की दृष्टि सदैव एकरस रखो, जिससे हृदय में मायावी वस्तुओं का मोह न धँसने पावे ॥३॥ वर्ण, जाति, विद्या, धनादि—समस्त ऐश्वर्यों को नाशवान जानकर और इनका अहंकार, दुःखपूर्ण तथा अग्निवत् उत्तप्त जानकर सर्वथा त्याग करो । हे मन ! अब तो ऐसा उत्तम जन्म तथा सत्संग, ज्ञान को पाकर तुम्हें अन्य विषयों की आशा-वासना नहीं रखना है, प्रत्युत उसका त्याग करके स्वरूप-ज्ञान में ही निमग्न रहना है ॥ ४ ॥

व्याख्या: — राग-द्वेष—मनुष्य के ये दो शत्रु हैं । इन शत्रुओं को मारकर दया, शील, क्षमादि सद्गुणों को ही धारण करना चाहिये । जो अपने मानसिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके शत्रु समाप्त हो जाते हैं ।राग-द्वेष पर विजयी पुरुष वैरी के प्रति भी शत्रुता नहीं करता और यही सच्ची मानवता है ।

संत की क्षमा

दृष्टांतः—एक दुष्ट मनुष्य एक संत की निन्दा उपहास किया करे, समय-समय गाली भी दिया करे एक दिन मारा भी। उस दुष्ट को राजा ने पकड़वा कर सन्त से कहा—आपकी आज्ञा हो तो इसे गोली से दाग दिया जाय ? सन्त ने कहा—मैं ऐसा पापी हूँ कि मेरे कारण कोई जान से मारा जाय ? राजा—तो आजीवन कारावास कर दिया जाय ? सन्त—इसके लड़के, बच्चे और स्त्री रो-रो कर मर जायँगे। राजा—कुछ न्याय करना ही चाहिये। सन्त—इसे सन्तों के सत्संग में बिठाकर इसके नीच स्वभाव को छुड़ाकर अच्छे स्वभाव कर दीजिये।

ऐसी सन्त की क्षमादृष्टि देखकर राजा उनसे बहुत प्रभावित हुआ। तथा दुष्ट का कठोर हृदय भी पिघल गया और सन्त के चरणों में पड़कर क्षमा माँगने लगा तथा सदा के लिये सन्त का शिष्य बन गया।

शिक्षा—दुष्ट पर भी क्षमा करके हितैषिता से उसका सुधार करना चाहिये। फिर साधारण बात के लिये तो क्षमा करना ही चाहिये।

कवित्त

काम क्रोध लोभ मोह राग द्वेष शत्रु येही,
याहि छोड़ि शत्रु न परार कहूँ देखिये।
याहि को हनत नाहि हनत परार शत्रु,
याहि ते अनन्त दुख जीव काहि लेखिये॥
शत्रु जो सँहार चाहो याहि शत्रु नाश करो,
फिर न तुम्हार शत्रु जग माहि पेखिये।
जाहि के विनाश राग द्वेष शत्रु भूप सोई,
धन्यवाद नर सोई ताहि को विशेषिये॥१॥

जिनकी संगत से जड़-देह से भिन्न अविनाशी चेतन स्वरूप का बोध, वासना-वश आवागमन, कर्म-फल-भोग, नर-शरीर में स्वरूपबोध-द्वारा वासना त्याग से मोक्ष सिद्ध होवे और सत्य, अहिंसा, दया, शील,

धर्म, परोपकार, विवेक, वैराग्य, भक्ति, तन-मन की पवित्रता आदि सद्-गुण तथा साधुसम्पत्ति एवं दैवीसम्पदा में रुचि बढ़े, दुस्स्वभाव जीतने में आवें, देहाध्यास शिथिल हो, मन-वचन-कर्म की चंचलता का विनाश हो, स्वरूपस्थिति की प्राप्ति हो—वही सत्संग समझना चाहिये और जिनकी संगत से जीवन में दुर्गुण आवें या उपर्युक्त रहस्यों के विरोधी गुण भरें, जैसे—नास्तिकता, देहवाद, कल्पना, काम-क्रोधादि, साधन-सद्गुणों से अरुचि, चंचलता, राग-द्वेष, अपवित्रता, आलस्य इत्यादि—यही कुसंग समझना चाहिये। सदैव कुसंग का त्याग और सत्संग का ग्रहण अपने उत्थान में कारण समझना चाहिये।

जीवन को सर्वथा निर्बन्ध बनाये रखने के लिये मन-इन्द्रियों की कुचालों से सर्वथा दूर रहो और श्रेष्ठ विवेक अपनाओ। विवेक करो, मुझ शुद्ध चेतन स्वरूप से देहादि दृश्य प्रपंच सर्वथा बहुत दूर सुषुप्ति-वत् हैं। प्राणी मन-वश स्वार्थी हैं। संसार के माने हुए सुख ही दुःख हैं। मेरा स्वरूप नित्य संतुष्ट, नित्य प्राप्त है। वास्तव में शुद्ध विवेक रखने से ही मनुष्य मोह से रहित रह सकता है।

'कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।'

(बीजक चाचर १)

कोई बात बोलना हो, आगे-पीछे सोच-विचार करके बोलो। जो विचार पूर्वक नहीं बोलता, वह ठोकर खाता है। आगे एक मनोरंजक उदाहरण द्रष्टव्य है।

बिना विचारे बोलने से दुःख

दृष्टांत—एक ग्राम में मनसम्बोधक नामक उजड्ड स्वभाव का मनुष्य रहता था। एक दिन वह एक रुपया लेकर बाजार नमक खरीदने गया। बाजार में घुसते ही एक हलवाई की दूकान मिठाइयों से सजी हुई दिखायी पड़ी। मिठाइयों को देखकर मनसम्बोधक के मुख में

पानी आ गया और नमक खरीदना भूलकर वह हलवाई से पूछा— अपनी मिठाई किस भाव में बेचते हो ?

हलवाई बोला— आठ आने पाव।

मनसम्बोधक— हम पाव-पौव नहीं जानते, पेटभर, छक कर मिठाई खाने में कितना दाम लोगे ? 'बहुत खायेंगे तो दो पाव खा लेंगे' ऐसा सोच कर हलवाई ने कहा— आप एक ही रुपया दे दीजियेगा। अब तो हमारे मनसम्बोधक भैया मिठाई खाने बैठ गये और तीन सेर का थाल समाप्त करते हुए और माँगे। हलवाई कुपित होकर बोला— चल-चल हमारे छे रुपये ला, मैं ऐसे पिशाच को मिठाई नहीं खिलाता।

मनसम्बोधक— यदि रुपया लेना हो तो छक के मिठाई खिलाइये, तब एक रुपया दूँगा, नहीं तो घर जाता हूँ। ऐसा कह कर घर की राह पकड़ी। इतने में हलवाई पाँव में टूटी जूती सम्हालते हुए और हाँक मारते हुए "हमारे रुपये दे दो, हमारे रुपये दे दो" कहकर पीछे-पीछे दौड़ा, किन्तु मोटा तथा बुड्ढा होने से पहुँच न पाने से पीछे-पीछे ही दौड़ता था। इतने में एक मनुष्य ऊँट पर कुछ कनस्टरों (पीपों) में तेल भर कर लादे हुए जाता मनसम्बोधक को मिला।

मनसम्बोधक — कहिये साहु जी ! यह क्या लादे हो ? साहु— काहे, क्या करोगे ? जहर लादे हैं ! इतना सुनते ही मनसम्बोधक बाबू ने लाठी से उन कनस्टरों को गिराकर भली-भाँति फोड़-फोड़ कर उनमें भरे हुए मालों को पृथ्वी पर बिखेर कर चलता बना। अब इसके पीछे-पीछे साहु जी भी ऊँट लेकर दौड़े। मनसम्बोधक छलाँग मारते हुए जा रहा था, इतने में मार्ग में रोता हुआ एक बालक मिला। उसकी माता बच्चे को डराने के लिये कही — ऐ जाने वाले पथिक ! इस बालक का कान उचाड़ते जाओ। बस क्या था बच्चे के दोनों कान जोरों से उचाड़-कर माता के सामने फेकता हुआ आगे बढ़ा। अब बच्चा जोर-जोर से

रोने लगा। माता बच्चे का दुःख देख कर रोती-कल्पती हुई मनसम्बोधक के पीछे दौड़ी। मनसंबोधक छलाँग मारते हुए जा ही रहा था कि मार्ग में एक ग्राम पड़ा और एक बुड्ढा अपने पुत्र के छाये हुए टेढ़े-मेढ़े छप्पर को देख कर यही कह रहा था—यहाँ कोई है नहीं, कि इस छप्पर में आग लगा दे, यह जल जाय, हमारे नेत्रों के सामने न पड़े। इतने में मनसम्बोधक ने समझा कि यहाँ तो और कोई है नहीं और बड़े-बूढ़ों का कहा करना चाहिये, ऐसा सोच कर पास की दियासलाई (माचिस) से छप्पर में आग लगाते हुए आगे बढ़ा। इतने में एक थाने का सिपाही मिला, वह मनसम्बोधक से बोला— अजी ! यहाँ से थाना आठ मील है कोई ऐसा उपाय लगा कि एक घंटा में वहाँ पहुँच जाऊँ।

मनसम्बोधक—भैया ! मैं उपाय-सुपाय कुछ नहीं जानता। एक घंटा में आपको आठ मील पर हम कैसे पहुँचा दें ?

सिपाही बोला— तुम्हें पहुँचाना पड़ेगा। मनसम्बोधक पाँव में से जूती निकालकर सिपाही के सिर में पाँच जूतियाँ लगायीं और चलता बना। जिस थाने में सिपाही को जाना था उसी थाने में छलाँग मारते हुए मनसम्बोधक जा पहुँचा। इतने में पीछे से हलवाई, ऊँटवाला, स्त्री, छप्परवाला तथा सिपाही पाँचों आ पहुँचे और सबके सब अपना-अपना रिपोर्ट मुन्शी से लिखाये।

पश्चात् मुन्शी बोला— रे बदमाश मनसम्बोधक ! तूने पाँच केस एक ही दिन में कर डाला ? बता हलवाई की मिठाई खाकर रुपया क्यों नहीं दिया ?

मनसम्बोधक— हुजूर ! एक रुपया में छककर मिठाई खाने का तय हुआ, फिर इन्होंने आधे पेट मिठाई खिला कर रुपया माँगा, तब क्यों दूँ ?

मुन्शी—क्यों जी हलवाई है बात सही ?

हलवाई—है तो सरकार सही, किन्तु इन्होंने आधे पेट ही में छे रुपये की मिठाई खा ली थी।

मुन्शी—तो तू जब वचन से हार गया फिर बिना पेट भर मिठाई खिलाये क्यों रुपया माँगा ? अच्छा किया सो किया, अब भाग जा, नहीं तो चमड़ी उड़ा दूँगा, ऐसा कह कर उसे बाहर करवाया। फिर मुन्शी ने कहा-अच्छा ऊँट वाले का माल क्यों खराब किया ?

मनसम्बोधक—हुजूर। मैं उधर से आ रहा था, तो इससे पूछा कि साहु जी ! ऊँट पर क्या लादे हो ? इन्होंने कहा- 'जहर'। मैंने सोचा एक रत्ती जहर से लोग मर जाते हैं। यह इतना जहर लेजाकर कितने प्राणियों की हत्या करेगा ? अतः जन-रक्षा के लक्ष्य से इसके पीपों को फोड़कर माल बिखेर दिया।

मुन्शी—क्यों जी बनिया ! है बात सही ?

साहु—हाँ हुजूर ! है तो यही बात; किन्तु वह जहर नहीं बल्कि मिट्टी का तेल था।

मुन्शी—मूर्ख ! तूने सच-सच क्यों नहीं बताया ! अच्छा जा, भाग जा, ऐसा काम कभी न करना। मनसम्बोधक से मुन्शी ने पुनः पूछा—अच्छा तूने बच्चे का कान क्यों उखाड़ा ?

मनसम्बोधक—हुजूर ! इसमें भी स्त्री का ही दोष है। इसी ने उखाड़ने को कहा। अतः स्त्री भी थाने से बाहर निकाली गयी। मुन्शी ने कहा—बुड्ढे का छप्पर क्यों जलाया ?

मनसम्बोधक-सरकार ! इस बुड्ढे ने ही कहा —'कोई है नहीं इस छप्पर को जलादे' तो मैंने जला दिया।

मुन्शी—अच्छा सिपाही को जूती क्यों मारी ?

मनसंबोधक--सरकार ! मैं मार्ग पकड़ कर आ रहा था। इन्होंने कहा "आठ मील की दूरी पर थाना है, हमें एक घण्टा में पहुँचाने का उपाय लगा।" मैंने कहा-सरकार ! मैं कौन उपाय लगाऊँ ? इन्होंने

कहा-तुम्हें पहुँचाना होगा। तो मैंने इसके सिर में पाँच जूतियाँ मारी। भला! बतलाइये यदि इन्हें जूती न लगी होती तो इतने ही थोड़े समय में थाना पर आ सकते ?

मुन्शी - तू ने तो सब कुछ अच्छा किया, किन्तु जो सिपाही को जूतियाँ मारी है उससे सरकार की तौहीनी है। इसलिये तुम्हारे ऊपर आठ आने पैसे दण्ड किये जाते हैं। मनसम्बोधक ने कहा, लीजिये! हमारे पास एक रुपया का नोट है, अब इसे कहाँ भुनाने जाऊँ! इसमें आठ आने पाँच जूतियाँ सिपाही के सिर में लगा उसका और आठ आने में पाँच जूतियाँ आपको लगाये जाता हूँ। ऐसा कह कर मुन्शी के सिर में पाँच जूतियाँ लगाते हुए हमारे मनसम्बोधक भैया नौ-दो ग्यारह हो गये (भाग गये)।

शिक्षा—बिना तौले बात नहीं बोलना चाहिये। और उजड्ड मनुष्य से तो अपना सिर सदा बचाना चाहिये।

दोहा—बोली तौलि के बोलिये, समय पात्र लखि साँच।
बहु बोली के कारणे, दुखित भये ये पाँच॥ १॥
तेहि के साथे तेउ दुखी, कौन जो ताहि सहाय।
याते बोली रोकिये, नहिं मुख जूता खाय॥ २॥

शब्द—२०

सद्गुरु दरश करो नर नारी॥ टेक॥
जाहि दरश से पाप नशत हैं, कर्म मिटावत भारी
दया क्षमा संतोष पाय धन, ज्ञान विराग गहो हितकारी १
परम दयाल जीव प्रतिपालक, दीनन के सुखकारी
ऐसी महिमा विदित जगत में, समुझत नाहिं अनारी २
परिहरि चरण शरण सद्गुरु की, मन वश रहत दुखारी
शरण जाय सब काम सुधारै, सो नर सदा सुखारी ३

साहिब कबीर शरण सुखदाई, गहे भरम सब टारी
तिनकी कृपा परम सुख पावै, संशय शोक भरम सब जारी ४

टीकाः—कल्याण-इच्छुक नर नारियो ! विवेक-वैराग्यादि सद्गुण सम्पन्न सद्गुरु के दर्शन करो ॥ टेक ॥ उनके दर्शन से पाप नष्ट होते हैं और कठिन कर्म बन्धन कट जाते हैं। उनकी दया, क्षमा, सन्तोष, ज्ञान, वैराग्यादि हितकारी सद्गुण-सम्पति को अपनाओ ॥ १ ॥ वैराग्यवान गुरुदेव तथा संतजन परम कृपालु और जीवों के रक्षक होते हैं, आर्त जीवों के दुःखहर्ता होते हैं। संसार में ऐसी महिमा प्रसारित है; परन्तु मूढ़-मानव नहीं समझ पाता ॥ २ ॥ ऐसे सद्गुरु के चरणों की शरण को त्याग कर मनुष्य अपने मन के वश में पड़ा दुखी रहता है। जो सद्गुरु की शरण में जाकर अपना कल्याण-साधन करता है, वह मनुष्य सदैव सुखी रहता है। ॥ ३ ॥ सद्-गुरु कबीर-निर्दिष्ट आचरण और सिद्धान्त की स्वीकृति सुखप्रद है, उन्हें ग्रहण करने से सारी भ्रान्तियों का संहार हो जाता है। सद्गुरु कबीर के उपदेशस्वरूप कृपादृष्टि को ग्रहण कर लेने से मनुष्य सन्देह, अज्ञान, शोक और समस्त भ्रान्तियों को भस्म करके मोक्ष-सुख का अधिकारी होता है ॥४॥

व्याख्या—कितने लोग कहते हैं कि "गुरु-सन्तों के दर्शन मात्र से कोई फल नहीं होता" परन्तु यदि ऐसा है तो वेश्या के दर्शन से कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये और वह वर्जित भी नहीं होना चाहिये। अतएव जैसे वेश्यादि रजोगुणी नर-नारियों के दर्शन से मन में मलीनता आने का सम्भव रहता है, उसी प्रकार वैराग्यवान सद्गुरु-सन्तों के दर्शन से श्रद्धालुओं के मन में अवश्य निर्मलता आती है। हाँ ! अश्रद्धालुओं को लाभ नहीं होता। परन्तु कितने अश्रद्धालु भी संयोगवश विवेकी सन्तों के दर्शन पा जाने पर प्रभावित हो जाते हैं, और उनका जीवन सुधार के मार्ग को पकड़ लेता है।

रत्नाकर जैसे भयंकर हत्यारे भी सन्त-दर्शन से सन्त बाल्मीकि हो गये। उदाहरण तो असंख्यों हैं। सन्तों के समक्ष ऐसी घटनायें घटती रहती हैं। इन पंक्तियों के लेखक के साक्षित्व में ही ऐसी कितनी ही

घटनायें घटी हैं, जो सन्तों से मिलने की इच्छा में नहीं थे, परन्तु कारण-वश मिल गये और उनका जीवन बदल गया। पहले तो दर्शन ही होते हैं, तब सत्संग एवं प्रश्नोत्तर भी। यदि सन्त-गुरुजनों के दर्शन ही न हों, तो कल्याण का मार्ग बन्द ही समझिये। कहा है—

संत दरश को जाइये, दिन में कइ कइ बार।
आसोजा का मेह जो, वहुत करे उपकार॥
कबीर संगत साधु की, बड़े भाग्य दरशाय।
जो होवै शूली सजा, काटे ही टरि जाय॥

गुरु कबीर कहते हैं कि बन सके तो दिन में कई बार सन्तों के दर्शन करो; क्योंकि सन्तदर्शन क्वार महीने की वर्षा के समान बड़ा उपकार करता है। साधु के दर्शन और संगत बड़े भाग्य से मिलता है। यदि मिल जाय तो फाँसी के समान अज्ञानजनित दुःख काँटेवत् थोड़ी साधना से दूर हो जायें।

भाव—विषय-बन्धन के दुःख फाँसी के समान कठिन हैं; और परिणाम में भी दुःखद हैं; और विषय-त्याग की साधना का दुःख थोड़ा है और परिणाम अनन्त शान्ति है। विषय-सुख फाँसी के समान भयंकर है, साधना का परिश्रम काँटेवत् हल्के हैं।

दरश परश मज्जन अरु पाना। पाप कटै कहैं वेद पुराना॥
शरदा तप निशी शशि अपहरई। संत दरश जिमि पातक टरई॥
(मानस)

मुख दीखत पातक हरै, पर्शत करम बिलाहिं।
बचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग्य मिलाहिं।
(वैराग्य संदीपनी)

गुरु संतों की संगत का फल महान है। सत्संग से ही काग हंस बनता है अर्थात् मलीन निर्मल, अज्ञानी ज्ञानी, तथा बन्ध मुक्त होता है, और सत्संग-विहीन, गुरु-विमुख पतितपथ में चला जाता है।

कवित्त

गुरु की शरण तजि चंचल चलित मन,
भोग मान पूज्य हित रात-दिन धायजू।
धर्म परमार्थ और भक्ति ज्ञान सुख तजि,
तृष्णा प्रबल मृगवारि में दृढ़ाय जू।।
और पूत और धन और राज काज कुल,
और भोग भामिनी के चामिनी लुभाय जू।
मूढ़ मन और और माहि निज ठौर भूलि,
अंत माँहि काल मुख नर पछिताय जू।।

"सद्गुरु कबीर की शरण ग्रहण करने से; अर्थात् उनके सिद्धान्त और आचरण को सर्वतोभावेन अपनाने से जीव का कल्याण होता है"— यह कहना दूसरे सिद्धान्त और मतप्रवर्तक आचार्य की निन्दा नहीं; किन्तु अपने सिद्धान्त और आचार्य की प्रशंसा है। इसके अतिरिक्त वस्तुस्थिति भी है। सद्गुरु कबीर समस्त भ्रान्तियों के नाशक सत्य सिद्धांत के शोधक एवं प्रचारक और दिव्य आचरण के उन्नायक हैं।

स्वरूपज्ञान और दिव्य आचरणपूर्वक साधना करने से साधक को वास्तविक शान्ति की प्राप्ति होती है। जिसे दृढ़ वैराग्य पूर्वक मुक्ति-सुख का अनुभव प्राप्त हो रहा है, उसकी स्थिति विलक्षण होती है। उसका संक्षिप्त स्वरूप निम्नांकित पद से मनन करें—

पद

सदा मुक्तीक सुख जिसके, हृदय अन्तर जँचा होगा।
विषय संसार तन मन जन, सभी फीका रँचा होगा ।।टेक।।
न भाती रूप सुन्दरता, न भाती कामिनो कंचन।
छुड़ाकर पिण्ड दुनिया से, निराशी मन बचा होगा ।।१।।
न दर्शन हो पुनः जग का, न फिर से देह में आऊँ।
न फिर से हो मिलन बिछुड़न, यही दिल में मचा होगा ।।२।।

सहा संताप बहुतेरा, न फिर से और हो सहना।
पियारे प्रेम निज पद की तरफ हरदम खिचा होगा ॥३॥
प्रबल 'अभिलाष' मुक्ती का मजा वैराग्य का तब है।
कहे निज शांति सुख किससे, वो खुद ही जानता होगा ॥४॥

शब्द—२१

काहे नर सोच करो दिल माहीं ॥ टेक ॥
बड़ी भाग्य अवसर शुभ पायो, कर सत्संग सदाहीं
भूत भविष्य की त्यागि कल्पना, वर्तमान ठहराहीं १
गहि नैराश्य भोग तजि जग का, जड़ अध्यास नशाहीं
धरि धीरज गहि त्यागि विषय सुख, परै न जग दुख खाहीं २
तजि के कपट मित्रता जग की, गुरु पद प्रीति कराहीं
स्वारथरत सबहीं सुख चाहत, दुख कारण कोई समुझत नाहीं ३
पारख दृष्टि एकरस करिके, दुख सुख पार सदाहीं
गुरु कबीर की शिक्षा यहि विधि, बोध भये मिटि जाहीं ४

टीका—ऐ मनुष्य! अपने मन में चिंता क्यों कर रहा है? ॥टेक॥ बड़े सौभाग्य से मानव-शरीर का शुभ बेला मिला है, अब निरन्तर सत्संग करो; भूत-भविष्य की कल्पना त्यागकर वर्तमान में बोध पूर्वक सन्तुष्ट रहो ॥१॥ नैराश्य पूर्वक भोगों को त्याग देने पर विषयासक्ति नष्ट हो जाती है; अतएव धैर्य धारण करके विषय-सुखों को त्यागो, अब संसार के दुखद गड्ढे में न पड़ो ॥२॥ कपट-छल से भरे हुए संसार की मित्रता-ममता त्याग कर गुरु चरणों में स्नेह करो। ये संसारी प्राणी सब स्वार्थासक्त हैं, ये तुमसे केवल सुख-सुविधा चाहते हैं, तुम्हारे सम्बन्ध में इन्हें थोड़ा दुःख मिल जाये तो ये तुम्हें कुछ नहीं समझेंगे, केले के पत्ते के समान फट जायँगे ॥३॥ पारख की दृष्टि एकरस रखकर जगत् नाट्य को परखते रहो और सदैव दुःख-सुख की भ्रम-मान्यताओं से पृथक रहो। सत्गुरु कबीर की

इसी प्रकार शिक्षा है; अतएव सच्चा ज्ञान होने पर मनुष्य की शोक-चितायें मिट जाती हैं ॥४॥

व्याख्या: — मनुष्य अज्ञान-वश निरर्थक चिन्ता-शोक करता रहता है। वह वर्तमान में अपने विचारों को संतुलित न करके भूत-भविष्य की निरर्थक, प्रत्युत दुःखकारी कल्पनाएँ करता रहता है। अपने द्वारा भूत में हुई अज्ञानपूर्ण त्रुटियों को सोच-सोच कर दुःख में पचता रहता है और सफल घटनाओं को सोचकर हर्ष में फूलता रहता है। इसी प्रकार भविष्य के स्वर्णिम स्वप्न तथा अपूर्ति की चिन्ताओं में उलझा रहता है। मनुष्य को सबसे अधिक चिंता यह रहती है कि भविष्य में कैसे होगा? इस पर एक उदाहरण मनन करें—

आगे-पीछे की चिन्ता त्यागो

दृष्टांत:— एक मनुष्य नित्य अपने घर में आता तो यही कहने लगता— अहो! लड़के का विवाह करना है और पुत्री भी अगले वर्ष विवाह योग्य हो जायगी, उधर बहन का गौना देना है, माता-पिता भी वृद्ध हो चुके हैं, मरने पर उनका भी क्रिया-कर्म करना पड़ेगा। घर भी दो वर्ष के पश्चात् बनवाना पड़ेगा। रुपये पैसे एवं अन्न की इतनी कमी है कि बड़ी युक्ति से अपना व्यवहार चलाता हूँ। हाय! हमारा सब काम कैसे होगा? इस प्रकार की मिथ्या कल्पना की शोक रूपी भट्ठी में रात-दिन जला करता। उसकी स्त्री बुद्धिमती, साधुसेवी तथा गुरुभक्त थी। उसे गुरुकृपा से सन्तोष और ज्ञान रूपी धन मिला हुआ था। एक दिन वह सोचने लगी, कि अज्ञानी पति का यह शोक कैसे दूर हो? निदान एक युक्ति सोच कर घर में जाकर लेट रही। बाहर से जब पति आया, तो स्त्री के पास जाकर पूछा—तू क्यों दुखी है?

स्त्री बोली— अहो! हमारी यह दुःखमय अवस्था को कौन मिटा सकता है? मैं अब सर्वदा के लिये संसार से विदा हो रही हूँ। हाय! यह कैसा चक्र हमारे ऊपर आ पड़ा?

पुरुष— कहो तो सही, क्या कष्ट है ? बिना जाने कौन-सी औषधि की जाय ?

स्त्री— अहो ! हमारे दुःख की औषधि संसार में है ही कहाँ ?

पुरुष— भला ! तू कहती क्यों नहीं ?

स्त्री कहने लगी— मैं आज स्वप्न देखी हूँ, कि एक महात्मा आये है, मैं उनके पास गयी। मुझे देख कर वे कहने लगे—ऐ देवी ! तुम्हारी अवस्था अभी बीस वर्ष की है; किन्तु आज से अभी तू साठ वर्ष जीयेगी। इतना कहते-कहते महात्मा चले गये और मैं स्वप्न से जाग गयी। जब से मैं स्वप्न से जागी हूँ तबसे शोक-सागर में डुबकियाँ लगा-लगा कर अतीव व्यग्र हो रही हूँ; क्योंकि मैं सोचती हूँ कि यदि मुझे साठ वर्ष जीने होंगे तो प्रतिदिन दश बर्तन-प्रातःकाल और दश बर्तन सायंकाल माँजने पड़ेंगे तो साठ वर्ष में चार लाख अड़तीस हजार बर्तन माँजने होंगे और यदि पन्द्रह घड़े जल नित्य भरुँगी तो साठ वर्ष में तीन लाख अठ्ठासी हजार घड़े जल भरने पड़ेंगे तथा प्रतिदिन यदि दो दीपक जलाऊँगी तो साठ वर्ष में तैतालिस हजार आठ सौ दीपक जलाने होंगे। और यदि नित्य दश कपड़े धोऊँगी तो साठ वर्ष में दो लाख उन्नीस हजार कपड़े धोने पड़ेंगे। हाय ! कई हजार मनुष्यों का काम मैं अकेली कैसे कर पाऊँगी ? मर जाऊंगी, इस दुःख से बचूँगी नहीं।

पुरुष बोला—तो क्या उपर्युक्त सब काम एक ही दिन करना है ? अरे ये तो साठ वर्ष में करना है न !

स्त्री बोली—तो क्या आपको ये सब काम आज ही करना है ! पुत्र-पुत्री के विवाह, गौन, घर बनवाना इत्यादि। फिर भी धन नहीं है या कम है, कुछ बनता-बिगड़ता है, इत्यादि की मिथ्या कल्पना में क्यों कष्टित होते हो ? ये मायावी पदार्थ बनने बिगड़ने वाले ही हैं, प्रारब्ध कर्मानुसार सब होता जायगा। भला ऐसे अमूल्य मानव शरीर को पाकर अपना जीवन सुधारना चाहिये कि मृग-भ्रममें दौड़ना चाहिये ? जो

मिथ्या माया में क्षण-क्षण हर्षित-शोकित होते हो, ये तो शरीर अभी छूट जाय तो एक भी साथ जाने वाली नहीं। अतः इनकी चिन्ता छोड़-कर परलोक की चिन्ता करनी चाहिये। मनुष्य शरीर प्राप्त कर जिसने कुछ परोपकार भक्ति सत्संग प्राप्त कर लिया, उसी का जीवन जानो सफल है। नहीं तो—

दोहा—खाया पीया अघाय के, सोया पाँव पसार।
भोंदू कुछ जाने नहीं, को हम को संसार॥
(पंचग्रंथी)

इस प्रकार स्त्री की सद्‌शिक्षा सुनकर पुरुष को चेत हो गया और नित्य की चिन्ता-शोक त्याग कर भजन-भक्ति में लग गया।

संसारी प्राणी स्वार्थी हैं। संसार की मित्रता स्वार्थपूर्ण है। अतएव किसी के क्षणिक प्रेम में पड़कर आसक्त मत होओ। गुरु विवेक से चलो। अपने जीव का कल्याण करो।

कवित्त

स्वारथ अपन देखि मीतता करत सब,
स्वारथ में हानि जानि मीत को तजतु हैं।
मातु पितु कुल वो कुटुम्ब नात गोत सब,
हानि जानि त्याग और लाभ में गहतु हैं॥
देखो! साधु-गुरु भल स्वारथ रहित सब,
जीव उपकार हेतु साँसति सहतु हैं।
साँचे मीत साधु-गुरु लोक परलोक हित,
'अभिलाष' धन्य ऐसे मीत जो करतु हैं॥

कुटुम्बी स्वार्थी होते हैं

दृष्टांत—एक महात्मा सड़क-सड़क जा रहे थे, इतने में एक पहले के परिचित ठाकुर जी मिल गये, जो कि लगभग ७० वर्ष की अवस्था में थे। घर से दूर देखकर महात्मा ने पूछा—अरे भैया लल्लू सिंह!

आपको मैं भली-भाँति जानता हूँ। आप किसुनपुर के रईश हैं, आप यहाँ कहाँ ? लल्लू सिंह अपने दुखड़ा को वर्णन करते हुए कहने लगे—संत भगवन् ! आप सबों की शिक्षा बिलकुल सत्य है—"यह संसार स्वार्थ की रस्सी से बँधा है।" जब से जमींदारी टूट गयी, लगान किसानों से मिलता नहीं। मैंने जीवन भर में अस्सी हजार रुपये इकट्ठा किया था। जमींदारी टूटती देखकर चालीस-चालीस हजार रुपये की किराने की दो दूकानें दो लड़कों के लिये अलग-अलग खुलवा दिया और किसुनपुर में होती हुई आठ हल की सीर (खेती) एक तीसरे पुत्र के नाम से लिख दिया। कुछ दिन तो हम दोनों प्राणीयों (बुड्ढे-बुड्ढी) की सेवा तीनों पुत्र किये। लगभग दो वर्ष हो गये दूकान करने वाले दोनों लड़के तो हमें अब फूटी आँखो से भी नहीं देखना चाहते। जब मैं कहता हूँ—बच्चा ! हमारी ही कमाई से पले-पोषे हो, अब हमें क्यों दुतकारते हो ? तब वे कहने लगते हैं—भाग जा बुड्ढा, यहाँ तेरा कुछ नहीं है। रहा तीसरा पुत्र किसुनपुर में जो खेती करवाता है, वह भी एक वर्ष से दो स्त्रियों के साथ विवाह कर लिया है। अब वह रात-रात, दिन-दिन अपनी स्त्रियों के प्रेम ही में मतवाला रहता है। हम दोनों प्राणियों के लिये कपड़ा-खुराक देने का नियम ग्राम के पंच लोग पुत्र से बँधवा दिये थे। वह भी लगभग चार महीने हो गये, पुत्र कुछ नहीं देता। घर पर रह कर उस पुत्र के दुर्व्यवहारों को देख-देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। इसीलिये दो महीने से हम दोनों (बुड्ढे-बुड्ढी) यहाँ इस ग्राम में चले आये हैं। किसी प्रकार माँग-जाँच करके जीवन चलाते हैं। जीवन भर रईशी भोग कर धन-पुत्र-पौत्र होते हुए भी अब वृद्ध अवस्था में दुःख भोगते हैं। अन्न-वस्त्र भी मिलना कठिन हो गया है। ऐसा कहकर बाबू लल्लू सिंह रोने लगे।

लल्लू सिंह की ऐसी दुःखपूर्ण दशा देख कर महात्मा के हृदय में करुणा आ गयी और उनके पुत्रों के स्वार्थपरता को सुन कर वैराग्य-भाव उमड़ आया, अहो ! मोही जीव अपना परलोकी सौदा धर्म, भक्ति, दान,

परोपकार न करके जिस बुढ़ौती सुख की आशा-वश जीवन भर पुत्र-पौत्र के लालन-पालन के लिये हित-अहित नहीं देखते; वे ही पुत्र पौत्रादि अन्त अवस्था में विष के समान बुड्ढे को त्यागते हैं। फिर भी संसारी जीवों की मोह-पट्टी नहीं खुलती।

शब्द—२२

गुरु मोहिं दीन्ह अभय पद दाना ॥ टेक ॥
विरति विवेक भक्ति सुख कारण, दया क्षमा परदाना
तिलकललाटगले जयमाला, सोहतसरलसुभग शुचिबाना १
सन्त सभा सत्संग महातम, परख दृष्टि दै ज्ञाना
जड़ चेतन का भेद बताके, खानि बानि बिलगाना २
भूत प्रेत अरु देवी देवा, ईश ब्रह्म अनुमाना
सो परखाय छोड़ाय दयानिधि, निज स्वरूप दर्शाना ३
गुरु कबीर का ज्ञान सूर्य सम, विदित प्रकाश जहाना
नरहत भाग त्याग करि तेहिको, विषयन में लपटाना ४

टीका:—सद्गुरुदेव हमें अभय स्वरूपज्ञान दिये ॥ टेक ॥ वास्तविक सुख-शान्ति के मूलभूत विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति, दया, क्षमादि हंस रहनी का मार्ग दर्शाये, सरल सुन्दर शोभायमान सात्विक भक्तिवेष मस्तक में श्वेत खड़ा तिलक और गले में एक मणि की कण्ठीमाला दिये ॥ १॥ सन्त समाज एवं सत्संग के माहात्म्य बताये, परीक्षा-दृष्टि का ज्ञान दिये और जड़-चेतन का पूर्ण अन्तर बतला कर मोटी-माया तथा झीनी-माया से पृथक स्वरूप-स्थिति ठहराव बतलाये ॥ २ ॥ भूत, प्रेत, देवी, देवता, ईश्वर ब्रह्म,—सब जीव के अनुमान तथा कल्पनायें हैं। कृपालु गुरुदेव उपर्युक्त भ्रम को परखा कर छुड़ा दिये और विवेक द्वारा स्वस्वरूप चेतन पारख की सर्वोपरिता दिखला दिये ॥ ३ ॥ सद्गुरु कबीर का ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण्य विश्वविदित है। परन्तु भाग्यहीन मनुष्य उसे त्यागकर मलीन विषयों में लिपटे हैं ॥ ४ ॥

व्याख्याः— गुरुदेव बतलाये हैं तुम्हारा स्वरूप अजर, अमर, अखण्ड, अंश-अंशी-रहित, व्याप्य-व्यापक-रहित, शुद्ध-बुद्ध एवं पूर्णकाम है। इस निर्भय स्वरूपज्ञान में स्थित होकर मनुष्य अपनी महानता में प्रतिष्ठित हो सकता है। उक्त स्वरूपज्ञान की झलक निम्न सवैया में देखें—

सवैया

"ना कोई जाय मिलै बिछुड़े तहँ, राग न द्वेष न मान जहाँ है।
देह के ताप व वृत्ति के भार न, जानब मानब नाहिं तहाँ है॥
ताहि कहों उपमा केहि की अब, ना कोई ताहि समान रहा है।
शांत स्वरूप सुखों दुख पार सो, पारख दिव्य अभीत महा है॥१॥
माटी न जाहिं दबाय सके क्षण, पानी न जाहिं गलाय सकैते।
आगि जरै नहिं वायु सुखै नहिं, शून्य न शून्य बनाय सकैते॥
पंच विषय चौधर्म व देह से, पार सदा अविनाशी अलैते।
नित्य विदेह अभीत स्वपारख, ताहि निवास 'अभिलाष' कियेते॥२॥

उपर्युक्त स्वरूपज्ञान में स्थित होने के लिये शुद्ध रहनी की आवश्यकता है। बिना शुद्ध रहनी के केवल ज्ञान काम नहीं देगा। अतएव गुरुदेव दया, क्षमा, समता, शील, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि शुभ गुणों को धारण करने का आदेश दिये। शुद्ध रहनी में चलने के लिये शुद्ध वेष की भी आवश्यकता है, अतएव मस्तक में श्वेत खड़ा तिलक, जो शुद्ध चेतन पारख-सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है; गले में एक मणि की कण्ठी-माला जो पूर्ण दयापालन का प्रतिनिधित्व करती है तथा अचला और कौपीन, जो त्याग का प्रतिनिधित्व करते हैं—गुरुदेव दिये। ये वेष सरल, सादा, सात्विकतावर्द्धक और निर्मानताव्यंजक हैं।

जड़ वर्ग से अपना चेतन स्वरूप सदैव पृथक है। स्त्री-पुत्र, घर-धनादि मोटी-माया खानी जाल है तथा भूत-प्रेत, देवी-देवता, ईश्वर, ब्रह्म आदि झीनी-माया वाणी जाल है। इन सबकी भ्रान्ति, आसक्ति से

पृथक होकर और सत्संग का दृढ़ आधार लेकर ही जीव संसार-सागर से तर सकता है।

अपने चेतन स्वरूप से पृथक ईश्वर-ब्रह्म की मान्यता एक भ्रान्ति है, संसार के अच्छे नर-नारियों से पृथक देवी-देवताओं की कल्पनायें करना अल्पज्ञता है और भूत-प्रेत तो अत्यन्त अज्ञानी मनुष्यों के मन की उपज है। यहाँ भूत-प्रेतों की मान्यता की निस्सारता पर एक उदाहरण मनन करें—

भूत-प्रेत मनुष्यों की कल्पनायें हैं

एक ग्राम से कुछ दूर पर एक पीपल का वृक्ष था। लोग मानते थे कि इस पर एक बड़ा भयंकर भूत रहता है। एक समय किसी दूर देश से एक पहलवान उस ग्राम में आया और रहने लगा। वह भी उस कल्पित भूत की महिमा सुना। यद्यपि उस पहलवान को भूत-प्रेत के मिथ्यात्व का ज्ञान कुछ नहीं था, किन्तु अपने शरीर-बल के अभिमान से अपने मित्रों से कहा करता कि मैं एक दिन रात्रि में जाकर भूत की परीक्षा लेना और उससे लड़ना चाहता हूँ। मित्रों के रोकने पर भी एक दिन वह आधी रात्रि को एक भाला (बल्लम) लेकर उस पीपल वृक्ष के नीचे गया और जाते ही उसकी जड़ में बलपूर्वक एक भाला मारते हुए कहा— चल! कहाँ है भूत! आ, हमसे लड़! उस वृक्ष पर एक बड़ा पक्षी रहता था, वह भाला का भयानक शब्द सुनकर भय-वश पंख फड़फड़ाते हुए दूसरी डगाली पर जा बैठा, जिससे डगाली हिलने लगी। पहलवान के मन में तुरन्त भय हो गया कि भूत ही फड़-फड़ाया और डगाली हिलाया है। अब तो इसका सब धैर्य छूट गया और भाला लेकर भगा। इतने में उसे ज्ञात हुआ कि सामने वह भूत भैंसा का भयंकर रूप धारण किये हमें मारने के लिये खड़ा है। यह अपनी मृत्यु का अंतिम बेला जानकर बलपूर्वक उस कल्पित भैंसा को एक भाला मारा और भयवश भाला वहीं त्यागकर भगा और घर आकर चार-

पाई पर लेट गया। वमन-टट्टी होने लगी, बुखार चढ़ आया और उसके सिर पर भूत का भय सवार हो गया। किसी के कुछ पूछने पर यही कहता— मैं पीपल पर का भूत हूँ, इसने हमें भाला से मारा है; अतः इसकी जान लेकर ही छोड़ूँगा।

लोग पीपल की ओर आना-जाना छोड़ दिये और पहलवान को यह सनक (पागलपन) लगभग तीन दिन तक रहा। चौथे दिन विशेष सनक उतर गया, किन्तु बीमारी वैसी ही थी और वह कहा करता कि पीपल का भूत मेरे सिर पर सवार है, तभी बीमारी है। अनेक सोखा ओझा, बैगा-नाउत, झाड़ते और कहते जाते तुम्हारे ऊपर भूत अवश्य चढ़ा है और बहुत कुपित है। उसी ग्राम में एक सत्संगी भक्त रहता था। उसे यह दृढ़ बोध था कि भूत-भवानी मनुष्य की केवल कल्पनायें और भ्रम-मात्र हैं। वह आकर पहलवान से भूत लगने की सारी कथा पूछी। पीपल में भाला मारना, भूत का फड़फड़ाना, डगाली का हिलना, भैंसारूप भूत को भाला मारना आदि सारी वार्ता पहलवान ने कह सुनायी।

सत्संगी ने कहा—चले देखें पीपल की ओर, क्या बात है! पहलवान और सत्संगी भक्त दोनों चल दिये। पहले जाकर देखे तो पीपल की जड़ में भाला का चिन्ह बना था। भली प्रकार देख-भाल कर सत्संगी मित्र ने कहा—जो आप भूत का फड़फड़ाना और डगाली का हिलाना कहते हैं, वह भूत नहीं बल्कि वृक्ष पर देखिये, एक बड़ा पक्षी बैठा है। भाला के शब्द से भय-वश उसी ने पंख फड़फड़ाया होगा, और एक डगाली से दूसरी डगाली पर उसके कूद कर बैठने से डगाली हिली होगी। पहलवान के मन का संशय तो अब कुछ अवश्य दूर हुआ, किन्तु भैंसा रूप भूत का संशय अब भी बना था। सत्संगी पहलवान को साथ लिये लौटा आ ही रहा था कि क्या देखता है कि गोबर का एक बड़ा भारी घूर है। उस पर भाला का चिह्न लगा है, और भाला भी वहीं पड़ा है। सत्संगी ने घूर में भाला का चिह्न दिखलाते हुए

पहलवान से कहा—यही तुम्हें भ्रम-वश घूर ही रात में भैंसा-भूत समझ में आया। देखो! भाला का चिन्ह घूर में लगा है और आप का भाला भी यहीं पड़ा है। अब तो प्रत्यक्ष प्रमाण से पहलवान के मन से भूत का भ्रम जाता रहा और भ्रम मिटते ही बीमारी भी चली गयी। पहलवान को केवल भ्रम हो जाने से भावना का भूत चढ़ गया था, और तीन दिन तक पागल बना रहा। "मैं पीपल पर का भूत हूँ" इत्यादि कहता रहा। सत्संगी भक्त-द्वारा भ्रम मिटते ही बीमारी चली गयी, न कहीं भूत न प्रेत।

तात्पर्य यह है कि निर्णय-विवेक से मनुष्य, पशु, अण्डज, उष्मज ये चार खानियाँ सिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कहीं भी भूत-खानि किसी को प्रत्यक्ष नहीं है। छोटी-सी-छोटी खानि के भी वंशज (कुटुम्बी, प्राणी) देखने में आते हैं; किन्तु भूत-प्रेत के पुत्र-पौत्र, कुटुम्ब-वंशज कहीं किसी को प्रत्यक्ष नहीं। लोग कहते हैं— भूत-प्रेत क्षण में भैंसा बन जाते, सर्प बन जाते, पर्वताकार हो जाते, क्षण में लुप्त (अंतर्धान) हो जाते; किन्तु यह निरा अज्ञान कल्पित है। सर्प, भैंसा आदि भूत का शरीर एकाएक कैसे बन जायगा; और शरीर परमाणु युक्त पदार्थ होने से तुरन्त लुप्त कैसे हो जायगा। लोग कहते हैं मर जाने के बाद कोई-कोई भूत हो जाते हैं। विचार करना चाहिये कि इन्द्रियों से अग्राह्य अदृश्य चेतन शरीर छूटने के पश्चात् जब तक किसी खानि में वासना-वश शरीर नहीं धारण करेगा, तब तक किसी को कैसे प्रत्यक्ष होगा। इसलिये भूत, भवानी, भैरव, प्रेत, जिन्द, चुड़ैल, नट्ट-वीर, ब्रह्म, पिशाच, दुर्गा, दानवी इत्यादि केवल अज्ञानी मनुष्यों की कल्पनायें हैं। धार्मिक मनुष्य को इन्हें कभी नहीं मानना चाहिये। रामायण में कहा भी है दोहा-"जे परिहरि हरिहर चरण, भजहिं भूत-गण घोर। तिनकी गति मोहि देहु विधि, जो जननी मत मोर॥" अर्थात्—भरत जी कौशल्या से कहते हैं—हे माता! राम वन को चले जायँ, यदि मेरा ऐसा विचार रहा हो तो जो लोग विष्णु और शंकर की

चरण-भक्ति त्याग कर घोर कल्पित भूतगणों को भजते हैं, जैसी उनकी महानीच गति, घोर नर्क यातना होती है, वैसे हे विधि ! भूत उपासकों की नीच गति हमें दीजिये ।

श्री कबीर साहेब कहते हैं—

"ये भ्रम भूत सकल जग खाया । जिन जिन पूजा तिन जहँड़ाया ॥
अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही । कोटि कोटि जीव कौतुक देही ॥
बकरी मुर्गी कीन्हेउ छेवा । आगल जन्म उन अवसर लेवा ॥
कहहिं कबीर सुनो नर लोई । भूतवा के पुजले भुतवा होई ॥"

(बीजक, शब्द १०५)

तात्पर्य यह कि सत्य चैतन्य रामरूप साधु-गुरु की भक्ति त्याग कर कल्पित भूतों की उपासना दुःख का कारण है । तिसमें भूत-भवानी-देवी का नाम लेकर बकरा, भैंसा, सूकर, मुर्गा आदि मूक पशु-पक्षियों की हत्या करके निर्दयी, ओझा, बैगा, नाउत, पण्डित प्रत्यक्ष महा राक्षस-दैत्य बने, घोर नर्क यातना के भागी होंगे । मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि कल्पित मिथ्या भूत-भवानी की उपासना त्याग कर विवेकी सन्तों का सत्संग करके स्वरूपज्ञान-द्वारा अपना जीवन सुधारें और भूत-भवानी के उपासक निर्दयी ओझा, बैगा, पण्डितों से दूर रहें । हिंसा, मांसाहार, व्यभिचार, जबर्दस्ती, छल को त्याग कर दया, शील अहिंसा, स्वरूपज्ञान, सत्संग, अन्तर-बाहर पवित्रता, धर्माचरण पूर्वक अपना कल्याण करें । भूत-उपासक हिंसकी पण्डितों को यहाँ निर्दयी पापी कहा गया है, यथार्थ पण्डितों को नहीं ।

शब्द

सुन नाउत भइया ! भूत कहाँ से निर्मइया ॥ टेक ॥
चारि खानि चौरासी जीवन, निजनिज कर्म भोगइया ।
भूत योनि कहुँ दीखत नाहीं, दुख को कौन देवइया ॥ १ ॥
देह छोड़िके देहैं धरिया, भूत कौन ठहरइया ।
मिथ्या कल्पित भूत तुम्हारा, चेत करो जन रइया ॥ २ ॥

माटी के करि देवी देवा, मूड़ काटि के देइया।
निर्जिव आगे सर्जिव देवें, लोचन कछु न सुझइया ॥ ३ ॥
साँच देव को मानत नाहीं, झूठै मानि भूलइया।
चेतन देव सत्य है भाई, सब घट चेत करइया ॥ ४ ॥
मूड़ काटि के मूड़ हिलायो, देवो खुशी कहइया।
निज जिभ्या के स्वाद विवश तू, झूठै झूठ बकइया ॥ ५ ॥
छाड़ि देव तुम देवो देवा, छाड़ि देव चतुरइया।
दास सन्तोष दया गहु प्यारे, मानुष देह धरइया ॥ ६ ॥

संत कबीर और उनका ज्ञान

दृष्टान्तः—एक समय एक कबीरपन्थी पारखीसन्त और एक वैष्णवसन्त दूर-दूर से चलकर एक स्थान पर एकत्र हुए। दोनों सन्त विचारशील, वैराग्यप्रिय तथा समतालु थे। पारखीसंत ने उनका सश्रद्धा "महाराज दण्डवत" किया और वैष्णवसंत ने इनको सप्रेम "साहेब बन्दगी" की। दोनों सन्त एक स्थान पर जलपान तथा भोजन किये। जब दोनों अपने-अपने आसन पर आ विराजे, तब इस प्रकार चर्चा आरम्भ हुईः—

वैष्णवसन्त—मैं भली-भाँति जानता हूँ कि कबीरपन्थ के अंतर्गत पारख-सिद्धांत सर्वोत्तम अध्यात्म (स्वरूपज्ञान) एवं सिद्धान्त शिरोमणि है। पारख-सिद्धांत का दर्शन वैज्ञानिकता पूर्ण एवं अन्त-बाह्य प्रौढ़ और उसकी आचार-मीमांसा अत्यन्त उच्च है तथा उसी प्रकार पारखी-सन्तों का व्यवहार भी अत्यन्त उज्ज्वल है। पारख-सिद्धान्त, जड़ तत्वों से भिन्न अविनाशी अगणित चेतन जीवों की सत्ता सिद्ध करके शुभाशुभ कर्म-वश पुनर्जन्म, कर्म-फल-भोग तथा विषयासक्ति और स्वरूपभूल-वश बन्धन तथा इसकी निवृत्ति से अनन्त मोक्ष; मोक्ष-साधना में वैराग्य-विवेक सम्पन्न सन्त-गुरुजनों की भक्ति, उपासना तथा दया, क्षमा, शील सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्यादि का ग्रहण तथा मानव-कल्याण के लिये मानव-समानता का उदात्त विचार एवं मानव ही नहीं प्राणि-

मात्र की सेवा-रक्षा स्वीकार करके नैतिकता की ठोस पृष्ठभूमि तैयार करता है। समस्त पाखण्डों और अन्धविश्वासों से रहित नितान्त यथार्थवादी होने से आज के वैज्ञानिक एवं वैचारिक युग में पारख-सिद्धांत का पूर्ण प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। आज का तर्कवादी मानव पोथियों के अन्ध प्रमाणों पर; तथा उलूल-जुलूल कल्पनाओं पर विश्वास करने वाला नहीं है। वह भौतिकता से हटकर धर्ममार्ग पर तभी आ सकता है जब उसके सामने पारख-सिद्धान्त जैसा ठोस, वैज्ञानिक एवं प्रौढ़ विचार रखे जायँ। कष्ट तब होता है जब कुछ वैष्णव एवं वैदिक पुरुष अनभिज्ञता-वश ऐसे उत्तम सिद्धान्त एवं सिद्धांती से उलझन करने लगते हैं।

पारखीसन्त—— उन लोगों की उलझनों के कारण सम्भवतः ये होंगे:—— १. कबीर साहेब के माता-पिता एव वर्णादि का पता नहीं; २. ये ईश्वर को नहीं मानते; ३. वेदादि शास्त्रों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते; ४. मूर्ति-पूजन, तीर्थ-व्रतादि नहीं मानते; ५. निन्दकी होते हैं; ६. इनमें साहेब पदवी होती है तथा ७. इनमें ऊँच-नीच सभी जातियाँ होती हैं।

वैष्णवसन्त—— तो आप लोग कबीर साहेब के माता-पितादि के विषय में क्या मानते हैं कि वे किनसे उत्पन्न हुए?

पारखीसन्त— उनकी उत्पत्ति के विषय में अनेक लेखकों की अनेक मान्यतायें हैं। पुष्ट प्रमाण किसी मान्यता के लिये नहीं है। इसलिये उनमें से किसी एक को मान लेना या उनसे पृथक कोई अन्य धारणा बनाना ——सब कल्पना ही है। कबीर साहेब के विषय में हम लोगों को इतने ही में सन्तोष है कि वे किसी माता-पिता से शरीर धारण किये हैं, बस!

वैष्णवसन्त--- हम तो यह भी सुने हैं कि कबीर साहेब एक अलौकिक सत्पुरुष हैं। वे बिना माता-पिता के स्वतः ज्योति के रूप में लहरतारा तालाब (काशी) में उतरे।

पानी से परगट नहीं, श्वासा नहीं शरीर।
अन्न अहार करता नहीं, ताका नाम कबीर ॥

पारखीसन्तः— भाई ! इमानदारी सबसे बड़ी चीज है। ये चमत्कार की बातें मनुष्य को सत्यता से भटका देने वाली हैं। जो कबीर साहेब झूठे मान-माहात्म्य पाखण्ड एवं असत्म्य से जीवन भर जूझते रहे, उन्हीं के विषय में श्रद्धातिरेक-वश झूठे मान-माहात्म्य फैलाना विवेक-पूर्ण बात नहीं है। उपर्युक्त साखी का अर्थ यह है कि जो पानी (वीर्य) से न पैदा हो, जिसके श्वास, शरीर न हो, जो अन्नादि आहार न करता हो, वह क=काया + बीर=चेतन—काया से परे काया में निवास करने वाला चेतन है। सचमुच चेतन न वीर्य से पैदा है, न उसमें श्वास, शरीरादि हैं और न वह कुछ खाता-पीता ही है। अतः कबीर साहेब एक महामानव, महान सन्त एवं सच्चे सद्गुरु थे। उनके शरीर की उत्पत्ति भी उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार सभी मनुष्यों की [माता-पिता से] होती है।

वैष्णवसन्तः— यदि सद्गुरु मनुष्य ही रहा तो उसकी क्या विशेषता हुई ?

पारखीसन्तः— मानव से बढ़कर सद्गुरु होगा कौन ? सद्गुरु होने योग्य मानव ही है। हाँ, सद्गुरु वह मानव होगा, जिसके आचरण और ज्ञान दोनों दिव्य हैं।

वैष्णवसन्तः— योगशास्त्र में पतंजलि जी ने प्रणव [ॐ] को ही सब गुरुओं का गुरु कहा है।

पारखीसन्तः— अ, उ, म मिला कर ॐ की रचना करने वाला मनुष्य ही उससे श्रेष्ठ है। ॐ को लिखकर और उसे काट देने वाला मनुष्य ही सर्वतंत्र स्वतंत्र है। अतः मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है।

वैष्णवसन्तः— पारखीसन्तों की इन्हीं बातों पर तो सत्य-इच्छुक रीझ जाता है। ये यथार्थवादी होते हैं, वास्तव में जिज्ञासा का पूर्ण समाधान पारख-सिद्धान्त ही कर सकता है। परन्तु एक पण्डित जी कबीर साहेब

को लक्ष्य बनाकर कह रहे थे कि जिनके माता-पिता का आज तक पता नहीं लगा, उनको श्रेष्ठ कैसे माना जा सकता है।

पारखीसन्तः— उक्त पण्डित जी विवेक से, शास्त्रज्ञान से तथा इतिहास से नितान्त शून्य ही प्रतीत होते हैं। विवेक से इसलिये शून्य हैं कि वे महान पुरुषों के मूल्यांकन का मानदण्ड नहीं जानते। किसी के माता-पितादि का पता लग जाने से वह श्रेष्ठ नहीं हो जाता। कितने ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे के माता-पितादि का पता है, किंतु क्या वे इसीलिये श्रेष्ठ हो सकते हैं ? वास्तव में तो श्रेष्ठ वही हैं जिनके आचरण और ज्ञान दिव्य हैं। दिव्य आचरण और ज्ञान ही किसी की महानता के मानदण्ड हो सकते हैं।

वैष्णवसंतः-- बिलकुल, बिलकुल, आपने बिलकुल ठीक कहा।

पारखीसंतः— वैष्णव-परम्परा में जितना स्थान श्रद्धेया माँ सीता का है, महाराज श्री राम का नहीं है; परन्तु क्या माँ सीता के माता-पिता का कोई आज तक पता लगा सका है ? राजा जनक माँ सीता को शिशु के रूप में खेत में पड़ी हुई पाये थे।

वैष्णवसंतः— परंतु वैष्णव-समाज मानता है कि माँ सीता मूल प्रकृति हैं, जगदम्बा हैं, वे पृथ्वी फोड़कर निकली थीं और अंत में पृथ्वी में समा गयी थीं।

पारखीसन्त—वैसे तो कबीरपंथ की कुछ शाखाओं में यह मान्यता है कि कबीर साहेब परब्रह्म हैं, सुप्रीम पावर हैं। वे काशी के लहरतारा तालाब के कमल फूल पर प्रकट हुए अन्ततः मगहर में उनका शरीर फूल का ढेर हो गया।

वैष्णवसन्त—ऐसा मान लेने में क्या हानि है ?

पारखीसन्त—बहुत बड़ी हानि है। इससे सत्य पर परदा पड़ता है, भ्रान्ति का विस्तार होता है और अन्धविश्वास को प्रश्रय मिलता है।

वैष्णवसन्त—कहते हैं ईश्वर, अवतार, पैगम्बर अपने इच्छानुसार (बिना माता-पिता के) शरीर धारण कर सकते हैं ?

पारखीसन्त - भाई ! ईश्वर, अवतार, पैगम्बर तथा ईश्वरीय वाणी [वेद, कुरान, बाइबिल] के नाम ले लेने से सैकड़ों-हजारों झूठी बातें भी सच बनायी जा सकती हैं; परन्तु न तो मनुष्य से बढ़कर कहीं ईश्वर देखने में आता है, और न प्रकृति-विरुद्ध या सृष्टिक्रम-विरुद्ध कुछ होता ही है।

वैष्णवसन्त--शृंगी ऋषि की दी हुई खीर को खाकर माँ कौशिल्या ने महाराज श्रीराम को जन्म दिया, या रामजी स्वयं चतुर्भुजरूप प्रकट हुए--इस प्रकार वैष्णव समाज मानता है।

पारखीसन्त--चतुर्भुजरूप स्वयं प्रकट हुए—यह तो केवल श्रद्धातिरेक है, अतिशयोक्ति है। खीर खाकर रामजी पैदा किये गये—इसमें भी पण्डितों का कुछ रहस्य है। खीर खाकर किसी को जन्म नहीं दिया जा सकता, जन्म के लिये माता-पिता दोनों की आवश्यकता है। खीर वाली बात का खण्डन तो महाराज श्रीराम जी स्वयं कर दिये हैं; देखिये ! रामकलेवा। जनकपुर की नारियाँ व्यंग करती हुई कहती हैं :—

अति उदार करतूतिदार सब, अवधपुरी की बामा।
खीर खाय पैदा सुत करती, पति कर कछु नहि कामा॥

श्रीराम जी उत्तर देते हैं—

सखी वचन सुन कर रघुनन्दन, बोले मृदु मुस्काते।
आपन चाल छिपावहु प्यारी, कहहु आन की बातें॥
कोई नहि जन्में मात पिता बिनु, बाँधी वेद की नीति।
तुम्हारे तो सब महि से उपजै, अस हमरे नहिं रीति॥

वैष्णवसन्त—मथुरा कंश के काराबास में श्रीकृष्ण महाराज के जन्म लेते ही वसुदेव-देवकी की बेड़ी-हथकड़ी कट गयी, पहरेदार सो गये, फाटक खुल गया, यमुना सूख गयीं।

पारखीसन्त—भाई ! ये सारी बातें ऐसी हैं कि "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।" उपर्युक्त सब बातें असम्भव हैं, अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। यदुनन्दन, नन्दकुमार महाराज श्रीकृष्ण तो शिशु के रूप में माँ

यशोदा की गोद ही में मिले थे। पण्डितजन इन्हें चाहे जहाँ खींच कर ले जायँ।

वैष्णवसन्त— खैर, यह तो ठीक ही है कि किसी के माता-पिता के पता लगने से वह बड़ा नहीं होता, अपितु अपने दिव्य अचरणों और ज्ञान से ही बड़ा होता है।

पारखीसन्त— संसार के महान-से-महान पुरुषों की बातें तो ऐसी ही हैं, कि उनके माता-पिता का प्रायः, पता नहीं लगता। वेदों के अक्षर-अक्षर को स्वतः प्रमाण मानकर हिन्दू आस्तिक बनता है, परन्तु उनके रचयिताओं अंगिरा, अग्नि, आदित्य तथा वायु अथवा ब्रह्मा के माता-पिता का पता नहीं लगता। अंगिरादि चारों ऋषि पृथ्वी फोड़कर निकल आये तथा ब्रह्मा कमल फूल से; ये बातें वैसे ही अलीक हैं जैसे कबीर साहेब लहरतारा के कमल फूल पर प्रकट हो गये। महर्षि जाबाल की माता तो जाबाला अवश्य थी, परन्तु उनके पिता का पता नहीं था[1]। प्रभु ईसा-

---

१. सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता से कहाः—ऐ पूज्या ! ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल में निवास करते हुए वेदाध्ययन करना चाहता हूँ। वहाँ जाने पर दीक्षा के लिये अपना गोत्र बताना पड़ेगा; अतः माता मैं किस गोत्र वाला हूँ ?

"स हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति।" छान्दोग्य उपनिषद् अ० ४, खंड० ४, मं० २)

माता उत्तर देती है—बेटा ! तू किस गोत्र वाला है, इसे मैं नहीं जानती। क्योंकि अनेकों की सेवा और सहचरण करती हुई एवं विचरती हुई मैंने तेरे को अपनी जवानी में पाया है। इसलिये तेरे गोत्र का पता नहीं है। मेरा नाम जाबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है; अतएव तू अपने को सत्यकाम जाबाल बतलाना।

जब गुरु गौतम से जाबाल ने उपर्युक्त स्थिति ज्यों-की-त्यों कह सुनायी, तब गौतम ने जाबाल से कहा— बेटा ! तू ब्राह्मण है; क्योंकि सत्य बोलता है। अर्थात् जो सत्य बोले वही ब्राह्मण है। यह है महर्षि गौतम की उदारता।

मसीह की माता मरियम अवश्य थीं; परन्तु पिता का पता नहीं। कुन्ती ने कर्ण को सूर्य नामक व्यक्ति से सम्बन्ध करके पैदा किया, युधिष्ठिर को धर्म से, अर्जुन को इन्द्र से, भीम को पवन से। माद्री ने नकुल को अश्वनीकुमार से, केवल सहदेव को पाण्डु से सम्बन्ध करके जन्म दिया[1]। व्यास, वशिष्ठ, पाराशर—सबकी माता दूसरी तथा पिता दूसरे, फिर पण्डितों के मन में, केवल कबीर साहेब के ही माता-पिता का पता लगाकर उनको श्रेष्ठ मानने का हठ क्यों समाया है? क्या उपर्युक्त महान पुरुषों के माता-पिता का पता न लगने से उनका त्याग किया जा सकता है?

यह भी बात नहीं कि किसी की महानता के लिये जाति अपेक्षित हो। देखिये शास्त्र क्या कहते हैं--

जातो व्यासस्तु कैवर्त्या श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥

(भविष्य पुराण)

अर्थः--धीवरी से व्यास, भंगिनि से पाराशर, शुकी से शुकदेव तथा उलूकी से कणाद जन्म लिये।

कैवर्तिन्यजनयद व्यासं कुशिकं चैव शूद्रिका॥ ९॥
विश्वामित्रं च चण्डाली वशिष्ठं चैव उर्वसी॥१०॥

अर्थ—धीवरी के पेट से व्यास, शूद्राणी के पेट से कौशिक, चाण्डालिनी के पेट से विश्वामित्र तथा उर्वशी के पेट से वशिष्ठ का जन्म हुआ।

स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है:—

"ये ऋषिगण कौन थे? वात्स्यायन ने लिखा है जिसने यथाविहित धर्म की अनुभूति की है, वह म्लेच्छ होने पर भी ऋषि हो सकता है। इसीलिये प्राचीनकाल में वेश्यापुत्र वसिष्ठ, धीवर तनय व्यास, दासीपुत्र नारद प्रभृति ऋषि कहलाये थे। सच्ची बात यह है कि धर्म का साक्षात्कार होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता॥ हिन्दू धर्म-पृष्ठ ४१-४२॥

१ महाभारत आदि पर्व, छठाँ अध्याय।

महाराज श्रीराम ने लक्ष्मण से वार्ता करते हुए वालमीकिय रामायण के उत्तरकाण्ड में वेश्या से वसिष्ठ जी की उत्पत्ति की कथा स्वयं कही है। इस प्रकार वेश्या का पुत्र होते हुए भी वशिष्ठ जी महाराज श्रीराम जी के गुरुदेव थे, तब दिव्य आचरण एवं ज्ञाननिष्ठ कबीर साहेब सद्गुरु क्यों नहीं हो सकते हैं ? हिंदू-धर्म तो स्त्री, नरपशु, कछुआ, मछली तथा सुअर तक को भगवान मानता है। अर्थात् मोहिनी, नरसिंह हयग्रीव, कच्छप, मत्स्य एवं वराह को भगवान का अवतार मानकर पूजता है, फिर दिव्य संत से नाक-भौं सिकोड़ना कितनी हृदयहीनता है। महाराज श्रीराम को क्या, उनके परम गुरु वशिष्ठजी की उत्पत्ति तो चाहे जैसी हुई है उनके खान-पान के विषय में प्राचीन प्रामाणिक विद्वान महारथी श्री भवभूति ने अपने महाकाव्य "उत्तरी रामचरितम्" के चतुर्थ अंक में जो नग्न चित्र खींचा है वह रोमांचकारी है। क्या ऐसी कोई बात सद्गुरु कबीर में है। उनके बीजक में हिंसा-मांसाहार का इतना घोर विरोध है, कि वैसा स्यात् अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

माना कि व्यास-वसिष्ठ का समय ही ऐसी भूल का था, उस समय होते तो हम भी वैसी भूल कर सकते थे; परंतु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि चाहे जिस नाते सही, हमारे पूर्वज जिस भूल में थे, उसको हम दूर करके अधिक सुधर चुके हैं।

जिनके माता-पिता का पता न हो ऐसे ब्रह्मा जी हिंदू धर्म के प्रमुख देवता तथा वेद-प्रणेता बन जायँ, धीवरी का बच्चा [व्यास] शास्त्र-प्रणेता बन जायँ, शूद्र [सूतजी] अट्ठासी हजार ऋषेश्वरों का उपदेष्टा बन जायँ, वेश्या का बच्चा [वशिष्ठ] महाराज राम का गुरुदेव बन जायँ, कछुआ, मछली, नरपशु, सुअर तक को भगवान मानने की उदारता कर ली जाय तो निर्मल निराले, महानसंत कबीर साहेब के लिये ही पण्डितों का तिरछाकोनी क्यों ?

वैष्णवसंत—[हँसते हुए] आपने तो आज बहुत दिन की गड़ी हुई बातें खोदकर सामने रख दीं।

पारखीसंत— भाई ! यह सब कहने की कोई साध नहीं लगी थी; परंतु जब कोई अनुचित रूप से बारम्बार कोंचता है, तब कुछ समाधान करना पड़ता है।

वैष्णवसंत—विरक्त संत कबीर साहेब के पास कुछ लोग लोई नाम की स्त्री तथा कमाल-कमाली बच्चों का होना सिद्ध करते हैं, और एक की लकीर देखकर दूसरे पीटते जाते हैं विचार नहीं करते।

पारखीसन्तः— कबीर साहेब बाल-ब्रह्मचारी तथा विरक्तात्मा संत थे। उन्होंने बीजक में लोई, कमाल-कमाली आदि का नाम तक नहीं लिया है। उन्होंने सर्वत्र विषय-वासना का खण्डन ही किया है। "माया महा ठगिनी हम जानी" इस [बीजक शब्द ५९] में "केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी ········ ब्रह्मा के ब्रह्मानी।" कहकर यह बताया गया है कि ब्रह्मादि त्रिदेव को माया ने ठग लिया। यदि खुद लोई या किसी नारी से वे ठगाये होते तो ऐसा न कह पाते। अतएव वे बाल ब्रह्मचारी थे।

वैष्णवसंतः— हाँ तो कुछ लोगों की एक उलझन यह भी है कि पारखीसंत ईश्वर नहीं मानते, इसलिये ये नास्तिक हैं।

पारखीसंतः— भाई ! नास्तिक की बात न कहिये। मुसलमान कहते हैं कि ईश्वर की वाणी कुरान है। कुरान का इस्लाम ही स्वर्ग का रास्ता है। जो इसको नहीं मानता वह काफर है, शैतान है, दोजखी है। अतः उनके ख्याल से हिंदू, ईसाई आदि सब काफर, नास्तिक एवं नरकपंथी हैं। ईसाई कहते हैं कि जो प्रभु ईसा पर विश्वास नहीं करता वह भूला है, उसको स्वर्ग का रास्ता नहीं मिल सकता। यहूदी कहते हैं कि ईसाई तो बिलकुल भूले हैं। वैष्णवों के विचार से आर्यसमाजी नास्तिक हैं, तो आर्यसमाज के विचार से वैष्णव तथा वेदांती सब नास्तिक हैं। स्वामी दयानंद ने अद्वैत वेदांत को नास्तिक कहा है। उपर्युक्त मंथन से निष्कर्ष यह निकला कि अपने विरोधी विचारों को नास्तिकता तथा उसे माननेवालों को नास्तिक कहना मतवादियों का

स्वभाव है। अपने को ऊँचा तथा दूसरे को नीचा दिखाने के लिये एक दूसरे को नास्तिक कहते हैं।

हिंदूधर्म का गीता सर्वमान्य ग्रंथ है और महाराज श्रीकृष्ण जी भी सर्वमान्य हैं। वे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं- "सिद्धानां कपिलो मुनिः" [गीता, अ० १० श्लो. २६] अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्धि-प्राप्त पुरुषों में कपिल महाराज सर्वोपरि थे, परंतु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि "ईश्वरासिद्धः" [सांख्य शास्त्र] अर्थात् ईश्वर असिद्ध है। मीमांसा शास्त्र के रचयिता जैमिनि ईश्वर नहीं मानते। वैशेषिक शास्त्र के रचयिता महाराज कणाद अपने शास्त्र में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिये। उपनिषदों में आत्मा पर ही अधिक जोर है। वेदों के महावाक्य भी जीव ही को ब्रह्म कहते हैं-

'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ज्ञान ही ब्रह्म है' (ऋग्वेद, ऐतरेय, उपनिषद् ३।१।३)।

'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तू है' (सामवेद, छाँदोग्य उपनिषद् ६।८।७)।

'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् 'यह आत्मा ब्रह्म है' (अथर्ववेद, मुण्डक उपनिषद् २)।

'अहम् ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' (यजुर्वेद वृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०)।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥
(गीता १३।२२)

अर्थः--इस देह में निवास करने वाला प्रकृति से परे जो चेतन पुरुष है वही द्रष्टा, अनुमंता [प्रेरक], भर्ता, भोक्ता, महान ईश्वर तथा परमात्मा है।

बुधस्य आत्मनि देवता।

बुद्धिमान के लिये, विवेकी के लिये यह आत्मा, यह अपने आप चेतन ही, जीव ही परम देवता है।

गोस्वामी जी भी कहते हैं :—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोई परम प्रचण्डा ॥
आतम अनुभव सुख स्वप्रकाशा। तब भव मूल भेद भ्रम नाशा ॥
(मानस, उत्तर काण्ड)

अर्थ :--वह हमी हैं, ऐसी अखण्ड वृत्ति ही विज्ञानदीपक की परम प्रचण्ड शिखा है। आत्मा के, अपने आप के अनुभव से ही सुख का स्व में, अपने आप में प्रकाश होता है, और तभी जन्मादि के मूल--भेद-भ्रम-अज्ञान मिट जाते हैं। महाराज रघुनाथ दास जी कहते हैं :—

दोहा—जीव ईश में भेद कि ? इतनो अहै सदीव।
बद्ध दशा में जीव कहि, मोक्ष दशा में शीव ॥
(विश्राम सागर)

लक्ष्मण—जीव-ईश्वर में क्या भेद है ?

श्रीराम—केवल इतना ही कि बद्धदशा में वह जीव कहलाता है और मोक्ष की दशा में शीव [ईश्वर] कहलाता है।

इस्लामी महापुरुषों ने भी कहा है :—

मन् अरफ़ा न.फ्सहू फ़क़द अरफ़ा रब्बहू।
('हदीस' दर्शन का प्र.)

'जिसने अपने को पहचाना, उसने रब को पहचाना।'

गायब जो हो खुदा से, आलम है उसको 'हू' का।
अनानियत है जिसमें, मौका नहीं है 'तू' का ॥
(दर्शन का प्र,)

जो खुदा से दूर है (जिससे खुदा छिपा हो) उसका खुदा के लिये हू (वह, तत्) कहना ठीक है पर जिसमें अनानियत [अपनापन, आत्मता] उत्पन्न हो गयी है [जो समझ लिया है, मैं ही परमात्मा हूँ] उसको 'तू' कहने का अवसर नहीं [पृथक ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं]।'

सरापा आरजू होने ने, बन्दा कर दिया मुझको ।
वगर्ना हम खुदा थे, गर दिले वेमुद्दवा होते ॥

अर्थ :—सारापा [सर से पैर तक] लिपटी हुई आरजू [इच्छा] ने हमें वन्दा वना दिया है। वगर्ना [अन्यथा] हम वेमुद्दवा [इच्छा रहित] होते तो हम खुदा थे।

राह हक़ हरगिज़ न यावी तानगीरी चार तर्क ।
तर्क दुनिया तर्क उक़बा तर्क मौला तर्क तर्क ॥

राह हक़=सही रास्ता । यावी=प्राप्त होना । ता=तक । न=नहीं । गीरी=पकड़ना, कर लेना । तर्क=त्यागना । उक़बा=परलोक । मौला ईश्वर । तर्क-तर्क=त्याग के अहंकार का त्याग ।

भाव—सही रास्ता तब तक नहीं मिल सकता जब तक सांसारिकता, परलोक, ईश्वर और त्याग के अहंकार— इन चार का त्याग नहीं किया जाय ।

कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
दिखला दे खुद ही में, खुदा पीर उसे कहते हैं ॥

Canst thou by searching find out Good ?
अर्थात्—क्या तुम बाहर खोजकर ईश्वर को पा सकते हो ?
(old testament)

इस प्रकार देखा जाय तो सभी महापुरुषों ने इधर-उधर की बातें कर के भी अन्ततः आत्मा को ही परमात्मा, जीव को ही ब्रह्म तथा रूह को ही खुदा कहा है। भूल वहीं होती है जब अत्मा को, चेतन को सर्वव्यापक या जड़ से अभिन्न सिद्ध करते हैं।वास्तव में चेतन व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी-भाव-रहित अखण्ड, अविनाशी नाना हैं। सद्गुरु कबीर ने राम को, चेतन को कण-कण में नहीं, घट-घट में माना है। उन्होंने कहा है यह घटवासी चेतन ही राम-रहीम है।

दिलमा खोज दिलहिमा खोजो इहै करीमा रामा ॥ बी० ॥

जिस सिद्धान्त में जड़ से भिन्न अविनाशी अगणित चेतन जीव माना

जाता है। कर्म-संस्कार-वश भ्रमण, पाप-पुण्य कर्मों का जन्म-जन्मान्तर में फल-भोग, वासना-त्याग से अनन्त मोक्ष, मोक्ष-साधन में संत-गुरु-भक्ति, जीव-दया, दिव्य आचरण तथा शम, दम, शील, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्यादि सर्व हंसरहनी का आचरण मान्य हो और उनको जीवन में उतारा जाय, उस सिद्धान्त को नास्तिक कहना कितना बड़ा अज्ञान है !

जिस जीव की सत्ता मात्र से ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देवता, भूत-प्रेत की कल्पना हुई तथा वेद, कुरान, बाइबिल, नाना शास्त्र-पुराण, ग्रंथ, मत-पंथ, ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल का विस्तार हुआ; उस सर्वोपरि जीव-सिद्धान्त का मानने वाला ही तो परम आस्तिक है। हाँ ! कुछ हिस्से में 'नास्तिक' उसे कह सकते हैं जो ऐसे सर्वोपरि सम्राट जीव को तुच्छ, अंश, प्रतिबिम्ब, प्रतिभास, अल्पज्ञ, किंचिज्ञ, परिछिन्न, इच्छा-द्वेषादि से स्वरूपतः सम्बद्ध कहता या मानता हो, और झूठी कल्पित बातों को सर्वोपरि मानता हो।

वैष्णवसन्तः— आपकी ज्ञानभरी वाणियाँ बड़ी अच्छी लगीं। सचमुच वैदिक परम्परा में ही नहीं, विश्व के धार्मिक परम्परा में—सर्वत्र विश्वास-मार्ग और विवेक-मार्ग—ये दो मार्ग रहे हैं। सदैव साधारण लोग जिनकी विवेक-शक्ति दुर्बल है वे इस जीव से पृथक दैवी-शक्ति किसी-न-किसी रूप में मानते रहे। वैदिक युग में हमारे पूर्वज आदित्य, वायु, अग्नि, वरुण आदि को ही परम देवता मान कर उनको प्रसन्न करने के लिये हवन करते थे और हिंसादि भी करते थे। पीछे ईश्वर की मान्यता दृढ़ होती गयी। परन्तु विवेकी पुरुष सदैव से ही जीव ही को सर्वोपरि तत्व समझते रहे इसकी झन्कार शास्त्रों में गूँजती है। यहाँ तक कहा है:—

'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।'

अर्थात् 'जीव ही ब्रह्म (श्रेष्ठ) है दूसरा नहीं।'

अच्छा यह बतलाइये कि आप लोगों का वेदों को स्वतः प्रमाण न मानने का क्या कारण है ?

पारखीसन्तः—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अपने वेद, कुरान तथा बाइबिल को ईश्वरी वाक्य मानते तथा दूसरे की पुस्तकों को प्रायः ईश्वर-विरुद्ध मानकर अप्रमाणित सिद्ध करते हैं; परन्तु इनमें यदि कोई ग्रन्थ ईश्वरीय होता तो उसे सबको मानना पड़ता। एक अल्पज्ञ तथा अल्प शक्तिमान राजा का कानून राज्य भर में चलता है, तब सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की कानूनी-डायरी सर्वत्र क्यों न मान्य होती ? हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अपनी-अपनी पुस्तक ईश्वरीय कहते हैं, परन्तु ईश्वर कभी आकर नहीं कहा कि मेरी भेजी अमुक पुस्तक है। अतः यह अपना-अपना ग्रंथ ईश्वरीय या अवतार, रसूल की वाणी बतलाना स्वमत विस्तार करने का परदा है। वेद को स्वतः प्रमाण न मानने से 'नास्तिक' कुरान को न मानने से 'काफर' तथा बाइबिल को न मानने से 'अपवित्र' कहना दूसरे मतवादियों को गाली देना है।

वास्तव में हर मत के आचार्यगण को चाहिये कि अपनी पुस्तक को आकाशी, स्वत.प्रमाण न बतलाकर उसे समाज को स्वतन्त्रता पूर्वक परखने, समझने तथा कसौटी पर कसने का अवकाश दें। अंधविश्वास तो ऐसा है कि ईश्वरवाणी करार दे देने पर चाहे उसमें हजारों बातें झूठी हों, सत्य मानी जाती हैं; परन्तु इससे समाज का कल्याण नहीं हो सकता और न विवेकी को सन्तोष होगा। जिज्ञासा की पूर्ति यद्यपि श्रद्धा सम्बलित सही, किन्तु शुद्ध तर्क से, विवेक से, छान-बीन से होती है। यह कह देने से सन्तोष नहीं होता कि इस पुस्तक किंवा इस वाणी को मान लो, क्योंकि इसे ईश्वर ने, अवतार ने, रसूल ने, ईश्वर पुत्र ने या ऋषि-मुनि ने कही है। पारखी संत वेदों को बिलकुल न मानते हों, ऐसी तो बात नहीं, वे सच्ची बातें वेद, बाइबिल, कुरान, तथा पण्डित, पागल और बच्चे की भी मानते हैं और कल्पित झूठी, बातें किसी की नहीं मानते। वास्तव में मनुष्य का हृदय ही सब ज्ञानों का केंद्र है।

हाँ ! उसे उद्बुध करने के लिये साधना, सत्संग और सत्शास्त्रों का चिंतन भी आवश्यक है। किसी ने कहा है:—

लौहि महफ़ूज़स्त दर् मानी दिलत्,
हर् चि मी .ख्वाही शवद् ज़् हासिलत् ।
दर हक़ीक़त .खुद तु ई उम्मुल् किताब,
.खुद ज़ि.खुद आयाति-.खुद रा बाज़् याब ।।

अर्थात्:— 'लौहि महफूज' छिपा हुआ चित्रपट 'हिफाजत से महफज' गुप्त रक्षित—यह तो तुम्हारा दिल, तुम्हारा हाफिजा, तुम्हारी स्मृति चित्त है। जो चाहो इसी से प्राप्त होगा। सब किताबों की माता (सर्व ज्ञानमयी वेद की माता महद्बुद्धि अकिल-कुल) तुम आप ही हो। अपने आपके संबंधी कुरान-आयतों को अपने आप में से खोज निकालो।'

(दर्शन का प्रयोजन)

सर्वासां विद्यानां हृदयं एव एकऽयनम् ।

(दर्शन का प्रयोजन)

'अपना हृदय ही सब विद्याओं का भण्डार है।' हाँ, इस भण्डार को खोलने के लिये सत्संग और साधना की आवश्यकता है। गोस्वामी जी ने कहा है:—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ ।।

'अर्थात् बुद्धि, कीर्ति, मोक्ष, सच्चा धन, भलाई जब जिसने जिस यत्न से पाया है वह सत्संग से ही; लोक-वेद में कल्याण का उपाय नहीं है।

वैष्णवसंत—मूर्ति-पूजन, तीर्थ-व्रतादि में आपका क्या समाधान होगा ?

पारखीसन्तः—किसी महापुरुष के चित्रादि स्मृति तथा उत्तम प्रभाव के लिये रखना कोई बुरा नहीं, प्रत्युत अच्छा ही है; परन्तु उसकी धूप-दीप,

आरती-वन्दना, पूजा करना, भोग लगाना—यह सब भ्रांति-विस्तारक, अन्धविश्वासपूर्ण विवेक-विरुद्ध है। रहा, जिस मत में यह सब होता है पारखीसंत उनसे घृणा नहीं करते। ऐसा करने वाले कोई अधर्मी नहीं, भूले भले हों। सच्चे कबीरपंथी पारखी 'चेतन' को पूजते हैं। मानवतन के उत्तम समय को जड़पूजन में न लगाकर चेतन सन्त-गुरुजनों के पूजन,उपासना तथा चेतनात्मा के चिन्तन में लगाना विवेकी का कार्य है। कहा भी है—

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा।
अधम तीर्थ यात्रा च मूर्तिपूजा धमाधमः ॥

अर्थात्—सहज स्वरूपज्ञान में स्थिति करना उत्तम है, ध्यान-धारण मध्यम है, तीर्थयात्रा अधम है तथा जड़मूर्तिपूजन करना अधम से अधम है।

किसी ने कहा है :—

दो:—तुलसी प्रतिमा पूजिबो, जस गुड़िया को खेल।
साँच पति से भेंट भई, दियो पिटारा मेल ॥

कबीरपंथ में केवल वैराग्यवान् संत-गुरु को ही इष्ट माना जाता है और अपने इष्ट की उपासना करना ही मानो सबके इष्टों की उपासना है। देखिये ! जब गोस्वामी तुलसीदास जी वृन्दावन गये, तब उन्होंने महाराज कृष्ण की मूर्ति देखकर कहा—

कहाँ कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष वाण लो हाथ ॥

और भी—निज निज इष्टहिं सब नवे, जाहि जहाँ लौ दर्श।
अपर राम कोइ भजत है, राम शिवहिं कहि शर्श ॥

श्री भर्तृहरि जी भी कहते हैं:—

नाहिन शिव अरु विष्णु में, अन्तर सूझे मोय।
तदपि चन्द्रशेखर लखत, प्रीति अधिक कछु होय ॥

'तीर्थ का अर्थ होता है 'तारने वाला'। कोई सन्दूक में कपड़े भर कर उसे ऊपर से साबुन-पानी से धोवे; तो वे कैसे साफ हो सकते हैं। इसी प्रकार अंतःकरण की मैल प्रयाग, काशी आदि जाने या स्नान करने से कैसे दूर होगी ! शिवजी ने पार्वती से कहा है:—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमति तामसा जनाः।
आत्म तीर्थं न जानाति कथं मोक्ष शृणुप्रिये ॥

अर्थात्—यहाँ तीर्थ है, वहाँ तीर्थ है—ऐसा कहते हुए तामसीजन भटकते रहते हैं, जो आत्मतीर्थ को नहीं जानता, सुनो प्रिये ! कहो उसका मोक्ष कैसे होगा ?

सच्चे तीर्थ का वर्णन गोस्वामीजी ने किया है:—

मुदमंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू ॥
विधि निषेध मय कलिमल हरणी। कर्म कथा रवि नन्दनि वरणी ॥
बट विश्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा ॥
सबहिं सुलभ सब दिन सब देशा। सेवत सादर शमन कलेशा ॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देय सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥
दोहा:—सुनि समझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चार फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग ॥
मज्जन फल देखिय तत्काला। काक होहिं पिक बकहु मराला ॥
सुनि आश्चर्य करहिं जनि कोई। सत्संगत महिमा नहिं गोई ॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥
दो:—श्रोता त्रिविध समाज पुर, ग्राम नगर दुहु कूल।
संत सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल ॥

महापुरुषों ने सभी तीर्थ-व्रत, देव-ईश्वर से अधिक महत्त्व संतों का ही गाया है। स्वयं श्रीरामजी ने नवधाभक्ति में कहा है।

सतईं सब मोमय जग देखै। मोते अधिक संत करि लेखै।

पुनः नारद से आप कहते हैं:—

सुन मुनि साधुन के गुण जेते। कहि न सकत शारद श्रुति तेते ॥

गोस्वामी जी कहते हैं—

विधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बणिक मणि गुणगण जैसे॥

'व्रत कहते है प्रण को, सत्य को निभाने के लिये, सदाचार का पालन के लिये प्रण करना 'व्रत' है। अथवा दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवें मन ये अपने वश में करना एकादशी व्रत है। शरीर को हल्का करने के लिये, पेट की शुद्धि के लिये कभी-कभी भोजन न करना अच्छा है; किन्तु किसी दिन उपवास रहकर बदले में स्वर्ग या किसी देवता के दर्शन की प्राप्ति की आशा करना भ्रम है। किसी ने कैसा सुन्दर कहा है:—

तीर्थ वही जो कि पाप से तारत, पाप वही मन मध्य विकारा।
सो सत्संगत तीरथ सत्य है, दुर्गुण नाशत लागै न वारा॥
व्रत वही जो बुरे कर्म त्यागहु, और जो व्रत सो झूठ पसारा।
पूजा वही जो कि चेतन पूजत, भक्ति वही गुरु प्रेम न टारा॥

वैष्णवसंतः—कबीर पंथी संतों के खरे निर्णय को कोई-कोई भ्रम-वश निन्दा मान लेते हैं।

पारखीसंतः-हाँ, भाई! यही तो भूल है। अपने मन की सुहावनी बात न पाकर प्रत्युत कुछ मन के प्रतिकूल पाकर किसी को निन्दकी कहना ठीक नहीं। सत्य कहने में गुण-दोषों का कुछ विवरण होता ही है। यदि उसे निन्दा मान ली जाय, तो क्या लल्लो-चप्पो करने से किसी का कल्याण हो जायगा! अतएवः—

साँचा शब्द कबीर का, प्रगट कहो जग माँहि।
जैसे को तैसा, कहै, सो तो निन्दा नाँहि॥
(पंचग्रंथी)

हाँ! विवेकी पुरुष सत्य को कोमलतापूर्वक कहने का भरसक प्रयत्न करते हैं, और पात्र के अनुसार उपदेश देते हैं। सभी को एक डन्डे से नहीं हाँकते; क्योंकि सभी लोग एक प्रकार के ज्ञान के अधिकारी नहीं। जिज्ञासु को धीरे-धीरे सत्य परखाते हैं।

वैष्णवसन्तः—एक पण्डितजी कहने लगे कि 'कबीर' थी साधु आपस में साहेब-साहेब कहते रहते है। ये कौन साहेब हैं अमेरिका के, कि इंग्लैण्ड के।' मैंने कहा—यह आपका व्यंग अज्ञान से है। साहेब कहते हैं 'स्वामी' को। देखो गोस्वामी जी महाराज श्री राम को साहेब कहते हुए बोलते हैं:—

गुरु गोसाँइ साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिणामू॥
सरल सुसाहिब शील निधाना। प्रणतपाल सर्वज्ञ सुजाना॥
दोहा—सेवक कर पद नयन सो, मुख सो साहिब होय।
तुलसी प्रीति की रीति लखि, सुकवि सराहहिं सोय॥
(रामायण)

पारखीसंतः—साहेब बंदगी[1] भी दण्डवत का सुधरा हुआ रूप है। दण्डवत जमीन में पड़कर किया जाता है, वन्दगी उकड़ूँ बैठकर। जिससे कपड़े में धूल आदि न लगे। साहेब शब्द पारसी है और बंदगी संस्कृत। साहेब बंदगी का तात्पर्य है 'स्वामी वन्दना' करता हूँ। तीन बार करने का तात्पर्य है कि हम मन, वाणी शरीर के दोषों पर तथा तीनों गुणों पर विजयी हों अथवा हमारे तीनों ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) शांत हों। सिर को अंजुलि में ले जाने का अभिप्राय है हाथ में अपना सिर रख कर इष्ट को समर्पित करना। यथा:—

---

१. विद्वन्मूर्ति श्री विचार साहेब बंदगी-विचार में कहते हैं :— "परस्पर-विरोधी हिन्दू और मुसलमानों को एक रास्ते पर लाने के लिये सद्गुरु कबीर ने एक बीच का रास्ता निकाला है, जो कि दोनों को अनुकूल हो। यही कारण है कि इनकी वाणी में संस्कृत और पारसी दोनों का मेल रहता है। "वन्दगी साहेब" भी एक ऐसा वाक्य है कि इसमें संस्कृत और पारसी दोनों शब्द हैं। उनमें से "बन्दगी" शब्द तो शुद्ध संस्कृत है, क्योंकि 'वदि अभिवादन-स्तुत्याः' अभिवादन और स्तुति अर्थ वाले 'वदि' धातु से भावार्थक 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वन्द' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ 'वन्दन वन्दः' इसके अनुसार वन्दना करना होता है। 'वन्दनस्य वन्दनायाः गीर्वाणी वन्दगी'। इस निरुक्ति से बन्दगी शब्द का अर्थ वन्दना वचन होता है।'

बन्दौ सन्मुख पारखी, शीश भेंट धरि हाथ।
वचन उचारौं बन्दगी, सहय प्रेम के साथ॥

वैष्णवसन्तः— संत कबीर साहेब की उदारता अत्यन्त सराहनीय है। उन्होंने मानव का शुद्ध स्वरूप परखा। उन्होंने कहा— मानव समान है। विवेक तथा पवित्र आचरणसम्पन्न व्यक्ति ही श्रेष्ठ है, अविवेकी तथा आचरणहीन व्यक्ति लघु है, और जाति-वर्ण के नाते कोई छोटा-बड़ा नहीं।

पारखीसंतः— यही तो मानवता की माँग है कि मानव के बीच में मानव दीवार न बनें।

वैष्णवसंतः— कइयों का कहना है कि कबीरपंथ तो नवीन पथ है।

पारखीसन्तः— भाई ! क्या नवीन है। कबीरपंथ-पारख-सिद्धांत में जड़-चेतन दोनों वस्तुयें अनादि तथा नित्य मानी जाती हैं, पुनर्जन्म बन्ध-मोक्ष, कर्म-फल-भोग माने जाते हैं, कल्याण की रहनी दया, क्षमा, शील, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति आदि दैवी सम्पदा मानी जाती है। अब बताइये ! इनमें कौन-सी वस्तु नवीन है ? सभी तो पुरातन हैं।

मूल वस्तुयें तो अनादि ही होती हैं, उसका आविष्कार (खोज) भले नवीन हो। तो क्या वह उपादेय नहीं। नवीन विज्ञान-द्वारा आविष्कृत सैकड़ों वस्तुयें रेल, मोटर, वायुयान, टेलीवीजन, रेडियो, तार, विद्युत् आदि क्या हर्षपूर्वक नहीं अपनाये जा रहे हैं। हाँ, कबीरपंथ नवीन होने से वर्तमान युग के लिये वह अत्यन्त उपादेय है, और इसकी बातें ऐसी ठोस हैं कि वे सदैव के लिये उपादेय रहेंगी।

वैष्णवसन्तः— अच्छा, आप लोग कबीर साहेब को स्वामी रामानन्द का शिष्य क्यों नहीं मानते ?

पारखीसन्त :—आप जानते ही हैं सद्गुरु कबीर की मौलिकता पारख-सिद्धान्त में है और यह स्वामी रामानंद जी के पास नहीं था।

अतएव पारख-सिद्धान्त सद्गुरु कबीर का आविष्कार होने से वे स्वतः गुरु थे। हाँ, इस आविष्कार के पहले प्रथम अवस्था में वे स्वामी जी को गुरु माने हों तो हो सकता है। वैसे मनुष्य के पहले अनेक गुरु होते हैं; परन्तु उसके सिद्धान्त का जो गुरु होता है वही उसका सच्चा गुरु है। अतएव सद्गुरु कबीर के पारख-सिद्धान्त का गुरु अन्य नहीं।

वैष्णवसन्त:—यदि स्वामी रामानन्द जी को कबीर साहेब का गुरु मान लेते तो वैष्णव तथा पारखी समाज का भाई- चारा बना रहता।

पारखीसन्त:—न्याय से जब बात नहीं जँचती है, तब कैसे मान ली जाय। किन्तु स्वामी जी को साहेब जी का गुरु मान लेने से ही हमारे आप में भाईचारा रहे यह ठीक नहीं। क्या वेदान्तियों से भाई-चारा रखने के लिये स्वामी शंकराचार्य को भी गुरु मानना पड़ेगा? नहीं-नहीं। विश्व के जब समस्त प्राणी प्रिय हैं और विश्व के समस्त महापुरुष जब श्रद्धेय हैं तब तपोनिष्ठ स्वामी रामानंद जी क्यों आदरणीय एवं श्रद्धेय नहीं? जो अपना गुरु, न हो, परंतु त्याग-तपस्या पूर्ण हो, वह श्रद्धाभाजन है ही। इसलिये हमारे आप में सदैव भाई-चारा रहेगा।

वैष्णवसंत:—पारखीसंतों की कुछ रहनी बतलाने का कष्ट करें?

पारखीसन्त:—यह विवेक प्रकाश पारखी सन्तों की रहनी का दर्पण ही है। संक्षिप्त में यहाँ और बताया जाता है:—

(१) स्त्री के अखंड त्यागी होते हैं। (२) मांस, शराब, धूम्रपान, पान, तम्बाकू कोई प्रकार व्यसन धारण नहीं करते। (३) अपने शरीर निर्वाहार्थ किसी से कुछ नहीं माँगते। (४) सेवक-सज्जनों की ओर से आये हुए अनइच्छित पदार्थों से वेगारवत् शरीर निर्वाह ले लेते। (५) देश काल अनुसार कदाचित् कभी समय पड़े तो पेटपूर्ति के लिये नम्रता पूर्वक सद्गृहस्थों से चावल, दाल आदि माँग लेते। (६) चावल, दाल, आँटा, घी, तेल, जल, फल, फूल, जितने अंकुरज सात्विक खाद्यपदार्थ हैं, सबको भली-भाँति छान-विचार, अमनिया करके ग्रहण करते।

(७) उज्ज्वल-साफ वस्त्र पहनते, लँगोटी-अचला-अलफी आदि सादा-साधारण वस्त्र धारण करते, तन, मन, वचन शुद्ध रखते। (८) शुद्धता पूर्वक भोजन अपने हाथ बनाते। (९) हमारे मन, वचन, कर्म से छोटे-बड़े देहधारी जीवों की हिंसा न हो, शक्ति भर भली-भाँति यह ध्यान में रखते। (१०) नाच, सिनेमा, खेल, तमाशे देखने नहीं जाते। सहजिक सामने पड़े हुए को दुःख रूप जान कर अपना खास काम करके एकांत-शांत प्रदेश में निवास करते। (११) किसी मत का अनुचित खण्डन-मण्डन न करके अधिकारी अनुसार सब को हित की शिक्षा देते। (१२) मठ-रमन्ता कहीं भी रहे, अपने को पन्थी जान कर ममता त्याग करते। (१३) सद्ग्रंथ अध्ययन, विवेकी साधु-गुरु की भक्ति-साधना में सदा लवलीन रहते। (१४) गुरुन्याय के विरुद्ध कोई भी कर्तव्य नहीं ग्रहण करते। (१५) ईर्ष्या, देहाभिमान, ममता बड़ाई, काम, क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर प्रारब्ध भर अपने मन, वासना तथा, बाहरी प्राणी-पदार्थों से अत्यंत सावधान रहते। (१६) वैराग्य पूर्वक विजाति विषय वासनाओं को त्याग कर तथा स्वरूपनिष्ठ होकर जीवन्मुक्ति दशा में प्रारब्ध वर्तमान करते हैं।

वैष्णवसंत—सचमुच पारख-सिद्धान्त आचार और दर्शन दोनों में परम दिव्य है। इसके आदि आचार्य सद्गुरु कबीर की बलिहारी है।

इतनी वार्ता समाप्त होने पर दोनों सन्त परस्पर अत्यन्त प्रसन्न हो कर दण्डवत्-बन्दगी किये और दोनों अपने-अपने भजन में लग गये।

प्रार्थना।

जय जय सद्गुरु कब्बीर स्वज्ञान प्रदाता,
जय बीजक बोध विधाता ॥ टेक ॥
सद्ज्ञान जगत् में लोप रहा, मिथ्या पाखण्डारोप रहा।
अज्ञान अंध में उदित स्वज्ञान प्रभाता ॥ जय बी० ॥ १ ॥
अमृत वर्षा वर्षाय दिये, अविनाशी जीव जगाय दिये।
आपी उद्धारक बंधु जगत् में ताता ॥ जय बी० ॥ २ ॥

तुमहीं पितु मातु हमारे हो, खानी बानी दुख टारे हो।
तुमहीं घातक अज्ञान से तोड़े नाता ॥ जय बी० ॥ ३ ॥

निर्भय निर्मल अविनाशी हो, स्थिर पारख पद वासी हो।
जीवन भर तव 'अभिलाष' रहे गुण गाता ॥ जय बी० ॥ ४ ॥

शब्द—२३

गुरु पद ध्यान धरो मोरे भाई ॥ टेक ॥
सब सुख खानि हरण दुखदारुण, भव जल यान जो गाई १
जगत वासना ध्वंस होय सब, शांत स्वरूप विराग दृढ़ाई २
करो विवेक बोध जड़ चेतन, सत्संगति लवलाई ३
विषया वन मन रमण कर नित, जगत जाल गर फाँस नशाई ४
श्रद्धा सहित भक्ति गुरु गहिके, छल बल कपट दुराई ५
गुरुविवेक वैराग्य धारि उर, 'सूरतदास' अमरपद पाई ६

टीका:—मेरे प्रिय बन्धु! गुरुदेव के चरण-कमलों का ध्यान करो, अथवा स्वस्वरूप चेतन में मन बसाओ ॥ टेक ॥ यही सब सुख का उत्पत्ति स्थान, कठिन दुःखों का नाशक तथा संसार-सागर से पार करने की नौका कहा जाता है ॥ १ ॥ इसी से वैराग्य की दृढ़ता होती है, जगत्-वासनायें ध्वंस होती हैं तथा स्वस्वरूप चेतन में ही शान्ति की प्राप्ति होती है ॥ २ ॥ सत्संग में प्रेम करो और जड़-चेतन का पृथक विवेक करके यथार्थ बोध को प्राप्त करो ॥ ३ ॥ यह मन विषयवन में नित्य रमता रहता है, इस विषय की फाँसी और जगत् जाल को तोड़ फेंको ॥ ४ ॥ छल-कपट तथा अहंकार को दूर डालकर श्रद्धापूर्वक गुरुभक्ति धारण करो ॥ ५ ॥ गुरु के परखाये हुए विवेक-वैराग्य को हृदय में धारण करके एकरस रहनी में चलने से निश्चित अमृत पद पा जाओगे ॥ ६ ॥

व्याख्या—वैराग्यवान् सद्गुरु की भक्ति मुमुक्षु के लिये एक परम बल है। भक्ति-हीन व्यक्ति साधना में सफल नहीं हो सकता। अतएव

गुरुभक्ति में मन लगाओ, स्वस्वरूप को समझो, पीड़ामय सांसारिकता से उपराम होओ और स्वस्वरूप में ही शांत होओ।

मन कैसे शान्त हो ?

एक सन्त से एक साधक ने प्रश्न किया—मन कैसे शान्त हो ?

सन्त :—विवेकादि साधनों में मन लगाने से।

साधकः—साधनों में प्रेम-उत्साह क्यों नहीं होते?

सन्तः—जगत की दुःखरूपता, निस्सारता का ज्ञान न होने से।

साधकः जगत् की दुःखरूपता तथा निस्सारता का ज्ञान कैसे हो?

सन्तः—सद्ग्रन्थ पढ़ो, सत्संग करो तथा विचार करो! क्या तूने गर्भ-वास के दुःख का चिन्तन कभी नहीं किया है! प्रसव करते हुए स्त्री की पीड़ा नहीं देखी है! शरीर से दुर्बल, शक्तिहीन, श्वास के रोग से हाँफते हुए बुड्ढे को नहीं देखा है! क्या तुमने ऐसे व्यक्ति को नही देखा है जो रोग से बिगड़ा हुआ, चारपाई में लधा हुआ, अपने मल-मूत्रों में पड़ा हुआ रो रहा हो! स्त्री-पुरुष, वृद्ध, बालक जवान सभी को अचानक मरते हुए तुमने अवश्य देखा होगा! ठण्डी-गर्मी, भूख-प्यास से पीड़ित, शारीरिक-मानसिक वेदनाओं से कष्टित, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा का आयतन, संयोग वियोग रूप प्रतिक्षण परिवर्तनशील इस जीवन में तथा इस संसार में कौन सुखी है! क्या उपर्युक्त सम्पूर्ण दुःख तुम्हारे सिर पर नहीं हैं! हैं तो अवश्य, फिर क्यों नहीं विचारते! अतएव दुःख-पीड़ाओं से अपने को घिरा जान कर सांसारिक भोगों के राग से रहित हो जाओ और सत्साधन में उत्साह पूर्वक प्रेम लगाकर मोक्ष लो।

सवैया

जो मन वायु समान प्रवाहित रैन दिना क्षणको नहिं थीरा।
सो मन शांत रहे नित ही, यदि बोध विराग गहै वर धीरा॥
साहस ध्येय निराश गहै पुनि, वो दुखदृष्टि परीक्षक वीरा।
निश्चय रहे मुरदा सम सो मन, जो प्रथमै अति वेग समीरा॥ १॥

शब्द—२४

ऐसे गुरु पारख की प्रभुताई ॥ टेक ॥

जड़ चेतन को निर्णय करके, विलग विलग परखाई
अजर अमर अविनाशी चेतन, जान रूप दर्शाई १
तत्त्वन में गुण धर्म क्रिया सब, शक्ति स्वाभाविक भाई
गमनागमन क्रिया ब्रह्माण्डक, नित्य परस्पर लाई २
कारण कारज रहित रहत जिव, ज्ञान स्वरूप सदाई
जड़ सम्बंध प्रवाह अनादी बन्धन अमित देखाई ३
सो गुरु बोध ज्ञान दे करके, बन्धन सकल नशाई
पंचविषय दुखदायक सब बिधि, ताहि हेतु वैराग्य दृढ़ाई ४
निज स्वरूप ठहराव हेतु गुरु, युक्ति अनेक बताई
सो उपकार जानि समरथ के चरणन शीश झुकाई ५

टीका :—पारखी सद्गुरु की ऐसी प्रभुता है ॥ टेक ॥ उन्होंने जड़-चेतन का निर्णय करके दोनों के लक्षण पृथक-पृथक परखा दिये हैं। चेतन-को अजर, अमर, अविनाशी और देह सम्बन्ध से सबका जानने वाला दर्शाया ॥ १ ॥ और ऐ भाई ! जड़ तत्वों में गुण, धर्म, क्रिया, शक्ति, मेल तथा आकार स्वाभाविक हैं। तत्त्वों के असंख्य परमाणुओं में तथा पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, तारादि में क्रियायें होती रहती हैं ॥ २ ॥ चेतन जीव कारण, कार्य से रहित है, सदैव ज्ञान स्वरूप है। जीव और जड़ का सम्बन्ध प्रवाह रूप अनादि है, इसी से जीव के पल्ले बहुत बन्धन दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥ गुरुदेव ने स्वरूपबोध देकर उक्त बन्धनों को नष्ट कर दिया। पंच विषयों की आसक्ति ही सब प्रकार से दुःखदायी है। इस आसक्ति के निवृत्ति के लिये गुरुदेव ने वैराग्य निश्चय कराया ॥ ४ ॥ गुरुदेव ने स्वस्वरूप की स्थिति के लिये अनेक युक्तियाँ बतायीं। उपर्युक्त समर्थ सरकार पारखी गुरुदेव का उपकार जान कर उनके चरण कमलों में यह दास सिर झुका रहा है ॥५॥

व्याख्याः— इस भारतीय नभ-मण्डल के अनेक ऋषि-मुनि, संत-महात्माओं के बीच में संत सम्राट सद्गुरु कबीर जाज्वल्यमान मार्तण्ड के रूप में उदित हुए। आपने समस्त अज्ञान एवं अंधविश्वास का विनाश करके शुद्ध पारखज्ञान का प्रकाश किया। आपकी परम्परा के पारखी-सन्तों-द्वारा वह पारख-बोध आज भी जिज्ञासुओं को मिलता है। पारखज्ञान का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार जड़ तत्त्व हैं, आकाश शून्य है। इनसे पृथक अविनाशी अगणित चेतन जीव हैं, जो कारण-कार्य अंश-अंशी तथा व्याप्य-व्यापक भाव-रहित स्वतः नित्य हैं। पृथ्वी आदि चार जड़ तत्त्वों में धर्म, गुण, क्रिया, शक्ति, मेल, आकार—ये छः भेद अनादि स्वभावसिद्ध हैं। इन्हीं छः भेदों के कारण जड़ तत्त्वों से जड़ात्मक सृष्टि (उत्पत्ति-विनाश) प्रवाह रूप नित्य बनी रहती है। इधर जीवों के कर्म संस्कार-वश मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि—इन चारों खानियों में जीव का गमनागमन लगा रहता है। जड़-चेतनमय यह जगत् प्रवाह रूप अनादि और अनंत है। जड़-चेतन के अतिरिक्त इसका कोई कारण-कर्त्ता नहीं। स्वरूपभूल तथा पंच विषयों की आसक्ति-वश बन्धन प्रवाह रूप अनादि है। पंच विषयासक्ति का अभाव करके स्वरूपज्ञान में स्थित होने से जीव का बन्धन सदैव के लिये समाप्त हो जाता है। इसके लिये मुख्य रूप से गुरु-भक्ति, बोध तथा वैराग्य की आवश्यकता है। (सिद्धांत का भेद अधिक समझने के लिये 'सिद्धान्त निर्णय' प्रकरण देखिये)।

साधकों के लिये ग्यारह बातें

१. सद्गुरुदेव दया करके स्वरूप-बोध दे दिये अब मुमुक्षुओं को चाहिये कि वह अपने ऊपर स्वयं कृपा करे। २. वाम-वंचक-प्रपंचासक्त के संग-राग त्यागकर विवेकी संत-गुरु के सत्संग-द्वारा मनोनाश के लिये साधन में जुटे ३. अपवित्र, क्षणभंगुर, जड़ शरीर के राग-मद का त्याग करे।

४. मानसिक, जन्मादिक, देहोपाधिक दुःखों की कठिन फाँसी अपने गले में लगी हुई समझ कर बाह्य सारी क्रियाओं को भूल कर अपने कल्याण-कृत कार्यों में लवलीन रहे। ५. अपने मन की कुचालों पर विशेष कड़ाई रखे। ६. यथासम्भव निःसंग, एकान्त, वाक्य-संयम रख कर जड़ा-ध्यास तोड़े। ७. मनोवृत्ति रूपी जल, विषय रूपी ऊषर में बह रहा है, उसे स्वरूप-स्थिति रूपी खेती में सुरक्षित करके लावे ८. परम सावधानी एवं वैराग्य-अभ्यास-द्वारा देहाध्यास का सर्वथा अभाव करता रहे। ९. अपने कल्याण हेतु निर्मानता, भक्ति की परम आवश्यकता जान कर उन्हें सहर्ष धारण करे। १०. यत्न पूर्वक भोग-तृष्णा[1] का सर्वथा नाश कर संतोष की प्राप्ति करे। ११. यह भली-भाँति स्मरण रखे कि इस विनाशी संसार में कुछ सार नहीं है एक दिन अपमान, निन्दा, दुःख, विपत्ति, रोग, वृद्धावस्था, मरण अवश्य आते हैं। अतएव मुक्ति-प्राप्ति ही सार जानकर उसी कर्तव्य में कटिबद्ध रहे।

---

१ कवित्त :—

जगत के भोग माँहि क्षण सुख शांति नाहिं,
और और हाय हाय माहि दिन जायजू।
कई विद्या पढ़ि लिये और को पढ़न चित्त,
कई नारि भोगि भोगि और ललचायजू।
देह के सँवारने में रात दिन जात चलो,
तबहूँ न मन अनुकूल ठाट भायजू।
जौन भोग यौवन की थीरता चहत सब,
सोई देह भोग क्षण बदलि विलायजू॥ १॥
एक राज पास रह्यो और राज चाहियत,
और राज पाइ गयो और को चहतु है।
पंच विषय भोगन में इन्द्रिय शिथिल होत,
और और भोगन को चित्तहूँ कहतु है।
राजा वो रईश पढ़ अपढ़ युवक वृद्ध,
नर नारि भोग हित दुख में दहतु हैं।
जहाँ तक देखो सब दुख को पसार अहै,
दुख से तो पार एक सन्त ही रहतु हैं॥ २॥

चौपाई—

वाणी प्रथम सुधारन चहिये। राग द्वेष मन मोद न कहिये॥
निर्विवाद प्रिय थोड़े बोलै। समय न खोवै जानि अमोलै॥
जहँ तक बने यकांत रहीजै। जन समाज तजि निज पद लीजै॥
मुख्य तितिक्षा मान कु त्यागै। लखि अपमान कबहुँ नहिं माखै॥
इन्द्री मन रस कबहुँ न लेवे। मनोराज तजि निज पद सेवे॥
भ्रम तन जगत् दृश्य सब देखै। भरम दृष्टि करि सुख नहिं लेखै॥
पाठ पठन सद्ग्रन्थ करीजै। सत्संगत में चित अति दीजै॥
दृढ़ वैराग्यवान की संगति। तब पारख की लागै रंगति॥
ओछी संगत मूलहुँ जाई। बृथा, समय अनमोल गँवाई॥
गुरु की भक्ति अमल सुख राशी। स्थितिप्रद अज्ञान विनाशी॥
कपट त्यागि भक्ति में प्रेमा। हृदय धारि यह दृढ़ व्रत नेमा॥

सवैया

युक्ति अनेक रच्यो गुण मंदिर पारख कोष बताय रहे हैं
अज्ञ को तज्ञ करैं क्षण में प्रभु रंक को भूप बनाय रहे हैं
मोह महा रजनी उर में तहँ ज्ञान को दीप जलाय रहे हैं
है उपकार अपार महा जन आपन जानि जगाय रहे हैं१

टीका:— सद्गुणधाम सद्गुरुदेव ने कल्याण की अनेक युक्तियाँ रची हैं तथा मुमुक्षुओं को पारख-ज्ञान का खजाना बता रहे हैं। गुरुदेव क्षण ही में अज्ञानी को ज्ञानी तथा दरिद्र को राजा बनाते हैं। मोह की महान अँधियारी हृदय में छायी थी, वहाँ पर गुरुदेव ने ज्ञान-दीपक जला दिया। अपना सजाति जानकर हम सबको जगाने वाले हे गुरुदेव! आपका उपकार हम जीवों पर अनन्त है॥१॥

व्याख्या:— संत-गुरुजन अपने मन-इन्द्रियों को साधना में तपा कर स्वरूपस्थिति का अनुभव प्राप्त करते हैं। मन-इन्द्रियों को जीतने की युक्तियों को तथा अनुभव को उपदेश या ग्रंथों में वे हमें बताकर हमारा कल्याण-मार्ग सरल कर देते हैं। जो श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनके

उपदेशों तथा सद्ग्रन्थों में अपना मन लगाता है, वह शीघ्र ही अज्ञानी से ज्ञानी हो जाता है और स्वरूपस्थिति प्राप्त करके उसकी विषय-तृष्णा की दरिद्रता समाप्त हो जाती है और वह स्थिति-मग्न सम्राट हो जाता है। संत-गुरुजन ही जिज्ञासुओं के हृदय में ज्ञान-ज्योति जलानेवाले हैं। वे अत्यन्त निष्काम, निःस्वार्थ होते हैं। अपना सजाति प्रिय-बन्धु जानकर जीवों को चेताते हैं। सच है :—

सन्त बड़े परमार्थी, घन ज्यों बरसे आय।
तपन बुझावै और की, अपनो पारस लाय॥
(सद्गुरु कबीर)

सन्त मही विचरत यहि हेता। जड़ जीवन कहँ करहिं सचेता॥
सन्त सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असन्त अभागी॥
(महाराज गोस्वामी जी)

गुरुदेव बहुत कुछ देते हैं, हम अंधे समझ नहीं पाते

दृष्टान्तः—एक अंधा नित्य बीच बाजार में बैठकर पैसा, सीधादि माँगा करता। एक दिन वहाँ का राजा आया और उस अंधे का दुःख देखकर उसके बिछाये हुए कपड़े पर एक हीरा डाल दिया। जब राजा चला गया तो अंधा हीरा को टटोल कर बड़ा दुखी हुआ और कहने लगा कि मुझे आशा थी आज राजा आयेंगे तो एक-दो रुपये अवश्य देंगे। किन्तु राजा ने एक काँच की गोली देकर मुझ अंधे से हँसी की। एक सज्जन ने देखकर कहा— सूरदास! राजा ने काँच देकर हँसी नहीं की; बल्कि हीरा दिया है, जो बहुमूल्य है। अंधे को विश्वास नहीं हुआ। जब सज्जन ने उस हीरा को जौहरी से भजाकर बहुत से रुपये अंधे को लाकर दिया, तब विश्वास हुआ।

सिद्धान्तः— अंधा यह जीव है, गुरुदेव-राजा स्वरूपज्ञान रूपी हीरा इस जीव को दे दिये हैं; किन्तु यह अन्धा जीव उसका कुछ मूल्य न समझ कर स्वरूपबोध और गुरु का निरादर करता है। अच्छे वैराग्यवान् संत-

सत्संग में जब गुरुबोध की महत्ता इस जीव के चित्त में भली-भाँति दृढ़ कर देते हैं, तब इसे स्वरूप-बोध का मूल्य और गुरु का उपकार जानने में आता है।

कवित्त

गुरु के प्रताप से अखण्ड धन पाइ गयों,
कामना न कंचन वो कामिनी कि शेष है।
तृष्णा प्रबल रोज रोज को विनाश भयो,
शांति पद मिलि गयो दीन से नरेश है॥
जौन भोग हेतु बार बार दीन हीन भयों,
तौन भोग हेतु अब आश नहिं लेश है।
यह सब श्री गुरुदेव की विभूति अहै,
गुरुपद निजपद पाय सब खेस है॥ १॥

पारख रूप स्वरूप स्वयं गुरु, दीन उद्धार कबीर कबीरम्
राग नशाय विराग दृढ़ाय सो जीव उबार कबीर कबीरम्
कुमार्ग हटाय सुमार्ग चलाय, सु जन्म सुधार कबीर कबीरम्
पारखि सन्त सबै शिरमौर, सो सूरत ध्यान कबीर कबीरम् २

टीका :—ज्ञानस्वरूप, स्वतः स्वरूप में स्थित, आर्त-मुमुक्षुओं के उद्धारक, काया-मन की आसक्ति को जीते हुए कायावीर आप सद्गुरु कबीर साहेब हैं। आप संसार, शरीर एवं पंच विषयों के मोह मिटा कर उनसे वैराग्य दृढ़ाने वाले हैं। मनुष्यों को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने वाले तथा उनका जन्म सुधार देने वाले हैं। विकार-विहीन समस्त विवेकी संत सिर-मुकुट हैं, और उन्हें सद्गुरु कबीर के तुल्य मानकर यह दास उनका ध्यान कर रहा है॥ २॥

व्याख्या:-चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ, छल, जबर्दस्ती, ईर्ष्या, क्रोधादि—ये ही कुपन्थ हैं। गुरुदेव जीवों को इनसे रहित करते हैं, तथा दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि सद्गुण ही सुपन्थ हैं, आप इनसे जीवों को संलग्न करते हैं। ऐसे जीव के सच्चे उद्धारक सद्गुरु ही परम सेवनीय हैं।

कवित्त २६

हंस जीव चाल तजि भ्रमत रहत नित,
पाये निज ठौर बिन शांति नहिं आय है।
शुद्ध ज्ञान रूप जीव अज्ञ वश नेह करि,
निशि दिन खानि और बानि भरमाय है।
और और कहे जाय देह सुख मानि मानि,
गुरु बिन ज्ञान सुख नाहिं सरसाय है।
धरि धरि भेषहूँ अनेकन भ्रमत जग,
योनिन चौरासी माहिं दुक्ख बहुपाय है ॥१॥

टीका:—मनुष्य नीर-क्षीर-विवेक रूप हंस-आचरण को त्याग कर विषयों के वश में पड़ा सदैव भ्रमता रहता है। अपना निश्चित स्थान—स्वरूप-स्थिति को प्राप्त किये बिना उसे स्थायी शांति नहीं मिल सकती। जीव शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, वह अपने आपकी भूल-वश ही बाह्य प्राणी-पदार्थ, शरीर-संसार तथा पंच विषयों में आसक्ति करके खानी-वाणी जाल में रात-दिन भटक रहा है। इन्द्रिय-विषयों में सुख मान-मानकर जीव अधिक भोगों की तृष्णा में पड़ा है। सद्गुरु के ज्ञान बिना जीव को निर्विषय स्वरूप-स्थितिजनक सुख नहीं जँचता। परिणामतः यह जीव अनेक शरीर रूप वेषों को बारम्बार धारण करके संसार में भटकता रहता है और चारों खानियों में अपार दुःख पाता है।

व्याख्या:—जड़-चेतन का भिन्न विवेक करना, और जड़ वर्ग की आसक्ति सर्वथा त्याग कर अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित होना; तथा स्थिति-विरोधी काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेषादि का त्याग करके स्थिति-साधक दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि धारण करना—हंस-चाल या विवेक-चाल है। परन्तु इसे त्याग कर जीव विषयों की तृष्णा में भटकता है।

कुण्डलिया

और और की चाह वश सबहिं भँवर में बूड़ि ॥
सबहिं भँवर में बूड़ि नेक नहिं स्थिति पावें ।
कछुक भोग जब मिलै अधिक तृष्णा बढ़ि जावै ॥
खाऊँ खाऊँ करै सबहिं के मन में इच्छा ।
संत विवेकी बचे कीन्ह जो त्यागि परीक्षा ॥
राजा परजा पढ़ अपढ़ देखा जग में ढूढ़ि ।
और और की चाह वश सबहिं भँवर में बूड़ि ॥

पद

विषय हंता व तन हंता, यही बन्धन करारी है ।
इसे ही त्याग दो दिल से, न फिर बन्धन तुम्हारी है ॥ टेक ॥
अनादी से भटकता तू, इसी विषयों के उपवन में ।
कहीं सुख शान्ति न पाया, प्रबल तृष्णा हहारी है ॥ १ ॥
कहीं राजा हुआ दुखिया, कहीं विद्वान प्रोफेसर ।
क्षणिक तन छूटता जाता, विषय वश फिर बनारी है ॥ २ ॥
मनुष तन मोक्ष की भूमी, भला ! पाकर बिगारो क्यों ।
विषय नर तन क फल नाहीं, ये नर तन मोक्षकारी है ॥ ३ ॥
करो 'अभिलाष' गुरुपद में, सुखाशा बन्ध उर तोड़ो ।
प्रबल पारख व दुखदृष्टी, यही अभ्यास जारी है ॥ ४ ॥

विनय—सोरठा

कृपा अयन गुरु आप, कृपा करो मम दीन पर
लगै न इच्छा ताप, तव पारख पद बोध बल १

टीका:—हे सद्गुरुदेव ! आप दया के मन्दिर हैं, अतः मेरे दीन के ऊपर दया कीजिये । आपके पारख-स्वरूप-बोध की शक्ति से हमारे हृदय में विषय-इच्छा की जलन न होने पावे, यही माँगना है ।

भक्ति मुक्ति सुख दानि, भणित जाहिं महिमा अमित
शिशु सेवक मोहि जानि, देहु दया करि दया निधि २

टीका:—आप की भक्ति मुक्ति रूपी सुख को देने वाली है, जिस भक्ति का महत्त्व सन्त-सद्ग्रन्थों-द्वारा अपार रूप से वर्णन किया गया है। हे दया के भण्डार सद्गुरुदेव ! मुझे अबोध शिशु एवं अपना एक दीन सेवक जान कर दयादृष्टि पूर्वक उस मुक्ति-सुखदायी भक्ति को दे दीजिये ॥ २ ॥

तव पद में आरूढ़, वीर भाव जग राग तजि
जानि जगत दुख गूढ़, सदा रहौं मन फेरि के ३

टीका:—विषय-वासनाओं में जगत् के अपार दुःख छिपे हैं—ऐसा जान कर और उससे मन फेर कर तथा जगत्-राग छोड़ कर और वीर-भाव-पूर्वक आपके चरण-कमलों की भक्ति तथा स्वरूपस्थिति में जीवन पर्यन्त आरूढ़ रहूँ, यही शुभ कामना है ॥ ३ ॥

व्याख्या :—विषय-भोग ऊपर से बड़े सुहावने लगते हैं; किन्तु इसके भीतर मानसिक उलझनें, काम, क्रोध, मद, मत्सरादि तथा शारीरिक क्षीणता, शरीर-मन की दुर्बलता, असंतोष, तृष्णा, मिलन-वियोग-जनित पीड़ा और जन्म, मरण, गर्भवास, बाल्य, युवा, वृद्ध, नाना योनि-कृत देहोपाधिक अनन्त कष्ट भरे हैं; अतएव विषयों को विषवत् त्याग कर मुमुक्षु को गुरुभक्ति तथा स्वरूप-स्थिति में ही सदैव रत रहना चाहिये।

वन्दना

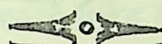
तुम सर्वोत्तम निज स्थिति के दातारा।
गाऊँ मैं सुयश तुम्हारा ॥ टेक ॥
कितने भूले अरु भटके थे, कामादिक विष में लटके थे।
विष को ही अमृत मान स्वतः पद हारा ॥ गाऊँ० ॥ १ ॥
मैं लथ पथ पड़ा जगत भव में, गुरुदेव कृपा करि इक पल में।
प्रभु कर्णधार हो करके पार उतारा ॥ गाऊँ० ॥ २ ॥
प्रभु ! मन की चाल लखा करके, निज पर का भेद बता करके।
अन्तर वृती करने को दिया इशारा ॥ गाऊँ० ॥ ३ ॥

किस मुख से मैं गुण तव गाऊँ, गाऊँ तो नहिं मैं कह पाऊँ ।
है अल्प बुद्धि मति थोर आप गुण भारा ॥ गाऊँ० ॥ ४ ॥

जय जय गुरु बोधक देव गुरू, हो धन्य धन्य हो धन्य प्रभू ।
मुझ ऐसे पापी को भी लिया उबारा ॥ गाऊँ० ॥ ५ ॥

जो ऐसे गुरुपद को भूलै, सो चौरासी भूला भूलै ।
ऐसे सद्गुरु को भूलि के किमि निस्तारा ॥ गाऊँ० ॥ ६ ॥

तुम पतितों के उद्धारक हो, तुम भक्त जनों के तारक हो ।
तुम एक मात्र 'अभिलाष' के अहो सहारा ॥ गाऊँ० ॥ ७ ॥





पद

मन ! करु प्रेम गुरु पद कंज ॥ टेक ॥

दिव्य दृग हिय खुलत निर्मल, पद पराग सु अंज ॥ १ ॥

नित्य निज को बोध होवत, अखिल कलिमल गंज ॥ २ ॥

साधु रहस सुचारु सम्यक्, लहत मानस मंज ॥ ३ ॥

सेइ शांति अनीक सद्गुरु, खेद मन कृत खंज ॥ ४ ॥

मोक्ष पद 'अभिलाष' अवगत, रहँट मर्णज भंज ॥ ५ ॥

प्रथम पाठ समाप्त



द्वितीय पाठ प्रारम्भ

मङ्गलाचरण छन्द–१

सद्गुरु श्री कबीर प्रभु, सन्तत स्वपारख धाम हो
त्रयताप मोचन शांतिप्रद क्रोधादि गत मद काम हो
तम के हरण दिनकर अहो मन के दमन मृगराज हो
रुज के शमन भेषज अहो अघपुञ्ज नाशक गाज हो १

टीका :—हे सद्गुरु श्री कबीर साहेब ! आप निरन्तर स्वरूप-ज्ञान-धाम के निवासी हैं; त्रयताप के नाशक, अनन्त शान्ति के दाता तथा काम, क्रोध, मदादि से विनिर्मुक्त हैं। आप अज्ञान-अंधकार दूर करने में सूर्य, मन-हस्ती को विदीर्ण करने में सिंह, भव-व्याधि नष्ट करने में उत्तम औषधि तथा पाप-समूह को विध्वंस करने में गाज (बिजली) हैं॥ १॥

व्याख्या :—पूर्व में हुए काशी-वासी तथा बीजक के रचयिता सद्गुरु कबीर साहेब विदेहमुक्त स्वरूप हैं, वे नित्य स्वरूप में स्थित हैं। आज वे सदेह न होने से न वे हमारी पुकार सुन सकते हैं और न कोई सहायता कर सकते हैं। परन्तु उनके निर्णय-वचन, उनके प्रतिनिधि रूप में आज भी विद्यमान हैं जिनको समझकर आचरण करने से अवश्य दैहिक, दैविक, भौतिक ताप के कारणस्वरूप मन, वाणी, शरीर के दुराचार दूर हो सकते हैं, कामादि नष्ट हो सकते हैं और अचल शांति मिल सकती है। उनके वचन अज्ञान के नाशक हैं। उनके उपदेश किञ्चित भी भ्रांति, अंध-विश्वास, गतानुगतिका तथा अविवेक-तम को नहीं रखते। उनकी वाणियों में वह बल है कि साधक उनका आचरण करके मन पर विजयी हो सकता है। उनका पारख-ज्ञान मानसिक, जन्मादिक-व्याधियों को नाश करने वाला तथा हर प्रकार के पापों से निवृत्ति करने वाला है।

वास्तव में जो सद्गुरु कबीर के स्वरूपज्ञान को धारण करके, मन-इन्द्रियों को पूर्ण जीत कर, स्वस्वरूप चेतन में निरन्तर स्थित हैं, वे संत ही प्रत्यक्ष कबीर साहेब रूप या कबीर साहेब हैं। उन्हीं की प्रत्यक्ष वन्दना है। आदि सद्गुरु कबीर की केवल उपकार-स्मृति है।

सत शील धीर विचार दाया शान्ति के भण्डार हो
वैराग्य समता दक्षता सद्ज्ञान के आगार हो
द्रौवल्य हरु करुणानिधे हो वीर निज पद में लहूँ
तव चरण पंकज यान गहि भव सिन्धु में अब ना बहूँ २

टीका :—हे सद्गुरु! आप सत्य, शील, धैर्य, विचार, दया, शान्ति आदि के भण्डार हैं; वैराग्य, समता, व्यवहार-परमार्थ की कुशलता तथा स्वरूपज्ञान के भवन हैं। हे करुणानिधे! मेरी विषयासक्ति जनित दुर्बलता, कायरता को हरण कर लीजिये, जिससे मैं साधना में वीर-धीर बनकर अपनी स्वस्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लूँ। हे गुरुदेव! आपके चरण-कमल रूपी जहाज का आधार लेकर अब विकराल संसार-सागर से बच जाऊँ॥ २॥

व्याख्या :—काम, क्रोध और राग-द्वेषादि में संसार के सारे जीव जलते हैं—"सब जग जरते देखिया अपनी-अपनी आग।" उन्हीं की शरण में लगकर इससे छुटकारा मिल सकता है जो उपर्युक्त आग से रहित हैं; दया, शील, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, समता, शांति आदि सद्गुणों से सम्पन्न, शांति-सागर हैं; अतः निर्मल संत-गुरु की शरण ही उत्तप्त, विदग्ध एवं पीड़ित मानव को शीतल कर सकती है, और संसार-सागर से मुक्ति दिला सकती है।

सन्त बड़े परमार्थी, घन ज्यों बरसै आय।
तपन बुझावै और की, अपनो पारस लाय॥
(गुरु कबीर)

सवैया

मोह कि धार बहे झकझोर, पुरानि है नाव डगामग डोलै ॥
वायु चले विष वायु क जोर, हिलोर उठै ममता जल रोलै ॥
आइ गयो गुरुदेव सुजान, स्वज्ञान को यान दियो पट खोलै ।
लाय बिठाय लियो निज अंक, निशंक कियो गुरु धन्य अमोलै ॥

जय जय पतितपावन गुरू अब पतित पावन कीजिये
मर्णज दुसह दुख व्याधि में भेषज स्व निज पद दीजिये
जय भक्तवत्सल सद्गुरू तव मुहुर्मुहु परणाम हो
मन वचन काय स्व "रामसूरत" अर्पता निशियाम हो ३

टीका:— हे पतित-पावन गुरुदेव ! आपकी जय हो, अब मुझ पतित को भी निर्मल कर दीजिये । कठिन दुःखस्वरूप जन्म-मरण-व्याधि के विनाशार्थ स्वरूपज्ञान-औषधि देने की कृपा करें । हे भक्तों पर कृपा करनेवाले सदगुरु ! आपकी जय हो, आपके चरणों में बारम्बार नमस्कार है। यह दीन "रामसूरत दास" अपने मन, वचन तथा शरीर को सदैव के लिये आपके चरणों में समर्पित कर रहा है ॥३॥

व्याख्या:— जो सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर परम शान्ति के इच्छुक हों, वे विवेक-वैराग्य-सम्पन्न सच्चे सद्गुरु की खोज करके और समस्त अहंकार को त्याग कर अपने को उनकी शरणों में समर्पित कर दें; क्योंकि मुमुक्षु को वैराग्यवान् सद्गुरु की शरण त्यागकर अन्य आधार नहीं है ।

सवैया

आप अधार को छोड़ि के नाथ, न दूसर और अधार हमारे ।
आप को त्यागि के जाऊँ भला कित, हे दुखनाशक प्राण पियारे ।
लेहु लगा शरणागत साहेब, दास खड़ा अब द्वार पुकारे ।
पूर करो अभिलाष हमार, पुकारत देर भई बहु बारे ॥ १ ॥

वन्दना

दर्शन दे दो हे गुरुदेव ! हम सबके कर दो दुख छेव ॥ टेक ॥
काम क्रोध मद लोभ सताते, मोह भँवर में डूबे जाते ।
ज्ञान यान पै मुझे बिठा के, पार करो भवसागर खेव ॥ १ ॥
अगम अगाध मनोमय धारा, अहंकार घड़ियाल करारा ।
मगरमच्छ ममता गृह दारा, तिनसे जान बचा मम लेव ॥ २ ॥
कामवासना की अति आँधी अंधकार आसक्ति अनादी ।
नहिं पतवार नहीं है माझी, नाव पुरानी धार समेव ॥ ३ ॥
विषय देह अध्यास नशा दो, पाप बासना दूर भगा दो ।
आवागमन क फंद छुड़ा दो, यह अभिलाष महान पुरेव ॥ ४ ॥

मान-मर्दन प्रसंग—१

शब्द—२

हमारे मन मान हृदय न धरो ॥ टेक ॥
मान बड़ाई जबहीं आवै, शुभ गुण नाश करो
अहंकार की उत्पति होवे, हिय द्वेषाग्नि जरो १
पुनः लोभ धन संग्रह करिके, भय चिन्तादि भरो
समय अमूल्य वृथा में खोवै, भक्ति ज्ञान बिसरो २
करि करि श्रम विद्या पढ़ि गावत, पुनः विवाद करो
साधु गुरू पद प्रेम न लागै, सत्संगति से मन पछरो ३
विरति विवेक भक्ति ना भावै, मन कृत रोग भरो
निशि दिन अपनी चहत बड़ाई, देखि अमान गिरो ४
मान बड़ाई पंचविषय वश, सब जग भार धरो
एक अधार तुम्हार गुरूवर, दिल से मान हरो ५

टीकाः—(विवेकवान अपने मन को समझाते हैं:—)मेरे मन ! हृदय में मान न धारण करो ॥टेक॥ जब हृदय में मान-बड़ाई की भावना आती है,

तब शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं। मन को मान-बड़ाई से पोषते-पोषते मद की उत्पत्ति होती है, दूसरे की मान-बड़ाई न देख सकने के कारण उस मदी व्यक्ति का हृदय द्वेष की अग्नि में सदैव जलता रहता है॥१॥ (मदी मनुष्य ऐश्वर्य का इच्छुक होता है, ऐश्वर्य के लिये अधिक धन की आवश्यकता है, अतः) वह लोभ-वश येन-केन-प्रकारेण अधिक धन का संग्रह करता है, और किसी द्वारा उसके हर जाने या उसके उपयोग तथा सुरक्षा के लिये उसके मन में भय तथा चितायें भर जाती हैं। वह अनमोल मानव जन्म के कल्याणदायी सुनहले अवसर को व्यर्थ प्रपंचों में खोता है, ज्ञान-भक्ति तो उसके पास पटकते नहीं, यदि प्रथम के रहे हों, तो भूल जाते हैं॥२॥ अहंकारी मनुष्य जो परिश्रम पूर्वक विद्या पढ़ता है, उसका भी फल होता है डींगे हाँकना तथा वाक्-युद्ध करना। ऐसे का प्रेम संत-गुरु के चरणों में नहीं लगता, उसका मन-सत्संग से दूर हट जाता है ॥ ३ ॥ वैराग्य, विवेक, भक्ति उसे अच्छे नहीं लगते, वह मन के रोगों—काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि से भर जाता है। वह रात-दिन अपनी मान-बड़ाई चाहता है, अपना किञ्चित् अपमान देखकर मुख के बल गिर पड़ता है ॥ ४ ॥ मान-बड़ाई और पाँचों विषयों के वश होकर मनुष्य सारे संसार का भार सिर पर रख लेता है। हे गुरुदेव ! आपका ही एक आश्रय है, हृदय से मान हरण कर लो ॥ ५ ॥

व्याख्याः—विद्या, जाति, धन, पद, अधिकार पाकर अपने में पूज्यता एवं श्रेष्ठता का लक्ष्य होना मान है। मानी मनुष्य सोचता है, "मैं धनवान या विद्वान हूँ, उच्च वर्ण का हूँ, ऊँची गद्दीधारी हूँ महंथ हूँ, वैराग्यवान् हूँ, ज्ञानी हूँ, लोगों को चाहिये मेरे को बड़ा मानें, मेरी पूजा-सेवा करें।" मानी मनुष्य को हर समय यही बोध होता है कि "लोग हमारी योग्यता नहीं समझते, हमारा पूरा आदर नही करते।" उसे दूसरे द्वारा मान-बड़ाई पाने की भूख हर-क्षण सताती रहती है। परन्तु मान-बड़ाई की भावना हृदय में घर कर जाने से मनुष्य के हृदय में रहे हुए सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

कवित्त

दया क्षमा धीर वो विचार ज्ञान भक्ति होय,
बिरति विवेक सब सद्गुण धाम हैं।

पर जैसे अभिमान उर में प्रकाश भयो,
तैसे सब ज्ञान गुण क्षण में विलान है ॥
अभिमान राखि कर सुख जो चहत प्राणि,
सर्प काहि गहि सुख चाहत नादान है ।
अभिमान दुःख को स्वरूप जान मतिमान,
'अभिलाष' दीन बनि रहिये अमान है ॥ १ ॥

मान-बड़ाई जब हृदय में विशेष हो जाती है, तब मनुष्य को मद या अहंकार घेरता है । 'मैं श्रेष्ठ हूँ' यह मान है । 'मेरे समान कौन है' यह मद या अहंकार है । जिसे अपने में बड़प्पन का विशेष भाव है, वह मदी हो जाता है, और वह दूसरे की उत्कर्षता, दूसरे की मान-बड़ाई नहीं देख पाता । वह रात-दिन, ईर्ष्या-द्वेष की आग में दहकता रहता है ।

मनुष्य को जो सांसारिक वस्तुयें मिली हैं, उनका उसे अहंकार नहीं करना चाहिये । क्योंकिः—

आपने को धन बल रूप यौवन ज्ञान विद्या प्राप्त हैं ।
क्या दूसरे को दे रहा, वह आपही खुद आप्त है ॥
निज रोग की औषध करे फिर क्या करे अभिमान है ।
नश्वर विभव क्षण में छूटे रे जीव ! चेत अमान है ॥

जो पुरुष विनम्र, विवेकी एवं आचरणनिष्ठ हैं, उनको विद्या उसी प्रकार शोभती है जैसे सोने में सुगन्ध । परन्तु जो अहंकारी है उसकी विद्या ही उसके लिये जहर बन जाती है ।

दृष्टांतः— एक विद्वान कई भाषाओं का ज्ञाता था । वह अपने सिर को एक ताँबे की पट्टी से बाँध रखता था । किसी के पूछने पर वह यही बतलाता था कि अखिल विश्व में मैं ही एक अद्वितीय विद्वान हूँ । अतः हमारे मस्तिष्क में अनुभव या विद्या की इतनी बड़ी स्रोत-धारा है कि यदि हम इस ताँबे की पट्टी से सिर न बाँधे रहें, तो हमारा सिर ही फट जाय । अहो ! इस प्रकार विद्या-वाणी का व्यर्थ अभिमान करके मनुष्य फूला-फूला फिरता है । कहा हैः—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीड़नाय ।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥
(गुणरत्नम् ७)

अर्थात्:— दुष्टों की विद्या विवाद के लिये, धन मद के लिये तथा शक्ति पराये को पीड़ा देने के लिये हैं; और सज्जनों के इसके विपरीत क्रमशः ज्ञान, दान और पराये की सेवा के लिये हैं।

अप्पयदीक्षित कहते हैं:—

नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः ।
ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वज्ञानज्ञानिनो विरलाः ॥

अर्थात्:— नीतिशास्त्र के पण्डित, ज्योतिषी, चतुर्वेदी, सर्वशास्त्रज्ञाता और ब्रह्मज्ञानी बहुत मिलते हैं; परन्तु अपने अज्ञान को समझने वाले कोई विरले ही मिलते हैं ।

युधिष्ठिर जी महाभारत में कहते हैं:—

पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

अर्थात्:—पढ़ने, पढ़ाने तथा शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं; जो आचरण सम्पन्न है, वही पण्डित है ।

एक विवेचन

नौकरी-चाकरी की प्राप्ति तो अवश्य कक्षा पास करने की अपेक्षा रखती है, परन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में भी जिनको यह भ्रम है कि "जो बहुत पढ़ा-लिखा न होगा; अर्थात् संस्कृतादि कई भाषायें न जानता होगा, वह सत्य का ज्ञानी नहीं हो सकता या उसका तथा उसके द्वारा अन्य का उद्धार नहीं हो सकता ।" बहुत पढ़ने से शास्त्रों की जानकारी हो जाती है न कि यथार्थ ज्ञान तथा कल्याण हो जाता है। यदि बहुत पढ़ने से यथार्थ ज्ञान माने तो कपिल, जैमिनि, कणाद, गौतम, पंतजलि, व्यास, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य निम्बार्काचार्य, दयानन्द तथा ईसाई, यहूदी, इस्लामी, बौद्ध, जैन मत के एक-

से-एक धुरंधर विद्वान जन एक-को-एक भूला क्यों बतलाते हैं ! सब विद्वानों का एक मत क्यों नहीं ! वास्तव में ईश्वर, अवतार, ईश्वरीय-वाणी—शास्त्रों का अन्धप्रमाण, पैगम्बर, सम्प्रदाय आदि का पक्ष त्याग कर विनम्र विवेक किये बिना सत्य का मोती नहीं मिल सकता। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों को भ्रम की धारा में ही बहते देखा जा रहा है।

तपोनिष्ठ आचरणवान् संतों से ही समाज का कल्याण होगा, अक्षरी-विद्या के ज्ञाता मात्र से नहीं। केवल किसी भाषा की जानकारी कल्याणप्रद नहीं हो सकती, परन्तु केवल सदाचार कल्याणकारी हो सकता है। यहाँ पर किसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का विरोध नहीं किया जाता; किन्तु उसके प्रमाद को छोड़ने को कहा जाता है। जितनी भाषायें हैं; सब काल्पनिक रूढ़ियाँ हैं; तथा जितनी लिपियाँ हैं, सब सांकेतिक चिन्ह हैं। इनका उपयोग वस्तुओं को जानने-जनाने के लिये है। अतः इनका मद त्यागना आवश्यक है।

स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं:—

श्लोक

वीणाया रूप सौंदर्यं तन्त्री वादन सौष्ठवम्।
प्रजारञ्जन मात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥५९॥
वाग्वैखरी शब्दक्षरी शास्त्र व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥
अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्रा धीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्रा धीतिस्तु निष्फला ॥६१॥
शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्व ज्ञातत्त्वमात्मनः ॥६२॥

अर्थः— जिस प्रकार वाणी का रूप लावण्य तथा तन्त्री को बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का ही कारण होते हैं, उससे कुछ साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती ॥५९॥ इसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता

और विद्वत्ता भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं ॥६०॥ परम तत्व को यदि न जाना तो शास्त्र-अध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है, और यदि परमतत्त्व को जान लिया तो भी शास्त्र-अध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है ॥६१॥ शब्द-जाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महान वन है, इसलिये किन्हीं तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्नपूर्वक आत्मतत्त्व को जानना चाहिये ॥६२॥ सारांश—मोक्ष साधक को साधनसत्संग ही श्रेय है, अक्षरी विद्यारण्य में भटकना नहीं।

नाशवान वस्तुओं का अभिमान करना उचित नहीं

दृष्टान्तः— ठाकुर हनुमतसेन सिंह नामक एक रईश और चूड़ाकर्ण नामक एक पंडित थे। वे दोनों बाहर टहलने निकले। एकाएक सामने एक बाग मिला। वहाँ पहुँचे तो देखा चारपाई पर एक महात्मा बैठे हैं और नीचे पृथ्वी पर भक्त मण्डली बैठी है। उसमें से एक विश्वबन्धु नामक भक्त इन दोनों व्यक्तियों के बैठने के लिये चटाई बिछवायी। ठाकुर हनुमतसेन ने कहा— भगत जी! चटाई रहने दीजिये, हम अपने लोगों के लिये चारपाई मँगवा रहे हैं। निदान नौकर-द्वारा चारपाई मँगवा कर ठाकुर और पण्डित जी बैठे और महात्मा को दण्डवत्-प्रणाम कुछ नहीं किये। ठाकुर हनुमतसेन विश्वबन्धु से बोले—भगत जी! हम सब आजकल साधुओं का नमस्कार नहीं किया करते, क्योंकि आजकल नीच जाति वाले ही विशेष साधु हो जाया करते हैं। महात्मा तो उपाधि रूप जानकर वहाँ से उठकर एकांत नदी की ओर चले गये। ठाकुर और पण्डित से उनकी बातों पर सम्बोधित करते हुए विश्वबंधु बोले—यह हम लोगों में महा अज्ञान है जो कि मिथ्या जाति, वर्ण के अभिमान-वश विवेकशील संतों से विमुख रहते हैं। समाज में उलझन न हो ऐसा विचार करके व्यवहार समयानुकूल करना तो ठीक है; किंतु विवेकी संतों से नमस्कार करने, उनके सत्संग में बैठने तथा

ज्ञान-गुण ग्रहण करने में जाति पूछने या अभिमानी बने रहने की तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आप विद्या पढ़ने, कोई हुनर सीखने जाते हैं तो मास्टर या उस्ताद से उनके वर्ण-जाति नहीं पूछते, बल्कि निर्मानता पूर्वक विद्या एवं हुनर सीख लेते हैं। सद्ज्ञान सदाचरण से विहीन सरकारी पदों में प्रतिष्ठित अफसरों से तो बिना जाति-पाँति पूछे ही उनका नमस्कार कर लिया जाता है, फिर विवेकवान सद्गुण-सम्पन्न लोक-परलोक के सुधारक ज्ञानी संतों से ही इतना विरोध ! इसी अज्ञान पर ही सद्गुरु श्री कबीर साहेब कहते हैं:—

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार।
सद्गुरु के परिचय बिना, चारों वर्ण चमार ॥बीजक॥

आप तो रामायण समय-समय से पढ़ते होंगे; भला ! इन पंक्तियों का विचार तो कीजिये। श्री रामचन्द्र जी स्वयं अपने मुख से कहते हैं:—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुण चतुराई ॥
भक्ति हीन नर सोहैं कैसे। बिन जल बारिद देखिय जैसे ॥
भक्तिहीन विरंचि किन होई। सब जीवन महँ अप्रिय सोई ॥
भक्तिवंत अति नीचहुं प्रानी। मोहिं परम प्रिय सुनु मम बानी ॥

इस कथनानुसार आप सब तो भक्ति-सत्संग त्याग कर राम के द्रोही ही बने बैठे हैं। गोस्वामी जी और भी कहते हैं:—

जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ विमुख अभागे ॥
ते सिर कटु तूमर सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला ॥

देखिये दासीपुत्र नारद जी जब अयोध्या गये तो—

देखि राम सहसा उठि धाये। करत दण्डवत् मुनि उर लाये ॥
सादर निज आसन बैठारे। जनक सुता तब चरण पखारे ॥
सोई चरणोदक भवन सिंचावा। जग पावन हरि शीश चढ़ावा ॥

पुनः राम जी नारद जी से कहते हैं—

सुन मुनि विषय निरत जे प्रानी। हम सारिखे देह अभिमानी ॥

तिन कहँ सत्संगत जब होई। करहिं कृपा जापर प्रभु सोई॥
तिन कहँ मुनि नाहिन भव आगे। जेहिं बिनु हेतु संत प्रिय लागे॥

देखिये ! अभिमान हीं जीव को दुख देता और उसका पतन करता है।

दुर्योधन अभिमाने गयऊ। पाण्डव केर मर्म नहिं पयऊ॥
छौ चकवे विति धरणि समाना। एको जीव प्रतीत न आना ॥बी०॥

पंडित चूड़ाकर्ण बोले—अभिमान किसमें नहीं होता। देखो ! यदि अभिमान न होता तो महात्मा लोगों को भी अन्य लोगों का नमस्कार करना चाहिये।

विश्वबन्धु बोले—देखिये ! गोस्वामी जी कहते हैं—"सेवक सेव्य भाव बिन, भव न तरिय उरगारि।" अर्थात् सेवक स्वामी का बर्ताव रखे बिना कोई पुरुष संसार-बन्धन से मुक्त नहीं होता। जैसे पुत्र का नमस्कार पिता नहीं करता, तो क्या यही कहा जायगा कि पिता अहंकारी है ? कदापि नहीं। अतः पद अनुकूल ही नमस्कार, दण्डवत्, बन्दगी, आशीर्वाद किये जाते हैं। परमार्थ लक्ष्य से संसार में सर्वश्रेष्ठ पद वैराग्यशील संत-महात्मा का ही है। बिन प्रतीत को ? कंचन कांता। सेवा करन योग्य को ? संता ॥ विश्राम सागर ॥ विश्वबन्धु की इतनी बात सुनकर ठाकुर मनुमतसेन सिंह और पंडित चूड़ाकर्ण बहुत लज्जित हुए और कहने लगे कि ऐसी भूल हम सब कभी न करेंगे।

विश्वबन्धु बोले:—हमारा धर्म था समझा दिये, अब जैसा करोगे, वैसा भरोगे।

दृष्टाँत:—धन, कुटुम्ब, शरीर का अभिमानी एक प्रमादी मनुष्य एक संत से अपनी बड़ाई हाँकते हुए कहने लगा—हमें किसी वस्तु की कमी नहीं है। बहुत-सी खेती होती है। बड़ी-बड़ी दूकाने खुलीं हैं। पास के शहर में हमारी ओर से कपड़े की मिल खुली है। बीसियों पुत्र-पौत्रों से घर भरा है। कई हजार मनुष्यों का निर्वाह नित्य हमारे यहाँ से चलता है। तुम्हारे ऐसे भिखमंगे साधुओं के लिये धर्मक्षेत्र खुलवाये

हैं। तुम्हारे ऐसे सैकड़ों भिखमंगे साधु नित्य भोजन पाते हैं। जिसे चाहूँ उसे अभी लुटवा लूँ।

संत बोले--मिथ्या, दुःखपूर्ण, क्षणभंगुर माया का तो इतना अहंकार करना ठीक नहीं है, इत्यादि दो चार ज्ञान की बातें कहे, किन्तु "आँधी के आगे बेना का बयार" लगे ही कहाँ ? वह तो धन, कुटुम्बादि मद में चूर हो रहा था। एक वर्ष के पश्चात् उस मदांधी मनुष्य को संत ने एक सड़क पर रोता हुआ पड़ा देखा और पूछा---आपकी यह दुःखमय दशा कैसे हो गयी ? आप तो धन, बल, कुटुम्ब से सुखी थे। वह रो-रो कर कहने लगा --बड़े-बड़े राष्ट्रों (देशों) की लड़ाई में बम-बारिस होने से मिल पर बम गिर पड़ा और मिल बिलकुल पृथ्वी में धँस कर नष्ट हो गयी। बाकी धन चोर डाकू छीन ले गये। कुछ बचा हुआ और धन था, उसको उसी आन्दोलन (हलचल) में कुटुम्बी लोग छीना-छोरी करके पता नहीं किस देश भाग गये, जीवित हैं या मर गये। मेरे शरीर में लकवा (फालिज) मार दिया है। मैं स्वयं उठ-बैठ नहीं पाता। इसी सड़क पर यह एक वस्त्र बिछाये पड़ा रहता हूँ। पथिक लोग जो अन्न-दाना दया करके मेरे कपड़े पर छोड़ देते हैं उसी से पेट पालता हूँ। ऐसा कहते-कहते वह रोने लगा। सन्त विचार करने लगे ऐसी मिथ्या माया-छाया को दो दिन के लिये पाकर मनुष्य कितना अभिमान कर बैठता है जो क्षण में रहती है और क्षण ही में नष्ट हो जाती है।

शिक्षा :--जीव का जो शुद्ध स्वरूप है, वह अविनाशी और अखण्ड है, सदा रहने वाला है। अतः अपने स्वरूप के अतिरिक्त मन, वासना, शरीर, इन्द्रिय, धन, कुटुम्ब, जाति, पाँति, मान, प्रतिष्ठा, अधिकार जहाँ तक माया का पसारा है, इन सबका अभिमान सर्वथा दूर कर देना चाहिये और धर्म, दान, नम्रता, सत्संग-द्वारा अपना कल्याण करना चाहिये, क्योंकि मृत्यु पश्चात् सब छूट जाते हैं, केवल अच्छी-बुरी कमायी ही साथ जाती है।

भजन-चेतावनी

मत अभिमान करो तन धन का, क्षण ही में सब खोई रे।
जेहि हंकार अमित मति तुम्हरी, संग न जइहैं कोई रे ॥ टेक ॥
रूप जवानी विद्या बानी, जाति पाँति कुल जोई रे।
जामें ऐंठा ऐंठा घूमें, पल में नाशे सोई रे ॥ १ ॥
मात पिता कुल कुटुम सहोदर, नारि पूत मित होई रे।
आज तुम्हें मालुम सब हमरे, अंत न कोई क कोई रे ॥ २ ॥
खेलत खात हँसत दिन बीतत, हाथ भजन से धोई रे।
मोह कि पट्टी आँख में बाँधी, सूझत नाहीं तोई रे ॥ ३ ॥
साधु संग में भूलि न बइठ्यो, गृह कारज दिन खोई रे।
यही पाप चौरासी कीरा, भयो रैन दिन रोई रे ॥ ४ ॥
सब मरि जायँ पे हम नहिं मरिबे, यह अभिमान भरोई रे।
पल में परलय काल करेगा, यह नहिं जानत लोई रे ॥ ५ ॥
स्वपन समान भोग तन मन धन, राज रियासत ढोई रे।
झूठ मूठ में उमर बितायो, भक्ति बीज नहिं बोई रे ॥ ६ ॥
कह 'अभिलाष' जागु रे मानुस, संत जगावत तोई रे।
तजि अभिमान भजन में लागो, जो निज साथी होई रे ॥ ७ ॥

शब्द—३

हमारे मन अजहूँ करो सुधार ॥ टेक ॥
बड़ी भाग्य यह नर तन पायो, रतन सुयोग बिचार
ज्ञान विराग भक्ति सुखदायी, लक्षण मानुष सार १
जगत कुसंग भूल भ्रम दीखत, मनोवेग दुख धार
जहँ-जहं जात भूलि तहँ जावै, नहिं इन्द्रिन इतवार २
क्या क्या मन-वश भोग किये नहिं, कर्म कीच भवधार
काम क्रोध मद मत्सर आदिक, लादि जगत शिर भार ३

गुरु ज्ञान वच सुधा पान करि, तजि सब विषय विकार
रहहु सदा नित तृप्त आप में, लहि गुरु संग अधार ४

टीका:—मेरे मन ! आज भी जीवन का सुधार करो ॥ टेक ॥ विवेक-साधन-सम्पन्न, सुन्दर योग्यता पूर्ण रत्न तुल्य यह नर-शरीर बड़े सौभाग्य से तुम्हें प्राप्त हुआ है। निश्चल सुखदायी स्वरूपज्ञान, वैराग्य और भक्ति धारण करना मनुष्य के मुख्य लक्षण हैं ॥ १ ॥ संसार में भूल-भ्रम उत्पन्न करने वाले कुसंग दिखलाई देते हैं, भीतर में विकारी मन की तरंगें दुःख धारा ही हैं ! मन जहाँ-जहाँ जाता है वहीं-वहीं भूल जाता है, चंचल इन्द्रियों का भी विश्वास नहीं किया जा सकता ॥ २ ॥ मन के वशीभूत हो संसार-प्रवाह के कर्म कीचड़ में पड़कर और काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्यादि तथा संसार के नाना बोझा सिर पर धारण करके क्या-क्या दुःख नहीं भोगे ! ॥ ३ ॥ अतः सद्गुरु का ज्ञानपूर्ण वचनामृत पान करो और सभी विषय-विकारों को छोड़ कर तथा गुरु-संतों का सत्संग-आधार लेकर अपने आप-स्वरूप चेतन में सदैव सन्तुष्ट रहो ॥ ४ ॥

व्याख्या:-- यह अविनाशी जीव अनादिकाल से विषयों के वश में पड़ा जन्मादिक कष्टों को उठा रहा है, जिसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इस जन्म में भी बाल्य से कुमार, जवानी तथा वृद्धता की ओर जीवन रूपी सूरज खिसकता जा रहा है बड़े वेगपूर्वक उसके अस्त होने का बेला आ रहा है। खाते-पीते तथा भोग-विलास करते संसार के व्यर्थ वाहवाही में मोक्षप्रद अनमोल जीवन के एक-एक मिनट जो वर्ष-वर्ष के समान महत्त्वपूर्ण हैं बीतते जा रहे हैं। जीवन-ज्योति काल रूपी वायु-वेग से अब बुझी—अब बुझी-सी हो रही है। ऐ मूढ़ मानव ! अब भी मोह नींद से जाग और साधन-भजन में चित्त दे।

पशु-पक्षी-कृमादि खानियों में कल्याण-सुधार का कोई मार्ग नहीं। मानव-तन पाकर भी आँख, कान, जिह्वा, हाथ, पैर आदि में कोई अंग-भंग हो तो कल्याण-साधना में बड़ा विघ्न हो। अतः स्वस्थ, सुबुद्धि-पूर्ण नर-तन का मिलना बड़ा दुर्लभ है और वह आज तुम्हें सुलभ है,

अतएव अवसर से मत चूको। विवेकी संत-गुरुजनों की भक्ति करो, विषयों से वैराग्य करो तथा वासनाओं पर विजय करके स्वरूपज्ञान में स्थित होओ।

संसार में चारों ओर से बड़ा कुसंग है। दूषित प्राणी, पदार्थ, साहित्य, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध--ये सब में जीव अपने को भूल जाता है। विषयों में भ्रम-वश सुख निश्चय कर लेता है। भीतर में मन की कुवासनायें कुसंग हैं। शरीर में इन्द्रियाँ कुसंग रूप में बनी हैं। जीव इनमें क्षण-क्षण भूलता रहता है।

जीव कर्म-कीचड़ में फँसा है। जन्म-मरण की प्रबल प्रवाह-धारा में बहता जा रहा है। उसके हृदय को काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष रात-दिन जलाते रहते हैं। विषय-वासना-वश स्त्री-पुत्र-परिवार के तथा नाना कामनाओं के वश नाना प्रकार के सिरतोड़ बोझाओं से निरंतर पिसा जा रहा है। कल्याण-साधना करने योग्य अत्यन्त उत्तम अनोखा एवं अल्प समय प्रपंच में बीता जा रहा है।

जब मनुष्य विवेकी गुरु-संतों के वचनामृत पर ध्यान दे, उनकी संगत करे, विषय-विकारों से विमुख हो, स्वरूपज्ञान प्राप्त करे और मन-इन्द्रियों को स्ववश करने की साधना में लगकर स्वरूपस्थिति के अभ्यास में स्थिर हो, तभी इस सुनहले नर-जन्म की सफलता है।

हमें जितनी वस्तुयें मिली हैं, सब क्षण-भंगुर हैं। इनमें आसक्ति बनाने से हम कभी सुखी नहीं हो सकते। अतएव इन स्वप्नमयी संबन्धों से अनासक्त होना चाहिये।

कवित्त

नाश है जहान के महान धन शान बान,
नाश यह देह कुल कुटुम जगीर है।
नाशवान विद्या बुद्धि वाक्यज्ञान बहु मान,
नाशवान रमणीय बुद बुद नीर है॥

दुख को पसार जहाँ देखो तहँ दुख आहिं,
क्रोध मोह काहि करो जीवन अथीर है।
जग अभिलाष तजि अविनाशी पद माँहि,
याहि से तृपित कोई रहत फकीर है॥

विनाशी संसार में चिंता करनी भूल है

दृष्टांतः—एक रजिस्ट्रार कानूनगो जी का एफ. ए. में पढ़ता हुआ सत्तरह (१७) वर्ष का होनहार सुन्दर पुत्र अचानक मर गया। उसकी मृत्यु से सकुटुम्ब कानूनगो जी को बड़ा शोक हुआ। कानूनगो अपने दुखड़ा को जाकर एक विवेकी महात्मा से कहे। महात्मा ने समझाया— पुत्र-मरण में स्वभावतः दुख होना सम्भव ही है; रह गया विचारदृष्टि से देखा जाय तो विशेष दुःख और शोक होने का कारण अज्ञान ही ठहरता है; पुनः शोक-चिन्ता करने से शारीरिक-मानसिक दुःखों की वृद्धि भले हो जाय, गया हुआ पुत्र फिर लौट नहीं सकता। यह अविनाशी जीव अनादिकाल से स्वप्न के सदृश अनेक देहें धरते-छोड़ते आ रहा है। हम सबके पहले जन्म के कुटुम्बी भी कहीं किसी देश में होंगे। वहाँ से शरीर परिवर्तन करके हम यहाँ आ गये हैं। अब उन कुटुम्बियों के लिये हमें कोई चिन्ता-शोक नहीं है। उन सबों का हमें स्मरण तक नहीं होता। इसलिये हमें न तो उन्हें खोजने की चिन्ता है, न उनके विषय में कोई सुख-दुःख ही है। वैसे इस जन्म में मिले हुए कुटुम्बी भी आज-कल में सब छूट जायेंगे। या तो एक-एक करके वे हम से विदा हो जायेंगे, या हम ही उन सब को छोड़ कर चल बसेंगे। फिर इस शरीर के छूट जाने के पश्चात् हमें आज के कुटुम्बियों का कभी स्मरण तक नहीं होगा और हर्ष-शोक करना तो दूर रहा।

अहंता-ममता ही सब दुःखों का कारण है। जिस दिन आपका पुत्र मरा होगा, ममता-वश जितना आपको और पुत्र की माता को कष्ट हुआ होगा, उतना और कुटुम्बियों को नहीं हुआ होगा। पड़ोसियों को तो

सम्भवतः सोलह आने में एक-आध कौड़ी दुःख हुआ हो, या उल्टे किसी को ईर्ष्या-वश हर्ष भी हो सकता है। इसका क्या कारण है! आप और पुत्र की माता ने उसे अपना करके माना था, ममता किये थे, इसी से विशेष दुःख हुआ। पुत्र-पिता, भाई, माता कौन किसका है, सब यात्री हैं, संसार धर्मशाला में दो दिन के लिये एकत्रित हो गये हैं। दो दिन के सम्बन्ध में उन्हें अपना मान लेना बड़ी भारी भूल है। जीव अमर है, उसका नाश सम्भव नहीं, इस मलिन काया का ही नाश होता है। फिर इस काया को यदि कोई भी स्थिर रख सका हो तो आप भी रख सकते थे।

यदि आप पड़ोस में पता लगायेंगे तो सम्भवतः आप से भी दुखी मनुष्य मिलेंगे; क्योंकि जन्म-मृत्यु, रोग-निरोग, स्तुति-निन्दा, धन-निर्धन, दुःख-सुख तो संसार रूपी समुद्र के ज्वार-भाठे हैं। किसका पुत्र अमर होकर रहता है। यदि आप कम आयु पर ध्यान देवें तो भी भूल है। कौन जाने वह जीव अपने अपकर्म-वश आप साधारण के यहाँ थोड़े दिन के लिये आया रहा हो, फिर थोड़ी अवस्था में अपने अपकर्म का फल भोग कर वह राजा के यहाँ जन्म ले, अथवा ज्ञानी के यहाँ जन्म ले अच्छी गति पावे। फिर प्रारब्ध-नियम के विरुद्ध आपका मोह करना केवल स्वार्थ के लिये ही सिद्ध होता है। उसके कर्म-फल-भोग और सुख-दुःख पर आपका कुछ ध्यान नहीं है, मात्र आपका यही हठ है वह अभी हमारे पास क्यों नहीं रहा, यह भूल ही तो है। किसी के मरने पर तो संसार की असारता का विचार कर और-और शोक-चिन्ता को दूर करना चाहिये। जब यह संसार इस प्रकार परिवर्तनशील है कि क्षण में कुछ-का-कुछ हो जाता है, फिर किसके लिये बावला बने। जैसे समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य पास ही नौका त्याग कर जल के फेन-बुदबुदा को पकड़ कर डूबने से बचना चाहे तो कैसे बच सकता है। ठीक इसी भाँति यह संसार समुद्रवत् है। माया जल है। जल के फेन-बुदबुदा स्त्री, पुत्र, धन, शरीरादि हैं। धर्म-सत्संग भक्ति-परोपकार नौका हैं। संसार रूपी

समुद्र के माया रूपी जल में मनुष्य डूबता है। सत्संग-सत्कर्म रूपी नौकाका आधार नहीं पकड़ता। स्त्री, पुत्र, धनादि रूपी फेन को पकड़ता है और पकड़ते ही वे क्षण-क्षण नष्ट होते रहते हैं और जीव माया में डूब मरता है।

भाव—मनुष्य मायावी पदर्थों के मोह-वश शुभ कर्म त्याग कर पर-द्रव्य-हरण, चोरी, डकैती, घूसखोरी, बेईमानी, पर-स्त्री-गमन, मोह, तृष्णा करके सारा जीवन नष्ट कर देता है।

जो पुत्र सत्तरह वर्ष का था, वास्तव में वह जीव सत्तरह वर्ष का नहीं, बल्कि पुरातन, अविनाशी है। वह मरा नहीं है बल्कि गमन करके पृथक चला गया है। वह आपका नहीं था बल्कि यात्री था। हम, आप सभी यात्री हैं। हम आप सबको भी घड़ी-पल में यहाँ से पयान करना है। फिर शोक क्यों! विचार करना चाहिये जब राम-रावण, कृष्ण-कंस, पाण्डु-दुर्योधन, आल्हा-ऊदल, पृथ्वीराज, महात्मा गाँधी आदि भी एक दिन चले गये, फिर क्या आपका पुत्र ही सदा बना रहता!

एक दिन मरना सबको है

दृष्टांत :—सिकंदर बादशाह के मर जाने के पश्चात् उसकी माता मोह की अग्नि में सदा जला करती थी। एक दिन मोहाग्नि में पागल-जैसी होकर अपने पुत्र सिकन्दर के कब्र पर गयी, अपने अज्ञानपूर्ण स्वाभावानुसार रो-रो कर "बेटा सिकन्दर-बेटा सिकन्दर!" कह कर पुकारने लगी। इतने में कब्र के अन्दर से इतनी जोर से आवाज आयी कि मालूम हुआ करोड़ों मनुष्य बोल रहे हैं। माता आश्चर्जित-सी हो गयी और कहने लगी—मैं एक सिकन्दर को पुकारती हूँ, इसमें से बहुतों की आवाज क्यों आ रही है? कब्र से फिर आवाज आयी, आप किस सिकन्दर को पुकारती हैं? यहाँ तो बेसुमार सिकन्दर मर-मर कर मिट्टी में दबे पड़े हैं। माता ने कहा—मैं अपने पुत्र सिकन्दर को पुकारती हूँ। उस कब्र में से फिर आवाज आयी—ऐसा कहने से तुम्हारे सिकन्दर की पहचान नहीं होगी, क्योंकि यहाँ असंख्य सिकन्दर मिट्टी में मिले हैं।

इतनी आवाज सुनकर माता को सन्तोष हुआ कि जब अगणित सिकन्दर मिट्टी में मिल गये, कोई इस संसार में सदा नहीं रहता, फिर एक मेरे माने हुए सिकन्दर (पुत्र) के लिये मेरा शोक करना बिलकुल निरर्थक है।

तुच्छ पुत्र मरण में शोक क्यों ?

दृष्टांत:—एक घर में छोटा पुत्र मर गया, पिता कहीं बाहर गया था, माता घर में थी। माता ने मृतक पुत्र को एक कोठरी में सुला दिया। इतने में मृतक पुत्र का पिता आया। स्त्री ने जलपान लाकर दिया और भोजन करने को कहा।

पुरुष बोला— छोटा बच्चा कहाँ है, उसे लाओ जरा खेला लेवें तब भोजन करें ?

स्त्री ने कहा—सोता होगा, चलें आप भोजन करें, फिर खेलायेंगे। पुरुष भोजन कर लिया, पश्चात् पुत्र की खोज की। स्त्री ने कहा-- जिसको आप अपना पुत्र मानते हैं, वह तो परदेशी था, उसका कर्म-भोग समाप्त हो गया, वह आज परलोक सिधार गया है। उसका शव (लाश) कोठरी में लेटाया है। पुत्र का मरण और स्त्री की दृढ़ता देखकर पुरुष मोह और आश्चर्य से पूर्ण हो गया। स्त्री ने कहा— मूत्र-कीड़ा के लिये आपका शोक करना व्यर्थ है। पुत्र क्या मूत्र का कीड़ा नहीं है ! चिन्ता करना चाहिये कल्याण-साधन, भजन-भक्ति बनाने के लिये। सारहीन पुत्र-धन की चिन्ता से क्या लाभ, जो दुखःदायी क्षण-भंगुर हैं।

इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाते हुए रजिस्ट्रार कानूनगो जी से महात्मा ने कहा--उपर्युक्त शिक्षाओं को मनन-निदिध्यासन करके अपने मन से शोक-मोह को भली-भाँति भगा दो। चित्त-शान्ति के लिये कुछ धर्म कर डालो, दान कर डालो, सत्संग किया करो, अवसर निकाल कर सद्ग्रंथों का भली प्रकार मनन किया करो। माया-मोह-वश समय नहीं मिलता। एक दिन सदा के लिये यहाँ से चल देना पड़ता है,

---

१— यह दृष्टांत कल्पित है, इसे मोह निवारण हेतु कहा गया है।

तब भले समय मिलता है ! इसलिये जो आपके हैं वे केवल धर्म, कर्म, सत्संग, सद्विचार ही हैं इसके अतिरिक्त आपके साथ कुछ जानेवाला नहीं है।

पद

सभी की मौत है यक दिन न कोई रहने आया है।
जगत यह धर्मशाला है, मुसाफिर क्यों भुलाया है ॥ टेक॥
न कोई पुत्र है तेरा, न दारा बन्धु पति पुत्री।
सभी परदेश के पंथी, तू नाहक मोह जाया है॥ १॥
कर्म के वश अनेकों तन, ये घर-घर छोड़ता चेतन।
न कोई साथ में जाता, अकेले जग भ्रमाया है॥ २॥
सभी हैं स्वार्थ के साथी, कुटुम्बी मित्र सम्बन्धी।
करे तू धर्म सत्संगत, ये पाकर मनुज काया है ॥ ३॥
जगत है स्वप्न की रचना, न इसकी हर्ष चिन्ता कर।
करे निज रूप का चिन्तन, तजे अभिलाषा माया है॥ ४॥

शब्द—४

सुन मन मूढ़ सिखावन मेरा ॥ टेक ॥
छोड़ि सकल आशा यह जग की, यहाँ कोई नहीं तेरा
करो ध्यान निज रूप निरन्तर, फोड़ अहं का ढेरा १
कागज की ज्यों नाव बनी है, तन का यही बसेरा
यह तन साज सूखि सब जावे, धूल में मिले न हेरा २
तृप्त न होत विषय रस भीने, दौड़त साँझ सबेरा
देह अछत कोई काम न आवत, अंत कौन केहि केरा ३
कहैं कबीर चेत कर अजहूँ, तजो मूढ़ मन फेरा
गुरु पद छोड़ि विमुख यदि होवे, नरक जाय नहिं देरा ४

टीका :—मूर्ख मन ! मेरी शिक्षा को सुन ॥ टेक॥ इस संसार की समस्त आशाओं को छोड़ दे, यहाँ तुम्हारा कोई नहीं है। शरीरादि समस्त

वस्तुओं के अहंकार की गठरी को फोड़कर स्व-स्वरूप चेतन का निरंतर चिन्तन कर ॥ १ ॥ जैसे कागज की नावका जल में पड़ते ही नष्ट हो जाती है, जिस शरीर में तू निवास करता है उसकी भी यही दशा है; अर्थात् यह भी अत्यंत क्षणभंगुर है। अन्ततः इस शरीर के साज—आंख, नाक, मुख, हृदय, हाथ, पैर, सब सूख जायेंगे, एक दिन तो धूल में मिल जायेंगे और खोजने पर भी नहीं मिलेंगे ॥ २ ॥ विषयासक्ति में डूबा हुआ मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, दिन-रात भोगों के लिये दौड़ा करता है। संसार के ये प्राणी-पदार्थ शरीर रहते-रहते काम में नहीं आते, छूट जाते, इनका वियोग हो जाता, फिर अन्त में कौन किसका है ? ॥ ३ ॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं ऐ मूर्ख मन ! उल्टी बुद्धि को छोड़ और आज भी चेत कर ! गुरु- ज्ञान को त्याग कर यदि उलटा मार्ग पकड़ेगा, तो नरक जाने में विलम्ब नहीं है ॥ ४ ॥

व्याख्या:— स्त्री, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी, घर, धन, पशु, पक्षी इत्यादि संसार के सारे प्राणी-पदर्थों की आशा छोड़ दो; क्योंकि यहाँ की कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। जिन कुम्टुव, सम्पत्ति के मोह-ममता में पड़कर मनुष्य धर्म-कर्म को तिलांजलि दे देता है, रात-दिन माया के जोड़ने में ही पचता रहता है; विचार कर देखो ! देह रहते-रहते वे अपने मन के प्रतिकूल तथा पराये हो जाते या छिन जाते हैं। जिन प्राणी-पदार्थों से सुख भोगने की बड़ी लम्बी-चौड़ी आशा रहती है, वे आँखों देखत-देखते पराये हो जाते हैं। ऐ दीवाने मनुष्य ! मृत्यु पश्चात् कौन किसका है ?

को काको पुरुष कौन काको नारी। अकथ कथा यम दृष्टि पसारी ॥
को काको पुरुष कौन काको बाप। को रे मरै को सहै संताप ॥
(बीजक शब्द)

धन, द्रव्य कुल परिवार वो नारी सुता सुत गेह हैं।
विद्या विभव दर्जा जवानी रूप सून्दर देह हैं॥
सब नाशकारी दीखते तू आश किसकी कर रहा।
ये आज कल में सब छूटैं किसके लिये तू मर रहा॥

मनुष्य ने जिस शरीर को सुख का आधार माना है, वह इतना क्षण-

भंगुर है, कि उसका एक क्षण के लिये भी भरोसा नहीं किया जा सकता। जो अंग रक्त-मांसों से भरे हुए आज ललित लगते हैं, लावण्य-माधुर्य से आकर्षक लगते हैं, ये थोड़े ही दिनों में या व्याधि आने पर अनसुहाते, रस-हीन तथा फीके हो जाते हैं। फूल के समान लगता हुआ यह शरीर व्याधियों के आने पर काँटे के समान लगता है, भारस्वरूप हो जाता है। अन्त में यह कंचन-काया मिट्टी में इस प्रकार मिल जाती है कि उसके अंश भी खोजने पर नहीं मिलते। ऐसे जरजरीभूत तथा नाशवान शरीर से सुख की आशा करना अज्ञान के सिवा क्या है!

यहाँ के नाशवान पदार्थों का अभिमान नहीं करना चाहिये। क्षण में नवयुवक वृद्ध हो जाता है, बहुत कुटुम्ब वाला अकेला रह जाता है। एक क्षण जो सम्मान वो स्तुति पाता है, दूसरे क्षण वही अपमान एवं निन्दा सहता है। खाता-पीता, हँसता-खेलता हुआ, माया के मद में ऐंठता-मचलता हुआ मनुष्य क्षण ही में भूलुण्ठित-मरणासन्न हो जाता; अन्ततः इस असार-संसार से पयान भी कर देता है।

दृष्टान्तः—एक नवयुवक विद्वान अपने शरीर एवं वाक्य बर-बरता का बड़ा अभिमानी था। कुछ ही दिन के पश्चात् प्रारब्धवश कोढ़-रोग से सारा शरीर विकृत (खराब) हो गया। विशेष दुःख से पागलपन आ गया। अब क्या हो, किसी प्रकार सड़े कुत्ते की भाँति जीवन बिता कर एक नदी के तीर पर मक्खी के भाँति मर गया। चील्ह, गीध, कीड़े खा लिये। अहो! ऐसे निन्दनीय तुच्छ परिणामी शरीरादि मायावी पदार्थों का अभिमान करना कितना अज्ञान है!

संसार की माया शोभारानी की बिटिया-बेटवा के समान अति क्षणभंगुर है।

दृष्टांत—मातायें जब बच्चों को खेलाती हैं तब उनको प्रसन्न करने के लिये यह सूत्र कहती हैं कि "अनत गढ़ौला उल्चा पानी, तेहिमा निकरी शोभा रानी। शोभा रानी क काव भै? बिटिया बेटवा॥ जब

तक नउआ बधउआ लइके गै। तब तक लड़िका क मुस लइगै॥ मुस कहँवा गै? मुस बिलमा गै। बिल कहँवा गै? बिल फुटि फटि गै॥" अर्थात् अनन्तों गड्ढे के पानी को जब उलीचा गया तब उसमें से एक 'शोभा रानी' नामक स्त्री निकली। इतनी वार्ता को सुनकर किसी ने पूछा--तब शोभा रानी के क्या हुआ? उत्तरदाता ने उत्तर दिया--पुत्र-पुत्री। प्रश्न—फिर क्या हुआ? उत्तर—सन्तान उत्पन्न की प्रसन्नता में सगे-मित्रों के यहाँ नाई निमंत्रण देने गया। प्रश्न—फिर क्या हुआ? उत्तर—बस, इतने में पुत्र-पुत्री को चूहे उठा ले गये। प्रश्न—संतान को लेकर चूहे कहाँ गये? उत्तर—बिल में चले गये। प्रश्न—बिल क्या हुआ? उत्तर - फूट-फाट करके नष्ट हो गया।" ठीक इसी दृष्टांतानुसार क्षण ही में मनुष्य गृह, सम्पत्ति, स्त्री, संतान से सुखी दिखता और क्षण ही में सुख-सम्पत्ति-कुटुम्बियों से वियोग होता, धन का नाश होता, तथा शरीर में रोग पकड़ता है। अतः इस क्षण-भंगुर मायामोह को त्याग कर भजन-भक्ति और धर्म करो।

सवैया

भूल में बीत गये दिनवा बहु, आज तो चेत करो मोरे भाई।
जीवन जात चलो स्वप्ना सम, आँख उघारो न देत दिखाई॥
बारहिं बार छुट्यो नर देह, सो ताहि समान यहौ छुटि जाई।
शीघ्र गहो गुरु के पद पंकज, नाहीं तो काल गयो नियराई॥१॥

कवित्त ५

घूमि घूमि देखा जग परपंच पेखा सब,
भावै नहिं मन कोई गुरु के समान हो।
जहाँ जहाँ गये ठीक ठौर नहिं पाये कछु,
तहाँ से उबाये मन रूप ही को ध्यान हो॥

गुरु हैं दयाल दिव्य ज्ञान दृष्टि खोलकर,
देत उपदेश वर दीनन को दान हो।
"सूरत" अजाद गुरु मत जग माहिं एक,
तेहि तजि सत्य सुख चाहत नदान हो ॥१॥

टीका:—संसार में घूम-फिर कर देखा, तो सब प्रपंच ही दृश्य हुआ; विवेकी सद्गुरु के समान मन को कोई अच्छा नहीं लगता। जहाँ-जहाँ भटके, अर्थात् खानी-वाणी, मोटी-झीनी माया में जहाँ तक गये, कहीं शान्ति नहीं मिली, वहाँ से मन उचटता ही रहा। जो कुछ देखे, सुने, भोगे उन्हीं का मन में रूप खड़ा होकर ध्यान होता रहा और जीव उन्हीं संस्कारों की खींच-तान में दुःखी होता रहा। सद्गुरु कृपालु हैं, वे मलीन जीवों की दिव्य ज्ञानदृष्टि खोलकर उत्तम उपदेश देते हैं। ग्रंथकर्ता सद्गुरु कहते हैं कि संसार में एक गुरु का मार्ग ही स्वतन्त्र है, भूला मनुष्य उसको त्यागकर सुख चाहता है।

व्याख्या:— यह जीव अनादिकाल से इस संसार-नगर में भटक रहा है। आज भी गुरु की शरणागति छोड़कर यह अहंकारी मनुष्य दुःखों का शिकार रहा है।

सवैया

दुःख पड़े पढ़ वो अपढ़ो सब, भोग की चाह जलाय रही है।
राज मिलै गजराज मिलै, धन साज मिलै पर और चही है ॥
राजा व रंक जो नारि नरो, सकलो परपंच की आग दही है।
खींचत हैं अपने-अपने प्रति, कोई न कोई क मीत सही है ॥१॥

पै गुरुदेव तो भोगन त्यागि, सदा अविनाशी के रंग रंगे हैं।
चाह मिटाय सबै जग की, मन जीत के तोष स्वरूप पगे हैं ॥
सो धन देत हमैं सबको, जोइ नित्य अखण्ड अचिन्त्य सगे हैं।
याहि ते भावत न कछु और, सदा गुरु के पद प्रेम पगे हैं ॥२॥

संसार में एक सद्गुरु की शरण ही सुधार का पथ है, उसको त्यागकर चलनेवालों का कल्याण नहीं।

त्रिभंगी-छन्द

जो गुरु पद त्यागी जीव अभागी सुख चाहत कहुँ औरे।
पर सुख नहिं पावैं जगत थहावें जहाँ-तहाँ पुनि दौरे॥
ज्यों ओस विलाहीं क्षण ही माहीं विषय देह तिमि दीखै।
तेहि को सत् मानी भ्रमत अजानी तोष शांति किमि हीखै॥ १॥

जो सुख दातारी परख विहारी आवागमन प्रहारी।
तेहि पद जो भूलें भव सो भूलै कबहुँ न शांति सुखारी॥
नाना दुख पावै जरि झुलसावै भटकि मरै चौरासी।
गुरु बिन यह तापा करत प्रलापा यद्यपि जिव अविनाशी॥ २॥

जब नैन उघारे विषय विकारे त्यागि ज्ञान रंग भीने।
भव पार लगावन दुःख छुड़ावन यक सद्गुरु को चीन्हें॥
जीवन पर्यन्ता प्रेम अनन्ता क्षण नहिं अन्तर हन्ता।
सोई जीव सुभागे गुरुपद लागे छूटहिं बन्धन तन्ता॥ ३॥

दोहा :—कपट अहंता छोड़ि के, निःछल गुरु पद प्रीत।
डारि विषय जग वमन वत्, जन्म मरण सोइ तीत॥ १॥

सोरठा :—भ्रम तन स्वप्न समान, नहिं कछु स्थिति देखिये।
यहि हित गुरुपद ध्यान, जो दायक स्थिति सदा॥ २॥

शब्द ६

जगत यह मानन्दी का घेरा॥ टेक॥

स्वप्न की सृष्टि स्वप्न का डेरा, रमणी रमण भासत मन मेरा
सुन्दर रूप छलै सबहिन को, सुर नर मुनि ज्ञानिन मन फेरा
कनक कामिनी जाल महा है, करि के यत्न त्याग यक हेरा
जब से त्याग बसा उर मेरे, भूलि गया सब दुख जग केरा
रहत सदा पारख पद माहीं निज को निज में टेरा ५

टीका :— इस संसार में मनुष्य अहन्ता-ममता के बन्धन में पड़ा है॥ टेक॥ ये स्त्री, पुत्र, परिवार आदि की सृष्टि, स्वप्न तुल्य है। तुम्हारा

यहाँ का निवास भी स्वप्न के सदृश है। ऐ मेरे मन ! तेरे को अस्थि, मांस मल, मूत्रादि पूर्ण देह भ्रम वश रमण करने योग्य प्रतीत होती है ॥ १ ॥ यह माना हुआ कामिनी का क्षणिक सुन्दर रूप सभी अज्ञानियों को छलता है, अज्ञानी ही नहीं, ज्ञान-प्रमादी, असावधान सुर-नर-मुनि सतोगुणी रजोगुणी-तमोगुणी—सबके मन को परमार्थ से फिराकर माया-मोह में फँसा दिया है ॥ २ ॥ अधिक धन का संचय तथा स्त्री ये दोनों महाजाल हैं (कल्याणार्थी नारियों के लिये पुरुषासक्ति ही विकट बन्धन है) इस से छूटने के लिये विवेकियों ने प्रयत्न करके एक त्याग-मार्ग को हीं खोज निकाला है ॥३॥ विवेकी मुमुक्षु कहता है कि जब से हमारे हृदय में त्याग की भावना दृढ़ हुई तब से मानो संसार के दुःख भूल गये ॥४॥ अब मैं सदैव अपने ज्ञानस्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। मैंने अपने को अपने-आप ही में पुकारा अर्थात् अपनी खोज अपने-आप में ही की ॥ ५ ॥

व्याख्याः—मानन्दी का अर्थ है किसी व्यक्ति, वस्तु या शरीर को अपना मान लेना। इसी को अहन्ता-ममता कहते हैं यही विकट बन्धन है। महापुरुषों ने कहा है:—

"मोर तोर में जरे जग सारा, धृग स्वारथ झूठा हंकारा ॥बीजक॥
"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बसि कीन्हें जीव निकाया ॥रामा०॥

'मम इति बध्यते जन्तुः न मम इति विमुच्यते।'

'मेरा' माना और जीव बँधा, मेरा नहीं माना, बन्धन से छूटा।

यह पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि सहित संसार सत्य है, अनादि अनन्त है; परन्तु स्त्री, पुत्र, परिवार, शरीर, धनादि अपना बनाया संसार नाशवान है और सबका सम्बन्ध स्वप्न के तुल्य है, क्षणिक है, आज है कल नहीं। मनुष्य का निवासकाल बहुत थोड़ा है। उसके संसार से उठ जाने की अवधि द्रुतगति से आ रही है। मनुष्य ने यदि आत्म-उद्धार नहीं किया तो उसकी सारी उन्नति पर पानी फिर जायगा। कहा है:—

सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, न कछु लेन न देन ॥बीजक॥

योग वियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनम मरण जहँ लगि जग जालू । सम्पति विपति कर्म अरु कालू ॥
धरणि धाम धन पुर परिवारू । स्वर्ग नर्क जहँ लगि व्यवहारू ॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥
सपन्यो होय भिखार नृप, रंक नाकपति होय ।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥

जो धन, शरीर-निर्वाह, परिवार-निर्वाह तथा धर्म-पुण्य-परोपकार के लिये हो वह उत्तम है; और उसके लिये सामान्य रूप से संग्रह भी उचित है, परन्तु इससे अधिक द्रव्य का निरर्थक संग्रह पाप-उत्पादक, मद का कारण तथा नीचे ले जाने वाला है। कहा है:—

अस्यां यक्षसृष्टौ धनान्धस्य चक्षुर्व्याख्यानेन नोन्मीलति ॥

अर्थात्:—इस तिलस्मी संसार में धन मद से अंधे हुए की आँखे व्याख्यान से नहीं खुलतीं। किसी ने कहा है:—

चलै चलै सब कोइ कहे, पहुँचा बिरला कोय ।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय ॥
अविनाशी बिच धार तिन, कुल कंचन अरु नार ।
जो कोई इनते बचे, सोई उतरे पार ॥

मुमुक्षु पुरुष के लिये स्त्री-देह की आसक्ति और मुमुक्षा स्त्री के लिये पुरुष-देह की आसक्ति, तथा दोनों को अपने शरीरों की एवं पाँचो-विषयों की आसक्ति विकट बन्धन हैं।

छन्द

बस काम का यह मूल है जड़ देह में सुख मानना ।
फिर फिर विषय सुख को मनन नहिं दोषदृष्टी ठानना ॥
तजि के सुसंगत सन्त की जाके कुसंग में पागना ।
करतव सजगता त्याग कर मन स्मरण में रामना ॥१॥
जेहि देह से मुक्ती चहे वहि देह में पुनि सुख गुनै ।
आसक्ति यों हो कर प्रबल पुनि कामना कामिनि धुनै ॥
निष्काम पद जो मुक्ति चाहो देह को अभाव कर ।
आलस्य गफलत को तजो भ्रम स्वप्न से तू जाग कर ॥२॥

चलते वो उठते बैठते हर क्षण स्वरूपाकार हो।
बोली व ठोली त्याग बस नैराश्यता निशिवार हो॥
ज्यों है अकेला जीव यह पृथकत्व त्यों अभ्यास हो।
बस आज कल में तन छुटै जल्दी करो जो खास हो॥३॥

कवित्त

भ्रम मात्र वासना के हाथ पड़ि जीव यह,
भ्रम रूप देह धरि भ्रम में दहतु है।
भ्रम कुल कुटुम वो इन्द्रिन को स्वाद भ्रम,
भ्रम जग मेल हर्ष शोक को लहतु है॥
भ्रम देह सत्य जानि जीव नित्य सुख मानि,
भ्रम फन्द बन्ध माहि याहि से रहतु है।
भ्रम रूप बोध भयो जग देह मान जब,
भ्रम त्यागि निज पद जीव सो गहतु है॥

मनुष्य राम को, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा को, अल्ला, खुदा, रब, गाड को, मुक्ति, निर्वाण, शांति, सुख तथा परमपद को बाहर खोजता है। यही उसकी महान भूल है। तुम अपने मन, वाणी, शरीर को शुद्ध करो, मन को विकारों से सर्वथा रहित बनाओ, अपने चेतन स्वरूप को पारखी संतों की संगत से समझो और समस्त विकारों से विहीन होकर अपने आप में स्थित हो जाओ, बस तुम्हें जानो सब कुछ मिल गया। जिसको खोजते हो वह तुम्हीं हो, इस परम पारख को प्राप्त करो।

विषय की कामनाओं में बँधकर ही जीव सारी विपत्तियों को ओढ़ लेता है, उसे निम्न दृष्टांत से मनन करें:—

दुःख का मूल विषय-कामना

दृष्टांत:—एक सघन विराट जंगल में एक महा विकराल डाइन रहती थी। उसका नाम "विपत्ति" था। वह केवल मनुष्यों का रक्त पीकर प्रतिदिन निर्वाह करती थी। उसकी एक पुत्री थी, जिसका नाम 'कामना' था। 'कामना' अतीव सुन्दरी, युवावस्था को प्राप्त हो रही

थी। 'कामना' का यही नित्य काम था कि वह लोगों को मोहित करने के लिये शहर, बाजार, ग्राम तथा जहाँ-जहाँ मनुष्य रहते थे, वहाँ-वहाँ घूमा करती। जिस पुरुष को मोहित कर अपने वश में कर पाती, उसे बेहोशी की औषधि सुँघा कर मूर्च्छित कर देती। पीछे से 'विपत्ति' नामक उसकी माता पहुँच कर उस कामना-वशी मूर्च्छित पुरुष का खून चूस लेती। फिर तो 'कामना' उसे छोड़कर दूसरे पुरुष को मोहित कर बेहोशी की औषधि दे, अपनी माता को रक्त पिलाती। जब औषधि का नशा कुछ विलम्ब के पश्चात् उतरता, तब वे पुरुष सावधान होकर हाय-हाय करते, रोते चिल्लाते और शक्तिहीन निर्बल हो जाते। एक महात्मा एक दिन उसी शहर में से होकर निकले, जिस शहर के कोई चार-छे मनुष्य के अतिरिक्त और समस्त प्राणी "हाय-हाय मैं मरा रे मरा, ओह! रहा नहीं जाता, कोई बचाओ, हाय!" इसी प्रकार की चिल्लाहट कर रहे थे। महात्मा दृष्टि घुमा कर देखे तो सर्व मनुष्यों की हड्डी दिखलायी पड़ रही है। शरीर बिलकुल निकम्मा हो गया है। महात्मा जिधर ही देखते हैं उधर से ही हाय-हाय की आवाज सुनायी पड़ रही है।

छन्द:—कोई तो डिप्टी वो कलक्टर विश्वपति गुण खान है।
कोई तो निर्धन वो धनी पंडित चतुर विद्वान है॥
कोई तो इङ्गलिश संस्कृत साइंसपति विज्ञान है।
पर सब यही चिल्ला रहे हा! हा!! निकलती जान है॥ १॥

पता लगने पर जब यह ज्ञात हुआ कि 'कामना' मोहिनी से मोहित होकर 'विपति' नामक डाइन से इन सबों का रक्त चूसा गया है, उसी से ये सब रो रहे हैं; महात्मा संसार दुःखालय से ऊब कर जाके एकान्त स्थल में अविनाशी स्वरूप का स्मरण करते हुए बैठ गये। महात्मा को बैठे अभी एक क्षण भी न हुआ होगा कि वह 'कामना' विश्वविमोहिनी महात्मा को छलने के लिये आ गयी और कहने लगी—हे महात्मन्! मैं आपके चरणों में दासी होकर रहूँगी। जो सुख आप चाहेंगे वह मैं

अपनी शक्ति से तुरंत प्रकट करके आप की सेवा में उपस्थित करूँगी। अच्छा बतलाइये ! आप क्या-क्या खाते-पीते तथा सुख-भोग भोगते हैं ? उसको आपकी सेवा में मैं अभी लाऊँ। महात्मा बोले— मैं सन्तोष खाता हूँ, स्वरूप स्मरण रूपी जल पीता हूँ, त्यागरूपी आड़बंध और कफनी पहनता हूँ, अविनाशी घर में रहता हूँ, वैराग्य का आसन लगाता हूँ, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, आशा-तृष्णादि को जला कर धूनी तापता हूँ। जगत्, विषय-भोग, शरीरादि को दुःख रूप देखता हूँ। और मैंने सुना है कि एक 'कामना' नामक स्त्री ने सारे संसार के प्राणियों को मोहित कर और विपत्ति में डालकर रुला रही है। इसीलिये मैं उसे खोजता हूँ। देखो ! ये जो मोटा-सा सोंटा (लाठी) रखा है, यह उसी के लिये ही लिये रहता हूँ। यदि वह मिल जाय तो उसे इसी सोंटे से मारते-मारते चकनाचूर कर डालूँ। उसे पुनः जीवित न छोड़ूँ। महात्मा के इतने वचन सुनते ही 'कामना' मारे डर के थर्राने लगी और महात्मा से बातें बनाने लगी—अच्छा महराज ! मैं उस 'कामना' हत्यारिनी का पता लगाऊँगी। ऐसा कह कर पीछे से सरक कर और अपनी जान बचा कर भाग गयी। 'कामना' की शक्ति (माया) न लगते देखकर छिपी हुई विपत्ति डाइन सोचने लगी कि इन महात्माओं के पास हमारा ठौर न होगा। अतः पश्चाताप करते हुए उसे भी जाना पड़ा।

सिद्धांत :—'कामना' यहाँ भोगों की वासना है। गुरु-सत्संग-विहीन पढ़-अपढ़, नर-नारी तथा संसार के सम्पूर्ण जीव इस भोग-कामना-वश शोक, चिन्ता, तृष्णा, असंतुष्टि, वासना, जन्म-मरणादि रूपी विपत्ति से घोर कष्टित हैं। इन विपत्तियों से मुक्त तो कोई भोग-कामना के त्यागी विरले संत ही होते हैं।

शिक्षा—मानसिक, शारीरिक, जन्मादिक दुःखों से निवृत्ति अर्थ विषयवासना का सर्वथा त्याग करना परम आवश्यक है।

शब्द—७

सुन मन मूरख सद्गुरु ज्ञाना ॥ टेक ॥
पाय रतनमणि जनम सुफल करि, विषयन में क्यों फिरत भुलाना १
ब्रह्मचर्य व्रत धारण करि के, तजिये सकल गलाना २
काम क्रोध मद अश्व पकरि के, विरति लगाम लगाना ३
बाग विवेक हाथ में गहि के, धीरज धरि धरि चाल चलाना ४
सद्गुरु ज्ञान चाल चलि यहि विधि, पारख धाम स्वतंत्र रहाना ५

टीका :—मूर्ख मन ! सद्गुरु के ज्ञानोपदेश को सुन ॥ टेक ॥ रत्न एवं मणि-तुल्य मानव जीवन को पाया है, भजन-साधन करके इसे सफल कर ले। तू अपने अविनाशी तृप्त स्वरूप को भूल कर कंटकाकीर्ण विषयों में क्यों भटकता है ! ॥ १ ॥ शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत धारण करो और सारी विषय-मलीनता को छोड़ दो ॥ २ ॥ काम, क्रोध, मदादि मन रूपी घोड़े को पकड़ कर इसको वैराग्य की लगाम लगाओ ॥ ३ ॥ और विवेक-बागडोर को हाथों से पकड़ कर धैर्य पूर्वक इसे चाल चलाओ ॥ ४ ॥ इस प्रकार सद्गुरु के ज्ञानानुसार आचरण में चल कर स्वरूप-ज्ञान मन्दिर में स्वतंत्र निवास करो ॥ ५ ॥

व्याख्या:—कमाना, खाना, और भोग-विलास करना तो पशु आदि खानियों में भी हैं, मनुष्य शरीर ही ऐसी उत्तम भूमिका है जहाँ कल्याण-साधना की जा सकती है। कल्याण-इच्छुक को चाहिये कि वह दुःखदायी विषय-वनों में न भटके। ऐसा उत्तम समय पाकर शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिये। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मलीनता एवं दुःखों से पूर्ण होता है। विषयों की फाँसी पर लटक कर मनुष्य अपने जीवन को परतंत्र कर देता है। यदि मनुष्य स्वतंत्रता, स्ववशता, स्वच्छन्दता तथा पूर्ण सुखमय जीवन चाहे, तो शुद्ध ब्रह्मचारी बने।

शुद्ध ब्रह्मचारी ही उत्तम समाज-सेवक, उत्तम नेता, उत्तम परोपकारी, उत्तम लेखक, उत्तम साधक तथा सन्त हो सकता है। शुद्ध

ब्रह्मचारी ही वासनाओं को दमन करके दुर्लभ कल्याण प्राप्त कर सकता है।

'सब ब्रह्मचारी हो जायँ तो सृष्टि कैसे चलेगी?' यह महा भोड़ा प्रश्न है। क्यों सब ब्रह्मचारी होंगे और क्यों सृष्टि रुकेगी। रहा, यदि सब ब्रह्मचारी हो जायँ और सबका कल्याण हो जाय, तो सृष्टि न होने की चिन्ता ही किसे रहेगी। बड़े यत्न से कोई ब्रह्मचारी हो पाता है। संसार के सभी मनुष्यों का ब्रह्मचारी होना असम्भव है।

अपने मन-इन्द्रियों को जो अपने वश में कर लेता है, वही महान आत्मा है। वही मनुष्य शरीर को सफल बनाने वाला, कृतार्थ रूप तथा मंगलमय है। सारी श्रेष्ठतायें उस पर निर्भर हैं।

मनुष्य शरीर की विशेषता

दृष्टान्त—एक सन्त से एक मनुष्य आकर बोला—हे सन्त भगवन्! मैं अत्यन्त दरिद्र एवं दुखी हूँ, मेरी दरिद्रता किसी प्रकार मिटाइये। सन्त बोले—जब तुम अमोलिक मनुष्य शरीर पाये हो तब तुम्हें अपने को दरिद्र नहीं मानना चाहिये। अच्छा बताओ—तुम्हें यदि कोई दस हजार रुपये देकर तुमसे दोनों आँखें माँगे तो क्या तुम दोगे? मनुष्य—नहीं। सन्त—यदि कोई पचास हजार रुपये देकर तुम्हारे दोनों हाथ-पैर माँगे तो दोगे? मनुष्य—कदापि नहीं। सन्त—अच्छा! सारे संसार की सम्पत्ति देकर तुमसे यदि कोई तुम्हारी जान माँगे तो दोगे? मनुष्य—नहीं देंगे। सन्त—बताइये! जिस मनुष्य शरीर का मूल्य सारे संसार की सम्पत्ति नहीं है, यहाँ तक कि एक इन्द्रिय यदि कट या खराब हो जाय तो सारे विश्व का राज्य देने पर भी वैसी चैतन्य सत्ता संयुक्त इन्द्रिय कोई नहीं दे सकता, फिर ऐसे महान मनुष्य-शरीर रूपी सम्पति को प्राप्त कर अपने को निर्धन मानना कितनी भूल है। जैसे किसी ने हीरे से भरे हुए घड़े को पाकर भी उसे कंकर-पत्थर जानकर फेंक दिया, निदान दरिद्र ही बना रहा। वैसे ही साधन-धाम

मुक्तिद्वार रूप मनुष्य शरीर को प्राप्त कर भी जीव अविवेक-वश दरिद्र बना रहता है। इस उत्तम नर-काया से विषय-विकार त्याग कर और सद्गुरु-सत्संग-द्वारा स्वरूपज्ञान प्राप्त कर साधन-संयम पूर्वक निर्वासनिक स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। मिथ्या माया की अप्राप्ति में अपने को निर्धन नहीं समझना चाहिये। मनुष्य कितना भी मायावी धनों को प्राप्त कर ले, अन्त में जड़ वस्तुयें तो छूट ही जाती हैं। सर्वदा अक्षय, पास रहने वाला तो अपना चैतन्य धन ही है। अतएव संसार की क्षण-भंगुर माया की इच्छा त्याग कर इस नर-शरीर-द्वारा सद्गुरु का सत्संग करके मोक्ष रूपी महान और अविनाशी धन प्राप्त करना चाहिये।

वह मनुष्य प्रथम जन्म का शुभ संस्कारी था। महात्मा के वचन सुनकर और सद्गुरु की शरण लेकर स्वरूपज्ञान और साधन-संमय-द्वारा अविनाशी स्थिति रूपी महान धन को प्राप्त कर अत्यंत श्रेष्ठ हो गया। उन्हें अब बड़े-छोटे सब लोग चाहने लगे। उनकी स्थिति नाम-रूप के परे हो जाने से उनका यह लक्ष्य हो गया :—

साखी

मन की भूख मिटाय के, तन की को नहिं भंख।
प्रारब्धी पुरुषार्थ सत, तेहि बल सदा अशंख ॥मु०॥

कवित्त

आवन है न जावन न लोभन है लोभावन को,
मोहन उर गयो सोहन सद्गुरु को मंत्र है।
भोगन के बढ़ापन में तापन में जरचों बहु,
आपन के जापन में भयो निजतंत्र है॥
राज गज बाजि धन साज लाज रूप भयो,
अब तो विराज त्याग धन जन सुख यंत्र है।
भोग अभिलाष आश वास जग नाश करि,
पास को विनाश वास पारख स्वतंत्र है॥१॥

[शिक्षा–पद]

अतः विष भोग को त्यागो, न फिर तुम दीन होओगे ।
परम पद स्थिती पाकर, सदा सुख नींद सोओगे ॥टेक॥

न फिर इच्छा सतायेगी, न कोई कर सके मुजरिम ।
अभय दुख से रहित सुखिया, सबन सिरमौर होओगे ॥१॥

न होवे गर्भ में जाना, न तापों में जलोगे फिर ।
जो तजि आसक्ति विषयों की, न फिर तन बीज बोओगे ॥२॥

तेरी हो पूर अभिलाषा, जो बाकी है बहुत दिन की ।
परम पद मुक्ति को पाकर, सकल दुख द्वन्द्व खोओगे ॥३॥

चमक जावे तुम्हारा दिन, उजाला ज्ञान का होवे ।
निराला हो यदी गुरु के, चरण 'अभिलाष' सेओगे ॥४॥

लोभ-मोचन प्रसंग

शब्द ८

धन संग्रह जीवन दुःखदायी ॥ टेक ॥
यतन अनेकन प्राप्त करन में, छल बल अमित बनाई
प्राप्त होय संयोग पाय कछु, तृष्णा अधिक सताई १
लाख हजारन अर्ब खर्ब लौं, यथा योग्य जेहि पाई
रक्षा करन हरण भय निशदिन, चिन्ता रही सताई २
वैर विरोध दम्भ झंझट बहु, चोरी घात कराई
धन मदान्ध को सूझत नाहीं, हानि लाभ निज काई ३
काम क्रोध तेहि हेतु प्रबल है, अवगुण सब उपजाई
मिथ्या भाषण वाम काम रत, कपट भेद कुटिलाई ४
नाच सिनेमा व्यसन अनेकन, शौक शिङ्गार बढ़ाई
मदिरा मांस सबै कुछ भक्षण, करि उत्पात मचाई ५

राग द्वेष में झुलसत नित ही, क्षण यक चैन न पाई
जो हित मित्र शत्रु ह्वै गाँसत, धमकी बहुत जमाई ६
खटक हमेशा दिल में खोलत, आशा फाँस बँधाई
जो कछु खर्चत प्राणहिं निकसत, मानहु देह छुटाई ७
धर्म भक्ति स्वपन्यो नहिं भावत, लोभी के मन भाई
लोभ रहित बिन सुख नहिं कबहूँ, करि उपाय बहुताई ८
धनी सेठ सब लोभ के कारण, अपनी जान गँवाई
सुनि देखै इतिहास जगत में, सङ्ग न जावै पाई ९
कहँ तक कहौं लोभ की महिमा, सब अनर्थ की खाई
गर्ज विवश परवश चाकर करि, लूट फूँक तेहि ताई १०
धन चाकर नहिं बनै किसी का, चाकर सब तेहि काई
भूप से रंक रंक से भूपहिं, यहि विधि सब भरमाई ११
नर की दशा शहद मक्खी सम, फँसि फँसि जान गँवाई
दीप शिखा ज्यों रेल की छाया, स्थिर पल न रहाई १२
ताते सजग रहो निशिवासर, भक्ति विराग टिकाई
गुरु विवेक जो सन्त पारखी, हितकर युक्ति बताई १३
अहो मित्र मन करि विचार उर, धन के लोभ हटाई
स्वतःअखण्डस्वरूपअक्षयधन, गहिगुरुचरणरहोलवलाई १४
सूरत सत्य बोध यह गुरु का, मनन करत दुख जाई
सावधान रहि ठहरि आप में, जड़ से विलग सदाई १५

टीका :—जिस जीवन में विवेक और सदुपयोग-रहित धन का संग्रह किया जाता है, वह दुःखों से भर जाता है ॥ टेक ॥ अधिक धन प्राप्त करने के लिये अनेक यत्न करने पड़ते हैं। छल, जबर्दस्ती, मिथ्याभाषण,

घूसखोरी, बेईमानी ठगाई, बदमाशी, चोरी आदि बहुत अघ कर्म करके अधिक पैसा इकट्ठा होता है। शुभाशुभ पुरुषार्थ या प्रारब्धवशात् कुछ धन प्राप्त हुआ, तो अधिक तृष्णा सताने लगती है ॥ १ ॥ हजार, लाख, अरब, खरब तक या अपने योग्यतानुसार जो जितना धन पाता है, उसको रक्षा के लिये उसे हर क्षण चिन्ता रहती है, क्योंकि चोर, डाकू, राजा-द्वारा छिन जाने का भय उसके सिर पर रात-दिन सवार रहता है और उसे चिन्तायें सताती रहती हैं ॥ २ ॥ धन की खींचातानी में अपने घर ही में परिवार के लोगों से विरोध, शत्रुता तथा अनेक झगड़े बढ़ जाते हैं। धनी मनुष्य प्रायः दम्भ—दिखावे को प्रश्रय देता है, जो दूसरे को धोखा में डालने वाला है। यह धन चोरी और विश्वासघात करा देता है। धन के मद में अंधे मनुष्य को अपने वास्तविक हानि-लाभ नहीं सूझते ॥ ३ ॥ भोग-साध्य अधिक धन से जीवन अधिक विलासी बन कर काम की अत्यंत प्रबलता होती है। काम से क्रोध उत्पन्न होता ही है। फिर उसके जीवन में सारे दुर्गुण विकसित हो जाते हैं। झूठ बोलना, स्त्री विषय में अत्यंत आसक्ति होना, कपट-भेद करना तथा क्रूरता करना—ये सारे दोष उसमें आ जाते हैं ॥ ४ ॥ नाच-सिनेमा देखने के पीछे अवारा बने रहना, अनेक दुर्व्यसनों में जकड़ जाना, शौकीनी एवं फैशनेवुल होना। मदिरा-मांसादि समस्त अभक्ष्य का भी भक्षण करना, अनेक झगड़े-रगड़ें करके सबको कष्ट देना ॥ ५ ॥ उपर्युक्त आचरण रखने वाले राग-द्वेष में रात-दिन जलते रहते हैं, ऐसे लोगों को एक क्षण भी शान्ति नहीं मिलती। ऐसे भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्ति के जो पूर्व के हितकारी मित्र रहते हैं, वे भी उसके शत्रु हो जाते हैं। और कितने तो उसके धन तथा जीवन को भी लेने के लिये धौंस जमाते हैं ॥ ६ ॥ ऐसे मनुष्य के हृदय में सदैव चिन्ता की भट्ठी जलती रहती है, वह आशा की फाँसी में बँधा हुआ अनन्तों कष्ट उठाता रहता है। ऐसे लोभी मनुष्य को जब कभी कुछ धन खर्च करना पड़ता है तो प्राण-पीड़ा ही लग जाती है ॥ ७ ॥ ऐं भाई ! लोभी के मन में धर्म-भक्ति तो स्वप्न में अच्छे नहीं लगते। मनुष्य चाहे जितनी ही युक्ति करे किन्तु लोभ का परित्याग किये बिना कभी सुख नहीं मिल सकता ॥ ८ ॥ कितने धनी-मानी सेठ-साहूकारों की जानें लोभ के कारण से ही जाती हैं। संसार में

ऐसे अनेक इतिहास सुने जाते हैं और आये दिन घटनायें भी देखने को मिलती हैं, परन्तु जीव के साथ में एक पैसा भी जाने वाला नहीं है ॥ ९ ॥ लोभ की महिमा कहाँ तक कही जाय, यह सब अनर्थों की खाईं है। यह लोभ जीव को गर्जी बनाता है, पराये के अधीन करके दासता कराता है, इसके लिये लोग लूट-फूँक भी करते हैं ॥ १० ॥ माया तो किसी की दासी नहीं बनती, प्रत्युत उसी के सब दास बन रहे हैं। यह छलिया माया राजा से दरिद्र और दरिद्र से राजा बनाकर सबको भटका रही है ॥११॥ लोभी मनुष्य की दशा शहद की मक्खी के समान है, सब माया में फँस-फँस कर अपनी जानें दे रहे हैं। जैसे दीपक की शिखा और रेल की छाया चंचल है उसी प्रकार यह माया पल भर भी स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं है ॥ १२॥ अतएव माया के लोभ से रात-दिन सावधान रहो—दूर रहो, विवेकी सद्-गुरु संतजन जो हितकारी उपाय बताते हैं, उसको और भक्ति, वैराग्य को हृदय में धारण करो ॥ १३ ॥ अहो मन मित्र ! विचार करो और धन के लोभ को दूर करो। यह अपना चेतन स्वरूप अखण्ड और अक्षय धन है, इस बोध को धारण करके गुरुदेव के ज्ञान-आचरण रूप चरण-शरण में स्थित होकर तत्गत रहो ॥ १४॥ ग्रंथकर्त्ता गुरुदेव कहते हैं कि यह सद्गुरु का सत्य स्वरूप बोध का स्मरण करते ही दुःख दूर हो जाता है। जड़ से सर्वदा सर्वथा पृथक अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में सावधानी पूर्वक स्थित हो जाओ ॥ १५ ॥

व्याख्याः—जीवन-निर्वाह के लिये धन की आवश्यकता है, इस-लिये भौतिकता की उन्नति तथा धन का उचित संग्रह बुरा नहीं, अपितु अच्छा और आवश्यक है, परन्तु जहाँ विवेक का परित्याग कर लोभवृत्ति पूर्वक केवल संग्रह की ही चेष्टा है, वह दुःखों का ही कारण है। मनुष्य का लक्ष्य धन का अनुचित संग्रह तथा विषय भोग नहीं, अपितु आत्म-कल्याण करना है। धन केवल शरीर-रक्षा का साधन है। शरीर की रक्षा करने का फल, शरीर से साधन-भजन करके जीव का उद्धार करना है।

कल्याण का लक्ष्य भूलकर केवल धन के संग्रह और लोभ में पड़ा हुआ व्यक्ति महान प्रमादी, उदण्ड, दुर्गुणी एवं अन्ततः दुःखों का पात्र बन जाता है।

कवित्त

धन के प्रमाद मद लाद अगाध सिर,
तापन में जरत आपन आपन करि धायो है।
चोरी व्यभिचारी हिंसा-क्रूर कुटिलाई सब,
मद्य मांस वेश्यागमन परपीड़न भायो है॥
तनिक न छुइ गयो ज्ञान भक्ति नम्रताई,
अहंकार माहि फूले देह न समायो है।
एक दिन भूलि गयो मान अभिमान सब,
कालचक्र आय ठेलि नर्क में डुबायो है॥

कुछ लोभियों के उदाहरण आगे दिये जाते हैं; उसे मनन करें और इस वृत्ति से दूर रहने की चेष्टा करें।

दुःखों की जड़ लोभ

दृष्टांत:—एक सेठ अति सम्पदाशाली था। उसके घर में और कोई नहीं था, सेठ बहुत ही लोभी और कृपण था; इसलिये उसने एक ही नौकर रखा था। एक दिन सायंकाल को भोजन करने के पश्चात् ग्राम में जहाँ कथा हो रही थी, सेठ जी कथा सुनने गये। जब आधी दूर पहुँचे तो उन्हें स्मरण आया कि हमने अभी घर का दीपक नहीं बुझाया है। यदि कथा सुन कर लौटने तक जलता रहा तो लगभग एक पैसा का तेल जल जायगा, अतः उसे अभी लौट कर बुझा देना चाहिये। ऐसा विचार कर सेठ जी लौटे और जाकर द्वार पर नौकर को पुकारा। नौकर द्वार का किवाड़ खोल कर सामने आ कहने लगा—आप क्यों लौट आये ? सेठ–दीपक बुझाने के लिये। नौकर—उसे तो मैं बुझा दिया था। सेट--ओह ! तुमने यह बात भीतर से ही क्यों नहीं कही। जानता है बार-बार किवाड़ खोलने और बन्द करने से शीघ्र ही किवाड़ की चूड़ी घिस जायगी ? नौकर—आप निरर्थक ही लौटे, इतनी दूर लौट कर चलने से व्यर्थ ही में जूते के नाल घिस गये होंगे। यहाँ

तो मैंने दीपक बुझा ही दिया था। सेठ—नहीं-नहीं, मैंने जब आधी दूर से लौटा था तभी से जूते निकाल कर बगल में दबा लिया था। इस प्रकार वार्ता करके सेठ जी कथा में जा पहुँचे।

कथा समाप्त होने पर सब लोगों ने सेठ जी से कहा—आप इस मण्डली में धनी-मानी करोड़पति हैं। कल कथा समाप्त होगी, अतः दान रूप में एक हजार रुपये कल भण्डारा में दीजिये। ऐसा सुन कर सेठ जी बड़े जोरों से उछ्वास लेते हुए बोले—अच्छा, देखा जायगा, जो होगा सो कल होगा। निदान सेठ जी घर जाकर सोचने लगे—हमारे पास सौ तिजोरियाँ (संदूकें) हैं। प्रत्येक में एक-एक लाख रुपये हैं। यदि किसी सन्दूक से एक हजार रुपये निकाले जायँगे तो वह सन्दूक हर सन्दूकों की अपेक्षा खाली हो जायगा। किन्तु बहुत सोच-विचार कर समाज की लज्जा से एक सन्दूक को खोले, और एक हजार रुपये निकाले। पुनः विचार करने लगे कि एक हजार रुपये निकालने से तो एक करोड़ का खजाना खोड़ हो जायगा, अतः पाँच सौ पुनः सन्दूक में रख दिये। फिर सोचने लगे, पाँच सौ निकालने से भी तो करोड़ में खोड़ हुआ, अतः पुनः ढाई सौ रख दिये। निदान कई बार हिचक-पिचक कर सब रुपये रखकर केवल एक रुपया लिये और कथा में चढ़ाने चल दिये। जब आधे मार्ग में गये तब सोचते हैं—आखिर एक रुपया निकालने से भी तो एक करोड़ में खोड़ हुआ। अतः पुनः सेठ जी लौट कर उस एक रुपया को भी सन्दूक में लाकर रख दिये और सोचने लगे कि किसी से चार आने पैसे उधार लेकर नारियल का फल ले यदि कथा में चढ़ा दिया जाय तो सर्वोत्तम होगा; क्योंकि थोड़े पैसे का खर्च भी पड़ेगा और नारियल पुनीत फल भी होता है, और सबके कहने पर हम अपना घर कहाँ तक लुटा देंगे। अन्त में सेठ जी किसी से चार आने पैसे उधार लेकर बाजार की ओर नारियल फल लेने के लिये बढ़े। जाकर दुकानदार से पूछा—नारियल फल का कितना दाम लोगे ? दुकानदार—चार आने। सेठ— हमसे

तीन ही आने ले लो। दुकानदार- यदि आपको तीन ही आने में लेना है तो यहाँ से दो मील आगे चौक बाजार में चले जाइये। सेठ जी चौक बाजार में गये और दुकानदार से पूछे- नारियल का मूल्य कितना है ? दुकानदार-- प्रत्येक नारियल तीन आने में। सेठ—दो आने में नहीं दोगे ? दुकानदार-- यदि आपको दो ही आने में लेना है तो स्टेशन पर चले जाइये, यहाँ से तीन मील है। ऐसा सुन सेठ जी दौड़े-दौड़े स्टेशन पर गये और दुकानदार से पूछे—एक नारियल का कितना दाम ? दुकानदार—दो आने। सेठ—एक आना में नहीं दोगे ? दूकानदार-- एक आना में लेना है तो यहाँ से दो मील बाग है चले जाइये। सेठ जी बड़ी कठिनता से टूटी जूती घिसीते-घिसीते बाग में जा पहुँचे और बागवान से पूछे--एक नारियल का दाम कितना लोगे ? बागवान--एक आना। सेठ--दो पैसे में नहीं दोगे ? बागवान---यदि आपको दो पैसे में लेना है तो पेड़ पर चढ़कर तोड़ लीजिये। इतना सुनते ही तुरन्त सेठ जी अपनी धोती बाँधकर नारियल के वृक्ष पर चढ़ गये। नारियल का फल कुछ दूर पर लगा था। लपक कर उसे तोड़ने लगे। वायु तेजी से चल रहा था, उनके पैर पेड़ से खिसक गये और वे उसके पत्ते पकड़ कर लटक गये और गेंद की भाँति झूलने लगे। इतने में एक हाथीवान आया। उससे सेठ ने कहा---हम तुम्हें पाँच हजार रुपये देंगे, हमें इस वृक्ष पर से उतार लो। हाथीवान हाथी खड़ा कर और हाथी पर स्वयं खड़ा होकर सेठ का पाँव पकड़ा। इतने में हाथी समझा मानो पीलवान चलने को इशारा कर रहा है, यह सोच कर हाथी चल दिया। अब तो सेठ का पाँव पकड़ कर पीलवान भी वृक्ष में लटका। इतने में एक वनिया एक घोड़ा लिये आ गया। सेठ और हाथीवान ने कहा— हम दोनों को उतार लो तो तुम्हें दस हजार रुपये देंगे। वनिया लोभ-वश झट अपने घोड़े पर खड़ा होकर उन दोनों को उतारने के लिये हाथीवान का पाँव पकड़ा कि पकड़ते ही चंचल घोड़ा मचल कर भाग खड़ा हुआ। अब क्या था तीनों मनुष्यों का भार पत्ते न सह

सके अर्थात् टूट पड़े और नीचे एक कूप था, उस कूप में तीनों आकर झमाक से गिर पड़े।

शिक्षाः— दोहाः—अधिक लोभ ना कीजिये, अधिक लोभ है हीन।
अधिक लोभ के कारणे, गिरे कूप में तीन।

दृष्टांतः—कथा है एक लोभी और कृपण मनुष्य जीवन भर पैसा जोड़ा किन्तु धर्म-परमार्थ में कभी विशेष खर्च नहीं किया। उसके पास कई तिजोरियाँ थीं वह तिजोरियों में बैठ कर रुपये गिना करता था। एक दिन एक तिजोरी में बैठा रुपये गिन रहा था। इतने में कोई कार्य वश बाहर से नौकर आ पड़ा। तुरन्त लोभी ने तिजोरी में बैठे-बैठे तिजोरी का फाटक बन्द कर लिया। फाटक गिरते ही उसमें खटका लगा था इसलिये स्वयं ताला लग गया। अब बेचारे लोभी रामजी रुपये के साथ तिजोरी में बन्द हो गये। पहले तो लज्जा-वश किसी को पुकारे नहीं, पीछे श्वास फूलने पर पुकारने लगे तो शब्द बाहर निकला नहीं। निदान उसी में मर कर सड़ गये।

दृष्टांतः—एक सेठ धर्म परोपकार में धन नहीं खर्च करता। यदि कभी भूले-भटके सत्यनारायणव्रत कथा भी सुनता तो आठ आने पैसे ही चढ़ाता और पण्डित जी को अपने यहाँ भोजन नहीं कराता क्योंकि घर पर भोजन कराने से कुछ अधिक खर्च बैठता था। अतः एक पाव आटा देकर विदा कर देता। इस प्रकार जीवन भर बेईमानी, ठगी, सूद-खोरी, झूठाई करके बहुत रुपये संग्रह किया। एक रात्रि में कई डाकू आकर सेठ को अग्नि से सेंक-सेंक कर सारा धन कबूल करवा कर छीन लिये और चलते समय सेठ को बन्दूक से दाग दिये।

शिक्षाः—लोभ बहुत बड़ा राक्षस है। अतः धर्म-परोपकार में उदारता पूर्वक धन खर्च करके इस "लोभ राक्षस" से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहिये।

गृहस्थी में या विरक्ति में प्रत्येक स्थान पर लोभ दुःखकारक है। फिर विरक्ति में तो लोभ महान कलंक की टीका और नर्क का द्वार ही

है। अतः निम्न दृष्टांत को मनन करके वेष-धरियों को भी लोभ त्यागना चाहिये।

दृष्टांतः—एक शिव उपासक महात्मा थे। वे सर्वदा संसार में विचरा करते थे। कुछ दिन के पश्चात् उनके पास निन्नानबे असर्फियाँ हो गयीं। अब वे इसी प्रकार की चिन्ता में रहने लगे कि किसी भाँति एक असर्फी और होती तो सौ असर्फियों की गठरी हो जाती। महात्मा जी समय-समय से उन असर्फियों को कहीं एकान्त वृक्ष के नीचे इधर-उधर देख कर जब कोई नहीं रहता तब गिनते और गिन कर पुनः उसे जटा में बाँध लेते थे। महात्मा जी एक दिन एकान्त स्थल में एक वृक्ष देख कर वहाँ जाकर जटा से असर्फियों को खोलकर गिनने लगे। संयोग-वश पास के ही ग्राम में स्त्री-पुरुष परस्पर झगड़ा किये थे। अतः पुरुष क्रोधित हो स्त्री से रुष्ट होकर उसी वृक्ष के ऊपर आकर एक डगाली पर बैठा था। किन्तु उस मनुष्य को महात्मा जी देख नहीं पाये थे। जब महात्मा जी असर्फियों को गिन कर और जटा में बाँध कर चल दिये, तब वृक्ष पर बैठा हुआ मनुष्य सोचने लगा कि इन महात्मा जी का द्रव्य हमारे हाथ कैसे लगे। निदान एक युक्ति सोच कर और शीघ्र वृक्ष से उतर कर अपने घर गया और स्त्री से सब समाचार कह सुनाया। स्त्री बोली–उन महात्मा जी को घर पर लाओ[1] तो भले हाथ लग सकता है, नहीं तो नहीं बनेगा। यह सुन कर पुरुष दौड़ा-दौड़ा गया, यद्यपि महात्मा दूर चले गये थे, किन्तु बहुत आग्रह करके बुला लाया और कहने लगा महाराज! मैं सन्तों की सेवा भली प्रकार करता हूँ। ये तन, मन, गृह, सम्पत्ति सब आपके ही हैं। आप जितना दिन चाहें उतना दिन प्रसन्न होकर रहें। आपकी दया से कोई वस्तु की कमी नहीं है और महाराज जी यदि कोई महात्मा हमारे द्वार पर आ जायँ तो उनकी सेवा करता हूँ और चलते समय एक असर्फी भी विदाई में देता हूँ। यह सुन

---

१. देखिये! स्त्री-पुरुष में परस्पर झगड़ा था किन्तु दूसरे को ठगने के लिये तुरन्त ही दोनों में मिताई हो गयी। ऐसा यह जीव स्वार्थ में चतुर है।

महात्मा जी सोचने लगे कि आज तो हमारी भली बन आयी, अभी निन्नानवे से सौ अशर्फियाँ नहीं हुई थीं; किन्तु आज सैकड़ा पूरा हो जायगा। कुछ जलपान कर लेने के पश्चात् वह पुरुष महात्मा जी से विनय किया—हे महात्मन्! भोजन बनाने के लिये कृपा करके भीतर चलने का कष्ट करें। महात्मा जी घर के भीतर गये और भोजन बना चुके, पश्चात् महात्मा ने भगत को भोजन करने के लिये बुलाया। कपटी भगत बोला स्वामी जी! आप भोजन कर लीजिये, हम दोनों प्राणी पीछे से आपका प्रसाद पायेंगे। ऐसा कह कर स्त्री पुरुष दोनों घर से बाहर हो गये। महात्मा जी जब भोजन करके बाहर आये और कुछ विश्राम करके चलने को कहे, तब स्त्री से पुरुष ने कहा—सुनती है? स्त्री बोली—कहिये, क्या है? पुरुष—जो भण्डार घर के एक ताक में निन्नानवे अशर्फियों की एक थैली रखी है, उसी में से एक अशर्फी महात्मा जी की चरण-पूजा के लिये ले आओ। स्त्री घर के भीतर जाकर झूठे खोज-खाज कर बाहर आयी और कहने लगी कि वहाँ तो अशर्फियों की थैली नहीं है। पुरुष क्रोधित होकर कहने लगा तो क्या हुई? स्त्री - मैं क्या जानूँ। इतने में दोनों में दिखावा मात्र का झगड़ा होने लगा। स्त्री बोली—पता नहीं कहाँ-कहाँ के साधू-उपाधू को घर में घुसा लेते हो, जब भला! हमारे घर में और कोई आता ही नहीं तो सिवा साधु महाराज के और किसने लिया? पुरुष—अरे हरामजादी! कहीं महात्मा चोरी करते हैं। ऐसी बात कहीं मत कहना। स्त्री—हरामजादे के बच्चे तुम और जिसने अशर्फियाँ उठायी हो वह, मैं क्यों हरामजादी। पुरुष जाकर महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा हे दयासागर सन्त भगवन्। स्त्री की जाति बड़ी खोटी होती है। देखो महाराज! यह दुष्टा आपको चोरी का अपराध लगा रही है। अतः कृपा करके आप झारा (तलाशी) दे दीजिये, जिससे इस हत्यारिनी की शंका मिट जाय, नहीं तो यह सारे आस-पास में यही प्रचार करेगी कि महात्मा जी हमारी अशर्फियों को ले गये। अरे! हमें बड़ा भारी डर लगता है कि

ये हरामजादी कहीं थाना पर इत्तला न कर दे, नहीं तो आप महात्मा पुरुष को जेल—मार का अवसर पड़ जाय। इस प्रकार उस मनुष्य की कपटभरी वाणी सुनकर महात्मा जी तो सूख गये, किन्तु करते ही क्या! उनकी तो इस प्रकार दशा हो गई कि—इधर गिरूँ तो कूयें में, और उधर गिरूँ तो है खाई।" अब करते ही क्या! विवश होकर महात्मा जी को झारा देना पड़ा। जब महात्मा जी के झारा देने पर भी असर्फियों की थैली नहीं निकली, तब पुरुष से स्त्री बोली--तू गँवार है गँवार। अरे! बाबा के जटा में तो देख! पुरुष महात्मा से फिर विनय किया---हे महात्मन् साँच को आँच ही क्या। अतः आप जटा को भी खोल कर दिखा दीजिये, जिससे इसको पुनः आपके प्रति शंका न रह जाय। अब जब महात्मा जी ने जटा खोली, तो खोलते ही असर्फियों की थैली पृथ्वी पर खन्न से गिर पड़ी। पुरुष से स्त्री बोली--देखो! यहीं तो मैंने कहा था कि बाबा ही लिये होंगे। पुरुष---चुप-चुप! यह बात किसी से कहना नहीं कि महात्मा जी हमारी असर्फियाँ चुराये थे। अरे! महात्मा कहीं असर्फी रखते हैं, वे के.ल परीक्षा के लिये ही ले लिये थे। अब इन दोनों के बीच में महात्मा जी तमाशा हो गये। क्या करें विचारे। "जीवन भर की कमाई, एक क्षण में गँवाई।" उस मनुष्य ने महात्मा को एक असर्फी देकर विदा करते हुए कहा कि---हे सन्त भगवन् मैं तो कुछ देने लायक हूँ नहीं, यही एक असर्फी चरण-सेवा में स्वीकार कर लीजिये और मेरी त्रुटियों को क्षमा कीजियेगा, क्योंकि हमारे ही कारण आपको आज बड़ा भारी अपयश लग जाता; यह तो आप कृपा कर झारा दे दिये। अच्छा महाराज! हुआ सो हुआ, फिर शीघ्र आने की कृपा कीजियेगा। महात्मा यही कहते और पछताते हुए चल दिये कि 'पुनः जब निन्नानबे असर्फियाँ इकट्ठा कर पाऊँगा तब तो तुम्हारे यहाँ आना ठीक होगा।" महात्मा एक बाग में जाकर और बैठ कर अपनी लोभ वृत्ति पर बहुत पश्चात्ताप किये और उसी दिन से शुद्ध वैराग्य करते हुए पैसा कभी नहीं जोड़ते थे।

शिक्षा:—दोहा

बहता पानी निर्मला, रूका गन्दा होय।
विचारवान साधू भला, दाग न लागे कोय॥
"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवे त्यों फेरी हो।"

बहुत पैसा जोड़ने से लोभवृत्ति बन कर मन में विकार होता है, अतः त्यागी को बहुत पैसा नहीं जोड़ना चाहिये।

मनुष्य कितना ही धन जोड़ ले अन्त में सब छूट जायगा। जिसके पास अधिक धन है, उसको दिल खोल कर परोपकार एवं धर्म-भक्ति में लगाकर लोक में सुयश तथा परलोक में सुख का भागी बनना चाहिये। यह अवसर बारम्बार नहीं मिलता। यदि मनुष्य ऐसा नहीं किया और धन का ही कीड़ा बन कर जीवन समाप्त किया तो परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। इस क्षणविनाशी संसार में माया से प्रेम हटा कर भजन ही करना सार है।

शब्द चेतावनी

मन ! मानो बचनिया हमार, रहन जग दो दिन का॥टेक॥
काह करोगे महल अटारी, सुख सम्पति परिवार।
रूप जवानी विद्या बानी, देहियों तो होइ जइहैं छार॥ १॥
मुट्ठी बाँधि जगत में आये, जइहौ हाथ पसार।
ना कुछ लायो ना लै जइहौ, झूठा सकल हंकार॥ २॥
जो कुछ सुनो गुनो अरु देखो, स्वपन समान असार।
छल स्वारथ से भरो जगत् यह, तजु ममता सुत दार॥ ३॥
उत्तम देह मनुज को पायो, मुक्त होन को द्वार।
करो भजन शम दम साधन उर, धरो विवेक विचार॥ ४॥
सब कामना जगत की त्यागो, तजु तन का हंकार।
हर-क्षण-मुक्ति देश का चिन्तन, अचल असङ्ग अभार॥ ५॥
मन की आश कबहुँ नहिं पूरे, बीते कल्प हजार।
सब तजि मुक्ति पंथ में लागो, यहि 'अभिलाष' है सार॥ ६॥

प्रसंग ३ काम भंजन

शब्द ४

भामिन बिरह जाहि मन लागा ॥ टेक ॥

मात पिता गुरु सेवा छुट्यो, भूलि गयो वैरागा
भक्ति ज्ञान स्वप्न्यो नहिं भावे, नारि विषय अनुरागा १
कामिन नेह दुसह दुःख दाई, समुझत नाहिं अभागा
भय तृष्णा परवशता कारण, चिंता में नित पागा २
इच्छा प्रबल मोह वश यह मन, चलै श्वान जिमि कागा
दया क्षमा सत शील धीरशुचि, तजि सत्संग अदागा ३
सिंह समान भूलि निज रुपहिं, दिल कुसंग में पागा
विषय कीट परतंत्र भयो सब, सहत गर्भ कर आगा ४

टीका:—कामिनी की दृढ़ आसक्ति में जिसका मन लग गया ॥ टेक ॥ उससे माता-पिता और गुरु की सेवा छुट जाती है, वैराग्य की दशा भूल जाती है। उसे भक्ति-ज्ञान स्वप्न में भी अच्छे नहीं लगते, वह केवल स्त्री-विषय में ही सदैव आसक्त रहता है ॥ १ ॥ कामिनी की आसक्ति कठिन दुःखप्रद है; परन्तु भाग्य हीन मनुष्य इस तथ्य को नहीं समझता। यह विषयासक्ति भय, तृष्णा और परतंत्रता की जड़ है। मनुष्य विषयासक्ति-वश चिन्ता में सदैव लीन रहता है ॥ २ ॥ विषयों की इच्छा प्रबल होने पर अज्ञान वश यह मनवशी जीव विषयों के लिये कुत्ता और कौआ के समान चलता है पवित्र तथा निर्दोष दया, क्षमा, सत्य, शील, धैर्य तथा सत्संग को छोड़ देता है ॥ ३ ॥ सिंहवत् महान बलशाली स्वस्वरूप चेतन को भूलकर मनुष्य का मन कुसंग-कुकर्म में आसक्त है। अतः विषय का कीट बना यह जीव सब प्रकार से परतंत्र होकर बारम्बार गर्भाग्नि की आँच सहता है ॥ ४ ॥

व्याख्याः— 'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं' विषयों का बहुत बड़ा मद होता है। जो गृहस्थ अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है, वह

माता-पिता और गुरु की सेवा-श्रद्धा को भी तिलांजलि दे देता है। यदि साधक का मन किसी स्त्री में फँस गया, तो उसे वैराग्य की बातों का स्मरण भी नहीं होता। विषयासक्ति का जबर्दस्त पर्दा हृदय पर चढ़ जाने से उसे भक्ति-ज्ञान फीके लगते हैं। कहा है—

तजत अमिय उपदेश गुरु, भजत विषय विष खान।
चन्द्र किरण धोखे पयस, चाटत जिमि शठ श्वान॥

अर्थात् जैसे रात में चन्द्रमा की किरणों से चमकती हुई धूल को दूध के धोखे में मूर्ख कुत्ता चाटता है, वैसे प्रमादी मनुष्य अमृतमय गुरुउपदेशों को त्याग कर विष की खानि रूप विषयों को भजता है।

जिस साधक के हृदय में पूरा विवेक-वैराग्य नहीं है उसके मन में जब विषयों में सुख का भ्रम हो जाता है और यह भावना जब भली-भाँति दृढ़ हो जाती है और यदि संयोग-वश स्त्री आदि का कुसंग मिल जाता है, तब उसे न तो प्रथम के ज्ञान-वैराग्यादि का ध्यान रहता है, न साधन-युक्ति का स्मरण होता है और न यह विचार कर पाता है कि "हम अपने श्रेष्ठ पद से विषय में, व्यभिचार में पतित होंगे, तो हमारी बड़ी निन्दा, बड़ा अपमान होगा। चारों ओर से कुत्ते की भाँति दुतकारे-फटकारे जायँगे। आज का निश्चिन्त, सुखमय जीवन चला जायगा। जीवन नरकमय और कष्टमय हो जायेगा। मोक्ष-पथ, सत्संग छूट जायगा। सज्जन-संत के साथ बैठने लायक नहीं रहूँगा। कुसंग में स्त्री के साथ पड़ कर हमारा जीवन दुःखपूर्ण हो जायगा। इसकी वासना-वश चौरासी यातना होगी।" उस समय सब सुख, सब मुक्ति-गति केवल विषय ही लगता है। अतएव कल्याण-इच्छुक को भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्साधन पूर्वक रहना चाहिये, और मद त्याग कर सदैव सत्संग में निवास करना चाहिये।

स्त्री की आसक्ति असह कष्टदायी है। इस स्त्री की भोगासक्ति में पड़ कर ही उसके सारे भार अपने सिर पर उठाने पड़ते हैं। इक्का के

घोड़े की भाँति रात-दिन दौड़ना पड़ता है। कहीं उत्तम-उत्तम वस्त्र-आभूषणों के लिये, कहीं पुत्र-पुत्री-हित दुवा-भभूत झाड़-फूँक कराने के लिये, कहीं शादी-विवाह की चिन्ता में, कहीं कर्ज पटाने, कहीं गृह-कुटुम्ब की सुरक्षा करने में तथा रोग-शोक, मिलन-वियोग इत्यादि में कष्टित होना पड़ता है। तिस पर स्त्री, पुत्र, पुत्र-वधुयें अपने मन के अनुकूल न पाकर सदैव रुष्ट ही रहते हैं। इन्हीं की चिन्ता में मोक्षदायी जन्म नष्ट हो जाता है और एक दिन विवशता पूर्वक स्त्री, पुत्र, शरीरादि को त्याग कर जीव को चौरासी योनियों में दुःख उठाने जाना पड़ता है। यह विषयासक्ति दावानल के समान जीव को सदैव जलाती रहती है।

कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है। उसकी ही मूढ़ों में से गरम रक्त निकल कर उसकी जीभ में लगता है। वह उसका स्वाद लेता है। वह अपने रक्त का स्वाद भ्रम-वश सूखी हड्डी में से आता हुआ समझ कर हड्डी को चबाता रहता है। यही दशा मनुष्य की है। वह सुख की कल्पना पूर्वक दूसरे का आलिंगन करता है। अपनी शक्ति-स्खलन होने से उसे आनन्द लगता है; परन्तु वह आनन्द उसे भ्रम-वश दूसरे से मिला हुआ प्रतीत होता है। वीर्य को निचोड़ने में मनुष्य को इतना आनन्द आता है, यदि वह उसकी रक्षा करे, तो उसे कितना आनन्द मिल सकता है।

कौआ बड़ा बुद्धिमान बनता है; परन्तु प्रातः ही मल खोदता है। इसी प्रकार इस उत्तम मानव चोला को पाकर, पढ़-लिखकर तथा ज्ञान-मद धारण करके भी यदि मलीन भोगों में वह लिपटा है, तो उसकी क्या विशेषता है ?

कितने लोगों को यह भ्रम है कि "काम-वासना से मनुष्य की निवृत्ति हो ही नहीं सकती।" परन्तु यह उनका भ्रम है। स्वरूप-भूल, देहाभिमान तथा असंयम से ही काम की उद्दीप्ति होती है। जिन्हें स्वरूप

ज्ञान प्राप्त है, जो देहाभिमान को मिटा दिये हैं, जो संयम-साधना से रहते हैं, वे इससे सर्वथा मुक्त होते हैं।

वासना अपना प्रभाव सब पर बराबर नहीं डाल सकती

दृष्टान्तः— पिता-पुत्र बाजार गये। बाजार में उन दोनों को कोई गाली देने लगा। गाली सुन कर पुत्र बहुत क्रोधित हुआ। पिता से कहने लगा—देखो पिता जी! वह हम दोनों को गाली दे रहा है। पिता—बेटा! यह बाजार है, अपना-अपना सौदा सब बेच रहे हैं। उसके और कुछ नहीं है तो वह गाली ही बेचता है, किन्तु क्या है, उसकी गाली न लो तो क्या वह जबरन दे देगा? इस दृष्टान्त से यह लेना है कि वह मनुष्य गाली तो पिता-पुत्र दोनों को दे रहा था; किन्तु पुत्र ही क्रोधित हुआ पिता को क्रोध नहीं आया। वह गाली धूप-छाहींवत् बराबर दोनों पर नहीं लगी; क्योंकि पिता ज्ञानी था, पुत्र अज्ञानी। इसी प्रकार 'काम' धूप-छाहीं वत् सबको बराबर नहीं लगता। स्व-स्वरूप की भूल और देह की अहन्ता-ममता से ही काम-वासना की उत्पत्ति होती है, पूर्ण स्वरूपज्ञान उदय होने पर और देहाभिमान ध्वंस कर देने पर काम की गुंजाइश नहीं रह जाती।

इस शरीर को सत्य मानकर क्षण-भंगुर भोगों के लिये मनुष्य आकाश-पाताल एक करना चाहता है; किन्तु धर्म, भक्ति, विवेक विचारादि वह कर्तव्य नहीं करता जिससे उसकी शुभ गति हो, हे जीव! वह दिन दूर नहीं है जबकि इस कच्ची काया को त्याग कर पुनः तुम्हें गर्भाग्निमें पयान करना पड़ेगा; अतः प्रथम ही सावधान होकर जन्मादिक बीज रूपी विषयासक्ति को मिटाओ।

कवित्त

"नाहक मैं जीव तुम भोग सुख मानि रह्यो,
यह नहिं जान्यो कि ये दुखद सरूप है।

यहि हेतु बार बार जनम मरण दुख,
चारि रासि तीन ताप पर गर्भ कूप है ॥
जौन भोग रात दिन जीव को जरावत है,
ताहि में जो सुख लखे अंधता को रूप है।
आपन भलाई चाहो देह भाव त्याग कर,
थीर करो गुरु पद पारख स्वरूप है ॥

ऊपर मुमुक्षु पुरुषों के मन में स्त्री-आसक्ति के प्रति दोष-दर्शन कराया गया है, वही बात मुमुक्षा नारियों के लिये है। वे पुरुष की आसक्ति सब प्रकार भयंकर समझ कर उनसे बचें।

शब्द १०

युवा मद मस्त अन्ध नहिं सूझै ॥ टेक ॥

करत निरन्तर जाप विषय का, अमृत लखि तेहि रीझै
नारिन संग बकस अश्लीलहिं, मदपी सम नहिं बूझै १
धर्माधर्म का ज्ञान नहीं कछु, अनुचित उचित न सूझै
श्वान शुनी सम निशदिन भरमै, कटि पिट विषयन रीझै २
करत परस्पर केलि क्रिया को, कपट अनेकन सीझै
लखि सब बालक मारन धावैं, काम कीच दुख खीझै ३
बिन गुरु ज्ञान ध्यान बिन नीके, गति सबकी यह लीजै
बन्धन नशै ओट लै पारख, अबकी समर जितीजै ४

टीका :—जवानी के मद में मतवाले अविवेकी मनुष्य को हिताहित नहीं सूझता ॥ टेक ॥ वह विषयों का निरन्तर स्मरण करता है, उन्हें अमृत के समान समझ कर उन्हीं में आसक्त होता है। स्त्रियों के साथ गंदी बातें बकता है, मद्यपी के समान उसे कुछ नहीं सूझता ॥१॥ वह धर्म-अधर्म का न किंचित विचार रखता है और न उसे उचित-अनुचित का भेद दिखाई पड़ता है। पतित नर-नारी श्वान-शुनी के सदृश रात-दिन विषयों के पीछे दौड़ते

हैं, सारी दुर्दशा सहकर भी उन्हीं में आसक्त होते हैं ॥ २ ॥ वे परस्पर वीभत्स केलि-क्रिया करके तथा विषय - स्वार्थ-वश अनेक छल-कपट का व्यवहार करके नष्ट होते हैं। जैसे श्वान शुनी की विषय-दीनता को देखकर बालक कुतूहल वश उन्हें मारने दौड़ते हैं, उसी प्रकार पामर नर-नारियों के अभद्र व्यवहार को देखकर सभी थू-थू करते और समय पर कूट-कुटम्मस भी करते हैं। जीव इस काम कीचड़ में पड़कर दुःख और क्रोध में जलता है ॥ ३ ॥ गुरु के ज्ञान तथा पवित्र विचार प्राप्त हुए बिना सबकी यही दशा है। यथार्थ ज्ञान का आधार लेने से ही यह विषय-बन्धन नष्ट होता है। ऐ मनुष्य ! अब तू साधना के युद्ध में कामादिशत्रुओं को मारकर विजयी बन ॥ ४ ॥

व्याख्या :—अँगड़ाई लेती, इतराती, मचलती तथा अठखेलियाँ करती हुई जवानी भादों की एक नदी है। इस अवस्था में जो सत्संग-विवेक रूपी जहाज का आधार नहीं लेता वह कहीं-का-कहीं बह जाता है। जैसे आषाढ़ में नदी का पानी मैला रहता है, उसी प्रकार अविवेकी युवक विषय-विकारों से मैला बना रहता है; परन्तु यदि वही युवक साधना में लग जाता है तो शीघ्र ही महान निर्मलता को प्राप्त कर परम दिव्य हो जाता है। जवानी एक अनोखा रत्न है। उसको विषयों में लगाना, उसका महान दुरुपयोग करना है। जवानी का पूर्ण सदुपयोग ब्रह्मचर्य, संयम एवं साधना में ही है।

प्रमादी मनुष्य निरन्तर विषयों को ही भजता है। उसे विषय ही अमृत प्रतीत होता है। स्त्रियों के साथ विषय भरी बातें करना, डाँगर (मृतक पशु) के इर्द-गिर्द लगे हुए गिद्धों के समान मलीन भोगों के लिये घूमते रहना, दीप-पतंगवत् चिकनी चमड़ी के पीछे अवारा बने रहना, विषयान्धता में बहन, बेटी, पुत्रवधू, अनुजवधू आदि का विचार त्याग-कर अनाचार-रत होना—ये सारे दुर्व्यवहार पापियों के लक्षण हैं।

मदमत्तता अविवेक युत यौवन निशा जहँ जोर है।
अघकर्म क्या क्या हो नहीं, जो दुर्दशा हो थोर है ॥

अत्यंत कामासक्ति वो व्यभिचार विष की बेलियाँ।
विक्षिप्त नर के चित्त में करती सदा अठखेलियाँ॥

दृष्टांत :—एक ठाकुर जी ग्राम के नीच चमारिन से फँस गये थे। चमार को इसका पता लग गया। एक दिन चमार ने अपनी स्त्री से कहा--मैं अमुक ग्राम जाता हूँ आज नहीं आऊँगा। अब तो स्त्री आज के लिये भली प्रकार स्वतंत्र हो गई, अतः अपने घर पर सायंकाल ठाकुर जी को बुलाई। इधर चमार सायंकाल होते ही चुपके से अपने घर में आकर बैठ गया। जब रात्रि में ठाकुर जी उसके घर में आये तो स्त्री और ठाकुर जी परस्पर विषय भरी बातें करते-करते विषय-क्रिया करना ही चाहते थे कि उस चमार ने जोर से चिल्लाया जिससे ग्राम के लोग जुट कर ठाकुर जी को पकड़ लिये। अब तो ठाकुर जी बीच में तमाशा हो गये। जो आता वही दो चार घूसा लगाता। निदान दीपक जलाकर देखा गया तो ग्राम के ठाकुर जी हैं। ओह! सब लोग धिक्कारने लगे। किन्तु उस दिन तो छोड़ दिये गये, अब दूसरे दिन का समाचार सुनिये! ठाकुर जी अपने दुष्चरित्र को नहीं छोड़े थे, क्योंकि "लाख खाय जो श्वान चटाने जायगा। तजि के काग कपूर विष्ठा को खायगा॥ तजै न चोरी चोर सहै बहु शासना। अरे हाँ! पल्टू मिटै न मन की खोय लगी वह वासना।" एक रात्रि को पुनः उस चमार का घर शून्य जानकर उसके घर में ठाकुर जी घुस गये और चमारिन से मिले। इतने में चमार बाहर से आया और द्वार पर आते ही जान गया कि आज भी ठाकुर जी हमारे घर में घुसे हैं। अब तो वह बहुत ही चिढ़ गया, अतः जाकर दूसरे घर से अपने भाई को बुला लाया और घर का किवाड़ बन्द कर अपनी स्त्री और ठाकुर जी को मजबूत रस्सी से एक में बाँध कर और घर ही में एक गड्ढा खोद उसी में दोनों को डालकर ऊपर से मिट्टी चला दिया। वे दोनों उसी में सड़कर मिट्टी हो गये। सच है, व्यभिचार विषय में क्या-क्या दुर्दशा नहीं होती। अतः व्यभिचार-वृत्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

कवित्त

"अनंग के उमंग में पतंग बनि जीव यह,
　　क्षण-भंग भोग दीप ज्योति में जलंग है।
मरत सरत अरु परत गरभ माहिं,
　　तबहुँ नवीन नित्य कामना को रंग है॥
क्षण भ्रम रूप सुख नित्य नित्य अति दुःख,
　　यह नहिं चेतहुँ करत मति भंग है।
भक्ति वो विरति बोध तीनहुँ प्रबल होय
　　तब हिये नाश काम थीरता अभंग है॥ १॥

विरक्त ब्रह्मचारियों के लिये तो स्त्री मात्र का अथवा त्यागी स्त्रियों के लिये पुरुष मात्र का सर्वथा त्याग होना ही चाहिये, किन्तु गृहस्थी में रहते हुए भी केवल अपने ही स्त्री-पुरुष में परस्पर विशेष आसक्ति-रहित उचित सम्बन्ध रखना चाहिये; और एक दो-सन्तान हो जाने के पश्चात् घर में रहते हुए भी विषय का सर्वथा त्याग करना चाहिये। पुरुष का धर्म है अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को माता, बहन, पुत्री वत् समझ कर अथवा स्त्री का धर्म है अपने पुरुष के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई, पुत्र के समान समझ कर विषय-वासना व्यभिचार वृत्ति से दूर रहें।

कमाना-खाना और भोग-विलास करना हर खानि में है। मनुष्य शरीर ही एक कल्याण-साधना करने का स्थान है; अतएव इन्द्रिय-मन का संयम कर अपने जीवन का कल्याण करो।

शब्द—११

त्याग करो विषयन सुख दिल से॥ टेक॥

निर्मल ज्ञान मनन करि गुरु का, मुक्त स्वरूप भिन्न सबसे १
जब जब याद होय दुख पेखो, लखि परिणामि हटो तेहि से २
कपटी छली जान निज मन को, लै गुरु शस्त्र सजग ठग से ३

दोषदृष्टि से निशदिन निरखो, लहि वैराग्य विलग जग से ४
कहैं कबीर पाय मानुष तन, चूको नहिं अवसर अब से ५

टीका :—'विषयों में सुख है' इस भ्रम का हृदय से सर्वथा त्याग करो ॥ टेक ॥ गुरु का निर्मल स्वरूपज्ञान मनन करो, वह सबसे पृथक और मुक्त स्वरूप है ॥ १ ॥ विषयों का जब-जब स्मरण हो, उन्हें दुःखरूप विचारो उनको बदलने वाले, क्षण-भंगुर समझ कर उनसे दूर हटो ॥ २ ॥ अपने मन को छली, कपटी और ठग जानकर तथा सद्गुरु से विवेक-वैराग्य तथा साधनाओं के अनेक अस्त्र-शस्त्र लेकर उससे सावधान रहो ॥ ३ ॥ विषयों तथा उनकी वासनाओं को सदैव दोष-दृष्टि एवं दुःख-दृष्टि से ही देखो, दृढ़ वैराग्य धारण करके संसारासक्ति से पृथक हो जाओ ॥ ४ ॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मानव-शरीर का ऐसा सुनहला अवसर पाकर, अब से असावधान न होओ ॥ ५ ॥

व्याख्या:— विषयों के सारे आनन्द दाद खुजलाने के सदृश हैं जो परिणाम में कष्टदायी तथा जीव का महान बन्धन है। सारे विषयों की यही दशा है। सारे विषयानन्द का माध्यम जो शरीर है उसका वास्तविक स्वरूप देखिये तो उससे घृणा उत्पन्न होगी। इस शरीर की विशेषता साधन-भजन करके आत्म-शान्ति प्राप्त करने में है; अन्यथा यह मल-मूत्रों का पिण्ड, दुःखप्रद तथा अमंगलमय है।

कवित्त

आँख नाक कान मुख जीभ पेट पेड़ू सब,
नस हाड़ मांस मल नरक भरोई है।
डाकिनी भयंकर ये खात नित जीवन को,
ताहि वश दीन बनि जीव दुख ढोई है॥
सरप जहर से महान विष काम विष,
उत एक देह दुख इत नित रोई है।
नरक महान घोर नारि-नर देह दोऊ,
ताहि में जो सुख माने मल कीट सोई है॥

अतएव शरीर-संसार तथा विषयों से वैराग्य करो। अपने मन को कपटी, छली और ठग समझ करके इससे सदैव सावधान रहो।

मन बड़ा ठग है

दृष्टांत—किसी ग्राम में एक चेतनदत्त नामक मनुष्य रहता था उसके यहाँ एक कपटी मित्र भी आया करता था। वह ऊपर से तो चेतनदत्त को प्राणों के समान ही प्यारा मानता था; किन्तु कई बार उसको धोखा देकर और उसका धन हरण कर उसे दरिद्र बना रखा था। परन्तु जान कर भी कोई शत्रु से नहीं ठगाता। एक दिन कपटी मित्र आया। चेतनदत्त किसी प्रकार उसे टालना चाहता था। एक युक्ति सोचकर बोला—मित्र जी आज तो हमें अमुक ग्राम जाना है, घर में जो आपकी भावज हैं वे भी बीमार हैं, आप की सेवा हम कैसे कर सकेंगे। कपटी मित्र—यह तो अपना घर है, आप जहाँ जाना हो जाइये, हो आइये मैं स्वयं भोजन बनाकर खा लूँगा। चेतनदत्त सोचा 'यह जायगा नहीं' फिर एक युक्ति विचार कर घर में गया और अपनी स्त्री से कहा— हम डन्डे से डेहरी (बखारी) को पीटते जायँ और तुम रोती जाओ, तब वह कपटी मित्र 'स्त्री-पुरुष में झगड़ा होता है' ऐसा जान कर अवश्य चला जायगा। अतएव चेतनदत्त डेहरी पीट-पीट कर गाली देने लगा और वह रोने लगी। इस स्वांग को कपटी मित्र जान गया, क्योंकि कपट चातुरी में वह चंट ही था। निदान कपटी मित्र द्वार से उठकर धीरे-धीरे खिड़की के मार्ग से घर की एक कोठरी में आकर बैठ गया। जब चेतनदत्त द्वार पर गया तो 'कपटी मित्र चला गया है' ऐसा देख कर हर्षित होते हुए अपनी स्त्री से आकर कहने लगा—देखो ! वह कितनी सरल युक्ति से चला गया, क्या हम तुमको डन्डों से फुर-फुर थोड़े मारते थे ? इतने में कपटी मित्र भीतर से कहने लगा— मित्र ! यदि आप फुर-फुर नहीं मारते थे और फुर-फुर नहीं झगड़ा करते थे तो मैं भी फुर-फुर नहीं चला गया हूँ। बस आपके घर ही में हूँ। यह बात सुनकर चेतनदत्त आश्चर्यित-सा हो गया। चेतनदत्त

सोचा यह इस प्रकार नहीं जायगा। निदान घर ही में पकड़ कर उसे खूब मारा और अन्त में पुलिस के हाथों में उसे दे दिया।

सिद्धान्तः— चेतनदत्त यह जीव है और यह मन ही कपटी मित्र है यह कपटी मन अनादिकाल से जीव का ऊपरी मित्र बनकर सद्गुण रूपी धन हरण करता रहा। साधु-गुरु के ज्ञान-द्वारा चैतन्य जीव मन को अपना शत्रु जान भी गया; किन्तु ऊपरी मित्रता अर्थात् इन्द्रिय-सुखासक्ति वश फिर-फिर मन शत्रु को खुले रूप में हटा नहीं सका। यदि मन को जीतने के लिये कुछ साधना भी करता है तो धमकी मात्र अर्थात् साधनारूपी डन्डे से अध्यास रूपी स्त्री को न पीट कर बल्कि शरीर रूपी डेहरी (बखारी) को पीटता है। विविध वेष, उपवास, शीत, उष्ण सहन कर इतने में ही अपने को कृतकृत्य (कल्याण रूप) समझ लेता है। इसलिये जैसे झूठ-मूठ ऊपरी साधना करता है, वैसे मानसिक रोग भी नहीं मिटते हैं; अतएव कल्याण की सच्ची लगन रख कर विवेक पूर्वक मन को मिटाओ।

कवित्त

मन के शमन हित इन्द्रिन दमन हित,
ध्यास के जरन हित रात दिन जागिये।
कामी लोभी मोही से तो साहस कै पाठ सिखौ,
एकरस वीरभाव विरत सो पागिये॥
कपट वो दम्भ और ऊपरी दिखावा छोड़ि,
अन्तर अभ्यास राग द्वेष मोह त्यागिये।
पारख प्रबल दृष्टि एकरस दृढ़ कर,
देह अभिमान तजि निज पद पागिये॥ १॥

पद

कब निज में स्थित होऊँगा, दृढ़ भाव यही निशिवार रहे।
मद काम राग अरि भेदन को, वैराग्य युक्त तैयार रहे॥टेक॥
मन की जो सूक्षम फुरनायें, लखते लखते ही गति पायें।
को साधक है को बाधक है, मन में ये सदा विचार रहे॥ १॥

जिन भावों से वैराग्य लिया, वह भाव सदा सम्मुख होवे।
जो पंच विषय मन भावन हैं, उन जड़ सृष्टि से पार रहे॥ २॥
भोगों में दोष दृष्टि होवे, खाते पीते उठते चलते।
यकरस वीरत्व भाव रक्खें, हरदम मन पर असवार रहे॥ ३॥
चाहे सूरज में तम छाये, चाहे पृथ्वी डगमग होवे।
पर मैं न हटूँ निज सत् पद से, चौकस बरजोर सम्हार रहे॥ ४॥
जब तक प्रारब्धी तन डोले, तब तक पारख पद में बोले।
कब त्रय जालों से छूटूँगा, हर वक्त यही गुंजार रहे॥ ५॥
नित सद्ग्रंथों का पढ़ना हो, नित पारख पद का मनना हो।
वृत्ती नहिं बाहर जाय कहीं, अन्तर होकर निरधार रहे॥ ६॥
मानव सृष्टि पर कब्जा हो, अरु दिग्वजयी हम बन जावें।
गुरु बोधक देव ये वर दीजै, मेरी गति मन के पार रहे॥ ७॥
मेरा अन्तिम अभिलाष यही, और कोई ध्येय है खास नहीं।
मै निज का निज में रह जाऊँ, पारख में एकाकार रहे॥ ८॥
दोहा :—यही भाव दृग एकरस, मन अरिजीत सबेर।
आज काल में कूच है, क्यों तू लावे देर॥

सवैया १२

कुसंङ्ग किये सद्ज्ञान नशै, शुचि भाव नशै सतसंग विहाई
चित्त दिये जब भामिनिमें, नशि जात प्रताप स्वधर्म बड़ाई
होत निरादर दुक्ख बढ़ै अति बुद्धि घटै उर क्रोध जलाई
काम नचाय लचार करै वह जीव भुलाय के देत फँसाई १

टीका :—कुसंग करने से सच्चा ज्ञान नष्ट हो जाता है। सत्संग छोड़ देने से अन्तर-बाहर की पवित्रता तथा कल्याण की श्रद्धा नष्ट हो जाती है। त्याग-मार्ग में आकर जो पुनः अपना मन स्त्री में लगाता है! उसका तेज, वैराग्य-धर्म तथा कीर्ति सब नष्ट हो जाते हैं। सज्जनों में उसका निरादर होता है, अतएव उसके मन में अत्यंत दुःख बढ़ जाते हैं, उसकी विवेकवती बुद्धि क्षीण हो जाती है और उसके चित्त को क्रोध जलाता रहता है। यह काम-वासना जीव को जगत चक्कर में नचाकर

उसे विवश कर देती है और उसको सन्मार्ग से बुलाकर कठिन बन्धनों में फँसा देती है।

व्याख्या :— पवित्रता बाहर और भीतर दो प्रकार की होती है। बाहर की पवित्रता जल-मृतका से होती है, अर्थात् शरीर-इन्द्रिय, वस्त्र, गृह, पात्रादि को स्वच्छ रखना बाहर की पवित्रता है। भीतर की पवित्रता काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थासक्ति, कपट, चोरी, विश्वासघात, व्यभिचार अनेक दुर्व्यसनों को त्याग कर दया, शील क्षमा, ब्रह्मचर्य, धैर्य, सन्तोष, विवेक, वैराग्य, स्वरूपज्ञान, परोपकारादि धारण करने से होती है सोई बनाना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

सत्य स्वरूप को ध्यान रहै नित ध्येय यही कब जाल से छूटै
मानस शुद्ध करै गुरु दर्शहिं ज्ञान विराग जू भक्ति में जूटै
धीरज राखि सदा उर में गुरु पारख संग मनै अरि कूटै
जानि अकेल एकान्त बसै नित त्यागि मनोज सुधावच घूँटै २

टीका :—(कल्याणार्थी को चाहिये) उसे सदैव सत्य स्वस्वरूप का ध्यान रहे और उसके मनमें सदैव यह लक्ष्य बना रहे कि हम सांसरिक वासनाओं के जाल से कब छूटेंगे। वैराग्यवान् सद्गुरु-सन्तों के दर्शन करके अपने हृदय को शुद्ध करें तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्ति इन तीन साधनों में सदैव लगा रहें। विवेकी गुरु-सन्तों की संगत में निवास करके तथा हृदय में सदैव धैर्य धारण करके मन-शत्रु का दमन करे। अपने चेतन स्वरूप को सबसे सर्वथा पृथक और असंग जानकर सदैव समय-समय पर एकान्त सेवन करके स्वरूपस्थिति का अभ्यास करें और सब प्रकार से काम-वासना को त्यागकर गुरु के वचनामृत का पान करे ॥ २ ॥

सवैया

तुम जीव हो निश्चय अखण्ड अनूप, न तात न मात न गात तेरे हैं।
भूल से देह को प्यार कियो, यहि हेतु से तापन माहिं जरे हैं ॥
जो स्वप्ना भ्रम है जग भोग, सो ताहि को आपन मानि धरे हैं।
जागो उठो अब त्यागो सबै भ्रम, पारख दृष्टि स्वरूप धरे हैं ॥

शिक्षा प्रसंग ४

शब्द १३

नर तन पाय करो सत्संगा ॥ टेक ॥

अस्ति नास्ति पद निर्णय करिके, धरो विवेकी संङ्गा
निज स्वरूप लखि जमा यथारथ, बाद खर्च सब भंगा १
पंच विषय सुख मानि जो भोगत, तन में उठत अनंगा
श्वान समान भ्रमै इव पामर, निशदिन नारिन संङ्गा २
काह भयो नर तन को पाके, पशुवत् भोग वितंगा
मानुष से पशु ही भल जानो, परमारथ लागत सब अंगा ३
निशिवासर जिनके हित दौड़त, करिके मोह मितंगा
अन्त सहाय न देवैं कोई, भोगत कर्म स्वयंगा ४
ह्वै उदार गुरु भक्ति धारि उर, परखहु जाल दुखंगा
जड़ चेतन दोउ वस्तु अनादी, कर्ता कोई न संगा ५
वश्य वासना योग अनादी, चेतन स्वतः अखंडा
तजि अध्यास भास करि चूरण, भव दुख होवै भंगा ६

टीका :—मनुष्य-शरीर पाकर सत्संग करो ॥ टेक ॥ विवेकी सन्तों की संगत करो और उनकी संगत में सत्य-असत्य का निर्णय करो। अपने चेतन स्वरूप को अव्यय एवं सत्य समझो और उससे पृथक सब दृश्य परिणामी, क्षणभंगुर एवं जड़ समझो ॥ १ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध को सुख रूप मानकर इनका उपभोग करने से शरीर में बारम्बार काम जागृत होता है[1]। अत्यंत कामासक्त पामर व्यक्ति कुत्ते के समान रात-दिन स्त्रियों के पीछे दौड़ता है ॥ २ ॥ यदि पशु के समान भोगों में ही जीवन बिताया जा रहा है, तो उत्तम नरतन पाकर क्या किया ? ऐसे मनुष्य से तो पशु ही

१. है साधन स्पर्श के, शब्द रूप रस गंध।
संयम करे जो चारिके, परे न पंचम फंद ॥

को अच्छा समझो, जीते-मरते उनके शरीर के सारे अंग परोपकार में लगते हैं ॥ ३ ॥ जिन धन-परिवार में मोह-ममता करके उनके लिये रात-दिन मनुष्य दौड़ता है; वे अन्त में किंचित् भी जीव की सहायता नहीं कर सकेंगे, उसे अपने कर्मों को स्वयं ही भोगना पड़ेगा ॥ ४ ॥ क्षुद्र विचार छोड़कर उदार बनो, हृदय में विवेकी सद्गुरु की भक्ति धारण करो, और इन विषय बन्धनों का जाल दुःखरूप परख कर त्यागो । जड़ और चेतन दो वस्तु अनादि हैं इनके संग में अर्थात् इनके ऊपर कोई अन्य कर्ता-धर्ता नहीं है ॥ ५ ॥ चेतन अपने आप अखण्ड है, वह अनादिकाल से वासना-वश जड़में जुड़ा है। अतएव जड़ाध्यास-जड़-वासना को त्यागकर एवं विषय-सुख-भ्रम को नष्ट कर यह जीव जड़ के संग से युक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या :—यह मनुष्य शरीर बड़ा उत्तम है। इसी से कल्याण-साधना किया जा सकता है। 'यदि इसे साधना में लगाया गया, तो यह जीव का कल्याण कारक बन जाता है। यदि इसे केवल भोगों में लगा दिया गया, तो पशु से भी नीच गति को प्राप्त होता है। क्योंकि भोगी मनुष्य से तो किसी का उपकार नहीं सधता प्रत्युत अपकार ही होता है। इससे उत्तम तो बैल, घोड़ादि पशु ही हैं जो जीते तक परोपकार में लगते हैं और मरने पर भी।

कवित्त

पशु चाम पद त्राण हाड़ मल खाद बने,
हस्त दंत भाँति-भाँति काम माँहि आई हैं।
अजया के खाल देखो बाजन बनत बहु,
मृग चाम कोई कोई साधु अपनाई है॥
पशु देह पर-उपकार माँहिं लागि, सब,
नर का शरीर कछु काम नहिं आई है।
यह नर देह काहि तबही सफल जानो,
गुरु भक्ति सत्संग माँहिं चित लाई है॥

जिस मनुष्य के जीवन में संयम-विवेक नहीं है, वह पशु से भी गया बीता है। पशु-पक्षियों के जीवन में प्राकृतिक संयम होता है।

मनुष्य में प्राकृतिक संयम नहीं होता। वह जब विवेक से चलेगा तभी उसके जीवन में संयम आ सकता है।

गधा ऐसा

दृष्टांत १—एक पण्डित जी का स्वभाव था किसी की उल्टी-पल्टी क्रिया को देखकर कह देना "गधा ऐसा"। एक दिन उनके खेत की फसल में एक गधा चर रहा था। पंडित जी जब किसी से सुने, तो गधे के पास गये और गधे से कहने लगे—श्रीमान्! आप को कौन प्रमाण दूँ? आप तो खास गधे ही हैं। तात्पर्य यह कि कुत्ता बारह महीनों में एक ही मास कार्तिक में विकारी रहता है और मनुष्यों के लिये तो बारहों महीने कार्तिक लगा रहता है। इसलिये कुत्ते के समान भी नहीं; बल्कि बिना विचार इन्द्रिय-लोलुपी मनुष्य कुत्ते से भी नीच हो रहे हैं उनमें कुत्ते-गधे पशु-पक्षी किसी का दृष्टांत नहीं घटता।

हीरा नर-जन्म

समुद्र के किनारे दो मनुष्य एक-एक हीरा पाये, एक ने तो उसे पत्थर जानकर बच्चे को दे दिया खेलने के लिये और बच्चा खेल-खाल कर कहीं धूल में फेंक दिया। दूसरे बुद्धिमान मनुष्य ने उस हीरा को जौहरी के यहाँ भजाकर बहुत द्रव्य पाया, जिससे वह एक सम्पदाशाली सुखी मनुष्य हो गया। इसी प्रकार बहुमूल्य मोक्षदायी हीरा रूप मनुष्य शरीर तो बहुत प्राणी पाये हैं किन्तु अधिकांश लोग इस उत्तम नर शरीर से भजन, भक्ति, धर्म, परोपकार न करके मन रूपी अबोध बच्चे को विषय-भोग रूपी खेल के लिये दे देते हैं। फल यह होता है कि इस मोक्षदायी नर तन को अबोध मन विषय-भोग, माया-मोह रूपी धूल में समाप्त कर देता है। जिससे जीव का आवागमन-दुःख बना रहता है; और बुद्धिमान मनुष्य इस उत्तम मनुष्य चोला रूपी हीरा। को विवेकी-सन्त गुरु रूपी जौहरी के पास भजाकर अर्थात् इसका महत्त्व जानकर दया, शील, क्षमा,

परोपकार, धर्म, भक्ति विवेक, वैराग्यादि सद्गुण प्राप्त कर जीव का उद्धार कर लेते हैं।

मनुष्यो! तुम्हारी यह उत्तम काया तभी सफल है जब इसे भजन-भक्ति में लगाकर शान्ति प्राप्त करो; नहीं भोगी जीवन पशु तुल्य है। यथा—

भोजन छाजन मैथुन, भय निद्रा अरु मोह।
नर पशु पक्षी सबन कहँ, निशिदिन व्यापत सोह॥ १॥
पशु से मानुष है बड़ो, जो कछु धर्म बिचार।
नहिं पशु मानुष एक सम, जहाँ एक व्यवहार॥ २॥

श्री कबीर साहेब भी कहते हैं:—

मानुष तेरा गुण बड़ा, मांस न आवै काज।
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज॥बी.॥

अर्थात् हे मनुष्य! तेरे दया, शील, धैर्य, विचारादि सद्गुण ही बड़े हैं, अन्यथा मृत्यु पश्चात् तो तेरा मांस कोई काम में नहीं आता, न हड्डी का गहना बने, न चमड़ा का बाजा ही बनकर बजे। अतएव माया-मोह की आसक्ति कम करके शीघ्र भजन में लगना चाहिये, क्योंकि इस कच्ची काया का भी कोई विश्वास नहीं है, आज है कल न रहे—

"जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वासा।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति डारो फांसा॥बी.॥

'शब्द-चेतावनी

काह भयो नर तन को पाये॥ टेक॥

पक्ष अष्ट दश गर्भ कुण्ड में जलत औंध मुख दाये।
अति दुख सहित पुहुमि जब आयो, कहाँ कहाँ चिल्लाये॥ १॥

शिशु पन मल मूत्रहिं में बोह्यो, अति अबोध दुख दाये।
बालापन रोवत खेलत गो, ज्वानी में काम सताये॥ २॥

अनुज बधू, सुत बधू न समझ्यो, जाति कुजाति भुलाये।
लाज धरम परलोक लोक वो, सबहिं पे धूरि चलाये॥ ३॥

मात पिता की सेव न कीन्हों पर उपकार न भाये।
नहिं अनाथ पर करुणा कीन्हों, दया शील न सुभाये ॥ ४॥
सत्संगत भक्ति नहिं कीन्हों, नहिं कुछ धर्म कमाये।
भोजन छाजन भय निद्रा, मैथुन ममता में सिराये ॥ ५॥
अनुज तनुज तनया तिय तन धन, महल मकान रचाये।
तीन पाँच करि ठगि ठगि खाये, याही में चतुर कहाये ॥ ६॥
ज्वानी ते अधेड़ पन बीत्यो, अति जरजरपन आये।
हीलत दाँत श्वेत कच कूबर, तिमिर नैन में छाये ॥ ७॥
बधिर श्रोत्र शिथिलत तन इन्द्री, खाँसी कफ घिरि आये।
तदपि मोह तृष्णा नहिं छोड़त, नहिं प्रभु के गुण गाये ॥ ८॥
मन इन्द्री को स्ववश न कीन्हों, नहिं अविनाशी ध्याये।
कह 'अभिलाष' मूढ़ मन दुःख में, यहि विधि जन्म बिताये ॥ ९॥

शब्द—१४

ऐसी यह चाह देत दुख भारी ॥ टेक ॥

निशिदिन और २ सुख चाहत, विषयन में करियारी
सब सुख खानि जानि गुरुभक्ती, सो तजि निपट अनारी १
पंच विषय दुख देत निरन्तर, मिल अनमिल दुखकारी
स्वारथ रत सब बिना प्रयोजन तलफि रहे संसारी २
विघ्न रूप परतंत्र अहै सब, परशत चढ़े खुमारी
विषय हेतु सोइ करत परिश्रम, लखत न मन की खवारी ३
भोग विषय विष जानि सबन को, चाह तजे जो सारी
पारख रूप अमिय संतत लहि, पान किये सुखकारी ४

टीका:—विषयों की इच्छायें इस प्रकार महान कष्ट देती हैं ॥ टेक ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन विषय-भोगों में प्रेम करके मनुष्य रात-दिन अधिक सुख चाहता है। सद्गुण जनित सब सुखों की खानि, बोध-वैराग्य-निष्ठ सद्गुरु की भक्ति है ऐसा जानकर भी अत्यंत मूढ़ मानव उसे त्यागता

है ॥ १ ॥ पंच विषय-भोग जीव को सदैव दुःख ही देते हैं भोग मिलकर आसक्ति में और न मिलकर इच्छा में जीव को जलाते रहते है। भोगों को ही अपना स्वार्थ मान कर और उसी में आसक्त होकर संसारी जीव निष्प्रयोजन ही पीड़ित होते हैं ॥ २ ॥ पंच विषय-भोगों की प्राप्ति और रक्षा में नाना विघ्न हैं। वे परवश हैं, उनका स्पर्श करने मात्र से प्रमत्तता का नशा चढ़ जाता है। परन्तु यह भूला जीव विषयों की प्राप्ति तथा भोगों की प्राप्ति के लिये पुनः वैसे हा परिश्रम करता है, वह अपने मन के पतन की हानि नहीं देखता ॥३॥ सभी पंच विषय-भोगों को विष के समान जान कर, यदि उनकी सम्पूर्ण इच्छायें त्याग दें, और स्वस्वरूपज्ञान अमृत का निरन्तर पान करे, तो जीव दुःख-रहित अनन्त शान्ति को प्राप्त हो जाय ॥४॥

व्याख्याः—आग में घी डालने से जैसे आग बुझने की अपेक्षा बढ़ती है; इसी प्रकार भोगों का सेवन करने से उनकी इच्छायें घटने के सिवा बढ़ती हैं। भोगी मनुष्य की तृष्णा का पारावार नहीं रहता।

कवित्त

और धन और जन और नारि और पूत,
और विद्या और रूप रुचिर जवानी है।
और बड़ो पंच परधानपद विश्व चाह,
और और मिले तब और हूँ दिवानी है॥
और और चाह माहिं ज्ञान भक्ति गोर भूलि,
श्वान सम दौरत न पावत ठिकानो है।
और और करत में मृत्यु कौर होय गयो,
शान अभिमान सब धूल में मिलानी है॥

जब भोग मिल जाते हैं, तब जीव दीपक-पतंगवत् उनमें आसक्त होकर जलता है, और जब वे नहीं मिलते तब उनके न मिलने में विकल होता है। भोगों के मिलने में बड़े-बड़े विघ्न हैं। जैसे खेती में सूखा, पाला, अधिक वर्षा से हानि, नौकरी में उच्च पदाधिकारियों की अस्वीकृति, व्यावसाय में घाटा, भोगों में इन्द्रिय शिथिलता, रोग, विषयों की अप्राप्ति, मित्रों से बिगाड़, कार्यों में विफलता, अपने शरीर की अवस्था

का परिवर्तन होना आदि; किन्तु, शोक है, मनुष्य इन्हीं आपत्ति मूल विषयों के पीछे निरन्तर पागल बना रहता है। निवृत्ति जनित—अविनाशी अनन्त सुख की ओर ध्यान नहीं देता। संसार में वे ही पुरुष सच्चे अर्थ में सुखी हो सकते हैं जिन्होंने विषयों का सर्वथा परित्याग किया है।

कवित्त

विष के समान विषय जानि ताहि त्यागन कियो,
रहत अमान न गुमान कछु लाई है।
जीवन बितावत सरल काहू को सतावत न,
पारख गुण गावत अमर स्थिति बनाई है॥
लेन न देन न आवन जान बाकी आश,
चाहना सुख भोगन की धूरि में मिलाई है।
अमर होत आपौ औ औरन को अमर करें,
अभिलाष ऐसे महापुरुष की निकाई है॥

स्थिति-रहस्य की महत्ता

दृष्टांत :—गुरुदेव से शिष्य शंका किया—हे गुरुदेव ! स्वरूप-स्थिति शीघ्र क्यों नहीं प्राप्त होती, इसका क्या कारण है और स्वरूप-स्थिति प्राप्त हुए सन्तों का क्या रहस्य है, उनके चित्त की स्थिति कैसी होती है ?

गुरुदेव बोले—स्वरूप-स्थिति न प्राप्त होने के कारण—पूर्व संस्कारों की मलीनता, वर्तमान सद्‌पुरुषार्थ की कमी, जड़-पदार्थों और प्राणियों का राग, मान-बड़ाई, सन्त-गुरु से कपट, छल का होना, सत्संग से अरुचि, वैराग्य की कमी आदि हैं। विशेष कारण सजगता सतसार के ५७ वीं साखी के दृष्टांत से जानना चाहिये। मुख्य बात — वर्तमान सत्संग-सद्‌पुरुषार्थ की कमी ही कारण है। मलीन संस्कार भी सत्संग-सद्‌पुरुषार्थ से शीघ्र मिटाये जा सकते हैं, और शुद्ध संस्कार भी सत्संग-सद्‌पुरुषार्थ से हीन होने पर क्षीण हो जाते हैं। संसार के अन्य कार्य कठिन दिखते हुए सरल हैं; किन्तु दृढ़ वैराग्य और निर्मानता पूर्वक स्वरूपस्थिति

प्राप्त करना कठिन है। नंगे पैर आग पर चलना, पानी पर चलना, पृथ्वी में घुसना, आकाश में उड़ना सरल है। काँटे पर लेटना, सर्प-सिंह आदि का संग करना, कल्पित सिद्धियों का प्राप्त होना, अनेकों चमत्कार दिखलाना, अपनी बुद्धिचातुरी, कला-कौशल से सबको आश्चर्य से स्तम्भित (चकित) कर देना सरल है। आकाश-पाताल का पता लगाना, विज्ञान शोधन करना, नाना यंत्र, अणु तथा एटम बम आदि बना लेना, संसार के दूसरे कोने की बात यंत्र-द्वारा क्षण ही में जान लेना, वायुयान में बैठ कर आकाश में भ्रमण कर लेना सरल है, ये कोई बड़े महत्त्व की बातें नहीं हैं। बृहद् सभा में अपने व्याख्यान-द्वारा सबको प्रसन्न कर देना, विद्या-वारिधि होना, काव्य-निबंध रचने में कुशल होना, गूढ़ शब्दों का शीघ्र अर्थ लगा लेना, अपने गुणों-द्वारा सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेना, सरल है। अधिकार, मान्य, गुरुवायी, शिष्य-शाखा की बाहुल्यता, जगत्-आधिपत्य, सौंदर्य-माधुर्य, कान्ति तथा सुन्दर, सुदृढ़ आकृतियुत युवा अवस्था, सर्वाङ्गपूर्ण नवयुवती, सुकुमार सुकोमल सुन्दर सुपुत्र, अतुल धन की प्राप्ति कर लेने में कोई अधिक बड़ाई की बात नहीं है। महत्त्व और बड़ाई की बात है जगत् के विषय-भोगों को जलता हुआ अग्नि पिण्ड समझना; दृढ़ वैराग्य पूर्वक स्वरूप-स्थिति-रत होना। अतएव स्वार्थ, भोगासक्ति तथा ममता को जीत कर सद्पुरुषार्थ-द्वारा स्वरूपस्थिति को प्राप्त करना चाहिये। स्थितिवान सन्तों के ये रहस्य हैं—दूसरे के सुख, मान, बड़ाई को देखकर न जलना; बल्कि प्रसन्न होना। तन, मन, वचन से परोपकारी, सतोषी होना तथा सरलता, दयालुता, उदारता, सहनशीलता, सद्गुणग्राह्यता, निर्मानता, मर्यादा पालनता, अंतर-बाह्य पवित्रता, सदाचारिता, साधु-गुरु-निष्ठता, वैराग्यप्रियता, निरन्तर साधन रतता, मन-इन्द्रिय-विजयिता, निर्वाह में प्रारब्ध पर निर्भरता, स्वरूप-चिन्तन में लीनता आदि।

स्थितिवान सन्तों के चित्त की स्थिति कैसी होती है, यह बात वे ही जान सकते हैं या उनके सत्संगियों को कुछ परोक्ष ज्ञान हो सकता

है। स्थितिवान के चित्त में कौन-कौन से मानसिक-विवेक के दृश्य नाच कर चले जाया करते हैं, क्या-क्या भाव, तरंग उनके हृदय में उठा करते हैं, पग-पग में, क्षण-क्षण में वे क्या सोचते रहते हैं, भोग-परायण या साधनहीन मनुष्य यह क्या जाने, वह तो अपने ही समान खाते-पीते और पहनते तथा बोलते, चालते, सोते, जागते उन्हें भी देखता है। स्थितिवान के चित्त में जगत् नहीं रहता। यद्यपि यह पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक अखिल जगत परिवर्तन रूप क्रियाशील होते हुए भी प्रवाह रूप अपने स्वरूप से अनादि-अनन्त और सत्य ही है; तथापि मुझ शुद्ध चैतन्य को तो यह अध्यास सम्बन्धी शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण द्वारा ही प्रतीत होता है, इसलिये यह स्वप्नवत है, और जगत् के स्वरूप में मैं नहीं हूँ तथा मेरे स्वरूप में जगत नहीं है, अतएव मेरे शुद्ध चैतन्य के लिये यह जगत् सुषुप्तिवत् या नहीं के तुल्य है। आज ही शरीर प्रारब्ध का अभाव हो जाय तो अभी इसी ही दिन से, इसी ही क्षण से मुझ मुक्त चैतन्य को कभी भी जगत का भान नहीं होगा। जन्म-मरण रूप परिवर्तनशील दुःखपूर्ण, विपदारण्य, भयंकर संसार का कभी भी सम्बन्ध नहीं होगा। फिर ऐसे स्वप्न और सुषुप्तिवत् संसार से क्या आवश्यकता, क्या प्रयोजन? "कहीं शहर, ग्राम, नाना देश, नाना यंत्र, कहीं विविध विद्या, विज्ञान, अज्ञान, लड़ाई, सन्धि, चार खानियों की विचित्रतायें, कहीं राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, धनी-निर्धन; कहीं मान, कीर्ति, पूज्यता, सुख; कहीं अपमान, अपयश, अनादर, दुःख; कहीं नाना विलक्षण-भोग वस्तुयें सुन्दर शरीरादि"—वास्तव में यह सब क्या हैं, चार तत्वों के विकार हैं, असत्य हैं। सत्य तो पाँच ही पदार्थ हैं—१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज ४. वायु—ये जड़ और ५ वाँ अगणित चैतन्य। सो भी पृथ्वी आदि चार जड़ तत्त्व अपने चेतन स्वरूप में न होने के कारण हमारे लिये नहीं के समान ही हैं। मेरे में तो केवल मैं (चैतन्य) ही हूँ। सत्य संबंध तो मेरा मुझ से ही है। शरीर के मैंपने को पूर्ण मिटाकर स्वतः स्वरूप के मैंपने को पूर्ण रूप से प्राप्त कर मैं-मैं-मैं संतुष्ट हो गया स्थित हो

गया। अहह! धन्य-धन्य ऐसे परमपद शान्तिपद रूप मैंपने की प्रतिष्ठा के महत्त्व को। विज्ञान जाना, विज्ञानी को न जाना; देह जाना देही को न जाना; सबको जाना मैं को न जाना; सब में प्रेम किया मैं में नहीं किया – उसका सब जानना, प्रेम करना मिट्टी है, दुःखप्रद है। विज्ञानी देही, द्रष्टा चैतन्य ये सब मैं के पर्यायवाची शब्द हैं। मैं देह नहीं हूँ, मैं ही विज्ञान, देह, दृश्य, जड़ का शोधक, ज्ञाता उससे विलक्षण श्रेष्ठ हूँ। इस प्रकार बोध द्वारा वे मैं (स्वतः शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप) में ही सदैव लीन रहते हैं। वे प्रारब्ध विवश देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते, उचित आवश्यकीय सूँघते, खाते, स्पर्श करते हुए भी मानो न सूँघते हैं, न खाते हैं और न स्पर्श ही करते हैं। देह में रहते हुए भी विदेह, सद्पुरुषार्थ, परोपकार-अर्थ क्रियाशील होते हुए भी निष्क्रिय और अज्ञानियों की दृष्टि में बँधे दीख पड़ते हुए भी सदैव मुक्त हैं। उनके हृदय के अध्यास-अहंता-ममता सर्वथा जल गये हैं; मनोमय संसार विलीन हो गया है। कभी भी, किसी समय में शरीर की किसी भी स्थिति में किसी रोग-व्याधि में या सुख चैन में, कैसे भी इस मल पूर्ण शरीर का नाश हो जाय, वे मुक्त के मुक्त ही हैं। उनके प्रति कभी भी असावधानी की शंका ही नहीं की जा सकती। वे कभी माया-मोह में भूलते ही नहीं। जिनके चित्त से शरीर से लेकर समग्र पिण्ड-ब्रह्माण्ड संसार का राग निकल गया है; ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले स्वरूपस्थ संत के चित्त की महान स्थिति का रहस्य दूसरों के लिये सर्वथा अगम्य है। उनके सत्संग का आश्रय-आधार लेकर और उनमें श्रद्धा-विश्वास करके हमें भी उसी स्थिति को प्राप्त करना चाहिये।

गुरु का इतना उत्तर सुनकर शिष्य का मुमुक्षु भाव—

पद

भला ! वह कब सुदिन होगा, कि अपना राज देखेंगे।
विनश्वर जान भोगों को, सदा अभाव पेखेंगे ॥ टेक ॥

न होगी पर्श की इच्छा, न रस रूपों की आसक्ती।
पंच शब्दादि विषयों का, न उर में सुक्ख लेखेंगे ॥ १ ॥
नहीं धन द्रव्य की ख्वाहिश, नहीं राज्यादि भोगों की।
न होयेंगे किसी के हम, हमारे भी न होयेंगे ॥ २ ॥
न होगी आश मर्यादा, प्रतिष्ठा वो पुजाने की।
न अन्दर मान होवेगा, सभी दुखमय परेखेंगे ॥ ३ ॥
सुखासक्ती निकल करके, पूर्ण दुखदृष्टि जब होगी।
जगत् सुख भावना उर में, हलाहल सम निरेखेंगे ॥ ४ ॥
गिना करके कहूँ कब तक, न होगी आश रंचक जब।
अचल पारख स्वस्थिति में, जगत् व्योहार छूटेंगे ॥ ५ ॥
दास अभिलाष को पूरी, तमन्ना होगी कब गुरुवर।
न सम्मुख सृष्टि होवेगी, जगत् रफ्तार टूटेंगे ॥ ६ ॥

सवैया—१५

जड़ से भिन्न सदोदित चेतन, भासिक पंच विषय कर जानौ
भास सदा जिव को दुखदेत ये, सुक्खहिं मानि के भासत आनो
सो गुरुदेव दया करि साहिब, दीन्ह स्वरूप को ज्ञान अपानो
सो अपनाय मिट्यो सब दोषहिं, फेरि नहीं उर भरमहिं आनो १

टीका:—अगणित चैतन्य जीवों को कारण-कार्य रूप जड़ तत्त्वों से सर्वदा पृथक, पंच विषयों के ज्ञाता जानना चाहिये। यह पंच-विषयों का सुख-भास सदा जीवों को दुःख दे रहा है, किन्तु विषयासक्ति-वश उनमें सुख ही भासता है। उपर्युक्त दुःख निवृति-अर्थ सद्गुरु स्वामी कृपा करके स्वस्वरूप का ज्ञान दे दिये हैं। वह स्वरूपज्ञान ग्रहण करने से हमारे सब विकार मिट गये, अब पुनः हृदय में दुःखपूर्ण विषयों के प्रति सुख-भ्रम नहीं लायेंगे ॥ १ ॥

कवित्त

पारख गुरु बोध जब से हृदय में प्रबोध भयो,
शोध निज धन को मोद पावत अपार है।
चिन्ता परिश्रम परतंत्रता की बेड़ी कटी,
अब तो स्वच्छन्द विरति उपवन विहार है ॥

फाँसी से मुक्ति अरु डूबत ज्यों यान मिल्यो,
ताहि से अशेष सुख कहत न सुमार है।
दुखिया यह दास सद्गुरु बन्दीछोर बोधक शरण,
शाहनपति भयो पायो आपन पद सार है॥ १॥

शब्द—१६

सो देखो मन जग स्वारथ को मीत॥ टेक॥
जबलग देखत स्वार्थ आपनो, करत तबहिं तक प्रीत
स्वार्थ रहित कोइ बात न पूँछत, मिथ्या जग की रीत १
विषय हेतु नर नारी देखो, मात पिता अरु मीत
सब कोइ देखत गति मति सबकी, भोगत दुख दै चीत २
अन्त समय कोइ काम न आवै, क्षण-क्षण जावै बीत
निशिदिन रहत मगन माया में, हँसि-हँसि गावै गीत ३
बिन सद्गुरु सद्ज्ञान लखे नर, झूठी जग की प्रीत
सूरत निज पर स्वार्थ परम हित, संत गुरू यक हीत ४

टीका:—हे मन, देखो! संसार स्वार्थ का प्रेमी है॥ टेक॥ संसारी लोग जिससे जब तक अपना स्वार्थ देखते हैं तभी तक उससे प्रेम करते हैं। बिना स्वार्थ के कोई बात तक पूछने वाला नहीं है, अतः संसार की प्रीति-रीति झूठी है॥ १॥ देखो, विषय-सुख के लिये ही स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेम करते हैं, माता-पिता और मित्रगण भी इसी प्रकार स्वार्थ-वश हैं। इस प्रकार सब कोई सबके स्वार्थपूर्ण आचरण और बुद्धि को देखते हैं; परन्तु अज्ञान-वश पुनः उन्हीं में मोह कर संसार के दुःख भोगते हैं॥ २॥ कल्याण-साधन करने योग्य उत्तम मानव 'जीवन का एक-एक क्षण जो वर्ष, शताब्दी और कल्प से भी मूल्यवान है, वह बीता जाता है, अन्तकाल परिवार, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठादि कोई काम आने वाले नहीं हैं। परन्तु यह विमोहित मानव रात-दिन माया में लीन रहता है और हँस-हंस कर विषय-गीत गाता है।। ३॥ सद्गुरु के यथार्थ स्वरूपज्ञान को न पाने से

ही मनुष्य संसार के झूठे मोह में फँसा है। ग्रंथकर्ता गुरुवर कहते हैं, बोध-वैराग्य सम्पन्न यथार्थ सद्गुरु-सन्त ही संसार में एक सच्चे अपने-पराये का कल्याण करने वाले हैं॥ ४॥

व्याख्याः—संसार के जीव स्वार्थ के सगे हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध न होते देखकर या स्वार्थ में विरोध जान कर संसारी जीव केले के पत्ते के समान फट जाते हैं। केवल विषय-मोह-वश पुरुष स्त्री से प्रेम करता है, और उसकी पूर्ति जब नहीं देखता, तब उसी का परित्याग कर देता है। यही बात स्त्री पर घटती है। पुरुष से इच्छापूर्ति न होते देखकर कितनी स्त्रियाँ यहाँ तक कहने लगती हैं "क्या कंथा के घर रहे, क्या भये गये विदेश?" स्त्री-पुरुष का परस्पर तलाक देना, एक-की-एक हत्या करवाना, दूसरे से लगजाना—यह सब घिनौने स्वार्थ के ही तो ज्वलन्त रूप हैं।

कवित्त

जब लग धन मान तब लग नात जान,
जब लग देह शक्ति तब लग नारी है।
मित्र बन्धु महतो वो राउत अनेक हित,
जब लग हाथ माहिं द्रव्य निजकारी है॥
दादा नाना काका मामा सबहिं अपन जानो,
जब लग स्वारथ चलत सुखकारी है।
स्वारथ रहित कोइ बात कै पुछैया नाहिं,
पूत वो पतोह नारि आँखि हूँ निकारी है॥

विरले माता-पिता होंगे जो संतान का कल्याण सोचेंगे; अन्यथा सब केवल अपने स्वार्थ की बातें सोचेंगे। यदि लड़का सत्संग, भक्ति और साधना में लगने लगे तो माता-पिता घबराने लगेंगे और शीघ्र उसे विवाह रूपी माया-मोह की फाँसी में लटकाने का प्रयत्न करेंगे। पहले तो पचीस वर्ष की अवस्था के पहले विवाह करना नहीं चाहिये। इसके अतिरिक्त जो लड़का अपना विवाह न करना चाहता हो और साधना करना चाहता हो, उसे विवाह-बन्धन में बलपूर्वक फँसाने की चेष्टा

करना गो-हत्या, जीव-हत्या से भी महान अपराध है, परन्तु अविवेकी तथा स्वार्थी माता-पिता यह नहीं समझ पाते। इसीलिये कल्याण-इच्छुकों को सावधान करते हुए आलूवाले बाबा 'कौशल्य जी' कहते हैं:—

माता पिता बूढ़े बढ़े गुरु पूज्य हैं सन्मानिये।
बाधा करें परमार्थ में तो त्याज्य पाँचो मानिये॥
हो तीव्र इच्छा मोक्ष की माता पितादिक छोड़िये।
निज आत्म के कल्याण हित नाता सभी से तोड़िये॥१॥
धन धाम अरु व्यवहार जग निर्वाह हित व्यापार हैं।
जो विघ्न डालें मुक्ति में तीनों ही सिर के भार हैं॥
बाधक तुझे हों दीखते तो शत्रु उनको मान कर।
दे त्याग जल्दी से उन्हें निज आत्म का कल्याण कर॥२॥
पूरा न हो वैराग्य यदि कल्याण की नहिं आश हो।
तो त्याग मत जब तक तुझे नहिं आत्म में विश्वास हो॥
नहिं बुद्धि अपनी काम दें तो शरण गुरु की लीजिये।
निज बुद्धि का परित्याग कर विश्वास उन पर कीजिये॥३॥
कल्याण हो यदि इष्ट तो मत बात जग की मानिये।
सन्मार्ग का उपदेश करता एक सद्गुरु जानिये॥
जग के कुटुम्बी जगत में फँसना तुम्हें बतलाय हैं।
कहते अहित को परम हित हित को अहित जतलाय हैं॥४॥
काशी नहीं है दूर कछु कुत्ता बहुत ही तेज है।
दिन तीन में जावे पहुँच यात्रा अगर करना चहे॥
पर जाति भाई अन्य कुत्ते मार्ग उसका रोकते।
जाने नहीं देते उसे हैं देखते ही भोंकते॥५॥
जिस जाति से जिस देश से जिस अर्थ से जिस मित्र से।
कल्याण अपना हो नहीं तज दो उसे ही दूर से॥
प्रिय! साथ उनका छोड़िये सम्बन्ध उनसे तोड़िये।
सद्गुरु चरण की ले शरण शुचि प्रेम उनमें जोड़िये॥६॥
कीड़े नरक के नरक में सुख मानि आयु बिताय हैं।
"आओ नरक में आप भी" सब को यही सिखलाय हैं॥

निन्दा करें या लोभ दें मत कान उन पर दीजिये।
नहिं श्रेय उसमें आपका क्यों कार्य ऐसा कीजिये ॥७॥
माता वही है सुतवती जो पुत्र ऐसा जन्मती।
वह ही पिता सुतवान है जिससे हुई यह सन्तती ॥
जिस वंश में नर होय सो वह वंश पावन जानिये।
रहवे जहाँ जिस देश में ज्यों तीर्थ सो सन्मानिये ॥८॥

मनुष्यो! अनमोल हीरा जन्म को मत खोओ। एक-एक दिन सब तुम्हें छोड़ कर चल देंगे। अन्त में तुम्हारा साथी तुम्हारे कर्म होंगे। सद्गुरु कबीर की घोषणा है:—

सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥१॥

परदा रहती पदमिनी, करती कुल की कान।
छड़ी जु पहुँची काल को, डेरा हुआ मैदान ॥२॥

आस पास योद्धा खड़े, सबहिं बजावै गाल।
मंझ महल से ले चला, ऐसा परबल काल ॥३॥

जीवन क्षणभंगुर है, नदी के तट पर रेतीली भूमि में लगे हुए वृक्ष के समान जीवन का ठिकाना नहीं है। जो समय बीत गया उसे संसार की सारी सम्पत्ति देकर भी नहीं लौटा सकते हो। ऐसे अल्प और अनोखा समय में मनुष्य को अपना कल्याण-साधन करना चाहिये; परन्तु यह भूला मानव इस जीवन को विषय-भोग रूपी खेल में व्यतीत करता है। हँस-हँस कर विषय गीत गाता है। यह नहीं समझता कि एक दिन कालबली का तमाचा लगते ही सब अहंकार की मस्ती झड़ जायगी। यह संसार प्रमादियों के लिये क्रीड़ास्थल है और विवेकियों के लिये रणक्षेत्र।

कुण्डलिया

"मूरख को है खेल जग, हँसत खात दिन रात।
किन्तु विवेकी संत कहँ, रण स्थल दिखलात ॥

रण स्थल दिखलात, जहाँ है दुख की धारा।
सजग सिपाही सन्त, हथेली ज्ञान दुधारा॥
बचत रहत नित, परत वार मन शत्रु दरेरे।
धीरज ढाल अड़ाय, लड़त दिन रैन गरेरे॥
पै अज्ञानी विषय कहँ, मित्र मानि लपटात।
किन्तु विवेकी संत कहँ, रण स्थल दिखलात॥

संसार में कोई किसी का नहीं

दृष्टान्त— स्वच्छ आसन पर एक महात्मा बैठे हैं और मोह-निवारक सद्उपदेश कर रहे हैं, एवं यह दर्शित कर रहे हैं कि—हे जीव! तुम स्वच्छ हो, तुम्हारे स्वरूप में मोह नहीं है।

हे जीव! मोह किससे करता, तेरे स्वरूप में मोह नहीं।
है मान लिया तो मोह हुआ, जो नहिं माने तो छोह नहीं॥
जिसको तुम निज हितकर कहते, वे बदला लेने आये हैं।
अथवा तेरे हितकर बन कर, वे बदला देने आये हैं॥
जिसको तू कहता पुत्र मेरा, वास्तव में नहिं कोई तेरा है।
पहले का कर्जदार हो तुम, वह कर्ज चुकाने आया है॥
जो पहले के मानुष तन में, शुभ-अशुभ कर्म कर लीन्हा तुम।
प्रारब्धी में रूपान्तर हो, दुख-सुख जो फल भोगा है तुम॥
दो०—पहले के परिवार जो, नहीं सहायक आज।
तो क्या तू है समझता, आज के देंगे काज॥ १॥
जिन परिवार के मोह में, पालन पोषण हेत।
करत रहत शुभ अशुभ नर, नेक करत नहिं चेत॥ २॥
आखिर में छुटि जायँगे, जिन हित निशदिन दौर।
छल हिंसा अरु घात कर, हरत पराये कौर॥ ३॥
जिस दिन तुम यहाँ से जाओगे, तो को तेरा साथी होंगे।
परवश होकर के चल दोगे, अपने अपने राही होंगे॥
मैं कहूँ कहाँ तक हे भाई! खुद करो परीक्षा जीते जी।
जिसको तुमसे नहिं मतलब है, वे समझे नहीं तुझे कुछ भी॥

जिस परिजन वो सम्बन्धी का, स्वारथ तुमसे नहिं चलता है।
देखो ! वे रुष्ट सदा रहते, उनका, स्वभाव नहिं मिलता है ॥
जिस सरवर का जल सूख गया, पक्षी नहिं रहते उसमें हैं।
जिस सरवर में जल पाते हैं वे जाकर वहीं पे बसते हैं ॥
जो फुलवारी फल हीन हुई, क्या उसमें खग रह सक्ते हैं।
वे फल से हीन समझ तरु को, सहसा पक्षी भी तजते हैं ॥
जो सुमन सार से हीन हुआ, अरु सूख गई कलियाँ सारी।
निःसार समझ कर भँवरा भी, तज देता है क्यारी क्यारी ॥
तद्वत तुम अपने में देखो, जिसको नहिं सुख दे सकते हो।
तुमसे वे नहीं मोह करते, चाहे तुम उनसे करते हो ॥
जिस धन मकान में भूल रहे, अरु पुत्र-कलत्र हितू-समझे।
वे घात करेंगे तेरे संग, जिसमें पड़के तुम ही अरुझे।

दो०—मोह घात की बात में, कहों एक दृष्टांत।
एक चित्त होकर सुनो, कर निज मन को शान्त ॥ ४ ॥

था एक सेठ सम्पत्तिशाली, अरु, पढ़े-लिखे विद्वान भि था।
थी बड़ों-बड़ों में बैठक भी, इज्जत भी थी अरु मान भि था ॥
थीं चार स्त्रियाँ रूपवती, चारों के एक एक सुत थे।
बहु दास दासियाँ अनुगामी तिस पर भी सेठ जी दुख में थे ॥
उनकी तृष्णा की धारा का, मालूम नहीं गहरा कितना।
नहिं शान्ति कभी भी मिलती थी, चाहे धन पा जावें जितना ॥
दूजों का गला दबा करके, धन माल बहुत अपहर्ते थे।
धन पा जावें चाहे जिस विधि, शुभ-अशुभ ध्यान नहिं करते थे ॥
इतना धन माल जोड़ रक्खे, सब अनुचित अरु अन्याय का था।
थे मक्खी चूस सूम में भी, कछु धर्म पुण्य में ख्याल न था ॥

दो०—उन पुत्रों के हेतु था, एक मात्र ही लक्ष।
किस विधि हम धन कमा के, कर दें सुत को दक्ष ॥ ५ ॥
अधिक मोह था सेठ का, सुत-कलत्र हित लाग।
याहि हेतु से विविध विधि, करते धन का जाप ॥ ६ ॥

निदान पुत्रों में कलह हुआ, चारों में फूट बढ़ी इक दम।
आपस में बटवारा हेतू, हो गया सेठ के नाको दम ॥

आखिर में सोच समझ करके, विभाग किया चारों हिस्सा।
अरु बुड्ढा सेठ बीच में था, आगे सुनिये उसकी किस्सा॥
पारी-पारी भोजन देते, उस सेठ की अति हैरानी थी।
कहता था सेठ चिल्हक करके पहले यह बात न जानी थी॥
हा ! हाय-हाय ! जिन पुत्रों हित, हम अकरम कर्म किये बहुते।
धन जोड़-जोड़कर धनी किये, हा ! दुख सुख बहुत भाँति सहते॥

दो०— अपने अपने काम में, वा कामिन के संग।
सेठ पुत्र रहते सदा, चढ़ा युवा मद रंग॥ ७॥
ध्यान होत जब किसी को, जूठा कूठा अन्न।
दे आते उस सेठ को, हा ! जग स्वारथ धन्य॥ ८॥
असी वर्ष की आयु में, सेठ हुआ बीमार।
सन्निपात के रोग से, अधिक हुआ लाचार॥ ९॥
हुई बन्द बोली तुरत, जुटे नग्र के लोग।
एक दिखावा मात्र का, किये पुत्र कुछ शोग॥ १०॥

सब कहने लगे नग्र के जन, हे सेठ बहुत धन तुम जाया।
अन्तिम है कर दो दान पुण्य, अब छुटती है तेरी काया॥
था भवन सेठ का बनवाया, उसमें थे मोहरे जड़े हुए।
सोने और चाँदी के सिक्के, थे जगह जगह पर मढ़े हुए॥
उँगली से सेठ इशारा कर, अरु बतलाया उन भीतों को।
इतने में लड़के बोल उठे, जानकर पिता के रीतों को॥
ऐ भाई ! पिताजी कहते हैं, जो कुछ भी मैं धन जाया है।
उन धन को देखो महलों में, लाकर के सभी चुनाया है॥
अब कहाँ से दान करूँ भाई, जब द्रव्य नहीं है हाथों में।
ऐसी वाणी सुन दुखित सेठ, रह गया हाथ मल हाथों में॥

दो०— इतने में दुख से व्यथित, हुआ सेठ बेहोश।
देह छूट सहसा गयी, बीते सकल कलेश॥ ११॥

ऐसा वर्णन कर महात्मा कहने लगे— देखो ! जिस सेठ ने अपने जीवन, धन, और परिश्रम सब बाल-बच्चों में लगा दिया, उसे मरते समय तक पुत्र अनेक कष्ट देकर अन्त में थोड़ा भी दान पुण्य न करवा सके;

बल्कि सेठ जब इशारा किये कि दीवार से रुपये निकाल कर दान करवा दो, तब पुत्रों ने उल्टा पाठ पढ़ाया। सच है, इस नटखट संसार में कोई किसी का नहीं है। सब अपने स्वार्थ के सगे हैं। इस झूठी दुनिया से सचेत होना चाहिये, गाफिली में पड़े मत सोओ।

पद—चेतावनी

अंखियाँ खोलो सद्गुरु बोलो, भोर भये किमि सोते हो।
मोक्ष भूमिका नर तन पाकर, क्यों गफलत में खोते हो॥ टेक॥
तीन खानि से बाहर आया, सुन्दर नर देही को पाया।
कंचन कामिन देखि भुलाया, भक्ति बीज नहिं बोते हो॥ १॥
खेल कूद बालक पन खोया, यौवन काम छछन्द बिगोया।
वृद्ध भयो तृष्णा उर बाढ़ी, भार धरे सिर ढोते हो॥ २॥
चमड़ी काया देखि लुभाया, मदमस्ती में समय गँवाया।
काल बली का फेरा आया, अब क्यों बैठे रोते हो॥ ३॥
तीन मिनट टेशन पर गाड़ी, अभी छूटती चेत खिलाड़ी।
सौदा करले सत्संगत में, क्यों तू अहमक होते हो॥ ४॥
चेतो उठो क्षणिक जिनगानी, किसमें भूला रे अभिमानी।
हो अभिलाष गुरू पद ध्यानी, क्यों विषयन में गोते हो।५॥

शब्द—१७

बचाये चलो साधू देश बिराना॥ टेक॥
काम क्रोध भट चोर बसत उर, दया छमा धन लुटै खजाना १
मोह निशा सब सोय लुटाये, कोई नहिं पाये ठौर ठिकाना २
करि सत्संग सजग रहु प्यारे, तू परदेशी परदेश भुलाना ३
निजनिजसुखसबसबके गाँहक, परस्वारथ गुरुसन्तबखाना ४
ताते परख भंग करि आशा, गुरू शरण गहु ज्ञान महाना ५

टीकाः—सन्तो! यह शरीर-संसार प्रकृति-देश, पराया देश है; अतएव इनके माया-मोह से अपने को सावधानी पूर्वक बचाये चलो॥ टेक॥ काम-क्रोधादि दुर्गुण रूपी विकट चोर हृदय में बसते हैं, और दया, क्षमादि

सद्‌गुण रूपी धन के कोष को लूटते हैं ॥१॥ मोह रूपी रात्रि में अज्ञान एवं जड़ता की नींद लेकर सभी भूले जीव अपने को लुटा दिये हैं; ऐसे लोगों में कोई जीव स्थायी स्थिति नहीं पाये ॥ २ ॥ प्यारे सज्जनो ! विवेकी सन्तों का सत्संग करो और मोह-माया से सावधान होओ; तू परदेशी है जड़ प्रदेश में भूल गया है ॥ ३ ॥ अपने-अपने विषय-सुख स्वार्थ के लिये ही सब, सबको पूछते हैं, सच्चे परोपकारी, जीव के उद्धारक तो निर्मल आचरण और ज्ञान से सम्पन्न संत-गुरु ही कहे जाते हैं ॥ ४ ॥ अतएव संसार के माया-मोह और स्वार्थ की परख करो तथा उनकी आशा का त्याग करो एवं सद्‌गुरु की शरण लेकर महान स्वस्वरूप ज्ञान को प्राप्त करो ॥ ५ ॥

व्याख्याः—यह शरीर और संसार प्रकृति देश है । अतः परदेश है अपना देश चेतन स्वरूप ही है; अर्थात् मैं-से-मैं कभी नहीं बिछुड़ता, इसलिये मैं ही मेरा देश है, मैं ही मेरा सर्वस्व है । 'मैं' स्वयं शुद्ध चैतन्य, मंगलमय, परम बोध स्वरूप, परम शान्त स्वरूप हूँ । इस प्रकार अपने को न जानकर ही शरीर, संसार, जो एक दिन छूट जायगा—अपना-अपना कर पुकारता हूँ ।

शरीर तथा शरीर के सम्बन्धी—स्त्री, पुत्र, पुत्री, मित्र, सगे, शिष्य-शिष्या एवं धन, घर, खेत, सम्पत्ति—कौन-सी वस्तु अन्त में साथ होगी! जिस दिन आँख ढँप जायगी, सब जहाँ-के-तहाँ रह जायँगे और जीव अकेला चल देगा । यथा "मूँदहु आँख कतहु कछु नाहीं ।"

हमारे मार्ग में काम, क्रोध, लोभादि डाकू मिलते हैं । ये हमारे ज्ञान तथा आचरण धन को लूटना चाहते हैं । इनसे हरक्षण बचना हमारा कर्तव्य है । इस घोर संसार-सागर से तरने के लिये कितने साधक साधना करते हैं; किन्तु शुभ साधना के फल में जो उन्हें थोड़ी सात्विकता तथा बाह्य मान-सम्मान मिलते हैं, उन्हीं में भूलकर कितने लोग बीच ही में भ्रष्ट हो जाते हैं । अतएव साधक को चाहिये कि वह प्रलोभनों में न पड़कर साधना की ओर ही निरन्तर चले । किसी कवि ने कहा हैः—

मंजिल असल मुकाम की तय करनी है तुम्हें ।
इस ठग नगर में फँस के गिरफ्तार न हो जाय ॥

माधो लगी है वंशी माया मोह जाल की।
धोखे में पड़के देखो कहीं हार न हो जाय॥

माफी रूप जगत्-भेष के सुखों में जीव भूल जाता है

दृष्टांत:—एक राजा प्रचार करा दिया था, कि जो मेरे पास आ जाय उसे मैं अपनी राजगद्दी दे दूँ। ऐसा सुन कर बहुतों को विश्वास ही नहीं पड़ता। लोग सोचते—"राजा अपनी राजगद्दी यों ही किसी को क्यों देंगे ?" किन्तु कोई-कोई राजा के प्रण का विश्वास करके राजा के पास जाने का विचार करते और जाते। राजभवन बीच शहर में था, शहर बहुत आकर्षक और सुन्दर था। रमणीय महलों में कहीं नाटक, कहीं सिनेमा हो रहा है, कहीं वेश्यायें नाच रही हैं, कहीं खाने-पीने की विविध सामग्रियाँ रखी हैं, कहीं द्रव्य और रत्नों का कोष है। ये सब वस्तुयें राजा के पास जाने वालों के लिये माफी भोगने को मिलती थीं। कहीं लावण्यमयी नवयुवतियाँ तथा नवयुवक आकर मन को हरण कर लेते। विषय-सुख और दिखाऊ प्रेम में बाँध लेते। इस प्रकार माफी सुख भोगों में भूल कर सब बीच ही में रह जाते, कोई राजा तक नहीं पहुँच पाता। निदान माफी भोगों के परिणाम स्वरूप दुःखों के भागी होते। राजा से एक विचारवान् मिलने चला, शहर में पहुँचते ही उसे भुलावन पदार्थ, प्राणी और सम्पत्ति रूप माफी भोग मिले, किंतु उस विचारवान् ने विचार किया कि "इन माफी भोगों में भूलकर अपार सुख-साज राज्य पद को छोड़ना ठीक नहीं; क्योंकि ये माफी के भोग तो राज्य सुख के हजारों-लाखों भागों में से एक भाग भी न होंगे। अतः वह सबका त्याग करते हुए और नम्र दृष्टि करके राजा के पास जा पहुँचा। राजा इस विचारशील को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपनी राजगद्दी देकर सम्पूर्ण सुखों का अधिकारी बना दिया।

सिद्धान्त:—राजा यहाँ गुरुदेव हैं। जगत्-वासना त्यागकर उनकी

शरण में जाने से अविनाशी स्थिति रूपी सुख मिलता है; किन्तु यह गुरु का महत्त्व अधिकांश लोग जानते ही नहीं। कुछ लोग जान भी जाते हैं, गुरु शरण में चलते भी हैं, तो पहुँच नहीं पाते। परमार्थ-पथ में चलते ही मान-प्रतिष्ठादि शिष्य-सेवक, दास-दासी, शारीरिक-मानसिक सुख मिलने लगते हैं, मोटे-मोटे दुर्गुण छूट जाते हैं, कुछ स्ववशता प्राप्त हो जाती है। इन्हीं भुलावन रूप माफी सुखों में भूलकर गुरु के परम पद तक नहीं पहुँच पाते। निदान बाह्य सुखों में भूलने से जन्मादिक-देहोपाधिक संकट नहीं छूटते। किन्तु जो विचारवान् पुरुष बाह्य मान-सुखरूप माफी भोगों में न भूलकर और जगत्-वासना त्यागकर तथा भली-भाँति गुरु की अधीनता ले लेते हैं (अन्तिम स्थिति के लिये सब का त्याग कर देते हैं) वे सर्व दुःखों से छूटकर परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

शिक्षा-सवैया

साधु भयो निज मुक्ति के हेतु से, भूलि गयो बहु मान के पाये।
चेला वो चेलि झमेल भयो नित, वाचिक ज्ञान में ध्यान भुलाये॥
स्वस्थिति भवन उठावत नाहिं, चुनावत आश को भवन उठाये।
गाफिल में दिन बीति रह्यो, उत देखहु काल खड़ा मुख बाये॥१
वेषहिं मात्र से काज न पूर, तजो जग आश गहो थिरताई।
बीचहि में तोहि नींद लगी, नहिं देखत काल गयो नियराई॥
खावत सोवत चैन उड़ावत, संत दशा कहँ तू बिसराई।
साधु के पंथ जो मुक्ति के हेतु, सो गर्भ में जाय जरो तुम भाई॥२
यातेहिं काल समान लखो जग, या जग के सुख मान बड़ाई।
देह स्वभाव न मान करो कछु, दुक्ख के बीच लखो निजकाई॥
रात दिना अविनाशी स्वरूप में, थीर रहो जग स्वप्न भुलाई।
जागो रे जीव ! चलो निज देश, न या जग में कहुँ शांति दिखाई॥३
देखत नाहिं क्षणै-क्षण बीतत, माया वो मोह में अंध भयो है।
पाय स्वतंत्र स्वरूप को देश, न रक्षत ताहि छछन्द ठयो है॥
जा क्षण नित्य स्वरूप को ध्यान, सो ता क्षण बोल-ठठोल गयो है।
जीवन पारख प्राप्त भयो पुनि, गर्भ के आग में जाय जर्यो है॥४

कवित्त

मान सुख नाम अरु शिरमौर होना चाहे,
सोई सब सुख तोहि वेगि मिलि जायेंगे ।
तृष्णा क नाश अरु कामना विनाश चाहै,
सोई निज शान्ति तोब उर में समायेंगे ॥
ज्ञान बुद्धि अनुभव वो गुण को प्रकाश चाहे,
सोई सब सद्गुण दत्त ही दिखायेंगे ।
भूप के समान तेरो आदर हूँ नित्य होय,
यदि निज पारख में आप ठहरायेंगे ॥ १ ॥

पद

हमें हो स्थिति प्यारी, जगत् रूठे तो रूठन दो ।
तजें हम सर्व की आशा, प्रेम टूटे तो टूटन दो ॥ टेक ॥
नहीं जग में कोई वैरी, न प्रेमी खास कर मेरा ।
रखें हम ध्येय निशिवासर, जगत् कूटे तो कूटन दो ॥ १ ॥
बाग जागीर मठ मन्दिर, य कोई खास कर वस्तू ।
रहें हम थीर निज पद में, कोई लूटै तो लूटन दो ॥ २ ॥
पुजापा मान प्रभुता की, न रंचक हो निगा दिल में ।
सगे सम्बन्ध प्रेमी जन, सभी छूटैं तो छूटन दो ॥ ३ ॥
प्रबल दुखदृष्टि तन मन की, यही अभ्यास अन्तरगत ।
चले दिन रैन इकधारा सुखाशा तन्तु टूटन दो ॥ ४ ॥
छुटै भव दुख मिलै मुक्ती यही अभिलाष तुम रक्खो ।
जगत से नेह सुखदृष्टी, कभी दिल में न जूटन दो ॥ ५ ॥

शब्द—१८

गुरुपद विमुख कपट दुख भोगै ।
निज पद रहित सहत नित शोगै ॥ टेक ॥
शुद्ध सदैव अखण्ड जो चेतन, तृप्त स्वरूप अरोगै
ताहि बिसारि भ्रमत नर मूरख, करत उपाय अयोगै १

मान बड़ाई निशदिन खोजत, हम सम और न योगै
सुखाध्यास छिपाय हृदय में, विषयादिक सुख भोगै २
बिना परीक्षा पूजत तेहि को, मानि गुरू सब लोगै
परी कसौटी मन मोहन वश, पति पानी सब खोगै ३
करत निरादर नर नारी सब, श्वान समान हटोगै
न्याय सुनीत सजग बिन जग में, यही दशा सब लोगै ४

टीका :—विवेक-वैराग्य सम्पन्न सद्गुरुदेव के चरणों की भक्ति, गुरु-मर्यादा की रहनी तथा स्वस्वरूप चेतन की स्थिति को त्याग कर जीव नित्य दुःख भोगता एवं शोकित रहता है ।। टेक ।। जो चेतन सदैव शुद्ध, अखण्ड, परमसन्तुष्ट तथा नितान्त निरोग है, उस स्वरूप को भूलकर मूढ़ मानव सुख-शान्ति के लिये विपरीत उपाय करता है ।। १ ।। "मेरे सदृश दूसरा कोई नहीं है" इस प्रकार अहंकार धारण करके मनुष्य रात-दिन मान-बड़ाई खोजता है । ऊपर से सभ्यता, ज्ञान, वैराग्य का ढोंग दिखाकर तथा हृदय में विषय-सुखाध्यास छिपा रखता है, और समय पाकर विषयों का उपभोग करता रहता है ।।२।। संसारी लोगों को यथार्थ गुरु की परीक्षा न होने से वे उपर्युक्त दम्भी-छली लोगों को 'गुरु' मानकर उन्हें पूजते हैं परन्तु मन को मोहने वाली माया के वशीभूत हुए ऐसे दम्भियों पर जब किसी विवेकी की कसौटी पड़ती है, तब उनकी सारी बनावटी मर्यादा भंग हो जाती है ।।३।। ऐसे दम्भी गुरुओं का कच्चा चिट्ठा जान लेने पर सब समझदार नर-नारी उनका अनादर करने लगते तथा उन्हें कुत्ते के सदृश दुतकार कर हटाने लगते हैं। यह बात किसी एक पर नहीं कही गयी है, जो ही गुरु-न्याय सुन्दर-नीति तथा सावधानी को छोड़ देगा, संसार में उन सबकी यही दशा होगी ।।४।।

व्याख्या:— जीव स्वाभाविक अमर, शुद्ध, अखण्ड, परम सन्तुष्ट एवं शान्त स्वरूप है, परन्तु अपने इस दिव्य स्वरूप को भूल कर वह विषयों के पीछे दौड़ता रहता है और उन्हीं से अचल सुख की कामना करता रहता है ।

कितने ऐसे 'गुरु' नामधारी हैं जो विद्वता, पांडित्य, ज्ञान तथा वैराग्य का दिखावा रखते हैं। दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना अपना काम समझते हैं। येन केन प्रकारेण दूसरों को शिष्य बना कर उनसे पैसा, सेवा तथा मान-बड़ाई प्राप्त करना अपना उद्देश्य समझते हैं। कितने ऐसे गृहस्थ हैं जो स्वयं विषय-वासना तथा अनेक दुर्व्यसनों के कीचड़ में फँसे हैं और दूसरे को तारने के लिये गुरु बनकर चलते हैं। इसी प्रकार कितने ही 'साधु' नामधारी हैं जो गुरु बनकर जन-उद्धार करने चलते हैं और भीतर-भीतर मलीन भावना रखते हैं। गुप्त रूप से विषय-सेवन करते रहते हैं। कितने त्यागी-गुरु नामधारी चेलों से पैसा पुजा-पुजा कर अपने घर भेजते हैं। बाल-बच्चों में लगाते हैं। कितने 'गुरु' नामधारी गाँजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट तथा कोई-कोई मदिरा-मांस का भी सेवन करते हैं। जिनको विवेक नहीं है, ऐसे लोगों को ही सच्चा गुरु मानकर पूजते हैं। कहा है:—

जे जन्मे कलिकाल कराला। करतब बायस भेष मराला॥
बंचक भक्त कहाय राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥ रामायण
गाँजा भाँग तमाल उड़ावै। कलियुग सोइ परसिद्ध कहावै॥ विश्रा०

परन्तु "उघरे अन्त न होय निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू।" के समान विवेकियों के सामने ऐसे दम्भी लोगों का पर्दाफास हो जाता है।

बने गुरु का लक्षण

दृष्टान्त:— एक पाण्डे जी गुरु बन कर अन्य जीवों से धन वंचन करने के लिये ग्राम में जाकर भोले-भाले मनुष्यों को चेला बनाने लगे। पाण्डे जी ऐतिहासिक कथा कह कर और "गुरु बिना जीव का नर्क होता है" ऐसा बताकर ग्राम-का-ग्राम चेला बना लिये। इन चेला लोगों में ऐसा कोई न था कि बने हुए गुरु से पूछता—महाराज! गुरु का लक्षण क्या है? इसी प्रकार व्यतीत होते-होते एक दिन एक चेला कहीं गया था, वहाँ उसने एक महात्मा से सुना कि जीव जब तक अपने स्वरूप

का बोध नहीं प्राप्त कर पाता अर्थात् यह नहीं जान पाता कि मैं कौन हूँ ? जगत् क्या है ? हमारा और देह का संबंध कैसा है ? हमारा बंधन कैसे छूट सकता है" इत्यादि; तब तक कल्याण-पथ नहीं मिलता। ऐसा सुनकर वह मनुष्य आकर अपने बने हुए गुरु से प्रश्न किया— "मैं कौन हूँ ? जगत् क्या है ? संबंध कैसे ? छूटेगा कैसे ? इत्यादि, सुनकर गुरु जी हैरान हो गये, क्योंकि वे केवल इतिहास, विवाह-शादी राम-रावण की लड़ाई आदि ही जानते थे। फिर वे बेचारे बताते ही क्या, कि तुम अमुक हो, जगत् अमुक है" इत्यादि। गुरु जी इस प्रकार अवकाश न देखकर कहने लगे "सुनो चेलाराम ! शंका कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हम तो तुम्हें प्रथम ही सबका मूल मंत्र 'राम नाम' सुना दिये हैं, कृष्ण जी गीता में कहते हैं "संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् शंकाशील प्राणी विनाश—नर्क को प्राप्त होता है; अतः कभी शंका नहीं करना चाहिये।" ऐसा वचन सुनकर गुरु की झूठी गुरुवाई चेला समझ गया और बोला— देखिये महाराज ! आपको शंका का समाधान करना पड़ेगा, नहीं तो आप नर्क के भागी होंगे। गोस्वामी जी कहते हैं "हरै शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥" अब तो गुरुजी और चक्कर में पड़ गये और कहने लगे "तू गुरु-द्रोही है। हम तुमसे नहीं बोलना चाहते।" चेला ने कहा "यदि आप प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते, तो लो अपनी कंठी और लाओ मेरा पैसा" इतना सुन कर पाखण्डी गुरु का तो होश उड़ गया और किसी प्रकार इज्जत-आबरू बचा कर रात में भाग खड़े हुए।

शिक्षाः—विचारवान् मनुष्य को चाहिये सच्चे वैराग्यशील सन्तों को गुरु बनावें, उन्हीं से शिक्षा-मंत्र लेवें, वे ही जगत् जालों से जीव को बचा सकते हैं, क्योंकि वे माया त्यागी, निर्बन्ध होते हैं। वे वैराग्यवान् सन्त-गुरु चेला बनाने की दुकानदारी नहीं करते। जो उनकी शरणों में जाता है, सहजिक उसे सद्शिक्षा देकर उसका उद्धार करते हैं; और

केवल चेला बनाने की दुकानदारी करने वाले की तो यह दशा रहती है "घरे घरे गुरुआ गोहरावे, चेला मंतर लेव। तरै तरावै का ना जानी धोती रुपया देव ॥" ऐसे वंचक वेषधारी और गृहस्थ गुरु से सदा सावधान और दूर रहना चाहिये। गृही गुरु से कल्याण नहीं होता इसके विषय में कहा है—

श्लोकः—पाषाणस्य यथा नौका, न तरेन् न च तारयेत।
तथा गृही गुरुश्चैव, न तरेन् न तारयेत ॥ नारदगीता ॥

अर्थः—जैसे पत्थर की नौका न स्वयं तरती है, न अन्य को तार सकती है, वैसे ही गृहस्थ गुरु न स्वयं तर सकता है न अन्य को तार सकता है।

परन्तु केवल वैराग्य का ढोंग रखने वाले से भी कल्याण नहीं होगा। यथार्थ विवेक-वैराग्य सम्पन्न गुरुदेव की शरण लो।

शब्द—१८

सजग रहो मन से गाफिल न होवो ॥ टेक ॥
है यह शत्रु निरन्तर घट में, चूकत वार करेवो
ज्ञानी गुणी कवीश्वर सबको, क्षण में मोह बिगोओ १
इतर जीव को कौन कहे अब, विषय अहर्निशि जोवो
बिन गुरु दया भक्ति बिन पामर, गरल पान करि रोवो २
जो शम दम निश्चय करि उर में, ध्यान गुरू का लेवो
आज्ञापालन सेवा साधन, शमन व्याधि सब होवो ३
शरण शरण गुरु शरण सदा गहि, जन्म सुफल करि लेवो
गुरु की कृपा पाप सब छीजै, यही टेक जो होवो ४

टीका :—मन से सावधान रहो अचेत न होओ ॥ टेक ॥ यह शत्रु सदैव शरीर में रहता है; असावधान होते ही यह घात कर बैठता है। ज्ञानी, गुणी एवं काव्यकर्त्ता सबको असावधान होने पर, क्षण ही में मन

मोह उत्पन्न करके उन्हें पतित कर देता है ॥ १ ॥ फिर अब सामान्य जीव को कौन कहें, जो रात-दिन विषयों की उपासना करते हैं। वैराग्य-बोध सम्पन्न गुरुदेव की कृपा तथा भक्ति के बिना यह नीच प्राणी विषय-विष सेवन करके सदैव दुःख में पड़ा रोता है ॥ २ ॥ यदि मन-शमन, इन्द्रिय-दमन करके हृदय में कल्याण-प्राप्ति का निश्चय करे और गुरुदेव-प्रदत्त स्वरूपज्ञान में ध्यान जँच जाय तथा गुरुदेव के आज्ञापालन, सेवा एवं साधना में डटा रहे, तो समस्त मानसिक व्याधियाँ नष्ट हो जायँ ॥ ३ ॥ सदैव के लिये सद्गुरु की शरण लेकर अपने मानव-जीवन को सफल कर लो। यदि कल्याण की प्राप्ति का यह निश्चय दृढ़ रहे, तो गुरुदेव की कृपा से समस्त मलीनतायें सर्वथा नष्ट हो जायँगी ॥ ४ ॥

व्याख्या:—थोड़ा सद्गुण, वाच्यज्ञान, मान-बड़ाई या अन्य मायावी पदार्थों का अहंकार करके मन-शत्रु से असावधान न होओ। यह मन बड़ा दगाबाज है। यह शरीर रूपी नगर में सदैव निवास करता है। जीव जैसे असावधान होता है कि यह मन उस पर वार कर बैठता है। उदाहरण सामने है, नारद, नीमीऋषि, विश्वामित्र तथा न मालूम कितने लोगों को इस चालबाज मन ने संसार-नगर में नचाया है। आचरण, सावधानी, कुसंग-त्याग, सत्संग-अनुराग तथा दृढ़ निश्चय बिना वाचिकज्ञान, कवित्वशक्ति एवं पूज्यपद काम नहीं करते।

जो साधक कल्याण चाहे, वह विवेक-वैराग्यादि रहनीसंयुक्त सद्गुरु की खोज करके और उनकी शरण ले, उनका आज्ञापालन करे, सेवा करे और अपने को पूर्णरूपेण उन्हें समर्पित कर दे। यथार्थ सद्गुरु की शरणागति लेने से साधक का शीघ्र कल्याण हो जाता है।

सावधान ! सद्गुरु का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिये। थोड़े प्रेम के बहाव में आकर, बिना भली-भाँति जाने-समझे अपने तन-मन-धन को कहीं अर्पित न करने लगो। कितने लोग गुरुओं-द्वारा ठगे जाते हैं। पीछे पश्चाताप करना पड़ता है। अतः सद्गुरु का चुनाव बड़ी सावधानी से करो।

दृष्टांतः—एक संत से एक राजा ने कुछ शिक्षा चाही। संत ने कहा—मृत्यु और सद्गुरु का सदैव स्मरण रखो। राजा बोला—इससे क्या होता है? संत बोले—माया-काया का अभिमान दूर होता है। जब मृत्यु पश्चात् कोई वस्तु साथ नहीं जाती, तब किसके लिये पाप तथा अपयश की गठरी बाँधी जाय, और किसकी ममता के वश होकर परमार्थ भूला जाय। अन्त में तो धर्म-परमार्थ ही लोक-परलोक में काम आते हैं। सद्गुरु की दया-दृष्टि से अविनाशी-स्वरूप का बोध और सद्गुणों की प्राप्ति हुई, वे ही काल-जाल से बचाने वाले हैं, रक्षक हैं। ऐसे परम रक्षक की जीवन-पर्यन्त शरण न छूटने पावे, इत्यादि विविध विचार उत्पन्न होकर मनुष्य जीवन का सुधार होता है; अतएव सद्गुरु तथा मृत्यु का सदैव लक्ष्य रखना चाहिये।

कवित्त

आज काल परसो वो नरसो के बीच माहिं,
　　अपनो हि देह छुटी तोहि न दिखात है।
घड़ीकूक सरवारि मोरी को है पानी जैसो,
　　ऐसे हि सु रात-दिन उमर सिरात है॥
सबहीं को आज काल्ह बीच मौत ग्रास करै,
　　सिंह जैसे सावज को मारि चीर खात है।
मन मूढ़! देखते ही देखते अन्धेर होय,
　　तेल जिमि घटि गये दीपक बुझात है॥

शब्द—२०

मत सोओ मुसाफिर जागे चलो॥टेक॥
यह सराय में चोर बसत हैं, चूकत दाँव घलो
मोह नींद में सोय रहे क्यों, काम क्रोध के चोट दलो १
जाग्रत रूप निरन्तर चेतन, शुद्ध अखण्ड अलो
सिंह स्वरूप भूलि निज पामर, गर्दभ चाल चलो २

जो कोइ आय लुटाय गये सब, बिरले बचाय भलो
बड़ी भाग्य जो शरण सिधाये, सद्गुरुदेव के चरण भलो ३
सजग धर्म को पालन करिके, विषयानल न जलो
'सूरतदास' ख्याल कर अजहूँ, माया मोह के फंद टलो ४

टीका :— कर्म-फल-भोग में भ्रमण करने वाले ऐ रमैयाराम यात्रियो! माया की आसक्ति नींद में मत सोओ, सावधान होकर कल्याण-साधन-मार्ग में चलो ॥ टेक ॥ इस शरीर रूपी धर्मशाला में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदादि चोर बसते हैं, तनिक असावधान होते ही तुम पर अपनी चोट पहुँचा देंगे। मोह की नींद में क्यों सोते हो, कामादिकों की आदतों को मूलसहित मिटाओ ॥ १ ॥ तुम्हारा स्वरूप निरन्तर ज्ञान रूप, चेतन, शुद्ध, अखण्ड और सर्वोपरि है। इस प्रकार अपने महान सामर्थ्यशाली स्वरूप को भूलकर गधे की चाल—मलिन देह-इन्द्रियों के विषयों में लिपटा है ॥ २ ॥ जो कोई इस ठगनगर में आये, प्राय: आत्म-धन से लुटा गये, विरले ही अपने आत्म-धन, ज्ञान-धन किंवा कल्याण-धन को बचा सके। वे बड़भागी हैं जो कल्याणकारी सद्गुरु की शरण में गये ॥ ३ ॥ सावधानी-धर्म का पालन करके साधना में दृढ़ रहो, विषयों की आग में न जलो। गुरुदेव कहते हैं हे मानव! आज भी चेत कर, और माया-मोह की फाँसी काट कर मुक्त हो ॥ ४ ॥

व्याख्या:— यह जीव अनादिकाल से कर्म-पथ में भटक रहा है। इसलिये यह पथिक है। यह भूल-वश अपने को यात्री न मानकर और संसार-शरीर को अपना मुख्य स्थान मानकर मोह की नींद में रमने लगता है। फिर तो इसके ज्ञान-धन को कामादिक डाकू लूट लेते हैं। अतएव इसे अपने को पथिक समझ कर सदैव इस संसार से अपना चित्त उठाये रहना चाहिये और इस संसार की लुभावनी माया से सावधान रहना चाहिये। सद्गुरु कबीर कहते हैं:—

साखी

काल खड़ा सिर ऊपरे, तै जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो कस सोवै निश्चिन्त ॥
(बीजक, साखी १०२)

जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन और निरन्तर ज्ञान है। प्रश्न है कि "यदि जीव सर्वदा जागृत ज्ञान रूप है तो गर्भवास, आवागमन और पूर्व जन्मों की बातें क्यों नहीं जानता ? तो इसका उत्तर यह है कि शरीर और स्मरण से ही जीव जगत् का ज्ञान करते आया है, सो शरीर और स्मरण दोनों परिवर्तनशील, जीव से भिन्न हैं। पहले जन्म का न आज शरीर है और शरीर न रहने से स्मरण भी नहीं है। फिर पहले जन्म का ज्ञान कैसे हो। पहले जन्म का ज्ञान तो रहने दीजिये, इसी जन्म में जब से यह शरीर उत्पन्न हुआ तब से ४–५ वर्षों तक की बातों की जानकारी आज नहीं है। जब हम छः महीने तथा दो वर्ष की शिशु-अवस्था में थे, तब कौन-कौन हमसे मिले, कौन बिछुड़े, कितना हमें सुख-दुःख हुआ, इसका कोई ज्ञान आज नहीं है। उसको भी रहने दीजिये, अभी वर्तमान अवस्था में एक सप्ताह के प्रथम रविवार ६ बजकर १५ मिनट सायंकाल में हम कौन-सी बात सोच रहे थे, इसी का स्मरण आज नहीं है। फिर पूर्व जन्म, आवागमन, गर्भवास आदि का स्मरण-ज्ञान आजतक कैसे रह जाय। यद्यपि हम शिशु-अवस्था में भी थे, एक सप्ताह के प्रथम रविवार ६ बजकर १५ मिनट सायंकाल में भी थे, हमारा रहना सदा ही सिद्ध है; किन्तु हमारे स्वरूप में जगत् नहीं है, स्मरण से ही मुझे जगत का ज्ञान होता है, सो स्मरण परिवर्तनशील है, मिटता रहता है, इसलिये जगत् मुझे भूलता रहता है। मैं सुषुप्ति अवस्था में भी था, यदि मैं सुषुप्ति अवस्था में न होता तो जागृत होकर नाना क्रियायें कौन करता, सुख पूर्वक सोने का आनंद कौन बतलाता; किन्तु गाढ़ी सुषुप्ति में मुझे जगत् का कोई ज्ञान नहीं था। वहाँ पर बाह्य कोई

ज्ञान न होते हुए भी मेरा अस्तित्व तो था ही। सारांश—जीव का स्वरूप सर्वदा ज्ञान मात्र है, उसे बाह्य जगत् का ज्ञान शरीर के सम्बन्ध से स्मरण-द्वारा होता है। सो शरीर और स्मरण परिवर्तनशील होने से जगत् भूलता रहता है। जगत ज्ञान का अभाव होने से जीव का अस्तित्व त्रयकाल में कभी भी मिट नहीं सकता; क्योंकि जीव अविनाशी और नित्य वस्तु है।

दृष्टांतः— एक पथरकट ने एक सिंह का बच्चा पकड़ा और लाकर अपने गधों के बीच में रखने लगा। वह सिंह का बच्चा धीरे-धीरे समझ गया कि मैं गधा हूँ, अतः वह गधों की-सी चाल चलता और गधों के बीच में टहलता रहता। एक दिन पथरकटे ने गधों को जंगल में चराने के लिये ले गया, साथ में सिंह का बच्चा भी गया। इतने में एक जंगली सिंह आया और सिंह के बच्चे से कहने लगा—अरे भाई! तुम सिंह का बच्चा होकर दूसरे के वश हो गधों की-सी चाल क्यों चलते हो? सिंह का बच्चा बोला— नहीं-नहीं मैं गधा ही हूँ। सिंह--अच्छा! तू आकर जल में अपना रूप देख तो सही। जब सिंह का बच्चा जल में अपना रूप देखा तो खास सिंह के समान ही था। अतः "मैं सिंह हूँ" ऐसी निश्चयता होते ही सिंह के साथ सिंह का बच्चा भी दहाड़ते हुए जंगल में चला गया।

सिद्धांत :—यह जीव सिंहवत् अत्यंत शक्तिशाली शुद्ध चैतन्य होते हुए अनादि काल से वासना-वश शरीर का सम्बन्ध करके शरीर को अपना रूप मान लिया है। परन्तु सिंहवत् पारखी गुरु जब अधिकारी जीव को मिल जाते हैं, तब उनके संकेत-अनुसार सत्संग-सद्विचार में अपने शुद्ध स्वरूप का अपरोक्ष दर्शन प्राप्त कर यह जीव संसार झमेला से अकेला हो सत्संग में निवास कर जन्मादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

डरत रहे सो उबरे

एक महात्मा नित्य नदी में स्नान करने जाते, मार्ग में एक वेश्या का मकान पड़ता। वेश्या नित्य पूछती—आप कौन हैं? किन्तु महात्मा

कुछ उत्तर न देकर यही कह देते 'कभी बतला देंगे।' एक दिन महात्मा का अन्तिम दिन आया, शरीर छूटने लगा, वेश्या भी सुनी और आयी, महात्मा से पूछने लगी—आप अन्त में तो अपने वचन को पूर्ण करते जाइये ! आप मुझे वचन दिये हैं "कभी बतला देंगे" अतः बतलाइये 'आप कौन हैं ?' महात्मा बोले--"मैं साधु हूँ"। वेश्या बोली—यह बात आप पहले क्यों नहीं कह दिये ? महात्मा बोले--इस ठगनगर भुलावन शरीर--संसार में बस कर 'मैं माया-मोह में नहीं भूलूँगा' ऐसा क्या विश्वास था ? साधु दशा सद्गुण विचार पूर्वक जब तक प्रारब्ध न समाप्त हो जाय तब तक अपने को पूर्ण मानना भूल है। विचार वैराग्य पूर्वक मैंने जीवन समाप्त कर दिया है, इसलिये 'मैं साधु हूँ' यह कहने का दावा आज मुझे प्राप्त हुआ है, सच है :—

दो०—डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहे सो उबरे, गाफिल खाई मार॥

शिक्षा:—विषयाग्नि प्रचण्ड है, प्रारब्ध भर खूब सावधान, साधनारत रहना चाहिये।

सवैया

रूप विषय मह मुग्ध भयो नर, नारि के चाम में भूलि गयो है।
इत्र फुलेल सुगंध में बंध, कहूँ रसना रस स्वाद चह्यो है॥
फिलम वो भामिनि गान के तान, विरान भयो दिन रैन बह्यो है।
चारिहुँ ओर विषय अगनी, परचण्ड में जीव न शांति लह्यो है॥१॥

शब्द—२१

धरो शुभ गुणहि विचार अधार॥ टेक॥
ऊठब बैठब बोलब चालब, राखि विचार सहार
बिना परीक्षा काज करत जो, सत मारग वह हार १
अंग विचार गहो दृढ़ उर में, निर्णय सत्य जो धार
शुद्ध साँच व्योहार भाव उर, ज्ञान विराग धरि दृढ़ न्यार २

है क्षणभंग विजाती जेते, गोचर दृश्य देखार
ताते नेह त्याग सब दीजै, गुरुपद माँहि लगार ३
"सूरत" स्वतः स्वरूपहि जानो, गो गोचर से पार
गुरु विवेक पारख भई उरमें, परखि सन्त अधार ४

टीका :—ऐ कल्याणार्थियो ! शुभ गुणों का विचार पूर्वक आश्रय पकड़ो ॥ टेक ॥ उठना, बैठना, बोलना, चलना—सर्व व्यवहार विचार पूर्वक सहारे से रखो । जो व्यक्ति बिना परीक्षा के काम करता है, वह सत्य-मार्ग को खो देता है ॥ १ ॥ विचार अंग को हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण करो, और जो सत्य निर्णय हो उसे निष्पक्षता पूर्वक सहर्ष स्वीकार करो। व्यवहार शुद्ध और सत्यता पूर्वक रखो, सत्य बोलो तथा हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा रखो और ज्ञान-वैराग्य को पूर्णरूपेण धारण करके दृढ़तापूर्वक बन्धनों से पृथक हो जाओ ॥ २ ॥ इन्द्रियों से दिखाई देने वाले जितने दृश्य हैं, सब क्षणभंगुर हैं, विजाति जड़ है । अतएव उनकी सब आसक्ति त्याग कर गुरुपद, स्वस्वरूप चेतन में दृढ़ प्रेम करो ॥ ३ ॥ गुरुदेव कहते हैं कि अपने स्वरूप को इन्द्रिय और पाँच विषय जड़-पदार्थों से पृथक समझो । गुरु के विवेक तथा पारखी संतों की संगत में इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

व्याख्या :—दया, परोपकार, क्षमा, शील, सत्य, धैर्य, विचार, विनम्रता, सहनशीलता, संतोष, विवेक, वैराग्य, भक्ति, शांति आदि शुभगुणों का आधार जीवनपर्यन्त लेना चाहिये । इन सद्गुणों को अपनाने से ही जीव का कल्याण है । धन, विद्या, पद, रूप, सौंदर्य आदि द्वारा सच्ची महानता नहीं मिलती । मनुष्य का जीवन तभी उच्च तथा सुखी हो सकता है, जब वह उपर्युक्त सद्गुणों को धारण करे ।

विचार कर उठो, विचार कर बैठो, विचार कर बोलो, विचार कर चलो, विचार कर कोई काम करो । बिना विचारे जो काम करता है वह धोखा खाता है ।

अपने योग्यतानुसार उठो-बैठो

दृष्टांत:---एक स्थान पर सभा लग रही थी। सब लोग एकत्रित हो रहे थे। एक महाशय जी आये और सबसे आगे जो अफसरों के लिये कुर्सियाँ रखी थीं, एक कुर्सी पर जाकर बैठ गये, क्योंकि ये यदि नीचे और पीछे बैठते तो इनको कोई बड़ा कैसे समझता। इतने में वहाँ का प्रबन्धक नौकर आया और बुरी तरह डाँटा तथा हाथ पकड़ कर कुर्सी से उठा दिया। अब क्या हो, सभा के बीच में महाशय जी को लज्जित होना पड़ा।

शिक्षा-उठने-बैठने-बोलने-चालने में नम्रता पूर्वक व्यवहार करना चाहिये। देहाती मसल है--"ऐसी जगह बैठे कोई न कहै उठ, ऐसी बात बोलै कोई न कहै चुप!"

सत्य बोलो किंतु प्रिय बोलो

दृष्टांत:---एक कूप पर एक स्त्री जल भर रही थी। एक मनुष्य आकर कहा—"हमारे बाप की मेहरी, हमें पानी पिला दो," इतना सुनकर स्त्री मारे क्रोध के रक्त वर्ण हो गयी और गालियाँ देने लगी और बोली—दाढ़ीजार! यहाँ से शीघ्र भाग जा, नहीं तो पकड़वाकर खूब पिटाऊँगी। इतने में एक दूसरा मनुष्य आया और कहा—माता जी। हमें पानी पिला दो। तुरन्त स्त्री ने प्रेम पूर्वक पानी पिला दिया। विचारिये! बाप की मेहरी [पत्नी] और माता में क्या अन्तर है, कुछ नहीं, केवल बोली का भेद है। शिक्षा--बोली बहुत सम्हाल कर सत्य, प्रिय और समता पूर्वक बोलना चाहिये।

बोली से मनुष्य की पहिचान

दृष्टांत----एक हाथी का सौदागर एक राजा के यहाँ हाथी बेचने गया। राजा ने हाथी देखकर कहा--इसका कितना दाम लोगे? सौदागर

ने कहा---दस हजार। राजा ने हाथी का दाम सात हजार लगाकर अपने राज्य-भवन में चला गया। इतने में उसी नगर में से एक मनुष्य आया और बड़े गौर से हाथी को लगा देखने। वह क्षण में हाथीके पीछे जाता, क्षण में आगे आता, क्षण में नीचे से पेट में देखता। सौदागर समझा ये कोई हाथी का परीक्षक है। हो न हो हाथी में कोई कसर बता दे तो राजा लेवे ही नहीं और "हाथी में कसर है" यह बात प्रचलित हो जाने से हमारे हाथी को कोई नहीं लेगा, तब ये कौड़ी का मोल हो जायगा। ऐसा सोचकर सौदागर ने दो सौ रुपये निकाल कर चुपके से उस मनुष्य को दे दिया। वह रुपये पाते ही अपने घर रख आया। पुनः आकर हाथी को आगे-पीछे से देखने लगा। यह चारों ओर से निहारता तो खूब था, परन्तु बोलता न था। सौदागर ने इसे दो सौ रुपये पुनः दिया और यह फिर रुपये घर रख कर आया और हाथी को आगे-पीछे से देखने लगा। सौदागर ने कहा कहिये भाई साहेब! हाथी में जो कसर हो उसे खुले शब्दों में बता क्यों नहीं देते हो? बार-बार क्या निहारते हो? उसने कहा—भैया! हम यही नहीं पता पाते कि हाथी का मुख किस ओर है? सौदागर ने सोचा यह परीक्षक काहे का, यह तो महान निर्बुद्धि है। सौदागर ने कहा--अच्छा! जो हम चार सौ रुपये तुमको दिये हैं, उसको ले आओ, तब बतादें—मुख किधर है। वह गया, रुपये लाकर सौदागर को दे दिया। सौदागर जब रुपये अपने हाथ में कर लिया, तब बोला—कहो भैया भले आदमी! यह आपको फहम नहीं है कि आँख और दाँत मुख की ओर होते हैं कि पूँछ (दुम) की ओर! अरे, जिधर दो बड़े-बड़े दाँत हैं, अथवा आँख हैं उसी ओर मुख होगा, आप यही विचार कर लेते तो भी मुख का ज्ञान हो जाता। देखिये! वह मनुष्य जब तक नहीं बोला था, तब तक उसकी इज्जत थी और बोलते ही हल्का हो गया। इसलिये समाज में बैठकर अपनी विशेष सभ्यता न हो तो चुप रहना चाहिये और यदि सभ्यता हो तो समय आने पर योग्य बातें बोलनी चाहिये।

मनुष्य को विचारशील होना चाहिये। जो सारा काम विचार पूर्वक करता है, उसकी हानि कभी नहीं होती, कहा है:----

सुख को मूल विचार है, दुःख मूल अविचार।
यह भाष्यों संक्षेप में, चार वेद का सार॥

जिसका व्यवहार पवित्र एवं विचार-पूर्वक होगा उसको झूठ, कपट, छल करने की आवश्यकता नहीं। सद्गुरु कबीर का कहना है कि संसार में सत्य के बराबर तपस्या नहीं है और झूठ के बराबर अपराध नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में अपने आप की स्थिति है:—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदयाँ साँच है, ताके हृदया आप॥

[बीजक, साखी ३३४]

संसार की वस्तुयें क्षणभंगुर हैं, जड़ हैं, छूटने वाली हैं; अतएव उनका मोह छोड़ो और अपने अजर,अमर स्वस्वरूप चेतन में स्थित होओ।

कुण्डलिया

देह विषय से मैं पृथक चेतन अपने आप।
चेतन अपने आप देह मन का हौं कर्ता॥
जस चाहौं तस करौं देह मन मम अनुचरता।
मम सत्ता से चलैं इन्द्रियाँ प्राण रु इच्छा॥
सब का ज्ञाता अहौं करौं सब काहि परीक्षा।
ग्रहण त्याग नहि बनै पृथक बिन भयेरे भाई।
गहौं तजौं मन देह याहि ते मैं पृथकाई॥
जड़ आशा से मैं बँधा सहत त्रिविध संताप।
देह विषय से मैं पृथक चेतन अपने आप॥

शब्द २२

करि सत्संग भरम बस टारो॥ टेक॥

तन सम्बन्ध मानि सुख आशा, भूलि के निज को हारो
देखा सुना जो भोगा मन में, है विपरीतहिं भारो १

भास अध्यास अनुमान कल्पना, परखि परखि सब डारो
शून्य सरिस धोखा सब मन का, नहिं कोई वस्तु यथारो २
जो जो सन्मुख होत जीव के, रज्जू सर्प असारो
जड़ के साथ मानि मानन्दी, भूलि भरम हंकारो ३
जड़ चेतन दोउ वस्तु अनादी, नहिं तीजा कर्तारो
सर्व जगत का निर्णयकर्ता, मनुष आप निर्धारो ४
गुरु कबीर की शिक्षा ऐसी, "सूरत" लखि टकसारो
अमृत बोध विवेक निरन्तर, लहि निज रूप सुधारो ५

टीका:—सत्संग करो और सम्पूर्ण भ्रान्तियों को दूर करो ॥ टेक ॥ शरीर-सम्बन्ध में विषयों में तू सुख की आशा करता है और अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर विषयों में तू अपने को खो देता है। जो विषय देखे, सुने और भोगे गये हैं उनके संस्कार मन में टिके हैं, वे कल्याण के महान विरोधी हैं ॥ १ ॥ अतएव भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना—इनको परख-परख कर दूर करो। ये सब शून्य के सदृश हैं, मन के भ्रमजाल हैं, कोई सत्य वस्तु नहीं हैं ॥ २ ॥ कामादिक मनोविकार जीव के सम्मुख होते हैं, सब रस्सी में सर्प-भ्रांति के सदृश सारहीन हैं। यह अमर, असंग जीव जड़ विजाति पदार्थों का संग करके उनमें अहंता-ममता कर लिया है। अपने स्वरूप को भूलकर और पाँचों विषयों में सुख मानकर उन्हीं का अहंकारी बन गया है ॥ ३ ॥ अनादि संसार में जड़-चेतन दो ही वस्तु अनादि हैं, इनका रचयिता कोई तीसरा नहीं है। संसार की सारी जड़ चेतन वस्तुओं का निर्णय करने वाला स्वतः मनुष्य ही है ॥ ४ ॥ ग्रंथकर्ता कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से सद्गुरुकबीर का आदेश है ऐसा मैंने बीजक सद्ग्रंथ में देखा है। अमर स्वरूप का बोध प्राप्त करके तथा उसी का निरंतर विवेक करते हुए और उसी स्वस्वरूप की स्थिति प्राप्त करके अपने आप का कल्याण करो ॥ ५ ॥

व्याख्या:— स्त्री, पुत्र, गृह, सम्पत्ति, मान, बड़ाई सब स्वप्न की सम्पत्ति के सदृश देखने मात्र के लिये हैं। जीव का कोई संगी नहीं

है। सांसारिक जड़-पदार्थों से मनुष्यों को सुख की आशा रहती है, यही इसका भ्रम है। यह भली भाँति निश्चय कर लो कि सांसारिकता में अपने को फँसाने का तात्पर्य है अपने आप को कल्याण से, शान्ति से दूर करना। पांचों विषयों में सुख की प्रतीति होना—भास है, पाँचों विषयों की दृढ़ आसक्ति—अध्यास है, अनादि प्रत्यक्ष जगत् को देखकर "इसका कोई रचयिता होगा" यह सोचना—अनुमान है और सुख-दुःख हानि-लाभ, राग-द्वेष की मानसिक वृत्तियाँ—कल्पनायें हैं। ये सब मन के स्वप्न हैं, शून्य के सदृश हैं। स्वरूपज्ञान के बल से इन वृत्तियों को दूर करके निश्चल होकर स्वरूपज्ञान में शांत रहो।

संसार में दो मूल तत्व हैं, एक जड़, दूसरा चेतन। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के रूप में जड़ तत्त्व हैं और अगणित एकदेशी अखण्ड ज्ञान के रूप में चेतन हैं। धर्म, गुण, क्रिया, शक्ति, मेल तथा आकार—इन छः भेदों से सम्पन्न पृथ्वी आदि जड़ तत्वों के संयोग से पिण्ड-ब्रह्माण्ड, बादल, बर्फ, नदी, झरना, बीज, वृक्ष आदि जड़ सृष्टि का प्रवाह अनादि अनन्त है। इधर वासना-वशी असंख्य जीव जड़-तत्वों के सम्बंध में अपनी चैतन्यसत्ता संयुक्त मानसिक सृष्टि रचते हैं, जिसमें नाना ज्ञान-विज्ञान का विस्तार है। इस प्रकार जड़-चेतन उभय सम्बंध से संसार की स्थिति अनादि है। इस प्रकार जड़-चेतन के अतिरिक्त जगत् के रचयिता का पता लगाने का हठ करना अपने बहुमूल्य समय का दुरुपयोग है, भ्रम है और बन्धन है। मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। नाना मत, पथ, ग्रंथ, तथा देवी, देवता, ईश्वर-अल्ला इसी की कल्पनायें हैं, इसी के कृत्रिम हैं। मनुष्य को सब भ्रम छोड़कर अपने दिव्य, नित्य चेतन स्वरूप को समझकर उसी में स्थित होना चाहिये। अपना चेतन स्वरूप ही राम-रहीम है। नाना भ्रम कल्पना, वाणी जाल के कट जाने पर जीव के लिये केवल विषयासक्ति ही बंधन है। उसे तत्परता पूर्वक त्याग करना चाहिये। सांसारिक विषय-भोग, माया-जाल क्षणभंगुर रूप, स्वप्नरूप एवं कष्ट रूप हैं। जीवन अनस्थिर है। आज-कल में काल का ग्रास होने वाला

है। अतएव माया-मोह की अभिमान रूपी फाँसी को काट कर शीघ्र कल्याण करो।

कवित्त

जौन धन देह रूप विद्वता कुटुम्ब कुल,
क्षण ही में नाश होत सपन समान है।
जौन भोग रिपु त्रयताप में जलाय रह्यो,
ताहि निज हित मानि करत गुमान है॥
जीव की कुबुद्धि काहि कहाँ लौ बखान करौं,
झूठ-मूठ माहिं कस बनत प्रधान है।
यह नहिं जानत कि काल मुख जाय रह्यों,
देखिते हि आज काल बीच में पयान है॥

दृष्टांतः—एक डिप्टी साहेब बड़े धार्मिक और विचारशील थे। यहाँ तक कि संसार का त्याग कर केवल भजन करने के लिये ही निश्चय कर रखे थे। किन्तु माया-मोह की आसक्ति सर्वथा छूटती नहीं थी। एक दिन प्रातःकाल होते ही एक भिक्षु ब्राह्मण यही सूत्र का गान करते हुए डिप्टी साहेब के द्वार पर आ निकला--"भजन करो भगवान के बिलम करो ना कोय। ना जाने इस जीव को कौन घरी का होय?" इतना वाक्य सुनते ही डिप्टी साहब को विचार का खूब जोर से ठोकर लगा और उस ब्राह्मण को बहुत-सा धन-द्रव्य देकर उसका उपकार मनाया और बाल-बच्चों को घर-द्वार सौंप कर सत्संग आश्रम में भजन करने चले गये।

वास्तव में भजन-भक्ति धर्म-कर्म करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये कौन जाने इस कच्ची काया की कब कौन गति हो?

"आजु काल दिन कइक में, स्थिर नाहिं शरीर।
कहहिं कबीर कस राखिहो, काँचे बासन नीर॥
(बीजक, साखी २१०)

शब्द--२३

जग दुख देखि शरण गहि लीजै ॥ टेक ॥
समय अमूल्य वृथा मत खोवो, अमर सुधा रस पीजै
अहि वृश्चिक शव जानि अनल सम, विषयभोग तजि दीजै १
महा भयानक जानि सघन वन, भामिनि नेह न कीजै
नर्क रूप लखि सकल कुसंगति, निर्जन वास करीजै २
निरख परख करते रहो निशिदिन, क्यों कर दुःखलहीजै
गज तुरंग की कौन सवारी, गर्दभ नाहिं चढ़ीजै ३
कपट दम्भ पाखण्ड छाड़ि छल, कुटिल वासना छीजै
निर्णय वचन अमिय सद्गुरुके, गहि दुख शमन करीजै ४

टीका:—संसार के जन्म-मरण त्रयतापादि दुःखों को देख कर और उनकी निवृत्ति हेतु सद्गुरु की शरण ग्रहण कर लो ॥टेक॥ मानव जीवन के महा मूल्यवान समय को व्यर्थ में मत खोओ, और अविनाशी, नित्य स्व-स्वरूप की स्थिति के लिये सद्गुण रूप अमृत-रस का आस्वादन करो। विषयों को सांप, बिच्छू, मुर्दा तथा आग के समान विषपूर्ण, दुःखदायी, अपावन तथा भस्म कर देनेवाले जानकर उनका भोग त्याग दो ॥१॥ स्त्री[1] की आसक्ति जीव को भटका देने के लिये महान भयानक घना जंगल जान

१ कवित्तः—कामिनी की देह मानो कहिये सघन वन,
वहाँ कोई जाय सो तो भूले ही परतु हैं।
कुंजर है गात कटि केहरि की भय जामें,
बेनि काली नागिनिउ फनिकुँ धरतु हैं।
कुच है पहार जहाँ काम चोर बसै तहाँ,
सन्धि के कटाक्ष बाण प्राण को हरतु हैं।
सुन्दर कहत एक और डर तामें अति,
राक्षसी बदन खाउँ खाउँ ही करतु हैं ॥१॥
(सुन्दर काव्य)

कर उससे दूर रहो। कल्याण-मार्ग से जीव को भटका देने वाले सभी प्रकार के कुसंगों को नरक रूप जानकर, साधना की दृष्टि से समय-समय पर मनुष्य-रहित एकान्त स्थान में निवास करो ॥२॥ अपने मन-इन्द्रियों की कुचालों को रात-दिन देखते-शोधते और उन्हें निकालते रहो, उनमें पड़कर क्यों दुखी होओ। हाथी-घोड़े की सवारी करके गदहे पर न चढ़ो; अर्थात् मनुष्य तन पाकर, पढ़ लिख कर, भक्त, ब्रह्मचारी, साधु, महंत, आचार्य अपना नाम धरा कर पशुवत् कर्म—हिंसा, व्यभिचार, चोरी, अभक्ष्य भक्षण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, अभिमान, छल, कपट न करो ॥३॥ कपट, दिखावा, पाखण्ड, छल, कुटिलता आदि त्याग कर हृदय की वासना का नाश करो तथा सद्गुरु के अमृतमय निर्णय वचनों को धारण करके अपने मानसिक-जन्मादिक क्लेशों का नाश करो ॥४॥

व्याख्याः— मनुष्य के कल्याण का रास्ता केवल एक है—यथार्थ सद्गुरु की शरण। इसलिये कल्याणार्थी का कर्तव्य है कि वह सब अहंकार का सर्वथा परित्याग करके सद्गुरु की शरण ले। हाँ! सद्गुरु का चुनाव सावधानी से करना चाहिये, अन्धी श्रद्धा को प्रश्रय न देना चाहिये। गुरु, विवेक, वैराग्य सम्पन्न होना चाहिये। मनुष्य जीवन का समय अल्प है, साथ ही अनोखा भी। ऐसे शुभ अवसर को अधिक-से-अधिक कल्याण-साधन में लगाना चाहिये। विषयों का विषवत् त्याग और सद्गुणों का अमृत के समान धारण अति आवश्यक है। कल्याणार्थी पुरुष के लिये स्त्री की आसक्ति बन्धन है, उसी प्रकार कल्याणार्थी स्त्री के लिये पुरुष की आसक्ति बन्धन है। अतः दोनों परस्पर आसक्ति का त्याग करें।

चाहे गृहस्थ का कुसंग हो और चाहे साधु नामधारी का, जिनकी संगत से मन में विकार आवें और साधना में शिथिलता उत्पन्न हो, वह सब कुसंग है, ऐसे कुसंग का त्याग करना चाहिये।

विष्णु ने राजा बलि से कहा था कि तुम स्वर्ग या नरक जहाँ जाना चाहो जा सकते हो, परन्तु नियम यह होगा कि स्वर्ग में तुम्हें सौ दुष्ट मिलेंगे और नरक में दश विवेकी सज्जन मिलेंगे।" बलि ने

कहा दश नहीं एक विवेकी सज्जन के साथ हम नरक जाना स्वीकार करेंगे, परन्तु सौ दुष्टों के साथ स्वर्ग नहीं जाना चाहेंगे; क्योंकि एक ही विवेकी की संगत नरक को स्वर्ग के रूप में बदल देगा, परन्तु सौ दुष्ट स्वर्ग को नरक बना देंगे। ठीक ही कहा है :—

बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देहु विधाता ॥
(रामायण)

संगत कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।
ओछी संगत कूर की, आठों पहर उपाधि ॥ बी. सा. २०७ ॥

निरन्तर अपनी त्रुटियों को देखो और उन्हें निकालो। 'जैसे काछ काछै, वैसे नाच नाचै।' मनुष्य चोला पाये हो, तो पूरा मनुष्य बनो। भक्त-साधु बनकर उसका कर्तव्य पूरा करो।

संसार दुःखों से पूर्ण है। जिसे कोई विशेष ज्ञान न हो, वह भी संसार के दुःखों को समझ सकता है। जैसे कि प्रिय नवयुवती स्त्री के वियोग में, पुत्र मरण में, गृह-धन-नाश में, मान-मर्यादादि की हानि और अपमान-निन्दादि-प्राप्ति में, दरिद्रता में, काम-क्रोध-तृष्णा तथा मानसिक उलझन में, शारीरिक रोग में, अपनी मृत्यु में सभी दुःख का अनुभव करते हैं। फिर विवेक-दृष्टि से तो सारा संसार छूटने वाला होने के कारण और इन्हीं में राग-द्वेष का बन्धन बनने के कारण विवेकी को सब दुःख रूप ही है "सर्वमेवदुःखम् विवेकिनः" अतः उपर्युक्त दुःख-निवृत्ति के लिये सद्गुरु की शरण लो।

बिना गुरु-शरण कल्याण नहीं

एक अकामपुर नामक शहर था, वहाँ का राजा बड़ा दयालु था। वहाँ जो मनुष्य एक बार चला जाता था वह धनी व सुखी हो जाता था; क्योंकि वहाँ थोड़े दाम में ही बहुमूल्य वस्तुयें मिलती थीं। किन्तु उस शहर में जाने का एक ही मार्ग था और शहर के चारों ओर से काँटा-खाईं और जंगल तथा पर्वत थे। एक बार कई सौदागर अपनी-अपनी

गाड़ी लेकर उस शहर में व्यापार करने चले, जब शहर के फाटक पर गये तो वहाँ गाड़ी की चुंगी लगती थी। कुछ लोग तो तुरंत गाड़ी की चुंगी देकर शहर में चले गये, कुछ लोग चुंगी के लोभ-वश गाड़ी शहर में नहीं ले गये। शहर में जाने का कोई दूसरा मार्ग खोजने लगे। रातभर काँटा-खाई में दौड़-दौड़ कर मार्ग ढूँढ़े, किन्तु दूसरा मार्ग न मिला। ऊपर से जाड़े में दुखी हुए। प्रातः काल दो-चार सौदागर विचार करने लगे कि "बिना चुंगी देकर सदर फाटक से गये किसी भाँति भी शहर में नहीं प्रवेश कर सकते। चाहे जब हमें शहर में जाना होगा तो सदर फाटक से ही जा सकते हैं, अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।" ऐसा सोचकर दो-चार मनुष्य चुंगी देकर शहर में चले गये और बाकी लौट गये।

सिद्धान्तः—(जगत-इच्छा रहित स्वस्वरूप परम पद में स्थित हो जाना, यही) मोक्ष ही अकामपुर शहर है। उस मोक्ष रूपी शहर में जाने की तो बहुतों की इच्छा है; किन्तु उस मोक्ष नगर में जाने का एक मार्ग गुरुशरण ही है। सो गुरुशरण में जीव चुंगी रूपी भक्ति-धर्म पुण्य तथा साधन-त्याग से डरता है। सांसारिक भोगों के लिये तन, मन, धन सब अर्पण कर देना पड़े, उनमें मनुष्य पिछड़ता नहीं; किन्तु धर्म-भक्ति-साधना में वह बिलकुल शक्तिहीन बनता है। आखिर गुरु शरण त्यागकर मनुष्य काँटा-खाई रूप इन्द्रिय-भोग, ममता-मोह खानी-बानी में भटक कर दुःख ही उठाता है। इसलिये इसका जन्मादिक दुःख भी नहीं छूटता; किन्तु फिर भी होश नहीं करता।

शिक्षा:—मनुष्यो! शीघ्र सावधान होओ। करोड़ों कल्प बीत जायँ, नहीं-नहीं बल्कि कभी भी मनुष्य गुरु-शरण बिना आवागमन के रोगों से मुक्त नहीं हो सकता। अतः गुरु शरण लो।

चौपाई

भटकत चारि खानि भव धारा। जरत मरत दुख सहत अपारा ॥
भ्रमत-भ्रमत शुभ संचित जागा। नर शरीर पायो बड़ भागा ॥

जो गुरु शरण आज नहिं आवै। फिर चेतन भव निधि भटकावै॥
बिनु गुरु शरण छुटै दुख कैसे। नीर बिना कस तृषा बुझैसै॥
चाहे गुरु पद गहि दुख त्यागो। चाहे पुनि जग भ्रमि दुख पागो॥
चाहें जब दुख चहहु छुड़ावन। बिन गुरु कबहुँ न होवहु पावन॥

कुण्डलिया

त्यागहु मद आलस्य सब, गुरुपद गहहु महान।
सुख न मिलै भूपति भये, बिन गुरु शरण सुजान॥
बिन गुरु शरण सुजान, चहै धनपति ह्वै जाओ।
विद्या बल से पूर, शूर कोविद कहलाओ॥
वर्ण रूप सुन्दर सुयश, बिन गुरु नर्क निदान।
ताते गुरु पद गहहु भल, जो चाहो कल्यान॥ १॥

बहुत काल जग में भ्रमेहु, सुख न लह्यो कहुँ मीत।
अब लागहु गुरु के चरण, जो चाहो निज हीत॥
जो चाहो निज हीत, करो सन्तन सेवकाई।
कुकरम कुमति निकारि, लोभ लोलुप दुचिताई॥
धँसत कुकर्तब में रहत, पै न लहत शुभधर्म।
स्वारथ सन्मुख जीव के, तेहि अरुझ्यो गहि भर्म॥ २॥

राग-ठाट में विपुल धन, विविध, अमल महँ खोय।
जेहि ते दुख दूना बढ़ै, करत कर्म जिव सोय॥
करत कर्म जिव सोय, अग्नि में आहुति छोड़ै।
सिर में लागी चोट, पुनः पत्थर से फोड़ै॥
हर्ज-खर्च तहँ करै, जहाँ परमारथ सूना।
दान धर्म हित लोभ, क्षोभ माया में दूना॥
उल्टा मारग नर चलै, गिरै कूप महँ जाय।
फोकट में तन धन बलै, भक्ति धर्म नहिं भाय॥ ३॥

दस पचास अर्पण करै, नाउत ओझा काहि।
गुरु पूजा कहँ जूरता, सोरह आना नाहि॥
सोरह आना नाहिं, सैकड़ों खाय तमाखू।
जूवा मुकदमा नाच, सिनेमा इन्द्रिन चाखू॥

कहुँ उपदेशै संत, ताहि ठगुआ बतलावे।
भकुहा ह्वै यह जीव, मोक्षप्रद जन्म गँवावे॥
कहन रहा सो कहि दिया, दुख सुख पइहो आप।
या गुरु मग ह्वै सुख लहो, या दुर्गुण संताप॥ ४॥
धर्म भक्ति गुरु छोड़ि के, नर भौ भकुहानाथ।
जहँ-तहँ सब घिर्रावहीं, इनकर गहि के हाथ॥
नाउत बैगा कहैं पुत्र मैं देव होवाई।
मरै न पावै कोय, सबै मैं देब जियाई॥
पण्डा माँगै दान, कहैं बैकुण्ठ पठाओं।
पकरो बछिया पुच्छ, सबै स्वर्ग चलि जाओ॥
मात पिता कहैं पुत्र, नारि कहै हमरो प्यारा।
बन्धु मित्र सब कहैं, हमारो सुहृद सहारा॥
याते सब जग भार को, धारयो अपनो माथ।
धर्म भक्ति गुरु छोड़ि के, नर भौ भकुहानाथ॥ ५॥

सा०—"गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न भेव।
गुरु बिन संशय ना मिटै, जय जय जय गुरुदेव॥ सा०॥

गुरु-गौरव-वन्दना

गुरुवर तुम्हारी महिमा अनुपम अपार है॥ टेक॥
मानव शरीर नौका, मैं पथिक जीव हूँ।
गुरु कर्णधार होकर, कर बेड़ा पार है॥ १॥
खानि बानि महा जाल, लागत अतिशय कराल।
ताको परखाय देव, सारासार है॥ २॥
वासना संशय समीर, छूटता न आवे धीर।
जन्म-मरण लाग रहत, बार बार है॥ ३॥
गुरुवर तुम हो दयाल, कष्ट से जल्दी निकाल।
दीन ये अभिलाष बाल, की पुकार॥ ४॥

सवैया—कबीराष्टक-२४

अघ जग पावन ज्ञान दृढ़ावन शांत स्वरूप सदा सुखकारे
त्रयताप नशावन भर्म छुड़ावन दै सद्बोध सो जीव उबारे

वैराग्य विभूषित नाशक दूषित हंस स्वरूप क्षमा शत धीरं
भवनिधि मर्णज तारण कारण पारख रूप सुदेव कबीरं १

टीका—चोरी, हिंसा, व्यभिचारादि पापों से मुक्त कर संसार को पवित्र करने वाले, स्वरूपज्ञान निश्चय कराने वाले, सर्वदा स्वस्वरूप में शान्त, सबको सुखिया करने वाले। दैहिक, दैविक, भौतिक त्रय तापों को नाश करने वाले, गृह, धन, कुटुम्ब, शरीर, देवी-देवादि की अहंता-ममता रूपी भ्रम को छुड़ा देनेवाले, सत्य स्वरूप का बोध देकर जन्मादिक दुःखों से जीवों को बचा लेने वाले। प्रवल वैराग्य से शोभायमान, कामादि दोषों को नाश करने वाले; सत्य, धैर्य, क्षमादि सद्‌गुण युक्त हंस स्वरूप अर्थात् जीवन्मुक्ति पद में प्रतिष्ठित। संसार सागर एवं जन्म-मरण सिन्धु से पार कर देने में हेतु पारख रूप आप सद्‌गुरुदेव श्री कबीर साहिब हैं ॥१॥

जो तृष्णा वश धावत संतत नाचत हैं भव भोग बनों में
चाह वशी लपट्यो मति मंद जु मान करी प्रमदादि धनों में
पान करी हठ नीचहिं मीच को पावत हैं अतियंत सुपीरं
मीच हर्यो शुचि त्याग दे भेषज पारख रूप सुदेव कबीरं २

टीकाः— विषय-तृष्णा के वशीभूत होकर सांसारिक भोग रूपी दुःख-दायी जंगलों में जो सर्वदा दौड़ते और नाचते हैं। भोग-चेष्टा-वश मूर्खबुद्धि जीव विषयों में लिपटते हैं और स्त्री आदि कुटुम्ब एवं क्षणभंगुर सम्पत्ति में अहंता-ममता कर रहे हैं। विचारवान् का कहा-सुना न मानकर हठता पूर्वक ऐसे नीच जीव मीच नाम विष-विषय को ही ग्रहण कर लिये, इस लिये वे मानसिक-जन्मादिक अत्यन्त क्लेशों को बारम्बार भलीभाँति पाते रहते हैं। उपर्युक्त कष्ट निवृत्ति-अर्थ विषय-त्याग-वैराग्य रूपी पवित्र भेषज (औषधि) देकर विषय-विष को हरण करने वाले पारख रूप आप सद्‌गुरु देव श्री कबीर साहिब हैं ॥२॥

है मनके अति जालकरालजु धावत नित्य विषय, मग माहीं
सिन्धु अनंग तरंग समीरहिं चलदल चाल विषयसुखचाहीं

श्वानसमान भ्रमै निशिवासर सिंह स्वरूप जु भूलि अधीरं
चीन्हत रूप स्व पाय सुसंगति पारख रूप सुदेव कबीरं ३

टीका:— मन के बंधन अत्यन्त भयंकर हैं; क्योंकि यह नीच मन भोग के लिये विषय-पंथ में सदा दौड़ता रहता है। इस मनः-कल्पना रूपी काम-समुद्र में विषय-वासना रूपी वायु से भोग-इच्छा रूपी तरंग उठते रहते हैं और पीपल पेड़ के गतिवान् पत्तेवत् यह चंचल मन कल्पित विषय सुखों की चेष्टा किया करता है। सिंहवत् अत्यन्त शक्तिशाली अजर-अमर एकरस पूर्ण तृप्त स्वरूप चैतन्य सामर्थ्य को भूल कर और विषय के लिये अधीर होकर कुत्ता के समान यह मन रात-दिन संसार में भ्रमता रहता है। ऐसे धोखेबाज, कष्टदायी मन के बंधनों से छूटकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का परिचय जिनकी सुसंगति से होता है, सो पारख रूप आप सद्गुरु देव श्री कबीर साहिब हैं ॥३॥

सत्यस्वरूप के बोध बिना नहिं पावत सुक्ख सदा दुखकारे
मर्कट मूठि जो नाच नचे नर चेतत नाहिं फिरे जग मारे
छोड़िजोभक्तिसुधासरिताजलओसकिआशलहैनहिं थीरं
दै ठहराव सुथीर किये गुरु पारख रूप सुदेव कबीरं ४

टीका—अजर, अमर, एकरस जो अपना चैतन्य स्वरूप है, उसके यथार्थ ज्ञान बिना यह जीव शान्ति-स्थिति रूपी सुख नहीं पाता; बल्कि माया के मोह-वश स्वयं आसक्त होकर सर्वदा मानसिक तथा जन्मादिक क्लेशों को उठाता रहता है। जैसे बंदर लाई (चना) भरी सकरी सुराही में हाथ डाल कर मुट्ठी से लाई को पकड़ता है, लोभ-वश न मुट्ठी खोलता है, न सुराही से हाथ निकलता है। अंत में बधिक आकर पकड़ लेता है, फिर तो मदारी के हाथ पड़ कर बन्दर को द्वार-द्वार नाच-नाचना और डण्डा खाना पड़ता है इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, शरीरादि की आसक्ति-ममता मनुष्य अपने आप की भूल और भोगों के लोभ-वश पकड़ रखा है। अब मोह-वश संसारासक्ति त्यागा नहीं जाता और पकड़ने से दुःख होता है, इसलिये संसार-चक्र में मारा-मारा फिरता है। इस मिथ्या माया-मोह से मनुष्य तनिक सावधान होकर अपने कल्याण-सुधार का विचार नहीं करता।

जैसे कोई पास में नदी का मिष्ट जल त्याग कर ओस-कण से प्यास बुझाने की आशा करके तृप्ति को नहीं प्राप्त होता, बल्कि कष्टित होता है; वैसे ही सुख के लिये अमृत रूपी विवेकी संत-गुरु की भक्ति को त्याग कर विष रूपी विषय प्रपंच को जो धारण करते हैं, वे कदापि स्थिर सुख-शान्ति को नहीं प्राप्त होते। उपर्युक्त भ्रम तथा माया-मोह से छुड़ाकर अपनी शरण में स्थान देकर जीव को स्थित कर दिये, सो स्थिति देनेवाले पारख रूप आप सद्गुरु देव श्री कबीर साहिब हैं ॥ ४ ॥

धन्यवही गुरुभक्ति सु साधत चन्द्र चकोर से ताहि गहे हैं
प्रेम प्रवाह नहात सदा सर शुद्ध स्वरूप स्व साज गहे हैं
तृप्त सदा निज रूप लखे सोइ पाय स्वराज्य भये दृढ़ वीरं
पाय स्वमोक्ष पदाम्बु गहे नित पारख रूप सुदेव कबीरं ५

टीका—वही मनुष्य धन्य अर्थात् सराहनीय है, जो सद्गुरुदेव की मनोहारिणी सुखदायी भक्ति को भली-भाँति धारण करता है। जैसे चन्द्रमा में चातक का अत्यन्त प्रेम होता है, वैसे भक्ति में अति प्रेम करके उसे हृदय में सादर ग्रहण किये हैं। भक्तिरूपी सरोवर के प्रेम प्रवाह-धारा में सर्वदा निमज्जन करते हुए अनेक पाप-दुर्वासना रूपी मल को धो डालते हैं और स्वतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप के स्थिति-साज दया, शील, क्षमा, विचार, धैर्य, संतोष, विवेक, वैराग्यादि सद्गुणों को धारण किये रहते हैं। वे ही अपने निर्विकार चैतन्य स्वरूप को सर्वदा सन्तुष्ट रूप परीक्षा करके वीरता पूर्वक विजाति वासना रूपी शत्रुओं को ध्वंस कर स्वरूप-स्थिति रूपी निष्कण्टक स्वराज्य को प्राप्त कर जीवन्मुक्ति पद में दृढ़-निश्चल हो जाते हैं। अपने मोक्ष स्वरूप की स्थिति को प्राप्त कर जिनके पदाम्बु (चरण जल) स्वरूप विचार को जीवन पर्यन्त सर्वदा ग्रहण किये रहने से इस जीव के दुःख-द्वन्द्व छुटते हैं, सो पारख रूप आप सद्गुरु देव श्री कबीर साहिब हैं ॥ ५ ॥

कवित्त—

धन्य-धन्य वाहि को जो जगत् आसक्ति काहिं, जीति के स्वरूप माहिं एकरस थीर हैं। करत गुनावन अकाम पद अपने को, जग सुख त्यागि कर गहत न धीर हैं॥ स्वपन से जागि भ्रम जानि हर्ष शोक गयो, जगत् से

जागि तिमि निज पद वीर हैं। काया मन जीत कर निज पद थीर भयो, सोई दुख पार तेहि कहत कबीर हैं॥ १॥

सुक्ख रु दुक्ख रु हानि रु लाभ ये देह सबंधसे भासत आहीं
जीव है पारख रूप स्व चेतन जानक आप सु नित्य सदाहीं
यहिविधि बोध गहे गुरुपारख इन्द्रिन जीति मनै करिथीरं
सो गुरु सत्य स्वरूप प्रकाशक पारख रूप सुदेव कबीरं ६

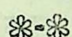
टीका—सुख-दुःख हानि-लाभादि जितने मन-सम्भव द्वन्द्व हैं, सब शरीर के सम्बन्ध से ही इस चैतन्य को प्रतीत होते हैं। जीव परीक्षक रूप स्वतः चैतन्य है, सबका जानने वाला अपने आप निराधार, नित्य एवं अविनाशी है, वही मैं हूं। इस प्रकार पारखी सद्गुरु से स्वरूप बोध को ग्रहण कर विषयासक्ति से इन्द्रियों को जीत कर वैराग्याभ्यास द्वारा मन को स्थिर करे। सो सत्य स्वरूपज्ञान को प्रकाश (बोध) करने वाले पारख रूप आप सद्गुरु देव श्री कबीर साहिब हैं॥ ६॥

काक रु बक्क समान जो पामर भोगत भोग अशुद्ध अभागी
हंस समान सु जीव अहै नर नीर व क्षीर विभक्त अदागी
हर्ष व शोक नशे क्षण में सुनि जासु गिरा भ्रम नाश समीरं
दुक्ख छुटै शरणागत जाहि सो पारख रूप सुदेव कबीरं ७

टीका—कागड़ा और बकुला के समान जो नीच और भाग्य-हीन मनुष्य सांसारिक मलिन भोगों को भोगते हैं और उसी में मोक्षदायी नर जन्म समाप्त करते हैं; उन्हें क्या कहा जाय ! मनुष्य जीव का तो खास स्वरूप हंस के समान नीर-क्षीर वत् जड़ चैतन्य का विवेक बुद्धि द्वारा पृथक-पृथक निर्णय करने वाला निर्दोषी है। (अतएव मोक्षप्रद नरजन्म प्राप्त कर विवेकी सन्तों का सत्सङ्ग करना चाहिये) सन्त-गुरु की निर्णयवाणी को प्रेम और भाव पूर्वक सुनते ही सर्व मनोमय कष्ट हर्ष-शोकादि क्षण में नष्ट हो जाते हैं; भ्रम-सुखाध्यास-आसक्ति रूपी वायु ध्वंस हो जाता है। जिन प्रभु के शरणागत होने से मानसिक-देहोपाधि अर्थात् जन्मादिक सम्पूर्ण क्लेश छूट जाते हैं; सो पारख रूप आप सद्गुरुदेव श्री कबीर साहेब हैं॥ ७॥

खानि व बानि है जाल कराल सुबीजक द्वारप्रखायदियोहै
दे गुरु पूरण कोष यथारथ संसृति रोग छुड़ाय दियो है
ते गुरु धन्य समान न दूसर पार कियो भवसिंधु के तीरं
"सूरतदास" स्वशीश झुकावत पारख रूप सुदेव कबीरं ८

टीका—स्त्री, पुत्र, गृह, सम्पत्ति, पंच विषय भोग शरीरादि स्थूल माया ये खानी जाल; देवी-देवादि नाना कल्पित पंथ, विद्या, वाणी, मान, बड़ाई सूक्ष्म माया ये वाणी जाल; ये खानी-बाणी दोनों जाल-बन्धन बड़े भयंकर कष्टदायी हैं. इन दोनों बन्धनों के कसर-खोटों को सद्ग्रन्थ बीजक-द्वारा आप भलीभाँति परीक्षा करवा दिये हैं। सत्य अविनाशी एकरस स्वरूपज्ञान रूपी खजाना दे करके आप सद्गुरुदेव संसृति अर्थात् आवागमन रूपी रोग को छुड़ा दिये हैं। यह "सूरतदास" अपने सिर को विनम्र झुकाकर दण्डवत्-प्रमाण एवं त्रयबार साहिब बन्दगी कर रहा है, जो प्रभु संसार सागर से पार करके इस दास को किनार पर लगा दिये उन सद्गुरुदेव की कोटिशः धन्यता-प्रशंसा है, उनके समान हमें कोई अन्य प्रिय नहीं है; सो परम प्रिय पारख रूप आप सद्गुरुदेव श्री कबीर साहेब ही हैं ॥ ८ ॥



(वन्दना-पद)

दयानिधि जी दया कीजै, मुबारक दिन ये मेरा हो।
दया करना है गुण तेरा, इसी से दृष्टि फेरा हो ॥ टेक ॥
अहो ! क्या चाँदनी झलकी, निरिच्छा शांतिमयता की।
हुई शीतल बुझी इच्छा, न कोई भोग केरा हो ॥ १ ॥
प्रबल दुख दोष दृष्टी में, रहे वृत्ती सदा मेरी।
हो सोते ऊँघते जागृत, वो रजनी दिन सबेरा हो ॥ २ ॥
दुखन तन मन की स्मरणा, हो पग पग वेग धारा से।
न गो मन रस कभी लेवें, अटल ये ध्येय मेरा हो ॥ ३ ॥
यथा कामी कुमारग में, रखे साहस अपरमित है।
वही भी पाठ साहस का, स्ववश मन पर घनेरा हो ॥ ४ ॥

भला ! कैसा सुहावन दिन, गुरू बल प्राप्त हम सब को ।
न कारज शेष अब रक्खें, प्रभू ये दृष्टि तेरा हो ॥ ५ ॥
तेरा उपकार उस दिन का, न भूलूँ मैं गूरू स्वामी ।
प्रबल दुख दर्द से काढ़े, स्वपारख शब्द टेरा हो ॥ ६ ॥
मिटाये गर्ज सब जग की, जिलाये बोध अमृत दे ।
पिलाये तोष का प्याला, जिसे नहिं दुःख फेरा हो ॥ ७ ॥
रहे अभिलाष गुण गाता, सदा मन फेर जग सुख से ।
मुबारक हो मुबारक हो, मुबारक दिन ये मेरा हो ॥ ८ ॥

पद

दिये निज ज्ञान गुरु स्वामी, उसे मन ! नित्य गाता जा ।
भक्ति सद्ज्ञान निज पद में, सदा तू लव लगाता जा ॥ टेक ॥
रहा जलता जगत् मग में, उबलता काम की अग्नी ।
दिये सन्तोष सुख शान्ति, उसे तू नित्य ध्याता जा ॥ १ ॥
सदा आगे कदम रक्खो, न पीछे पाँव फिर टारो ।
बोध वैराग्य स्थिति में, लगन नित नव बढ़ाता जा ॥ २ ॥
बहिरमुख वृत्ति दुखकारी, तिसे तू त्याग थिर होवे ।
हृदय की त्याग आसक्ती, परख पद में समाता जा ॥ ३ ॥
न कोई और दिन आये, मुक्त तू आज ही होले ।
स्वतः अभिलाष थिर होकर, विषय से दिल हटाता जा ॥ ४ ॥

शब्द

मन ! करु चिन्तवन निज रूप ॥ टेक ॥
अज अमर अविकार अविचल, अनघ अजर अनूप ॥ १ ॥
अति अद्वन्द्व अचिन्त अच्युत, अमल अविरत भूप ॥ २ ॥
सार सत् सन्तुष्ट सागर, शुद्ध शान्त स्वरूप ॥ ३ ॥
साधु सँग सद्ग्रन्थ साधन, साधि सम्यक् रूप ॥ ४ ॥
आप में अभिलाष स्थिर, होहु अविकल रूप ॥ ५ ॥

❀-❀

सटीक विवेक प्रकाश द्वितीय पाठ सहित प्रथम प्रकरण अमृत बोध समाप्त

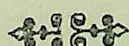


प्रकरण फल छन्द

बंधन छुटै जग दुख घुटै,
नहिं फेरि होवे कामना।
निज बोध अमृत पान करि,
जग में न होवे आवना॥
इच्छा नशे सुख-भोग की,
नित तृप्त आप रहावना।
पाठन करै नित प्रेम युत,
उर भक्ति की करि भावना॥१॥

सोरठा

निज स्वरूप को बोध,
जो अमृत निज अमर पद।
गहे मिटै अनुरोध,
सकल कलपना जगत की॥१॥
सो गुरु दीन्ह्यों आप,
अमृत बोध सुमन्त्र यह।
नाश्यो इच्छा ताप,
बार बार तेहि मनन करि॥२॥



सजगता सतसार हेतु छन्द

प्रभु ! देखि जीव निमग्न माया मोह भव में बह रहे ।
जग पंच विष ज्वाला धधकती ताहि में नित दह रहे ॥
निज रूप सद् चिद् भूल कर जड़ में जु टक्कर खा रहे ।
माता पिता दारा सुता निज मानि गाथा गा रहे ॥१॥
करि के कृपा गुरुदेव निज निर्मित कियो सत सार को ।
दै बोध जीवहिं को जगायो हर लियो भव भार को ॥
गहि सजगता सत सार जो उद्धार हेतु है मनुज को ।
सब त्याग कर सत् पथ चलो गृह वित्त दारा अनुज को ॥२॥

साखी

सजग होय सो जगत से,
जो नित पढ़ सत सार ।
थीर होय निज बोध में,
भव से पार किनार ॥१॥



सद्गुरवे नमः

सद्ग्रन्थ

विवेक प्रकाश

सटीक

द्वितीय प्रकरण सजगता सतसार

तृतीय पाठ

प्रारम्भ

विनय - सोरठा

सद्गुरु धीर गम्भीर, स्वयं प्रकाश कबीर गुरु ।
शमन कीन्ह भव पीर, मिटी जगत की आश सब ॥१॥

टीका:— धीर, गम्भीर स्वयं पारख प्रकाशी सद्गुरु कबीर साहेब हमारी संसार-जनित पीड़ा को मिटा दिये, अब संसार की सारी आशायें समाप्त हो गयीं ॥१॥

व्याख्या: — भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालों में जो स्थिर रहे वह 'सद्' है 'गु'[1] कहते हैं अंधकार को और 'रु' कहते हैं प्रकाश को, और जो काया की आसक्ति को जीत कर स्वयं पारख प्रकाश में स्थित हो गये वे ही 'कबीर' हैं। इस प्रकार अज्ञान-आसक्ति रूपी अंधकार से रहित स्वस्वरूप ज्ञान रूपी प्रकाश में स्थित पुरुष ही सद्गुरु कबीर हैं, अथवा भवतारक हैं। ऐसे महापुरुष के ज्ञान से ही समस्त

दोहा:— तम गु कार रु तासु हर, गुरु सोइ करे प्रकाश ।
वर्णों धर्म अरु शास्त्र को, यह मैं वर इतिहास ॥विश्रामसागर॥

अज्ञान-आसक्ति का संहार होता है और जीव को अविचल स्थिति मिलती है।

स्त्री, पुत्र, सम्बंधी, मित्र, धन, घर, मान, बड़ाई अर्थात् प्राणी-पदार्थ के रूप में जहाँ तक संसार है, इसकी आसक्ति ही जीव के लिये पीड़ा है। छोटे से बड़े, जहाँ तक कष्ट होते हैं, सबका बीज आसक्ति ही है, और जिनकी हम आसक्ति करते हैं वे प्राणी-पदार्थ सपना के समान मिल कर छूट जाते हैं। इस प्रकार बोध और तदनुसार हृदय में धारणा हो जाने पर संसार की सभी आशायें समाप्त हो जातीं हैं और पीड़ा की निवृत्ति हो जाती है।

दीन जीव के हेत, है उपकार महान तव।
बंध रहित करि देत, स्वस्वरूप दर्शाय प्रभु ॥२॥

टीकाः— भव-बन्धन से ग्रसित जीवों के लिये आपका उपकार महान है। हे प्रभु! स्वस्वरूप का ज्ञान देकर आप जीवों को बन्धनों से मुक्त कर देते हैं ॥२॥

रवि सम ज्ञान प्रकाश, परगट करि पावन परम।
लहि स्वरूप तम नाश, नहिं भूलूँ तव पद कमल ॥३॥

टीकाः— मार्तण्डवत् अखण्ड प्रकाशवान् परम पवित्र पारखज्ञान आपने संसार में प्रकट कर दिया। उक्त स्वरूपज्ञान को धारण करके समस्त आसक्ति-अंधकार का नाश हो जाता है। आपका अनन्त उपकार सोचकर यह दास जीवन पर्यन्त आपके चरण-कमलों की भक्ति नहीं भूल सकता ॥३॥

व्याख्याः— जैसे सूर्य में अंधकार का लेश नहीं रहता, उसी प्रकार स्वरूपज्ञान की एकरस धारणा हो जाने पर अज्ञान एवं जड़ासक्ति का लेश भी नहीं रहता। आसक्ति-अंधकार के समाप्त होते ही जीव परम पद का अधिकारी हो जाता है। यह सब विचार करने से गुरु का उपकार अनन्त प्रतीत होता है और यही उद्गार निकल पड़ता है "जो कहुँ छुटि जाऊँ तव पद से कहाँ ठिकाना मोर।"

हरण सकल भव भीर, बन्दि चरण गुरुदेव के।
जगत सिंधु के तीर, दाता मुक्त स्वरूप हो ॥४॥

टीका:— संसार के सारे द्वन्द्वों को शमन करने वाले गुरुदेव के चरणों की वन्दना करता हूँ। हे ज्ञानदाता गुरुदेव ! आप संसार सागर से पार तथा मुक्त स्वरूप हैं ॥४॥

व्याख्या:—राग-द्वेष, मानन्दी, जड़ाध्यास, जड़ासक्ति, काम, क्रोध-लोभ, मोह आदि तथा बाल्य-कौमारादि एवं जागृत-स्वप्नादि विकारी अवस्था कृत क्लेश और काल, क्रिया, त्रिगुण, मन-गति, देहोपाधिक दुःख एवं जन्म-मरण यही सब भवभीड़ हैं। इस भवभीड़ का तभी अत्यन्ताभाव होता है जब जड़ की समस्त आसक्तियाँ सर्वथा दूर करके मनुष्य स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाता है; और यह सब तभी सम्भव है जब बोध-वैराग्य सम्पन्न सद्गुरुदेव की संगत, उनमें अपनी अविचल श्रद्धा और कल्याण की कामना हो।

श्री विवेक गुरु आप, शरण लियो निज दास को।
मंत्र दीन्ह जिव जाप जड़ से भिन्न स्वरूप कहि ॥५॥

टीका:— ग्रंथकर्ता कहते हैं—अब मैं उन मुख्य बोध और साधु-वेषदाता का परिचय देता हूँ जिनका नाम "श्री विवेक साहेब" है। आप इस दास को बचपन से ही शरण में लगा लिये और उपदेश दिये कि अविनाशी जीव ही तुम्हारा स्वरूप है जो जड़ से सर्वथा पृथक है ॥५॥

व्याख्या :—ग्रंथकर्ता सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब के सद्गुरु का नाम सद्गुरु "श्री विवेक साहेब" है। ग्रन्थकर्ता यहाँ अपने गुरुदेव का उपकार स्मरण करते हैं।

यह अविनाशी जीव ही परम तत्त्व है। इसी को चेतन, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, राम, रहीम, गॉड—कुछ भी कह लें। यह अजर, अमर शुद्ध चैतन्य मैं ही हूँ। संसार-शरीर, प्राणी-पदार्थों का अहंकार त्याग कर अपने अजर-अमर स्वरूप का निरन्तर स्मरण करो।

स्वस्वरूप स्मरण यह, करै सकल दुख दूरि।
धीरज साहस बल बढ़ै, असमंजस फंद को तूरि ॥
(भवयान, अपनाबोध)

तेहि हित ध्याऊँ संत, बार बार पद कमल गहि।
जेहि सेवत दुख अंत, फिर न बहूँ भव धार में ॥६॥

टीका:—अतएव विवेक-वैराग्यादि सद्गुण सम्पन्न सन्तों के चरणों का सदैव आधार लेकर उन्हीं का ध्यान करता हूँ। जिन संतों की जीवनपर्यन्त सेवा करते हुए साधना में लगे रहने से दुःखों का सर्वदा के लिये सर्वथा अन्त हो जायगा, और पुनः संसार प्रवाह में नहीं बहूँगा ॥ ६ ॥

व्याख्या :—साधक को जीवन पर्यन्त सद्गुरु-सन्तों का आधार लिये रहना चाहिये और उनमें श्रद्धा-भक्ति बनाये रखना चाहिये। मनमती कभी नहीं होना चाहिये और न मनमती साधना ही करना चाहिये। अपने साधन के विषय में साधन सम्पन्न सद्गुरु-सन्तों से सदैव सम्मति लेते हुए साधना में चलना चाहिये। प्रमाद-रहित होकर सद्गुरु-सन्तों की शरण में जीवन पर्यन्त निवास करके बोध-वैराग्य-अभ्यास तथा संसार का अभाव करने की धारणा में लगे रहना चाहिये और इस पीड़ा से भरे हुए संसार से मोक्ष लेना चाहिये। यह कार्य सन्तों की शरण में ही सम्भव है।

सन्त सहायक जीव के, सन्तहिं पार लगाय।
औरन से यह होय नहिं, जो भ्रम भूल भगाय ॥

परम सहायक संत बोध यथारथ पुष्ट करि।
बारम्बार नमंत, हरण चक्र संसृति प्रभू ॥७॥

टीका :—सत्य स्वस्वरूपज्ञान को दृढ़ करने वाले विवेकी संत ही मुमुक्षुओं के परम सहायक एवं रक्षक हैं। मानसिक व्याधि तथा जन्म-मरण के चक्र को हरण करने वाले ऐसे सन्त सरकार को बारम्बार नमस्कार है ॥७

वन्दना

जय गुरुदेव नमों गुरु सन्त, जय गुरुदेव नमों गुरु सन्त ॥ टेक ॥
जग सुख से स्नेह हटाये, अजर अमर अमृत पद पाये।
मनगति तोड़ि विमल विचरन्त, जय गुरुदेव नमों ···· ॥ १ ॥
दया शील सन्तोष विचारा, विरति विवेक सत्य आचारा।
सद्गुण भूषित अमल अनन्त, जय गुरुदेव ······· ॥ २ ॥
सबकी सहि निज काज बनाते, नहिं काहू को दोष लगाते।
राग द्वेष को तजि स्वच्छन्द, जय गुरुदेव ·········· ॥ ३ ॥
जड़ को जड़ जिव को जिव जाने, बन्धन मुक्ति भले पहिचाने।
जग वासना किये सब अन्त, जय गुरुदेव ········· ॥ ४ ॥
प्रिय भाषी जग भोग उदासी, शत्रु मित्र से सदा निराशी।
जीवन्मुक्त परम निर्मन्त, जय गुरुदेव ············ ॥ ५ ॥
राग-द्वेष से जो अति पार, ताहि चरण अभिलाष अधारा।
हरलो मेरो सब दुखद्वन्द, जय गुरुदेव नमों गुरुसन्त ॥ ६ ॥

प्रसंग १ सजगता, चेतावनी एवं कल्याण-स्थल
गुरु घेरा (न्याय) प्रतिपादन।

साखी

जो गुरु मारग पुष्ट करि, सजग रहे दिन रैन।
हानि न होवै काहु से, लाभ दिनोंदिन चैन ॥८॥

टीका:—जो मुमुक्षु गुरुज्ञान तथा सदाचरण एवं मुक्ति रहनी का दृढ़ अभ्यास करते हुए मन-माया से रातदिन सावधान रहते हैं, उनकी किसी से भी हानि नहीं होती, प्रत्युत वे दिन-प्रतिदिन स्वरूप-स्थिति का लाभ लेते हुए परम विश्रान्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या:—क्षमा, दया, सत्य, शील, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरु-भक्ति, संतोष, स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति—ये ही गुरु मार्ग हैं। जो इन्हें अमृत के समान मानकर इनका निरन्तर अभ्यास करता है; संसार के मनवशी प्राणी, क्षणभंगुर पदार्थ नाना व्यवहारों तथा आन्तरिक मन-

वासनाओं से सावधान रहता है; अपने को हर समय ठगनगर-शरीर के बीच में जानकर निर्मान, परिणामदर्शी, विलम्बशोची, गम्भीर, सहनशील, अन्तर-बाह्य प्रपंचरहित, निज दुर्गुण-द्रष्टा, संकोची, वाक्यसंयमी, अपने मन-इन्द्रियों के कुचालों से सजग, स्वप्नवत् तुच्छ संसार-शरीरादि के अध्यासों से वीतराग, हर समय अविनाशी-निःसंग स्वरूप में रमणकर्ता बना रहता है; उसको संसार का कोई बंधन स्पर्श नहीं कर सकता।

जो सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं भोग, वस्तु रूपी प्रलोभनों से मिलने की अपेक्षा हटना, संयोगकी अपेक्षा वियोग, भोग की अपेक्षा त्याग चाहते हैं, उन्हें कौन बाँध सकता है। जो जन्म में मृत्यु को, जवानी में बुढ़ापा को, सुख में दुःख को, अनुकूल में प्रतिकूल को, संयोग में वियोग को देख लेते हैं; वे किसी में क्यों फँसेंगे। जो अपने पूरे जीवन को "बीत चुका है" ऐसा समझ लिये हैं, वे इस संसार में कुछ सार नहीं समझते। उनकी सारी अहंता-ममता मिट जाती है। वे संसार के हानि-लाभ से ऊपर उठ जाते हैं, वे दिन-प्रतिदिन गाढ़ी स्वरूपस्थिति में रमण करते हुए जीवन्मुक्ति दशा में विहार करते हैं। ऐसे संत इस प्रकार होते है—

सवैया।

प्राण समान सबै कहँ रक्षि के, आप स्वरूप में थीर सदा हैं।
शत्रु वो मित्र समान सबै पुनि, हर्ष रु शोक से नित्य जुदा हैं।।
हानि रु लाभ अचिंत अनूप, अकाम स्वरूप सो शांत मुदा हैं।
नाम रु रूप से पार बसैं, अविनाशी अखण्ड खुदी ही खुदा हैं।।१।।

छन्द—वहि सन्त है वहि कन्त है वही सद्गुरो का लाल है।
गुरु बोध मारग पुष्ट है वहि बन्धनों का काल है।।
ऐसे पुरुष का बाल बाँका कर सके नहिं कोय है।
दिन दिन स्ववश निज रूप में पारख स्वरूप समोय है।।२।।

शिक्षा:—यदि आप भी वही मुक्ति-सुख चाहते हैं तो मन इन्द्रियों के मिथ्या सुखों से गाड़ी की जंजीर खींचने वत् शीघ्र रुक जाओ और एकधारा सावधान होकर गुरु-मग में लगो।

नहिं आशा पूरी यहाँ, नहिं जीना इकरार।
नहिं औसर अस मिलन को, ताते करो विचार ॥६॥

टीका:—संसार में किसी की सांसारिक आशायें पूरी होने वाली नहीं, जीवन का कोई निश्चय नहीं कि कब तक रहेगा और कल्याण-साधन करने योग्य वर्तमान जैसा सुनहला अवसर मिलना कठिन है; अतः आत्मकल्याण के लिये विचार करो ॥ ६ ॥

व्याख्या—मनुष्य नाना भाँति आशा का कोट बनाता रहता है। उसे भविष्य के लिये बड़ा आकर्षण रहता है; परन्तु भविष्य में कितने काँटे भरे हैं इसे कौन जानता है। मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है। पलक झपते या एक वाक्य बोलते विलम्ब लगता है, परन्तु मनुष्य का जीवन समाप्त होते विलम्ब नहीं लगता। ऐसे क्षणिक जीवन पर बड़ी लम्बी-लम्बी आशायें करना कितना भ्रम है।

"लघु जीवन सम्वत् पंच दशा। कल्पांत न नाश गुमान अशा।

(रामायण)

भूला मनुष्य कहता है "इस वर्ष लड़के-लड़की की शादी-गौना करना है, घर बनवाना है तथा अन्य व्यवहार के काम करने हैं; अगले वर्ष धर्म, पुण्य, संत-सेवा, भंडारा-यज्ञ करेंगे।" हमारे भोले भाई को यह पता नहीं कि आज हैं कल न रहें तो क्या दावा। श्वास आया न आया तो क्या विश्वास। इसलिये मनुष्य को कल्याण के लिये शीघ्र सावधान हो जाना चाहिये।

मानुष तन सद्गुरु मिलन, मोक्षहु इच्छा होय।
दुर्लभ तीनों परम हैं, पाय सुयोग न खोय॥

भूत भविष्य सब देव बहाई। वर्तमान में बर्तो भाई।

(निर्णयसार)

अतएव शीघ्रातिशीघ्र माया मोह त्याग कर गुरु-शरण गहो और शीघ्र देहाध्यास से रहित होकर स्थिति बना लो, असावधान होकर जीवन न खोओ। ये स्त्री-पुत्र-धन विद्या-मान-पुजापा अंत में काम न आयेंगे।

कवित्त

जौन जौन आशा को महल चुनवाय रह्यो,
कबहूँ न पूर होय देखु नर बावरे।
काल तोहिं ग्रासन को मुख फारि खड़ो अहै,
अबहीं गपकि लेय पाय निज दाँव रे॥
मोह रूपी स्वपन मैं विविध सनेह करि,
मोर तोर शोर नर करे काँव बाँव रे।
चेत! चेत! चेत! देख अवसर नशात जात,
अभिलाष गुरु की शरण आव आव रे॥ १॥

कल्याण-अवसर नर-शरीर में मत चूको

दृष्टांत—एक ग्राम में चार बहुत दरिद्र मनुष्य रहते थे। एक दिन उन चारों ने विचार किया कि हम सभी की दरिद्रता का कैसे विनाश हो? निदान चारों का विचार हुआ कि चलें परदेश द्रव्य कमा लावें। वे चले, कई दिन मार्ग में चलते-चलते एक विराट जंगल में जा पहुँचे। जंगल में कुछ और घुसने से मार्ग ही भूल गया। इतने में एक उच्च टीला पर एक महात्मा शान्तिपूर्वक बैठे हुए दृष्टि में आये। डूबते हुए को नौका पाने वत् वे महात्मा के चरणों में गिर पड़े। महात्मा दृष्टि खोल कर देखे और उन मनुष्यों से पूछे—तुम सब कौन हो और कहाँ आये हो? दीन पथिक—हे संत भगवन्! हम सब बड़े दीन और गरीब हैं, अनेक दुःखों से ऊब-घबरा कर हम सब धन कमाने के लिये आये हैं, कृपया धन-प्राप्ति का कोई सरल साधन बतलाइये, जिससे हम सभी की दरिद्रता शीघ्र दूर हो। इतनी वाणी सुनकर महात्मा का हृदय करुणा से भर आया और विचार करने लगे कि इन्हें धन पाने की युक्ति अवश्य बतलानी चाहिये। अतः महात्मा जी इन चारों को साथ लेकर उसी जंगल के एक रमणीय एकांत स्थल में जा पहुँचे जहाँ कि चारों ओर जंगल-ही-जंगल है और बीच में पक्की सीढ़ीदार सुन्दर तालाब है। उसके तट पर अत्यन्त सुंदर एक विशाल मंदिर है। उसकी रचना पर लोग मोहित हो जाते थे। इन सब रमणीय दृश्यों को

दिखलाते हुए महात्मा चारों पथिकों से बोले—यदि तुम सब धन चाहते हो और अपनी दरिद्रता को मिटाना चाहते हो, तो लो, यही युक्ति हम बतलाये जाते हैं कि यहाँ पर एक बहुत विराट मेला लगेगा। उसमें अनेक प्रकार के नर-नारी युवक-युवती आयेंगे। यह ध्यान रखना कि यहाँ के सब भोगों में विष मिला रहता है अतः कोई भोग न ग्रहण करना और यहाँ धन प्राप्त करने का यह नियम है कि जो इस तालाब के स्वच्छ जल से स्नान करके इस मन्दिर में जाकर किसी की ओर दृष्टि न करते हुए मन्दिर में केवल द्वार की ओर ही दृष्टि रखेगा, तो दस बजे से बारह बजे के बीच में एक देव आयेगा, तब उस देव से कोई भी मन-इच्छित पदार्थ प्राप्त कर सुखी हो सकते हो, अर्थात् जो कुछ भी माँगोगे वह देगा। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह आकर तुरंत ही लौटता है, उसके लौटने पर यदि कोई करोड़ों यत्न करे तो वह कुछ नहीं दे सकता। इसलिये चूकना नहीं, खूब सावधानता पूर्वक देव के आते ही उससे अक्षय धन प्राप्त कर लेना। अनन्त धन का दाता देव के आने का मर्म कोई-कोई बिरला ही जानता है। वही उससे लाभ उठाता है, अन्यथा जितने नर-नारी इस मेले में आयेंगे, सब बेभान होकर यहाँ की विचित्रता में भूल जायेंगे और यहाँ के विष मिले भोगों को भोग कर मृत्यु को प्राप्त होंगे। इस कारण अभी सात बजे का समय है, तुम सब जाकर तालाब में स्नान करके इस मंदिर में एक चित्त खड़े रहना किसी के कहे में न लगना, क्योंकि यहाँ के मोहक नर-नारी वही विष मिले भोग का लालच तुम्हें भी लगायेंगे। यदि भूलोगे तो दुःख भोगोगे और यदि हमारे बताये अनुकूल काम करोगे तो देव से अक्षय धन प्राप्त कर सुखी हो जाओगे।

ऐसा कह कर महात्मा चले गये। उपर्युक्त वचन सुन कर तीन मनुष्य तो तालाब में स्नान कर उस मंदिर में देव की प्रतीक्षा में जा खड़े हुए और एक मनुष्य वहाँ की विचित्रता में भूल गया, वह संत के उपदेश के प्रतिकूल ही किया। निदान दो-तीन घंटे में बड़े जोरों से

मेला लगा। उस मेले में अनेक प्रकार के मोहक युवक-युवतियाँ, बालक-बालिकायें तथा नाच-सिनेमा एवं शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श पंच विषय-भोग उपस्थित हो गये। वे सब उन्मत्त होकर उसी में भूल गये।

पद

सबहीं-सबहीं को मोह-मोह, सब एक-एक को पकड़ रहे।
बालक वो वृद्ध युवा सबहीं नर-नारी भोग में जकड़ रहे॥
मन-मानी सब उन्मत्त हुए, सब विषय भोग को भोग रहे।
पढ़-अपढ़ वो पण्डित विज्ञानी, पशुवत् नर-नारी लोग रहे॥

कई युवक-युवतियाँ उन तीनों पथिकों को भी मोहने के लिये मंदिर में जा पहुँचे, और कहने लगे।

पद

आओ-आओ! भोगो जल्दी, कैसा अब औसर है आया।
विद्या यौवन वो सुन्दरता, रमणी धन जन सब सुख भाया॥

ऐसा सुन कर तीन पथिकों में से एक पथिक अपने साथियों से कहने लगा—"मैं थोड़ा मेले का सुख भोग कर अभी आता हूँ। तब तक हमारी प्रतीक्षा करना।" ऐसा कह कर वह उन उन्मत्तों के साथ भोगों को भोगने लगा। इतने में ग्यारह बजे का समय आया और देव सुन्दर रूप धारण किये हुए आ पहुँचा। एक मनुष्य (पथिक) तो बड़ी सजगता से एकाग्र होकर देव की प्रतीक्षा में ही था और देव के आते ही उसने धन की याचना की। देव तुरंत अक्षय धन की गठरी उस मनुष्य के हाथ में देकर शीघ्र पीछे लौट गया। अब एक पथिक जो और था, वह देव के आते समय मंदिर की सुन्दरता देखने में भूल गया था। जब देव आकर पुनः लौटा जा रहा था, तब उसे स्मरण हुआ और शोकातुर हो उसके पीछे दौड़ा। निदान लाखों यत्न करने पर भी देव से कुछ भी न प्राप्त कर सका। इधर जो मनुष्य धन पा गया था, वह

तो हर्षित हो अपने देश जाकर अकंटक सुख भोगने लगा, और शेष तीनों साथी विषय-भोग में भूल जाने से वहाँ के विष मिले भोगों को भोग कर सायंकाल तक मृत्यु को प्राप्त हुए।

सिद्धांत—संसार में इच्छा-कामना-वश सर्व जीव उल्टी क्रिया करके और-और भोग चाहना में दरिद्र बने हैं। इतने में संसार रूपी विराट जंगल में भटकते हुए जीव को महात्मा रूप संत-गुरु मिलते हैं। और इस दीन जीव के दुःख छुड़ाने निमित्त ले जाकर सत्संग रूपी सुन्दर तालाब बतला देते हैं और कह देते हैं कि—हे जीव! मनुष्य शरीर रूपी सुन्दर मंदिर में तुम एकाग्र चित्त से रहना और दस-बारह बजे का अर्थ है कौमार से युवा अवस्था तक में मोक्ष साधन विवेक-वैराग्य तथा धर्मभक्ति रूपी अक्षय धन देने वाला "अवसर" रूपी देव आयेगा; तो उस अवसर में तुम चूकना नहीं शीघ्रातिशीघ्र अपना मोक्ष-साधन, विवेक-वैराग्य-भक्ति आदि धन प्राप्त कर लेना, नहीं तो कौमार एवं युवा अवस्था रूपी अवसर क्षण ही में लौटेगा, अर्थात् वृद्धता या मृत्यु आयेगी, तब तुम कुछ न कर पाओगे, अन्त में रो-झंख कर गर्भ में जाना होगा। इस प्रकार संतों का उपदेश जो मान लेता है वह कौमार से यौवन तथा शरीर ठीक रहे तक अपना सद्गुण, भक्ति, धर्म, दान, पुण्य, शुभ संस्कारादि तथा मोक्ष बना लेता है, और जो संतों का उपदेश नहीं मानता, वह उन्मत्त हो संसार रूपी मेले में प्राप्त हुए स्त्री, पुत्र, राज, काज, विद्या, रूप, यौवन, धनादि में गाफिल हो जाता है, और इच्छा रूपी विष मिले हुए भोग, भोग कर जड़ासक्ति अर्थात् अज्ञान रूपी मृत्यु को प्राप्त होता है। कोई-कोई तो मंदिर रूपी देह की सुन्दरता ही देख-देख कर लुब्ध हो जाते हैं निदान अवसर चूकने पर सर्व अज्ञानी जीव जन्म-मरणादि के नाना दुःख सहते रहते हैं। चाहे पढ़े-लिखे, ज्ञानी-विज्ञानी पण्डित-वेषधारी कोई भी हो, जब तक गुरु-सत्संग द्वारा अपने मानव शरीर रूपी शुभ अवसर पर सावधान होकर परमार्थ-पथ गामी न होंगे, तब तक दुःख कैसे छूट सकता है!

शिक्षा—छन्द

अवसर मिला अवसर मिला अवसर मिला अब जीव रे ।
उन्मत्त होकर सो रहा उल्टी समझ क्यों कीव रे ॥
तू सर्व से दे पीठ अपना धर्म का निज काज कर ।
चेतो पथिक ! जागो उठो निज मार्ग का सम्भार कर ॥ १ ॥

नारी सुता धन द्रव्य जितने वो सकल संसार है ।
ये स्वप्न की सम्पति सकल झूठा जगत् व्यवहार है ॥
क्यों मोहता है रे पथिक ! तू चेत कर कुछ आप का ।
साने जहर सुख भोग कर क्यों कर्म रचता ताप का ॥ २ ॥

ऐसा समय जो आज है फिर से न जल्दी आयगा ।
तू शीघ्र गुरु मग में लगै नहिं अंत में पछितायगा ॥
बस दो मिनट का है समय आया न श्वासा क्या करो ।
गुरु मग में जल्दी मोक्ष लो या भोग ले जन्मो मरो ॥ ३ ॥

क्यों नींद तुमको आ रही उठता जगाये से नहीं ।
तेरे लिये ही कह रहा विश्वास क्यों करता नहीं ॥
गरु मग लगो जग मग तजो अंतिम यही उपदेश है ।
अवसर मिला सुन्दर भले ले मोक्ष गुरु आदेश है ॥ ४ ॥

तू वासना घट प्रेम की सहसा जला कर भस्म कर ।
फिर से न भव प्रियता करूँ अन्तःकरण से कस्म कर ॥
नित स्वच्छ अविचल धाम पारख रूप में तुम थीर हो ।
अवसर मिला तू मोक्ष ले क्यों कर पुनः तन-कीर हो ॥ ५ ॥

साखीः—रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥ सा० ॥

अन्त न हो तृष्णा कभी, जाहि फँसे सब लोग ।
समय अमौलिक खोवहीं, मोक्ष होन के योग ।१०॥

टीकाः—जिन भोगों में लोग फँसे हैं उनकी तृष्णा की समाप्ति कभी नहीं हो सकती । हाँ, उन्हीं में कल्याण साधन करने योग्य अनमोल समय-रत्न को नष्ट कर रहे हैं ॥ १० ॥

व्याख्याः—स्त्री-सुख, पुत्र, धन, गृह, सम्पत्ति-वृद्धि की तृष्णा, मन-इन्द्रिय-भोग की तृष्णा, सर्व जन समाज को स्ववश रखने की तृष्णा, मान-मर्यादा, गौरवगरिमा, पद-प्रतिष्ठा, विद्या-वाक्य, मन-वाणी-विलास की तृष्णा, शरीर को सदा सुरक्षित रखने की तृष्णा एवं निज स्वरूप के अतिरिक्त विजाति जिन-जिन आशा-तृष्णाओं के वश जगत् के समस्त अज्ञ जीव माया-मोह में बन्धमान हो रहे हैं; उन-उन तृष्णाओं की गुरु-ज्ञान-रहित किसी काल में भी समाप्ति नहीं होगी। बल्कि विजाति क्षण-भंगुर सांसारिक तुच्छ वस्तुओं की आशा-तृष्णा-वश मुक्त होने योग्य अनमोल समय यों ही नष्ट हो जायगा।

तृष्णा का रूप कवित्त—

सब धन मेरे होंय सब जन मेरे होंय,
रूपवती नारि सब मेरे हित चाहिये।
जगत भरे को रूप विद्या वाणी बल आयु,
केवल हमी को चाही और किमि पाइये॥
विषय भोग भोगि रहौं इन्द्री न शिथिल होय,
रात दिन और-और भोग चित लाइये।
आदि अंत मध्य भोग माहिं दुख पूरि रह्यो,
दूजे काल सिर खड़ो जीव जाने नाहिंये॥

चवराहा के दूत ज्यों, लखत रहैं चहुँ ओर।
करत इशारा सबन को, बचत रहैं निज ठौर॥११॥

टीकाः—जैसे शहर के चौक सड़क में सिपाही खड़े होकर चारों ओर देखते रहते हैं और स्वयं अपने स्थल पर स्थिर होकर, भीड़-भाड़ धक्का-मुक्का से बचते हुए यात्रियों को बचाने के लिये इशारा तथा रोक-थाम किया करते हैं, जिससे कोई व्यक्ति दुखी न हो॥ ११॥

तैसे संत जो पारखी, जगत शहर के बीच।
बचत रहैं निज ठौर लहि, अन्य जीव को खींच॥१२॥

टीका:—वैसे ही जीव के सच्चे हानि-लाभ, बन्धन-मुक्ति के जो पूर्ण परीक्षक संत हैं वे संसार रूपी शहर के बीच में खड़े हैं। वे सद्रहस्य संयुक्त स्वतः स्वरूप में स्थित होकर अपने को जगत के घातक कुसंग एवं मनइन्द्रियों के दावों से बचाते हुए संसार के अन्य जिज्ञासु जीवों को भी माया-मोह रूपी अग्नि से खींच कर बचा रहे हैं॥ १२॥

शिक्षा—अरे जीव! ऐसे निःस्वार्थ रक्षक साधु-गुरु की ओर क्यों नहीं निहारता, शीघ्र चेत कर!

छन्द

संसार सागर बीच में यक सन्त गुरु आधार हैं।
सद्ज्ञान नौका पर चढ़ो तुमको लगावें पार है॥
तू भागता क्यों और ही नहिं सूझता भवधार है।
जल्दी चढ़ो बस पार हो संसार संसृति न्यार है॥ १॥

भवधार होना पार हो मल्लाह गुरु से प्रेम कर।
मन-इन्द्रियों का रस कभी लूँगा नहीं यह नेम कर॥
झूठे जगत में क्यों पगे गुरु ऐन में नित चैन कर।
पारख स्वरूपी आप को तू स्मरण दिन रैन कर॥ २॥

अफसोस! है जो जीव के सुख शांति देने हार हैं।
तिन सद्गुरु को भूलकर नर भरमता संसार है॥
विश्वास आता है नहीं गुरु सन्त से नर भागता।
कंचन वो कामिन भोग रूपी अग्नि में पुनि लागता॥ ३॥

गुरु सन्त से जो प्रेम कर बच जाइये दुःख दोष से।
दुर्गुण वो चिंता कामना हरजा खरच अफसोस से॥
संसार से जो प्रेम कर तो कामना चिंता बढ़े।
हरजा खरच त्रयताप रूपी काँट अंगों में गड़े॥ ४॥

आलस गरूरी मान मद अरु लोभ को तू त्याग दे।
गुरु सन्त के सद्ज्ञान में अरु प्रेम भक्ती पाग रे।
करना हो सो जल्दी करो यह रत्न जीवन जा रहा।
सुख शांति का सागर मिला गुरु सन्त के पद को गहा॥ ५॥

दोहा:—जगत प्रेम को तोड़ि के, हे मन मीत ! सुनेहु ।
श्री पारख गुरुदेव के, चरण नमें चित देहु ॥ १ ॥

संत पारखी विमुख जो, सुनते नहीं पुकार ।
छोड़ि सुसंग कुसंग वश, भरमि रहे संसार ॥१३॥

टीका :—सत्यासत्य परीक्षक विवेकी सन्त-महात्माओं से जो विमुख हैं, वे उनकी सद्‌शिक्षा नहीं सुनते । बल्कि सन्त सदाचारियों का सत्सङ्ग त्याग कर कुसङ्ग और अज्ञान के वशीभूत होकर संसार चक्र में भ्रमते रहते हैं ॥ १३ ॥

शिक्षा-सोरठा

जग रपटीली भूमि, सावधान निज मग चलो ।
निशि दिन पुनि-पुनि घूमि, लखो सु अपने चरित को ॥ १ ॥
कबहुँ कुसङ्ग न प्रेम, नहिं तो सब अवगति धरो ।
गुरु घेरा को नेम, मद तजि जीवन भर गहो ॥ २ ॥

वशीभूति मन के रहैं, वर्तैं मन अनुसार ।
मनमुख ताको जानिये, शीघ्र तजो व्यवहार ॥१४॥

टीका:—वे सदैव मन के वश रहते हैं और अपने मन के अनुकूल ही व्यवहार करते हैं अतः उन्हें मन्मुखी जानकर उनका सम्बन्ध छोड़ दो ॥१४॥

व्याख्या :—जिन्हें इस घृणित, कष्टप्रद, क्षणभंगुर जीवन में एवं संसार में दुःख नहीं ज्ञात होता, जिन्हें परमार्थ की चिन्ता तथा मुक्ति की किञ्चित भी इच्छा नहीं है, जिन्हें विवेकी सन्त-गुरु में केवल कल्याण के लिये निष्छल प्रेम नहीं है, जिन्हें संसार की असारता, क्षण-भंगुरता एवं अविनाशी स्वस्वरूप का भान नहीं रहता, अर्थात् पारमार्थिक लक्ष्य-विहीन मनुष्य स्थूल पंच भोग-प्रिय होकर सर्वदा मन के वशीभूत बना रहता है । उन्हें मन काल अपने भ्रम चक्र में छोड़ कर सदा हिडोले देता रहता है, और वे न्याय, धर्म, सत्संग, भक्ति, कल्याण पथ त्याग कर अपना सर्व व्यवहार मनमती ही बरतते हैं । साधक को ऐसी संगत त्यागना चाहिये ।

गुरुआज्ञा सिर पर धरै, चले गुरू अनुसार।
गुरुमुख ताहि बखानिये, सच्चे दिल के यार ॥१५॥

टीका :—जो गुरु-आज्ञा सिर पर रख कर गुरु के अनुसार चलते हैं वे सच्चे हृदय के प्रेमी गुरुमुख कहलाते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या :—संसार की क्षणभंगुरता, असारता एवं देहोपाधिक अनेक बन्धनों और कष्टों को देखकर तथा अपने को शुद्ध निर्विकार सबसे भिन्न जानकर जन्म-मरणादि घोर दुःखों से छूटकर मुक्त होने के लिये जिन्हें प्रबल इच्छा है; वे सद्रहस्य सम्पन्न सद्गुरुदेव तथा विवेकी सन्तों के गुरु-न्याय अनुसार ही चलते हैं। अर्थात भक्ति विवेक, वैराग्यादि गुरु-रहनी रहस्य पूर्वक जीवन पर्यन्त चलते रहते हैं। ऐसे पुरुष ही गुरु-मुख वर्णन करने योग्य हैं, क्योंकि उन्होंने सच्चे हृदय से माया-मोह का त्याग कर जन्मादिक कठिन दुःखों से मुक्त होने के लिये श्रद्धा एवं वैराग्य पूर्वक गुरु-सन्तों से प्रेम जोड़ा है। अतएव वे ही "सच्चे दिल के यार" हैं ॥ १५ ॥

सावधान मन वशि करै, राग द्वेष सब डार।
कपट रहित व्योहार सब, नहीं जीत नहि हार ॥१६॥

टीका:— अनेक प्राणी-पदार्थों के संग-दोषों एवं शरीर-इन्द्रिय-अध्यास वासना रूपी शत्रुओं से सदाकाल सावधान होकर तथा राग-द्वेष-ईर्ष्यादि सर्व दुर्गुण रूपी महान भव-बन्धनों को विषवत् पृथक डाल कर केवल अपने दुःखमय संसृति चक्र को मिटाने के लिये मन को स्ववश करे, अर्थात् सदा मन संकल्पों को मिटा-मिटा कर स्ववश रहा करे; और अपना सर्व व्यवहार कपट-छल-बनाव रहित सरल सहज मध्यवर्ती रखे; और किसी से वाक्य-संग्राम में जीतने का हर्ष और हारने की चिन्ता-क्रिया को तो बिलकुल भूल ही जावे ॥१६॥

सब यतनन को यतन यह, सब लाभन को सार।
सब ज्ञानन को ज्ञान यह, मोक्ष लहै भव पार ॥१७॥

टीका:— सब उद्योगों का वही परम उद्योग है; और लौकिक सर्व लाभों से वही सार-श्रेष्ठ लाभ है; तथा सर्व ज्ञानों से परे-खरे वही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है कि सांसारिक पंच विषय-भोगों, खानी-वाणी, मान-सुख, स्थूल-सूक्ष्म, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, शरीरादि की आशा-वासना, तृष्णा-अध्यास से निवृत्त हो जड़-मानन्दी सुखाध्यास-रहित जीवन्मुक्ति एवं प्रारब्धान्त में अजर, अमर, अचल, एकरस विदेह मुक्ति को प्राप्त होकर जन्मादि दुःखों से पार हो जाय ।।१७।।

स्पष्ट कवित्त

कोई तो यतन करै किधौं नारि प्राप्त होय,
कोई तो यतन पुत्र घर धन वारी है।
कोई तो यतन करै पंच विषय भोग हित,
कोई तो यतन हिंसा घात व्यभिचारी है।।
कोई तो यतन करै सब मेरे वश रहैं,
सूर चन्द्र रात-दिन स्ववश चहारी है।
सबहीं यतन माहिं जीव को पतन होत,
यतन को मूल निज स्थिति विचारी है।।१।।
कोई लाभ माने धन वोहदा जगीर पाये,
कोई लाभ माने रूपवती नारि पाये से।
कोई लाभ मानत हैं वोट माहिं जीत गये,
पंच सरपंच ए-में ए-ले भूप भाये से।।
कोई जाति रूप मित्र वन्धु बहु वाणी रटे,
चाम नाम दाम अरु धरणी लोभाये से।
येते सब लाभ नहिं जीव को त्रिपति जानो,
लाभ पूर सब से महान मुक्ति पाये से।।२।।
कोई ज्ञान माने तार गाड़ी वायुयान रचि,
रेडियो वो ग्रामोफोन बिना तार तार जू।
कोई ज्ञान माने बहु तत्त्वन के शोध माहिं,
मोक्षप्रद जीवन सो ताहि में बिताय जू।।

नाना जड़ ज्ञान वो विज्ञान बहु शोध कर,
निज रूप ज्ञान तजि भटकि दुखार जू।
अभिलाष सब ज्ञान अज्ञता को रूप जान,
मुख्य ज्ञान चेतन मैं जड़ देह पार जू ॥३॥

दृष्टांतः— एक महात्मा की महिमा चारों ओर फैल रही थी, वास्तव में महात्मा जी महिमा योग्य थे। उनकी समता, नम्रता, वैराग्य, त्याग तथा स्वरूपज्ञान की कटिबद्धता पूरी सीमा तक पहुँची थी। वहाँ ग्राम के पास में एक बहुत पढ़े-लिखे विज्ञानी बाबू रहते थे। वे महात्मा की प्रशंसा सुनकर जलने लगे और कहते कि वह अनपढ़ साधु क्या जाने। पुनः उत्तरोत्तर साधु की महिमा सुनते-सुनते एक दिन साथियों को लेकर कहा कि चलें देखें वह कैसा साधु है। एवं हैट-बूट लगाये हुए महात्मा के पास जा पहुँचे, और प्रणाम-नमस्कार कुछ भी न कर यों ही बैठ गये, पश्चात् बोले—"कहिये साधु जी आपकी मैंने बहुत महिमा सुनी है, आप में कौन-कौन से गुण हैं ?" महात्मा— "हमारे में तो भैया कोई गुण नहीं है, प्रचार करने वाले यों ही कर दिये होंगे।" विज्ञानी बाबू – "फिर क्यों ढोंग बनाकर संसार को ठगते हो ?" जब कहीं और जगह नहीं रही तब साधु हो गये हो क्या ? महात्मा शान्ति पूर्वक चुप-चाप बैठे रह गये कुछ उत्तर नहीं दिये, क्योंकिः—

"दोहा—मूरख का मुख बिम्ब है, निकसत वचन भुवंग।
ताकी औषधि मौन है, विष नहिं व्यापत अंग ॥"

महात्मा ने सोचा कि विद्या आदि के मद से ये स्वयं चूर हो रहे हैं, इनसे इस समय बात ही क्या करूँ। उस दिन तो विज्ञानी बाबू घर चले गये; किन्तु एक दिन पुनः आये और अबकी बार ये शांत स्वभाव से थे। कुछ विलम्ब पश्चात् विज्ञानी बाबू से महात्मा जी ने तीन प्रश्न किया (१) मनुष्य का श्रेष्ठ कर्तव्य क्या है ? (२) नर-तन पाने का लाभ क्या है ? (३) सर्वश्रेष्ठ ज्ञान क्या है ? विज्ञानी बाबू— "अंग्रेजी,

संस्कृतादि अनेकों विद्या पढ़े, कुछ गौरव-गरिमा, सम्पत्ति-नवयुवती, सेज, वाहन, रमणीय महल एवं पंच विषय भोगों को प्राप्त करे; यही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। और कंचन-कामिनी, पंच विषय-भोग देह सुख ही परम लाभ है। विद्यादि में तीव्रता एवं तत्त्वों का शोध, संसार का रंग-ढंग जानना, विज्ञान—साइंस ज्ञानादि ही परम ज्ञान है। इससे बढ़कर कौन-सा 'कर्तव्य' 'लाभ' तथा 'ज्ञान' हैं।" महात्मा—"आप, हम सभी को विचार करना चाहिये कि जिन कंचन, कामिनी, शाब्दिक विद्या पंच विषय-भोगों को प्राप्त करना ही परम कर्तव्य और भोग भोगना ही परम लाभ माना जाता है, उन भोगों में कौन-सी सत्यता है और उनका हमारा कब तक साथ है ? विषय-भोग अज्ञान पुष्ट कर, अभिमान-प्रमाद वृद्धिकर, यथार्थ ज्ञान नाशकहैं, कामना तृष्णा मानसिक अशान्ति वर्धक हैं, निःसार हैं, नाशवान् हैं, परिणाम में दुःखजनक हैं, नाना योनियों में भ्रमाने वाले हैं, अग्निकुण्ड रचकर उसमें कूदकर जल मरने न्याय, ये विषय भोग ही दुःखपूर्ण हैं। फिर इन भोगों की प्राप्ति एवं विलास ही नर-तन का परम कर्तव्य तथा लाभ मानना कहाँ तक बुद्धिमानी है ? मनुष्य शरीर मोक्ष भूमिका है, ऐसे साधन धाम नर-तन को प्राप्त कर विषय, हिंसा, दुर्व्यसन, इन्द्रिय-लम्पटता, अपवित्र देह का अभिमान आदि त्याग कर सदाचार-सद्विचार धारण कर सात्विक आहार-व्यवहार सत्यता पूर्वक चलाते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, विश्वासघात, परपीड़न, दुर्वासना रूपी संसार बन्धन को काटकर जीवन्मुक्ति शान्ति अवस्था को प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ एवं लाभ है, सोई बनाना चाहिये।

सर्वश्रेष्ठ ज्ञान स्वरूपज्ञान है, अपने आप का पूर्ण बोध हो जाना ही स्वरूपज्ञान है। विवेकी सन्तों के समक्ष बैठना चाहिये, उनसे नम्रता पूर्वक स्वरूपज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रश्न करना चाहिये, उनसे नाक-भौं सिकोड़ कर, उन्हें निरर्थक या मूर्ख मान कर उनसे दूर नहीं रहना चाहिये, मानवता के वास्तविक लक्ष्य को विवेकी सदाचारी संत ही प्राप्त

हुए होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु, चन्द्र, सूर्य, आकाश, नदी, पर्वत अनेक पंच विषय कार्य पदार्थ एवं प्राण-स्वासा, इन्द्रिय, स्मरण, वासना सहित इस स्थूल जड़ शरीर का द्रष्टा इन दृश्य पदार्थों से भिन्न "मैं चैतन्य अजर, अमर, नित्य तृप्त, नित्य प्राप्त हूँ" जिस शुद्ध चैतन्य के सम्बन्ध से यह घृणित शरीर मंगलमय भासता है, अन्यथा मुक्त चैतन्य के निकल जाने पर यह जड़ शरीर कुछ भी नहीं कर सकता, उस अपने आपका पूर्ण ज्ञान विवेकी सन्तों से प्राप्त करना चाहिये, और वासना-वश आवागमन तथा वासना त्याग से मोक्ष निश्चय करना चाहिये। मल-कोष देह का मद त्यागना चाहिये। विज्ञान-द्वारा भोग्य वस्तुओं एवं विविध यंत्रों का निर्माण होकर जो कुछ भाग में, केवल व्यवहार में मनुष्यों को सुविधा मिली, तो कहीं अधिक भाग में स्वार्थपरता, लड़ाई, धोखेबाजी, भोग-इन्द्रिय-विलासिता, नास्तिकता, पारमार्थिक-लक्ष्य-विहीनता बढ़ जाने से संसार की बहुत बड़ी हानि हुई और हो रही है। एक नहीं करोड़ों विज्ञान द्वारा केवल पशुवत् भोग ही की तो सिद्धि कर सकते हैं। फिर भोग्य चातुर्यता को ही अविनाशी अनन्त एकरस सुख शान्ति-प्राप्ति के लिये काफी समझना और स्वयं विषय-आरण्य में भटकते रहना कहाँ तक बुद्धिमानी एवं श्रेष्ठ ज्ञान है। भोग-तृष्णा-रहित लोक-परलोक में शान्तिमय जीवन बनाना, स्वरूप ज्ञान प्राप्त करना, अविनाशी मोक्ष लाभ उठाना, ये मनुष्य का परम कर्तव्य तथा लाभ की तो करोड़ों विज्ञान-चातुर्य से भी नहीं सिद्धि हो सकती है, बिना सद्गुरु सत्संग। श्री कबीर साहिब कहते हैं :—

शब्द

बन्दे करिले आप निबेरा ॥ टेक ॥
आप जियत लखु आप ठौर करु मुए कहाँ घर तेरा ॥१॥
यहि अवसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा ॥२॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा ॥३॥
विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा। अन्तकाल मुख फाँकै छारा ॥ बी० ॥

यदि मनुष्य कहे कि हम नेत्रों से नाटक सिनेमा-भाँति-भाँति नर-नारियों के विचत्र-विचित्र रूप-रंग देखने का सुख ले रहे हैं; या कान से सुरीले शब्द तथा नाक से भाँति-भाँति इत्र-फुलेलादि सुगंध का सुख और कोमलांगी नवयुवती स्त्री का स्पर्श-रमण एवं दूध, घृत, विद्यादि सुख अनुभव करते हैं; तो यह भी मनुष्य की विशेषता नहीं। क्योंकि पतंगादि भी रूप विषय के आनन्द-रस में लुब्ध होकर दीप-ज्योति में जल मरते हैं। चींटी-मक्खी देखो जिह्वा-द्वारा गुड़-शहद में कितना आनन्द मानती हैं; और मृगा शब्द-विषय में तथा भँवरा गंध-विषय में तो मस्त ही रहता है। कुटुम्ब-पुत्रादि पशुओं में भी होते हैं। कीमती वस्त्राभूषण सुसज्जित नवयुवती सुकुमारी में जितना आनन्द मनुष्य मानता है उतना ही सूकर सूकरी में, कुत्ता कुतियाँ में, बन्दर बन्दरी में सर्प सर्पनी इत्यादि में सुख मानते हैं। मनुष्य-पशु-पक्षी सभी में पंच विषय सुख भोग बराबर हैं। यदि मनुष्य धन का गर्व करे तो धर्म-भक्ति-दान परोपकार के अतिरिक्त जितना धन है केवल पेट और इन्द्रिय भोगार्थ ही, जो पशु-पक्षी भी करते रहते हैं। विद्या का अभिमान भी उचित नहीं। विद्या की सफलता तभी है जब मांस-मद्य-आहार, दुर्व्यसन, काम, क्रोध, लोभादि तथा हृदय का अज्ञान अविद्या दूर हो जाय, अन्यथा दुराचरण-दुर्गुण त्याग और धर्म-सत्संग अनुराग बिना, अंग्रेजी-संस्कृत विद्यादि रटने का अभिमान कउआ (कागड़ा) के काँव-काँव करने के समान ही व्यर्थ है, जो बहुत चतुर बनता है किन्तु प्रातःकाल होते ही मल खोदता है। अतएव नाशवान् जड़ ठाट का सर्वथा अभिमान त्यागना चाहिये, सत्संग-द्वारा सदाचार पूर्वक अपना जीवन भोग-विलासिता-रहित शान्तिमय बनाना चाहिये। इसी में भलाई है। यह सुन कर विज्ञानी बाबू जिज्ञासु के रूप में बदल गये और बोलेः—

कुण्डलिया

अहह! मंद मति ज्ञान बिन कियों बहुत अपकार।
नहिं जान्यो मैं कौन, जग करतब कौन हमार॥

करतब कौन हमार, दार यौवन लपटान्यों।
कंचन चमड़ी भोग मनुष तन फल मैं जान्यों॥
संत-भक्ति नहिं ज्ञान ध्यान पशुवत् दिन खोयों।
मोक्ष निशेनी देह पाय मैं मूढ़ बिगोयों॥
देह पृथक चेतन रहत गुरु से होत उबार।
यह नहिं जान्यों मंद मति क्षमहु सो चूक हमार॥ १॥

वन्दना

साधु गुरू जय सन्त महान, हमें बता दो सच्चा ज्ञान ॥टेक॥
जड़ चेतन का भेद लखा दो, पंच विषय आसक्ति मिटा दो।
कलह कल्पना दूर भगा दो, निर्भय कर दो शांत समान॥ १॥
नश्वर तन का अहं नशा दो, अविनाशी में लक्ष बसा दो।
आवागमन से मोहिं बचालो, दे दो मुक्ति अक्षय पद दान॥ २॥
नारि पुत्र गृह कुटुम कबीला, सुख सम्पति सपना की लीला।
तिनकी ममता मोह छुड़ा के, कर दो भक्ती में बलवान॥ ३॥
मद्य मांस मैथुन पर नारी, और अनेकों व्यसन विकारी।
कुसंग कुबुद्धि त्यागि मद खारी, सरल सुशील सादगी ध्यान॥ ४॥
चोरी हिंसा वो व्यभिचारी, ईर्षा क्रोध मान छल गारी।
निन्दा झूठ सभी हम त्यागें, तन मन शुद्ध करें निर्मान॥ ५॥
सत्संगत सद्ग्रन्थ विचारें, सदाचार सद्गुण को धारें।
जल्दी अपना चरित सुधारें, यह अभिलाष यही अर्मान॥ ६॥

सोरठा

तजि माया अभिमान, सजग रहै गुरु भक्ति में।
भव सागर को यान, तारण विरति विवेक यह॥१८॥

टीका :—हड्डी, मांस, मल, मूत्रादि दुर्गन्धित पदार्थों का पात्र रूप क्षण-भंगुर, कष्टप्रद शरीर, चंचल धन, कुटुम्बी, समाज, मान-मकान-मर्यादा, विद्या-वाणी एवं सर्व नाशवान् माया का अभिमान-अहंता-ममता भली प्रकार त्याग कर सावधानता पूर्वक गुरुभक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्रहस्यों

को धारण करना चाहिये। क्योंकि संसार सागर से जीव को पार कर देने वाले नौका रूप ये भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण ही हैं। यथा-"विरति विवेक भक्ति दृढ़ करणी, मोह नदी कहँ सुन्दर तरणी ॥ रा० ॥ १८ ॥

भयों रंक से भूप, बोध प्राप्त बड़ भाग्य से।
शमन कियो भ्रम कूप, बलिहारी गुरुदेव की ॥१९॥

टीका—अनेक जन्मों के शुभ संस्कार एवं अधिक सौभाग्य-वश मुझे अविनाशी स्वरूप बोध की प्राप्ति हुई और मैं रंक से राजा हो गया, अर्थात् "अजर, अमर चैतन्य रूप मैं सदा तृप्त स्वरूप हूँ" इस बोध लक्ष्य से भोग-इच्छा रूपी दरिद्रता मिट गयीं, और इस नाशवान् स्वप्नवत् संसार-शरीरादि के विषय मिलन-वियोग, प्राप्ति-अप्राप्ति में कुछ भी हर्ष-शोक नहीं रहे[1], उन बोधदाता गुरुदेव के चरण कमलों में बलिहारी[2] है, जो देहाभि-मान-विषयासक्ति रूपी भ्रम कूप को सर्वथा विनाश कर दिये ॥ १९ ॥

साखी—थोरे दिना निवास है, लीजै काज बनाय।
अंत सबै छुटि जायँगे, कापर रहे भुलाय ॥२०॥

टीका:—जीवन थोड़े दिन का है, अतः अपना कल्याण करो, अंत में सब छूट जायँगे, किस पर भूल रहे हो ॥ २० ॥

व्याख्या:—हे जीव! इस देह एवं संसार में तुम्हारा निवास बहुत ही थोड़े समय के लिये है। उस समय की सीमा एक दो मिनट भी नहीं कही जा सकती। इस क्षणिक देह का कुछ आशा-भरोसा नहीं। यह पल ही में मिट कर धूल में मिल जाती है। लकड़ी तथा पत्थर आदि के बने हुए कोई सामान मकान आदि का दस-बीस-पचास वर्ष रहने का नियम भी हो सकता है, किन्तु इस कागज की कलई रूप

---

१ टि०-दोहा-चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिन्हें नहीं कुछ चाहिये, सो शाहनपति शाह॥

२ बलिहारी का अर्थ है कि अपने अभिमान-बल को सर्वथा त्यागकर पूर्ण निर्मान-निर्हंकार दीन-हीन होकर अपने को गुरुदेव की शरण में अर्पण कर दे।

देह का कोई नियम नहीं। अतः हे जीव! अपना कल्याण—स्वरूप-स्थिति शीघ्र बना लो, अन्यथा जिस स्त्री-पुत्र धन-मकान शरीरादि के मद में तू भूल रहा है, और ऐंठ-ऐंठ कर चलता है; इस कच्ची काया को इस्पात की भाँति मजबूत समझ कर मदान्ध होकर सत्संग-सद्विचार से रहित हो रहा है, ये सभी नाशवान् ठाट अंत में छूट जाने वाले हैं। फिर हे मनुष्य! तू किस पर भूल रहा है? किसका अभिमान धारण कर रहा है! क्योंकि—सवैया—

बालू कि भीत वो कांचे है कुम्भ, सु पानी के बुल्ला सो देह नशेगी।
स्वप्न समान वृथा अभिमान मैं, आय अचानक मृत्यु ग्रसेगी॥
होय परतीत नहीं तोहि मूरख, देखत ही तिय देह छुटेगी।
नित्य अभिलाष कियो जग को, जान परी जब मार पड़ेगी॥ २०॥

दृष्टांत - एक संत एक मनुष्य से कहने लगे—"कहो भैया रामजियावन! अभी तुम तो गुरुमुख नहीं हुए हो न। अरे, अब आयु भी आधी से विशेष समाप्त हो गयी, जीवन का कोई ठिकाना नहीं, अतः अब तो भला गुरुमुख हो जाओ; और तुम कथा-सत्संग में भी नहीं आते हो, इन सबों का क्या कारण है?" रामजियावन—"महाराज! मैं कथा-सत्संग में इसलिये नहीं आता कि विविध ज्ञान-चर्चा, कथा-सत्संग में बैठने एवं सुनने से हमारा मन पाप-कर्मों की ओर से बिगड़ जायगा, अर्थात् मन में धर्म-ज्ञान बस जाने से अन्याय, जबर्दस्ती एवं जाल, फँसाद, कुकर्म मैं नहीं कर पाऊँगा; इससे कथा सत्संग में नहीं आता हूँ, और यह भी सोचता हूँ कि यदि मैं गुरु-भक्त हो जाऊँ तो झूठ कैसे बोलूँगा, हिंसा कैसे करूँगा, अर्थात् मुझ गृही मनुष्य से भक्ति-भाव नहीं सधेगा और हमारे घर में भक्ति छाजती (शोभती) भी नहीं।" महात्मा—"वाह रे रामजियावन भैया वाह! तुम्हारी बात से तो ऐसा ज्ञात होता है कि तुम सदा जीने का ठेका [इकरारनामा] लिखा लाये हो। भला! तुम्हारे दुर्गुण छूट जायेंगे, तुम झूठ, प्रपंच, हिंसा, अमल, नशा से बच

जाओगे, तो तुम्हारी हानि होगी कि लोक-परलोक का सुधार होकर जीवन सुखमय हो जायगा। और भला! खाना-पीना, वस्त्र पहनना, ऐश-आराम करना छाजता है तो फिर अच्छे-अच्छे मार्ग पर चलना, ज्ञान, भक्ति, सत्संग धारण करना ही नहीं छाजता। ये सब मन की धोखेबाजी है।" रामजियावन—"हमारी समझ में तो नहीं आता कि भक्ति, संत-सेवा एवं ज्ञान आदि से लोक-परलोक सुधरता है।" महात्मा—"जैसे किसी को दिशाभ्रम हो जाय, तो दूसरे मनुष्य के ठीक-ठीक बतलाने पर भी विश्वास न पड़े कि पूरब इधर है किन्तु उसमें अज्ञान अपना ही है। अतएव दूसरे ठीक-ठीक बतलाने वाले के वचन पर अवश्य विश्वास करना चाहिये। वैसे ही अपनी बुद्धि उलटी हो जाने से भक्ति, सन्त-सेवा, सत्संग जो सर्व सुख के साधन हैं उनमें यदि मन न लगता हो, और कोई महात्मा-सज्जन इतने में भक्ति-सत्संग दृढ़ाने लगें तो उस पर विश्वास करना आवश्यक है। देखो! विश्राम सागर में लिखा है—

फिरते नरक परे नहिं प्रानी। जो गुरु वचन लेय फुर मानी॥

दो०—ब्रह्मा विष्णु महेश से, जो अधिकी होइ जाय।
गुरु बिन भवनिधि ना तारे, कहत निगम अस गाय॥

भक्ति हीन गुण सुख सब ऐसे। लवण बिना बहु व्यंजन जैसे॥

जिस घर, धन, कुल, कुटुम्ब के लिये पाप-पुण्य का विचार छोड़ कर अत्याचार करते हो;[1] ये सब क्षण में छूट जाने वाले हैं, रे जीव, चेत, देख!

कवित्त

घर धन बाजि छुटी सुख के सुसाज छुटी,
नारी सुत मित्र बन्धु सब छूटि जायेंगे।
वोहदा हुकूमत वो शान बान आन छुटी,
विद्या, बुद्धि छल बल सब भूलि जायेंगे॥

---

१ टि० दुखित सुखित होय कुटुम जेंवावैं। मरण बार यकसर दुख पावै॥
॥ बी० ॥

जौन मित्र बन्धु बहु प्यार सो करत रह्यो,
मरे बाद देखि के वे दूरि से डेरायेंगे।
अरे मूढ़ मति! एक भजन विचार बिन,
अभिलाष अन्त माहिं नर पछितायेंगे ॥ १ ॥

रामजियावन महात्मा की इतनी वाणी सुन कर हाथ जोड़ कहने लगा—"हे संत भगवन्! हमारे अज्ञान की पट्टी अब खुल रही है, आप का वचन हमारे लिये अमृत-सा हो गया। अब महाराज! इस वर्ष तो नहीं, किन्तु अगले वर्ष भक्त अवश्य हो जाऊँगा।" महात्मा---"हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं, चाहे जैसा करो, उपदेश करना हमारा धर्म था सो कर दिया।" इतना कह कर महात्मा चुप हो गये और रामजियावन महात्मा को नमस्कार कर घर जा रहा था। मार्ग में एक सज्जन मिला, वह बोला---"कहो रामजियावन! कहाँ थे?" रामजियावन अपना और संत का पूरा सम्वाद कह सुनाया; और यह भी कहा कि मैंने भक्त होने का तो निश्चय कर लिया है किन्तु इस वर्ष नहीं, बल्कि अगले वर्ष। सज्जन बोला---"वाह जी! वाह! एक घण्टा का चलाया नहीं जाता, आप अभी वर्षों जीने का भरोसा किये बैठे हैं; देखो—

दो०— "पल पहार की खबरि नहिं, धौं यामें क्या होय।
आगे की आशा करत, काल हँसत मुख मोय ॥
अस विचारि जे चतुर नर, करत न लावें वार।
नहिं जानों केहि घरी में, काल करे संहार ॥
(विश्राम सागर)

उस सज्जन का इतना वचन सुन कर रामजियावन के पूर्व पुण्य-शुभ-संस्कार जाग उठे, फिर तो शीघ्र जाकर गुरुभक्त हो गया और आज से शुद्ध आचार-विचार से रहने लगा। इसके अच्छे चाल-चलन से गाँव के ही नहीं, बल्कि आस-पास के मनुष्यों का सुधार हुआ। धन्य-धन्य गुरुभक्ति, सदाचरण और सत्संग की महिमा को।

शिक्षा---हे मनुष्यो! तुम भी चेत करो और शीघ्र गुरु शरण-ग्रहण करो आज-कल में खोओ मत।

सवैया—

आजहि काल्ह मैं छूटत जात, न टूटत मोह भयो कित अंघा।
ना कछु धर्म न भक्ति न संगत, हेतु कुटुम्ब धरचो शिर धंधा॥
पूत पतोह नतोह के मोह मैं, भूषण वस्त्र अनेक छछन्दा।
खोय दियो शठ अमृत जीवन, जानि मिल्यो नहि काल को फंदा॥ १॥
आँखिहिं देखत आयु गयी, पर शांति भई क्षण हूँ नहि तोहीं।
औरहिं और मैं दौरि मरचो, कब संतन संग कियो कहु मोहीं॥
आज तो सत्य दिखात सबै, घर दार पे अंत न कोइ क कोई।
जाहि को पूत कहो अपनो, मुख आगि लगावत अंत मैं सोई॥ २॥
चेतहु चेतन काहें अचेत, पड़े तुम गाफिल मोह निशा मैं।
पंथी हैं जोव सबै परिवार, सो आवत जात अनेक दिशा मैं॥
काहि को आपन मानि के भूलत, फूलत स्वप्न के द्रव्य हिसा मैं।
जानि न पावत नाटक खेल, घरा घरणी धन धाम पिसा मैं॥ ३॥
खेलत खात गयो दिन बालक, यौवन काम छछन्द विगोयो।
वृद्ध भयो तब हीलत काँपत, शक्ति विहीन पड़े मुख रोयो॥
मोक्ष बनावन देह मिलो तेहि, भोगन के अभिलाष मैं खोयो।
चेतो उठो अजहूँ नर गाफिल, काहे को भार धरे शिर ढोयो॥ ४॥

॥ भक्ति-महिमा शब्द ॥

भक्ति कि महिमा अपारा हो, जन जानहिं कोई॥ टेक॥
सेवरी नारि जाति कै भिल्लिन, भक्ति से गुण उजियारा हो॥ १॥
दासी पुत्र कहत सब नारद, भक्ति से ऋषि तन धारा हो॥ २॥
नाभा भक्त श्वपच कै देही, पूजित भक्ति अधारा हो॥ ३॥
बिनु गुरु भक्ति नरक परै प्राणी, पुनि जावै यम द्वारा हो॥ ४॥
बहुत जन्म कै भाग्य उदय जेहि, तेहि गुरु मिलहिं अधारा हो॥ ५॥
तन मन वचन शुद्ध भक्ती किये, सत्संगत गुरु द्वारा हो॥ ६॥
दुर्मति कुसँग सकल अघ नाशै, यम फन्दा निरुवारा हो॥ ७॥
कह अभिलाष भक्ति के कीन्हें, मिले मुक्ति निरधारा हो॥ ८॥

कौन लाभ इस जगत में, पचत रहै दिन रात।
शीघ्र परखि न्यारा रहो, नहिं इनमें कुशलात॥२१॥

टीका—धर्म-भक्ति, ज्ञान-विचार, क्षमा-संतोषादि परमार्थ एवं मोक्ष पथ को छोड़कर स्त्री-पुत्र-कुटुम्बियों तथा धन-धामादि के मात्र सम्हालने में पंच भौतिक सुखों में, एवं मान-प्रतिष्ठादि, इन्द्रिय-भोग, शरीर-ममता में, अर्थात् जहाँ तक कल्पित सुख माना गया है, ऐसे जगत् प्रपंचों में हे जीव ! जो तुम रात-दिन पच रहे हो, संसार के मोह, मानन्दी, हानि-लाभ, हर्ष-शोकादि की कल्पना में सोते, जागते सदा कष्टित होते रहते हो, तो बताओ इनमें तुम्हारा खास लाभ क्या है । कुछ नहीं । सभी दुःख पूर्ण, स्वप्नवत् छूटने वाले हैं । अतएव समस्त जगत्-प्रपंचों, मनःकल्पित सुखों, मोह-ममताओं से शीघ्रातिशीघ्र परख करके पृथक् हो रहो । इन मोह-माया प्रपंचों में जीव का किञ्चित् भी कल्याण नहीं है ॥ २ ॥

कुण्डलिया—

जग विकार चंचल अथिर, राग द्वेष को घेर ।
हे मन ! तहाँ न संच क्षण, दृष्टि करो नहिं फेर ॥
दृष्टि करो नहिं फेर, मन वशी जीव सभी हैं ।
हित अनहित कहुँ होत, अनहितू हितू कहीं हैं ॥
मन विलास नर फाँस लखि तजहु तोर अरु मेर ।
प्रमुदित सदा स्वरूप थिर, जग प्रपंच दुख केर ॥

"साखी—या दुनिया दो रोज की, मत कर यासो हेत ।
गुरु चरनन चित लाइये, जो पूरन सुख देत ॥ सा० ॥"

ध्येय लक्ष से कार्य सब, करत मनुष सब कोय ।
ध्येय बिना नाहिं मार्ग कोइ, चलत फिरत हैं जोय ॥२२॥

टीका—सभी मनुष्य जितने कर्तव्य करते हैं उनमें अपना कुछ लक्ष्य रखते हैं । कोई भी मार्ग-पंथ-सिद्धांत में जो मनुष्य चलते-फिरते एवं उनके आचरणों को धारण करते, वह किसी ध्येय के बिना नहीं । सारांश—ध्येय, समझ अनुकूल ही मनुष्य कर्तव्य करते और कर्तव्य अनुसार ही दुःख-सुख का भागी बनते रहते हैं ॥ २२ ॥

ताते प्रथमैं ध्येय को, शुद्ध करन कर्तव्य ।
निश्चय करै सुधार हित, छोड़ि सकल मन्तव्य ॥२३॥

टीका—अतएव मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि विवेकी सन्तों के सत्सङ्ग द्वारा अपने ध्येय को शुद्ध-सत्य-निर्विकार बनाने; और काम, क्रोध, लोभादि एवं माया मोह जनित सम्पूर्ण मन्तव्य निश्चय इच्छा-वासना को परित्याग कर अपने चंचल स्वभाव का सुधार करने के लिये तथा अपने आप को जन्मादिक दुःखों से मुक्त करने के लिये सत्य समझ दृढ़ करे ।।२३।।

दृष्टांतः— एक विद्यार्थी परीक्षामें फेल हो गया और शोकातुर हो अपने कमरे में चारपाई पर पड़ा-पड़ा मानसिक कष्ट का अनुभव कर रहा था। मन में भावनायें उठती थीं—"अब पढ़ना छोड़ दूँगा, अब पुनः मेरी सफलता की कोई आशा नहीं है।" इतने में क्या देखता है कि एक छोटी सी चींटी एक चावल को मुख में पकड़ कर दीवाल पर चढ़ रही है और अपने बिल में उस चावल को ले जाना चाहती है। किन्तु चावल के सहित चींटी बारम्बार दीवाल पर से गिर पड़ती है, परन्तु फिर भी वह उसे पकड़ कर दीवार पर चढ़ती है। इस प्रकार चींटी को चावल लेकर चढ़ते और गिरते पचासों बार हो गये, किन्तु चींटी का बल नहीं थकता है, साहस नहीं कम होता है। वह बारम्बार उसे लेकर के चढ़ती ही है। निदान एक बार चावल को लेकर दीवार पार करते हुए अपने बिल में पहुँच गयी।

इन दृश्यों को देखकर विद्यार्थी के मन में विवेक होने लगा—"जब तुच्छ चींटी में इतना साहस, इतनी निश्चय-शक्ति है कि वह पचासों बार की विफलता पर भी हार नहीं मानती अपने निश्चित कर्तव्य को कर ही लेती है तब मैं सर्वश्रेष्ठ मनुष्य होते हुए भी क्यों हार मानूँ!

इसका सारांश यहाँ यह लेना है कि निश्चय-उत्साह सहित साधक को साधन करते रहना चाहिये। पुरुषार्थ अनुसार विलम्ब-अविलम्ब शांति-मुक्ति मिल ही जायगी। लगन-उत्साह और निश्चय पूर्वक साधन पुरुषार्थ किये जायँ तो यह तो कोई शंका ही नहीं है कि मोक्ष न मिले। होने योग्य कार्य करने से क्यों न होगा?

मुमुक्षुओं को इन बातों का निश्चय सदा होना चाहिये-(१) लगन सहित दृढ़ पुरुषार्थ से मोक्ष अवश्य होगा (२) हमारा मुख्य कर्तव्य

स्वरूपस्थिति ही है। (३) शरीर में महान दुःख त्रयताप, परवशता, देह निर्वाह, सांसारिक प्राणियों के बीच में राग-द्वेष मिलन-वियोग आदि अनन्त कष्ट हैं। (४) शरीरादि सर्व दृश्य वर्गों से मैं अत्यन्त परे चैतन्य मात्र हूँ। (५) शरीरासक्ति ही हमारा काल है (६) शरीर अभी-अभी छुट जाने वाली वस्तु है।

साखी—"अवश्य होय भव पार वह, पार जो समझै जीव।
केवल निश्चय क्षीण है, निश्चय पलटि सो शीव॥" अवयान॥

पाप पुण्य दुइ कर्म हैं, जो जैसा करि लेय।
कर्म भूमिका देह नर, करने का जस ध्येय ॥२४॥

टीका:—देहधारी जीवों को शरीर धरने एवं सुख-दुःखादि भोगने के दो कर्म हेतु हैं; एक पाप, दूसरा पुण्य। हिंसा-परपीड़नादि पाप हैं, और दया, परोपकारादि पुण्य हैं, और कर्म करने का स्थान मनुष्य शरीर की जागृत अवस्था है। भले-बुरे संग-रंग तथा निज समझ अनुकूल पाप-पुण्य जैसा कर्म करने का निश्चय है, एवं जो जैसा शुभाशुभ कर्म कर लेता है, वह वैसा दुःख-सुखादि भोगता रहता है। यथा—

दोहा—"तुलसी या तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज हैं, बवै सो लुनै निदान ॥२४॥

निष्कामी साकाम जो, नर देहन के बीच।
गति मति तैसी जानिये, उत्तम मध्यम नीच ॥२५॥

टीका—मनुष्य शरीर धारियों के बीच में शुभ कर्म में भी निष्काम और सकाम[1] दो प्रकार कर्म करने वाले जीव होते हैं। अतः निष्काम सकाम जिस प्रकार जिसका आंतरिक ध्येय है, उसी प्रकार उस नर जीवों की शुभ कर्तव्यों में उत्तम, मध्यम, नीच इन तीन श्रेणियों में गति-मति

---

१ टि० स्त्री-पुत्र-सम्पत्ति कल्पित स्वर्ग लोकादि विषयानन्द की कामना हृदय में रखकर धर्म-कर्म, यज्ञ-दान, भक्ति-संत-ब्राह्मणादि की सेवा करनेवाले सकामी हैं। और लोक-परलोक सर्व विषयानन्द की कामना त्याग कर केवल मुक्ति के लिये धर्म-कर्म, दान संत-सेवादि तथा दया, क्षमा, विवेक, वैराग्यादि साधन करने वाले निष्कामी हैं।

अर्थात् क्रिया-बुद्धि ढालू है। भाव—शुभ मार्ग में अपने संस्कार तथा पुरुषार्थ द्वारा कोई मंद कोई तीव्र कोई तीव्रतर रूप से हैं ॥२५॥

दृश्यमान प्रत्यच्छ सो, त्रिविध ताप जग भोग।
दुखी सुखी लघु दीर्घ अति, कर्म संग जस योग ॥२६॥

टीका:—प्रथम नर शरीर के सकाम शुभाशुभ कर्तव्यानुसार प्रारब्ध शरीर का निर्माण हो-हो कर बारम्बार विषय के अल्प भ्रम-सुख और दैहिक, दैविक, भौतिक इन त्रिविध तापों को जगत् जीव भोगते रहते हैं। वह सबको प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। कोई दुखी है, कोई सुखी है, कोई लघु अर्थात् धन-बल विद्या-बुद्धि-हीन तथा अन्य तीनों खानियों की छोटी-छोटी देहें धारण करते, और कोई दीर्घ नाम धन-बल विद्या-बुद्धि में अत्यन्त श्रेष्ठ एवं अन्य तीन खानियों के हाथी-ऊँटादि बड़े-बड़े शरीरों को धारण करते, अर्थात् शुभ-अशुभ जो-जो कर्तव्य नर शरीर में कर लिया गया है, उन कर्मों से जीव का सदा संग बना रहता है, और जैसे-जैसे कर्म-फल भोगने की योग्यता पड़ती है, वैसे-वैसे प्रारब्ध शरीर का निर्माण हो-हो कर सुख-दुःखादि भोग होते रहते हैं। अतएव जीव के सुख-दुःख एवं मोक्ष में केवल जीव का पुरुषार्थ ही कारण है। यथा श्लोक—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत् फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अर्थः—जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं फल भोगता है तथा स्वयं अज्ञान-वश संसार में भ्रमता है और अज्ञान त्याग कर स्वयं मुक्त भी हो जाता है

दोहा:—कर्म करै खुद जीव ही, पुनि फल भोगे आप।
जड़ में सत्ता दे भ्रमत, तेहि तजि मुक्ति रहाप॥ २६॥

वर्तमान प्रारब्ध जस, दुख सुख तस संयोग।
क्रियामान संचित सहित, भोग होन के योग ॥२७॥

टीका:—प्रारब्ध रूप आज जो ये स्थूल शरीर प्राप्त है, यह पहले नर के शुभाशुभ रूप संचित कर्मों में का भाग है। अर्थात् जैसे हम शुभाशुभ

कर्म प्रारब्ध में कमाये थे, वैसे ही आज हमें प्रारब्ध रूप में दुःख-सुख का संयोग मिलता है। जैसे जो वर्तमान में चोरी, व्यभिचार करता उसे कारावास, दण्ड, मार का संयोग, और विचारवान को अनेकों सद्गुण-द्वारा मानसिक शान्ति सज्जन एवं मान आदि का संयोग पड़ता है। वैसे कालान्तर के शुभाशुभ संस्काराधीन आज दुःख-सुख की प्राप्ति होना निश्चित है। पुनः जैसे आज क्रियमाण अर्थात् शुभाशुभ कर्तव्य कामना युक्त किया जायगा वैसे ही अनेक जन्मों से अध्यस्त चार खानियों के घटाध्यास में से जिनकी योग्यता होगी वे, और तद्नुसार ही कर्म भोग बाकी रूप संचित उदय होकर आगे देह धराने के एवं प्रारब्ध भोग भोगने के कारण होंगे ॥ २७ ॥

प्रसंग ३— केवल क्रियमाण त्याग से त्रयकर्म विनाश

बोध प्राप्त अपरोक्ष जेहिं, क्रियामान नहिं कोय ।
संस्कार संचित शमन, बीज भून वत् सोय ॥२८॥

टीका:—जिन्हें स्वरूपज्ञान की अपरोक्षता हुई है, उनसे विषयासक्ति युक्त कोई कर्म नहीं होता और उनके अनादि काल से संचित संस्कार, ज्ञान-वैराग्य से उसी प्रकार जल जाते हैं जैसे गेहूँ आदि के दाने आग में भून दिये जाते हैं ॥२८॥

व्याख्या:—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, शून्य-आकाश, पंचविषय, पिण्ड-ब्रह्माण्ड एवं मन-बुद्धि वाणी से भिन्न; कर्ता-कारण-कार्य, व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी, तथा सम्पूर्ण कल्पित मत-पथ-सिद्धान्तों का साक्षी; सबसे परे-खरे शुद्ध-बुद्ध, अजर, अमर, असंग, नित्य, शाश्वत, एकरस; सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों एवं इस दावानल क्षणभंगुर संसार से सर्वथा अत्यंत दूर, केवल विषय-वासना-देहाध्यास-वश जन्म-मरण चक्र में भ्रमता हुआ, वासना देहाभिमान त्याग कर सदा विदेह मुक्त चैतन्य पारख स्वरूप मैं हूँ। अर्थात् न मैं देह हूँ न यह मेरी देह है, इन सर्व देहादि दृश्य प्रपंचों से रहित मैं केवल शुद्ध ज्ञान पारख स्वरूप हूँ, ऐसा अपरोक्ष बोध जिन्हें प्राप्त है, एवं ऐसा जानकर प्रारब्ध शरीर तक दया, क्षमा, सत्य, संतोष, विवेक, वैराग्यादि सद्रहस्य संयुक्त संसार पंच विषय शरीरादि के स्नेह को तृणवत् अभाव कर सदाकाल जो अपने

ज्ञान स्वरूप में हर्ष-शोकादि रहित संतुष्ट एवं स्थिर हैं; ऐसे पुरुष के लिये स्त्री में, गृह, धन-सम्बन्धियों में, पंच विषय-भोगों में कल्पित देवी-देव, ईश-ब्रह्म एवं स्वर्गादि में पंच विषय दृश्य पिण्ड-ब्रह्माण्ड में, त्रय अवस्था, त्रयपन संयुक्त शरीर में, मन-वाणी, गुण-स्वभाव एवं सर्व भासमान में, सुख मानना रूपी क्रियमाण (आगामी) कर्म नष्ट हो गये हैं। यहाँ तक कि हंस रहनी सद्गुण, अनुभव ज्ञान तक के सूक्ष्म अहंकार एवं अष्ट मद रूपी कोई भी कर्म नहीं रह गये सभी बिलकुल विनष्ट हो गये हैं। ऐसी दृढ़ अखण्ड स्थिति धारणा में अनादि काल के जड़ संस्कार-देहासक्ति एवं अनेक नर देहों के भोग बिना रहे हुए शुभाशुभ कर्म रूपी संचितों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे गेहूँ चने आदि के बीज को अग्नि में सेंक देने से उसकी फिर से जामने की शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे बोध-वैराग्य एकरस स्थिति साज रूपी तेज से सर्व क्रियमाण-संचित कर्म रूपी बीज दग्ध हो जाते हैं।

प्रश्न—विषयों में सुख मानना रूपी क्रियमाण कर्म तो आप बन्द कर दिये इससे अब शुभाशुभ नवीन कर्म न बनेंगे; किन्तु जो अनेक नर देहों के कर्म फल संचित भोगने से बाकी हैं उनको तो अवश्य भोगना पड़ेगा ?

उत्तर:—जैसे कोई किसान खेती करने में दुःख समझा, तो उसने धरे हुए बीज को जला दिया और शेष अन्न जो खाने के लिये था उसको धीरे-धीरे खा लिया, पुनः खेती करने की इच्छा नहीं और खेती का काय करता भी नहीं। अब भला बतलाइये ! उसकी खेती नष्ट होने में क्या विलम्ब है ? इसी प्रकार जीव को बोध हो गया कि देह धरना-छोड़ना रूपी खेती बड़ा दुःखकारक है, अतः जन्म-मरण हेतु कर्तव्य अब मैं नहीं करूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय कर विषयों में सुख मानना और भोगना रूपी क्रियमाण कर्म बन्द कर दिया और बोध-वैराग्यादि बल से संचित अभाव हो गये, पुनः प्रारब्ध भोग भोग कर समाप्त कर देने के पश्चात् जीव स्वतः आप ही है।

प्रश्न---क्या क्रियमाण न होते हुए भी केवल संचित कर्म देह नहीं धरा सकते ?

उत्तर—आप क्रियमाण नाश होने पर भी संचित कर्म को जन्मादिक का हेतु कहते हैं, इसलिये संचित-क्रियमाण कर्म आदि का कैसे नाश होता है, इसका अभी आप को सच्चा बोध ही नहीं है।

प्रश्न—तो बतलाइये ?

उत्तर—देखिये ! मुख्य संचित सुखाध्यास है। सुखाध्यास करके ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, आशा, तृष्णा, एवं हानि-लाभादि के अनेक सकाम भावनायें अन्तःकरण में उठा करती हैं। ये काम-क्रोधादि युक्त कर्म ही क्रियमाण हैं। जिसे आप कहते हैं कि क्रियमाण तो बन्द हो गया किन्तु संचित पुनः देह धरायेगा, तो भला! बिना घट सुखाध्यास-पंच विषयासक्ति नाश हुए और सम्पूर्ण काम-क्रोधादि से रहित हुए क्रियमाण कर्म कब बन्द होने लगेगा ? अतः जैसे-जैसे मुख्य संचित रूप घटाध्यास-विषयहन्ता बन्द होती जायगी, वैसे-वैसे क्रियमाण रुकते जायँगे; और जैसे-जैसे क्रियमाण रुकते जायँगे, वैसे-वैसे बाकी घटाध्यास-जड़ाध्यास रूपी संचितों को उखाड़ने में जीव सबल होता जायेगा। पुनः सर्वथा जड़ाध्यास रूप संचितों का अभाव होकर क्रियमाण जब बिलकुल बन्द हो जायेंगे, और बोधवान् जीव इन्द्रिय-मन के खिचाव रहित सदा स्वरूपस्थिति में सावधान रहेंगे, यही धारणा एकरस रहने से वह जीवन्मुक्त कहलायेगा। पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सुखाभास एवं इन्द्रियमन के सर्वथा खिचाव रहित आप-आप स्थित रहना यही जीवन्मुक्ति की सीमा है। फिर उन पुरुष का चाहे जब, जहाँ शरीर छूट जाय, चाहे आनन्द से छूटे या कष्ट से, देह की कोई भी परिस्थिति हो, उनको पुनः देह धराने वाले कर्म नहीं हैं।

प्रश्नः—आप केवल घटाध्यास काम-क्रोधादि को ही संचित मानते हैं, पर मैं तो पूर्व के भोग से बाकी रहे हुए शुभाशुभ कर्म-फलों को भी संचित मानता हूँ। मैं भी यह मानता हूँ कि घटाध्यास-विषयासक्ति

नष्ट हो जायेगी तभी क्रियमाण कर्म रुकेंगे; किन्तु पूर्व कर्म-फल रूप संचितों को तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

उत्तरः— जैसे मान लीजिये ! आम या गेहूँ चने आदि के बीज में उगने वाला जो मुख्य अंकुर है, उसे काट कर फेंक देने से क्या आम की गुठली एवं गेहूँ चने आदि के बीच का दल-पिसान (आटा) उग सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार देह धराने वाले संचित कर्म रूपी बीज का अथवा संचित का मुख्य अंकुर घटाध्यास काम-क्रोधादि है, उसे तो स्वरूप बोध एवं वैराग्य रूपी तीव्र खड्ग से काट कर फेंक दिया गया। अब बाकी बचे हुए बीज का दल व आटा रूप पूर्व शुभाशुभ कर्म-फल रूप संचित क्या देह धरा सकते हैं ! यानी कभी नहीं। अतः मुख्य संचित घटाध्यास ही है। हाँ ! पूर्व के भोग से बाकी रहे हुए कर्म भी संचित हैं, किन्तु अंकुर रूप घटाध्यास टूट जाने से बीच का दल रूप कर्म संचित देह नहीं धरा सकते, क्योंकि जीव के सामने कोई सुख मानना रूप क्रियमाण कर्म नहीं है। अतएव सर्व जड़ाध्यास सर्वथा विनाश होने पर बोध-निष्ठ जीव का स्वतः स्वरूप छोड़ कर बाह्य जगत में कहीं लक्ष्य न होने से प्रारब्धांत में पूर्व के शुभाशुभ संचित जीव के सामने नहीं आ सकते। इसलिये शरीर शांत होते-होते प्रारब्ध अथवा संचित आदि सर्व कर्म ग्रन्थियाँ पूर्ण ध्वंस होकर बोध-निष्ठ जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीर एवं जड़ जगत के सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से सर्वथा निवृत होकर गमनागमन रहित शुद्ध विदेह पारख स्वरूप सदा के लिये ठहर जायगा। यह दृढ़ निश्चय है।

प्रश्न :— हाँ ! यह बात तो समझ गये कि मुख्य संचित घटाध्यास-विषयहंता ही है, इसके नष्ट होने से पूर्व के बाकी शुभाशुभ कर्म रूपी संचित बोधवान को पुनः देह नहीं धरा सकते, किन्तु घटाध्यास तो चारों खानियों के गुप्त रूप अन्तःकरण में पड़े हैं, फिर केवल नर-शरीर के घटाध्यास को ही नाश कर क्यों आप अपने को मुक्त मानते हैं ? त्रय खानियों के घटाध्यासों को आप नहीं नाश कर

पायेंगे; क्योंकि वे संकल्प रूप में सम्मुख नहीं हैं। अतः फिर से देह धरना पड़ेगा।

जैसे कोई राजा अपना राज्य त्याग कर वैराग्य धारण कर लिया और सर्वथा राज्यकोष अथवा पृथ्वी आदि का उसने राग त्याग दिया। उसके प्रथम बहुत से ग्राम, दफ्तर, खेत-खजाना मकान में बहुत कोठरियाँ एवं वस्त्र आदि थे, तो उसने जब राज्य का राग त्यागा है तब एक-एक कोठरी, मकान एवं घोड़ा-हाथी, ग्राम, दफ्तर आदि का बारी-बारी राग त्यागा है कि एकदम सम्पूर्ण राज्य का एकही बार राग त्यागा है अर्थात् एकही बार त्यागा है। आपको कोई वस्त्र त्यागना है— तो उसके प्रत्येक तंतु का एक-एक बार राग त्यागेंगे, कि एक ही बार सम्पूर्ण कपड़े को ही अभाव कर देंगे! अर्थात् तंतु-तंतु का एक-एक बार राग नहीं त्यागा जाता, बल्कि एक ही बार उसका मोह त्यागकर फेंक दिया जाता है। वैसे ही नर-घटाध्यास रूपी वस्त्र में त्रय खानियों के घटाध्यास रूपी तंतु भी मिले हैं। अतः केवल नर-शरीराध्यास रूपी वस्त्र ज्ञानाग्नि में जला देने से त्रयखानियों के घटाध्यास रूपी तंतु भी जल जाते हैं। क्योंकि सर्व घटाध्यास नर-घटाध्यास में लीन हैं। इसी से नर-शरीर कर्म-भूमिका और कर्म-विनाश भूमिका भी कहा गया है। जंक्शन की पटरी उखाड़ देने से फुटकल स्टेशनों पर गाड़ी कभी नहीं जा सकती। अतः नर-घटाध्यास नष्ट होने से सर्व घटाध्यास नष्ट जानो। पुनः यह भी समझना चाहिये कि चारों खानियों में पंच विषय सुख मानना एक समान है, इसलिये चारों खानियों की देहों का धारण करने में पंच विषयासक्ति ही कारण है। अतः कर्म भूमि नर देह में पंच विषयासक्ति त्याग देने के पश्चात् चार खानियों में पुनः जाने का कोई भी कर्म बीज नहीं बचता। इसके विषय में सद्गुरु श्री विशाल साहिब कहते हैं—

साखी—"वर्तमान आसक्ति जस, नर देही की छूटि।
तैसहिं जानो कल्प शत, सब देहन की टूटि॥ १॥

पंच विषय सुख एक है, जहँ तक खानिन भोग।
तेहि हित करते कर्म नर, भोगत सबहीं लोग ॥ २ ॥
यहि से पृथक न कर्म कोइ, नहिं काहू से नेह।
ध्वंस भये यहि के नहीं, पुनः देह को गेह ॥ ३ ॥
(मुक्तिद्वार)

सारांश—पहले जन्म का या इस जन्म का प्रथम का कामी-क्रोधी कैसा भी हो; किन्तु गुरु शरण ग्रहण कर तीव्र बोध, वैराग्य, सद्उपासना पूर्वक सर्व हंस रहनी की एकरस धारणा से उसके संचित-क्रियमाण दोनों कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध तो भोग कर एक दिन स्वयं समाप्त हो जाता है, फिर बोधनिष्ठ जीव सर्वदा के लिये निराधार विदेह मुक्त हो जाते हैं, सोई बनाना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

सो पुरुषार्थ यथार्थ बल, सत्संगति अति जोर।
श्रवण मनन अभ्यास युत, करत रहै निज गौर ॥२९॥

टीकाः—उपर्युक्त त्रयकर्म विनाश पूर्वक एकरस स्वरूपस्थिति जीवन पर्यन्त तब बनी रहेगी जब हम उस धारणा निमित्त भक्ति, बोध, वैराग्यादि सद्पुरुषार्थों में लीन होकर तन, मन, बचन से संसार शरीर को पूर्ण अभाव कर दृढ़ स्वरूप निश्चयता की ही ओर एक स्वर से चलेंगे और वैराग्यवान् विवेकी सन्तों का जब अत्यंत प्रबल सत्संग होगा, युक्ति-प्रयुक्ति स्वरूपस्थिति में ही बुद्धि रखेंगे, सद्शिक्षा श्रवण, पुनः मनन एवं तदनुसार स्वरूप विवेक के प्रबल अभ्यास युक्त अपने अविकार स्वरूप को सदा काल चिन्तन करते रहेंगे ॥ २९॥

ठहरि रहै निज रूप में, नहीं क्रिया कछु शेष।
दया छमादि रहस्य युत, जहाँ न संशय लेश ॥३०॥

टीकाः—जो समस्त सांसारिक कामनाओं को छोड़ कर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसको कुछ करना बाकी नहीं रहता। वहाँ दया, क्षमा, सत्य, विचारादि संयुक्त निःसंदेह स्वरूप ज्ञान का आलोक है ॥ ३० ॥

व्याख्या :— जड़ संयोग का वियोग कर देना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है। जब द्रष्टा जड़ की आसक्ति को छोड़ देता है, तब वह अपने आप से अविचल भाव से प्रतिष्ठित हो जाता है; और जो अपने आप में मग्न हो गया उसको क्या करना शेष रहा ? गीता भी यही कहती है कि जो अपने आप में प्रेम करता, अपने आप में संतुष्ट और तृप्त होता उसको कुछ करना शेष नहीं रहता है (गीता ३।१७)

सवैया

जाके न आश न रोष हिये, कछु देह सनेह से निश्य परे हैं।
सत्य अखण्ड अनूप स्वरूप में, शांत सदा निज वृत्ति करे हैं॥
पंच विषय बहु मानन रूप जो, कर्म को बीज सुखाश जरे हैं।
सो उपमा अब काह कहौं, अभिलाष विलास स्वरूप खरे हैं॥३०॥

क्षुधा तृषा सम चाह जिमि, छूटन को अभिलाष।
साहस युत प्रयत्न करि, तृप्त होन की आश ॥३१॥

टीका:—भूख-प्यास निवृत्ति के लिये जैसे अन्न जल की प्रबल इच्छा होती है, वैसे ही यदि आवागमन के घोर कष्टों से सदा के लिये मुक्त होने की तीव्र इच्छा हो जाय और साहस एवं वीरता पूर्वक विवेक-वैराग्यादि सद्प्रयत्न करे, तो जीव की पूर्ण तृप्त होने की आशा पूरी हो जाय ॥३१॥

रोग हेतु जिमि औषधी, फिक्र प्रहेज अनेक।
करत रहै निशि दिन वही, शुद्ध हेतु गहि टेक ॥३२॥

टीका:—जैसे रोग-निवृत्ति के लिये औषधि की जाती है और "हमारा रोग कब दूर होगा" ऐसी प्रतिक्षण चिन्ता होती रहती है अनेकों प्रकार से कठिन-से-कठिन संयम किये जाते हैं; एवं रोग निवृत्त पूर्वक स्वास्थ्य शुद्ध होने के लिये मनुष्य दृढ़ता धारण कर वही रोग-निवृत्तिक कर्तव्य ही रात-दिन करता रहता है ॥ ३२ ॥

सजग रहै इमि जीव जो, नहिं आलस मन माहिं।
होय स्वच्छ आरोग्य नित, जीव स्वतंत्रहि ताहिं ॥३३॥

टीका:—उपर्युक्त प्रकार से जो साधक मन के समस्त आलस्यों को छोड़कर मन-इन्द्रिय-वासनाओं से सावधान रहता है, वह दिन-प्रतिदिन वासनात्मक जाल से छूटकर निर्मल और निरोग होता जाता है; क्योंकि जीव वासनाओं को ग्रहण करने और छोड़ने में स्वतंत्र है ॥ ३३ ॥

व्याख्या :—साधक को चाहिये कि वह अपने को वासना-रोग से ग्रसित समझे और उसे सर्वथा दूर करने के लिये बोध, वैराग्य, भक्ति आदि रूप औषध तथा विषय त्याग रूप संयम करे। यह वासनात्मक जीवन भयंकर, कष्टप्रद, घृणित और क्षणभंगुर है; अतः इससे ऊपर उठकर स्वस्थ स्वरूपस्थ अवस्था प्राप्त करना चाहिये।

भक्ति हेतु सत्संग बल, श्रद्धा युत कोइ जीव।
गुरु पारख पर थीर ह्वै, परख रूप सोइ शीव ॥३४॥

टीका:—वैराग्यवान् गुरु-सन्तों के प्रति भक्ति और उनके सत्सङ्ग की शक्ति—ये कल्याण-प्राप्ति के दो मुख्य कारण हैं। यदि कोई मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक उपर्युक्त भक्ति-सत्सङ्ग में लगेगा, तो वह गुरु पारख बोध (स्वस्वरूप) में स्थित हो जायगा, स्वरूपज्ञान-मग्न पुरुष ही शिवस्वरूप, अर्थात् कल्याण रूप है ॥ ३४ ॥

निज अनुभव गुरु युक्ति से, लेट पेट कोइ पार।
फिर नहिं जाय कुठाँव अस, ऐसा गुरू विचार ॥३५॥

टीका:—अपने अनुभव तथा सद्गुरु के युक्ति सहारा से कोई साधक किसी प्रकार संसार-बन्धनों को पार कर जाते हैं। वे उन बन्धनों को पुनः नहीं ग्रहण करते इस प्रकार गुरु का विचार है ॥ ३५ ॥

व्याख्या :—बोध-वैराग्य का विरह-भावना पूर्वक अभ्यास करने से साधक का अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन स्वच्छ होता जाता है और उसकी देहासक्ति तथा विषयासक्ति क्षीण होती जाती है। आसक्तिहीन तथा स्वरूपज्ञान-निष्ठ पुरुष का अन्तःकरण दिव्य हो जाता है; अतः अवशेष जीवन के प्रतिदिन की घटनाओं, परिस्थितियों, प्राणी-पदार्थों, स्मरण-वासनाओं के प्रभाओं से अपने आप को पृथक रखने में वे पुरुष अनुभव

सिद्ध एवं कुशल हो जाते हैं। इस प्रकार स्वानुभव तथा गुरु-सत्संग के आधार से कोई शूरवीर पुरुष भव बन्धनों को उलंघन कर जाते हैं।

निज स्वरूप अपनाय, मुख्य काज यह जीव को।
संशय सकल नशाय, विलग रहै सबसे सदा ॥३६॥

टीका:—सारे अज्ञानों का नाश करके, सदैव सर्व दृश्य वर्गों से पृथक स्व-स्वरूपज्ञान में ही स्थित रहे—मनुष्य का यही परम कर्तव्य है ॥ ३६ ॥

व्याख्या :— सांसारिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा, देहाभिमान तथा पिण्ड-ब्रह्माण्ड का राग त्याग करके स्वस्वरूपस्थिति ही में साधक को मग्न होना चाहिये। इसके लिये मन का ढील-ढालपन, सन्देह तथा दुर्बलताओं का त्याग करे तथा धीर-वीर बन कर सत्संग-द्वारा आत्म-बल का अर्जन करे। अपना स्वस्वरूप इस प्रकार है :—

अजर अमर मैं तो अचल अनादि सत्य,
ज्ञान रूप जीव नित्य रहित विकार हूँ।
हाड़ माँस मल मूत्र देह को जनैया मैं तो,
गाड़ी गाड़ीवान न्याय देह से निनार हूँ॥
अंश हूँ न अंशी हूँ न माय बाप मेरे कोई,
प्राण और तत्त्व शक्ति सबहीं से न्यार हूँ।
ज्ञान वर्ण, ज्ञान रूप, ज्ञान धर्म, ज्ञान मात्र,
सबके जनैया मैं तो सबहीं से पार हूँ॥

गड़े जीव सब जाहिं, पंच विषय दल दल अहै।
तस तस धँसते ताहिं, बिन विचार निकसन चहत ॥३७॥

टीका:—पंच विषय- भोगों की आसक्ति ही गीली पृथ्वी के समान है इसमें सर्व भूले जीव धँसे चले जाते हैं। अज्ञानी जीव पंच-भोगों को भोग-भोग कर जैसे-जैसे दुःखों से निकलना चाहते हैं, वैसे-वैसे भूल और उल्टी क्रिया-वश पंच विषय भोगासक्ति माया-मोह रूपी दुःख- दलदल में उल्टे धँसते जाते हैं; क्योंकि वे बिना गुरु-विचार के दुखों से निकलना चाहते हैं ॥ ३७ ॥

प्रसंग ४—स्वार्थ-परमार्थ का तौल, गुरु पद दृढ़ प्रीति प्रतिपादन।

चर्म नेत्र अरु नाक ज्यों, जिह्वा कान सनेह।
प्रेम सदा तस गुरुहिं पद, तज कर सकल मनेह ॥३८॥

टीका :— अबोध दशा में त्वचा से कोमलाङ्गी नवयुवती के स्पर्श में, नेत्रों से लावण्य-सौंदर्य मय नर-नारियों के रूपों में, नाक से सुगंध में, जिह्वा से षट-रसों में, एवं कान से रसीले निज मान-बड़ाई के शब्दों में, जैसे जीवों का दृढ़ स्नेह रहता है, यदि इसी प्रकार उपर्युक्त क्रिया को उल्टा कर अर्थात् सम्पूर्ण मानन्दी पंच विषयासक्ति को सर्वथा त्याग कर श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में प्रेम करे अथवा अपने अविनाशी निर्विकार शुद्ध चैतन्य में दृढ़ प्रेम, दृढ़ आसक्ति सदा एकरस हो जाय तो यह जीव निःसंदेह जीवन्मुक्ति पद में प्रतिष्ठित हो जाय ॥ ३८ ॥

शिक्षा— जैसे मनुष्य सड़े फल को निरर्थक समझ कर त्याग देता है, और जैसे हर समय बिना रोक-टोक अपने शारीरिक नाम-रूप का निःसंदेह सबको ज्ञान रहता है, वैसे ही सड़े फल-वत् इस तुच्छ संसार-शरीरादि को हृदय से सर्वथा त्यागे हुए हर समय-हर क्षण निःसंदेह अपने अविनाशी स्वरूप के ज्ञान-मान में संतुष्ट पुरुष जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। हे मन! वही पद धारण करो।

नहिं साथी कोइ जगत में, जिन को मानि भुलाय।
निज निज स्वारथ तक सभी, प्रीति करैं मन लाय ॥३९॥

टीका :— जिन को तुम अपना हित-मित्र, स्त्री-पुत्र, कुल-कुटुम्ब-समाज एवं दास-दासी मान कर धर्म-भक्ति सत् साधन से रहित होकर इस झूठे जगत् में भूल रहे हो संसार में वे अपना कोई वास्तविक साथी नहीं हैं। केवल अपने-अपने स्वार्थ के लिये ही सब कोई तुम से मन लगा कर प्रेम करते हैं ॥ ३९ ॥

व्याख्या :— इस असार संसार में कोई किसी का सच्चा साथी नहीं है। सब अपने-अपने स्वार्थ के सगे हैं। किसी के दो दिन के झूठे प्रेम में भूलना नहीं चाहिये। इस मनवशी और माया-मय संसार का

झूठा कल्पित प्रेम एवं सुख ही अशान्ति, क्लेश तथा जन्मादिकों का कारण है। हे जीव! मोह-पट्टी खोल। जगत् निःसार जान, मोक्ष-दाता विवेकी संत-गुरु के चरणों में प्रेम कर।

दृष्टांत — एक महात्मा के पास जगजीवन नाम का एक लड़का नित्य सत्संग में आया करता था। उसे धीरे-धीरे सत्संग के अधिक अंग ज्ञात हो गये थे। इधर जगजीवन के माता-पिता लड़के को सत्संग में आते-जाते देख कर संताप में जलने लगे। एक दिन जगजीवन के माता-पिता विचार करने लगे कि लड़का संतों की संगति से बिगड़ जायगा; अतः इसकी स्त्री को शीघ्र ले आना चाहिये। अब क्या था, शीघ्र ही जगजीवन के ससुराल में पत्र भेज कर और तिथि-मिति निश्चित करा कर उसकी पत्नी को ला के घर में उपस्थित कर दिये, और घर वाले (माता-पितादि) बहू को सावधान कर दिये कि तुम्हारा पति संतों के सत्संग में नित्य जाता रहता है यदि इसको किसी प्रकार सत्संग से विमुख न करोगी, तो यह एक दिन न एक दिन साधु अवश्य हो जायगा। बहू ने सोचा कि अब किसी प्रकार छल-बल करके इसे सत्संग से अवश्य रोक कर अपने वश करना है। एक दिन जगजीवन बारह बजे रात्रि व्यतीत होने पर सत्संग से घर पर आया। पुरुष के आते ही स्त्री जाकर उससे लिपट गयी, और कहने लगी — हे प्राण नाथ! आप के बिना हमें रात्रि को डर लगता है। अतः हमसे नहीं रहा जाता और आप का वियोग सहना भी हमारे स्वभाव के विरुद्ध है। इस प्रकार कहती हुई विविध नकलझप्पों से पुरुष को मोहित कर लिया। अब जगजीवन रात को सत्संग में आना-जाना छोड़ कर केवल दिन ही में एक-आध घंटा के लिये चला जाता। एक दिन जगजीवन से अधीर होकर बहू कहने लगी—हे जीवन आधार! एक मात्र प्राण प्रिय! इस अनुचरी के पति! आप के बिना रात-दिन में हमें एक क्षण भी काटना दुस्तर हो जाता है। मैं यही चाहती हूँ कि आप एक पल भी हमारी दृष्टि के वोट न होवें। इस प्रकार अति प्रेम भरी वाणी सुन

कर पुरुष दीप पतंग वत् स्त्री में विमोहित हो गया। अब धीरे-धीरे जगजीवन की स्त्री में दृढ़ आसक्ति ग्रन्थि पुष्ट हो गयी; और सत्संग में आना-जाना तो बिलकुल भूल सा गया। सच है—

कामिनि नैन लागि जेहि तीरा। हृदय बिमोहित भयो अधीरा॥
मात पिता गुरु धर्म से छूटे। संत भक्ति से प्रियता टूटे॥
देय तिलांजलि सद्ग्रन्थन कहँ। रहै नारि नीको लागै तहँ।
जहँ देखै तहँ भामिनि भावे। तेहि तजि ताहि खार दर्शावे॥

दो०— जेहि दिन से हृदया गड़यो, नारि विषय कर काँट।
सत्संगत रंगत गयो, पुनः विषय विष चाँट॥

इस प्रकार व्यतीत करते हुए एक दिन जगजीवन भूला भटका कोई कारण वश महात्मा के पास जा पहुँचा। महात्माजी जगजीवन को देख कर बोले—"कहो भइया! इस समय सत्संग में क्यों नहीं आते?" जगजीवन—"क्या करूँ महाराज! समय नहीं मिलता।" महात्मा—"नहीं-नहीं, समय तो अवश्य मिलता होगा, सच-सच बतलाओ सत्संग में न आने का मुख्य कारण क्या है?" जगजीवन—"हमारी स्त्री जब से आयी है हमारा बहुत प्रेम करती है यहाँ तक कि हमारे बिना रात-दिन एवं चौबीसों घण्टे में उससे एक क्षण भी नहीं रहा जाता।" महात्मा—"हमें विश्वास नहीं पड़ता, कि तुमसे तुम्हारी स्त्री सत्य प्रेम करती होगी, क्योंकि संसार के सर्व प्राणी अपने-अपने स्वार्थ के मीत हैं।" जगजीवन—"नहीं-नहीं सरकार! हमारी स्त्री, अन्य स्त्रियों में से नहीं है, वह अपने प्राणों से भी विशेष प्रेम हम से करती है, और माता-पिता भी हमें अपनी आँखों की पुतली समझते हैं।" महात्मा—"मैं तुम्हारी इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि सम्पूर्ण मन-वशी जीव बिना अपने स्वार्थ के किसी से प्रेम कर ही नहीं सकते। यदि तुम्हें विश्वास न पड़े तो परीक्षा कर लो।" जगजीवन—"कैसे परिक्षा करूँ?" महात्मा—"देखो! एक युक्ति मैं बतलाता हूँ जब तुम घर पर जाना

तो कह देना कि हमारे पेट में पीड़ा हो रही है। धीरे-धीरे अपने दुःख को विशेष बतलाते जाना रात भर इसी प्रकार बिता कर प्रातःकाल श्वासा चढ़ा कर मरा ऐसा हो जाना तब तक मैं भी आऊँगा, और जब मैं तुम्हारा हाथ पकड़ कर उठाऊँगा, तब उठ पड़ना।" जगजीवन—"बहुत अच्छा।" जगजीवन गया और घर पर स्त्री तथा माता-पितादि से कहने लगा कि "हमारे पेट में पीड़ा हो रही है।" निदान रात में दुःख बढ़ते गया। प्रातःकाल होते ही महात्मा की बतलायी हुई युक्ति से श्वासा चढ़ा कर मृतक-सा हो गया। ऐसा देख कर माता-पितादि सब रोने लगे स्त्री तो आकर बड़े जोरों से विलाप करने लगी। इतने में महात्मा आ गये और कहने लगे—"तुम लोग क्यों रोते हो? रोवो मत; अरे! यह तो जन्मना-मरना संसार का खेल है।" रोने वाले आकर महात्मा का पाँव पकड़ कर और विशेष रोने लगे और कहने लगे—"हे महात्मन्! हमारे बस, एक ही अकेला पुत्र था। हाय! आँखों का तारा तुम कहाँ गया? ऐसा कोई नहीं है कि हमारा प्राण ले लेता और हमारे प्यारे पुत्र को जिला देता।" स्त्री कहती—"हे भगवन्! हमें मृत्यु दे दो और हमारे प्राण नाथ को जिला दो; अहो-हाय! मैं विष खा कर मर जाऊँगी किन्तु अपने प्राण प्यारे बिना न रहूँगी।" महात्मा—"तुम सब रोवो मत, हम इसे अभी जिलाये देते हैं, किन्तु ....।" वे सब कहने लगे—"हे संत भगवन्! 'किन्तु' क्या, आप महात्मन् जो कुछ करने को कहें हम सब करेंगे, परन्तु इस प्राण प्यारे को जिला दो।" महात्मा एक बनावटी विष की पुड़िया निकाल कर दिखलाते हुए बोले—देखो, इस विष की पुड़िया को कोई भी खा लो, बस जो खायेगा वह अभी मर जायेगा, और यह लड़का जी जायेगा।" ऐसी बात सुन कर माता-पिता ने सोचा कि विष खाना ठीक नहीं है, क्योंकि हम दोनों के जीवन यदि रहेंगे तो अभी कहीं आयु थोड़े चली गयी है, दूसरा पुत्र होगा।" निदान माता-पिता ने खुले शब्दों में महात्मा को उत्तर दे दिया कि "विष नहीं खायेंगे।"

महात्मा ने लड़के की पत्नी से विष खाने को कहा। बहू ने मौन धारण करके अस्वीकृति का संकेत किया महात्मा ने कहा--"अच्छा! अब मैं विष खाये लेता हूँ" इतना कहते-कहते उस बनावटी विष पुड़िया को महात्मा खा गये, और लड़के का हाथ पकड़ कर कहे—"उठो बेटा! तुम्हारे प्राणों से प्यारे सगे-सम्बन्धी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं" जगजीवन गुरु-गुरु कहते हुए उठ पड़ा और महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और बोला--

कुण्डलिया—

अहह! अन्ध मैं त्रिय कुटुम आपन जान्यों मीत।
यह नहिं जान्यों स्वार्थ सग, सब मतलब के हीत॥
सब मतलब के हीत, प्रीति पालत दूसर को।
क्षणहिं करत अनरीति, लखत नहिं आपन पर को॥
स्वारथ रत सब कहें, हमारो प्राण पियारा।
अंत न आवें काज, कपट को भरो पिटारा॥
ऊपर हित मित मातु पितु, नारि कहें ये मोर।
पर सुख देखैं जहँ नहीं, त्यागें तृण सम तोर॥ १॥

सवैया-

हाय! न कोई हमार पियार, सबै निज गर्ज से साथ किये हैं।
मैं अति मूढ़ भयों गुरु को तजि, भामिनि चामिनि चित्त दिये हैं॥
पै अब ढोल के पोल को जानि, गयों जग में जस प्रेम किये हैं।
हे मन! चेत करो अजहूँ, गुरु के पद पंकज नेह किये हैं॥ १॥
काहे न चित्त! तू फाटत हो, जग में जहँ तोर न कोई पियारा।
राग में लाग जरो नित ही, जन्मो वो मरो दुख विघ्न अपारा॥
त्यागहु ताहिं गहो गुरु के पद, जो दुख द्वंद्व बचावनहारा।
ताहि से प्रेम करो अभिलाष, न या जग में कोइ और सहारा॥ २॥

दोहा—जग असार गुरु सार पद, दोनों प्रीति कि रीति।
करत मनन जिज्ञासु उर, उपजत गुरु पद प्रीति॥

॥ गुरु आश्रय मनन ॥

धधकती हुई इस मनोमय जहाँ में,
गुरू ही हमारा सहारा रहा है ॥ टेक ॥
माता पिता सुत दार मित्र बन्धु जो घने।
सब लोग अपने स्वार्थ से हितकर मेरे बने ॥
जग दुःख से बचा ले इतनी किसमें शक्ति थी।
सबहीं बने गुलाम कामना असक्ति की ॥
मिले संत पथ में तो देखा नजर से,
वही एक सद्‌गुरु पियारा रहा है ॥ १ ॥

चारों तरफ अग्नी बढ़ी घट घट शरीर में।
विद्वान अविद्वान रंक वो अमीर में ॥
सुख शांति नहीं बाम विरह धन जगीर में।
यक शांति सरोवर विशाल मत फकीर में ॥
बता मंत्र ऐसा लगाये शरण में,
हुआ मैं गुरू का हमारा रहा है ॥ २ ॥

कोई न किसी का सभी मन सुख के यार हैं।
जब काम अपना हो गया करते किनार हैं ॥
किसको तरफ उँगली उठाके कह दूँ हमारा।
क्षण में विनाश हैं सभी मन काल के चारा ॥
मगर हाँ! ये कह सकता मैं एक स्वर से,
गुरू संत मेरा अधारा रहा है ॥ ३ ॥

गुरुवर हमारे ध्येय में शक्ती विराग दो।
फिर से न मुख दिखाऊँ इस जलती जहान को ॥
निजस्थिती के हेतु सहन धीर वीर हूँ।
इस दुःख रूप भोग का अब से न स्वाद लूँ ॥
यही एक अभिलाष तन जाल छूटे।
दया देव सदगुरु तुम्हारा रहा है ॥ ४ ॥

सोरठा—छोड़ि जगत् स्नेह, जगजीवन जीवन सुथिर।
करि गुरु पद में नेह, विचरत मन गति त्यागि के ॥ १ ॥

शिक्षा—संत भक्त गृहवान्, निज निज श्रेणी सब चलहिं।
पंथी मेल समान, जानि जगत् उर गुरु शरण ॥ २ ॥

स्वारथ रहित न काहु से, बात करै कोइ टूक।
तैसे रहि परमार्थ में, समय अमूल्य न चूक ॥४०॥

टीका :—अपने स्वार्थ-वश मनुष्य खेती, वाणिज्य, नौकरी एवं अनेकों प्रकार से दूसरे की दासता करता है किन्तु जहाँ स्वार्थ नहीं देखता, वहाँ थोड़ी भी बात नहीं करना चाहता। हे मन! वैसे ही तुम अपने परमार्थ एवं भक्ति, सत्संग, बोध, विवेक, वैराग्यादि सत् साधनों को छोड़कर कभी किञ्चित् भी मनः कल्पित प्रपंच वार्ता, प्रपंच व्यवहार में न भूलो। क्योंकि जिसे सारे संसार की सम्पत्ति देकर भी न खरीदा जा सके, ऐसा अनमोल मुक्तिदायी समय आज नर-जन्म में तुम्हें प्राप्त है। अतः अबकी असावधान न होओ, शीघ्र संसारासक्ति त्याग कर मोक्ष बना लो ॥ ४० ॥

दृष्टांत—एक महात्मा मार्ग पकड़े चले जा रहे थे कुछ दूर चलने से उन्हें प्यास लग गयी। इतने में सामने एक फुलवारी देखने में आयी। उस फुलवारी में महात्मा गये, कूप से भर कर जल पीने लगे। वह फुलवारी एक वकील की थी और उसी में वकील की कोठी भी थी। इतने में महात्मा क्या देखते हैं कि वकील के पास जितने मनुष्य भेंट में रुपये लेकर गये हैं, वे सब तो अपनी-अपनी बातचीत व काम करके लौट रहे हैं, और एक दीन मनुष्य जिसके पास कुछ नहीं है, वह किसी आवश्यक कार्य के लिये वकील से कोई बात पूछना चाहता है; किन्तु वकील उससे भेंट (रुपये) न पाने से बात नहीं करना चाहता। वह दीन मनुष्य बारम्बार वकील से प्रार्थना करता, किन्तु वह कुछ भी नहीं बोलता। अन्त में एक नौकर-द्वारा उसे निकलवा कर फुलवारी से बाहर करवा दिया। इस चरित्र को देखकर महात्मा यही विचारते हुए चल दिये कि अपने नाशवान् स्वार्थ-सिद्धि में कोई हेतु न जान कर मनुष्य किसी से किंचित् भी बोलना तक नहीं चाहता, फिर हम कल्याणार्थी को अविनाशी स्थिति-बाधक प्रपंच-वार्ता प्रपंच-कर्तव्य, कुसंग में क्यों धँसना चाहिये!

शिक्षा—मुमुक्षु को प्रतिक्षण मन, वाणी, कुसंग से अत्यन्त सावधान होकर एक वृत्ति कल्याण कृत कार्य में लगे रहना चाहिये ।

सजग सभी जस स्वार्थ में, तस पुरुषार्थ में तूल ।
चेत करै तस आपनी, छोड़ि सकल की हूल ॥४१॥

टीकाः—संसारी मनुष्य जैसे स्वार्थ की सिद्धि के लिये सावधान रहते हैं वैसे तुम अपने परमार्थ की सिद्धि के लिये सावधान रहो । सबके राग-द्वेष सम्बंधी कष्टों से बच कर अपने आप में जागृत होओ ॥ ४१ ॥

व्याख्याः-खेती, व्यापार, नौकरी, धन-संग्रह, कुटुम्ब रक्षण, तथा पंच विषय-भोगों के लिये मनुष्यों में कितनी तत्परता, सहनशीलता और धीरता देखी जाती है । साधक को विवेक करना चाहिये कि जब मनुष्य तुच्छ भोगों के लिये इतने तत्पर तथा कष्टसहिष्णु बन जाते हैं तब हमें अनादि काल के दुःखों से छूटने के लिये अर्थात् अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये क्यों न धीर, वीर, तथा कष्टसहिष्णु बनना चाहिये । इस स्वप्नमय, पीड़ामय, और घृणित सविषयिक जीवन से ऊपर उठकर अपने दिव्य प्रशान्त स्वरूप में ही विराजना चाहिये ।

सवैया

जाहि स्वरूप की याद किये, दुख जात सबै सुख शांति घने हैं ।
हानि रु लाभ वो हर्ष रु शोक को, जानि सदा भ्रम नाहिं सने हैं ॥
देह रु देह कि कांति सबै, सुख सम्पति को दुख रूप गने हैं ।
जो पद पाय न आय कभी दुख, सो अभिलाष स्वरूप ठने हैं ॥ १ ॥

प्रसङ्ग-५ जड़ स्नेह दुख रूप, तिससे वैराग्य प्रतिपादन ।

जाहिं वस्तु नर नारि में, राग आपनी जान ।
भूल करै नहिं मेल तहँ, नहिं दुख होय महान ॥४२॥

टीका-मोक्ष-इच्छुक को चाहिये, कि जिन सोना-चांदी, घर-धन आदि पदार्थों में एवं जिन नर-नारि सम्बन्धियों में अपना अज्ञान पूर्वक मोह लगा हो और ऐसा जानने में आवे, तो भूल कर भी ऐसी जगह सम्बन्ध, विशेष

आना-जाना न करे। नहीं तो उनके हानि-लाभ में धीरे-धीरे मिलते-मिलते उन प्राणी-पदार्थों के मोह-वश कल्याण-पथ से पतित होकर बड़े-बड़े कष्टों को सहना होगा अतः सावधान ॥ ४२ ॥

रहै सजग अनुकूल में, है प्रतिकूल अभाव।
समता दृष्टि से वर्तिये, शत्रु मित्र नहिं भाव ॥४३॥

टीका :—मन अनुसार क्रिया-व्यवहार सेवा-टहल करने वाले आज्ञाकारी अनुकूल नर-नारि सेवक-सज्जनों से तथा मन-इच्छित धन-द्रव्य जन्म स्थान, अनुकूल पंच भौतिक पदार्थों से मुमुक्षु को सदैव सावधान रहना चाहिये; क्योंकि सर्व दुःख रूप ममता-आसक्ति, दुर्गुण तथा संसृतिचक्र का बीज बनने की यही "अनुकूलता" ही भूल भूमिका है। और जो अपने से प्रतिकूल रहते, निन्दक-ईर्ष्यालु कूर-कुटिल स्वभावप्रिय हैं, उनको तो स्वाभाविक अभाव कर देवे, उनके संग, रगड़े-झगड़े से पृथक् हो जावे। हे मुमुक्षु ! राग-द्वेष रहित समता दृष्टि से प्रारब्ध वर्तमान करो, शत्रु-मित्र की भावना बिलकुल हृदय से निकाल दो, तभी अविनाशी अनन्त सुख मिलेगा ॥ ४३ ॥

सद् उपदेश विराग दृढ़, लहि विवेक परकाश।
यकरस बोध स्वरूप निज, छोड़ि कल्पना भास। ४४॥

टीका :—साधु-गुरु के सत्योपदेश तथा दृढ़ एवं प्रबल वैराग्य को और देह तथा चैतन्य की पृथक् बुद्धि रूपी विवेक के प्रकाश को धारण करना चाहिये। और अविनाशी असंग, दुख-द्वंद्व रहित स्वतः स्वरूप बोध में सत् साधन संयुक्त एकरस ठहर कर सर्व हानि-लाभ, हर्ष-शोकादि, मनः कल्पनाओं, पंच विषय सुख भास-अध्यास एवं मल-मूत्र, अस्ति-मांसादि पूर्ण क्षणभंगुर असार शरीरादि की ममताओं को सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ ४४ ॥

प्रसंग-६—पंच विषय सुख ही जहर, तिससे छूटने की युक्ति

निज मुकाम पहुँचे बिना, बोझा शिर पर भार।
लादत ढोवत पचि रहे, बिन समझे निरधार ॥४५॥

टीका :— जब तक पथिक अपने स्थान पर नहीं पहुँच जाता तब तक साथ की सामग्री बोझा रूप शिर पर भार रहती है। तद्वत् इस दुःखपूर्ण,

क्षणभंगुर, आपदा-मय संसार स्वप्न के भोगों से चित्त घुमा कर सत्-साधन पूर्वक अपने स्वरूपस्थिति रूपी अविचल मुकाम धाम में जब तक जीव नहीं पहुँचेगा, तब तक इच्छा-कामना खानी-वाणी के प्रपंच, अष्ट मद, देहाभिमान, जन्म-मृत्यु, अवस्था कृत तथा देहोपाधिक अनेकों कष्ट रूपी बोझा सदा जीव के सिर पर सवार रहेगा। यह जीव अपने आपको निराधार[1] शुद्ध, असंग, नित्य तृप्त न समझ कर तथा भोग-इच्छुक बन कर संसार के अनेक मोह-माया प्रपंच-बन्धनों को और उनके फलस्वरूप जन्म-मरण के घोर कष्टों को ढोता और पचता रहता है ॥ ४५ ॥

पंच विषय हित दुख सोई, ग्रहण करत सब कोय।
सूँड़ी खाज समान दुख, सहन होत नहिं सोय ॥४६॥

टीका:—पंच विषयों की आसक्ति के कारण ही उपर्युक्त दु:खों को सब जीव प्राप्त होते हैं। जैसे खजुहा कीड़ा के लग जाने पर शरीर में खुजलाहट उत्पन्न होती है। खुजलाने का परिणाम जलन एवं पीड़ा होती है, परन्तु बिना खुजलाये रहा नहीं जाता। इसी प्रकार विषय-भोगों को भोगने से इस प्रकार वासना की खुजलाहट होने लगती है कि उसे सहज रूप से त्यागा नहीं जा सकता, परन्तु उसका परिणाम पीड़ाप्रद है ॥ ४६ ॥

सहन हेतु दृढ़ता धरै, पर्श करै नहिं ताहिं।
सहजे में मिट जाय सो, छुवत बढ़ै अधिकाहिं ॥४७॥

---

१ टिप्पणी— त्रोटक छन्द—

तुम जीव सदा निरधार अहो, नर नाहक मोह को भार गहो ॥टेक॥
पितु मातु तियादिक मीत जिते, तुम से सब न्यारे हैं पन्थी तिते।
जड़ ग्रन्थि लिये भवधार बहो, तुम जीव सदा निरधार अहो ॥ १ ॥
नहिं ईश्वर ब्रह्म न राम परं, तुम ही सब कल्पि के भार धरं।
सब जानक मानक आप रहो, तुम जीव सदा निरधार अहो ॥ २ ॥
तुम सत्य अखण्ड अनूप अने, जड़ देह वो गेह से पार मने।
बस फेरहु दृष्टि स्वरूप लहो, तुम जीव सदा निरधार अहो ॥ ३ ॥
अब भार उतारि के पार बसो, नर देह को पाय न फेरि फँसो।
नित सत्य स्वरूप में थीर रहो, तुम जीव सदा निरधार अहो ॥ ४ ॥

टीका:—खजुहा कीड़ा के लग जाने पर जब खुजली उत्पन्न हो तब उसको सहन करने के लिये धैर्य धारण करे और छुजलावे नहीं, तो वह खुजलाहट सहज ही में अपने आप मिट जायगी और परिणामतः कष्ट भी नहीं होंगे, परन्तु खुजलाने से खुलजाहट और दुःख दोनों बढ़ेंगे। इसी प्रकार मन में विषय-वासना के उठने पर धैर्य धारण करें, उसमें बहे नहीं, तो जीव की सत्ता न पाने से वे वासनायें धीरे-धीरे अपने आप निर्मूल हो जायेंगी। किन्तु यदि वासनानुसार भोग में प्रवृति होगी तो वासनायें तथा तदपरिणाम कष्ट बढ़ेंगे ॥ ४७ ॥

व्याख्या:-साधक को चाहिये कि वह निरन्तर विषय-वासनाओं से अपने आपको पृथक बनाये रखने का प्रयत्न करे। मन में जो वासना आती है, उसे यदि हम सत्ता न दें तो वह अपने आप मिट जायगी। क्योंकि उसका स्वरूप ही क्षणभंगुर है। देहाभिमान-वश ही वासनायें दौड़ती हैं; इसलिये देहाभिमान को गलित करने के लिये इस प्रकार विवेक करे।

सवैया

"मलमूत्र को देह बनी सगरो, नश माँस रु हाड़ से छाय रही है।
खुन पसीना मलीन महा, तेहि में चमड़ी लपटाय रही है॥
फोड़ा को रूप दुखै दुख जाहि सो, रात दिन बिललाय रही है।
हा ! मति मंद भयो भल अंध, तहाँ सुख जो ठहराय रही है॥ १॥

आदत दुःख महान है, तेहि धीरज से टारि।
थीर करै निज वृत्ति को, शांति हृदय में धारि ॥४८॥

टीका:—विषय भोगों की आदत दुःख का विशाल रूप है, इसे धैर्य पूर्वक हटाना चाहिये। मन में शांति धारण करके अपनी वृत्ति को स्थिर करना चाहिये ॥ ४८ ॥

व्याख्या:—विषयों की वासनायें धैर्य, साहस, वीरता एवं दृढ़ तत्परता के साथ साधन करने से ही दूर होंगी। जीवन का सच्चा सुख—परम शांति की प्राप्ति करना हो, उसे विषयों की मलीनता से ऊपर उठना चाहिये।

जेहि के त्यागे दुःख सकल, क्षण में जाय बिलाय।
सो मनोज मन से उदय, परखत नहिं ठहराय ॥४९॥

टीका:—जिसके पूर्णतया त्याग देने से सम्पूर्ण दुःख क्षण ही में विलीन हो जाते हैं, वह काम केवल मन से उत्पन्न होता है, उसकी छान-बीन करने से वह कोई वस्तु नहीं ठहरता ॥ ४९ ॥

व्याख्या:—राग पूर्वक विषयों के चिन्तन करने से मन में उत्पन्न होता है और उसके उत्पन्न होते ही जीव दुःखों के भँवर में पड़ जाता है; परन्तु यदि अपनी मानसिक सत्ता समेट ली जाय, तो काम अपने आप समाप्त हो जाय और काम के समाप्त होते ही जीव परमशांति का अनुभव करता है। काम का स्वरूप वासनात्मक है, इसलिये वह भ्रमरूप है; अतएव उसका द्रष्टा बन जाने पर वह समाप्त हो जाता है।

पद

ज्यों बंध्या पुत्र सर्प रस्सी, मृग वारि सत्य करि माना है।
त्यों नर नारी के देहों में, सुख मानि विषय को ठाना है॥
ये काम में कोई द्रव्य नहीं, भ्रम लखते ही विनशायेगा।
तब काम रहित चैतन्य जीव, निज पारख में ठहरायेगा॥

सोरठा

सत्संगत की ओट, जो जीव सुकृतवान् हैं।
कामादिक की चोट, बचत रहैं निज बोध बल ॥५०॥

टीका:—जो शुद्ध संस्कारी, सत्यकर्तव्य-निष्ठ मनुष्य हैं वे अपने अजर, अमर, परमतृप्त अखण्ड स्वरूपबोध की शक्ति एवं विवेकी संतों का सत्संगत-आश्रय लेकर कामादिकों की वासना-क्रियाओं से बचते रहते हैं॥ ५० ॥

तबहुँ न चेते मूढ़, जनम मरण दुख देखि के।
करम वासना गूढ़, करत रहैं निशदिन वही ॥५१॥

टीका:—विषय-वासनाओं के वशीभूत ही जन्म-मरणादि के दुःख जीव को भोगने पड़ते हैं—ऐसा जान-समझ कर भी मूढ़ जीव सावधान नहीं

होता और दुःख के मूलभूत वही कठिन कर्म-वासनाओं को रात-दिन करता रहता है ॥ ५१ ॥

गूढ़ वासना का स्वरूप कवित्त

जाहि में अनेक दुःख तीन ताप भोगि रह्यो,
जनम मरण अरु गरभ को ताप है ।
फोड़ा से दुखद अति नरक से नर्क अति,
मल मूत्र हाड़ चाम मानसिक दाप है ॥
सर्वहूँ प्रकार सर्व जीव को जलनि जहँ,
सोई नर नारि देह दुख को कलाप है ॥
सोई दुख रूप देह सुख मानि भूले जीव,
अभिलाष याहि गूढ़ वासना प्रताप है ॥ १ ॥

विषय-भोग दुःख का किञ्चित नमूना

काम नहीं जब तक प्राणी के, तब तक वह निश्चित रहे ।
भामिनि भाव भरो जब मन में, तब चिन्ता की आग दहे ॥
जब तक नारी मिली नहीं तेहिं, तब तक वह बिललाय मरे ।
नारि मिली तब अति हर्षावे, दीप पतंगी होय जरे ॥ १ ॥

सुन्दर नारि मनइच्छित नाहीं, तब भी दुखिया होता है ।
सुन्दर मिली कर्कसा निकली, दिन दिन बैठा रोता है ॥
भूषण वस्त्र छन्द नारी के, पुरुष रात दिन नांचे हैं ।
भाँति-भाँति ताना बोली सहि, फिर भामिनि में रांचे है ॥ २ ॥

वंश रहित अपने को दुखिया, समझ समझ पछिताते हैं ।
बंश भये तो मर-मर जाते, तब औरो दुख पाते हैं ॥
निपट कुपूत भया कुल घालक, पछिताये नहिं चूके हैं ।
मोह शोक को मूल कुटुम्बी, तामें दुख अति कूके हैं ॥ ३ ॥

अन्न नहीं पुनि वस्त्र फटा है, दुखित कुटुम घर टूटा है ।
अन्न वस्त्र गृह कुटुम सभी तो, तृष्णा बाढ़ अटूटा है ॥
रोग शोक दुख भार जगत् का, नारी हित नर ढोता है ।
नारि क्षेत्र में दुख का बीजा, जीव पुनः पुनि बोता है ॥ ४ ॥

नर नारी कोई भी होवें, दोऊ परस्पर घातक है।
जब तक काम शत्रु नहिं जीते, तब तक कैसे साधक हैं॥
एक एक के मोह में अरुझे, भोग से प्रीति लगाया है।
याते तपित जले नर-नारी, सुक्ख न क्षण यक पाया है॥
जड़ ग्रंथी ह्वै पुष्ट करम की, जन्म मरण में जरते हैं॥ ५॥

अविनाशी अविकार काम वश, जोव गर्भ में परते हैं॥
तन धरि तीन ताप दुख भोगे, चौरासी भरमाते हैं।
कामासक्ति सकल दुख कारण जो, सुख मानि लोभाते हैं॥ ६॥

बीछी सर्प अग्नि से दुख हो, फाँसी हो बन्दूक लगे।
जहर खाय चाहे दुख भोगे, अंग अंग चहे घाव लगे॥
ये सब दुख तो थोड़े दीखे, काम दुसह दुख महा कठिन।
काम काँट जो मन से निकले, तो दुख कभी न होवे फिन॥ ७॥

प्रसंग ७ मोह-त्याग स्वरूपस्थिति प्रतिपादन

साखी

जैसी जिनकी चाहना, तैसे बाढ़ै चाट।
निर्णय करि तेहि सन्धिको, ज्ञान से दैवै काट ॥५२॥

टीका:—भोगों में जिसकी जितनी चाहनायें होती हैं वह उतना ही उसमें प्रवृत्त होता है और उसकी उतनी ही आदतें बढ़ जाती हैं; अतएव जड़-चेतनका निर्णय करके स्वरूपज्ञान-शस्त्र से उस भेद को काट देना चाहिये ॥५२॥

व्याख्या:-रस्सी में सर्प, सीपी में चांदी के भ्रम होने के समान विषयों में सुख प्रतीत होता है; अन्यथा वास्तव में विषय घृणित, सार-हीन एवं दुःखपूर्ण हैं। यदि स्त्री के शरीर में सुख होता तो उसे अपना सुख लेकर तृप्त रहना चाहिये, ऐसा तो नहीं देखा जाता, बल्कि स्त्री अन्य पुरुष के शरीर में सुख का आरोप करती है, और यदि पुरुष के शरीर में सुख होता तो पुरुष को भी अपने शरीर का सुख लेकर तृप्त रहना चाहिये; किन्तु वह भी अशांत हो अन्य स्त्री के शरीर में सुख कल्पता है। इसलिये प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष दोनों के शरीरों में

सुख नहीं है; केवल अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को भूलकर भ्रम-वश एक दूसरे के शरीरों में सुख की कल्पना करते हैं। अतएव अपना चेतन स्वरूप अखण्ड, नित्य तृप्त है, विजाति पंच विषय पदार्थों का अपने स्वरूप से निश्चित सम्बंध नहीं, भोगों से कामना, तृष्णा, अशान्ति की ही वृद्धि होती है, भोग-त्याग से ही परम, अनन्त, अविनाशी सुख-शान्ति का अनुभव होता है, ऐसा जानकर विषय-वासना से दूर रहना चाहिये।

साधक सजग एकान्त में, कसि इन्द्रिन को जीत।
ध्यान धरै गुरुदेव को, सच्चे दिल के मीत ॥५३॥

टीका:—साधक को चाहिये कि वह एकान्त में सावधान होकर और साधना में अपनी इन्द्रियों को कसकर उन्हें जीते, और हृदय के मित्र—वैराग्यवान् सद्गुरु का ध्यान धारण करे ॥ ५३ ॥

व्याख्या:—साधक को चाहिये कि वह समय-समय पर एकान्तवास करते हुए साधना करे; परन्तु साधारण साधक के लिये अधिक एकान्त पतन का कारण है। एकान्त में साधक मन-इन्द्रियों से सावधान रहे, जगत् से निष्प्रेह, उपराम एवं दृढ़ वैराग्य पूर्ण होकर मन को जीते।

साधन नियम कवित्त

कहुँ गुरु ध्यान धरि मन को स्ववश करि,
कहुँ विष भोग विष जानि के तजंत जू।
कहुँ सद्ग्रंथ सत्संग को अधार लाय,
कहुँ निज रूप निष्काम को गुनंत जू॥
कहुँ द्रव्य से विहीन देह सुख मिथ्या जानि,
मृत्यु को निकट देखि ताहि से हटंत जू।
कहुँ मल मूत्र घाव पीब रक्त मांस जानि,
कहुँ जग स्वपन समान हूँ भनंत जू॥ १॥

कहुँ लाज मान गुनि ताहि से पृथक पुनि,
गज चढ़ि खर पीठ काहे को चढंत जू।
निरजन वास करि कहुँ मन नाश करि,
कहुँ बोध वो विराग भक्ति को कथंत जू॥
कहुँ दुख बीच माहिं निज को पिछान कर,
कहुँ निज शांति थीरताई को लहंत जू।
कहुँ गुरु भक्ति माहिं दृढ़ अभिलाष ठानि,
यहि विधि चेत कर भोग न गहंत जू॥ २॥

और न कोई जगत् में, जिनसे सबकी प्रीत।
स्वारथ तक सब साथिया, अन्त होय सब तीत॥५४॥

टीका :— जिनसे सबको मोह हो रहा है वे कुटुम्बी-सम्बन्धी आदि संसार में कोई अपना नहीं है। सभी जीव स्वार्थ के साथी हैं, अन्त में सब अलग हो जाने वाले हैं॥ ५४॥

व्याख्याः— स्वार्थी कुटुम्बी तथा सम्बंधी जन केले के पत्ते के समान थोड़े में फट जाने वाले हैं। इस संसार का प्रेम नकली है, स्वार्थमय है। इसमें आसक्त मत होओ।

ई संसार असार को धंधा, अंत काल कोइ नाहीं हो।
उपजत विनशत बार न लागे, ज्यों बादर की छाहीं हो॥
(बीजक)

छन्द

राउत वो महतों सग-सहोदर सबहिं अपने मीत हैं।
जब तक चले स्वारथ तेरे से तब तलक वे हीत हैं॥
स्वारथ में बट्टा देखते बस मित्रता से तीत हैं।
चेतो उठो गुरुमग लगो झूठी जगत की प्रीति है॥

जीव मुसाफिर क्षेत्र तन, जहँ जहँ जिनकी दौर।
तहाँ तहाँ सब चलि बसैं, नहिं ममता घट और॥५५॥

टीका :— कर्म-मार्ग में भ्रमने वाले जीव यात्री हैं, शरीर धर्मशाला

है; जहाँ-जहाँ जिनकी वासनायें रहती हैं वे जीव विवशता पूर्वक, अन्य स्वजनों की ममता त्याग कर उन-उन खानियों में चल बसते हैं ॥ ५५ ॥

ताते सबहीं मोह तजि, करिये काज अदाग ।
सद् विवेक गुरु भक्ति, गहि, शुद्ध ज्ञान वैराग्य ॥५६॥

टीका :— अतएव सबकी ममता का त्याग करके सद्विवेक, गुरु-भक्ति, निर्मल ज्ञान और वैराग्य रूप निर्दोष कार्य करो ॥ ५६ ॥

व्याख्या :—इस क्षणभंगुर संसार में कोई सदा रहने नहीं आया है। एक-एक दिन यहाँ से सबकी विदाई है। ये सुन्दर महल, मकान, धन, कुटुम्बी, पद, प्रतिष्ठा यहाँ तक कि जिस काया में क्षण-क्षण प्रेम कर रहे हो, सब, अचानक आज-कल एवं घड़ी-पल में छूट जायेंगे। अतएव हे जीव! इस मिथ्या माया का मोह त्याग कर अपने अविनाशी पद को प्राप्त करो —

कवित्त

जेहि पद पाइ गये और हू न पावन को,
निष्फिक्र निर्विघ्न निरचाह आप है।
भ्रम तन भ्रम मन भ्रम भोग भाइबे को,
सबहीं को भ्रम जान लहत न ताप है॥
जनम मरण तीन ताप दुख भोगने को,
शेष हूं न संशय भव रहित कलाप है।
ऐसे अविकार सुख शांति थीरताई कहँ,
आप खुद जानत न दूसर प्रताप हैं॥ १ ॥

सत्य प्रेम गुरु साधु से, और नेह सब तोड़ि ।
समय अमोलिक जानि के, निज स्थिति में जोड़ि ॥५७॥

टीका :— जीव के सच्चे सहायक विवेक-वैराग्य-प्रिय संत-गुरु से सच्चा प्रेम करो और अन्य प्रकार की प्रेम-रस्सी को तोड़ दो। और अपने मानव जीवन के समय को अनमोल जानकर उसे अपनी स्वरूपस्थिति में लगाओ ॥ ५७ ॥

व्याख्या :— संसार की ममता सारहीन है। उसका परिणाम दुःखपूर्ण है। संत-गुरु से प्रेम-सम्बन्ध रखने से अपना परम कल्याण है।

कवित्त

जगत से प्रेम किये काम क्रोध लोभ जिये,
राग द्वेष जलनि वो मोह दुखकारी है।
अग्नि को पाय घृत तृष्णा बढ़त नित,
तीन ताप जन्म-मृत्यु गर्भ बार-बारी है॥
साधु-गुरु प्रेम किये दया क्षमा तोष हिये,
जलनि रहित सुख शांति निशिबारी है।
तीन ताप मेटि रहि अंतिम सुमुक्ति लहि,
साधु-गुरु प्रेम उर धारि सुखकारी है॥

स्वरूपस्थिति के विघ्न तथा निवारण-चर्चा

दृष्टांत :— शिष्य बोला— हे गुरुदेव ! हमारी स्वरूपस्थिति क्यों नहीं होती ! स्थिति-पथ के कौन-कौन से विघ्न हैं। गुरुदेव बोले— स्थिति-प्राप्ति के लिये प्रथम भक्ति-भाव सत्याचरण पूर्वक परम दृढ़ एवं अविचल वैराग्य की आवश्यकता है। साथ ही मोक्ष की इच्छा भी तीव्र हो। अन्न-जल त्यागने, अहर्निश एकान्त जंगल में रहने, शीत-उष्ण सहने, मौन-वृत्ति पूर्वक दिन-रात समाधि लगाने एवं सैकड़ों साधनों से भी जो सर्व वासना-रहित मानसिक शान्ति पूर्वक स्वरूप-स्थिति-जीवन्मुक्ति दशा दुर्लभ है, वह 'परम पद' स्वरूप बोध और भक्ति युक्त अखण्ड अविचल वैराग्य ही से सहज सरल में प्राप्त हो जाता है। अतः जन्मादिक दुःखों से छूटने के लिये दिखावा मात्र का नहीं; किन्तु भक्ति-बोध युक्त सच्चा अखण्ड विवेकजन्य वैराग्य, एकरस अभ्यास-द्वारा प्राप्त करना चाहिये। अहंकार, अष्टमद वासना-कल्पना एवं पिण्ड से ब्रह्माण्ड, शरीर से कल्पित स्वर्ग तक की ममता-इच्छा-आशा का सर्वथा संहार हो जाना ही परम-दृढ़ वैराग्य है। इस वैराग्य के बिना मोक्ष कदापि सम्भव नहीं। स्वरूप-

स्थिति न होने के भी कारण सुनिये—(१) विशेष कुसंग का सम्बंध होते रहना, (२) भोग पदार्थों को सामने देखकर इच्छा न रोक पाना, (३) जन-समाज-द्वारा प्रतिष्ठित कोई उच्च पद पर जाने से आये-गये लोगों से ही छुट्टी न पाना, (४) अधिकार, मान, बड़ाई, पूज्यता-प्राप्ति में हर्ष, ममता, अहं एवं भूल होते रहना, (५) वक्तव्य-कवितव्य, विद्या-वाणी एवं बहुत दिन से भेष में आये हुए का गर्व करना, (६) सच्चे विचारशील, दृढ़ वैराग्य तत्पर संतों से अहं, उनके सत्संग से दूर रहना, (७) वैराग्य-स्थिति-दर्शक ग्रन्थों का अवलोकन न करना, (८) अपने को पूर्ण, सर्व सद्गुण सम्पन्न और थोड़े ही साधनों में कृतकृत्य समझना, (९) संसार भर में धर्मप्रचार कर सबको चेताने, प्रेमी बनाने एवं शिष्य-सेवक वृद्धि में हैरान रहना, (१०) यह सोचना कि देखा जायगा इस शरीर से स्थिति नहीं हुई तो कोई हानि नहीं, इसी ज्ञान के संस्कार से दूसरा नर शरीर धारण कर प्रबल ज्ञानी होंगे, मान्य-प्रतिष्ठायें भी होंगी, अन्त में मुक्ति भी ले लेंगे, (११) जन्म-मरण-गर्भवास, त्रय ताप, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि एवं देहोपाधिक अनेक असह दुःख द्वन्द्वों का बारम्बार स्मरण न करना, (१२) दुःखपूर्ण संसार-शरीर में सुख-दृष्टि होना, (१३) सर्व जड़ाध्यास छोड़कर स्वरूपस्थिति करना बड़ा भारी काम है, हम जैसे व्यक्ति इतने ऊँचे कर्तव्य को कैसे कर पायेंगे ! इस प्रकार सोच कर कायर बने रहना, (१४) जो साधन आरम्भ करना सुखाध्यास-वश कुछ चल कर उसे छोड़ देना, (१५) अपनी मलिनवृत्ति एवं दुर्गुणों पर ध्यान न जाना, (१६) दूसरे के दुर्गुणों को अधिक देखना (१७) किसी के ज्ञान, मान्य, पूज्यतादि को देख कर ईर्ष्या, जलन, निन्दा, अपवाद करना, (१८) तितिक्षा के केवल एक-दो अंग, कड़े-कड़े साधन करके भीतर अहंकार भर कर नम्रता, कोमलता शिष्टाचार, सभ्यता त्यागकर सर्व सद्गुण सम्पन्न सच्चे वैराग्यशील संतों की बराबरी करना, (१९) दिखाऊ परमार्थ का आधार लेकर मान-भोगों की कामना रखना, (२०) जब मृत्यु आयेगी तब हमें वर्तमान के ही

मान-भोगों को त्यागना पड़ेगा, ऐसा ध्यान न होना, (२१) अपना स्वरूप जैसा शुद्ध निर्विकार है वैसा बोध और सद्उपासना युक्त सच्चा-दृढ़ वैराग्य और मोक्ष की प्रबल इच्छा न होना, (२२) देह की आरामतलबी एवं भोग और मुक्ति दोनों की साथ-साथ इच्छा रखना, (२३) कल्याण-कृत कार्यों से जैसे—कथा, निर्णय, सत्संग, भक्ति, सेवा, टहल, शम, दम, भोग-त्याग, सहनशीलता, एकान्तवास, मनोद्रष्टा आदि पुरुषार्थों से हीन, आलसी होना, (२४) शरीर में विशेष प्रेम रखना, (२५) गृह, धन, सम्बन्धियों का मोह होना, (२६) दृढ़ वैराग्यशील स्थितिमर्मी सन्तों का सहवास न होना, इत्यादि कल्याण-पथ में बहुत-बहुत विघ्न हैं।

शिष्य—इन विघ्नों का कैसे निवारण हो ?

गुरु—अपने दुर्गुणों को बारम्बार देखे, अपने को शारीरिक मानसिक कठिन दुःखों में समझे, मान-भोग कामना का बिलकुल त्याग करे, सबसे बड़ी बात साधन सम्पन्न, वैराग्यप्रिय, विवेकी सन्तों से निष्कपट प्रेम हो और अपने साधन-रहस्य के विषय में उनसे सम्मति लिया करे, तो सर्व विघ्नों का संहार होकर शीघ्र स्थिति प्राप्त होगी।

सारांश—उपर्युक्त भूल-दुर्गुणों को त्याग कर और विवेकी सन्तों के सत्संग-द्वारा सद्रहस्य प्राप्त कर, विवेक, वैराग्य, उदासीनता, नैराश्यता, एकान्तवास, वाक्यसंयम, भक्ति, उपासना एवं सत्कर्तव्यनिष्ठा पूर्वक दृढ़ स्वरूपस्थिति-दशा एवं जीवन्मुक्ति पद प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाना चाहिये। इतनी कल्याणदायी शिक्षायें सुन कर शिष्य वन्दना करने लगा—

गजल-विनय

वैराग्य रवि उगा दो, हे दीन बन्धु स्वामी।
जग राग तम हटा दो, हे दीन बन्धु स्वामी ॥ टेक ॥

अज्ञान की अँधेरी, छाई है चारों दिश में।
मग सूझता न मेरा, हे दीन बन्धु स्वामी ॥ १ ॥

कामादि क्रोध डाकू, निज मार्ग को हैं घेरे।
सद्ज्ञान शस्त्र देकर, मुझको बचालो स्वामी ॥ २ ॥
सुख चाहना के कांटे, पग पग में चुभ रहे हैं।
रोते विलखते जाते, हे दीन बन्धु स्वामी ॥ ३ ॥
तिस पर भी मूढ़ता वश, सुख आश में पड़ा मैं।
आसक्ति ये रुलाती, हे दीनबन्धु स्वामी ॥ ४ ॥
मैं धीर वीर होऊँ सुख भास आश खोऊँ।
सुख आश पड़ न रोऊँ, हे दीनबन्धु स्वामी ॥ ५ ॥
दुःख दोष दृष्टि आवे, सुख भावना परावे।
वैराग्य वीर भावे, हे दीनबन्धु स्वामी ॥ ६ ॥
कब शांति पद को पाऊँ, मन शत्रु को नशाऊँ।
दिन रैन दिल में खटके, हे दीनबन्धु स्वामी ॥ ७ ॥
वैराग्य स्वच्छ जीवन, मन मार के रहीवन।
अभिलाष ये पुरा दो, हे दीनबन्धु स्वामी ॥ ८ ॥

प्रसंग ८—स्त्री-स्नेह-विषय निषेध इत्यादि वर्णन।

विषय विवश नर श्वान सम, विकल रहै दिन रैन।
नारि नेह में अंध है, खोय स्ववशता चैन ॥५८॥

टीका:—कितने ही मनुष्य विषयों के वश में होकर रात-दिन श्वानवत् बेचैन रहते हैं। स्त्री की आसक्ति में पुरुष (तथा पुरुष की आसक्ति में स्त्री) विवेक-हीन अन्धे हो जाते हैं और अपनी स्वतंत्रता एवं प्रसन्नता को नष्ट कर देते हैं ॥ ५८ ॥

व्याख्या-—विषय-कर्म कितना मलीन है यह एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। ऐसे मलीन भोगों के लिये अपने दिव्य जीवन को एक सकामी स्त्री या पुरुष के हाथ में सदा के लिये सौंप देना कितना गहन अंधकार है। जिस दुर्लभ नर जन्म से परम पद की प्राप्ति की जा सकती है, उसे मलीन कर्मों में खो देना कितनी भयंकर भूल होगी। जो गृहस्थी मर्यादा को भी छोड़कर व्यभिचार वृत्ति को अपनाते हैं उन नर-नारियों की स्थिति तो श्वान-शुनी से भी गई बीती है।

बिके जीव तेहि लोभ में, मुख्य लाभ निज खोय।
बिरह अग्नि में तड़फते, सहते दुख नित सोय ॥५९॥

टीका:—कल्याण-प्राप्ति रूप मानव जीवन के परम लाभ को खोकर, मनुष्य विषयों के लोभ में अपने आप को बेच दिये हैं, विषयों की प्रचण्ड विरह-अग्नि में तड़फते हैं और नित्य उनके दुःखों को सहते हैं ॥ ५९ ॥

व्याख्या:—इस हीरा-नर-जन्म का उद्देश्य आत्मिक स्वतंत्रता, निर्बन्धता एवं परमशान्ति की प्राप्ति है; इसे छोड़कर विषय-मलीनता में लगना उत्तम जीवन को व्यर्थ करना है। विषयी जीवन महान घृणित एवं दुःखपूर्ण है, क्योंकि विषय-वासना-वश मानसिक संकट, देहोपाधिक तथा अवस्थाकृत अनेक संकट और मृत्यु संकट पुनः-पुनः भोगने पड़ते हैं; अतः विषयों का नितान्त त्याग ही विवेकी मानव का सर्वोपरि कर्तव्य है।

विषय-वासना वश जीवों को कितने दुःख भोगने पड़ते हैं! इसका वर्णन करना तो शक्ति के बाहर है। किन्तु मुख्य चार दुःखों का यहाँ वर्णन किया जाता है जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है (१) परिणामदुःख (२) ताप दुःख (३) संस्कार दुःख, (४) गुणवृत्तिविरोध दुःख। इन सबों का थोड़े-थोड़े लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) परिणाम दुःख:—जैसे रोगी खटाई, मिठाई आदि खाकर परिणाम में रोग बढ़ाकर दुःख उठाता है, जैसे क्षणिक खेल के प्रसन्नता-वश बालक बर्रे का छत्ता खोद कर परिणाम में बर्रइयों से छिदवा कर कष्ट पाता है, वैसे ही "एक क्षण क्रीड़ा हर क्षण पीड़ा" विषयों में है। अर्थात् एक क्षण भ्रम-वश मलिन दुःख पूर्ण विषयों में सुख मान कर तथा उनमें रमण करके परिणाम में बल, वीर्य, पुरुषार्थ, तेज, यश, ज्ञान, साधन, सद्गुण, स्थिति मुक्ति से मनुष्य हाथ धोकर सर्व दुःखपूर्ण वासनाओं के हाथ बिक कर जीवन पर्यन्त दुःखों में नाचा करता है। और इस विषयासक्ति के परिणामस्वरूप ही रोग-शोक त्रयताप तथा जन्म-मरण के कष्टों को बारम्बार जीव को सहना पड़ता है।

(२) ताप दुःख :—स्नेहमय संसार के जितने वस्तु-प्राणी हैं, सब ताप देने वाले हैं। जैसे स्त्री, पुत्र, कुल-कुटुम्बी, गृह, धन, विद्या, देहादि में प्रतिकूलता पूर्वक एक-न-एक ताप सदा बना रहता है, कहीं स्त्री प्रतिकूल या रोगी-शोकी होकर जलाती; कहीं पुत्र न होने, अथवा होकर मर जाने का दुःख एवं कहीं वे रोगी-शोकी कुपूत होकर ताप देते रहते हैं। कहीं भाई-बन्धु, नातगोत ग्रामवासी तथा पड़ोसी लोग प्रतिकूल होकर ताप देते रहते हैं। धन आदि उपार्जन में, पुनः रक्षा करने में, सदा बने रहने की चिन्ता में, खर्च होने, छीन जाने, छोड़कर मर जाने आदि में जीव को ताप होता है। विषयी जीव अपने से विशेष धन-जन विद्या-बुद्धि दूसरे की देख कर ईर्ष्या-वश जलता रहता है। इस प्रकार अनन्त तापों में जीव तपता है।

(३) संस्कार दुःख :— जिन विषयों को भोग लिया गया है तथा कुल-कुटुम्ब धन-जन मित्रादि से गाढ़ा प्रेम कर लिया गया है, उन सबों की प्रियता रूपी मानन्दी का संस्कार हृदय में जम जाता है। संसार के सर्व प्राणी एवं विषय-भोग अपने चैतन्य स्वरूप से पृथक होने के कारण मिलते-बिछुड़ते रहते हैं। उन मिलन-बिछोहों में संस्कार सामने आकर जीव को बहुत कष्ट देते हैं। वह सोचता है अहो ! हमारी प्रिय भामा कैसी सुन्दरी कोमलाङ्गी तथा युवा अवस्था सम्पन्ना थी! हमारा शरीर कैसा सुन्दर प्रौढ़, कुमार एवं युवा अवस्था सम्पन्न था ! हमें उन दिनों कैसे सुन्दर सुखदायी विषय-भोग, धन-जन प्राप्त थे ! हाय ! आज वे कहाँ चले गये ! क्यों प्रतिकूल, निकम्मे, बूढ़े तथा कम हो गये ! इत्यादि संस्कार दुःखों से जीव नित्य दुखी रहता है।

(४) गुणवृत्तिविरोध दुःख— राजसीवृत्ति कहती है-- कैसा अच्छा समय मिल गया है, थोड़ा विषय-भोग आज भोग लो, फिर आगे न भोगना। सतोगुणीवृत्ति कहती है— नहीं-नहीं ! यह विषय-भोग महान दुःख का कारण है। इससे अनन्त कष्ट भोगने पड़ते हैं। कोई जान जायगा तो लज्जित होना पड़ेगा। उदाहरण— जैसे कोई ताश, जूआ

आदि खेलता है, तब सतोगुणीवृत्ति कहती है— उठो ! उठो !! चलो !!! घर के काम-काज नष्ट होते होंगे, धर्म-भक्ति से भी प्रतिकूल है। रजोगुणीवृत्ति कहती है— अरे ! अभी एक दो दाँव और खेल लो फिर चलना; घर के काम-काज तो नित्य करने ही हैं, और धर्म-भक्ति में हानि ही क्या है, यहाँ कोई सत्संगी देखता भी नहीं है, इत्यादि विरोध में जीव दोनों ओर खिंचा जाता है और अनन्त कष्ट अनुभव करता है।

इस प्रकार विषयी जीवन महान दुःखपूर्ण है। अतः दुःख न चाहने वाले को विषय-वासना का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

जैसे ज्वर के ताप में, अन्न क्षुधा नशि जाय।
तैसे विषयी जीव को, भक्ती नहीं सुहाय ॥६०॥

टीका :— जैसे ज्वर के ताप में भूख मर जाती है और खाने की रुचि नहीं रहती; उसी प्रकार विषयों के प्रमाद में भूले लोगों को सद्गुरु-सन्तों की भक्ति तथा परमार्थ-पथ अच्छा नहीं लगता ॥ ६० ॥

बाल युवा अरु जरठ जो, तीनों दुःख का रूप।
शांति न पावैं ज्ञान बिन, देह नरक भ्रम कूप ॥६१॥

टीका :—बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था—तीनों दुःखों के स्वरूप हैं। यह शरीर मलीनताओं तथा भ्रान्तियों का कूप है, अतः स्वरूप-ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य को शांति नहीं मिल सकती ॥ ६१ ॥

व्याख्या :—भ्रम-वश जिस बाल्यावस्था को लोग बादशाह रूप तथा पाप रहित देव रूप मानते हैं; वह अज्ञानविवश, एवं दुखपूर्ण है। बालक रात-दिन मल-मूत्रों तथा शारिरिक-मानसिक तापों में "कोठी कपास" न्याय जलता रहता है यह बेचारा अपने दुःखों को कह भी नहीं सकता। यदि विवेक नहीं है तो जवानी अवस्था आषाढ़ की नदी की भाँति सदैव मलीन बनी रहती है और इस पर दुर्गुण दुर्व्यसन के पर्वत ही टूट पड़ते हैं। वृद्धावस्था तो केवल जीवन को जलाने ही आती

है। इस अवस्था में तृष्णा, चिंता अधिक बढ़ जाती है। शरीर शिथिल हो जाते हैं। घर वाले प्रायः इसका निरादर कर देते हैं। यह सब प्रकार से कष्ट पाता है। शरीर गन्दगी का आकार तो है ही साथ-साथ विवेक तथा सत्संग न प्राप्त हो तो अज्ञान, भ्रम आदि का भी कारण है। अतएव इसकी आसक्ति छोड़कर विवेकवान बनना चाहिये।

(तीनों पन के दुखों का चित्र—कवित्त)

कछु दिन गर्भ कूप दँव में जरत रह्यो,
　　प्रकट पुहुमि तब रूदन पसारी है।
मल मूत्र माहिं घिघियात चिचियात पड़े,
　　पर बश दुख माहिं जात रैन बारी है॥
खेलत बालक सब झगरें वो मार करें,
　　कहि के भकाऊँ डरवाये महतारी है।
पढ़न लिखन माहिं डण्डन को मार पड़्यो,
　　यहि विधि बालपन रोवत गुजारी है॥ १ ॥

कछु काल बीत गये आई सो जवानी अब,
　　करि के दिवानी महारानी हित तानी है।
नारि हित रात दिन दौड़त है श्वान सम,
　　काटा पीटा मारा जात होत परेशानी है॥
योग वश व्याह भयो पुत्र बिन बिललात,
　　पुत्र होत मरि जात शोक सो समानी है।
अन्न नाहीं वस्त्र नाहीं लोन नाहीं तेल नाहीं,
　　राजा को लगान नाहीं बिपति जवानी है॥ २ ॥

कछु काल बीते पुनि वृद्धपन आइ गयो,
　　लटकत चाम कटि टेढ़ दमा खाँसी है।
आँख से दिखात कम कान से सुनात नाहीं
　　हिलि २ दाँत गिरि रोग बहु गाँसो है।
नाती पूत नारि बन्धु बात हूँ सुनत नाहिं,
　　जूठ कूठ अन्न देत सरा गला बासी है।
सबहीं मनावत हा दैव! यह कब मरी
　　अभिलाष तीन पन जीवन को फाँसी है॥ ३ ॥

सुत नारी धन सदन जो, अनमिल सबहिं देखाय।
नहिं इनमें कुशलात कछु, ताते मान हटाय ॥६२॥

टीका :— विवेक से देखने से ज्ञात होता है कि स्त्री, पुत्र, सम्पति, घर आदि कोई अपने नहीं हैं, इनमें जीव का कोई कल्याण नहीं है; अतएव इनकी अहन्ता-ममता का त्याग करना चाहिये ॥ ६२ ॥

व्याख्या :— मनुष्य को सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये, बाहरी मायावी वस्तुओं के लिये कष्टित नहीं होना चाहिये। सुख पदार्थों से, माया भोग से नहीं मिलता है सुख मिलता है धर्म से, सन्तोष से। जिसके मन में नास्तिकता है, जो व्यसनी, व्यभिचारी, पर द्रव्यहरणकर्ता है, भोगी, तृष्णालु है; उसको षटरस व्यंजन जीम कर, ऊँचे-ऊँचे पोशाक पहन कर, मान, मित्र, विपुल विद्या, सम्पत्ति, सुन्दर महल, रमणीय शय्या युक्त नवयुवती के संग होते हुए भी स्थायी सुख नहीं मिलता। बल्कि तृष्णा, उद्विग्नता, शोक, कमी, अतृप्ति, जगत् चिंता ही में निशिवासर झराँझार होता रहता है। और इसके अतिरिक्त, धर्म-परायण संतोषी व्यक्ति को आधा पेट सूखी रोटी खाकर, फटा वस्त्र पहन कर, धन, पुत्र, स्त्री से हीन, टूटी झोपड़ी में फटी चटाई पर सो कर सुख मिल जाता है; क्योंकि उसको तृष्णा नहीं है, वह परमार्थी है। मनुष्य को सत्संग करना चाहिये, अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यहाँ की सब वस्तुयें नाशवान् हैं। एक दिन धन, पुत्र, स्त्री, सब छूट जायेंगे। जीव के साथ में तो पाप-पुण्य ही जायेंगे।

घोड़ी जिधर जाय उधर ही यजिमानी

दृष्टांतः—एक पंडित जी घोड़ी पर बैठे अपने यजिमानी में जा रहे थे। जिस गाँव में जाना था उस ओर से घोड़ी बार-बार मचला करके दूसरी ओर मुड़ती रही। पंडित जी ने कहा—"चल घोड़ी! तू जिधर ही चलेगी उधर ही हमारी यजिमानी है।" तात्पर्य यह कि उस प्रांत

में पंडित जी की हर गाँव में यजिमानी थी। फिर जिधर ही घोड़ी गयी उधर ही उनकी यजिमानी ठहरी।

सिद्धान्त—पंडित जीव है, घोड़ी प्रारब्ध (भवितव्य) है। प्रारब्ध का भोग सुख-दुःख, रोग-निरोग, मान-अपमान, संयोग-वियोग ही यजिमानी है। प्रारब्ध-शरीर में जीव बैठ कर विशेष सुख मान, संयोग, नीरोग की ही ओर जाना चाहता है; किन्तु दुःख अपमान, वियोग, रोग ही की ओर प्रारब्ध विशेष ले जाता है। विचारवान् मनुष्य कहते हैं—"ऐ प्रारब्ध ! तू जिधर ही चले, हमें कोई चिन्ता नहीं। धन, पुत्र, स्त्री मिले अथवा न मिलें या मिल कर छूट जायँ; चाहे शरीर में रोग घेरे रहे, चाहे नीरोग्यता हो; कोई मान करे या अपमान; धन, मित्र, सुख की बाहुल्यता हो या दरिद्रता-दुःख; कोई चिन्ता नहीं; हर प्रकार हम सुखी हैं। अपने अविनाशी स्वरूप के अतिरिक्त सब क्षणभंगुर है। मायावी वस्तुओं की अधिक प्राप्ति में बल्कि अहंता-ममता अधिक बढ़कर मनुष्य का जो मुख्य कार्य है—भजन, भक्ति, सत्कर्म उससे वह हाथ धो बैठता है। निर्धनता, पुत्र-कुटुम्ब-हीनता, रोग, अपमान में तो सत्कर्म की ओर प्रेम भी जागृत होता है। जब सुख-दुःख, संयोग-वियोग सब परिवर्तन-शील हैं, तब शोक क्यों किया जाय। हाँ ! शोक करना चाहिये मोक्षप्राप्ति के लिये, अपना मानव जीवन सुधारने के लिये।

पुत्र बड़ा कि परमार्थ

दृष्टांतः—एक पुत्र-हीन ब्राह्मण ने पुत्र-प्राप्ति के लिये बहुत दिनों तक घोर तपस्या की। तपस्या के पश्चात् प्रारब्ध-वश एक अन्धा पुत्र हुआ। पुत्र बड़ा होने पर पढ़ाया-लिखाया गया। एक दिन पिता-पुत्र दोनों बैठे थे। अन्धे पुत्र ने पूछा—"पिताजी ! मनुष्य अन्धा किस कर्म से हो जाता है ?" पिता—"जो पहले जन्मों में रत्नों की चोरी किये रहता है, वही आगे जन्मों में अन्धा हो जाता है।" पुत्र—"हमारे विचार से तो ऐसा ज्ञात होता है कि कारण का गुण कार्य में आ जाता

है; अर्थात् अन्धे पिता के पुत्र भी अन्धे होते हैं।" पिता--"मैं तो अन्धा नहीं हूँ।" पुत्र--"आप पक्के अन्धे हैं। आपके बाहरी नेत्र तो अवश्य हैं, किन्तु भीतरी विवेक-विचार रूपी नेत्र आपके बिलकुल फूटे हैं। यदि आप अन्धे न होते तो जिस तपस्या-साधन से स्वरूपज्ञान प्राप्त करके मोक्ष-प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त होती है, वह तपस्या-साधन आप क्षणभंगुर मूत्र कीड़ा (पुत्र) के लिये करते! क्या पुत्र मूत्र-कीड़ा नहीं है? धिक्कार है ऐसे तुच्छ विचार पर।" विवेक पूर्वक पुत्र के ऐसे तीक्ष्ण वचन पंडित को तीर के समान लगे और वे चेत गये तथा तुरन्त ही घर-द्वार पुत्र को सौंप कर सत्संगआश्रम में परमार्थ कमाने चले गये।

मनुष्य समझता है "पुत्र नहीं होगा तो हमारा धन हमारे मृत्यु-पश्चात् कौन लेगा?" अहो! यह कितना अज्ञान है? मृत्यु पश्चात् तो जैसे अपने पुत्र वैसे दूसरे के पुत्र, सभी छूट जाते हैं। फिर कभी भी उनके दर्शन नहीं होते क्या वही पुत्र हर जन्म में पुत्र होकर साथ देगा? आज जो पुत्र है, न जाने वह पहले जन्म में कहाँ था और कौन था, और न जाने मर कर कहाँ जाकर शरीर धारण करे। प्रसन्न चित्त से धन से धर्म करना चाहिये। संत-महात्माओं की सेवा, गरीब-दुखियों की रक्षा और लोकहिताय कार्यों में धन खर्च करना चाहिये। धर्म ही सच्चा पुत्र है, जो लोक-परलोक प्रत्येक स्थल पर तुम्हारा साथी है।

यह भी बात नहीं कि 'धन, कुटुम्ब एवं पुत्र होने से परलोक में तो नहीं, परन्तु इस लोक में सुख मिलता है।' यदि अपने कर्म बिगड़े रहते हैं तो विशेष धन, स्त्री आदि होने पर भी वे भोगने को नहीं मिलते। शरीर में रोग लग जाता है और जीवन भर चने तथा जौ की रोटी बिना नमक के खाना पड़ता है, संयम से रहना पड़ता है। कुटुम्ब-पुत्र होते हुए भी ये मदान्धी और मन के विरुद्ध हो जाते; या रोगी हो जाते हैं; अथवा अच्छे कुटुम्ब-पुत्र होने पर भी यदि अपने कर्म बिगड़े रहते हैं, तो ऐसे समय तथा देश में पड़ जाना पड़ता है कि वहाँ पुत्र, धन, आदि

सहायता नहीं कर सकते और असहाय में प्राण त्याग करने पड़ते हैं। यदि अपने कर्म बिगड़े नहीं हैं तो विशेष धन, कुटुम्ब और पुत्र न होने पर भी उसे दुःख नहीं होता। वह जीवन भर विशेष नीरोगी रहता है, उसे शरीरनिर्वाहिक वस्तुयें सहज में मिल जाती हैं। कुछ रोग-व्याधि में गाँव, पड़ोस के लोग सहायता कर देते हैं। उसका जीवन मजे में, सुख पूर्वक कट जाता है। सबसे बड़ाभारी सुख तो संतोष है। संतोष मिल जाने पर कोई दुःख नहीं रहता। यह भी कभी नहीं सोचना चाहिये कि पुत्र से तरन्तार है। पिता-पुत्र, स्त्री-पति, किसी का किसी से तरन्तार नहीं है; बल्कि ये सब तो बाँधने वाले हैं। तरन्तार है सत्संग और अपने सत्कर्म से। इसलिये धन, पुत्र, स्त्री, मान, बड़ाई, नीरोग्यता आदि सभी की आशा त्याग कर सत्कर्म-भजन-भक्ति करके लोक-परलोक के सुख तथा मोक्ष का भागी बनना चाहिये।

शब्द चेतावनी

करो मन भजन मनुज तन पाइके ॥ टेक ॥

काम क्रोध भय लोभ मोह मद, शोक द्रोह बिसराइके।
तोष दया सत शील भक्ति, समता विराग अपनाइके ॥ १ ॥

बड़ो भाग्य यह शुभ तन पायो, त्रय खानिन से आइके।
अबकी चूके फिर रहि जइहौ, दुखहि में दिवस बिताइके ॥ २ ॥

माया के मद में मत भूलो, धन कुटुम्ब को पाइके।
आवत जात इन्हें नहिं देरी, सपन समान बिलाइके ॥ ३ ॥

भोगन से सुख कबहुँ न होइहैं, सकल जगत् धन पाइके।
भोग त्याग संतोष धरम से, शान्ति अचल सुख दाइके ॥ ४ ॥

तन धन जगत् भोग की आशा, मन से सकल दुराइके।
नित अभिलाष परम् पद चिंतन, गुरु पद प्रीत दृढ़ाइके ॥ ५ ॥

निज निज रुचि अनुसार सब, निजहिं भूल कर मान।
मान खुराकहिं जानि निज, सदा रहैं हैरान ॥६३॥

टीका :— जीव अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर और अपनी इच्छा के अनुसार खानी-वाणी के विविध बन्धनों को मान रखा है। भूला जीव अपनी खूराक मान को ही जानता है, अर्थात् मान-बड़ाई से ही यह अपनी तृप्ति मानता है और उसी में कष्टित रहता है ॥ ६३ ॥

व्याख्या :— अपने को भूल कर जीव इस प्रकार मानन्दी में बँधा है—

कवित्त

आप कांहि भूलि जीव ईश ब्रह्म मानि रहे,
बहु मत पथ नर्क स्वर्ग लोक मानहीं।
आप कांहि भूलि नारि पूत मम गेह कहे,
विविध सनेह पंच भोग मन भावहीं॥
आप कांहि भूलि ब्रह्माण्ड पिण्ड दृश्य भास,
सुख मानि ललचि ललचि बिललावहीं।
आप कांहि भूलि तन स्वपन अहं मानि,
बार बार जग जीव मरि जन्मावहीं॥

मान खुराक जीव कर जानो

दृष्टांत :— एक योगी (महात्मा) एक गुफा में रहते थे। वे एक महीना में केवल १५ मिनट के लिये गुफा से निकलते थे। जिस दिन उनके निकलने का समय रहता था उस दिन बहुत दूर-दूर के नर-नारी दर्शनार्थ प्रथम से ही गुफा पर आकर उपस्थित हो जाते थे और महात्मा के निकलते ही सब लोग उनके चरणों में गिर पड़ते थे तथा उनकी चरण धूलि को मस्तक पर चढ़ा कर सब लोग अपना जीवन कृतार्थ मानते तथा महात्मा का जय-जयकार करते थे। वहाँ का राजा अपने मंत्री से पूछा—"ये महात्मा जी एक महीना गुफा में रहकर खाते क्या हैं ?" मंत्री बोला—"मान की खुराक (बड़ाई का भोजन)।" राजा बोला—"यह प्रत्यक्ष कैसे जाना जाय ? मंत्री बोला— मैं प्रत्यक्ष कराऊँगा। ऐसा कहकर मंत्री सारे राज्य में डुग्गी (ढिंढोरा) करवा

दिया कि "अबकी बार महात्मा के दर्शनार्थ जो गुफा पर आयेगा उसको फाँसी दिलायी जायगी।" ऐसा सुनकर अबकी बार भय-वश कोई मनुष्य गुफा पर नहीं गया। महीना पूर्ण होने पर जब गुफा से महात्मा निकले तो क्या देखते हैं कि गुफा पर कोई मनुष्य जय-जयकार करने वाला नहीं है। इस प्रकार मान न पाकर बल्कि अपना अपमान जानकर महात्मा मूर्छित होकर गिर पड़े, संयोगाधीन प्रारब्ध भी समाप्त हो गया—शरीरान्त हो गया। पास में छिपा हुआ मंत्री राजा को ले जाकर प्रत्यक्ष कराया और कहा—हे राजन्! ये मान-बड़ाई के आधार से ही केवल थोड़ा-सा जल-फल कभी-कभी ग्रहण कर जीवन चलाते थे।

शिक्षाः—मान-प्राप्ति की इच्छा से किया हुआ साधन मुक्ति के विपरीत बन्धन का कारण होता है। अतएव मान बड़ाई की इच्छा त्याग कर शुद्ध निर्मानता पूर्वक कल्याणार्थ साधन में चित्त देना चाहिये।

सेवा साधन जेहि नहीं, नहिं संतन कर साथ।
दर्श पर्श गुरु ज्ञान बिन, भये प्रतंत्र अनाथ ॥६४॥

टीकाः—जिन्हें साधु-गुरु की सेवा नहीं रुचती, विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि साधनों में मन नहीं लगता और वैराग्यशील विवेकी सन्तों का सत्संग भी नहीं रहता, ऐसे जिज्ञासु जीव विवेकी साधु-गुरु के दर्शन स्पर्श (संगत) एवं स्वरूपज्ञान से विहीन होकर और मन माया के हाथ पड़ कर आश्रय-हीन हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

कुण्डलिया

धर्म ज्ञान सद्गुरु बिना जीव न पावे संच ॥
जीव न पावे संच ज्ञान बिन दुख में दहता।
बिन सद्गुण आचरण मीच विषयन कहँ लहता ॥
तन जन धन विद्या रुचिर बड़ो प्रधान प्रपंच।
सब प्रकार सुख सम्पती गुरु बिन होय न संच ॥

सद् विवेक वैराग्ययुत, शम दम जग उपराम।
समाधान श्रद्धा सहित, धारण करि विश्राम ॥६५॥

टीका:—सच्चा विवेक, वैराग्य, शम, दम संसार से उपरामता, समाधान, श्रद्धा—इन्हें धारण करके शान्ति की प्राप्ति करे ॥ ६५ ॥

व्याख्या:—जड़-चेतन की भिन्न बुद्धि विवेक है; संसार शरीर के प्रति अनासक्ति भाव होना वैराग्य है; मन का शान्त होना शम है, इन्द्रियों का स्ववश होना दम है; विषयों के प्रति दृढ़ दोष-दर्शन और ग्लानि होना उपराम है, जड़, चेतन, जगत्, बन्ध, मोक्ष आदि के प्रति निःसंदेह बोध हो जाना समाधान है; विवेकी सद्गुरु-सन्तों, सद्ग्रंथों तथा कल्याण-साधनों में अविचल प्रेम-विश्वास होना श्रद्धा है। इन सबका पूर्ण आचरण कर लेने से ही शान्ति की प्राप्ति होती है।

देह गेह गो सेज सुख, मिलै कर्म से जोय।
क्षण भंगुर सब दोषमय, समुझ सयाने लोय। ६६॥

टीका:—नीरोग्य सर्वांग इन्द्रिय युक्त सुन्दर शरीर, अच्छे-अच्छे महल-मकान, सोने के लिये सुन्दर शय्या-तोषक-तकिया, गद्दा-पलंग, मशहरी आदि जितने इन्द्रियों के पंच विषय-भोग सुख हैं ये पूर्व जन्मों के शुभ कर्म तथा वर्तमान के पुरुषार्थ से प्राप्त होते हैं; किन्तु हे श्रेष्ठ मनुष्य लोगो ! इन माया मय पदार्थों को क्षणभंगुर-नाशवान् और राग-द्वेष-उत्पादक समझ कर इनकी आसक्ति सर्वथा त्याग करो ॥ ६६ ॥

नहिं स्वारथ नहिं अर्थ कछु, केवल भोग कि टेक।
भरम रहे सब जीव नित, धरि धरि जनम अनेक ॥६७॥

टीका:—विषय-वासनाओं तथा दुर्व्यसनों से न शरीर-निर्वाह चलता है और न परमार्थ एवं कल्याण की सिद्धि होती है; प्रत्युत केवल मनःकल्पित अनर्थकारी भोगों की आसक्ति में पड़कर जीव अनेक देहें धारण करके भटक रहे हैं ॥ ६७ ॥

परमार्थ लक्षण पद

दया क्षमा सत् शील सुसंगति, धर्म विचार सु बानी है।
व्यसन त्यागि सब स्वच्छ आचरण, ज्ञान भक्ति गुण खानी है ॥
जानि मुसाफिर मोह न करता, विरति-विवेक समानी है।
समता सरल संत गुरु सेवी, परमारथी सो प्रानी है ॥

स्वार्थ-लक्षण—

अन्न वस्त्र गृह कुटुम सुरक्षा, खेती धन व्योपार करे।
सत्य न्याय व्यवहार चलावे, यथा प्राप्ति संतोष करे॥

अनर्थ-लक्षण—

चोरी ज्वारी फैसन बाजी, दुर्व्यसनी व्यभिचारी है।
पंच विषय पाँखी वत्ति झुलसे, अज्ञानी नर नारी है॥
संत भक्ति की निन्दा करते, बंचक धर्म बिगारी है।
आशा तृष्णा चाह उगै जहँ, सो अनर्थ दुखकारी है॥

शिक्षा—

त्यागि अनर्थ स्वार्थ औषधि वत्, परमारथ मग तीव्र चलो।
भक्ति विराग बोध गुरु गहि के, भव बन्धन को वेगि दलो॥

पंच विषय आसक्ति मिलि, चव खानिन के भोग।
उत्तम मध्यम नीच जो, पूर्व कर्म जस योग॥६८॥

टीका:—पाँचों विषयों की आसक्ति के वश ही जीव चारों खानियों में भटकता है। प्राणियों की जो उत्तम, मध्यम और अधम तीन स्थितियाँ हैं ये प्रायः पूर्व कर्मों की योग्यतानुसार हैं॥ ६८॥

व्याख्याः—नर जन्म में अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही सुख-दुःख चारों खानियों में देह धर-धर कर भोगता रहता है। इसलिये आज नर जन्म में हिंसा, व्यभिचार, चोरी, दुर्व्यसन अनेकों पाप कर्मों को त्याग कर दया, दान, धर्म, भक्ति आदि शुभ कर्तव्य करके लोक-परलोक के सुख का भागी होना चाहिये।

भूल दृष्टि से कर्म जो, बनत रहै दिन रैन।
गहि आसक्ती कूक बल, मानि करत सुख चैन॥६९॥

टीका:—जीव-द्वारा भूल की दृष्टि से जो कर्म रात-दिन बनते रहते हैं, विषयासक्ति के वेग से उनमें सुख तथा आनन्द मान कर जीव उन्हें करता रहता है॥ ६९॥

व्याख्याः—अपने आपकी भूल से दुःखपूर्ण विषयासक्ति सुखपूर्ण

प्रतीत होती है। स्वरूप की भूल से ही बन्धन है। भूल मिट जाने पर ही बन्धनों की निवृत्ति है। अतः भूल मिटाकर बन्धनों से रहित होना चाहिये।

दोहा—अहि विष वृश्चिक आय कहँ, जानि गहत कोऊ नाहिं।
सुखासक्ति दुखरूप लखि, जीव न राखे ताहिं॥

पशुवत् कर्म के भोग सब, जानि बूझि के त्याग।
मनुष्य भूमिका धाम यह, करि विचार सुख पाग॥७०॥

टीका:—पशुतुल्य कर्म करने और भोग भोगने का जान-समझ कर त्याग करो। यह मनुष्य-शरीर साधन एवं मोक्ष की भूमिका है; अतः विवेक पूर्वक शान्ति-सुख में लीन होओ॥ ७०॥

व्याख्याः—पशु केवल पेट-पालन और इन्द्रिय-भोग कर सकता है, उसमें विवेक की शक्ति नहीं; परन्तु मानव विवेक शक्ति सम्पन्न है। उसे चाहिये कि वह विषयासक्ति अन्धकार से ऊपर उठकर आत्म कल्याण करे।

प्रश्नः—विवेकी मनुष्य का क्या कर्तव्य है?

उत्तरः—मैथुन, मोह, जड़ पदार्थों की ममता, क्रोध, लोभ, नशा, नाच, सिनेमा, अनेकों दुर्व्यसन, प्रपंच, मनःकल्पित पाँचों विषयों के भोग त्याग कर विवेकी साधु-गुरु के सत्संग-द्वारा अपना कल्याण करे।

प्रश्नः—तब अन्न-जल आदि भी त्याग देवे?

उत्तरः—भूख-प्यास रूपी रोग को मिटाने के लिये शुद्ध अन्न-जल आदि औषधवत् हैं, अतः इन्हें ग्रहण करना उचित है।

प्रश्नः—विषय-भोग भी तो कामना रूपी रोग मिटाने के लिये औषधवत् है, अतः उसे ग्रहण करना चाहिये।

उत्तर:— सुनिये! औषध-औषध में भेद होता है, आगे बतलाते हैं—

औषधि औषधि भेद है, साधक बाधक जान।
ग्रहण करत दुख एक से, एक होत सुख पान॥७१॥

टीका :— औषध-औषध में अन्तर होता है, एक साधक हो जाता है, एक बाधक हो जाता है। बाधक से दुःखों की प्राप्ति होती है और साधक से सुखों की प्राप्ति होती है ॥ ७१ ॥

व्याख्या :— वात के रोग में पित्त की औषध तथा कफ के रोग में वात की औषध देने से रोग समाप्त होने की अपेक्षा बढ़ेगा ही। भूख-प्यास की निवृत्ति के लिये अन्न-जल अवश्य औषध के तुल्य हैं; परन्तु विषय-कामना को तृप्त करने के लिये मैथुनादिक पंच विषय-भोग औषध नहीं हैं, अपितु उनका त्याग ही औषध है। विषय-भोगों को भोगने से ही वासनायें-कामनायें बनती, बढ़ती और पुष्ट होती हैं, फिर उन्हीं भोगों को भोगने से वे मिटेंगी कैसे ?

रोग का उपचार

दृष्टांत :— एक चौकीदार कंधे पर भाला (बल्लम) रख कर थाने पर चला। थाने तक जाते-जाते धूप अधिक होने से बल्लम गर्म हो गया। चौकीदार ने समझा बल्लम को बुखार चढ़ आया है, अतः पहले चलकर चिकित्सालय में इसकी औषध करा लें फिर थाने में चलेंगे। चौकीदार चिकित्सालय में जाकर डाक्टर से औषध पूछा। डाक्टर समझ गया यह महा भोंगा है, उसने कहा "इसको रस्सी में बाँध कर कूप में लटका कर पानी में पंद्रह मिनट जोर-जोर से हिलाते रहना, बस उसका बुखार उतर जायगा।" चौकीदार ने ऐसा ही किया। पानी लगने से बल्लम ठंडा हो गया, तो चौकीदार ने समझा बुखार उतर गया। एक दिन चौकीदार की माता बीमार हुई। जोरों से बुखार चढ़ आया। एक भाई ने कहा—"माता की औषध करानी चाहिये।" चौकीदार बोला—"बुखार की तो सरल औषध मैं जान गया हूँ। शीघ्रता से माता का हाथ-पाँव बाँधो तो सही।" निदान माता को एक रस्सी में बाँधकर और कूप में डाल कर दोनों भाई लगे जोरों से हिलाने। माता चिल्लाती, तब ये सब कहते—बीमार कब ठीक-ठीक औषध करवाता

है ? फलतः पंद्रह मिनट हिलाने से बुड्ढी यम सदन को पयान कर गयी।

इस दृष्टांत से यह लेना है कि रोग की परीक्षा करके औषध करनी चाहिये। उल्टा-पल्टा करने से हानि होती है। अर्थात् भोग की उठी हुई कामना में विषय-भोग औषध रूप नहीं है, बल्कि कामना-रोग को हैजा के समान बढ़ा देने वाला है। इसलिये मनःकल्पित सुख भोगों का सर्वथा त्याग करना मुमुक्षु का परम कर्तव्य है।

आरतगर्जी मनवशी, दीन सबन से होय।
गर्ज पूर सम्बन्ध नहिं, जीव स्वतंत्रहि सोय ॥७२॥

टीकाः—स्वार्थ की भावना से पीड़ित और मनवशी जीव अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये सबसे दीनता लेता है; परन्तु स्वार्थ पूर्ण होने पर नाता तोड़ देता है। जीव स्वतंत्र है, कोई किसी का नहीं ॥७२॥

व्याख्याः—स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये क्या-क्या नहीं करता; किन्तु वही स्वार्थ की सिद्धि न देखकर क्षण में विमुख हो जाता है। सब जीव मन-वश हैं, स्वतंत्र हैं, पथिक हैं, किसी पर स्ववशता का अभिमान न करो।

जगत सकामी जीव सब, नहीं सहायक कोय।
शरण गहे गुरुदेव के, रक्षक सबके जोय ॥७३॥

टीकाः—सभी संसारी जीव कामना के वश हैं, उनमें तुम्हारा कोई सच्चा साथी नहीं है; अतएव जो सभी कल्याणइच्छुकों के रक्षक हैं उन विवेक-वैराग्यप्रिय सद्गुरु की शरण ग्रहण करो ॥७३॥

व्याख्याः—संसार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-नाती, मित्र-सम्बन्धी (जिनको ज्ञान नहीं है) सब एक-को-एक डुबाने वाले हैं। वे न अपनी हानि जानते हैं न दूसरे की। अतएव इन भवधार के जीवों की बातों में न फँस कर विवेकशील सन्त-गुरु की शरण ग्रहण करो, जिससे अपना और स्वजनों का भी कल्याण किया जा सके।

शिक्षा-छन्द

एक भाव अमृत-विष मिले, तब क्यों न अमृत ग्रहण कर।
गुरु मग रहो जग मग रहो, जीवन बिताना अवश कर॥
जग मग रहे दुख बाढ़ता, गुरु मग रहे दुख भव नशे।
तब त्याग जग-मग दुखद कहँ, तू क्यों नहीं गुरु मग बसे॥ १॥

दृष्टांत:—एक शिष्य ने कहा– हे गुरुदेव ! संसार में भक्ति-विहीन अज्ञानी तथा भक्तिमान प्राणी किस प्रकार होते हैं ? गुरुदेव बोले—सुनो ! एक ग्राम में सोमदत्त नामक ब्राह्मण रहता था, उसके माता-पिता, स्त्री और भाई भी थे। सोमदत्त सात्वकी विचार वाला था। वह सन्तों की भक्ति-सेवकाई करना चाहता था, किन्तु घर वाले उसे भक्ति से रोकते थे। एक दिन पास के ही ग्राम में एक महात्मा आये थे। सोमदत्त संयोग-वश किसी काम के लिये उस ग्राम में गया था। उस समय महात्मा जी जिज्ञासुओं को शिक्षा दे रहे थे। सोमदत्त भी नमस्कार करके बैठ गया। शिक्षा में यह प्रसंग आया--

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धनबल परिजन गुण चतुराई।
भक्ति हीन नर सोहैं कैसे, बिन जल वारिद देखिय जैसे॥
(रामायण)

ऐसा सुनकर सोमदत बहुत सोच विचार में पड़ गया और विचार करने लगा कि देखो ! आज तक ब्राह्मण नाम अपना कहला कर भी हम भक्ति धारण नहीं किये, हाय ! हमारा जीना व्यर्थ है।" घंटों विचार कर महात्मा से भक्त होने की प्रार्थना की। महात्मा बोले--"तुम अपने घर वालों को समझा-बुझा कर ठीक रास्ते पर लाओ, फिर भक्त हो जाना।" महात्मा के बहुत कहने पर सोमदत्त रुक गया, किन्तु यह निश्चय कर लिया कि किसी भाँति घर वालों को भक्ति मार्ग में लायेंगे। निदान घर आया, प्रथम पिता से कहने लगा--

चौपाई

सुनहु पिता अब बात हमारी । धारहु गुरु भक्ती हितकारी ॥
अभक्ष्य अपेय त्यागि अब दीजे । सरल दया धर्मादि गहीजे ॥
नर तन पाय पशू के कर्मा । करत न आवत तुमको शर्मा ॥

दो०—एक सन्त आये निकट, ग्राम तीर के ग्राम ।
भक्त होउ परिवार सब, छोड़हु कुमति कुकाम ॥

बोल्यो पिता सकोप रिसाई । मूढ़ तोहि साधू बहकाई ॥
साधू से बोलन नहिं चहिये । यहि मग रहै उधर ह्वै रहिये ॥
नहिं तो भगति ज्ञान समझावें । विषय भोग से प्रीति छुड़ावें ॥
बहुत कथा सत्संग जो जावे । तेहि कर बुद्धि साधु भरमावें ॥
ते पुनि घर धन छोड़ि अभागा । साधू के वे पीछे लागा ॥
यहि ते साधु भक्ति नहिं कीजै । जो मन भावे मौज करीजै ॥
पुनि मोरे घर भक्ति न छाजै । याते भक्त होन नहिं काजै ॥
खाव पियो खूब मौज उड़ाओ । नर तन धरि क्यों मन कलराओ ॥
मुए बाद को देखै जाई । भक्त अभक्त सबै मरि जाई ॥

इतने में सोमदत्त की माता आयी । सोमदत्त बोला—माता जी ! बहुत दिन पशुवत् गवाँया, अब हम सब घर भर भक्त हो जायँ तो बहुत अच्छा होगा । माता बोली—दोहा—"भयो दूत तुम पूत नहिं, कहाँ सिख्यो यह बुद्धि । भक्त होंय रोगी ऋणी, मूरख छुद्र कुबुद्धि ॥" तुम्हें मैं बार-बार समझाती हूँ कि साधुओं का साथ मत कर साधु कुछ अच्छी बात थोड़े समझायेंगे । देखो ! भक्ति हमारे घर में नहीं छाजती (नहीं शोभती) हाय ! इन भिखमंगों के साथ बैठ-बैठ कर तू हमारा कुल बोर देगा । अच्छा, हुआ सो हुआ अब से कभी भी भक्त होने के लिये नाम तक न लेना और न साधुओं का साथ करना । यदि तुम हटता से भक्त होओगे तो मैं कुआँ-ताल में डूब मरूँगी, परन्तु तुम्हारा मुख न देखूँगी । माता की ऐसी बात सुन कर सोमदत्त अपनी पत्नी के पास गया और गुरु-भक्त होने के लिये कहा उसकी स्त्री पतिव्रता और

धर्म संस्कार वाली थी, अतः सोमदत्त के कथनानुसार वह भक्त होने को स्वीकार कर ली। निदान दोनों महात्मा के पास जाकर गुरुमुख होने को कहे महात्मा धर्मपथ में लगाने के लिये दोनों को गुरु मंत्र सुना कर कंठी बाँध कर भक्त बना लिये। जब दोनों भक्त होकर अपने घर गये, तो सोमदत्त के गले में कंठी देख कर उसका पिता बहुत क्रोधित होकर बोला--"रे निगोड़े! हमारे आज्ञा-विरुद्ध तू साधु से जाकर भक्त हो गया है। तू बहुत ज्ञानी बनने चला है। अच्छा! अब तुम दोनों घर से बाहर हो जाओ, मैं तुम दोनों के मुख नहीं देखना चाहता।" ऐसा कह कर सोमदत्त को धन में कुछ भाग देकर पिता ने उसे पृथक् कर दिया। अब सोमदत्त दूसरा घर बना कर दोनों प्राणी रहने लगे। सोमदत्त का मणिचक्र नामक दूसरा भाई था, वह भी संतों के सत्संग में जाने की इच्छा करता, उसकी भी रुचि भक्त होने तथा साधु सेवा में थी; किन्तु अभागे माता-पिता बरबस रोक रखे। इधर सोमदत्त दोनों प्राणी अपने व्यवहार का काम देख कर नित्य सत्संग एवं सद्ग्रन्थ में लव लगाते। समय-समय से गुरुदेव या अन्य महात्मा भी आया-जाया करते, और सोमदत्त भली प्रकार संतों की सेवा करता। एक बार गुरुदेव आये तो सोमदत्त बोला--

चौपाई

"निरखत पंथ रह्यों दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।"

तुरंत ही स्वच्छ आसन बिछा कर गुरुदेव की त्रयबार बन्दगी-दण्डवत् कर चरण धो, चरणामृत ले आसन पर पधारने का आग्रह किया, क्योंकि—

दो०—गंग नहाये सहस वर, द्वारावति शत जान।
संत चरण जल जो पिये, तुलै न तेहि सम आन॥ विश्रा०॥

गुरुदेव के जलपान एवं भोजन कर लेने के पश्चात् जब आसन पर जा विराजे तब सोमदत्त त्रयबार बन्दगी दण्डवत् कर प्रश्न करने की आज्ञा लेकर प्रश्न किया कि गृहस्थी में रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण

कैसे करे ? क्योंकि—"गृह कारज नाना जंजाला।" अतः दयाकर समझाने का कष्ट करें ? गुरुदेव बोले—

चौपाई

सुनिए सोमदत्त मन लाई। गृही धर्म संतन अस गाई ॥
मानुष देह जीव तब पावे। जब बहु पुण्य उदय होइ आवे ॥
लोक और परलोक सवाँरन। फल मानुष तन को है धारन ॥
अन्न द्रव्य संग्रह करि नाना। धर्म भक्ति बिन पशू समाना ॥
वस्त्र अन्न जल देह को कामा। धर्म भक्ति परलोक को सामा ॥
नर तन पाय भक्ति नहिं कीन्हें। धर्म पुण्य में चित नहिं दीन्हें ॥
तिनसे अच्छा पशु तन धारी। जे पर हेत सहत दुख भारी ॥

दो०—प्रथम कुसंगति त्यागि के, भक्ति माहिं लव लाय।
निरछल सद्गुरु संत से, प्रेम हृदय दृढ़ताय ॥ १ ॥
खेती या व्यवसाय में, जो कुछ अपने होय।
संत भक्ति अरु पुण्य में, यथासक्ति करि सोय ॥ २ ॥
क्षुधित पिपासु को अन्न जल, रोगिहिं औषधि देय।
वस्त्रहीन को वस्त्र दै, यथाशक्ति सहजेय ॥ ३ ॥
भूले पंथिहिं पंथ दै, अज्ञानी को ज्ञान।
मिष्ट वचन समता सहित, सबसे ह्वै निर्मान ॥ ४ ॥
ऊँच नीच सब जीव पर, समता शील स्वभाव।
कबहुँ कठोर न तुच्छता, मद छल मन में लाव ॥ ५ ॥

तन मन वचन दया उर धारै। भरसक हिंसा होन निवारे ॥
पर धन गुण वो प्रभुता देखी। इर्षा करे न क्रोध विशेषी ॥
दुखी देखि नहिं हर्ष बढ़ावे। नहिं तो पाप कर्म बनि जावे ॥
पर सुख में सुख दुख में दुखिया। अंतःकरण स्वच्छ तेइ सुखिया ॥

सवैया

पत्थर धूरि समान तजे, पर द्रव्य, वो दार कुदृष्टि न कीजै।
मात पिता निज पुत्र समान, सबै जग जीव से प्रेम करीजै ॥
राग रु द्वेष प्रपंच को त्यागि के, शांति सुशील क्षमा गुण लीजै।
चोरि वो जारि कुसंगत को तजि, साधु गुरू पद भक्ति लहीजै ॥ १ ॥

गाँजा वो भाँग तमाखू जो मद्य है, औरहुँ नीच लतों कहँ त्यागै ।
शुद्ध सुरीति चलै नितही, नहिं काम वो क्रोध रु लोभ में पागै ॥
आपन हानि भले बनिजाय, पे दूसर के नहिं हानि में लागै ।
जानि के पंथी न मोह करै, नित मृत्यु को देखि सुसंगति जागै ॥ २ ॥
आजहिं काल्ह में देह छुटी, केहि के मद भूल पर्‌यो तुम भाई ।
नात वो गोत कुटुम्ब धरा धन, धामहुँ एक न संग में जाई ॥
आय के काल गहे जब कान, न कोई सहाय करे तब आई ।
त्यागि के धर्म धर्‌यो धन जोरि के, आँखि लगी सब जात गँवाई ॥ ३ ॥
याहि से बेगि करो तुम चेत, सदा सुख होय सुसंगति ही से ।
जो परलोक चहो सुख भोग, तो दान वो भक्ति सुधर्म गही से ॥
आँख मुदी नहिं खोलत हो कस, जागो रे जीव ! सु धर्म लही से ।
भूल में आयु गयी सो गयी, अभिलाष करो गुरुदेव सही से ॥ ४ ॥

दो०—धर्म पुण्य उपकार से, मायाकृत सुख पाय ।
भक्ति बोध वैराग्य गहि, जन्म मरण भ्रम जाय ॥ १ ॥
यथाशक्ति कीजै सबहिं, धर्म भक्ति वैराग ।
विषय त्याग जो ना बनै, तो भी गुरु मग लाग ॥ २ ॥
सोमदत्त हर्षित हृदय, कियो कृतारथ आज ।
जय जय जय गुरुवर दया, सर्‌यो हमारो काज ॥ ३ ॥

इस प्रकार प्रतिदिन सोमदत्त का धर्म, भक्ति तथा गुरु-संतों की सेवा में व्यतीत होता । उसका गृहस्थी घर ही स्वर्ग बन गया था; क्योंकि जहाँ सर्व प्रकार दुर्गुणत्याग, संतोष, भक्ति, क्षमा आदि सद्‌गुण विराजते हैं, वहाँ का सुख क्या वर्णन किया जाय ? सोमदत्त के सुसंग से ग्राम तथा आस-पास के बहुत मनुष्य सुधर कर साधु-गुरु की भक्ति में लग गये । और आस-पास के सब लोग सोमदत्त को सर्वश्रेष्ठ श्रेणी के मनुष्य समझने लगे ।

अब सोमदत्त के पिता का समाचार सुनिए ! उसके एक और पुत्र था जिसका नाम मणिचक्र था। वह माता-पिता के रोकने से सुसंग-भक्ति से रुक गया था । संसार में सुसंग-कुसंग दो ही हैं। सुसंग से रुक कर

वह महान कुसंगी हो गया। जूआ, मद्य-पान, वेश्यागमन आदि कोई भी दुराचरण मणिचक्र से छुटा न था। एक दिन मणिचक्र बाहर से शराब पीकर जब घर आया, तो उसकी स्त्री सुसक-सुसक कर रोने लगी। मणिचक्र--"क्यों रोती है?" स्त्री—"मैं अपनी विपत्ति को क्या कहूँ? उस बुड्ढी के आगे हमारी बात मानोगे? या तो तुम अपने माई-बाप को ही लेकर रहो, या हमें लेकर रहना है तो उस बुड्ढी को निकाल दो। वह बुढ़िया भोजन बनाने, पानी भरने एवं बर्तन माजने में तो मरी जाती है, बल्कि उल्टे हम दोनों के सुख देख कर जलती है।" इतना सुन मणिचक्र क्रोधपूर्ण हो गया, और बुढ़िया को मारने के लिये हाथ में डण्डा लेकर बाहर आया। बुढ़िया कुआँ के जगत पर झुकी हुई पानी भर रही थी। मणिचक्र बोला—"रे हरामजादी! तू हमारी परम प्यारी का सुख देख कर जलती है? रह! तुझको इसका मजा चखाता हूँ।" ऐसा कह कर बुड्ढी की कमर में एक लाठी मारी और बुड्ढी कुआँ में झमाक से गिर पड़ी। इतने में सोमदत्त घर से निकल कर गोहार लगाते हुए कूएँ में जाकर कूद पड़ा, और बुड्ढी मिट्टी में धँस गयी थी उसे जोर से निकाल कर पानी के ऊपर आया। इतने में बहुत मनुष्य एकत्रित हो गये। सभी सोमदत्त सहित बुड्ढी को कूप में से निकाले। पुनः सोमदत्त बुड्ढी को अपने घर ले जाकर उसकी विविध भाँति सेवा-सत्कार किया। बुड्ढी अपने दुष्कर्तव्यों पर बहुत लज्जित हुई। अन्त में कुछ दिन सुसंग पड़ने पर धर्म-भक्ति में वह भी लग गयी।

अब तो सोमदत्त की स्त्री बुड्ढी की देवी के समान सेवा करती, एक दिन मणिचक्र अपने पिता की डंडों से सेवा कर रहा था। जितना बुड्ढा गाली देता, उतना ही मणिचक्र मारता जाता। ऐसा देख कर सोमदत्त किसी भाँति बुड्ढे को बचाया और कहने लगा—"पिता जी! आप भी चलिये! वह हमारा घर आप ही का है।" इतना सुन कर बुड्ढा बोला—"जा! जा!! जा!!! हम तुम्हारे घर नहीं जाना चाहते

तू जा ! साधुओं के पीछे मर !" सोमदत्त सोचने लगा "अहो ! अज्ञान की महिमा बड़ी प्रबल है ; यह अभी भी भक्त होने के डर से हमारा साथ नहीं करना चाहता ।" इधर मद्य-पान वेश्यागमन आदि से मणि-चक्र की दशा बहुत ही बिगड़ गई थी । इस प्रकार मणिचक्र की चाल देखकर उसकी स्त्री एक रात्रि को किसी दूसरे पुरुष के साथ कहीं अलग भाग गयी । प्रातःकाल मणिचक्र स्त्री को न देख कर पिता से दाँत पीसते हुए बोला—"रे बुड्ढा ! तेरे कारण हमारी परम प्यारी स्त्री अलग चली गयी । निदान दोनों में बात बढ़ते-बढ़ते लाठियाँ चलने लगीं । होते-होते मणिचक्र की लाठी लग जाने से बुड्ढा तो यम-सदन को पयान किया; किन्तु मणिचक्र को भी सरकार के न्याय-द्वारा फाँसी का तख्त देखना पड़ा । यह दृष्टांत कहते हुए गुरुदेव ने शिष्य से कहा—हे शिष्य ! इसी मणिचक्र एवं उसके पिता-माता के समान भक्ति-ज्ञान-सद्गुण बिना जीव दुःख पाते हैं । और सोमदत्त जैसे भक्तिमान-सन्तोषी-सतोगुणी एवं सन्तसेवी प्राणी ही लोक-परलोक में सुखी रहते हैं, इस प्रकार गुरुदेव की शिक्षापूर्ण वाणी सुन कर शिष्य-वन्दना करने लगा—

छन्द

जय सद्गुरु पावन, धर्म दृढ़ावन, जीव बचावन भव से ।
दुर्गुण दुख भञ्जन, जन मन रञ्जन, जलत निकारत दँव से ॥
जय ज्ञान स्वरूपं, परम अनूपं, तव बिन जीव दुखारी ।
जय सुख के दाता, ज्ञान विधाता, पारख निश्चय विहारी ॥ १ ॥

शब्द

शरण मिले हैं गुरु ज्ञाना हो, मेरो भाग जगी है ॥टेक॥
गुरु बिन उर अँधियार रैन सम, मिलत उगत जिमि भाना हो ॥ १ ॥
सन्त स्वरूप ज्ञान की मूरति, पर्शत तपन बुझाना हो ॥ २ ॥
बिन गुरु यम फन्दा नहिं छूटत, कोटि कर्म करि आना हो ॥ ३ ॥
तीरथ बरत सकल गुरु शरणे, जप तप यज्ञ महाना हो ॥ ४ ॥

राम कृष्ण हरिहर विधि नारद, सब गुरु शरण लुभाना हो ॥ ५ ॥
गुरु मुख मन्त्र सुनत अघ नाशत, निर्मल ज्ञान उगाना हो ॥ ६ ॥
बहुत जन्म के पुण्य उदय भयो, सद्गुरु शरण भेटाना हो ॥ ७ ॥
कह अभिलाष शरण गुरु गहि के, जन्म मरण तरि जाना हो ॥ ८ ॥

प्रसंग–९–घटाध्यास विनाश

घटाध्यास सुख भास को, करै युक्ति से बाध्य।
अभय अकामहिं जानि निज, सद्रहस्य को साध्य॥७४॥

टीका :—शरीर की आसक्ति तथा पाँचो विषयों में सुख की प्रतीति को युक्तिपूर्वक नष्ट करे। अपने आप को निर्भय और निष्काम जान कर, वैसो स्थिति की प्राप्ति के लिए विवेक वैराग्यादि सद्गुणों की साधना करे ॥ ७४ ॥

व्याख्या :—जब जीवन दुःखमय है, यह शरीर हड्डी, मांस, मल-मूत्रों का पिण्ड घृणित और दुःखपूर्ण है; जब इस शरीर से जीव का किंचित भी लाभ नहीं, प्रत्युत इसी द्वारा त्रयताप-त्रयअवस्था-त्रयपनजनित दुःख, मान, अपमान, निन्दा, शोक,दरिद्रता, धनान्धता अनेकों शारीरिक, मानसिक रोगों का नित्य-नित्य शिकार बनना पड़ता है, जब इस शरीर की आसक्ति से ही प्रिय वियोग, गर्भ एवं जन्म-मरण की कठिन वेदनाओं को सहना पड़ता है तब इसकी आसक्ति त्यागने में विलम्ब ही क्यों किया जाय ? जब अपना ज्ञानस्वरूप निर्विकार तथा शुद्ध, नित्य सन्तुष्ट, नित्य तृप्त, निश्चिन्त, निर्भय, अपने आप अमृत धाम और शांत स्वरूप है, फिर देहादि की आसक्ति त्यागने में ढिलाई क्यों ? तात्पर्य यह कि नित्य प्राप्त, नित्य सन्तुष्ट, मुझ चैतन्य के विषय यह शरीर-संसार नितांत निष्प्रयोजन है, फिर भी इसकी आसक्तिवश इसके साथ में पड़ कर मुझ शुद्ध चैतन्य को घोर कष्ट सब भाँति से प्राप्त हो रहे हैं। इसलिये भलीभाँति दुःख के कारण की परीक्षा करनी चाहिये और इस देहाभिमान शत्रु का सर्वथा नाश करना चाहिये। इस शरीर

की संसार की, पंच विषय की तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जब इस अपावन, कष्टमय शरीर का आज-कल में नष्ट हो जाना निश्चित है; तब प्रथम से ही आसक्ति त्याग कर क्यों न निष्कंटक मोक्ष पद प्राप्त कर लिया जाय ? यह खूब ध्यान में रखना चाहिये कि संसार-शरीर की आसक्ति का पूर्ण अभाव कर देने वाला ही परम, एकरस, नित्य शान्ति रूप मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। संसार शरीर की आसक्ति रूपी सर्प जिलाए हुए जन्मादिक दुःखों से छूटना असम्भव है। अतः संसार-शरीर की आसक्ति काल से भी भयंकर जानकर इन्हें निर्दयतापूर्वक शीघ्र त्यागना चाहिये।

जस रुज तैसहिं करि दवा, तैसहि योग मिलाय।
सेवन करि संयम सहित, मन रुज सकल नशाय ॥७५॥

टीका :—जैसा रोग है वैसा ही संयम के सहित औषधि का सेवन करे, तो सारे 'मानसिक रोग समाप्त हो जायँ' ॥७५॥

व्याख्या :—जड़ासक्ति का रोग प्रबल है। इस रोग का विध्वंसक वैराग्यवान्-विवेकवान् सद्गुरु सन्तों की शरणागति, उनके प्रति भक्ति-उपासना, सेवा, धर्म में प्रेम, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, एकांत सेवन, मनोनिग्रह आदि हैं, परन्तु ये औषध तब फलप्रद होंगे जब कुसंग और विषय का त्याग रूप संयम हो।

जो कार्य होने योग्य है, वह दृढ़ निश्चय और सर्वाङ्ग पुरुषार्थ से अवश्य हो जाता है। अतः संसार-शरीर की आसक्ति मिटाने तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए शीघ्र प्रयत्नवान् होना चाहिये।

साधि मनोबल शुद्ध हो, ब्रह्मचर्य को पालि।
हर्ष, शोक नहिं गर्ज तहँ, स्वयं स्वतः सम्भालि ॥७६॥

टीका :—अष्ट मैथुनों के त्यागपूर्वक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने और विवेक-वैराग्यादि की साधना करने से मनोबल शुद्ध और विचारोन्मुखी

हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर साधना करते हुए जब साधक अपने आप को अपने आप ही में स्थित एवं स्ववश कर लेता है, तब उसके अन्तः-करण में सांसारिक वस्तुओं के प्रति हर्ष, शोक और कामना नहीं रह जाती ॥७५॥

व्याख्या :—आध्यात्मिक साधनायें ऐसे सद्यफलप्रद हैं कि उनके विचार, स्मरण, प्रयोग और परिणाम—सभी समयों में साधक को स्वच्छता, स्वतन्त्रता, स्ववशता एवं शांति की प्राप्ति होती है। आसक्ति-रहित पुरुष संसार के अपमान-सम्मान, सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक से ऊपर उठ जाता है। उसकी स्थिति इस प्रकार हो जाती है :—

सवैया

आवन था तहँ आइ लियो अब, जावन था तहँ जाइ लियो है।
पावन था अब पाइ लियो सोइ, बाकी न आश न वास जियो है॥
तुच्छ सबै भ्रम जानि के त्यागि, अगर्ज अतृष्ण सुधा कूँ पियो है।
अखंड अनूप अचिंत अकाम, स्वपारख धाम में बास कियो है॥

शिक्षा :—मोक्ष साधक को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना परम आवश्यक है; क्योंकि स्वरूपज्ञान संयुक्त ब्रह्मचर्य जीवन ही दुःख-रहित, निश्चिन्त जीवन है।

दृष्टांत :—एक राजा ने एक दूसरे राजा पर चढ़ाई करके लड़ाई में उसे जीत लिया और उस पराजित राजा को जान से मार डाला। विजय किये हुए नवीन राज्य पर विजयी राजा अपना अधिकार चलाता रहा। एक दिन राजा पूर्वजों का इतिहास पढ़ने लगा। उसमें लिखा मिला कि राजा रामचन्द्र ने बालि पर विजय कर सुग्रीव को और रावण पर विजय कर विभीषण को राज्य दे दिया। स्वयं उस पर अधिकार जमाना न्याय न समझा। ऐसा पढ़ कर राजा ने सोचा कि मैंने बहुत अन्याय किया। अब हमें भी इसी राजा के खान-दान वालों को इस राज्य को देकर अपने राज्य में चला जाना चाहिये। ऐसा विचार कर राजा पता लगाने लगा कि जिस राजा की हत्या की गयी है, उसके कोई

अन्य भाई बन्धु हैं या नहीं ? निदान पता लगा कि उस पूर्व राजा के और तो कोई नहीं है मात्र एक भाई साधु हो गये हैं, वे ही हैं। ऐसा सुन कर उन्हें बुलाने के लिए मन्त्री को भेजा। मन्त्री के जाने पर महात्मा ने उत्तर दिया कि राजा की यदि इच्छा होगी तो वह स्वयं आकर मिलेगा। राजा मन्त्री-द्वारा ऐसी बात सुन कर स्वयं गया और प्रार्थना करके कहा—हे सन्त भगवान् ! "मैं आपके भाई को मार कर अन्यायपूर्वक उनके राज्य पर अधिकार जमा रखा था; किन्तु अब मैं चाहता हूँ कि उस राज्य गद्दी को आप स्वीकार करें और मैं अपने स्वयं के राज्य में जाऊँ।" राजा की यह प्रार्थना महात्मा ने अस्वीकार कर दी और कहा कि "यह राज्य-काज का व्यर्थ बोझ मैं नहीं ले सकता।" राजा करे ही क्या, लौटना पड़ा। राजा मन्त्री से आकर पूछा कि "सन्त ने क्यों नहीं राज्य लिया ?" मन्त्री समझदार और सत्संगी था, उसने कहा—"जिन्होंने विषय-कामना त्याग दी है, इन्द्रियों के व्यर्थ भ्रम सुख जिन्हें नहीं चाहिये वे किसी से क्यों दीन बने ? दुःखपूर्ण क्षणभंगुर पदार्थों की आशावश अपना त्यागमय स्वतन्त्र जीवन क्यों नष्ट करें ? जैसे किसी को फोड़ा, फुन्सी, ज्वर, जूड़ी, मृगी, दाद, खाज; पेटपीड़ा, कुष्ट आदि अनेकों रोग कष्टित कर रहे हैं, तो वह अनेक रोगों की अनेकों औषध भी यथा-साध्य रखता और करता है; और जिसके एक ही दो रोग हैं वह एक ही दो औषध रखता और जिसे किसी प्रकार का रोग नहीं है वह कोई भी औषध क्यों रखेगा ? तद्वत आप जैसे संसारियों को विषय भोगों की अनेक कामनायें, चाहनायें रूपी रोग सता रहे हैं तो आप राज्य-सम्पत्ति, रानी-महारानी की आवश्यकता समझते और उसकी चिन्ता में रहते हैं; और जिसने विषयों की इच्छा ही छोड़ दी है, जो मुख्य कामशत्रु को जीत कर और अखण्ड ब्रह्मचारी बन कर शरीर-निर्वाह में भी शुद्ध सादगी अल्प ही में सन्तुष्ट होते हुए अविनाशी के भजन में निमग्न है, वह मलिन कंचन-कामिनी एवं धूलरूप राज्य-सम्पत्ति की कामना-चिन्ता क्यों करे ! यह आप नहीं जानते कि केवल काम के वश होने से ही

जीव लोक, परलोक में दीन बनता और दुःखी रहता है ! स्त्री पुरुष को पुरुष स्त्री को काम-कीचड़ में डाल कर जन्म-जन्मान्तर रुलाया करते हैं। हे राजन् ! जीव का उद्धार, मुक्ति-गति को तो कहना ही क्या है, सांसारिक पदार्थ राज्य-सम्पत्ति विद्यादि सुख भी ब्रह्मचर्य के बिना सिद्ध नहीं होते। वीर्यरक्षा परम सुधार और वीर्य पतन ही परम बिगाड़ है। अतः अष्टांग कामासक्ति को जीतकर पूर्ण ब्रह्मचारी बनना चाहिये।" राजा बोला--"आठ[१] प्रकार के काम कौन-कौन हैं, पुनः उनसे कौन-कौन हानियाँ होती हैं; और उन्हें जीत कर पूर्ण ब्रह्मचारी बनने के कौन से साधन हैं ?"

मन्त्री :--(१) स्त्रियों के सुने हुए या देखे हुए रूप, नाम, अंग, वस्त्र आदि का कामेच्छा से स्मरण करना, (२) स्त्रियों के अंग, रूप, विषय-क्रिया का वर्णन करना, तथा कामोत्तेजक गंदे-भद्दे गीत गाना, (३) स्त्रियों के साथ ताश-सतरंज खेलना-खेलाना एवं हँसी-मजाक करना, (४) स्त्रियों को बार-बार शिर उठा कर काम दृष्टि से देखना, (५) बार-बार स्त्रियों में आना-जाना, गुप्त रूप से बात करना, अथवा एकान्त में मिलना, (६) स्त्रियों के रूप-रंग का अथवा उसकी प्राप्ति की कल्पना करते रहना, (७) स्त्री-प्राप्त के लिये पुरुषार्थ करना, (८) प्रत्यक्ष दम्पत्ति भोग क्रीड़ा, ये आठ काम के अंग हैं। इन कामों में का एक भी लक्षण अपने पास यदि होगा तो सभी अंग आ जायेंगे, अतः आठो अंगों सहित काम को छेदन कर हृदय से निकाल देना चाहिये। उपर्युक्त कामासक्ति से जो-जो हानियाँ होती हैं, सो भी सुनो--धर्म, भक्ति, दया, क्षमा, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण, शरीर-शक्ति, पुरुषार्थ, दिमाग की शक्ति, लोक-परलोक, शांति-कांति, सुयश-प्रताप, दुर्गुण रहित मानसिक स्थिरता का सुख, विद्या, विनय, जवानी, रूप,

---

दोहा १-श्रवण[1] सुमिरन[2] कीर्तन,[3] चितवन[4] बात इकंत[5]।
दृढ़ संकल्प[6] प्रयत्न[7] पुनि, मैथुन[8] अष्ट कहंत॥

सौंदर्य, माता-पिता, गुरु-सन्तों की सेवा तथा स्थिति-मुक्ति सभी से काम-फन्द में पड़कर मनुष्य हाथ धो बैठता है।

यदि जीव सच्चा सुख चाहता है तो काम को पूर्ण जीतकर अखंड ब्रह्मचारी बनने के ये साधन शीघ्र अपनावे--ब्रह्मचर्य में अनन्त सुख है और इसके बिना अनंत दुःख है, अर्थात् काम में एक क्षण क्रीड़ा और हर क्षण पीड़ा है, यह दृढ़ निश्चय कर ले। कागज-पुस्तकों में बने हुए चित्रों या प्रत्यक्ष स्त्री की ओर कदापि दृष्टि न करे, यदि उधर सहजिक दृष्टि चली गयी हो तो शीघ्र घुमा ले, यह परम साधन है। क्यों कि स्त्री के मलिन शरीर पर दृष्टि जाते ही सर्व उपद्रव आते हैं और बारम्बार चिंतन होता है अतः पहले से ही उधर दृष्टि न करें। बुरे संकल्प न करें। नाच, सिनेमा, खेल, तमाशे न देखे। विशेष शहर-बाजार अनावश्यक न घूमें। जितने दुर्व्यसन गाँजा-भाँग, मदिरा-मांस, पान, बीड़ी तम्बाकू आदि हैं, भूल कर भी न ग्रहण करे। सादा-स्वल्प शुद्धतापूर्वक भोजन करे। सादगी-सदाचरण, अन्तर-बाहर पवित्र रखे। कुसंग को सर्प के समान जानकर उससे दूर रहे। शरीर को सजाने वाले पुरुषों से भी दूर रहे। नर-नारियों को रिझाने के लिये रसिक-विषयभरी वाणी न कहे। देह के चिकनाव-बनाव में कभी न भूले; क्योंकि यह मल-मूत्रों से पूर्ण, महामलिन, दुःखरूप, क्षणभंगुर, मृतक रूप है। जीभ की स्वादासक्ति बिलकुल त्याग करे, यह काम को सींचने वाला है। शरीर-इन्द्रियों को दुःखमूल जान कर इसका अभाव रखे। सत्संग व संत-गुरु की भक्ति तथा कोई भी शुद्ध स्वार्थ-परमार्थ के काम से अपने को कभी छुट्टी न देवे। सद्ग्रंथ पढ़े, याद करे, मनन चिंतन करे। बुरे संगीत-नाटक-अखबार आदि कुग्रंथ न पढ़े। अपने चैतन्य स्वरूप को सबसे भिन्न समझ कर मोह-माया-रहित शक्ति अनुसार एकान्त में स्वरूपस्थिति का अभ्यास करे। वैराग्यवान् संत-गुरु का ध्यान करे। कामासक्ति पर पूर्ण विजयी तभी जानो जब शरीरासक्ति सर्वथा जीत लिया हो।" इन साधनों को सुनकर राजा तुरंत ही दृढ़ निश्चयता पूर्वक कामासक्ति को जीतने

लगा आर थोड़े दिनों में पूर्ण विजयी हो गया और सम्पूर्ण प्रपंचासक्ति त्याग कर सत्संगी हो गया। अब उसके लिये राज्य-सम्पत्ति गृह-दार, इन्द्रियसुखादि फीके हो गये। धन्य-धन्य इन्द्रियजीत की महिमा को।

शिक्षा— हे मित्र! आप भी तृष्णा-रहित सुख-शांति मय जीवन व्यतीत करते हुए यदि प्रारब्धांत में जन्मादिक दुःखों से छूट कर मुक्त होना चाहते हैं तो अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करें।

शब्द

तजो मन ! काम काल दुखदाई ॥ टेक ॥

कोमल रूप वारि के आवे, तन में सुख दरशाई।
नारि पुरुष व्याकुल दोउ होवे, ज्ञान ध्यान बिसराई ॥१॥
भक्ति धरम परलोक से छूटैं, सत्संगत छुटि जाई।
बोध विराग मुक्ति सुख शांती, सब दुर्गम होइ जाई ॥२॥
धन बल विद्या बुद्धि तेज यश, सद्गुण सुख विनशाई।
रोग व्याधि चिन्ता से आतुर, जलत चाह चित लाई ॥३॥
सकल शोक वो जन्म मरण कौ, बीज काम दिखलाई।
याको त्याग नहीं दुःख जग में, जीवन सुखद बिताई ॥४॥
पाँचों विषय देह आसक्ती, त्यागि परम पद पाई।
तब अभिलाष सकल दुःख छूटे, जब नहिं चाह चलाई ॥५॥

भूल विवश फिर फिर वही, क्रिया करत मन लाय।
सुख हंता वश गाफिली, थिरता सजग नशाय ॥७७॥

टीका :— मनुष्य भूल-वश पुनः-पुनः वही आसक्तिपूर्ण क्रिया करता है। विषय सुखों की अहंता-वश असावधान होकर स्थिरता और जागरूकता को नष्ट कर देता है।

व्याख्या :— साधक थोड़ी ही साधना में अपने को कृत्यकृत्य मान लेता है; इसलिये वह असावधान होकर भक्ति, सत्संग, सद्ग्रंथ-अध्ययन, सेवा, विनम्रता आदि को भी छोड़ देता है। इनके छूट जाने पर वह पुनः मनोमय की धारा में बहने लगता है और उसकी

हृदयस्थ शान्ति समाप्त हो जाती है । अतएव निरन्तर सावधानी की आवश्यकता है।

छन्द

निज वासना वश जान कर हन्ता वो ममता त्यागिये ।
दुख दृष्टि का अभ्यास कर गुरु भक्ति में चित पागिये ॥
निज मौत सन्मुख जान कर बस धीरता को धारिये ।
क्योंकर वृथा अभिमान कर? अब मुक्ति धाम पधारिये ॥

करि अभ्यासहिं एकरस, जड़ अध्यास हटाय ।
लखत रहे निज फूरना, दुखमय सदा देखाय ॥७८॥

टीका :— विवेक-वैराग्य का एकरस अभ्यास करते हुए विषयासक्ति को दूर करे । अपने मन के स्मरणों को देखता रहे उनको सदैव दुःखरूप समझे, उनसे पृथक रहे ॥७८॥

व्याख्या :— मैं अजर, अमर, नित्य संतुष्ट, नित्य प्राप्त हूँ और दुःखमय संसार-शरीर मुझसे बहुत दूर हैं; इस प्रकार बोध-वैराग्य का एकरस तैलधारावत् दृढ़ अभ्यास करते हुए सर्व जड़ाध्यास, विषयासक्ति और देह की अहन्ता-ममता को दूर बहा देना चाहिये । और अपने मन के स्मरणों को सदा देखता रहे कि कौन-कौन-सी कुवासनायें हमारे मन में उठती हैं। इस प्रकार मन की कुचाल, सुखाध्यास, मान-भोग की वासनायें, देहाभिमान आदि सदा दुःख पूर्ण ही दिखलाई पड़े ।

इस संसार की आसक्ति को दुःखपूर्ण जान कर प्रति क्षण अपनी स्थिति के लिये घोर चिन्ता संयम तथा प्रयत्न करना चाहिये। यथा—

कवित

खावत पिवत माहिं उठत चलत माहिं,
कारज करत माहिं सब छिन्न भिन्न जू ।
फाँसी को सुनत निज जैसे एक चित्त होय,
स्वपन समान जग ताहि को सदिन्न जू ॥

जैसे एकलौता पुत्र मरे दुख थाह नहिं,
ताहि सम दुख देखि ताहि से विभिन्न जू ।
हर क्षण चित्तवृत्ति जग से उठाये रहे,
एकरस वृत्ति बस पारख अछिन्न जू ।।७८।।

दुख सुख रहित स्वरूप निज, चेतन स्वतः अखण्ड ।
निज को भूलि प्रतंत्र है, क्रिया करत प्रचण्ड ।।७९।।

टीका :— अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप दुःख-सुख द्वन्द्वों से पृथक है, चेतन है, अपने आप और अखण्ड है । ऐसे अपने निर्विकार स्वरूप को भूल कर ही यह जीव विषय वासनाओं के वश परतंत्र हो जाता है और इन्द्रियभोगों के लिये दुःखदायी भयंकर कर्त्तव्य करने लगता है ।।७९।।

सोरठा

चिन्ता सकल बिसारि, भिन्न लखै निज को सदा ।
गुरू कृपा को धारि, संतत तृप्त स्वरूप में ।।८०।।

टीका :— स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तथा गृह-धन की चिन्ता, शारीरिक निर्वाह, शारीरिक रोग, शारीरिक नाश एवं मृत्यु की चिन्ता, दास-दासी, जगत्-भेष, महल-मन्दिर, मान-पुजापा, साज-समाज आदि को स्ववश-स्वानुकूल बनाये रखने की चिन्ता एवं इस असार-संसार के दुःखपूर्ण विनाशी सर्व पदार्थों की चिन्ता-कल्पना को बिसार कर उपर्युक्त मायामय स्वप्नवत् संसार-शरीर पिण्ड-ब्रह्माण्ड से अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप को सदा पृथक समझे और गुरुदेव की कृपादृष्टि रूपी पारख बोध को हृदय में धारण करके सर्वदा स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहे और इस संसार-शरीर की कुछ भी इच्छा न रखे ।। ८० ।।

निजहिं भूलि सम्बंध, होत सदा सुख मानि के ।
विषय विवश है अन्ध, करत क्रिया निशदिन वही ।।८१।।

टीका :— अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर और क्षणभंगुर विषयों में सदा एकरस सुख मान कर ही भोगों का सम्बंध होता है और अपनी कल्पनाओं में जीव अर्पित होता है। फिर विषय वासनाओं के वशीभूत होकर

यह जीव अन्धा एवं 'किंकर्तव्य विमूढ़' हो जाता है, और अहर्निश वही विषयासक्ति जनित कर्तव्य करने लगता है, जिससे मानसिक तृष्णा, अशान्ति एवं जन्म-मरण चक्र गतिशील रहे ॥ ८१ ॥

प्रसंग—११— षट भेद युत कारण कार्य से भिन्न द्रष्टा चेतन जीवों के अमरतादि लक्षण वर्णन ।

साखी

खण्ड रहित जीव अमर है, उत्पति रहित अनादि ।
अविनाशी यकरस अजर, और सकल जड़वादि ॥८२॥

टीका :— नाना जीव अंश-रहित, अविनाशी, उत्पत्ति-रहित, अनादि, अमर, एकरस और अजर हैं । इनके अतिरिक्त सब तुच्छ हैं ॥८२॥

चेतन स्वतः स्वरूप निज, नहीं कल्पना कोय ।
स्थिति सदा स्वरूप में, राग द्वेष सब खोय ॥८३॥

टीका:— उपर्युक्त अजर, अमर, अखण्ड चैतन्य मेरा स्वत: स्वरूप ही है अर्थात् वह मैं ही हूँ, इसमें कोई कल्पना-अनुमान नहीं है; क्योंकि सर्व का कल्पना करने वाला मैं चेतन कल्पना या कल्पित कैसे हो सकता हूँ ? अतएव राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण मनोविकारों को नष्ट कर सदा के लिये अपने ज्ञान स्वरूप में शान्त होना चाहिये ॥ ८३ ॥

व्याख्या:—मैं जड़ से भिन्न नित्य चेतन हूँ—यह कोई कल्पना नहीं; अपितु स्वयंप्रत्यक्ष है । ईश्वर-ब्रह्म के विषय में मनुष्य को संदेह हो सकता है; क्योंकि वह अपने से पृथक् कल्पना ही है; परन्तु अपने आपके विषय में उसे सन्देह नहीं हो सकता है; क्योंकि वह स्वयं है । यदि मैं न होऊँ तो संदेह किसको हो; इसलिये मेरे अस्तित्व में संदेह नहीं । जैसे कोई कहे कि मेरे पिता बालब्रह्मचारी हैं या मेरे मुख में जीभ नहीं है, तो यह दोनों बातें व्याघात दोष एवं असंभव दोष से पूर्ण है; इसी प्रकार यह कहना है कि मैं हूँ या नहीं हूँ । कहा है—

नहिं कश्चित् संदिग्धेऽहं वा न ऽहं वा इति
(भामती)

अर्थात् किसी को यह संदेह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं हूँ।

सर्वप्रमाणसत्तानां प्रमाणं अहम् एव हि।

अर्थात् सर्व प्रमाणों के अस्तित्व का 'मैं ही प्रमाण हूँ।

डेकार्ट ने कहा है I think therefore I am. अर्थात् मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ। अतएव जीव के नित्य अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है।

जीव अमर अविनाशि है, ज्ञान स्वरूप अखण्ड।
कारण नित षट भेद युत, कार्य अनेक सो खण्ड ॥८४॥

टीका:— अगणित चेतन जीव भिन्न-भिन्न अमर, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप और अखण्ड हैं। और पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये कारण रूप से नित्य षट् भेद संयुक्त हैं, और इनसे बने अनेक कार्य-पदार्थ अनित्य नाशवान हैं। षट् भेदों का निर्णय आगे साखी में करते हैं ॥ ८४ ॥

तत्त्व मेल आकार गुण, क्रिया शक्ति अरु धर्म।
द्रष्टा जिव है सबन का, विरले जानहिं मर्म ॥८५॥

टीका :—(१) तत्त्वों में परस्पर मेल, (२) आकार (३) गुण-विषय, (४) क्रिया, (५) शक्ति, (६) धर्म ये छः भेद हैं। इन सबों के साक्षी जीव हैं किन्तु यह भेद कोई विरले विवेकी जानते हैं ॥ ८५ ॥

व्याख्या:— (१) एक पृथ्वी में जल, अग्नि, वायु भी मिले हैं, इसी प्रकार जल, अग्नि वायु आदि में भी अन्य तीन तत्त्व सामान्य रूप से मिले हैं, यथा —"जहाँ शून्य तहँ हवा, हवा तहँ आग है। जहाँ आग जल रहे, जलै थल लाग है॥ निर्म०" ये तत्त्व मेल के लक्षण हैं।

(२) पृथ्वी-जल स्थूलाकार, अग्नि-वायु सूक्ष्माकार, यथा-पोल शून्य आकाश को जानो। स्थूलाकार क्षित जल पहिचानो॥ वायु तेज ये सूक्ष्म सरूपा। हलुक सूक्ष्म वे क्रम से रूपा॥ ज० चे०" ये आकार के लक्षण हैं।

(३) पृथ्वी में गंध, जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और शब्द, गुण अर्थात् विषय हैं।

(४) पृथ्वी में अनेकों पदार्थ बनने के कारण पृथ्वी में क्रिया है, जल में अधोगमन, अग्नि में उर्ध्वगमन, वायु में तिरछीगमन क्रिया है।

(५) पृथ्वी में धारण व गुरुत्वा शक्ति, जल में कुछ धारण व मुख्य रसायन शक्ति, अग्नि में दाह्य, वायु में स्नेह एवं तोड़ने-जोड़ने आदि की शक्ति है।

(६) पृथ्वी में कठोर धर्म, जल में शीतल, अग्नि में उष्ण-प्रकाश, वायु में कोमल धर्म है।

इन्हीं को षट् या छः भेद कहते हैं। ये चार तत्वों में सदा विद्यमान रहते हैं। इन्हीं षट् भेदों से ही चारों तत्वों से अनेक कार्य पदार्थों की उत्पत्ति तथा लय रूप नाश होता रहता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण कार्य दृश्य प्रपंचों का साक्षी अगणित चेतन जीव हैं। अर्थात् जड़ तत्वों के गुण, शक्ति; संज्ञा ठहराने वाले उनसे भिन्न चेतन ही हैं, किन्तु यह भेद कोई विरला सद्गुरु-सत्संगी ही जान सकता है।

कवित्त

कोई जग ब्रह्म काहिं ओत प्रोत मानि रह्यो,
कोई ईश काहि अंश जीव को कहतु है।
कोई चार तत्वन से जीव काहि मानि रहे,
कोई श्वास जीव मानि भ्रम को गहतु है॥
कोई देह कोई मन बुद्धि चित जीव मानि,
विषयन धार माहिं नित्य सो बहतु हैं।
बिन गुरु पारख के प्राप्त नहिं बोध अस,
तत्त्व देह मन पार जीव सो रहतु है॥८५॥

प्रसंग—११—गुरु कृपा से यथार्थ जड़-चेतन की पृथक-पृथक जानकारी व स्वरूपबोध की प्राप्ति।

गुरू कृपा निज बोध बल, प्राप्त कीन निज ज्ञान।
है अपरोक्ष अकाम नित, शमन होत सब मान ॥८६॥

टीका:— पारखी सद्‌गुरु की कृपादृष्टि और अपने स्वरूपबोध की शक्ति से अपने बन्धन-मुक्ति विषयक रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। और बोध-वैराग्यादि सर्व सद्‌रहस्यों के एकरस अभ्यास-द्वारा दिन प्रति दिन अपना शुद्ध स्वरूप स्वयं प्रत्यक्ष एवं निष्काम होता जाता है। तात्पर्य यह कि बोध-वैराग्यादि के नित्य अभ्यास से संसार पंच विषय की सर्व कामना मिटकर दृढ़ अपरोक्ष स्वरूप ही में लक्ष्य टिक जाता है, और देहादि के सम्पूर्ण अहन्ता-ममता मानन्दी-कल्पनायें नष्ट हो जाती हैं ॥ ८६ ॥

बिन बिचार उल्टे टँगे, गादुर सम जग जीव।
निज स्वरूप के ज्ञान बिन, करत कल्पना पीव ॥८७॥

टीका:— संसारी जीव चमगीदड़ पक्षी के समान बिना विचार ही उल्टे लटके हैं। अपने निर्विकार पारख स्वरूप के ज्ञान बिना वे अपने से पृथक ईश्वरादि पति की कल्पना करते हैं ॥ ८७ ॥

अनादि कालसे भूल-वश, जन्म मरण दुख खाय।
कृपा भई गुरुदेव की, मुक्ति परम पद पाय ॥८८॥

टीका:— यह जीव अपनी भूल-वश अनादि काल से जन्म-मरण के दुःखों को उठा रहा है। सद्‌गुरु का कृपा स्वरूप बोध-प्रदान और अपने पुरुषार्थ से ही परम पद मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ८८ ॥

व्याख्या:— कल्याण की जब स्वयं इच्छा जागती है और सच्चे सद्‌गुरु मिल जाते हैं, तब यह ज्ञान मिल जाता है कि यह पीड़ा से भरा असार संसार अपना नहीं है। साधक जब संसार-शरीर का अहंकार छोड़कर स्वरूपस्थ हो जाता है तब वह निश्चिन्त, निर्भय, अजर, अमर, एकरस पद प्राप्त कर लेता है।

अजर अमर अविनाशि है, शुद्ध स्वरूप सदाहिं।
मात्र भूल सम्बंध करि, दुख सुख भासत ताहिं ॥८९॥

टीका:— अपना चैतन्य स्वरूप अजर, अमर, अविनाशी और सर्वदा शुद्ध स्वरूप है। केवल अपने स्वरूप को भूल कर और अनेक भोगों तथा मन की कल्पनाओं का सम्बंध करके ही उसे दृश्यों में सुख-दुःख भासते हैं ॥ ८९ ॥

व्याख्या:— दुःख-सुख द्वन्द्व कल्पना मात्र हैं, अतः उन्हें त्याग कर शांत होना चाहिये।

जड़ जड़ भिन्न स्वरूप से, जड़ता से सब एक।
ज्ञान मात्र जिव है सदा, सबसे भिन्न अनेक ॥९०॥

टीका:— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—सभी जड़ तत्त्व एक-से-एक सर्वथा पृथक हैं, परन्तु जड़ता की दृष्टि से सब एक हैं, अर्थात् सब जड़ है, किन्तु चेतन जीव सब जड़ तत्त्वों से भिन्न ज्ञान मात्र और अनेक हैं ॥ ९० ॥

जड़ तम भूल अनादि जो, ज्ञान अग्नि से नाश।
सब स्वरूप में है नहीं, रवि सम स्वतः प्रकाश ॥९१॥

टीका:— जड़ासक्ति-देहाध्यास रूपी अन्धकार और अपने शुद्ध स्वरूप की भूल जो अनादि रचित है, यह स्वरूपज्ञानाग्नि में सर्वथा भस्म हो जायगी, क्योंकि अपने यथार्थ शुद्ध स्वरूप में जड़ासक्ति-भूल-भ्रम कुछ नहीं है; वह केवल सूर्यवत् अपने आप सदा पारख प्रकाश मात्र है ॥ ९१ ॥

कवित्त

भूल-वश दीन बन्यो माया को प्रबल जानि,
दुरगम दुस्तर ताहिं ठहराई है।
वह मुख्य काया कि असक्ति महा माया जान,
और हूँ जो मानि-मानि मन से बनाई है॥
सब से निराला जीव वासना ही मात्र संग,
सोई भ्रम भंग करि आप थिरताई है।
आप बाद सर्व अभिलाष हूँ को त्याग कर,
अमल अचित अविनाशी पद पाई है॥ १॥

प्रसंग-१२--सद्रहस्य प्रतिपादन ।

प्यास लगी निज को जभी, शुद्ध पिये जल लाय ।
तृषा जलन मिटि ताहि की, सुखी होय दुख जाय ॥६२॥
सज्जन तिमि संतोष लहि, विषय प्यास करि दूर ।
शांति सदन सुख सैन करि, निज स्वरूप भरपूर ॥६३॥

टीका:— अपने को एवं किसी भी प्राणी को जब प्यास लगती है, तब वह स्वच्छ और शीतल जल लाकर पीता है; तब उसकी प्यास रूपी जलन मिट जाती है, वह सुखी हो जाता है, प्यास रूपी दुःख का अत्यंत अभाव हो जाता है, ॥ ६२ ॥ वैसे ही जो सज्जन मुमुक्षु एवं विवेकी पुरुष हैं वे विषय-चेष्टा रूपी प्यास में संतोष रूपी स्वच्छ और शीतल शांतिदायक जल पी कर उसे दूर कर देते हैं। वे स्वरूप-शान्ति-सदन में निर्विषय सुख पूर्वक शयन करते हैं। वहाँ उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं रहती, उन्हें स्वस्वरूप की स्थिति ही में सम्पूर्ण अक्षय सुख की सामग्री भरी हुई दीख पड़ती है ॥६३॥

व्याख्या :— विषय भोगों से एकरस शान्ति जनित सुख प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। निश्चित एकरस शान्ति सुख का तो परम स्थल स्वरूपविवेक एवं संतोष की प्राप्ति ही है शान्तिगृह स्वरूपस्थिति में जाने के कौन-कौन साधन हैं ? उसे सुनोः—

कवित्त

विमल विचार चाही हृदय उदार चाही,
पर उपकार चाही रहन सहन में ।
सद्गुरु भक्ति चाही विषयविरक्ति चाही,
निज रूप शक्ति चाही मन के हनन में ॥
दया क्षमा धीर चाही, सत्य शोध वीर चाही,
सत्संग तीर चाही प्यास के नशन में ।
सुमति प्रकाश चाही जग सुख नाश चाही,
दृढ़ अभिलाष चाही बन्धन तजन में ॥ १ ॥

रैन दिन होश चाही उर सन्तोष चाही,
यकरस जोश चाही साधु के जहन में।
दृष्टि परिणाम चाही हियनिष्काम चाही,
मन निर्मान चाहीं मानस दहन में॥
विरति अभंग चाही विजय अनंग चाहीं,
पारख को रंग चाही रहित चहन में।
मृत्यु सन्मुख चाहो अंतिम को रुख चाही,
मुक्ति अभिलाष चाही, आप ही रहन में॥
दो०—श्री गुरु के उपदेश सुनि, शिष्य हृदय सुख पाय।
करि साधन दलि वासना, पारख मँह ठहराय॥ १॥

बोल चाल बिन परख के, नहिं कुछ मुख से बोल।
समय रुची प्रिय देखि के, बोलन योग्य सो बोल॥६४॥

टीका:— बिना परीक्षा किये मुख से कुछ भी बोलना अच्छा नहीं है। बोलने का उचित समय, सुनने वाले की श्रधा, क्या मेरी बात उसे प्रिय लगेगी —इन बातों की योग्यता देख कर और योग्य होने पर ही बोलना चाहिये ॥७४॥

व्याख्याः— निष्प्रयोजन अधिक बोलना सभ्यता एवं सद्रहस्य के प्रतिकूल है, अतः जिनके बिना न चल सके उतना ही बोल कर शान्त रहना चाहिये; और शुद्ध शरीर निर्वाह का कार्य करते हुए अहर्निश अपने कल्याण-सुधार के चिन्तन, पुरुषार्थ में लीन रहना चाहिये; अन्यथा व्यर्थ सैलसपाटा एवं बकवाद में अमूल्य समय व्यतीत करना अभाग्य का मुख्य लक्षण है; कहा है--

दो०:—पेट न फूटत बिन कहे, कहे न लागत ढेर।
बोलब बचन विचारि के, समुझि सुफेर कुफेर॥

दृष्टांतः—एक मित्र अपने सत्संगी मित्र से पूछा कि—"मूर्ख कौन है ?" सत्संगी मित्र ने उत्तर दिया—"अधिक बोलने वाला।" "वह बोला —क्यों ?" सत्संगी मित्र—"जो हल-चल, झगड़ा-लड़ाई तथा

अनेक उपद्रव जिह्वा कराती है वह उपद्रव सम्भवतः किसी से हो। दूसरे —जो शब्द बोल दिया गया उसे करोड़ों यत्न करने पर भी नहीं फेर सकते। तीसरे— कोई बात जब तक नहीं बोली जाती तब तक वह अपने वश में रहती है, किन्तु बोलते ही उसके वश में मनुष्य को हो जाना पड़ता है। चौथे – अधिक बोलने वाले को लोग हल्का समझते हैं। पाँचवें—उसके बात पर किसी को विश्वास नहीं पड़ता। छठे—उसके अन्तःकरण में हल-चल रहती है। सातवें—स्वरूपस्थिति तो उसकी हो ही नहीं सकती। आठवें—अधिक बोलने वाले के वैरी अधिक होते हैं। नवें-- उससे किसी का मन नहीं मिलता। इत्यादि अनेकों दोष हैं।" पूर्व मित्र--"बोली वश में करने से क्या लाभ होता है?" सत्संगी मित्र—"उपर्युक्त उपद्रव मिट जाते हैं, मन एवं निकटवर्ती प्राणी वश हो जाते हैं, वृत्ति अंतरंग हो जाती है, किन्तु ध्यान रहे! दिन भर मौन रह कर यदि एक वाक्य भी कड़ा स्वभाव एवं राग-द्वेष युक्त बोल दिया गया तो मौन का अधिक गुण नष्ट हो जाता है।" पूर्व मित्र—"वाणी कैसे वश में करे?" सत्संगी मित्र--"प्रथम-अपने मन में निश्चय बना ले कि हम अधिक एवं मोह-क्रोध युक्त शब्द नहीं बोलेंगे। दूसरे--यदि ऐसी भूल हो जाय तो पश्चाताप खूब करे। तीसरे—चिल्ला कर न बोले। चौथे--शासन के साथ न बोले। पाँचवे--कोई कड़ी बात न बोले, विचार करे कि हमसे यदि कड़वी बात कोई तनिक सी बोल देता है तो हम बहुत दुखी एवं रुष्ट हो जाते हैं, फिर अपने समान दूसरे को न समझें? हे मित्र! जो दूसरे को कड़ी बात कहता है उसके समान मूर्ख संसार में कोई नहीं है। छठें-- अपनी बड़ाई युक्त बात न करे। सातवें—यदि कोई अपनी बड़ाई युक्त बात करता हो तो उसकी बात प्रेम पूर्वक सुन ले। आठवें— किसी की निन्दा न करे। नवें — जब सभी जीव मन वश हैं तब कौन जाने किनका मन कब पलट जाय! फिर किसी के गुण-दोष वर्णन करने का स्थान ही कहाँ है! दसवें—यदि अपनी कम बुद्धि हो तो समाज में

बैठ कर चुप रहे, और यदि विशेष बुद्धि हो तो किसी के प्रश्न करने या समय पर पात्र-धर्म-न्याय देख कर प्रिय-हितैषी एवं युक्त बोले। हे मित्र !! जो विचारवान् हैं वे कम बोलने तथा मौन रहने में संतुष्ट रहते हैं, किन्तु मूर्ख के मनमें एक क्षण भी बिना बोले खलबली मची रहती है। ग्यारहवें—जितना तुम समझते हो कि बिना इतना बोले काम नहीं चलेगा उसमें से भी यदि दस भाग में से एक भाग बात बोली जाय तो स्वार्थ-परमार्थ की कोई हानि न होकर बल्कि सुधार ही होगा। बारहवें—यह बात खूब ध्यान में रखो कि मनमें सुखाध्यास और मान का कुछ अंश होने से ही विशेष बातें तुम्हें बोलनी पड़ती है, जिस दिन मान-सुखाध्यास बिलकुल हृदय से निकल जायँगे; तुम्हें बहुत ही कम बोलने की आवश्यकता पड़ेगी। तेरहवें— इसके साथ-साथ यह भी स्मरण रखो कि बहुत ऐसे भी हैं कि रात-दिन मौनवृत्ति धारण किये हुए मनमें कपट-दम्भ, मान-सुखाध्यास रूपी भयंकर सर्प जिलाये रहते हैं। चौदहवें—अधिक बोलने से तो बहुत हानि होती ही है; किन्तु कभी-कभी न बोलने से भी हानि होती है। पन्द्रहवें—सर्व सद्गुण रहस्ययुक्त "वाक्य संयम वृत्ति" सोना में सुगंध वत् शोभा देती है। सोलहवें—अधिक खा कर मैथुन भोग कर, बिना विचारे बोलकर, बिना विचारे कोई काम करके-तथा बिना पूरा वैराग्य के साधु वेष में आकर पीछे पछताना पड़ता है; अतः इन पाँचो बातों को प्रथम सम्हालो।

शिक्षा साखी

"शब्द सम्हार के बोलिये, शब्द के हाथ न पांव।
एक शब्द करे औषधी, एक शब्द करे घाव॥ पं०"

"ऐसी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपो शीतल होय॥
जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।
पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार॥ बी०"

"बालू ऐसो किर किरी, ऊजल जैसी धूप।
ऐसी मीठी कछु नहीं, जैसी मीठी चूप ॥ क०"

पद

अब हम बोलब वचन सम्हारी ॥ टेक ॥

नहिं कटु कहब न निन्दा करिबे, नहिं देब केहु गारी।
कमी देखि नहिं हँसब कोई को, अपनी ओर निहारी ॥१॥
तर्क वितर्क न करब काहु से, हन्ता हृदय निकारी।
नहिं भुँझलाब न इर्षा करिबे, नहिं बोलब दुतकारी ॥२॥
बोलब सत्य मधुर प्रिय निश्चल, अहंकार मद जारी।
शासन ममता भार त्यागि के, कर्तव्र शील बिचारी ॥३॥
झूठ खर्स अश्लील बहिरमुख, हार जीत तजि सारी।
अब अभिलाष रहब पारख महँ, अमृत सिन्धु सदारी ॥४॥

पट पताक चल दल पर्ण, वायू सम मन चाल।
रुकत नहीं चंचल रहत, परवश जीव बेहाल ॥६५॥

टीका:— ध्वजा का वस्त्र, पीपल के पत्ते तथा वायु के समान ही मन की गति है। बिना विवेक के मन स्थिर नहीं होता, प्रत्युत चंचल ही बना रहता है और उसी के वश में पड़ा जीव कष्टित रहता है ॥६५॥

जीवहिं के सत्ता दिये, मानव सकल पसार।
वृथा विषय सुख नेह में, गहि अध्यास असार ॥६६॥

टीका:— जीव ही की सत्ता पाकर मन बलवान बनता है और वह सारी मानन्दियों तथा अहन्ता-ममताओं को फैलाता है। सार-हीन विषय सुख की आसक्ति में मलीन संस्कारों को ग्रहण करता है ॥६६॥

मान भूल का मूल है, जहँ तक निज से मान।
ताहि हेतु बन्धन सकल, जीव रचइता ज्ञान ॥६७॥

टीका:— अपने चेतन स्वरूप से पृथक शरीर, वर्ण, पद, प्रतिष्ठा, स्थान—सम्पत्ति आदि दृश्य वर्गों में जहाँ तक मैं मेरी करके मान लिया

गया है, यही अपने शुद्ध स्वरूप से असावधान होने का कारण है, यही सब बन्धनों का भी कारण है और भूल दशा में जीव ही इन सभी का कर्ता समझना चाहिये ॥९७॥

व्याख्या :-- जड़ पदार्थों की अहन्ता-ममता होते ही जीव अपने शुद्ध मूल स्वरूप को भूल जाता है और उसके चित्त में राग-द्वेषादि नाना विकार आने लगते हैं; इसलिये अहन्ता-ममता बीज को नष्ट करना चाहिये।

चरण शरण गुरु रावरे, तद्गत वृत्ती होय।
सुयश पाय पावन परम, गान करै नित सोय ॥९८॥

टीका :— विवेक-वैराग्य-सम्पन्न श्रेष्ठ सद्गुरु के चरण की शरण ग्रहण करके उनके उपदेशों में अपनी चित्तवृत्ति को लीन करे और स्वरूपज्ञान रूप परम पवित्र समुज्जवल कीर्ति को पाकर उसी का निरन्तर गायन करे ॥९८॥

व्याख्या :— दिव्य आचरण और ज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु की शरण ही कल्याण का मुख्य हेतु है। सद्गुरु के उपदेश-द्वारा ही मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। वासना-हीन स्वरूप-स्थिति ही परमपद है, सभी संत-मुनियों ने इसकी महिमा गायी है। इस स्वप्नवत् जीवन की आसक्ति को छोड़ कर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रसंग—१३---- स्वच्छ जीव भूल से वासना-वश

वश्य वासना जीव सब, भूल भूमिका देह।
दुक्ख रचै निज कर्म करि, सुख मानन्दी गेह ॥९९॥

टीका :—सब जीव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर वासना के वश हैं, भूल का स्थान यह शरीर है। जीव नर-शरीर हृदयस्थ सुख मानन्दी के वश पाप-पुण्य कर्म करके स्वयं दुःखों की रचना करता है ॥९९॥

व्याख्या :— जीव का शुद्ध स्वरूप निर्मल है; परन्तु उसको भूल-वश यह ज्ञान नहीं है; इसलिए वह वासना के वश में नाचा करता है।

मनुष्य-शरीर जैसे ज्ञान एवं विवेक की भूमिका है, उसी प्रकार यदि उल्टी बुद्धि हो तो यह भूल की भी भूमिका है। मनुष्य शरीर से बंधन-मोक्ष दोनों के साधन बनते हैं। बन्धनप्रद कार्यों का कारण विषयासक्ति है। कल्याणार्थी को इसी को सर्वथा त्यागना चाहिये।

"स्वर्ग नरक अपवर्ग निसेनी। ज्ञान विराग भगति सुख देनी॥"

मन मानन्दी धार में, बहे जात सब जीव।
करि विचार कोइ पार लगि, ध्वंस वासना कीव ॥१००॥

टीका :—मन और उसकी अनेक अहन्ता-ममताओं एवं संकल्पों की धारा में सब जीव निरन्तर बहे जा रहे हैं। कोई विवेकी ही विवेक करके और वासनाओं को मिटा कर इससे पार होते हैं ॥१००॥

पार वासना जीव सब, गुरु बिन जानि न पाय।
पंच विषय के खैंच में, दुक्ख असंख्यन खाय ॥१०१॥

टीका :—सब जीवों के वास्तविक शुद्ध स्वरूप वासना से सर्वथा रहित हैं; परन्तु यह बात विवेकी सद्गुरु के उपदेश बिना सहज रूप से सब जीव नहीं जान पाते; अतएव पाँचों बिषयों की वासनाओं के खींच-तान में जीव असंख्यात कष्टों को पा रहे हैं ॥१०१॥

व्याख्या :—निर्मानतापूर्वक जब तक पूर्ण सद्गुरु की शरण नहीं ग्रहण की जाती और उनसे बोध पाकर जब तक उस बोध भाव में नहीं ठहरा जाता तब तक मनुष्य वासना-विजयी नहीं होता है।

सो दुख माने होत है, सुखहिं हेतु है ताहिं।
सुख-दुख कोई वस्तु नहिं, परखत नहिं ठहराहिं ॥१०२॥

टीका :—उपर्युक्त वासनात्मक आकर्षण का दुःख अहन्ता-ममता-वश ही होता है, उसका कारण सुखाध्यास ही है। परीक्षा करने पर मानन्दी-अहन्ता-ममता के अतिरिक्त सुख-दुःख का कोई वास्तविक स्वरूप नहीं ठहरता ॥१०२॥

व्याख्याः—मनुष्य गाँजा-भाँग पीने का व्यसनी न हो तो उसे

गाँजा-भाँग पीने में सुख नहीं लगेगा। गाँजा-भाँग में सुख का निश्चय न होने से उसकी न वासना बनेगी न जीव को उसके लिए आकर्षण का दुःख होगा। परन्तु जो गाँजा-भाँग पीने का व्यसनी है, उसकी दृष्टि में उसके पीने में उसे सुख है; इसीलिये उसके मन में गाँजा-भाँग में सुख की वासना बन कर उसको आकर्षित करती है, जिससे वह बारम्बार दुखी होता है। इस प्रकार गाँजा-भाँग पीने वाला उसे पी-पी कर उसमें सुख निश्चय कर रखा है, इसलिये उसके सम्बन्ध में उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। परन्तु एक गाँजा-भाँग के व्यसन से सर्वथा रहित मनुष्य को उसके सम्बन्ध में कोई सुख-दुःख नहीं। इसी प्रकार सुख-दुःख के सारे रोग जीव-द्वारा मान-मान कर, व्यसन कर-करके बनाये गये हैं। इसलिए सुख-दुःख के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं; जीव अपनी समझदारी ठीक करके तथा सभी व्यसनों, कुटेवों को जीत कर मानन्दी कृत दुःख-सुख के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर वास्तविक सुखी-सन्तुष्ट हो सकता है।

प्रसंग—१४-जीव की सर्वपृथकता और ठहराव।

खानि बानि दुइ जाल में, जीव सबै हैरान।
ईश ब्रह्म सुख नारि विष, पान किये बेभान ॥१०३॥

टीका :—मोटे और भीने दो जालों में फँस कर सब जीव दुःखी हैं। अपने आप चेतन स्वरूप से पृथक कल्पित ईश्वर-ब्रह्म-द्वारा स्वर्ग या मोक्ष-सुख-प्राप्ति की कल्पना करना भीने जाल (वाणी) में फँसना है और स्त्री-पुरुष के पारस्परिक दूषित कर्म-द्वारा सुख-प्राप्ति की कल्पना करना मोटे जाल (खानी) में फँसना है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द-विषयानन्द की मस्ती में सब जीव बेभान हो रहे हैं; स्वरूपस्थिति तक नहीं पहुँचते ॥१०३॥

दोहा—आनन्द आनन्द सब कहै, आनन्द जीव को काल।
पूरण परख प्रकाश भी, शरण कबीर दयाल॥

श्रोत्र त्वचा अरु घ्राण जो, जिभ्या नेत्र बखान।
गंध शब्द स्पर्श है, रस गुण रूप दिखान ॥१०४॥

इन्द्री पांच ये ज्ञान की, विषय तासु प्रत्यक्ष ।
ख्वाहिश ताहिन कीजिये, निजहि ओर करि लक्ष ॥१०५॥

टीका—श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, जिह्वा, और नेत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कही जाती हैं और इनके द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, गन्ध, स्वाद और रूप—इन पांच विषयों का ग्रहण होता है ॥ १०४ ॥ उपर्युक्त पांच-इन्द्रियाँ ज्ञान करने के साधन हैं, उनके पाँचों विषय संसार में प्रत्यक्ष हैं। ऐ साधक ! विकारी पंच विषयों की इच्छा मत करो, अपना लक्ष्य अपनी ओर केन्द्रित करो ॥१०५॥

शिश्न गुदा कर पाँव मुख, कर्म इन्द्री जान ।
मोहै नाहिं निहारि के, आदत दुःख महान ॥१०६॥

टीका—उपस्थ, गुदा, हाथ, पाँव और मुख—इन पांचों को कर्म इन्द्रियाँ समझो इनको देखकर इनमें मोह मत करो। इनमें मोहते रहना महान दुःखपूर्ण व्यसन है ॥ १०६ ॥

व्याख्या—मलीन शरीर की आसक्ति तथा उसका अनुचित शृंगार त्याग कर शांतिदायक सद्गुण-सदाचरण को अपनाना चाहिये। धर्माचरण तथा स्वरूपस्थिति को त्याग कर इस अपवित्र एवं दुःखपूर्ण शरीर की आसक्ति में जीवन पर्यन्त चिपके रहना कहाँ तक बुद्धिमानी है।

दृष्टांत--उपर्युक्त शिक्षा सुन कर एक मनुष्य ने संत से प्रश्न किया-शरीर को आप दुःखपूर्ण क्यों बतलाते हैं ? संत ने कहा —ओह ! शरीर ही तो सर्व दुःखों का मूल-कारण है। यदि कभी शरीर का सम्बन्ध न हो तो अपना चैतन्य स्वरूप अजर, अमर, शुद्ध, निर्विकार, निर्द्वन्द्व है; उसे दुःख से भेंट न हो। शरीर-द्वारा ही तो सब कष्ट प्राप्त होते हैं। इस शरीर में कौन-कौन से कष्ट हैं, उन्हें सुनो ! दरिद्रता, अङ्गहीनता, निर्बलता, चोर-डाकू तथा राजा से सताये जाना, चींटी-मच्छड़ों से काटे जाना, बिच्छु, सर्प, सिंहादि से भय, बलवान शत्रुओं से भय, धनान्धता, विद्याप्रमाद, यौवनमद, भोगतृष्णा, कामना राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, घृणा, लज्जा, अहंकार, भूख-प्यास, शीत, धूप, शारीरिक रोग— अतिसार, पेंचिस, प्लेग, संग्रहणी, बवासीर, अजीर्ण, हैजा,

पिलिया, तपेदिक, खाँसी, दमा, हिचकी, जुकाम, ज्वर, जूड़ी, मूर्छा, उन्माद, मृगी, वातव्याधि, कफ-पित-वात प्रकोप, लकवा, शूल, कोष्ठ-बद्ध, मधुमेह (पेशाब में चीनी का जाना) सुजाक, अम्लपित, चेचक, पीनस, कुष्ट, भकंदर, जलंधर, गलकंठ, नहरुआ, डमरुआ, पथरी, नशूर, खुजली, दाद इत्यादि अनेकों व्याधिजनित कष्ट, शिशु, बाल्य, कुमार, युवा, अधेड़, वृद्ध, मृत्यु, आवागमन, गर्भवास, जन्मादिक अनेक अवस्था जनित कष्ट अनाचार में फँसकर मुकदमेबाजी, जेल, डामल, फाँसी अन्य तीन खानियों में जीते जी एक जन्तु से एक चबाये जाना, अग्नि में जलाये जाना, शस्त्रों से छेदे जाना इत्यादि सर्व कष्टों की प्राप्ति इस शरीर ही से होती रहती है। शरीर रूपी सर्प का यदि सम्बंध न हो तो बाहरी सर्प मुझ शुद्ध स्वरूप असंग चैतन्य को कैसे काट सकते हैं! शरीर रूपी सिंह, अग्नि, यमपुरी, दुःख, नर्क, फाँसी, रोग की प्राप्ति होने से ही बाहरी सिंह अग्नि आदि मुझे दुःख देते हैं। शरीर दुःख का सम्बंध न हो तो मैं स्वभाविक दुःख से सर्वदा मुक्त एवं निर्द्वन्द्व हूँ। हड्डी, मांस, मल, मूत्रादि अपवित्र पदार्थों का पात्र रूप यह शरीर इतना क्षणभंगुर है कि बिजली चमक वत् इसे आते-जाते विलम्ब नहीं लगता। ऐसे मिथ्या शरीर की आसक्ति, अभिमान करके जन्मादिक घोर कष्टों की प्राप्ति होती रहती है। इसलिये इस दुःखपूर्ण शरीर की आसक्ति, अभिमान सर्वथा त्याग करना मुमुक्षु का परमावश्यक कर्तव्य है। हाँ इस शरीर की विशेषता परोपकार तथा आत्म कल्याण-साधन में है; परन्तु देहासक्ति को लिये मुक्ति मिलना असम्भव है।

कुण्डलिया

जेहि तन से मुक्ति चहे सो तन लागे नीक ॥
सो तन लागे नीक कहो किमि मिटै वासना।
तन का बना गुलाम सहै दिन रैन शासना ॥
रुधिर मांस मल मूत्र हाड़ की जोरी ठटरी।
क्षण ही में नशि जाय तीन तापन की गठरी ॥

ऐसो तन दुख देखि ताहि लखि हर्ष बढ़ावे।
किमि छूटै आसक्ति मुक्ति पद कैसे पावे॥
कैसी तन आसक्ति की परी हृदय में लीक।
जेहि तन से मुक्ति चहै सो तन लाये नीक॥ १॥

सोरठा

यह तन दुःख को साज, रैन दिवस जिव जरत है।
तजहु असक्ती आज, रोम-रोम नख शिख सकल॥ १॥

दोहा

काया माया जानिये, जीवहिं बाँधत फेरि।
पुनि तेहि में सुख माननो, यह अज्ञान बनेरि॥ २॥
तन आसक्ती जीत कर, निज पारख में थीर।
पुनः न सोइ जग आवई, यह सिद्धान्त गँभीर॥ ३॥
सहज सरल अस मुक्ति पद, सो न करे बड़ लाज।
चूकि समय फिर तन धरहिं भ्रमहिं दुखहिं के राज॥ ४॥
अस शिक्षा शुचि संत की, गहि जिज्ञासु समोद।
तजि असक्ति तन मन सकल, थिर निज पारख बोध॥ ५॥

सोरठा—

मुक्ति चहो जो जीव, तो तुमहुँ तन प्रेम तजु।
निज पारख दृढ़ धीव जग प्रपंच कौहट निरखि॥ ६॥

चेतावनी भजन

कहवाँ तू माने सुख जीव ! इस जड़ काया में॥ टेक॥

हाड़ से इसकी ठाट ठटी है, रग-रग रक्त भराई।
मल मूत्रों से पूर्ण पिटरिया, मांस चाम से छाई॥
अति अपवित्र रचीव॥ इस जड़॥ १॥

बाल वृद्ध की कठिन अवस्था, रोग व्याधि अति घेरे।
भूख प्यास अरु शीत धूप में निशिदिन जहाँ तपेरे॥
अति प्रतिकूल सदीव॥ इस जड़॥ २॥

स्वारथ संगी जीव जगत् के, एक को एक सतावें।
काम क्रोध मद लोभ निर्दयी, अलग कलेज चबावें॥
प्रतिक्षण जीव जलीव॥ इस जड़॥ ३॥

क्षण क्षण बदलि विवश ह्वै जावे, मोती ओस नशानी।
स्वप्ना को सम्पत्ति ज्यों झूठी, त्यों झूठी जिनगानी॥
मत अभिमान करीव॥ इस जड़॥ ४॥

दो दिन की है चटक चाँदनी, फेरि अँधेरी आवे।
चेत मुसाफिर मुक्ति बना ले, चूकि अन्त पछितावे॥
कोई नहिं साथ चलीव॥ इस जड़॥ ५॥

जन्म मरण अरु गर्भवास के, दैहिक दुःख घनेरे।
मुक्ति हेतु तू नर तन पाया, जल्दी चेत सबेरे॥
दुख अभिलाष तरीव॥ इस जड़॥ ६॥

सबसे भिन्न स्वरूप निज, हर्ष शोक नहिं जाहि।
सो कस भूलि प्रतंत्र है, लखो भर्म सब काहिं॥१०७॥

टीकाः— अपना शुद्ध स्वरूप चेतन सबसे पृथक है, उसमें हर्ष-शोक की गन्ध भी नहीं है। वह अपने आप को भूलकर क्यों परतंत्र हो रहा है? अतः मन के हर्ष-शोकादि सर्व वृत्तियों को भ्रमरूप जान कर उनसे ऊपर उठ जाओ॥ १०७॥

व्याख्याः—स्त्री-पुत्र, सगा-सम्बंध, देश-स्थान, साज समाज, मत-पन्थ, जगत्-वेष, लोक-वेद, वर्ण- जाति, विद्या-वाणी, शरीर-मन, पिण्ड-ब्रह्माण्ड एवं समस्त पंच विषय व्यवहार से अपना चेतन स्वरूप सदा-काल पृथक है। उसमें सुख-दुःखादि जगत्-द्वन्द्व नहीं है। गम्भीरता पूर्वक इस बात पर विचारना चाहिये। ज्ञान-विहीन होने से ही मनुष्य दुःखी रहता है, जिन पदार्थों के मोह-वश वह असह कष्ट भोगता है, विचार करना चाहिये कि उसमें क्या सार है, और उसका हमारा कब-तक सम्बन्ध है? एक-दो एवं दस-पचास नहीं, लाख-करोड़ नहीं, अनादि काल से कर्म मार्ग में भ्रमते हुए इस अविनाशी पथिक जीव को अनन्तों

माता-पिता, स्त्री-पुत्र, स्थान, सम्पत्ति, मिले और जल कण वत् नष्ट हो गये, अनन्तों बार तीनों खानियों तथा नर खानि में राजदेही, दरिद्रदेही धारण किये, अनेकों बार देहग्रंथि में पड़ कर भयंकर शारीरिक-मानसिक रोगों के शिकार बने, जहाँ-जहाँ शरीर धारण किये, वहाँ-वहाँ तब-तब जिन-जिन जड़ पदार्थों को मैं-मेरी करके कष्टित हुए, क्या वे सब आज स्थिर हैं ? स्वप्न के सदृश, सिनेमा चित्र के समान ही आये और गये। अनेकों बार अनेकों जन्मों में स्वप्न के साथी कुटुम्बी, गृह, सम्पत्ति, शरीर आदि में मैं-मेरी करके अपने शुद्ध स्वरूप की भूल-वश एवं मोह-वश हानि-लाभ, सुख-दुःख मान कर, हर्ष-शोक, रोग-निरोग मानकर और दुखी होकर, रो-रो कर इतने नेत्रों से जल बहाये होंगे कि आज तक यदि वह एकत्र होता तो एक सागर के रूप में दिखलाई पड़ता। फिर जिन पदार्थों के मोह-वश हम दुखी-सुखी हुए क्या वे आज स्थिर हैं ? अथवा उनसे हमें कोई भी सार मिला ? कुछ भी नहीं। हाँ ! उन्हीं जड़ पदार्थों के अध्यास-वश संसृति चक्र अवश्य चलता रहता है।

अतुल राज्य-सम्पत्ति, सर्वांग पूर्ण विधुवदनी, निरोग शरीर, पाँचों विषयों के सुख, मान यश, कीर्ति यदि मिलें, अथवा दरिद्र अवस्था, रोगी शरीर, अपमान, दुःख मिलें, अंत में तो सभी जल बुद्बुदे वत् शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इन माया-मय पदार्थों को आते-जाते कोई विशेष विलम्ब नहीं लगता। फिर भी मनुष्य उसी क्षणभंगुर स्वप्न-वत् पदार्थों की अहंता-ममता एवं मोह-वश हर्ष-शोक की कल्पना में डूबा रहता है, कितनी भूल की महिमा है ? जिस अपने शुद्ध स्वरूप में जगत् का लेश नहीं है जिस मोक्ष भूमिका नर-शरीर में जीव सर्व-अहंता-ममता जड़ाध्यासों को त्याग कर और विजाति संसार-शरीर के हर्ष-शोकादि कल्पना को पूर्ण ध्वंस कर अपने अविनाशी स्वरूप में निश्चित रमण कर सकता है, जीवनमुक्ति का शान्ति लाभ उठा सकता है और सद्रहस्य पूर्वक प्रारब्धांत में वृत्तिजनित सर्व सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित विदेह मुक्त हो सकता है, जिसके फल स्वरूप मुक्त जीव को कभी भी दुःखालय संसार

का दर्शन न हो। ऐसा परमपद का पुरुषार्थ त्याग कर मनुष्य विनाशी पदार्थों की आशा-वश पतित हो रहा है। जैसे बंशी में लगे हुए चारा (मांस) के लोभ-वश मछली अपनी मृत्यु को नहीं देखती, इसी प्रकार नाशवान भोगों के मोह-वश मनुष्य जन्मादिक तथा देहोपाधिक घोर कष्टों को नहीं देखता। इसके अतिरिक्त विवेकीपुरुष तो इस आपदा रूप संसार तथा कष्टमय, घृणित, क्षणभंगुर, शरीर की किञ्चित भी इच्छा नहीं रखते जब यहाँ के भोगों से अध्यास रूप रोग लग कर जन्मादिक एवं देहोपाधिक घोर कष्टों की ही प्राप्ति होती रहती है और जब अपना शुद्ध स्वरूप सर्वथा असंग, अचल, सन्तुष्ट, शान्त है, फिर संसार-शरीर की इच्छा ही क्यों? अतएव सर्व दृश्य प्रपंचों का अभाव कर अपने आप में सन्तुष्ट रहना चाहिये, नाशवान् शरीर के मनः कल्पित हर्ष-शोक में नहीं पड़ना चाहिये। मुक्ति-प्राप्ति का परम सुन्दर संयोग आज है; अतः सावधान!

शान्त होय निज रूप में, बाह्य लक्ष को डारि।
द्रष्टा स्थिति में सदा, काम क्रोध मद जारि ॥१०८॥

टीकाः— बाहरी सारे मनोद्वेगों को छोड़ कर अपने शुद्ध स्वरूप में शान्त होना चाहिये। काम, क्रोध, मदादि को विवेक-द्वारा नष्ट करके अपने द्रष्टा स्वरूप में ही सदैव के लिए स्थित होना चाहिये॥ १०८ ॥

व्याख्याः—योगशास्त्र में पतञ्जलि जी ने कहा है "अथयोगानुशासनम्" मैं योग शास्त्र आरम्भ करता हूँ। प्रश्न हो सकता है योग किसे कहते हैं? वे उत्तर देते हैं "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना योग है। प्रश्न हो सकता है चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध कैसे हों? आप उत्तर देते हैं "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अभ्यास और वैराग्य से उसका निरोध होता है। प्रश्न हो सकता है कि अभ्यास-वैराग्य-द्वारा जब चित्तवृत्तियां शान्त हो जाती हैं तब क्या होता है? आप उत्तर देते हैं "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" तब वह अपने द्रष्टास्वरूप में स्थित हो जाता है।

समस्त महापुरुषों का यही अन्तिम लक्ष्य है कि द्रष्टा चेतन दृश्य को छोड़कर अपने आप में शान्त हो जाय। इसके आगे न रास्ता है और न कोई मंजिल है।

जैसे सर्व घटधारी जीव जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में अपना प्रारब्ध वर्तमान करते हैं, वैसे दृढ़ बोधवान् जीवन्मुक्त पुरुष (१) विवेक (२)साक्षी(३)स्थिति, इन तीन अवस्थाओं में अपनी पारमार्थिक स्थिति यात्रा वर्तमान करते हैं।

(१) विवेक लक्षण—सर्व पिण्ड-ब्रह्माण्ड, स्थूल-सूक्ष्म शरीरों एवं सम्पूर्ण भासों से पृथक मैं अजर, अमर, शुद्ध, अद्वन्द्व, नित्यसंतुष्ट, शान्त स्वरूप हूँ, शरीर और शरीर के सर्व व्यवहार तथा सम्पूर्ण विश्व स्वप्नवत् और मुझ शुद्ध स्वरूप से बहुत दूर है; ऐसा लक्ष्य में रख कर दृढ़ वैराग्य पूर्वक सर्व दृश्य प्रपंच असार भिन्न समझ कर अभाव करते रहना [उपर्युक्त साखी १०७ की टीका एवं व्याख्या में विवेक लक्षण विस्तृत कर आये हैं, वहाँ से पुष्ट कर लेना चाहिये।]

(२) साक्षी लक्षण—मन में उठे हुए शुभाशुभ सर्व स्मरणों को अपने से भिन्न दुःख रूप जान कर और परख-परख कर त्यागते रहना, और अपने आप शान्त रहना।

(३) स्थित लक्षण—स्वरूप लक्ष्य पूर्वक निःसंकल्प शान्त रहना। उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में पूर्ण जीवन्मुक्ति बनी रहती है; यही अमृत अवस्था है।

सहत कष्ट निज मार्ग में, ठहरि रहै जो कोय।
गुरु पद सुख पावै सोई, दिन दिन अनुभव होय॥१०९

टीका:—जो साधक साधना-पथ की कठिनाइयों को सहते हुए अपनी स्थिति में दृढ़ रहता है वह जीवन्मुक्ति-सुख को प्राप्त होता है और दिन-प्रतिदिन उसके साधना-मार्ग के अनुभव गहरे होते जाते हैं॥१०९॥

व्याख्या :—जो संसार एवं जन समाज द्वारा प्राप्त हुए अनुकूल-

प्रतिकूल व्यवहार, मान-अपमान, सुख-दुःख, ठण्डी-गरमी आदि समस्त ज्वार-भाटों को सह लेता है और दया, क्षमा, अहिंसा, संतोष, विवेकादि सद्गुणों को पुष्ट करता है और एक स्वर से अपनी साधना में अव्याहत चलता है वह परमशान्ति पद को प्राप्त करता है। जितना ही समय बीतता है उतना ही वह परमार्थ-मार्ग का सूक्ष्म अनुभवी होता जाता है और नये-नये अनुभवों से वह सम्पन्न होता जाता है; जिससे वह जीवन में आये हुए बन्धनों को सरलतापूर्वक तोड़ता जाता है।

"नव पल्लव भये विटप अनेका। साधक मन जस होय विवेका॥"

अनुभव विकास की हद नहीं, अनुभविता हद्द स्वरूप।
हद्द लखे बिन ना मिटै, तृष्णा जगत स्वरूप॥११०॥

टीका :—मनुष्य अनुभव-द्वारा इन्द्रिय भोगों के लिए नाना यन्त्र एवं कला-कौशल का विकास करता जाता है; इसकी कहीं सीमा नहीं है; परन्तु इनका अनुभव करने वाले चेतन की सीमा है, उसका निश्चित स्वरूप है। उसका पूर्ण ज्ञान हुए बिना तृष्णा रूप जगत् का अन्त नहीं होगा॥ ११०॥

व्याख्या:—जड़-विज्ञान ने भोगों की एक राशि ही इकट्ठी कर दी है। जब से भोगों के ये आकर्षक वैज्ञानिक उपकरण बढ़ते गये हैं तब से मनुष्य का चित्त अधिक उलझन में पड़ गया है। जो जितना भोगी होगा वह उतना ही दोषी होगा और जितना दोषी होगा उतना दुःखी होगा। भोगों से दुःखदायी तृष्णा बढ़ने की अपेक्षा घट नहीं सकती।

भोग-वस्तुओं के विकास की कोई सीमा नहीं। अनुभव-द्वारा प्रकृति से नाना वस्तुयें बनायी जा सकती हैं और उनका विविध प्रकार से उपभोग किया जा सकता है। इस तृष्णा का भौतिक क्षेत्रमें सीमा नहीं है। हाँ, इनकी सीमा, इनकी परिसमाप्ति; अर्थात् तृष्णा का अन्त होकर अविचल सन्तोष की प्राप्ति स्वरूप ज्ञान में ही है।

सोरठा

परोक्ष सबन मत वाद, जीव ज्ञान अपरोक्ष है।
परखायो सब वाद, बलिहारी गुरुदेव की ॥१११॥

टीका :—सभी मत, सभी वाद अनुमान-कल्पना के आधार पर स्थित हैं; जीव का स्वरूप-ज्ञान ही स्वयं प्रत्यक्ष है। उन सद्गुरु के चरणों में यह दास न्योछावर है जिन्होंने जीव का सारा दृश्य-सम्बन्ध स्मरणमात्र परखाया ॥ १११ ॥

व्याख्या :—जीव अपने को छोड़कर अपने से ऊपर ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, देवी-देवता जहाँ तक मानकर उसका मत, वाद तथा सिद्धान्त स्थिर करता है वह सब परोक्ष, भ्रांतिपूर्ण और निराधार है। अपने-आपका ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान है और जीव ही सर्वोपरि तत्त्व है।

जड़वाद, संयोगवाद, विलक्षणवाद, क्षणिकवाद, विकारवाद, अद्वैत-वाद, व्यापकवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विवर्तवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद—इन समस्त वादों का कल्पना करने वाला अविनाशी जीव है। उपर्युक्त सभी वाद भ्रम से सने हुए हैं जीववाद ही अपरोक्ष ज्ञान है।

(१) जड़वाद :—चेतन जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, जड़ से ही चेतन बन जाता है ?

समीक्षा :—चेतन जीव की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी उत्पत्ति जड़ से नहीं हो सकती; क्योंकि जड़ तत्त्वों में ज्ञान का किञ्चिन्मात्र भी लक्षण नहीं है। जो गुण कारण में नहीं होता वह उसके कार्य में नहीं आ सकता, जब जड़ प्रकृति में ज्ञान धर्म है ही नहीं, तब उससे ज्ञान-धर्म वाला चेतन जीव कैसे बन सकता है ? अतएव नाना चेतन जीव जड़ से सर्वथा भिन्न नित्य पदार्थ हैं।

(२) संयोगवाद :—जैसे पीली हल्दी और उजला चूना मिला देने से लाल रंग बन जाता है और अनेक तत्वों के संयोग से अनेक

कार्य पदार्थ बन जाते हैं; उसी प्रकार जड़ तत्त्वों के संयोग से चेतन बन जाता होगा।

समीक्षा :--पीली हल्दी भी जड़ और सफेद चूना भी जड़, दोनों के मिलने से बना हुआ लाल रंग भी जड़, इसमें नियम-विरुद्ध कुछ नहीं हुआ। परन्तु जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानना नियम-विरुद्ध है। संयुक्त तत्त्वों से उसके विरोधी गुण-धर्म वाला पदार्थ नहीं बन सकता। बहुत अन्धकार के संयोग से प्रकाश नहीं बनता। जिन पदार्थों को जड़ तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न होते देखा जाता है उन पदार्थों में पाये जाते गुण-धर्म संयुक्ततत्त्वों में पहले से विद्यमान हैं। अतः जड़ तत्त्वों से ज्ञान संयुक्त चेतन नहीं बन सकता।

(३) विलक्षणवाद :—उन्हीं तत्त्वों से एक ही वृक्ष में काँटे और फूल विलक्षण बन जाते हैं; इसी प्रकार उन्हीं जड़ तत्वों से देह और जीव दोनों बन गये हैं ?

समीक्षा :---फूल और काँटे मूल जड़ तत्त्वों से विलक्षण नहीं। मूल जड़ तत्वों में जो गुण-धर्म हैं, वे ही गुण-धर्म फूल और काँटे में हैं, अतः कार्य पदार्थ कितने ही विलक्षण दिखाई दें; परन्तु वे मूल जड़ तत्त्वों के लक्षणों से पृथक नहीं होते। अतः जड़ से सर्वथा विलक्षण चेतन जड़ से नहीं बनते वे जड़ से सर्वथा पृथक और नित्य अकृत्रिम हैं।

उपर्युक्त जड़वाद, संयोगवाद और विलक्षणवाद—सब जड़वाद हैं और भौतिकवादियों के हैं। ये विवेक से उचित नहीं।

(४) क्षणिकवाद :—जैसे दीपक की ज्योति क्षण-क्षण बनती और मिटती जाती है; परन्तु उसका प्रवाह निरन्तर बने रहने से ज्योति, स्थिर-सी दिखायी देती है; इसी प्रकार प्राणियों में वासनायें क्षण-क्षण बदलती रहती हैं, परन्तु उसका प्रवाह निरन्तर बना रहने से वह स्थिर-सी दिखती है। यह वासना का प्रवाह ही क्षणिक विज्ञान है। इसी को बौद्ध आत्मा मानते हैं।

समीक्षा :—क्षणिक विज्ञान आत्मा अर्थात् चेतन नहीं हो सकता, वह तो वासना का प्रवाह है। एक व्यक्ति ने चोरी की, चोरी करने के दो घण्टे के पश्चात् पुलिस-द्वारा पकड़ कर वह पीटा गया। प्रश्न होता है जिन विज्ञानों की प्रेरणा से व्यक्ति ने चोरी की वे विज्ञान क्षणिक होने से तो बदल गये फिर दो घण्टे के पश्चात् जो दण्ड मिला वह दूसरे विज्ञानों को मिला। इस प्रकार क्षणिक विज्ञान में बहुत बड़ा अन्याय सिद्ध होता है कि कर्म केशव करे और उसका फल माधो भोगे। यदि क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है तो एक क्षण का संस्कार दूसरे क्षण नहीं रहना चाहिये; परन्तु मनुष्य को बीस-बीस तथा पचास-पचास वर्ष के संस्कारों का स्मरण होता है; इसलिये क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं; आत्मा अर्थात् चेतन क्षणिक वासनाओं तथा प्रकृति से परे नित्य और अविनाशी है।

(५) विकारवाद :—जीव तथा आत्मा शरीर-परिमाण का होता है अर्थात् जितना-जितना शरीर बढ़ता है उतना-उतना जीव भी बढ़ता है। बालक शरीर में जो जीव उसके शरीर के परिमाण का है वही जीव युवक शरीर में उसके परिमाण का हो जाता है। चींटी के शरीर में वह जीव उसके शरीर के परिमाण का रहता है और वही जीव जब हाथी के शरीर में जाता है तब हाथी का शरीर इतना बड़ा हो जाता है; परन्तु वही जब पुनः कर्मवश चींटी खानि में आया, तो पुनः चींटी शरीर के परिमाण का हो गया। ऐसा जैनी मानते हैं।

समीक्षा :—जीव अखण्ड, अजर, अमर और निर्विकार है। वह संकोच-विकासशील नहीं होगा। यदि वह संकोच-विकासशील होगा, तो वह नाशवान् होगा; परन्तु जीवों को अविनाशी तो जैनी भी मानते हैं। इसलिये उसको शरीर परिमाण वाला मानना अयुक्त हैं। वह शरीर के अनुसार घटता-बढ़ता नहीं; अपितु एक रस रहता है।

(६) अद्वैत व्यापकवाद :—जड़-चेतनमय यह सारा विश्वप्रपंच

एक आत्मा ही है और वही सर्वत्र व्याप्त है; ऐसा अद्वैत वेदान्ती मानते हैं।

समीक्षाः – जड़ पृथक है और चेतन पृथक है। जड़-चेतन कभी किसी काल में एक नहीं हो सकते हैं; क्योंकि दोनों के लक्षण विरोधी हैं। चेतन तथा आत्मा एक नहीं असंख्य हैं; इसलिये व्यापक नहीं एकदेशी हैं। जड़-चेतन की एकता मानना ही महा अविवेक है। इनका भिन्न विवेक यथार्थ ज्ञान है। जड़-चेतन के भिन्न लक्षण, जड़तत्त्वों में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के स्पष्ट भेद, चेतन आत्माओं में भी प्रकृतिवश, सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी तथा नाना कर्मफल भोगों की विभिन्नता, रागी-विरागी, बन्ध-मुक्त तथा गुरु-शिष्य आदि को देखते हुए प्रत्यक्ष चेतन नाना हैं, एक तथा अद्वैत नहीं। अन्धविश्वास को छोड़कर अद्वैत और व्यापकवाद में कोई सार नहीं। अद्वैतवादी स्वयं हृदय से अनुभव करता है कि केवल मैं ही नहीं, अन्य भी हैं। इसीलिये वह कुछ-न-कुछ विधि-निषेध, पाप-पुण्य मानता है। किसी को उपदेश करता है। यहाँ तक कि उसके अद्वैतवाद में इतना कालापन आता है कि वह किसी को आस्तिक और किसी को नास्तिक भी कहता। यह सब अद्वैतवाद का दीवाला निकल जाने का लक्षण है।

'मैं आत्मा सर्वत्र व्यापक हूँ।' इस मान्यता का बुद्धि तथा विवेक साक्षी नहीं है, यह मान्यता अद्वैतव्यापकवादियों पर अन्धविश्वास-द्वारा बलात् लदा है। अपनी अन्तरात्मा के स्वर में अपना स्वर मिलाकर तथा ईमानदारी के साथ कोई व्यापकवादी यह नहीं कह सकता कि मैं सर्वत्र व्यापक हूँ। क्योंकि वह स्वयं अनुभव करता है कि मैं पीठ पीछे की बातें भी नहीं जानता हूँ। ईमानदारी और सच्चाई ही सब कुछ है। यदि ज्ञानी कहलाकर भी ईमानदारी एवं सच्चाई की बात न बरती जाय तो इससे लज्जास्पद कौन-सी बात होगी।

अद्वैतज्ञान अन्धकारधर्मा है और द्वैतज्ञान ही प्रकाशधर्मा है। रात की घोर अँधियारी में सब काला-काला एक अद्वैत दिखता है; परन्तु सूर्य उगते ही नानत्व का ज्ञान होता है और मनुष्य हित-अहित को

पहचानता है। अद्वैतवादी बन्धुओं को यह भ्रम व्यर्थ ही लदा है कि "एकदेशी और नाना का नाश हो जायगा।" तत्त्वों की इकाइयाँ अर्थात् परमाणु एकदेशी और नाना ही हैं; परन्तु उनका कभी नाश नहीं। वह परमाणु नहीं जिसका कि खण्डन हो गया हो। इकाई ही परमाणु हैं और इकाई का खण्डन नहीं होता। अभाव का भाव नहीं हो सकता तथा भाव का अभाव नहीं हो सकता "नास्तोविद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।" (गीता)

मनसे ही सारे संसार का सम्बन्ध है और द्वैत का भास होता है। स्वरूपस्थिति के अभ्यासकाल में जब स्मरण पूर्णतः शान्त हो जाते हैं, तब केवल चेतन ही स्थित रहता है, इसी को पारखपद, कैवल्य, अकेलापन, असंग, निराधार तथा अद्वैत भी कह सकते हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं हुआ कि सारा जड़-चेतन संसार उसी स्वरूपस्थ चेतन में मिल गया अथवा बाह्य संसार अपने स्थान पर भी रह ही नहीं गया। अतएव चेतन जीव जड़ से सर्वथा पृथक, असंख्य, एकदेशी, और अविनाशी हैं।

(७) विशिष्टाद्वैतवादः—मूल तत्त्व तीन हैं, चिद् (चेतन) अचिद् (जड़) और ईश्वर (ब्रह्म)। चिद्-अचिद् दोनों ईश्वर के अंश हैं। ईश्वर उन दोनों में व्याप्त और उनका नियामक है। चिद्-अचिद् ईश्वर के शरीर हैं। यह स्वामी रामानुज मानते हैं।

समीक्षाः—अद्वैतियों का ब्रह्म केवल अद्वैत है, क्योंकि अद्वैतवाद में परमार्थतः दूसरी वस्तु नहीं है। परन्तु रामानुज स्वामी ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और जड़ की नित्य सत्ता मानते हैं; इसीलिये उनका ब्रह्म अद्वैत तो है परन्तु जीव और जड़ से श्रेष्ठ होने से वह विशिष्टाद्वैत है अर्थात् बड़ा अद्वैत है। रामानुजस्वामी ब्रह्म को इसलिये अद्वैत कहते हैं कि जीव-जड़ ब्रह्म के अंश होने से वे ब्रह्म से सर्वथा अलग भी नहीं है। थोड़े समय के लिये चिद् (चेतन) को ईश्वर का अंश मान भी लें, परन्तु अचिद् (जड़) ईश्वर का अंश कैसे हो सकता! जब ईश्वर का ज्ञान स्वरूप मानते हैं तब उससे जड़ की उत्पत्ति कैसे होगी!

एक आत्मा ही है और वही सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा अद्वैत वेदान्तीजन मानते हैं।

वैशेषिक सूत्रकार कहते है—

कारण गुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः ॥ अ० २ आ० १ सू० २४ ॥

अर्थात् कारण के गुण अनुसार ही कार्य में गुण होते हैं। इस दृष्टि से ज्ञानस्वरूप ईश्वर का अंश जड़ नहीं हो सकता।

चेतन जीव भी ईश्वर का अंश नहीं हो सकता। क्योंकि चेतन जीव अविनाशी तथा नित्य हैं। संसार में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि कोई वस्तु अंश होते हुए अविनाशी भी हो। जो अविनाशी होगा वह अंश नहीं होगा और जो अंश होगा वह अविनाशी नहीं होगा। अंश तो टुकड़ा को, खण्ड को, नाशवान् को कहते ही हैं। मिट्टी अंशी है और घट, मठ आदि अंश हैं; जल अंशी है और बुदबुदा तरग आदि अंश हैं। घट और मठ मिट्टी से बनकर तथा बुदबुदा और तरंग जल से बन कर पुनः नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर अंशी का यदि जीव अंश है तो बनकर अवश्य नष्ट हो जायगा।

ईश्वर को अंशी कहना भी समीचीन नहीं। अंशी को सावयव—अनेक परमाणुओं का ढेर, विकारी क्रियाशील तथा खण्डशील होना चाहिये। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु में उक्त लक्षण हैं, तभी उनमें अनेक कार्य-पदार्थ रूप अंश बनते हैं। यदि ये निरवयव, निर्विकार, निष्क्रिय तथा अखण्ड होते तो इनसे कार्य-पदार्थ अर्थात् अंश का बनना सम्भव ही नहीं होता। लोग ईश्वर को निरवयव, निर्विकार, निष्क्रिय तथा अखण्ड मानते हैं, फिर उससे किसी प्रकार का अंश बनना असम्भव है।

लोग कहते हैं कि गीता कहती है "ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः।" तथा गोस्वमी जी कहते हैं "ईश्वर अंश जीव अविनाशी।" तो भाई! यदि हम केवल पुस्तक-प्रमाण के पीछे पड़े रहेंगे, तो सत्य नहीं समझ सकते। हमें सत्य को समझने के लिये विवेक को प्रमुख स्थान

देना होगा। पुस्तकों की बातें भी वही प्रमाण हो सकती हैं जो विवेक-अनुकूल हैं। वैसे आप शास्त्र-प्रमाण के पीछे विकल हैं तो लीजिये —

न स भाविकः परमात्मनो अंशो जीव इतिवाच्यम् ।
निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निर्वद्यं निरंजनम् ।।

अर्थात् सत्य जीव परमात्मा का अंश नहीं है ऐसा कहा गया है; वह क्रिया-रहित, अंश-रहित, शान्त, विरुज और दृष्टिगोचर-रहित है।

इस प्रकार अविनाशी जीव किसी का अंश नहीं हो सकता। वह अंश-अंशी, कार्य-कारण-रहित, अखण्ड और नित्य है।

नाना चेतन अखण्ड हैं, तत्व के परमाणु (इकाई) भी अखण्ड हैं और ईश्वर को भी अखण्ड कहते हैं। अतएव अखण्ड ईश्वर अखण्ड जीव तथा अखण्ड परमाणुओं में व्याप्त नहीं हो सकता। एक अखण्ड वस्तु में दूसरे अखण्ड वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती।

ईश्वर व्यापक, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, दयालु, न्यायी तथा सर्वशक्तिमान कहा जाता है। फिर वह सबकी त्रुटियों, बुराइयों, चारित्रिक दुर्बलताओं को क्यों नहीं दूर करता! सर्वशक्तिमान होने से सबका चित्त तो शुद्ध ही कर सकता है; फिर क्यों नहीं करता! ईश्वर के नाम पर हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-यहूदियों का पारस्परिक रक्तपात, घृणा, वैमनस्य, विभिन्न मतों-द्वारा वेद-कुरान, बाइबिल आदि के विषय में ईश्वर-वाक्य होने की खींचतान क्यों होती है! अतएव जीव स्वतन्त्र है। इसके ऊपर कोई कर्ता नहीं। यह जैसे करता है, वैसे भरता है।

स्वयं कर्मकरोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ।।

अर्थात् जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसके फल भोगता है, स्वयं अज्ञान-वश संसार में भटकता है और अज्ञान को छोड़कर स्वयं उससे मुक्त होता जाता है।

(८) द्वैतवाद :— ईश्वर, जीव और जड़— तीनों एक से एक सर्वथा

पृथक हैं। इस मत में जड़-चेतन ईश्वर के अंश नहीं; प्रत्युत ईश्वर से सर्वथा पृथक हैं; इसलिये यह द्वैतवाद है। परन्तु इस मत में भी जीव और जड़ के ऊपर ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। इस मत में विष्णु ही परमतत्त्व ईश्वर हैं, इनसे श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है। यह माध्व स्वामी का मत है।

समीक्षा :—जीव ही परमतत्त्व है। यही सब शास्त्रों, वेदों का रचयिता; मत-पथ-सम्प्रदायों का संचालक, ईश्वर-ब्रह्म-देवी-देवताओं का कल्पक तथा ज्ञान-विज्ञानों का शोधक है। अतः जीव से बड़ा कोइ नहीं। विशिष्टाद्वैत की समीक्षा से द्वैतवाद की समीक्षा हो चुकी है।

(९) शुद्धाद्वैतवादः—ब्रह्म माया से सर्वथा मुक्त है; परन्तु वह सर्व-धर्म-विशिष्ट होने से विरोधी धर्मों से भी युक्त है। ब्रह्म में जो विरोधी धर्म दिखते हैं वह माया के कारण नहीं; अपितु स्वाभाविक हैं। अखिल रसामृत विग्रह श्री कृष्ण ही परात्पर परब्रह्म हैं। सच्चिदानंद रूप हैं, वह अपने आनंद गुण को तिरोहित (छिपा) करके केवल सत् और चिद् गुणों से जीवों की सृष्टि करता है; और आनंद तथा चिद् दो गुणों को तिरोहित करके केवल सद् से ही जड़ की सृष्टि करता है। इस प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूपभूतगुणों से जड़-चेतन की सृष्टि करता है। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर पूर्णकाम है, परन्तु केवल लीला-विलास के लिये जगत् रचता है। बिना ईश्वर की कृपा के कुछ नहीं होता। ईश्वर नितान्त स्वतंत्र है। वह अपने भक्तों पर कृपा करके उनके दुराचारों और पापों को भी क्षमा कर मुक्ति दे सकता है। सर्वशक्तिमान ईश्वर कर्मापेक्षी नहीं। भक्त को यह मंत्र स्वीकार कर लेना चाहिये "श्री कृष्णः शरणं मम।" गोपियों की भाँति श्री कृष्ण भगवान् को अपना जीवन समर्पित कर देने पर लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

समीक्षाः—वह ब्रह्म शुद्ध नहीं कहा जा सकता जिससे इतना विशाल विकारमय जगत् पैदा हो। यह विकारी जगत् ब्रह्म से ही निकला तो ब्रह्म निर्विकारी कैसे? ब्रह्म अर्थात् ईश्वर पूर्णकाम है तब लीला तथा

विलास की कामना कैसी ? जगत्-जैसे दुःखपूर्ण वस्तु को बनाकर और जीवों को उसमें डालकर उन्हें भूनना यह ईश्वर की सर्वशक्तिमानता, सर्वज्ञता तथा दयालुता के लिये कितना हास्यास्पद है ? ईश्वर को कर्म की अपेक्षा न रखना, फल देने में स्वतंत्र होना, अपने भक्तों के पापों को भी क्षमा कर देना और ईश्वर की कृपा के बिना कुछ न होना—यह मान्यता कितनी अमर्यादित परिस्थिति तथा अकर्मण्यता उत्पन्न कर सकती है ? महाराज श्री कृष्ण तो एक राजनीतिक महापुरुष थे संसार के हर्ताकर्ता तथा मुक्तिदाता नहीं ।

(१०) विवर्तवादः—जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। जैसे सर्प रस्सी का मिथ्या परिवर्तन है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म का मिथ्या परिवर्तन है। सार यह है कि जगत् केवल प्रतीत होता है, परन्तु वह न हुआ है न है न होगा। रस्सी में सर्प का विवर्त, इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का विवर्त मिथ्या प्रतीत माना है। यह स्वामी शंकराचार्य का मत है।

समीक्षाः—रस्सी में सर्प की प्रतीति तभी होगी जब पहले कभी वास्तविक सर्प देखा हो, प्रथम सर्प को देखे बिना सर्प का मन में संस्कार ही नहीं होगा, अतः रस्सी में उसकी प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार यदि जगत् तीनों काल में नहीं है तो उसका संस्कार हुए बिना ब्रह्म में जगत् की प्रतीति कैसे हुई ? इसके अतिरिक्त जगत् साकार है और ब्रह्म को निराकार बतलाते हैं। सादृश्यता ही से एक में दूसरे का भ्रम होता है; जैसे रस्सी-सर्प की सादृश्यता है तभी रस्सी में सर्प की भ्रांति होती है। ब्रह्म जगत् में तो सादृश्यता नहीं है, फिर ब्रह्म में जगत् का भ्रम कैसे होगा ? भ्रम होने में त्रिपुटी की आवश्यकता है जिसको भ्रम हो, जिसका भ्रम हो, जिसमें भ्रम हो; जैसे मनुष्य को, रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ; परन्तु विवर्तवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, फिर भ्रम किसको, किसमें, किसका हुआ ? अतएव ब्रह्म में जगत् का भ्रम

नहीं हुआ, अपितु ब्रह्मवादियों को विवर्तवाद का भ्रम हुआ है। वास्तव में जगत् पहले भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा।

(११) दृष्टिसृष्टिवादः— दृष्टि = अविद्यावृत्ति के समय उत्पन्न सृष्टि ही दृष्टि-सृष्टि कही जाती है। इसे अजातवाद भी कहते हैं। इसमें प्रतीतकाल को छोड़ कर दूसरे समय में अनात्म की सत्ता नहीं। इसमें व्यवहारिक सत्ता नहीं है। इसमें एक ही प्रधान जीव माना जाता है, अन्य जीव स्वप्नकल्पित जीवों की भाँति आभास मात्र हैं। गुरु-शिष्य-वेदादि सब आभास मात्र हैं। सरल भाषा में कहें तो जब तक आँख से देखते हो तब तक सृष्टि का अस्तित्व है, अन्यथा सृष्टि नदारद।

समीक्षाः— जगत् का अस्तित्त्व नित्य है। वह अपने में ठोस सत्य है। हमारे देखने मात्र से उसका अस्तित्व रहे और हमारे न देखने से उसका अस्तित्त्व समाप्त हो जाय ऐसी बात नहीं। एक ही जीव सत्य है अन्य स्वप्नकल्पित हैं यह भी भ्रान्ति-पूर्ण धारणा है। असंख्य जीव, सब सत्य हैं। गुरु-वेद के प्रमाण से ही दृष्टि-सृष्टिवाद मानते हैं, यदि गुरु-वेद आभास मात्र तथा मिथ्या हैं, तो उससे सिद्ध होने वाला दृष्टि-सृष्टि वाद भी मिथ्या है। यह बात अलग है कि हमारी दृष्टि दूषित है तो हम सृष्टि के चक्कर में हैं और यदि हमारी दृष्टि शुद्ध हो गई तो हम सृष्टि से मुक्त हो गये; परन्तु सृष्टि से हमारे मुक्त होने पर भी वह, अर्थात् जगत् सदा विद्यमान ही है।

(१२) आरम्भवादः—एक परमाणु दूसरे में मिलकर द्व्यणुक तथा तीसरे में मिलकर त्र्यणुक होता है और जगत् की रचना होती है। इस प्रकार आरम्भवाद की दृष्टि से यह संसार परमाणुओं से निर्मित होता है। कारण में कार्य पहले से नहीं रहता। किसी कार्य पदार्थ का बनना एक नई घटना है जैसे धागे में वस्त्र पहले से नहीं रहता वह जुलाहे-द्वारा बनाया जाता है। इस प्रकार जगत् का आरम्भ-निर्माण परमाणुओं से है। यह आरम्भवाद न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा को मान्य है।

न्याय जहाँ जगत्-रचना में ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत करता है, वहाँ वैशेषिक तथा मीमांसा उसकी आवश्यकता नहीं रखते।

समीक्षाः—परमाणुओं का समूह जगत् अवश्य है; परन्तु यह पूरा जगत् किसी विशेष समय में बनकर और कभी इसका प्रलय हो जाता हो, यह भ्रमपूर्ण है।

(१३) परिणामवादः—सत्, रज, तम की साम्यावस्था ही प्रधान (मूल तत्त्व) है। इसी का परिवर्तन होकर महत्, अहंकार, पंच तन्मात्र (शब्दादि पंच विषय), पंच महाभूत (पृथ्वी आदि) तथा मन सहित दशों इन्द्रियाँ उत्पन्न मानना—'परिणामवाद' है। सत्तायुक्त द्रव्य का एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करना ही परिणामवाद है। परिणामवादी कारण में कार्य की सत्ता पहले से मानते हैं। तंतु में अव्यक्त रूप से पट है, मिट्टी में अव्यक्त रूप से घट इत्यादि। परिणामवाद सांख्य-योग दोनों मानते हैं और विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भक्ति परक वैष्णव वेदान्ती भी यही मानते हैं। सांख्यादि में जहाँ जगत्-रचना में ईश्वर की आवश्यकता नहीं, वहाँ वैष्णवों को ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत होती है।

समीक्षाः—सत्, रज, तम जब स्वयं गुण हैं तब उनके द्रव्य कौन हैं जिसके वे गुण हैं; बिना द्रव्य के गुण नहीं होता। जगत् के मूल तत्त्व जब नित्य हैं तब उनके गुण-धर्म भी नित्य होंगे; अतएव उनके द्वारा जगत् की स्थिति भी नित्य होनी चाहिये। जगत् की मूलतः उत्पत्ति मानना समीचीन नहीं। इसी प्रकार उसके प्रति आरम्भवाद, परिणाम-वाद या विवर्तवाद—अपने आप भ्रमपूर्ण हैं।

जड़-चेतन दो मूल पदार्थ हैं। जड़ में पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार तत्त्व हैं। आकाश क्रिया-द्रव्य, गुण-धर्मों से सर्वथा रहित नितान्त शून्य है। चेतन असंख्यात्, प्रत्येक एकदेशी, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न, परस्पर सजाति, ज्ञान गुण, ज्ञान धर्म वाले, अजन्मा, अखण्ड, अजर, अमर, स्वरूपतःनिष्क्रिय एवं शुद्ध हैं। अनादि से जड़-

वासनाओं के वश जन्म-मरण चक्कर में भ्रमते हैं। स्वस्वरूप का बोध यथार्थ रूप में प्राप्त कर और जड़-वासनाओं को त्याग कर स्वस्वरूप में अवस्थित होकर सदा के लिये मुक्त हो सकते हैं। अनादि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु में धर्म, गुण, क्रिया शक्ति, मेल तथा आकर छः भेद अनादि स्वभाव सिद्ध हैं। इनसे जगत् की स्थिति अनादिकाल से बनी है अनन्त काल तक ऐसी ही चली जायगी, पहले बीज है कि वृक्ष, कर्म कि देह, मुर्गी कि अण्डा ? अर्थात् इसमें पहले-पीछे कोई नहीं, इनका प्रवाह अनादि है यह जगत् मूलतः कभी नहीं बनता-मिटता, और इसमें जो बनता-मिटता है वह प्रत्यक्ष है, अतएव जगत् प्रवाह रूप नित्य है। इसके लिये आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद आदि की कल्पना करना भ्रांति-जन्य है। इस विषय को स्पष्ट समझने के लिये 'जगन्मीमांसा' पढ़ें।

प्रसंग–१५–राग-द्वेष-रहित अपने आप का सुधार।

अपने आप कि भूल से, जो तन लागै चोट।
सहन करै मन मारि के, नहिं काहु से रोष्ट ॥११२॥

टीका :— अपनी भूल-वश अपने ही कर-पैर-द्वारा या ठोकर से जब अपने शरीर में चोट लग जाती है, तब दूसरे पर क्रोध न करके बल्कि मन मार कर लगी हुई चोट को सहन किया जाता है ॥ ११२ ॥

ऐसे पर के घात में, क्षमा करै जो कोय।
सोई सबन शिरमौर है, अघ अवगुण सब खोय ॥११३॥

टीका :— इसी प्रकार दूसरे के घात करने पर भी जो कोई उस पर क्षमा करता है; वही सर्व मनुष्यों मे श्रेष्ठ है। ऐसे क्षमाशील पुरुष के हृदय के पाप और दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ११३ ॥

व्याख्या:— मनुष्य तत्त्व क्षमा और सहनशीलता में है। बिना क्षमा एवं सहनशीलता के मनुष्य पशु-कुत्ता-व्याघ्र की भाँति होता है। जो पुरुष क्षमावान्-शीलवान् है वही मनुष्य है और श्रेष्ठ है, कहा भी है—

दोहा:—"शीलवन्त सब से बड़ा, सब रत्नों की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रहीं शील में आनि॥"

दृष्टांत :— एक मजदूर नित्य पास के शहर में मजदूरी करने जाता और संध्या को अपने घर आता था। मार्ग में राजा का बाग पड़ता, बाग में चारों ओर चहारदीवार लगी थी; किन्तु आम आदि वृक्ष की डगालियाँ चहारदीवार के बाहर मार्ग तक फैली हुई थीं। एक दिन वह मजदूर संध्या को अपने घर जा रहा था, उसे भूख बड़ी जोरों से लगी थी। जब मजदूर राजा के बाग तक गया तो वृक्षों में पके हुए फल को देख कर उसका मन ललचाया। निदान उसने फल के लालच से एक पत्थर वृक्ष पर मारा। पत्थर वृक्ष में लगने से पाँच फल गिर पड़े, संयोगाधीन राजा उसी बाग में टहलने आया था और वह पत्थर जाकर राजा के सिर में बड़े जोरों से लगा, और सिर फूटकर रक्त बहने लगा। पास के नौकर दौड़े-दौड़े बाहर आये, और उस मजदूर को पकड़ कर राजा के पास ले गये। राजा मजदूर से पूछा— "क्या तुम्हीं ने पत्थर मारा है?" मजदूर गिड़गिड़ाते हुए बोला—हाँ सरकार! हमीं से यह घोर अपराध हुआ" राजा बोला - "नहीं-नहीं, तुमने हमारे शीश में पत्थर थोड़े मारा है! अच्छा! यह बतलाओ कि पत्थर मारने से तुम्हें कितने फल मिले?" मजदूर बोला—"पाँच फल।" पुनः मजदूर हाथ जोड़ कर बोला—"हे पृथ्वी नाथ! हमें कठिन-से-कठिन दण्ड दिये जायँ,मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ, क्योंकि मैंने बहुत अन्याय कर डाला है।" राजा बोला—"जब एक पत्थर मारने से जड़ वृक्ष पाँच फल दिया, तब मैं चैतन्य मनुष्य होते हुए तुम्हें दण्ड दूँ तो हमारी कितनी भूल है? बल्कि एक पत्थर के बदले जड़ वृक्ष पाँच फल दिये तो तुम्हें हमको सैकड़ों फल देना चाहिये।" ऐसा कह कर राजा सैकड़ों पके-पके फल मँगवा कर मजदूर को दिया, और प्रसन्न चित्त विदा किया। धन्य-धन्य ऐसे क्षमाशील पुरुषोत्तम को।

शिक्षा—छन्द

नर ! श्रेष्ठ तू बनना चहे, तो शील नम्र क्षमा गहे।
तामस वो बदला क्रोध तजि, निर्मान हो सबकी सहे॥
तन मन वचन को कर स्ववश, निज दोष से डरता रहे।
तजि राग द्वेष वो फिक्र सब, जग तन स्वपन लखता रहे॥ १॥

दीन हीन लघु जीव पर, बड़ो होय जो आप।
कहि कठोर ना दाबिये, यही बड़ो है पाप॥११४॥

टीका :— गरीब, निर्बल, नीची श्रेणी के मनुष्य जीवों पर यदि आप बड़े होवें अर्थात् आप को धन-बल, मर्यादा-अधिकार प्राप्त होवे, तो छोटी श्रेणी के मनुष्यों को बात-बात में क्रोधपूर्ण होकर कठोर, अनुचित तथा शासन युक्त शब्द कह कर आप को उन्हें दबाना-सताना नहीं चाहिये,[1] क्योंकि यह बड़ा भारी दोष है॥ ११४॥

कवित्त

बल धन विद्या देह अपने स्ववश नाहिं,
काहि अभिमान करि तुच्छ पर देखिहौं।
दुख बीच आप मानि वासना अधीन जानि,
रैन दिन दुख दोष आपनी हि पेखिहौं॥
समता सुशील धारि राग द्वेष मान जारि,
निन्दा वो पटैती टारि आप सो निरेखिहौं।
भोग अभिलाष तजि वासना विनाश कित,
कित ध्यास रहि गयो निशि वार लेखिहौं॥

अपने से गुण अधिक जो, प्राप्त होय जेहि पास।
ईर्षा करे जो ताहि से, नीच जानिये तास॥११५॥

टीका :— यदि अपने से विशेष गुण किसी को प्राप्त होवें और उसके

---

१ साखी—आप सरीखे वे मनुष, जिनको देखो तुच्छ।
होय निर्मान न मान गहि, करि के अंतस सुच्छ॥ मुक्तिद्वार॥

गुणों को देख कर कोई उससे ईर्ष्या-जलन करे, तो ऐसे ईर्ष्यालु को नीच से नीच जानना चाहिये ॥ ११५ ॥

व्याख्याः—अज्ञानियों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने से धन, बल, विद्या, बुद्धि, रूप, यौवन तथा कोई वस्तु किसी के पास विशेष देख कर ईर्ष्या-डाह करके उनकी निन्दा करते और अन्दर ही अन्दर जलते हैं; और अपने से छोटे दीन-हीन को देखते हैं तब अभिमान अहंकार करते हैं। उनका चरित्र बिलकुल इसी भाँति रहता है—

"जो काहू की सुनैं लड़ाई। श्वास लेयँ जनु जूड़ी आई ॥
जो काहू की देखैं विपती। सुखी होंय मानो जग नृपती ॥रा०"

ऐसे प्राणी संसार में नीच से भी नीच हैं, उन्हें कभी सुख-शांति नहीं मिलती।

दृष्टांत—एक शिष्य गुरुदेव से पूछा—हे गुरुदेव! संसार में ईर्ष्यालु मनुष्य की कौन गति होती है ? गुरुदेव बोले—हे शिष्य। जो ईर्ष्यालु है वह दूसरे के गुण, प्रभुता, विद्या, बुद्धि, धन, जन, स्त्री, पुत्र, रूप, यौवन एवं ज्ञान रहस्य को देखकर जलता है, उसे सम्पूर्ण जीवन में दो मिनट भी शांति नहीं मिलती। उसकी तो ठीक ऐसी ही दशा होती है (लोग कहते हैं) कि जैसे चारों ओर के प्रकाश (उष्ण) से घिर जाने पर वृश्चिक (बिच्छू) अपने ही अंगों में डंक मार-मार कर प्राण दे देता है, वैसे ईर्ष्यालु, परनिन्दक मनुष्य नित्य दूसरे की बड़ाई देख-सुन कर अपने आप अन्तःकरण में जला करता है। क्योंकि एक न एक गुणवान्, रूपवान्, ज्ञानी, रहस्यवान् तथा विद्वान् संसार में हुआ ही करते हैं; फिर ईर्ष्यालु मनुष्य उनको देख-सुन कर रात-दिन जलेगा तब उसे कब शांति मिलेगी! ईर्ष्यालु के सुख-शांति के लिये ऐसा तो होगा नहीं कि संसार में कोई गुणवान् उत्पन्न ही न हों। सारांश— ईर्ष्यालु को कभी शांति नहीं मिल सकती। कहा भी है—

दो०—"परधन गुण यश रूप में, होत ईर्ष्या जाहिं।
जलत रहै दुख अग्नि में, कौन बचावे ताहिं ॥ १ ॥

पर दूषण में मन धरै, पर भूषण में बैर।
सो मलेक्ष मूरख अधम, धरत नरक में पैर॥ २॥"

शिक्षा—किसी से ईर्ष्या-अभिमान न करके अपने कल्याण के लिये अपने ही स्वभाव की निरख-परख रात-दिन करनी चाहिये।

कल्याणकारी ६२ बातें—

(१) दूसरे के दुर्गुणों पर तुम्हारी दृष्टि जाती है जो तुम्हारे वश की नहीं, अपने दुर्गुणों को देख कर क्यों नहीं निकालते, जो तुम कर सकते हो !

(२) तुम्हारे गुप्त दुर्गुणों को तुम्हारे सामने प्रकट कर तुम्हें जो चेता देते हैं, ऐसे निन्दकों को बुरा क्यों मानते हो ?

(३) प्रारब्ध-वश जब तक शरीर-इन्द्रियों में बसे हो, तब तक अपने को वासना-वश क्यों नहीं जानते हो !

(४) जब तुम दुर्गुणों को दुःख रूप समझते हो तब कोई सज्जन तथा श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारे दुर्गुणों को तुम्हें निकालने को कहते हैं फिर तुम्हें बुरा क्यों लगता है !

(५) तुम्हें अपने को पूर्ण होने का अभिमान है, तभी किसी विचारवान् की हितकारी सम्मति (राय) को नहीं मानते हो।

(६) अपने को पूर्ण ज्ञानी और सद्गुण सम्पन्न मानना सरल है; किन्तु अपने में दुर्गुण देखना कठिन है।

(७) मन का विश्वास और चतुरता त्याग कर निरहंकारता और गम्भीरता पूर्वक अपने नीच चरित्र पर विचार तो करो! तब पता चलेगा कि तुम्हारे में कितनी भूलें भरी हैं।

(८) जब तक तुम्हारे साथ तन, मन, वचन ये तीन लबरे लगे हैं, तब तक कुसंग और असावधानी में पड़ने से कौन-सा पाप तुम से नहीं हो सकता ?

(९) दूसरे का कड़ा स्वभाव तुम्हें अच्छा नहीं लगता, फिर तुम दूसरे पर कड़ा स्वभाव क्यों बरतते हो !

(१०) निन्दा-अपमान तुम्हें यदि नहीं सहन है; तो दूसरे की भी निन्दा, आपमान न करो ।

(११) संसार के सभी जीव स्वतंत्र हैं; और अपने स्वर्थ-परमार्थ के सिद्धि-हेतु ही तुमसे मिल रहे हैं, ऐसा जान कर भी किसी को अपना मान कर अहंता-ममता क्यों करते हो !

(१२) बाहरी शत्रुओं को मारने की चिन्ता छोड़ कर अपने हृदय के दुर्गुण रूपी शत्रुओं को मारो ।

(१३) मित्र बनाना हो तो अपने आप को बनाओ; अर्थात् अपनी कुचालों को जीत कर राग-द्वेष-रहित पूर्ण सज्जन बन जाओ ।

(१४) किसी के व्यवहार, वार्ता, संग, मन के भुलावा में न उलझ कर अपना अमूल्य समय केवल अपने मुक्ति-साधन में व्यय करो। हाँ ! अपने पद में स्थित रहते हुए अन्य को भी कल्याणकारी शिक्षा दो।

(१५) ऐसा व्यवहार मत बरतो और ऐसी बात न बोलो जो दूसरे भले मनुष्यों को बुरी लगे, नहीं तो स्वभाव कड़ा हो जायगा और सब की दृष्टि से गिर जाओगे ।

(१६) चाहे कोई कैसा भी करे, चाहे कोई तुम्हारे से ही क्यों न उल्टा हो; किन्तु तुम अपने मन, वाणी, बरताव एवं स्वभाव को सरल, उद्वेग-रहित, शांतिमय बनाये रहो; क्योंकि अपने आप को हर समय स्ववश, शांत रखना ही मोक्ष की सीढ़ी और मुमुक्षु की बुद्धिमानी है ।

(१७) यह बात सावधानी पूर्वक स्मरण रखो कि सुख-दुःख मान-अपमान, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा, रोग-निरोग आकर स्वप्नवत् शीघ्र व्यतीत हो जायेंगे । इनमें कटिबद्धता पूर्वक अपने मोक्ष-साधन रूपी पुरुषार्थ में खण्डित न होने दो।

(१८) एक-आध एवं दो-चार सद्गुणों को धारण करके उसका अहंकार रखने से वह विष का काम देता है ।

(१९) जिस के पास सर्व सद्गुण विराजमान हैं, उसको सर्व

सद्गुण सम्पन्नता का अहंकार हो ही नहीं सकता; क्योंकि सर्व सद्गुण में निरहंकार-निर्मान सद्गुण भी तो उसके पास आ विराजते हैं।

(२०) चाहे एक-दो ही सद्गुण अपने पास हों; किन्तु निर्मानता और सद्उपासना पूर्वक अपने सुधार की दृष्टि होवे, तो वह एक-दो ही सद्गुण अमृत के काम देते हैं, और धीरे-धीरे सब सद्गुण भी आ विराजते हैं।

(२१) राजा के सिर पर जैसे मुकुट (ताज) शोभा देता है, वैसे साधु के सद्गुण में अभिमान रहित "अमानता" शोभा देती है।

(२२) अनादि काल से संसार में न ऐसा कोई हुआ, न वर्तमान में है, न भविष्य में होगा, कि जिसके पास प्रथम कोई दुर्गुण न हो; अनादि से विषय-मार्ग में पड़ कर सभी जीव दुर्गुण एवं पाप-ताप से भरे हैं, इसीलिये तो संत-गुरु की शरण और सद्गुण ग्रहण की आवश्यकता पड़ती है।

(२३) किसी के पास गुण अधिक हैं, किसी के पास दोष, किन्तु गुण-दोष दोनों हैं सबके।

(२४) हाँ ! कोई विरले-विरले महापुरुष सर्व सद्रहस्य युक्त दृढ़ वैराग्य एवं प्रबल पारखदृष्टि से सर्व दुर्गुण-वासनाओं को जलाते-जलाते किसी काल में सर्व जड़ाध्यास-दुर्गुण-रहित जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

(२५) जैसे तुम संत-समाज में रह कर अपने मन-इन्द्रियों को बहुत कुछ स्ववश रखे रह सकते हो, वैसे यह न समझो कि हम निरानिर अकेले विचर कर और बिलकुल सदा एकांत रह कर मन-इन्द्रियों को स्ववश रख सकेंगे (यह शिक्षा मध्यम साधक के लिये है)।

(२६) जैसे तुम एकांत में रहकर इन्द्रिय, मन, वाणी को बिलकुल स्ववश कर स्थित रहते हो, वैसे यह न समझो कि समाज में रह कर भी इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, वाणी को बिलकुल स्ववश रखे रहेंगे। संग-दोष में क्षण-क्षण भूल होने का भय है; अतः सावधान (यह शिक्षा उत्तम साधक के लिये है)।

(२७) जिनका मृगतृष्णा रूप मनोमय संसार अभाव हो गया है, ऐसे वीतराग दृढ़ स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष के लिये किस लेखनी-द्वारा लिख कर कौन-सी शिक्षा दी जाय। हाँ ! देह रहे तक सावधान-सद्रहस्य निष्ठ रहने की वहाँ भी आवश्यकता है।

(२८) जब यह भली प्रकार जान गये कि संसार असार एवं मुझ से दूर परिणामी है, केवल अपनी अविनाशी स्वरूपस्थिति ही सार है, फिर क्यों मृगतृष्णा रूप सांसारिक पदार्थों की आशा-वश पड़े हो !

(२९) मृतक शरीर-इन्द्रियों से जड़ मृतक सांसारिक भोगों को भोगने की जब तक कामना बनी है, वह कैसे जरा-मृत्यु से मुक्त हो सकता है !

(३०) विजाति, नाशवान् संसार-शरीर से चित्त हटा कर जो अविनाशी स्वरूप में बस गया, उसे आवागमन में कौन ला सकता है !

(३१) दूसरे को रोगी वृद्ध तथा मृत्यु के मुख में देख कर हमारी भी आज-काल में यही दशा होगी, ऐसा क्यों नहीं सोचते !

(३२) भूत काल के बीते हुए व्यवहार आज स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं, वैसे ये वर्तमान के व्यवहार भी भविष्य में स्वप्नवत् प्रतीत होंगे, ऐसा क्यों नहीं समझते !

(३३) अपनी कमाई जब अपने को ही भोगनी पड़ती है, तब सब से पहले अपना सुधार क्यों नहीं कर लेते !

(३४) जब मन-इन्द्रियों को स्ववश कर सर्व कामना मिटाने में ही दुःखों की अत्यंत निवृत्ति और अचल सुख-शांति की प्राप्ति है फिर हे मनुष्य ! तू बाहरी पदार्थों के लिये क्यों दौड़ता है !

(३५) घर या समाज में रह कर कोई वस्तु के लिये तुम्हें यदि कष्ट है; तो शक्ति भर मन मार कर सहन करो, क्योंकि वही कष्ट सब को तो है !

(३६) निरर्थक प्रपंच वार्ता गप्प-सड़ाका क्यों मारते हो ! कोई व्यवहार या परमार्थ का काम करो।

(३७) साधु हुए हो फिर स्त्री, पुत्र, गृह, धनादि में ललचाते और भोगों के गुनावन में पचते क्यों हो ? साधन-संयम-द्वारा मन-इन्द्रियों को जीतो।

(३८) गृहस्थी में रह कर माता-पिता की सेवा, गुरुजनों का आज्ञापालन, धर्म, दान, भक्ति, दया, परोपकार को मत भूलो, नहीं दुःख उठाओगे।

(३९) अरे मनुष्य ! इस तेरे मल-मूत्र की टोकरी रूप साढ़े तीन हाथ की कच्ची काया का आज-कल एवं घड़ी-पल में प्रलय होने वाला है, फिर किसी बात की चिन्ता करने का स्थान ही कहाँ है !

(४०) चिन्ता करनी है तो अपने अविनाशी जीव को बन्धनों से छुड़ाने की करो।

(४१) जैसे वायु के बन्द होने पर जल में तरंग नहीं उठते, वैसे सर्व विषय-वासना-इच्छा शान्त होने पर संकल्प और कल्पनायें आप ही आप शान्त हो जाती हैं।

(४२) मन के दो धर्म हैं, मानना और मनन, इनको मिटाओ।

(४३) मनुष्यों के गले में शरीर-संसार एवं जड़ पदार्थों की अहंता-ममता रूपी फाँसी प्रतिक्षण लगी है; किन्तु आश्चर्य है कि तिसपर भी उसे छुड़ाने के लिये न तो वह चिन्तित होता, न प्रयत्न करता बल्कि आनन्द मानता है।

(४४) मन रूपी महा भयंकर सर्प तुम्हारे और सब के घटों में सदा वास करता है, इसलिये अपने और सबके मन-सर्प से बहुत सावधान रहो।

(४५) तुमसे यदि कोई भूल हो जाय तो उसे सोच-सोच कर बहुत दुखी मत होओ; बल्कि निर्मानता पूर्वक अपनी भूल स्वीकार कर लो और फिर से ऐसी भूल न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा और प्रयत्न तथा सावधानी रखो।

(४६) अपने स्वभाव को जीतने के लिये निर्मानता और सावधानी की बड़ी आवश्यकता है।

(४७) कीट से लेकर राज्य भोग तक में उतना सुख नहीं है, जितना सुख अपने मन-इन्द्रियों तथा स्वभाव को जीत कर स्ववश होने में है।

(४८) अपने नीच स्वभाव को जीत लेने के समान संसार में कोई काम कठिन नहीं है। अर्थात् स्वभाव जीतने में ही वीरता है।

(४९) यदि अपना सुधार करने का दृढ़ लक्ष्य हो जाय तो विरह भावना और निरन्तर साधन से स्वभाव जीतना सरल हो जाय।

(५०) यद्यपि मन का अभिमान शीघ्र नहीं जाता, तथापि जो मैं बोलता हूँ, सोचता हूँ और करता हूँ वह सर्वथा उचित ही है, ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? क्या तुम्हारे तन, मन, वचन से भूलें नहीं हो सकतीं?

(५१) साधु के पाँच काल हैं १. स्त्री का प्रेम; २. जन्म स्थान का प्रेम ३. शरीर का प्रेम; ४. अधिक आरामतलबी; ५. अभिमान पूर्वक साधु-गुरु से कपट।

(५२) वैराग्य पूर्वक एकान्तवास और वाक्यसंयम ये दोनों शांति के प्रधान अङ्ग हैं।

(५३) किन्तु उचित भाषण संयुक्त वाक्यसंयम हो और सन्त-समाज का उचित व्यवहार सम्हालते हुये एकान्तवास हो।

(५४) साधु की भलाई इन पाँच बातों में है—स्त्री की ओर से अत्यन्त ग्लानि, २, पंच भोगासक्ति से रहित, ३. अन्तिम दशा [मृत्यु] का अधिक मनन, ४. जगत्वासना-विहीनता, ५. निरन्तर स्वरूप लक्ष्य।

(५५) केशव ने स्वप्न देखा कि माधो ने गाय मार डाला है, फिर केशव स्वप्न से जाग कर माधो को दोष लगावे तो जैसे यह सर्वथा अनुचित और मिथ्या मात्र है; वैसे अपने अज्ञान कल्पित मोह रूपी स्वप्न में पड़कर स्थितिप्रज्ञ, वैराग्यवानों के बाह्य व्यवहार एवं प्रारब्ध-उपाधि देख कर उनमें दोष लगाना सर्वथा अनुचित है।

(५६) धन को अपना बनाना चाहो तो धर्म-परोपकार में लगा दो; नहीं तो वह तुम्हारे हाथ से एक दिन स्वयं चला जायगा या तुम्हीं उसको छोड़ कर परलोक सिधार दोगे।

(५७) मर जाने के बाद जीव के साथ छेदाम भी नहीं जाता; केवल धर्म-पुण्य ही साथ जाते हैं। फिर न मालूम क्यों मनुष्य धर्म नहीं करता, जीवन भर लोभी बना रहता है।

(५८) साधु-गुरु की सेवा, गरीब-दुखियों की सहायता तथा धर्म-परमार्थ में दिल खोलकर धन न खर्च करके बहुत धन इकट्ठा करना घोर नर्क में जाने का साधन है।

(५९) जो दूसरे का दुःख नहीं जानता वह राक्षस है; जो दूसरे का दुःख जानता है, वही मनुष्य है।

(६०) लोभी, भोगी, स्वार्थी मनुष्य को कभी भी सुख-शांति नहीं मिलती।

(६१) यदि तुम गरीब हो तो भी यथाशक्ति काट-कपट कर धर्म-दान करते रहो; क्योंकि धर्म का एक-एक पैसा भी परलोक में लाख रुपये का काम देता है।

(६२) चाहे कोई शत्रु हो या मित्र, तन-मन-वचन से किसी का दिल न दुखाओ। यथाशक्ति सबका हित-चिन्तन करो।

साखी—"जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग द्वेष निरुवारे।
तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आप सँवारे ॥बी०॥"

प्रभाती-चेतावनी-भजन।

जागो जागो गुरु पद लागो, जगत मनोमय खेला है।
करना हो सो जल्दी कर लो, दो दिन जीवन मेला है ॥ टेक ॥
झूठी दुनिया झूठी दौलत, झूठा जगत झमेला है।
मित्र सगे दारा सुत झूठे, जाता हंस अकेला है ॥ १ ॥
रूप जवानी विद्या बानी, सार रहित जिमि केला है।
क्यों तू भूला मोह निशा में, फिरता ठेला ठेला है ॥ २ ॥

बाल गया ज्वानी अब आयी, वृद्ध काल अलबेला है।
तू भूले दुनियादारी में, कीन्हें संग दुहेला है ॥ ३ ॥
अवसर बीते पछिताओगे, जागो जीव जगेला है।
तू अभिलाष स्वतः पद थिर हो, अन्त समय का बेला है ॥ ४ ॥

जब तक सुखकी चाहना, तबतक दुख रहि पास।
दोनों मिथ्या जानि के, पारख में सुख बास ॥११६॥

टीका:— जब तक विषयों से सुख-प्राप्ति की इच्छा है तब तक जीव के पास में दुःख रहता है। अतएव सुख-दुःख—दोनों को मिथ्या समझ कर परम शान्तिमय स्वरूपस्थिति में विराजना चाहिये ॥ ११६ ॥

व्याख्याः—कष्टप्रद, क्षणभंगुर, रोगमय जड़-शरीर संसार एवं पाँचों विषयों से सुख-प्राप्ति की इच्छा रखने से जीव सदैव दुःखी एवं दीन बना रहता है। संसारी विषयों की इच्छा त्याग देने पर ही आत्यंतिक सुख एवं परमशान्ति पद मिलता है। जिसके प्राप्त होने पर सब तुच्छ हो जाता है। वहाँ अपने आप ही प्रिय है, तृप्त है और मुक्त है।

पारख छोड़ि जो अन्य को, ग्रहण करै सुख मानि।
विकल रहै निशिदिन वही, पारख बिन नहिं जानि ॥११७॥

टीका:— स्वस्वरूपज्ञान की स्थिति को छोड़कर जो सांसारिक वस्तुओं को सुखरूप मानकर उन्हें ग्रहण करता है, वह रात-दिन बेचैन रहता है परन्तु स्वरूप विवेक हुए बिना वह यह भेद जान नहीं पाता ॥ ११७ ॥

लाभ नहीं कुछ जगत में, निज को छोड़ि जो खोज।
नित नव चिन्ता खटकदिल, सहत दुसह दुःख रोज ॥११८॥

टीका:— अपनी स्वरूपस्थिति को छोड़कर यदि संसार में कोई वस्तु खोजी जाय, तो उसमें अपने जीव का कोई लाभ नहीं है। सांसारिक भोगों में लिपटने पर तो प्रतिदिन चिंता भय और असह कष्ट ही हृदय में होते हैं ॥ ११८ ॥

व्याख्याः—माया के बढ़ावा में अनेक प्रकार सज्जन-मित्र, स्त्री-पुत्र,

भोगों की प्राप्ति में एवं संसार के वाह-वाही में मनुष्य जितना पड़ता जायगा उतना ही वह रात-दिन कष्टित रहेगा। उसे क्षण मात्र की शांति न मिलेगी। लोग दूसरों को भोगों से घिरा हुआ देख कर, अर्थात् सुन्दर शरीर, अनुकूल नवयुवती, पुत्र, धन, राज्य, वाहन, रमणीय मन्दिर, विद्यादि, मित्रों की बाहुल्यता अनेक प्रकार विषय-विलास से सम्पन्न देख कर उन्हें सुखी मानते हैं। किन्तु यह उनका मानना नितान्त भ्रम है। भला! भोगों से लिपट कर कोई कहाँ से सुखी रह सकता है! हाँ सुखी वही रह सकता है। जो सम्पूर्ण विषय-विलासी पदार्थों से पृथक रहता है, और जो संतोषी है, उसका तो यह विचार है कि:—

कुण्डलिया

चंचल धन चपल वयस, चंचल जग व्यवहार।
पलक झपत लूटत नशत्, कछु न दिखत थिति सार॥
कछु न दिखत थिति सार, प्यार कासो अब कीजै।
सब मृग भ्रम निःसार, स्वप्न कौहट लखि लीजै॥
जगत भोग अभिलाष तजि, गुरु पारख पद सार।
थीर होऊ मन मारि तहँ, जो सुख को भण्डार॥ १॥

दृष्टांत:—एक निर्विकारी महात्मा प्रातःकाल चार बजे एक वृक्ष के नीचे जाड़े से सिकुड़े हुए बैठे अविनाशी स्वरूप के ध्यान में निमग्न थे। मंत्री सहित एक राजा हाथी पर बैठा हुआ उसी स्थान पर आ निकला। महात्मा को सिकुड़ा हुआ देखकर बोला—कहिये साधु महाराज! कैसे कटता है? महात्मा शान्त चित्त रह गये, कुछ नहीं बोले। पुनः राजा वही बात दोहराया कि "कैसे कटता है?" महात्मा नेत्र उठा कर देखे और बोले— तुमसे लाख दर्जे अच्छे बीतते हैं। महात्मा की निर्भीक वाणी सुनकर राजा चकित होकर बोला— एक कफनी लपेटे जाड़े के मारे सिकुड़े वृक्ष के नीचे पड़े हो; तिस पर भी कहते हो 'तुमसे लाख दर्जे अच्छे बीतते हैं' यह बात कैसे निश्चय समझी जाय? महात्मा बोले— देखो! तुम स्वाद-वश और-और चाहना

में रहते हो, और मैं रात-दिन भर में एक बार स्वाद रहित अनिच्छित आया हुआ अल्प भोजन करके संतुष्ट रहता हूँ। तुम भोजन करके रजनी में शयन करने के समय शोक-ताप जन्मादिक दुःख मूल विषय रूपी गड्ढे में गिरते हो, और मैं उस काल निर्विषय स्थिर सुख में रमण करता हूँ। तुम सोते हो सम्पूर्ण पापमय वासना हृदय में भर कर; और मैं जब सोता हूँ तो अविनाशी स्वरूप का ध्यान करते-करते। पुनः जब तुम प्रातःकाल उठते हो तब सारा प्रपंच सामने आता है, और तृष्णा-चिन्ता रूपी ज्वाला धधकने लगती है, किसी से भय, नाना हानि-लाभ सताते रहते हैं, और प्रातःकाल जब मैं उठता हूँ, तब संसार को निस्सार जानकर उससे दृढ़ उपराम हो अपने नित्य अविनाशी स्वरूप में स्थिर रहता हूँ। तुम दिन भर कामना-चाहना में दौड़े-दौड़े फिरते हो, और वही काम करते हो जिससे चौरासी यातना हो, और मैं दिन भर सद्-ग्रंथ-सत्संग में लव लगा कर सत्यासत्य का विवेचन करके निज सत्य स्वरूप में शान्त होता हूँ। तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी शत्रु रात-दिन गुलाम बना रखे हैं, नित्य तुम्हें गधा बना कर तुम्हारे ऊपर चढ़ते हैं, अर्थात् कामादि के वशीभूत होकर संसार का भार ढोते हो, और मैं उन काम, क्रोधादि शत्रुओं को मार कर स्वतंत्र-स्वराज्य में विहार करता हूँ। वह दृश्य कैसा है ? सुनो :—

सवैया

मंत्री विवेक वो सत्य जो बन्धु, सदा सत्संग को कोट बने हैं।
दया वो क्षमा सब बन्दी को भाँट, बिराग कूँ तक्त निराश तने हैं॥
सैन्य समाज सबै हैं सतोगुण, नित्य अचिन्त को ताज लने हैं।
मोह को मारि स्वतंत्र स्वराज्य में, जीव अखण्ड सो भूप भने हैं॥

निदान जब तुम शरीर छोड़ोगे तब गर्भाग्नि में जाकर चौरासी में भटकोगे, और मैं शरीर त्याग कर निज अविनाशी स्वरूप में स्थित हो रहूँगा, जहाँ जन्म-मरण, शोक-ताप नहीं। इत्यादि बातों से ही तुमसे लाखों दर्जे अच्छे हमारे बीतते हैं। अच्छा बताओ ! इतने प्रातःकाल

जाड़ा में कहाँ जाते हो ? राजा बोला—हमारे ऊपर एक राजा चढ़ाई करने वाला है, इसलिये अपने एक प्रेमी राजा से सहायता माँगने जाता हूँ। महात्मा बोले—बतलाइये ! जिस राज्य के घमंड में फूले नहीं समाते हो, वह राज्य कितना जला रहा है, और परवशता की बेड़ी में बाँध रखा है ? अहो ! जिस राज्य सम्पत्ति के लिये दूसरों से दीन होना पड़े, जने-जने की विनती करनी पड़े रात-दिन सियार-लोमड़ी की भाँति लुकना-छिपना पड़े, फिर भी उसका इतना अभिमान ? अच्छा बताओ ! यदि तुम एक मरुभूमि (रेगिस्तान) में पड़ जाओ, वहाँ तुम्हें अधिक प्यास लग जाय, यहाँ तक कि प्राण निकलने तक का समय आजाय, उस समय कोई तुम्हारा आधा राज्य लेकर जल पिलाने को कहे तुम क्या करोगे ? राजा बोला—आधा राज्य देकर प्राण रक्षा निमित्त जल पी लूँगा। महात्मा— जल पीने के पश्चात् यदि तुम्हारी लघु-शंका (मूत्र) रुक जाय जिससे तुम तड़फने लगो, उसी समय कोई वैद्य बाकी बचा हुआ आधा राज्य लेकर तुम्हें अच्छा करने को कहे, तो क्या करोगे ? राजा—बाकी बचा हुआ आधा राज्य भी देकर औषधि करवाऊँगा; क्योंकि सबसे प्यारा अपना जीवन ही है। महात्मा—धिक्कार है धिक्कार ! आध सेर जल पीने और उसके विकार निकालने में जो राज्य बिक जाय, फिर भी उस पर घमंड करना। महात्मा की युक्तिपूर्ण ज्ञान भरी वाणी सुन कर राजा बहुत लज्जित हुआ, और चरणों में झुक कर बोला—

कुण्डलिया

मैं नहिं जान्यो तन अथिर, विषय भोग दुख रूप ।
याहि हेत फिर-फिर गिरचों, विषय भोग भ्रम कूप ॥
विषय भोग भ्रम कूप, रूप अपनो तन जान्यों ।
सत्संगत प्रतिकूल, विषय आरण्य भुलान्यों ॥
अब कीजै गुरुवर दया, हरहु असक्ती शूल ।
सब सुख सब सिधि शांति हित, दीजै निज पद मूल ॥

संत बोले—

चौपाई

प्रथम भक्ति संतन सेवकाई । नित सुसंग मह प्रेम लगाई ।।
हर्ज खर्च आखिर है होनो । चाहे सुसंग कुसंगति दोनों ।।
हर्ज खर्च याते तहँ कीजै । जहाँ लोक परलोक बनीजै ।।
कुकरम कुमति व्यसन दुखदाई । ताहि त्यागि गुरुभक्ति समाई ।।
सिर पर बाँधि सदन धन कोई । लै न गयो परलोक में ढोई ।।
पर तेहि को चाहो लै जावन । धर्म भक्ति महँ ताहिं लगावन ।।
हर्ज खर्च जो धर्म में होई । ताको छीन सके नहिं कोई ।।
जीव के साथ कर्म फल जावै । जो शुभ अशुभ आज गढ़िलावै ।।

दोहा :— याते शुभ कर्तव्य करि, हर्ज खर्च शुभ माहिं ।
एक भाव माहुर अमिय, क्यों नहिं अमृत लाहिं ।।
मुक्त होन जिज्ञासु उर, बोध विरति गहि भक्ति ।
स्वप्न जगत् स्वप्नहिं निरखि, त्यागहु सकल असक्ति ।।
कारण कारज नहि तेरो, तू है स्वतः स्वनित्य ।
अपन बाद सब मोह तजि, पारख प्राप्त अभित्य ।।

चेतावनी—भजन

यह संसार सराय मुसफिर, दो दिन रहने आया है ।
गृह सम्पति में तू मत भूले, ये सपना की माया है ।।टेक।।
को है तेरा तू है किसका, क्या लेकर के आया है ।
मरते दम फिर क्या ले जावे, जब छूटे यह काया है ।।१।।
बहुत बचाकर पग तू रखना, मग में काँट बिछाया है ।
मोह न करना वैर न करना, पंथी जानि अमाया है ।।२।।
भूखे को तू भोजन देना, प्यासे नीर पिलाया है ।
दुखियों पर तू करुणा करना, पर उपकार कमाया है ।।३।।
यह नर देह मोक्ष की भूमी, बड़े भाग्य तू पाया है ।
आवागमन को फेर मिटा ले, सफल बना ले काया है ।।४।।
आज काल्ह में सब दिन बीते, आय काल नियराया है ।
अब की चूके फिर रह जावे, क्यों अभिलाष भुलाया है ।।५।।

सोरठा— उठ्यो राव हर्षाय, विरह बन्दना करत भल।
लीजै नाथ बचाय, भव सागर संसार से॥

सब उलझनि को छोड़ि के, परखो मन दिन रात।
नहिं काहू से दोस्ती, नहिं काहू से घात॥११९॥

टीका :— मन के समस्त उद्वेगों को त्याग कर रात-दिन अपने मन की चाल को परख-परख कर त्यागते रहो। न किसी से मोह करो और न किसी से वैर करो॥ ११९॥

जीव के जाने मुक्ति है, और के जाने बन्ध।
भक्ति विरति गुरु युक्ति से, काटि सकल मन सन्ध॥१२०॥

टीका :— जीव ही सर्वोपरि अविनाशी तत्त्व है, वही अपना स्वरूप है, उसी में स्थित होना चाहिये—इस प्रकार जानकर उसमें स्थित होने से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है; और इसके अतिरिक्त विषयों में तथा कल्पित ईश्वर एवं जड़-चेतन मिश्रित ब्रह्म की कल्पना में पड़ने से बन्धन है। अतएव भक्ति, वैराग्य और सद्गुरु की युक्ति से मन को सब विषयासक्ति एवं भ्रांतिपूर्ण कल्पनाओं को त्याग कर शान्ति लो॥ १२०॥

व्याख्या :— जगत्-वासना त्याग कर स्वस्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना मुमुक्षु का परम कर्त्तव्य है।

गजल

परम निज रूप चेतन को, सदा यदि प्रेम से ध्यावें।
तो इस जन्मादि संकट से, सदा हित मुक्त हो जावें॥ टेक॥
जो मालुम हो रहा ये मन, न हरगिज जायगा जीता।
सो अपने दिव्य पारख से, उसे भी पार पा जावें॥ १॥
जो हरक्षण है कमी मुझको, सताती सर्व बातों में।
कमी सो पूर हो करके, निरिच्छा शांति को पावें॥ २॥
सर्व सुख शांति स्थिरता, जो है दिल चाहता अपना।
सो थिरता आप के पद का, सदा ही दास बन जावे॥ ३॥

कहाँ तक के कहूँ भाई, तौल अभ्यास करके लो।
तौ फिर स्वच्छंद बन्धन से, सदा निर्बन्ध हो जावे ॥ ४ ॥
मिटै पीड़ा मनःकलिपत, बुझै त्रयताप की ज्वाला।
अचल अभिलाष पद पाकर, सकल दुख-द्वन्द्व नश जावें ॥ ५ ॥

शुद्ध क्रिया शुद्धहिं समझ, शुद्धहिं निज व्योहार।
तीनों जब ये प्राप्त हों, तबहीं अपन सुधार ॥१२१॥

टीका:— अपने कर्म, समझ तथा व्यवहार— तीनों में जब पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति हो जाती है, तभी अपना कल्याण होता है ॥ १२१ ॥

व्याख्या :— शुद्ध कर्म के लक्षण :— राग-द्वेष विषयासक्ति का त्याग करके एवं निष्कामभावपूर्वक दान, धर्म, जीवदया, परोपकार, संतसेवा, भक्ति, शम, दम, विवेक, वैराग्यादि शुभ गुणों का आचरण।

शुद्ध समझ के लक्षण :— मैं, देह-प्राण-मन आदि नहीं, मैं अंश-अंशी, कारण-कार्य, व्याप्य-व्यापक रहित शुद्ध चेतन हूँ; भोगों का भोगना जीवन-लाभ नहीं; जगत्-वासना-रहित स्वस्वरूपस्थ होना ही जीवन-फल है।

शुद्ध व्यवहार के लक्षण :— चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ, बलात्कार, छल, कपट आदि का त्याग करके शरीर-निर्वाहार्थ ईमानदारी तथा परिश्रम के सहित कमाई। लोभ रहित पदार्थों का उचित वर्ताव। अपना कर्तव्य पालन, दूसरे के अधिकार की रक्षा, अपने मन के हठ का त्याग, दूसरे के मन की रक्षा, अपना स्वार्थ जीतना, दूसरे के स्वार्थ को धक्का न देना, दूसरे की उल्टी-पल्टी स्वयं सहना, परन्तु अपना धौंस किसी को न सहाने की चेष्टा आदि।

दृष्टी राखि सुधार की, दे कुसंग को टाल।
द्रष्टा को अभ्यास करि, वीर सुसंगहि पाल ॥१२२॥

टीका :— कल्याण की दृष्टि रख कर कुसंग का त्याग करे, मन को

पृथक देखने का अभ्यास करे, साधना-पथ में वीरता रखे और सत्संग का सेवन करे ॥ १२२ ॥

व्याख्याः—परमार्थ-पथ का पथिक बन कर विषय-सुखों की इच्छा न रखे, केवल कल्याण का ही लक्ष्य हो। जिन व्यक्ति, वस्तु, स्थानों से मन में मलीनतायें आयें, उन्हें कुसंग रूप जान कर उनका त्याग करे। शरीर, अवस्था, परिस्थिति, सुख-दुःख, मिलन-वियोग, मान–अपमान, स्तुति-निन्दा एवं सम्पूर्ण भास-प्रपंचों का द्रष्टा बना रहे, उनकी अहन्ताओं से पृथक रहे। मन का द्रष्टा बन कर उसका निरसन करे। कायरता[1] का त्याग करके साधना में अपने को समर्पित कर दे। सदैव विवेक-वैराग्य सम्पन्न सन्त-महात्माओं में श्रद्धा भाव रखे, उनका सत्संग करे।

साधक चार के संग में बैठकर प्रपंच वार्ता न करे। आज का दिन अनोखा है, आज हम सर्व मलिन वृत्तियों को धोकर मुक्त हो सकते हैं। सम्भवतः कल शरीर न रहे, तो क्या दावा ? अतएव जहाँ पर स्वरूप-स्थिति-प्रद प्रबल वैराग्य एवं शरीर की नश्वरता नहीं प्रगट की जा रही है, यों ही बातों का पकवान हो रहा है, ऐसा कुसंग रूप जगत्-वेग के समाज का सम्बन्ध त्याग कर वैराग्यवानों की संगत करते हुए अपने स्वरूप-स्थिति-पुरुषार्थ में सदा लवलीन रहना चाहिये।

वीरता लक्षण--गजल

शरीरासक्ति को जीते, वही है वीर वीरों में।
तजे सुख आश कादरपन, वही है धीर धीरों में ॥ टेक ॥
न मन के वश कभी होता, न इन्द्री स्वाद में भूले।
न हीले क्षण भी चंचल हो,काम दम्पत्ति समीरों में ॥ १ ॥

---

१ टिप्पणीः—　　चौपाई

मुक्ति गती की तनिक न चिंता। इष्ट साधु के भाव न लिन्ता ॥
भोजन वस्त्र भोग में अगुवा। भक्ति साधना में अति भकुआ ॥
सेवा पुरुषारथ से हीना। भद्दा मंद ताहि को चीन्हा ॥

रगड़ के मानसिक दल को, विराजे तक्त शाहंशाह ।
डटे पुरुषार्थ में, अपने लगा अग्नी नसीरों में ॥ २ ॥
पगा जो रैन दिन अमृत, स्वरूपी नित्य पारख में ।
किया स्नेह सब गारद, न आशा धन जगीरों में ॥ ३ ॥
लिया है अंत की कफनी, मरा संसार भोगों से ।
उदासी छा रही हरदम, बही फक्कर फकीरों में ॥ ४ ॥
मिटा भव बन्ध अब उनका, न दिल में वासना बाकी ।
हुए अभिलाष वे सुखिया, न कोई है नजीरों में ॥ ५ ॥

मनसिज मनन न कीजिये, मनहिं हेतु दुख रोग ।
मन निश्चय जबही भयो, करन चहै सुख भोग ॥१२३॥

टीका:— मन से उत्पन्न होने वाले काम का स्मरण न करो; क्योंकि यह विकारी मनन ही काम रूपी दुःख एव रोग उत्पन्न होने का कारण है। मनन करते-करते जब मन में काम भाव का निश्चय हो जाता है तब वह विषयों में सुख का भ्रम करके उन्हें भोगना चाहता है । १२३ ॥

व्याख्या:—कल्याणार्थी नर-नारियों के लिये विकारी स्त्री-पुरुषों का स्मरण घातक है। जिससे काम का उद्दीपन हो ऐसे स्मरणों का तत्काल अभाव करना चाहिये । स्त्री-पुरुषों के शरीर हाड़, मांस, मल, मूत्रों के पिण्ड, चर्म से मढ़े हुए फोड़ा-फुन्सी, ज्वर-बुखार एवं त्रयताप से संतप्त, भूख-प्यास, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, चिन्ता, असमंजस एवं परवशता से पूर्ण हैं। स्त्री-पुरुषों के परस्पर हाव-भाव, उनकी लावण्य मय सुकुमारिता, सर्वांगपूर्णता, मुस्कराहट, प्रियबोली, तिरछी चितवन, अंगों की बनावट, केशों का मोड़ एवं विविध कृत्रिम शृंगार सब सार-हीन, परिवर्तनशील, अशान्तिवर्द्धक एवं दुःखपूर्ण हैं । इन मलीन वस्तुओं में अपने चित्त को न फँसा कर, शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये । ब्रह्मचर्य परम सुख स्वरूप है ।

सजग रहै गुरु भक्ति में, प्रेम नेम को पालि ।
वृथा समय खोवे नहीं, बोध शोध को डालि ॥१२४॥

टीका :— सत्संग तथा धर्म में प्रेम और नियम का पालन करते हुए वैराग्यवान् सद्गुरु की भक्ति-श्रद्धा धारण करने में सदैव सावधान रहे। स्वरूपबोध और उसका चिंतन छोड़कर अपने समय को व्यर्थ न खोवे।।१२४।।

व्याख्या :— सत्संग में प्रेम रखो, जीवन को नियमित रखो, हरदम मन-इन्द्रियों से सावधान रहो, प्रपंच-वार्ता, प्रपंच-स्मरण, प्रपंच-क्रिया का त्याग करके सर्वथा सत्साधन-रत रहने से ही कामादिक विकार जीत कर जीवन्मुक्ति स्थिति मिलती है।

सोरठा

मन में करो न रोष, अवगुण देखि न काहु के।
भये नहीं तन दोष, कौन कर्म नहिं भूल से ।।१२५।।

टीका :— किसी के दुर्गुण-दुराचरण देखकर अपने मन में क्रोध न लाओ, ऐसा विचार करो कि हमारे ही शरीरसे भूल-वश कौन-कौन से अपकर्म न हो गये होंगे।। १२५।।

व्याख्या —दुराचारी के दुश्चरित्र देख कर क्रोध न करके जहाँ तक बने उसे अच्छे रास्ते पर लाओ, किसी के दुराचरण देख कर हँसना एवं क्रोध करना सरल है; किन्तु उसे सत् मार्ग पर लाना कठिन है; अर्थात् सुधार करने में ही बड़ाई है, हँसने या क्रोध करने में नहीं।

दृष्टांत —एक ग्राम में एक संतसेवी भक्त रहते थे, जो निर्मानी, क्षमालु, दयालु और ज्ञानी थे। यद्यपि वे प्रपंच रूप जानकर पंच-सरपंच आदि का पद न ग्रहण किये थे; किन्तु ग्राम के लोग तथा पड़ोसी जन उन भक्तराज को उनके सच्चे रहन-सहन से उन्हें अपना न्यायक-श्रेष्ठ मान रखे थे। एक दिन का समाचार है कि उसी ग्राम में एक स्त्री व्यभिचार करने में पकड़ी गयी, उस स्त्री को लोग पकड़ कर उन भक्त-राज के पास ले गये, और सब एक स्वर से कहने लगे कि कोड़ों से मार कर इस व्यभिचारिणी की जान निकाल ली जाय। भक्तराज कुछ ठहर कर कहने लगे—जो इस देह से कभी कोई पाप न किया हो, वही

कोड़ों से मार कर इसकी जान निकाल सकता है। भक्तराज की ऐसी वाणी सुन कर सब लोग चकित होकर एक के एक मुख देखने लगे। निदान प्रत्येक मनुष्य से पूछने पर कोई ऐसा व्यक्ति न निकला जो यह कहता कि मैं कभी कोई पाप नहीं किया हूँ। भक्तराज सब के समझौता रूप में कहने लगे--देखो! किसी के दुर्गुण देख कर सहसा ऐसा न करो कि जिससे स्वयं दुर्गुण रूपी क्रोध उत्पन्न हो जाय। क्रोध करके और किसी दुर्गुणी प्राणी को मार कर सुधार भी नहीं हो सकता। जैसे एक सिंह अन्य प्राणियों को सता रहा है, इतने में कोई आया और उस सिंह को मार भगाया और स्वयं सिंह रूप होकर अन्य प्राणियों को सताने लगा, तो उस पूर्व सिंह को मार कर भगाने से क्या हुआ इसी प्रकार कोई दुर्गुण है तो उसके दुर्गुण से उसे मार डाला गया, क्रोध करके हिंसा रूप दुर्गुण युक्त हम भी दुर्गुणी हो गये, तो उस दुर्गुण से हमारी क्या विशेषता हुई? यदि आप उस पापी का सुधार करना चाहते हैं, तो सरलता, समता, क्षमा आदि सद्गुणों से ही कर सकते हैं न कि कठिन दण्ड देकर किसी को अपनी एक आँख प्रमाद-वश फोड़ते देखकर हम अपनी दोनों आखें न फोड़ लें। अर्थात् भूले हुए प्राणी की दुर्गुणों में प्रवृत्ति देख कर स्वयं दुर्गुणी बनकर बदला लेने की इच्छा तथा क्रोध भाव नहीं करना चाहिये। मनुष्य बुरे नहीं हैं, उसके पाप तथा दुर्गुण बुरे हैं। अतः उसके पाप और दुर्गुण छुड़ाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना उसका और अपना तथा जन समाज का सुधार है। प्रथम तो सद्गुरु कबीर की यह बात हृदय में लानी चाहिये।

—दोहा—

"बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो दिल ढूंढा आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥ १॥
दोष पराये देख के, चले हसंत हसंत।
अपने चित्त न आवई, जिनको आदि न अंत॥ २॥"

हमारे कहने का भाव यह नहीं है कि न्याय नहीं करना चाहिये,

न्याय करना तो आवश्यक है, किन्तु न्याय दो प्रकार का होता है, एक क्रोध और अज्ञान संयुक्त; जिससे अपराधी और जन समाज का सच्चा सुधार नहीं होता; दूसरा न्याय दया और सुधार की दृष्टि से किया जाता है, जिसके फलस्वरूप दुर्गुणी सद्गुणी के रूप में परिवर्तित हो जाता है, और उसका शुद्ध भाव अन्य लोगों पर पड़ता है जिससे सबका सुधार ही सुधार है। भक्तराज की इतनी वाणी सुन कर सब के सब अपने अपने चरित्र पर ग्लानि करते हुए चित्र खिंचित-सा सन्न हो रहे। भक्तराज उस स्त्री से पूँछे—बतलाओ ! सच्ची-सच्ची बात क्या है ? स्त्री बोली हम से अपराध तो अवश्य हुआ; किन्तु आप के चरणों में पड़ कर क्षमा चाहती हूँ, और अपने उद्धार के लिये आप से उपदेश भी चाहती हूँ। क्योंकि आप संतसेवी और सत्संगी हैं, अतएव आप की शिक्षा से उद्धार होना बहुत कुछ निश्चित है। ऐसा कह कर वह भक्तराज के चरणों में गिरि पड़ी। भक्तराज सांत्वना देते हुए कहे—देखो ! स्त्री को गृहस्थी धर्मअनुसार रहने के लिये अनुसुइया जी सीता जी को समझाती हैं—

"कह ऋषिबधू सरल मृदु बानी। नारि धर्म कछु व्याज बखानी॥
मात पिता भ्राता हितकारी। मित सुखप्रद सुनु राज कुमारी॥
अमित दान भर्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपति काल परखिए चारी॥
वृद्ध रोग वश जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहुँ पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना॥

दोहा—उत्तम मध्यम नीच लघु, सकल कहौं समुझाय।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं, सुनहु सिया चित लाय॥

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहहीं॥
बिन औसर भय से रहि जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥

पतिवंचक पर पति रति करई। रौ-रौ नर्क कल्प शत परई ॥
क्षण सुख लागि जनम शत कोटी। दुख न समझ तेहि सम को खोटी ॥
पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। विधवा होय पाय तरुणाई ॥ रामा०"

उपर्युक्त कथनानुसार साधक का ग्रहण और बाधक का त्याग कर स्त्री को सुधार करना चाहिये। और यदि मोक्ष की इच्छा तीव्र हो तो स्त्री को भी विषय-वासना त्याग कर पूर्ण, अखण्ड, ब्रह्मचारिणी बनना आवश्यक है। जैसे पुरुष के मोक्ष में स्त्री-आसक्ति बाधक है, वैसे स्त्री के मोक्ष में पुरुषशरीर की आसक्ति बाधक है। यहाँ तक कि अपने शरीर की भी आसक्ती त्याग कर स्वरूपस्थिति करनी चाहिये। देखो! नारियों के लिये पन्द्रह गुण वर्णन किये जाते हैं, इनको सादर धारण करने से स्त्रियों के स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक का अवश्य सुधार होगा।

१—परिणाम ज्ञान

स्वारथ परमारथ कोइ कामा। करन होय लखिए परिणामा ॥
बिन परिणाम लखे करि सहसा। होत दुःख पछिताव अमर्षा ॥
बात बात में लखि परिणामा। निःसंकोच तबहिं सुख सामा ॥

२—सत्य भाषण

बोलहिं नारि जाति बहु झूठी। सत्य धर्म आचरण से रूठी ॥
पापमूल झूठी लखि बानी। त्यागिय हृदय कबहु नहिं आनी ॥
सत्य सदा वाणी छल हीना। प्रेम सहित बोलिय उर दीना ॥

३—ईर्ष्या त्याग

पर धन पुरुष पुत्र कहँ देखी। इर्षा करिय न कबहुँ विशेषी ॥
दुख सुख निज कर्मन से होई। तेहि लखि पाप बीज क्यों बोई ॥

४—संतोष

जो धन अन्न वस्त्र निज पासा। तेहि में तृप्त त्यागि सब आशा ॥
केहि के हित मैं होऊँ अधीरा। आज काल में छुटै शरीरा ॥

५—लज्जा

बुरे कर्म से लज्जा ठानै। अदब राखि सुन्दर निर्मानै ॥
निर्लज्जता मलिन जो नारी। अवगुण मूल शूल सहि भारी ॥

६—पवित्रता

पात्र वस्त्र गृह वो निज देही। जल मृतिकासे स्वच्छ करेही ॥
हृदय शुद्ध विषयरति त्यागे। कुटिल कुचाल कुभाव विरागे ॥
अन्तर बाह्य स्वच्छ जेहि अङ्गा। धन्य नारि निर्माण अभङ्गा ॥
आँटा चावल दाल जो कोई। छानि पछोरि विचारि रसोई ॥

७—दया

खटमल जूँ उष्मज जिव सारी। मानुष पशु अण्डज तन धारी ॥
शक्ति चले तक दुख नहिं देवै। शुद्ध दया मन वच क्रम सेवै ॥

८—अतिथि सत्कार

जो कोई आय जाय निज द्वारे। यथाशक्ति तेहि को सत्कारे ॥
तद्यपि श्रेणी के अनुसारा। बन्धन मूल त्यागिये प्यारा।

९—निन्दा-चुगुली-कुसंग-त्याग

निन्दा चुगुली करिय न काहू। उलटि पाप होवे उर दाहू ॥
बिना खास कारज पर गेहा। कबहुँ न जाय द्वेष तजि नेहा ॥
जानि जहर उर त्यागि कुसंगू। कपिला नशे हरहटो संगू ॥

१०—नारि-घट पर दोष-दृष्टि

नारी देह निकृष्ट पिछानी। दोष दृष्टि रखिये उर आनी ॥
पतन होत अधार बिन नारी। घट स्वभाव अति मलिन विकारी ॥
कोमल वस्त्र ठाट कर अंगा। करिय अभाव त्यागि मन रंगा ॥
ठाट बनाय देखावन हेतू। कबहुँ न करि त्यागि यह नेतू ॥
हाड़ मांस मल मूत्र शरीरा। जानि अभाव निरस गुण तीरा ॥

११—बोध भाव ग्रहण

दोहा—"हंस न नारी पुरुष, यह सब काल को फन्द।
गाँस फाँस सब मेटि के, साहेब शरण अनन्द ॥ पं०'॥

१२—निर्मान

मान न करिय गुणन के धारे। जहाँ मान तहँ गुण किनकारे ॥
होत पतित अभिमान जु आवा। सद्गुण रहनी धूल मिलावा ॥

१३—ब्रह्मचर्य

पुरुष भोग कामना को अंगा। आवागमन दुःख तेहि व्यंगा॥
ब्रह्मचर्य व्रत धारण नीके। सुखाध्यास हनि मन करि फीके॥
मोक्ष हेतु यह प्रबल प्रसंगा। घरहिं नारि तजि काम अभंगा॥

१४—भक्ति, सन्त-सेवा

भक्ति साधु गुरु की सेवकाई। निर्छल अमल प्रेम सुखदाई॥
कंठी तिलक भक्ति कर चीन्हा। प्रेम सहित गुरु से चहि लीन्हा॥
शुभ गुण माहिं न लज्जा कीजै। सद्‌गुरु भक्ति प्रेम चित दीजै॥

१५—सावधानी

दोहा— बहुत भेष में बक रहहिं, तिनसे रह्यो सचेत।
त्यागि पखण्डिन सर्प सम, सन्त पारखी हेत॥
यहि विधि पन्द्रह गुण गहहिं, सुखी होंय वर नारि।
जाहु यही आचरण रहु भक्ति गुरु धारि॥

भक्तराज की इतनी उपदेश भरी वाणी सुन कर वह स्त्री उनके चरणों में गिर कर उनका बहुत उपकार मनायी और साधु-गुरु की भक्ति धारण कर सत्य आचरण से रहने लगी। कुछ दिन में उसकी सन्तसेवा और रहनी-रहस्य का ग्राम ही में नहीं बल्कि आस-पास दूर-दूर प्रचार हो गया, और उसके आधार से सत्संग द्वारा बहुत जीवों का उद्धार हुआ।

शिक्षा—किसी के दुर्गुण देख कर क्रोध या हँसी न करो, बल्कि उसका सुधार करो, देखो! सुधार ही से एक व्यभिचारिणी नारी आदर्श नारी हो गयी।

तन मन वच को शोध, करो दोष को छार सब।
गहि सद्‌गुरु सद् बोध, अटल रहो गुरु भक्ति में ॥१२६॥

टीका :— अपने शरीर, वाणी और मन को शोधो और उनके समस्त दोषों का नाश करो। और सद्‌गुरु का स्वरूप-बोध धारण कर गुरुभक्ति में अविचल भाव से स्थित रहो ॥१२६॥

व्याख्या :— रात-दिन अपने तन, मन, वचन की निरख-परख करते रहो और उनके दोषों को एक-एक करके त्यागते रहो । यथा—

सोरठा— गाली निन्दा झूठ, हँसी कटुक अश्लील कहि ।
कबहुं न पर को रूठ, वचन दोष त्यागहु भले ॥ १ ॥
इर्षा परसंताप, क्रोध मान छल भोग सुख ।
ये मन दोष कलाप, त्यागि थीर ह्वै परख मैं ॥ २ ॥
चोरी ठग व्यभिचार, लूट कूट मारब हरब ।
तन के दोष निकार, बरतहु शील दया सहित ॥ ३ ॥

प्रसंग १६— इच्छा-कामना ही जीव की वैरिणी है ।

साखी

विष की पुरिया जानिये, मन इन्द्रिन की चाट ।
पर्श किये विष चढ़त है, सर्प बिछू सम काट ॥१२७॥

टीका:— मन-इन्द्रियों-द्वारा विषय-भोगों को भोगने की जो आदत है, यह विष की पुड़िया है । इसके स्पर्श मात्र से विष चढ़ जाता है । विषयों के स्मरण से बिच्छू छेदनेवत् बेचैनी तथा भोगों को भोगने से सर्प काटनेवत् अचेत दशा हो जाती है ॥ १२७ ॥

व्याख्याः-यह काम-विषय रूपी मदिरा महा भयानक है । यह ऊपर से ही सुन्दर भासता है, किन्तु इस कामविषय रूपी पिटारी का स्पर्श करते ही उसमें से बड़े-बड़े भयंकर तृष्णा-चिन्ता, रोग-व्याधि, शोक-मोह, जन्म-मरण रूपी सर्प निकल कर जीव को डँसने लगते हैं । अतः इस विषय-वासना का सर्वथा त्याग ही सुख-शांति का स्थान है ।

जन्म मरण का मूल है, नारि विषय सुख नेह ।
ज्ञान अग्नि से भस्म करि, कर्म वासना देह ॥१२८॥

टीका—स्त्री-पुरुष की पारस्परिक विषय-सुखासक्ति ही जन्म-मरण का कारण है । अतएव ज्ञानाग्नि-द्वारा कर्म-वासनाओं के स्वरूप को भस्म करो॥ १२८

व्याख्या:—शरीर-इन्द्रिय तथा तत्सम्बंधी विषयों की आसक्तियों के समुच्चय को "कर्मवासना देह" यहाँ कहा गया है। यही जीव को जन्मादिक चक्करों में भटकाती है। एक वाक्य में कहें तो यह विषयासक्ति ही जन्मादिकों का कारण सर्व दुःखपूर्ण है। देहाभिमान के सर्वथा त्याग से ही विषयासक्ति का सर्वथा अभाव हो सकता है। अपने शुद्ध स्वरूप चेतन से पृथक शरीर को जड़, अपवित्र, घृणित, दुःखपूर्ण तथा नश्वर जान कर इसकी प्रेमासक्ति सर्वथा मिटा देना चाहिये।

शिक्षा—हे मन! यदि सुख चाहते हो तो शीघ्र विषयस्नेह त्याग करो। यह महा भयानक है। यह तुम्हें जन्म-मरण में रक्त के आँसू से रुला रहा है; किन्तु वह सब दुःख न जाने क्यों तुम भूल जाते हो? यद्यपि जहाँ सुख खोजते हो वहाँ सुख भी तो नहीं है, स्त्री-पुरुषों की देहें अस्ति, मांस, चर्मादि और पीव, रक्त, मल, मूत्रों से बनी हुई अत्यंत अपवित्र हैं। अतः विषयासक्तित्याग कर जन्मादिक कष्टों से शीघ्र मुक्त होओ।

प्राणी मात्र दुःखों से छूटना चाहते हैं। रहा मनुष्य तन कर्म भूमिका होने से प्रयत्न-द्वारा नर जीव तो अवश्य ही बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। अतएव मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि जन्म-जन्म की वैरिणी कामासक्ति को त्याग कर सत्संग, सद्विचार पूर्वक जीवन पर्यन्त संतुष्ट रहते हुए जन्मादिक दुःखों से मुक्त होवें। विरक्त को कामासक्ति सर्वथा त्यागना तो योग्य ही है; किन्तु सद्गृहस्थ को भी गृहस्थी में रहते हुए सद्गुरु के सत्संग-समझ-द्वारा कामासक्ति की कमी करनी चाहिये। अथवा एक-दो संतान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् स्त्री-पुरुष सम्बंध का गृहस्थ में रहते हुए भी सर्वथा त्याग करना चाहिये, और यदि संतान न होते हों तो संतान होने की आशा-वश कल्पित यंत्र-मंत्र दवात-बीजादि कर-करा के जीवन नहीं नष्ट करना चाहिये। क्योंकि अंत में स्त्री-पुरुष-पुत्र गृहधन त्याग करना तो अवश्य ही है, फिर प्रथम ही आसक्ति त्याग कर स्वरूपज्ञान द्वारा क्यों न जीवन लाभ उठाया जाय?

संसृति मूल विषयासक्ति

दृष्टांतः—शिष्य बोला—हे गुरुदेव ! जन्म-मरण का मुख्य मूल क्या है ? गुरुदेव बोले—पाँचों विषयों की आसक्ति, तिसमें मुख्य काम विषय। शिष्य—सो कैसे ? गुरु-सुनो ! दृष्टांत देकर समझाते हैं। एक नगर में व्यभिचारवृत्ति वाली एक नवयुवती स्त्री रहती थी। उसकी चिकनी चमड़ी को देखकर अज्ञानी जन लुब्ध हो जाते थे। एक दिन वह पास की नदी में स्नान करने गयी। स्नान करके जब लौट रही थी तो मार्ग में राज्य का सिपाही इसे देख कर मोहित हो गया और बोला-मेरी-मनोकामना पूरी करने की कृपा कीजिये। स्त्री ने कहा—सात बजे शाम को आना। जब और आगे बढ़ी तो राज्य का मंत्री मिला और बोला—हे प्राण प्यारी ! हमारी इच्छा पूरी कर। स्त्री—सात बज के पाँच मिनट रात में मेरे घर आना। स्त्री घर की ओर जाती ही थी इतने में एक पण्डित जी मिले। पण्डित जी बोले—हे विधुवदनी ! हमारी इच्छा कब पूरी करेगी ? स्त्री—सात बज के दस मिनट रात में आना। इतनी बात कह न चुकी थी कि एक साइंसी बाबू मिले और इसे देख कर लट्टू हो गये और बोले—हे हृदय-हारिणी ! हमें प्रसन्न कर। स्त्री—सात बज कर पन्द्रह मिनट रात में आना। मार्ग में जाते ही एक मियाँ जी जो कि नब्बे वर्ष की आयु में थे, मिले और कहने लगे—हे दिले जान ! हमारी कब राखेगी मान ! हम तेरे ऊपर हैं कुर्बान। स्त्री-सात बज के बीस मिनट रात में आना। अब शाम हो आयी और सात बजे का समय हुआ, इतने में राज्य का सिपाही आकर स्त्री के घर में प्रवेश किया और स्त्री से अभी बात-चीत कर ही रहा था, कि सात बज के पाँच मिनट का समय हुआ और राज्यमंत्री आकर किवाँड़ खटखटाया। सिपाही—यह कौन है ? स्त्री—राज्यमंत्री। सिपाही—अरे ! हमारी जान बचाओ, नहीं तो हम रोटी से बरबाद हो जायेंगे। स्त्री ने इन्हें झटपट एक सन्दूक में बन्द कर दिया, और

राज्य मंत्री से मिलकर प्रेम पूर्वक बात-चीत करने लगी तथा सात बज कर दस मिनट का समय हुआ और अपने कौल पर पंडित जी आ उपस्थित हुए। आहट सुन कर मंत्री ने पूछा—कौन है ? स्त्री—नगर के पंडित बाबा हैं। मंत्री—अरे ! हमें कहीं छिपा, नहीं तो हमारी सब मर्यादा मिट्टी में मिल जायेगी। स्त्री ने उन्हें भी एक सन्दूक में बन्द किया ; और पंडित जी के स्वागत में तल्लीन होना ही चाहती थी कि सात बज कर पन्द्रह मिनट का समय आया, और साइंसी बाबू आ पहुँचे, जूते की आहट सुनकर पंडित जी बोले—कौन है ? स्त्री-साइंसी बाबू हैं। पंडित—अरे हमें शीघ्र कहीं छिपा, नहीं तो बात खुल जाने से हमारी चेलाही-यजिमानी सब चली जायगी। स्त्री उन्हें भी एक सन्दूक में रखी; और साइन्सी बाबू से आकर मिली और बात-चीत कर ही रही थी कि सात बज कर बीस मिनट का समय हो आया और बुड्ढा मियाँ लाठी टेकते-टेकते आ पहुँचा और किवाँड़ खटखटाया। साइन्सी बाबू—यह कौन आ रहा है ? स्त्री—बड़े मसजिद के मियाँ जी हैं। साइन्सी बाबू—अरे हमें कहीं छिपा। स्त्री ने उन्हें भी एक सन्दूक में रख दिया। इतने में मियाँ जी आए, स्त्री बोली—मियाँ जी ! हमारे लिये कुछ लाये हो। मियाँ जी —अल्ला की दुवा से मैंने पाँच असर्फियाँ जोड़ रखी थीं, वह पाँचों ले आया हूँ। स्त्री उनके जेब से पाँचों असर्फियाँ लेकर बोली—जा भाग जा यहाँ से। मियाँ बोले—अरे दिले जान ! हमारी न निकालो जान, सारी जिन्दगी की कमाई तुम पर कर दिया कुर्बान, अब तो भला हमको बना लो अपना मेहमान ! इतनी बात सुन कर स्त्री ने बुड्ढे मियाँ की दाढ़ी पकड़ कर चप्पलों से स्वागत करते हुए बोली —रे हरामजादे ! मैंने युवक-युवक का सब धन-माल छीन कर उन्हें सन्दूकों में भर दिया, उन्हीं में उनकी मिट्टी खराब हो रही है, उनकी मेहमानी ही नहीं की तो क्या तुम-जैसे बुड्ढे-डोकरे पर मर मिटूँगी ? चल, तुम्हारे लिये एक सन्दूक खाली है। ऐसा कह कर घसीटती हुई मियाँ जी को भी सन्दूक में भरने लगी। ऐसो भयानक

दशा देखकर मियाँ बोला—या अल्ला ! मैं यह नहीं जानता था कि यह हालत होगी। निदान उन्हें भी एक सन्दूक में बन्द कर दी। प्रातः काल होने पर राज्य मंत्री, पंडित आदि का पता लगाया जाने लगा, बहुत खोज करने पर तीन दिन के पश्चात् उस स्त्री के घर तलाशी लेने से सन्दूकों में से पाँचों लाशें निकाली गयीं; वे पाँचों सड़कर गंधाने लगी थीं। उसके दंड में स्त्री को भी फाँसी हो गयी। गुरुदेव बोले—हे शिष्य ! देखो ! उस स्त्री में वे पाँचों मोहित हो जाने से अभी स्थूल (प्रत्यक्ष) रूप से विषय भोग नहीं कर पाये थे, किन्तु विषयफंद में पड़कर सब अपने-अपने धन, सम्पत्ति, मर्यादा नष्ट कर जीते जी सन्दूकों में सड़ मरे; तो भला ! ऐसे विषयों में जो रात-दिन आसक्त हैं वे गर्भाग्नि रूपी सन्दूक में पड़ कर क्यों न जन्मादिक दुःखों को भोगेंगे ? कामासक्ति-वश स्त्री-पुरुष दोनों जन्म-मरण-गर्भाशय का दुःख भोगते हैं। हे शिष्य, तू निश्चय जान "विषय आनंद की हन्ता, हेतु है जन्म लेने में" अर्थात् जन्म-मरण का मूल-कारण काम ही है। सर्व प्राणियों का बन्धन एक मात्र विषयासक्ति ही है। अतः दृढ़ प्रयत्न-द्वारा सर्प बिच्छू वत् इसे त्याग कर स्वयं अविनाशी स्वरूप की स्थिति करनी चाहिये। श्री कबीर साहेब तो यहाँ तक कहते हैं "सुन्दरी से शूली भली, बाँचे बिरला कोय।" अथवा—"जहाँ जराई सुन्दरी, तू जनि जाय कबीर। उड़ि के भसम जो लगाई, सूना होय शरीर।"

शब्द

मन ! तजु प्रेम दम्पति भोग ॥ टेक ॥

तीन ताप उपाधि तन को शूल मर्णज शोग।
याहि ते सब दुःख अति, जेहि गनत सुख सब लोग ॥१॥
भर्म को जिमि भूत लागत, यथा बौरो लोग।
अथिर तन मन बकत अक बक, ह्यों प्रमाद मनोग ॥२॥
जन्म युग को विकट बैरी, काम काल कुरोग।
याहि ते धरि स्वप्न तन, पुनि पुनि भ्रमत भव शोग ॥३॥

खाद्य कृमि मल कोष निन्दित, दार त्यागन योग ।
मानि सुख किमि पचत पामर, नचत तन मन मोघ ॥४॥
पंच विषय को विष निरखि, प्रमदा प्रबल अघ ओघ ।
भक्ति बोध विराग रत, गो मन स्ववश करु योग ॥५॥
सब प्रकार विकार परिहरि, काम मद मन ढोंग ।
नित निरत अभिलाष चिन्तन, स्वतः रूप विशोग ॥६॥

चेतन मुक्त स्वरूप से, अभय अक्रिय अबंध ।
जड़ सम्बंध में भूलकर, भोग चाह से बंध ॥१२९॥

टीका :— चेतन जीव का शुद्ध स्वरूप मुक्त, निर्भय, निष्क्रिय, निर्बन्ध है; वह जड़ सम्बंध में अपने आपको भूलकर और भोगों की इच्छा करके बँधा है ॥ १२९ ॥

जब इच्छा के वश भयो, तबहिं स्ववशता खोय ।
भई स्ववशता नष्ट जब, तबहिं जीव दुख रोय ॥१३०॥

टीका :— यह जीव जब विषय-इच्छाओं के वश में होता है, तभी इसकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है । जब स्वतंत्रता नष्ट हुई, फिर तो जीव दुःखों में पड़ा रोया करता है ॥ १३० ॥

व्याख्या :— मन-इन्द्रियों के वश में हो जाना ही अपनी स्वतंत्रता नष्ट करना है और यही महा नरक-यातना है । मनुष्य को चाहिये कि वह अपने मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करे और स्ववश होवे ।

दुःख का मूल विषय-इच्छा

एक राजधानी में ब्राह्मणों का एक ग्राम था । उसमें एक शान्ति-निकेतन नामक सदाचारी, सात्त्विक ब्राह्मण रहता था । राजा ने अपने मंत्री से पूछा—ग्राम के सभी ब्राह्मण राजद्वार पर नित्य आते हैं, किन्तु शांतिनिकेतन क्यों नहीं आता है ? मंत्री—शांतिनिकेतन सदाचारी, अखण्ड ब्रह्मचारी तथा विषयत्यागी है, वह बाह्य विषयों का अभाव कर मन-इन्द्रियों को स्ववश कर तथा आसक्ति-रहित थोड़े में उदासीनता

पूर्वक शरीर-निर्वाह लेते हुए अविनाशी के भजन-विचार में संतुष्ट रहता है। हे राजन्! जिसके पास विषय-इच्छा नहीं है, वह राज-द्वार पर क्यों फटके? राजा धार्मिक विचार से हीन अत्यंत विषयासक्त था। अतएव वह एक नवयुवती स्त्री को शांतिनिकेतन की सेवा में नित्य भेजने लगा। वह युवती शांतिनिकेतन के घर का काम-काज उत्साह पूर्वक विधिवत किया करती। प्रथम तो शांतिनिकेतन ने इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता और हटाता रहा। किंतु ऐसा करने पर भी युवती का प्रेम-उत्साह सच्चा देखकर शांतिनिकेतन के मन में भी प्रेमासक्ति उत्पन्न होने लगी। निदान दोनों परस्पर विषयासक्ति में फँस गये। अब क्या था? शांतिनिकेतन को भी स्त्री के लिये उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण एवं भोग वस्तुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। राजस स्वभाव से मन घिर जाने से भोगों के हित द्रव्य के लिये तृष्णा का प्रवाह बह चला। अब शांतिनिकेतन को भी द्रव्य एवं पृथ्वी के लिये राजा की ड्योढ़ी जोहारनी पड़ती, जगह-जगह नौकरी के लिये अफसरों का मुख देखना पड़ता। उसका प्रथम का संतुष्टमय स्वतंत्र जीवन नष्ट हो गया, और उसे सैकड़ों मानसिक-शरीरिक कष्टों का शिकार बनना पड़ा। सारशिक्षा—विषय-इच्छा में पड़ते ही स्ववशता-स्वतंत्रता नष्ट होकर सर्व दुःखों से भेंट हो जाती है, अतएव कल्याणार्थी को विषय-इच्छा से बहुत दूर रहना चाहिये।

पद

सदा भक्ति वैराग्य सद्बोध में थिर,
हृदय की अनादी अविद्या मिटा दे॥ टेक॥
मृतक दुःख क्षणभंग अपवित्र तन से,
हटा प्रेम निज रूप में तू लगा ले॥ १॥
अमर नित्य निर्द्वन्द्व अविकार पद में
रहे नित्य लवलीन जग को भुला दे॥ २॥
परम चातुरी है यही एक निज को,
तू आवागमन के दुःखों से बचा ले॥ ३॥

ये दो दिन के जीवन स्वपन में न भूले,
जो है खास तेरा उसी को सम्हाले ॥ ४ ॥
सकल दृश्य से मैं हूँ द्रष्टा निराला,
ये अभिलाष अपने हृदय में बसा ले ॥ ५ ॥

मुक्ति बिना नहिं जाय दुख, ज्ञान बिना नहिं मुक्ति ।
बिन गुरु ज्ञान न होय सुख, कोटिन कीजै युक्ति ॥१३१॥

टीका:—मोक्ष-प्राप्ति हुए बिना सर्व दुःखों का अन्त नहीं हो सकता, और स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और विवेकी सद्गुरु की शरण लिये बिना ज्ञान नहीं हो सकता; अतएव इन योग्यताओं के हुए बिना करोड़ों यत्न करने पर भी आत्यंतिक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १३१ ॥

व्याख्या:—सर्व दुःखों के निवृत्ति पूर्वक परमशान्ति एवं मोक्ष की प्राप्ति जिस ज्ञान से होती है, उसके दाता बोध-वैराग्यनिष्ठ सद्गुरु हैं। अतएव कल्याण की प्राप्ति में मुख्य कारण सद्गुरु ही हैं; ऐसा समझ कर यथार्थ सद्गुरु की शरण लेकर और उनके निर्देशों के अनुसार चलकर अपना कल्याण करना चाहिये।

सवैया

मुक्त भये बिन दुःख छुटै नहिं, ध्यास छुटे बिन मुक्ति न पावे ।
दुःख लखे बिन ध्यास छुटै नहिं, वीर बिना दुख दृष्टि न आवे ॥
सत्य विवेक विराग बिना नहिं, वीर को भाव कभी कोइ पावै ।
सत्य विवेक विराग बने नहिं, जो मन माहिं न भक्ति को भावै ॥

मुक्त ही अन्य को मुक्त कर सकता है

दहा:—हे गुरु! दीन दयाल प्रभु, हरण सकल भव जाल ।
शंका मोर निवारहू, पूछत दीन ये बाल ॥ १ ॥

चौपाई—

सब जिव दुखित देह धरि नाना । पाप पुण्य शुभ अशुभ मिलाना ॥
नाना भांति देह व्यवहारा । तीन ताप भोगत जग सारा ॥

मन से मानि कुटुम परिवारा। विषय भोग अमृत करि धारा ॥
अपन परार मानि दुख पावे। हर्ष शोक महँ जन्म गँवावे ॥
पढ़ औ अपढ़ नृपति वो दीना। जहँ तक मन वश जीवन चीन्हा ॥
सबहीं दुखित देह धरि शोगा। तन धरि काहु न देखि निरोगा ॥
सब परवश सब सुख के गर्जी। पूरी काहु कि देखि न मर्जी ॥
थिरता शांति कि युक्ति न पावें। आशा तृष्णा में नित धावें ॥

दोहा—यहि दुख देह से छूटि के, मुक्ति होय केहि भाँति।
तौन उपाय बतावहु, जासे जीवन शांति ॥ २ ॥

मुक्ति रूप धन देवनहारा। कौन पुरुष ऐसो संसारा ॥
कौन कर्म से मुक्ती होई। गुरुवर मोहि प्रखावहु सोई ॥
सद्गुरुदेव वचन तब बोल्यो। ज्ञान कोठरी हिय की खोल्यो ॥
स्वतः मुक्त जो आप रहाहीं। सोई और जीव मुक्ताहीं ॥
अपने नैन जाहिं के होई। मारग और बतावे सोई ॥
आप नैन से हीन रहावे। कैसेक और पंथ बतलावे ॥
पंक से धोय पंक कस जावे। तम से तम कस दूरि परावे ॥
याते है स्पष्ट ये नेमा। मुक्त आप सोइ मुक्त करेमा ॥

दोहा—मुक्त, मुक्त कर सकत हैं, यामैं यक दृष्टांत।
कहहुँ तोहिं हे शिष्य वर, सुनहु हृदय करि शान्त ॥ ३ ॥

धर्मचन्द्र नामक नर एका। धर्म दान करनो तेहि टेका ॥
एक समय पण्डित बुलवावा। प्रेम सहित सादर सिर नावा ॥
धर्मचन्द्र बोल्यो तब बाता। हे पंडित ! बुधि ज्ञान विधाता ॥
कौनो भाँति मुक्ति पद पाओं। सरल युक्ति पंडित बतलाओ ॥
तब पंडित बोल्यो हर्षाई। मुक्ति सरल पुराण मत गाई ॥
महा भागवत यक सप्ताहू। हृदय प्रेम भरि सुनहु उछाहू ॥
यहि सप्ताह परीक्षित सुनेऊ। मुक्त ताहि सतये दिन भयऊ ॥
सतयें दिन तहँ आय विमाना। राजा गयो मुक्ति के धामा ॥

दोहा—याहि हेतु सप्ताह इक, सुनहु कथा तुम नीक।
शीघ्रहि शुभ कारज करो, विलम करन नहिं ठीक ॥ ४ ॥

धर्मचन्द्र बोल्यो वचन, हे पंडित महराज ।
कथा सुनावहु बेगि अब, जाहि सरे शुभ काज ॥ ५ ॥

पंडित कथा सुनावन लागे । धर्मचन्द्र हृदय अति पागे ॥
सात दिवस जब बीति सिराहीं । तहँ विमान आयो कछु नाहीं ॥
धर्मचन्द्र बोल्यो पंडित से । हे महराज ! भयो यह कैसे ॥
आप कथा में हमहिं सुनाई । सतयें दिन विमान चलि आई ॥
सो विमान कछु परै न देखी । यह तो कारज भयो अलेखी ॥
बोल्यो धर्मचन्द्र से पंडित । यहि में एक बात है खंडित ॥
तब द्वापर का रहा प्रभावा । ताते शीघ्र मुक्त भयो रावा ॥
अब कलिकाल कराल समावा । याते पाप बहुत प्रगटावा ॥

दोहा—याते श्री भगवान् को, तिगुना पूजा देहु ।
चौदह दिन फिर से सुनो, भगवत कथा सनेहु ॥ ५ ॥

तब मनसा पूरण ह्वै तेरा । धर्मचन्द्र मैं कहौं यथेरा ।
धर्मचन्द्र इतना सुनि पावा । तुरतै तिगुना भेंट चढ़ावा ॥
सुनन लग्यो फिर से तब कथा । पंडित देव सुनायो यथा ॥
चौदह दिवस बीति तब गयऊ । नहिं विमान आयो तेहि ठयऊ ॥
धर्मचन्द्र तब अति अकुलाना । हे पंडित ! गुण ज्ञान निधाना ॥
कब से सिख्यो लबरई वाचा । अन्तर कपट अडम्बर साँचा ॥
ब्राह्मण बनि पंडित कहलाये । द्रव्य मान हित गाल बजाये ॥
मुक्ति वोट व्योपार कमावहु । अकरम करम को नाहिं लजावहु ॥
कहै और औ बरतै आना । इहौ कर्म नहिं करैं सुजाना ॥
पंडित को कुछ बात न आवा । कौनी भाँति ये बनै बनावा ॥
दोनों न्याय करावन चलहीं । मारग माहि सन्त यक मिलहीं ॥

दोहा—धर्मचन्द्र कर जोरि के, पड़यो सन्त के पाँव ।
पूरब पंडित की कथा, सन्त पाहि समभाव ॥ ७ ॥

सन्त हृदय में ठहरि विचारा । है ठग रूप जगत् व्यवहारा ॥
पाप पुण्य को नाहिं डेरावें । कौनिउ भांति द्रव्य घर आवें ॥
चारों वरण छोड़ि निज धर्मू । तेहि में दिज कर गति अति मर्मू ॥
ऐसो सन्त सोचि उर माहीं । न्याय करन की युक्ति लगाहीं ॥

दुई जंजीर बुलाइ मँगावा। एक-एक तरु में बँधवावा ॥
एक वृक्ष में पंडित बंधे। धर्मचन्द यक तरु में रंधे ॥
सन्त वचन पण्डित से बोलो। धर्मचन्द्र कहँ पंडित खोलो ॥

दोहा—पंडित बोल्यो सन्त से, हे गुरुवर महराज !।
धन्य-धन्य तुम धन्य हो, न्यायक बोध सुसाज ॥ ८ ॥

कौन भांति पर बन्धन छोरी। दोनों कर बाँध्यो जब मोरी ॥
बंधा आप बंध किमि नाशै। अन्ध आप किमि अन्ध प्रकाशै ॥
सन्त बिहँसि बोल्यो तब बानी। न्याय धरम सन्तन मत सानी ॥

दोहा—"बंधे को बंधा मिलै, छूटै कौन उपाय।
कर सेवा निर्बन्ध की, पल में लेयँ छुड़ाय ॥६॥ पं०॥"
नाल तुरँग पग लाग, मेढक देख्यो नैन से।
मारत चल्यो फलांग, हमहूँ नाल जड़ाइबै ॥ १० ॥

पंडित ऐसी बात तुम्हारी। बिन विचार बोझा सिरधारी ॥
बिच्छू केर मन्त्र नहिं जानो। अहि बाँवी निज हाथ पिलानो ॥
याते जो जग राग को त्यागे। निज स्वरूप वैराग्य सु पागे ॥
सकल जगत् बन्धन से मुक्ता। निज स्थिर स्वरूप संयुक्ता ॥
सोई मुक्ती देवनहारा। स्वयं मुक्त जो भव से पारा ॥
धर्मचन्द्र इमि बच जब सुनेउ। साधु चरण सहसा तब पड़ेउ ॥
हे गुरु सन्त बन्ध गत स्वामी। कृपा करो उर अन्तर्यामी ॥
मुक्ती मारग मोहिं बतलावो। कौन भाँति मुक्ती पद पावों ॥

सो०—सन्त कह्यो तब बैन, धर्मचन्द्र सुनु ध्यान धरि।
होई बिमल जेहि नैन, सो पथ अन्य बतावई ॥ ११ ॥

मुक्ती होय गुरू के ज्ञाना। गुरू रूप त्यागी पहिचाना ॥
खानी बानी बन्धन त्यागे। गुरू रूप तेहि जान सुभागे ॥
गृही गुरू से मुक्ति न होई। सन्त सुग्रन्थ सकल मत जोई ॥
नाना दोष गृहस्थी माहीं। मैथुन मैं अति दोष बताहीं ॥
गृही गुरू यहि सब संयुक्ता। किमि करि सकै जीव कहँ मुक्ता ॥
जाहि करम में चेला फँसे। तेहि में गृही गुरू जब ग्रसे ॥
गुरु-चेला अन्तर नहिं देखा। अन्धा अन्धा यक सम लेखा ॥

दोहा—याते गृह-जग त्यागि के, विरति माहिं लवलीन ।
काम क्रोध मद से परे, ताहि सद्गुरू चीन्ह ।।१२।।

ऐसे गुरु की भक्ति करि, निज स्वरूप पहिचान ।
त्यागि असक्ती जगत् की, भव दुख होवै हान ।।१३।।

सोरठा—संत विवेकी त्यागि, सब संसार कराल है ।
धर्मचन्द्र पद पागि, चेत ! चेत ! निज परख में ।।१४।।

"नर्क सो कौन ? घोर निज देही । तृष्णा त्यागि स्वर्ग सुख एही ।।वि०"

दोहा—नर्क स्वर्ग यहि जानिए, और न अपर दिखात ।
नहिं विमान आवै कतहुँ, व्यर्थ कल्पना बात ।।१५।।

त्यागि विषय तृष्णान कहँ, निज पारख होउ थीर ।
स्वर्ग देह जब तक रहे, अंत मुक्ति गम्भीर ।।१६।।

धर्मचन्द्र हर्षाय के, बोध पाई कर जोरि ।
करत बन्दना नमन करि, प्रेम भक्ति रस बोरि ।।१७।।

प्रार्थना-गजल

हमें भी प्रभू जी ! अपना समझ कर,
अपनी शरण में लगा लीजिएगा ।
बताये स्वतः पंथ मुक्ती क मारग,
दया कर वहाँ तक डटा दीजिएगा ।।टेक।।

दो०—सुखासक्ति आवर्ण बहु, प्रारब्धी को संग ।
मन पदार्थ प्राणी मिलत, करत रहत नित भंग ।।
प्रबल दृष्टि पारख उगा कर हृदय में,
सुखाशा मनोमय जला दीजियेगा ।। १ ।।

दो०—यद्यपि जानत क्षणिक सब, विषय देह दुखमूल ।
पाँखी बनि झुलसत तदपि, पूर्व मनोभव शूल ।।
सो उपराम करके विषय देह मन से,
प्रबल दोष दृष्टी बना दीजियेगा ।। २ ।।

दो०—गाफिल आलस मंद गति, सुख आशा अभिमान ।
मोहिं पछारत रहत नित मोक्ष पंथ से मान ॥
मगर निश्चय अब से बढाऊँ कदम मैं,
यही ध्येय मेरा बना दीजियेगा ॥ ३ ॥

दो०—शिष शिष्या विद्या विभव, राज अटारी देह ।
क्योंकर तिनसे प्रेम कर, दुखद पृथक क्षण खेह ॥
क्षणिक भोग जग से हृदय तोड़ करके ।
स्वतः प्रेम में मन बसा दीजियेगा ॥ ४ ॥

दो०—आज काल टारत रहत, बीत जात दिन शाम ।
चूके अवसर मिलत नहिं, करु स्थिति के काम ॥
हमें मुक्त होना इसी श्वास में है,
ये अभिलाष का मन बना दीजिएगा ॥ ५ ॥

सोरठा

तातै रहिये लागि, गुरू कृपा सब सुख मिलै ।
गुरूज्ञान पद पागि, और न जग में आश कछु ॥१३२॥

टीका :— अतएव विवेक-वैराग्यादि सद्‌गुण सम्पन्न सद्‌गुरु की शरण लेकर जीवन पर्यन्त उनके चरणों में लगे रहो । उनके कृपास्वरूप बोध से निर्वासना जनित आत्यंतिक सुख की प्राप्ति होगी । ऐ कल्याणार्थी ! सद्‌गुरु प्रदत्त स्वरूपज्ञान ही में लीन होओ, अन्य सांसारिक विषयों की किंचित् भी आशा न रखो ॥ १३२ ॥

प्रसंग--१६-केवल सुखासक्ति-वश अनेक दुःख तिससे छूटने की युक्ति ।

जीव विवश इन्द्रिय विषय, कर्म करै दै चित ।
दैहिक दैविक दुख असह, भौतिक है भयभीत ॥१३३॥

टीका :—जीव इन्द्रिय-विषयों के वश होकर और अपना चित्त देकर

पाप कर्म करता है और उसके फल में असहनीय एवं भयपूर्ण दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को भोगता है ॥१३३॥

व्याख्या— ज्वर, जूड़ी, हैजा, फोड़ा, फुन्सी, लकवा, भकंदर आदि शारीरिक तथा काम-क्रोधादि मानसिक ये दैहिक ताप हैं (२) पाला, पत्थर, अति वृष्टि झूरा से कष्ट अथवा अग्नि से जलना, जल में डूब जाना, ऊपर से बिजली वृक्ष तथा घर सिर पर गिर कर कष्ट मृत्यु आदि ये दैविक ताप हैं (३) सर्प-बिच्छु, सिंह-मनुष्यादि किसी प्राणी-द्वारा कष्ट पाना ये भौतिक ताप हैं। इन तापों का मूल पाप है और पाप का मूल विषयासक्ति है। अतः विषयाक्ति त्यागो।

पूरण दुख यदि लखि परै, जौन जहाँ जस होय।
ग्रहण करै नहिं आदि में, समुझि सयाने लोय ॥१३४॥

टीका :— जीव को जो दुःख जहाँ जिस प्रकार भोगने पड़ते हैं, वे पूर्ण रूप से यदि विवेक-द्वारा समझने में आ जायँ, तो समझदार व्यक्ति उनके कारणों को आरम्भ ही में नहीं ग्रहण करेगा ॥१३४॥

व्याख्या :—जन्म-मरण-गर्भवास, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप तथा सारे कष्टों का कारण विषयासक्ति है। जीव विषयासक्ति-वश जीवन पर्यन्त परतंत्रताजनित दुःख भोगता है और वासना-वश शरीर धर-धर कर पुनः-पुनः दुःख उठाता है। ऐसा जानकर विवेकवान् विषयासक्ति को ही निर्मूल करते हैं।

पाप पुण्य दुइ कर्म है, नर देहन के बीच।
सुसंग कुसंग जस योग मिलि, उत्तम मध्यम नीच ॥१३५॥

टीका :—मनुष्य शरीर धारी सर्व जीवों के अन्तःकरण में शुभ और अशुभ इन दो कर्मों के बीज गुप्त रूप से पड़े हैं। उनको आज सुसंग-कुसंग की जैसी योग्यता प्राप्त होती है, उसी प्रकार का बीज जमता है। अर्थात् सज्जन सन्तों के संग से शुभ संस्कार उगते हैं। और राजसी तामसी के संग से बुरे संस्कार उदय होकर वैसे स्वभाव बन जाता है। इस प्रकार

सुसंग-कुसंग के प्रभाव से ही उत्तम-मध्यम और नीच तीन प्रकार मनुष्यों का आचरण होता रहता है ॥१३५॥

सवैया—

याते सुसंग को त्यागि भले विधि, प्रीति प्रतीति सुसंग से कीजै ।
इन्द्रियासक्त वो फैसनबाज को, दूरि से त्यागि सुमारग लीजै ॥
देह विषय अभिमान को त्यागि के, पारख निज्य स्वरूप में भीजै ।
फेरि न देह रु देह के स्वाद में, प्रेम लगाय विषय रस रीझै ॥१॥

पूर्ण ज्ञान जब तक नहीं, तब तक कर्म न छूट ।
जबहिं बोध निश्चय भया, कर्म वासना टूट ॥१३६॥

टीका:—सर्व तन-मन से परे खरे-अखण्ड, अक्रिय, असंग, अपरोक्ष, अंश-अंशी, कारण-कार्य, व्याप्य-व्यापक, भाव-रहित शुद्ध-बुद्ध मैं स्वयं तृप्त स्वरूप हूँ। इस प्रकार का जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होता या स्वयं ज्ञान स्वरूप में दृढ़ साधना युक्त नहीं ठहरा जाता, तब तक शुभाशुभ कर्मों की ग्रंथि नहीं छूटती। शरीराध्यास-वश तब तक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं। किन्तु जैसे ही उपर्युक्त ज्ञान की दृढ़ निश्चयता हुई और शरीराध्यास को सर्वथा शिथिल कर सद्‌रहस्य पूर्वक स्वरूपाकार वृत्ति में स्थिति हुई, वैसे ही जानो उन पुरुष के सर्व कर्म बन्धन एवं सुखाध्यास रूपी वासनायें टूट गयीं और जीव स्वतः पद में स्थिर हुआ ॥ १३६ ॥

व्याख्या:—प्रश्न:-स्वरूप-बोध होते ही जन्म-मरण मूलक क्या सर्व कर्म-वासनायें तुरंत दग्ध हो जाती हैं ?

उत्तर:-दया, शील, क्षमा, समता, धैर्य, उपासना, शम-दम, विवेक, वैराग्यादि के कुछ काल अभ्यास पूर्वक स्वरूप में दृढ़ स्थित होने पर कर्म-वासनायें दग्ध हो जाती हैं; क्योंकि स्वरूप-बोध का दृढ़ निश्चय-ठहराव कुछ काल के अभ्यास से होता है, तुरन्त नहीं।

प्रश्न:—स्वरूप-बोध-पश्चात् कितने काल के वैराग्यादि अभ्यास-द्वारा दृढ़ स्थिति मिलती है ?

उत्तर:—इसका कोई नियम नहीं, बल्कि पूर्व जन्मों के शुभ संस्कार

एवं आज के सद्पुरुषार्थ पर निर्भर है। जैसे निश्चित स्थान के जाने वाले तीव्रगामी पंथी अति शीघ्र अपने निश्चित स्थान पर पहुँचते और मन्द-गामी (धीरे चलने वाले) पीछे तथा अति मंद-गामी बहुत पीछे पहुँचते हैं।

प्रश्न :— साधना और स्थिति-अवस्था का क्या लक्षण है ?

उत्तरः-(१) प्रथम बारम्बार विषय-संस्कारों में मिलते रहना और पुनः वैराग्यादि अभ्यास-द्वारा उन संस्कारों को मिटा-मिटा कर स्थित होते रहना, पश्चात् विषय-संस्कारों का बहुत कम उठना, विशेष स्थिति-दशा ही प्राप्त रहनी, ये साधना अवस्था के लक्षण हैं (२) तन-मन, प्राणी-पदार्थों एवं अपने हृदय के दुर्गुण-वासनाओं से आठों पहर सावधान, अर्थात् कभी कहीं भी माया मोह में न भूलना, अपने मन पर तनिक भी विश्वास न कर कुसंग-रहित संसार-शरीर को स्वप्नवत्, निष्प्रयोजन समझते हुए सर्व सुखाकर्षण-रहित सदा काल सर्वप्रिय निज शुद्ध स्वरूप में ही संतुष्ट रहना, ये ही स्थिति अवस्था के लक्षण हैं।

प्रश्नः—ऐसे स्थितवान् से क्या कभी कोई भूल नहीं होती ?

उत्तर—ऐसे सदैव साधन-रत विवेकी से कोई बड़ी भूल तो कदापि होती ही नहीं, रह गया जान बूझ कर साधारण भूल भी नहीं होती। हाँ ! भुलावन रूप प्रारब्ध का सम्बंध होने से यदि तन, मन, वचन में कहीं कुछ भूल की सम्भावना हुई तो बोध-भाव से वहाँ विवेकवान् अपने को सबसे भिन्न निश्चय कर सर्व भास वृत्तियों का साक्षी बन जाते हैं और अपने को भूल-दुर्गुणों-बन्धनों तथा दुःखों से अध्यास-वश प्रतिक्षण घिरा समझ कर निर्मानता और सावधानता पूर्वक सर्व मन सम्भव भूलों को मिटाते रहते हैं। अतः सर्व भास प्रपंचों से पृथक स्वस्वरूप का दृढ़ निश्चय और वैराग्य तथा अखण्ड साधन-धारणा से विवेकवान् को कोई बंधन बाँध नहीं सकता।

प्रश्नः-— ऐसी श्रेष्ठ स्थिति शीघ्र क्यों नहीं होती ?

उत्तर—इसका विवरण इसी प्रकरण के ५७ वीं साखी के दृष्टांत में

देखिये और साधना के विषय में रहस्य विचार ७ वें पाठ के ७ वें छन्द के अन्तिम दृष्टांत में देखिये।

निश्चय वो साहस वीरता, दृढ़ एकरस निशियाम हो।
तन मन विषय संसार प्राणी, भोग से उपराम हो॥
जब नित्य रहना चाहते हैं, हम अकेले आप ही।
तब आज से ही हो अकेले, सब मिटै परिताप ही॥१॥

अविचल स्वच्छ स्वरूप निज, ज्ञान मात्र खुद आप।
अभय अकाम अखंड नित, परख प्रकाशी जाप॥१३७॥

टीका :— अपना चेतन स्वरूप अविचल, शुद्ध, ज्ञान मात्र, स्वतः, निर्भय, निष्काम, अखण्ड, शाश्वत्, पारखप्रकाश स्वरूप है; इसी का अर्थात् अपने आप का सदैव चिन्तन करो॥ १३७॥

ऐसा पद सो भूल कर, भोगत कष्ट अपार।
गुरू कृपा बिन पार नहिं, बहे जात भवधार॥१३८॥

टीका :— मनुष्य अपने ऐसे परम तृप्त तथा निर्मल स्वरूप को भूलकर विषयों के वश असह कष्ट भोगता है। सद्गुरु-कृपा बिना कोई इस दुःखधारा से पार न पाकर, प्रत्युत सब उसी में बहे जा रहे हैं॥ १३८॥

व्याख्या :— सद्गुरु की कृपा तो सब समय सब पर है; उनकी कृपा का जब तक हम आदर नहीं करेंगे तब तक हमारा कल्याण कैसे होगा।

ताते मुख्य उपाय है, गुरु पद पोत अधार।
शीघ्र गहौ सज्जन सोई, कहैं कबी पुकार॥१३९॥

टीका :— अतएव संसार सागर से तरने का मुख्य उपाय है सद्गुरु के चरण-जहाज का आश्रय। सद्गुरु श्री कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं, ऐ सज्जनों! गुरुपदपोत का शीघ्र आश्रय लो॥ १३९॥

व्याख्या :— जीवन क्षणभंगुर है इसका कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। इसलिये शीघ्रतातिशीघ्र सद्गुरु की शरण ग्रहण करो और कल्याण-साधन करके लक्ष्य की प्राप्ति करो।

जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे है श्वासा।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति डारो फाँसा ॥
(बीजक)

प्रसंग—१८—वासना कोई द्रव्य नहीं; मानन्दी मात्र है।

मानन्दी से जाल सब, जीव रचैया जान।
जड़ चेतन सो है नहीं, भूलहिं से सब ठान ॥१४०॥

टीका :— जीव ही मान-मान करके सब जालों का रचने वाला है। यह मानन्दी, वासना न जड़ में है और न शुद्ध चेतन में, स्वस्वरूप की भूल से ही जीव इनको बनाता है ॥ १४० ॥

व्याख्या :—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा इनके कार्य रूप नाना जड़ पदार्थों में मानन्दी, वासना, अहन्ता-ममता आदि नहीं होती; क्योंकि वे जड़ हैं। शुद्ध चेतन के स्वरूप में भी ये वासनायें नहीं हैं, तभी तो उनका त्याग किया जा सकता है। मानन्दियों-वासनाओं के बनने में मुख्य कारण है जीव अपने शुद्ध स्वरूप को अनादि काल से भूला है और विषयों में उसे सुख-भ्रम है। इसलिये वह भ्रम-वश विषय सुखों के लिये संसार के नाना प्राणी-पदार्थों के राग-द्वेष की मानन्दी में बंध जाता है। यह मानन्दी अर्थात् जड़-पदार्थों में मेरी मान लेना ही जीव को भटकाता रहता है।

भूल मिटै वह नहिं रहै, रज्जू सर्प समान।
केवल भर्म प्रत्यच्छ बिन, भासत आनको तान ॥१४१॥

टीका :— स्वरूप की भूल मिट जाने पर वह मानन्दी-वासना नहीं रह जाती। जैसे प्रकाश पाते ही रस्सी में सर्प की उत्पन्न हुई भ्रांति समाप्त हो जाती है। केवल भ्रम की प्रत्यक्षता हुए बिना ही रस्सी में सर्प भासता है, इसी प्रकार केवल स्वरूपज्ञान न होने से ही जड़-शरीरादि में अहन्ता-ममता होती है ॥ १४१ ॥

व्याख्या :---- जड़, अपवित्र, दुःखपूर्ण, नाशवान् शरीर मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध, बुद्ध, परमतृप्त स्वरूप चेतन हूँ। यह बोध तथा इसकी धारणा होने पर सभी मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं और जीव का कल्याण हो जाता है।

रवि सम ज्ञान प्रकाश में, भ्रम तम जाय नशाय।
स्वयं प्रकाशी आप जिव, आपहिं आप रहाय ॥१४२॥

टीका :— सूर्यवत् अखण्ड ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान-अंधकार समाप्त हो जाता है। जैसे यह जीव स्वतः ज्ञानस्वरूप है, उसी प्रकार अपने आप ज्ञान-स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥ १४२ ॥

व्याख्या :---- क्षमा, दया, शील, सत्य, विचार, सहन, संतोष, निर्मानता, समता, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सर्व हंस रहनी-सद्रहस्य पूर्वक स्वरूपज्ञान के अखण्ड स्थिति प्रकाश में पंच विषय तथा शरीरादि की आसक्ति नहीं रह जाती। ऐसे राग-द्वेषादि सब वृत्तियों से पार पुरुष जीवन्मुक्ति स्थिति में विराजते हैं। अनासक्ति पूर्वक शरीर निर्वाह लेते हुए वे कहीं नहीं बँधते और आठोयाम स्वस्वरूपस्थ रहते हैं। वे इस अनन्त शान्तिमय जीवन्मुक्ति सुख में विहरते हुए प्रारब्धांत पश्चात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर-रहित स्वयं प्रकशी निर्विकार-निर्द्वन्द्व एवं मुक्त रूप रह जाते हैं।

मुमुक्षु की पुकार— छन्द

कब पार हूंगा सद्गुरू ! इस दुख तन मन घोर से।
ज्वालामयी संसार वो विष वायु के झकझोर से ॥
मन ऊबता वो डूबता, नहिं पावता है छोर से।
हा ! हा ! जलूँ तन मन विषय संसार अग्नी जोर से ॥१॥

प्रसंग —१९—प्रथम जिन दोष-दृष्टियों से वैराग्य लिया उन दोषों पर एकरस दृष्टि न रहने से वैराग्य में ढिलाई तथा पतन ।

सोरठा

दुख स्वरूप दिखलाय, मन इन्द्रिन सब जगत सुख ।
मानस रोग हटाय, सुखाध्यास सब विघ्न तजि ॥१४३॥

टीका :— मन-इन्द्रियों से भोगे जाने वाले सर्व सांसारिक पंच विषय कल्पित सुख भोग जब मुमुक्षु को पूर्ण दुःख रूप दिखलाई पड़ते हैं, अर्थात् इस घृणित दुःखपूर्ण भोग विलासी जीवन के दुर्दिन, संकट-ग्रस्त अवस्था का जिन्हें पूर्ण ज्ञान और मुक्ति सुख निश्चय का पूर्ण भान है। ऐसे बिरले मुमुक्षु ही कठिन से कठिन सुखाध्यास, आसक्ति, आदत, दुर्स्वभाव रूपी सर्व विघ्नों को दलन करके जन्मादि के कारण मानसिक रोग—काम, क्रोध, लोभादि को नष्ट कर स्वच्छ-निर्विकार दृढ़ वैराग्य दशा को प्राप्त होते हैं ॥ १४३ ॥

शिक्षा :— इस भयंकर, दुःखपूर्ण, विनाशी संसार-शरीरादि में मोह करके हे अविनाशी जीव ! तू क्यों कष्टों का शिकार बन रहा है ? अभी दम टूटे तो सब छूटने वाले हैं, अतः तू सबका मोह त्याग कर और दृढ़ सद्प्रत्यन-द्वारा मुक्ति को प्राप्त कर ।

कवित

आखिर को छोड़नो है घर धन नारि सुत,
देह और इन्द्रिय के स्वाद को तजन है ।
जहाँ जहाँ नेह करि मनन करत नित,
स्वप्न समान सब झूठ ही रजन है ॥
कोई कहै हमरो ये नारि सुन घर धन,
कोई कहै हमरो ये श्वसुर सजन है ।
अन्त में दिखात ये तो काल के कलेवा सब,
याते सर्व छोड़ि कर सुगम भजन है ॥१॥

भोग प्राणी सुख स्वाद मिलि मिलि छुटि जात,
याही ते मिलब आश प्रथम से त्यागि दे ।
मन अरु इन्द्रिन के स्वाद रूप तृण माहिं,
निरस विराग बोध ज्ञान रूप आगि दे ॥
चारों ओर दुख धार बहत प्रबल जोर,
भागि बचो गुरु की शरण लागि-लागि के ।
सबसे उदास अभिलाष निज रूप थिर,
जग परपंच तजि धन्य बड़ भागि ये ॥२॥

तबहिं बोध ठहराय, पूर्व भाव निश्चय सकल ।
नहिं तो जाय नशाय, रहे न निश्चित एक भी ॥१४४॥

टीका :—साधक का प्रथम का वैराग्य-निश्चय तभी बना रहता है और उसकी स्वरूपस्थिति तभी होती है जब वह जीवनपर्यन्त मान-सुख की आसक्ति त्याग कर और सावधानी पूर्वक साधना में एकरस चला करता है; अन्यथा असावधान होने पर वैराग्य-निश्चयता का एक भी अंश नहीं रह जाता और सब भाव नष्ट हो जाते हैं ॥ १४४ ॥

व्याख्या :—जैसे जेलखाना से छूटा हुआ समझदार मनुष्य पुनः जेलखाना की इच्छा नहीं करता, बल्कि जेलखाना को विषवत् त्याग कर अपने घर का ही मार्ग पकड़ता है, ठीक इसी भाँति शुद्ध मुमुक्षु कुटुम्ब-सम्पत्ति, गृह-खटपट को विषवत् त्याग कर पहले-पहल वैराग्य दशा में आता है। उस समय वह यह समझता है कि इस असार एवं दुःखपूर्ण संसार में मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का कोई नहीं हूँ। इस दो दिन के जीवन में विवेकी सद्गुरु की शरण में जीवन पर्यन्त रह कर शम, दम, विवेक-वैराग्यादि पूर्वक सर्वासक्ति-रहित मुक्त हो जाना ही हमारा परम कर्तव्य है। इस प्रकार दुःखपूर्ण सांसारिक भोगों को त्याग कर उस समय शुद्ध मुमुक्षु को केवल निर्मल वैराग्य दशा ही प्रिय लगती है। यही "पूर्व भाव निश्चय" है। यह प्रथम का वैराग्यप्रेम तथा परमार्थ-पथ में निर्मानता पूर्वक जीवन पर्यन्त

एकरस चलने की सम्पूर्ण निश्चयतायें तभी बनी रहती हैं, और स्वरूपबोध की स्थिति भी तभी होती है, जब स्त्री-पुत्र, गृह-धन, मान-मर्यादा तथा विषय भोगों को सदा सर्वदा विषवत्-दुःखपूर्ण समझकर उनका अभाव किये रहे; नित्य प्रति संसार-शरीरादि से विशेष उपरामता दृढ़ होकर जगत् बिलकुल अभाव होता रहे[1]। अन्यथा जब कुछ काल परमार्थ-पथ में चलते-चलते साधक को मान-सुख मिलने लगते हैं, और वह केवल वाच्यज्ञान में ही अपने को पूर्ण समझ कर तथा असावधान होकर सुखाध्यास के हाथ बिक जाता है; और वैराग्य-विवेक तथा साधन की शक्ति नष्ट हो जाती है; फिर तो वह प्रथम मान रूप प्रतिष्ठा एवं वेष के सुखानन्द में भूलकर पुनः धीरे-धीरे खानी (वनिता चक्र) में गिर जाता है, और प्रथम की भक्ति, बोध, वैराग्यादि परमार्थ-पथ सम्बन्धी एक भी निश्चयता उसके सम्मुख नहीं रह जाती।

जस पूरब सन्धान, दोषदृष्टि यकरस रहै।
पावे निज स्थान, तबहिं सफल निज कार्य हो ॥१४५॥

टीका:— जैसे शुद्ध मुमुक्षुता तथा निर्मानता पूर्वक प्रथम साधु-गुरु के शरणागत होकर वैराग्य दशा ली गयी थी, और संसार को दुःखपूर्ण समझ कर उसे अभाव कर कल्याणपथ में ही जीवन पर्यन्त रहने की निश्चयता की गयी थी; वैसे ही यदि कल्याणपथ में प्रियता और भोगों के प्रति एकरस दुःख-दोष-दृष्टि सदा बनी रहे, तो अखण्ड साधन-प्रयत्न-द्वारा मोक्ष-साधक अपनी अविनाशी पारख स्थिति की भूमिका को प्राप्त कर लेवे। तभी साधक का अपना परमार्थ-कर्तव्य सफल होता है॥ १४५ ॥

व्याख्या :— संसार-शरीर एवं विद्या-वाणी की आसक्ति जीतकर स्वरूप में ठहरने के लिये साधु हुआ जाता है, न कि विषय-प्रपंच, देहासक्ति, विद्या-वाणी की सुख मानन्दी में प्रवेश करने के लिये।

---

१. दो०—निश्य पैर आगे धरहिं, करहिं न पीछे पाँव।
कायरता आसक्ति दलि, विरति बोध दृढ़ लाव॥ १ ॥

जैसे खेती, वाणिज्य तथा नौकरी करने वाले रात-दिन अपने कार्य में एकाग्र रहते हैं वे अपने कामों से क्षण भर भी छुट्टी नहीं लेना चाहते; वैसे हम साधु हुए हैं, तो हमारा खाते-पीते, चलते-फिरते, उठते-बैठते एकमात्र भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्साधन ही परम कर्तव्य है। हमें परमार्थ साधन से क्षण मात्र भी अवकाश नहीं लेना चाहिये, और कुसंग प्रपंचों में क्षण मात्र भी हमें नहीं प्रवेश करना चाहिये। पहले हमें अपने चरित्र को सुधारना चाहिये, तब दूसरे पर ध्यान देना चाहिये। यदि हम अपने विवेक, वैराग्य, स्वरूप-स्थिति को छोड़कर दूसरे के सुधार का व्यर्थ दम भरेंगे या कुसंग, विद्या, वाणी के चमत्कार में भूलेंगे, तो हम अपनी स्वतः शान्ति से सदा के लिये अवश्य वंचित हो जायेंगे। तब हमारा ठौर कहीं नहीं लगेगा। संसार को छोड़कर गुरुपद में शरण है, किन्तु गुरुशरण को छोड़कर जीव को कहीं स्थिति नहीं, अतः सावधान !

रहे न यकरस दृष्टि, मोक्ष ध्येय छूटै जभी।
बहे जो मन की सृष्टि, ढील होय वैराग्य से ॥१४६॥
निज पद से गफिलाय, नरक होय तेहि जीव को।
पग पग अति दुख पाय, उतरि जाय गुरु दृष्टि से ॥१४७॥

टीका :— साधक का मोक्ष-ध्येय छूट जाने पर वैराग्य की एकरस दृष्टि नहीं रह जाती। वह मन के दुर्गुणों में बहने लगता है और वैराग्य से शिथिल हो जाता है ॥ १४६ ॥ इस प्रकार जो अपने साधु-पद से असावधान होता है उस जीव का विषय-वासना रूप नरक में ही निवास होता है। वह जीवन में पदे-पदे अत्यन्त दुःख पाता है और गुरु दृष्टि से उतर जाता है ॥ १४७ ॥

व्याख्या :— जो साधु-ब्रह्मचारी नाम धरा कर और अपने साधना-मार्ग को छोड़कर प्रपंच में प्रवृत्त होते हैं, उनकी दशा "दोनों दीन से गये पाड़े, हलुए हुए न माड़े" की होती है। जो साधु नामधारी सबको

जीतने की तृष्णा में रहते हैं; शास्त्रीय ज्ञान का मद लेते हैं, स्त्री में प्रेमासक्त होते हैं तथा सांसारिकता में राग करते हैं, वे अपने पद से गिर जाते हैं।

मुमुक्षुओं के लिये चेतावनी

वैराग्यजनित सद्ग्रंथ पढ़कर, उपदेश सुनकर, और कोई एक दो कारण-वश घर-गृहस्थी से उकता कर मुमुक्षु किसी गुरु के पास जाकर शीघ्र वैराग्य एवं साधु वेष धारण कर लेता है। यह मुमुक्षु अथवा मुमुक्षु समाज के लिये बहुत खरतनाक काम हो जाता है। बहुत सोच-विचार कर, बहुत विलम्ब पश्चात् अपनी शक्ति देखकर ही किसी कार्य में हाथ डालना चाहिये। फिर वैराग्य दशा तो संसार में सबसे बड़ा भारी पद है। जो जितना ही बड़ा पद, बड़ा काम होता है उसमें उतने ही बड़े-बड़े विघ्न रहते हैं। दृढ़ वैराग्य दशा पूर्वक जीवन बिता देना कोई "खाला बूबू" का घर नहीं है। हाँ! सदा साधन-रत प्रबल मुक्ति-इच्छुक के लिये तो यह वैराग्य पथ ही सरल, सीधा एवं सुखमय लगता है, उसे सांसारिक सुख ही कठिन दुःखपूर्ण ज्ञात होते हैं; किन्तु ऐसे नर रत्न संसार में होते भी कम हैं। आज-कल देखा जाता है—इधर अधकच्चड़ मुमुक्षु शीघ्रता पूर्वक वैराग्यदशा (साधु वेष) में आता है और उधर संसार में गिरना प्रारम्भ कर देता है। वेष में आते ही साधुता का पूरा अहं हो जाता है। भक्ति, साधन, वैराग्य, निर्मानता, सद्पुरुषार्थ से हीन होकर विवेकी सन्तों की पटैती (बराबरी) करता, देह सुखाध्यास-वश भोगों में ललचाता, चेला-चेली की इच्छा में कष्टित रहता, निदान या तो विषय में पतित हो जाता है, या वेष में रहते हुए भी वैराग्य-भक्ति-विहीन केवल वेष एवं वैराग्यदशा की नकल मात्र रह जाती है; ये सब दुर्दशायें प्रायः शीघ्र वेष धारण करने से ही आती हैं। जैसे एक मूर्ख मनुष्य को राजगद्दी दे दी जाय, तो वह राजसुख तथा राजनीति का सत्तानाश करने के सिवा क्या कर सकता है, ? ठीक इसी प्रकार

अनधिकारी को साधु वेष भी है। इसलिये मन में वैराग्य की भावना होने पर भी दृढ़ ब्रह्मचर्यपूर्वक विवेकी संत-गुरु का आधार लेकर बहुत काल तक साधना अभ्यास करते रहना चाहिये। सच्चे गुरु की शरण में रह कर सद्रहस्य से अपने को पूर्ण संत बना लेना चाहिये। केवल बाह्य लङ्गोटी-अचला वेष ही साधुता नहीं है। इसके लिये श्रेष्ठ गुरुजनों से भी नम्र निवेदन है कि वे किसी को शीघ्र साधु वेष देने से डरें। केवल दुःख छुड़ाने के ध्येय से ही मन, वच, कर्म से आये हुए प्रबल मुमुक्षु, निर्मानी, शरणागत शिष्य को बहुत काल साधना अभ्यास कराते हुए पूर्ण योग्य जानकर कभी साधु वेष देने का विचार करें। जैसे-कैसे शिष्यों की संख्या वृद्धि करने में भलाई नहीं है।

एक वेषधारी का पतन

दृष्टांत :— एक महात्मा प्रथम के अच्छे त्यागी थे। उन्हें जगत दुःखों का ज्ञान था, मोक्ष की इच्छा थी; किन्तु कुछ दिन के उपरान्त वेष में अधिक सुख-मान आदि मिलने लगे। धीरे-धीरे महात्मा जी की संसार की ओर से दुख-दृष्टि नष्ट होते-होते भोगों में सुख प्रतीत होने लगा। जिन्हें वे प्रथम सर्प-सिंह और विष से भी दुःखदायी एवं भयंकर जानकर त्याग किये थे, वे सब अब प्रिय भासने लगे। इसमें मुख्य कारण था पुरुषार्थ की ढिलाई, सत्संग से दुराई, कुसंग से मिताई। प्रथम जिन विषयों को त्याग कर हजार कोष दूर रहना चाहते थे, उन विषयों को अब गले का हार बनाना चाहते। वैराग्यवान्-स्थितवान की महिमा सुनकर तो उन्हें अत्यंत जलन होने लगती। अब प्रथम के माने हुए कुल-कुटुम्बियों से स्नेह बाँधने लगे। जो कुछ चेलों से द्रव्य पुजाते वह बाल-बच्चों के लिये ही जोड़ रखते, और समय-समय रुपये घर भेजा करते। इस प्रकार उनकी विचारधारा मंद होते-होते एक नीच जाति की स्त्री से फँस गये। कोई भी गंदी वस्तु की गंध बहुत शीघ्र फैलती है। निदान

उनके दुराचरणों को लोग जान गये और पकड़ लेने के घात में रहने लगे। फलतः कई मनुष्यों-द्वारा एक दिन पकड़ लिये गये। उन्हें लोग उस न्यायाधीश के यहाँ ले गये जो कि इनके प्रथम वैराग्य की महिमा में इनके दर्शन करने आया था। इन्हें देख कर न्यायाधीश आश्चर्यित-सा हो गया। ये उस समय मौन-दशा धारण कर लिये। न्यायाधीश ने कहा—कहिये बाबा जी! आज आपकी मौन-दशा काम न देगी। मैं उसी दिन आपको पूज्य माना था, जब आप शुद्ध वैराग्यदशा में थे, अब तो आज आपके स्वागत में बेड़ी और हथकड़ी है।

अहो! ऐसी सुन्दर वैराग्यदशा को प्राप्त कर भी पुनः उसे त्याग कर जो संसार-स्नेह में धँसता है, वह सचमुच पागल है। साधुपद अति गम्भीर है। साधु दशा धारण करते समय गुरु-द्वारा मृतक चिन्ह कफनी रूप अचला और आड़बन्द मिलता है। उसका ग्रहण करने का एक मात्र यही ध्येय है कि सांसरिक भोगों से मर जाओ, पुनः दुःखपूर्ण जगत् की इच्छा न करो। भक्ति, वैराग्य सद्पुरुषार्थ में सदा लीन रहो और सद्साधनपूर्वक जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त करो। जीवन्मुक्ति शब्द सुनते ही अधिकांश मुमुक्षु हताश हो जाते हैं। "हमसे कैसे सधेगा?" "हर हर शब्द परा जब कान, तब भिट्ठा पर गिरा उतान" वाली कथा चरितार्थ करते हैं। अहो परमार्थ-पथ से कितनी साहसहीनता है? पूर्ण निर्मान बनकर दृढ़ वैराग्यपूर्वक अपनी स्थिति के लिये जिज्ञासु को डट जाना चाहिये। मान-बड़ाई, अधिक वाक्य चातुर्य, रूप सौंदर्य, उच्च जाति, प्रतिष्ठित पद आदि बाह्य वस्तुओं की तो स्वरूपस्थिति-प्राप्ति में कोई आवश्यकता है नहीं, मात्र दीन, गरीब, सहनशील बनकर जाति वासनाओं को मिटा देना है। चाहे उन्हें कोई न जाने, मान-बड़ाई न देवे, सब के देखने में वे तुच्छ प्रतीत होवें; किन्तु जिनकी वासना-तृष्णा और अहंता मिट गयी है; उनका पटतर कौन कर सकता है? कहा भी है—

दो०—"तिनको चरणोदक सहो, तिनको महा प्रसाद।
तिनको दर्शन नित्य सही, जिनकी मिटी उपाध ॥ वै० ॥"

यद्यपि जीवन्मुक्ति में कोई आकार-प्रकार नहीं बदल जाता, वे भी अन्यों की भाँति खाते-पीते, सोते-जागते, बोलते-चालते रहते हैं, तथापि उनके अन्तःकरण से इस जगत् की वासना, प्रियता निकल जाती है। वे सोचते हैं—जब हमें सदा अकेले असंग रहना है अर्थात् दो दिन के पश्चात् विदेह-स्थित में जाना है, तो वहाँ तो कई मान-सुख देने वाला न रहेगा, हमारे सामने यह जड़ जगत् भी न रहेगा, हर्ष-शोकादि की कोई वृत्ति भी न रहेगी, केवल मैं ही निश्चिन्त हो रहूँगा, फिर जगत् की क्या आवश्यकता ? दृढ़ वैराग्यवान् का ऐसा ध्येय होता है कि—

पद

रहें हम स्वतः आप में आप ही थिर।
यही अब हमारा हृदय चाहता है ॥ टेक ॥
न कोई भी छेड़े हमें आय करके।
यही अब हमारा हृदय चाहता है ॥ १ ॥
जगत् भोग तन मन है हमसे पृथक ही।
न फिर से मिलन को हृदय चाहता है ॥ २ ॥
असंगी अकामी अकेला स्वयं हूँ।
रहूँ नित्य ऐसे हृदय चाहता है ॥ ३ ॥
सकल कष्ट वो शोक दुख रूप तन में।
पुनः अब न आऊँ हृदय चाहता है ॥ ४ ॥
सुखासक्ति वश ही बँधे तत्त्व में हम।
छुटे ग्रन्थि चिज्जड़ हृदय चाहता है ॥ ५ ॥
दुखालय जगत् का पुनः हो न दर्शन।
यही अब हमारा हृदय चाहता है ॥ ६ ॥

अहो ! कहाँ वैराग्य दशा धारण कर जीवन्मुक्ति पद में ठहर जाना और कहाँ वैराग्य-चिन्ह लेकर फिर जगत् के दुःखपूर्ण मान-भोगों की इच्छा में धँसना, कितना अन्तर है ? अतः मुमुक्षु को शीघ्र सावधान

होना चाहिये, माया-मोह की ओर पीठ दे देना चाहिये। जीवन रूपी ज्योति प्रबल काल रूपी वायु वेग से बुझने वाली ही है, आज बुझे या कल, आज ही के समान वर्तमान रहेगा जब कि इस कच्ची काया का विनाश होगा, मृत्यु अचानक ही आती है। इसलिए शीघ्र कल्याण साधना में तत्पर होना चाहिये और इन दुःखपूर्ण भोगों से मुमुक्षु को बिलकुल नैराश्य हो जाना चाहिये।

शिक्षा—भजन

मन मैं न लाओ कछु राग, हो विरागी बाबा ॥ टेक ॥
घर धन कुटुम कबीला त्याग्यो, जग्यो विरति अनुराग,
हृदय में जग्यो विरति अनुराग।
साधु गुरू से वेष पाय के, अब कस डग मग लाग ॥ हो० ॥ १ ॥
कुल कुटुम्ब को दुखी जो देखो, सो निज कर्मन ताग,
पाप से सो निज कर्मन ताग।
करन सहाय जो उनकर जइहौ, तुम्हरेचो लगिहैं दाग ॥ हो० ॥ २ ॥
आपन गैर कोई नहिं देखो, सब निज मन अनुराग।
जगत् में सब निज मन अनुराग।
अंत समय में सब छुटि जइहैं, आज काल दिन लाग ॥ हो० ॥ ३ ॥
आवागमन दुःख भय नाशक, सद्विवेक वैराग्य,
गुरू का सद्विवेक वैराग्य।
ताको छोड़ि जगत् में अरुझे, यहो तुम्हार अभाग ॥ हो० ॥ ४ ॥
याते जगत् दुःखमय लखि के, करो शुद्ध वैराग्य,
राग तजि करो शुद्ध वैराग्य।
दास अभिलाष मोह नहिं कीजै, रहो गुरू पद लाग ॥ हो० ॥ ५ ॥

सोरठा—

नमौं नमौं गुरु संत, हृदय राखि यह रहस्य को।
सजग रहौं जग अंत, निराधार रहि आप में ॥१४८॥

टीका—विवेकी साधु-गुरु को बारम्बार नमस्कार है, हे प्रभु ! उपर्युक्त वैराग्य सद्रहस्यों को सप्रेम हृदय में धारण कर इस माया-मय संसार में जगत् कुसंग तथा निज हृदय स्थित वासनाओं से सदा सावधान रहूँ, कभी भी जगत् स्वप्न में न भूलूं। निष्प्रयोजन विजाति तन, मन, जगत् की आसक्ति त्याग कर जीवन पर्यन्त निर्वासनिक स्थिति पूर्वक व्यतीत करते हुए, प्रारब्धांत में अपने निराधार विदेह पारख स्वरूप में सदा के लिये ठहर जाऊँ, यही अंतिम निवेदन है ॥१४८॥

कवित्त—

मुक्त रूप युक्त भूप नाश कर भव कूप,
बोध वो विराग ज्ञान देत हितकारी हो।
चन्द्र सम शीतल वो अमृत स्वरूप गुरु,
ज्ञान दिव्य ज्योति परकाश में तमारी हो।
हम ऐसे दीन वो मलीन पाप पीन काहि,
अधम उधार नाथ आप अविकारी हो।
दोउ कर जोरि अभिलाष पद वन्दि करै,
मुक्ति दान देहु गुरु पारख विहारी हो ॥१॥

शब्द

मन ! करु भोग से वैराग ॥ टेक ॥
दुःख मूल समूल यह, संसार विष दँव नाग ॥ १ ॥
अति अपावन निरय तन, सब विषय भोग सराग ॥ २ ॥
स्वार्थ को संसार साथी, व्यर्थ ममता लाग ॥ ३ ॥
भोग सब संयोग नश्वर, तड़ित घन फन पाग ॥ ४ ॥
भोग दम्पति हेतु संसृति, जानि हे मन ! भाग ॥ ५ ॥
तजु सुख जगत् अभिलाष, करु निज रूप में अनुराग ॥ ६ ॥

सटीक विवेक प्रकाश तृतीय पाठ सहित द्वितीय
प्रकरण सजगता सतसार समाप्त

प्रकरण फल छन्द

यह सजगता सत सार जो, निज हृदय गत नित ध्याइहैं।
तिन कर कलुष कलिमा सकल, अघ पुञ्ज दोष नशाइहैं॥
जग विभव प्रभुता गेह परिजन, तासु राग सिराइहैं।
आशा व तृष्णा मेटि रिपु दल, शांति सुख सरसाइहैं॥ १॥
हनि अहं रिपु अभिमान ममता, शमन रुज मद मानदा।
परिश्रम चाह रु ध्येय लघुता, छार होइहैं आपदा॥
निज अक्षय कोष स्वरूप यकरस, अघट पइहैं सम्पदा।
लहि धीर वीर विचार दाया, शील अरु संतोषदा॥ २॥

सोरठा

परिहरि कुल की कान, लज्जा हत गत मान मद।
जो करिहैं गुण गान, ध्येय राखि निज बोध हित॥ १॥
रहै न रंचक दोष, अंतस ताहि पवित्र हो।
निर्धन करतल कोष, सुखी होय यहि भाँति से॥ २॥



सद्गुरवे नमः

सिद्धान्त निर्णय हेतु-छन्द

पय-नीर मय चिज्जड़ उभय, साने अनादी से रहें।
यहि हेतु से दुख साज तन, सुख मानि गहि त्यागत रहे॥
अब हंस निर्णय प्राप्त पारख, थीर पद भव ना बहे।
दुख दृष्टि जग गुरु भक्ति उर, दो शस्त्र से मर्याज ढहें॥ १

साखी

अधाधुन्ध जड़ भास में, जीव सदैव अशान्त।
सो जड़ द्वन्द्व निवारि गुरु, कहि निर्णय सिद्धान्त॥ १

सद्गुरवे नमः

सद्ग्रन्थ

विवेक प्रकाश

सटीक

तृतीय प्रकरण सिद्धान्त निर्णय

चतुर्थ पाठ

प्रारम्भ

सोरठा

जाहि कृपा भव नाश, बन्दों सद्गुरुदेव को।
स्वयं ज्ञान प्रकाश, बन्दीछोर कबीर गुरु ॥ १ ॥

टीका :— जिनके कृपा स्वरूप बोध से मानसिक-जन्मादिक कष्टों की निवृत्ति होती है, उन सद्गुरु की मैं वन्दना करता हूँ। बन्धन छुड़ाने वाले सद्गुरु कबीर स्वतः अपरोक्ष ज्ञान का उपदेश किये ॥ १ ॥

परख रहस्य जे धारि, सन्त पारखी रूप सोइ।
खानि बानि दुख टारि, नमों नमों तेहि पद कमल ॥२॥

टीकाः— आपके पारख बोध तथा सदाचरणों को जिन्होंने पूर्णतया धारण किया वे विवेकी सन्त काया-वीर—जितेन्द्रिय—कबीर रूप ही हैं। ऐसे सन्त मोटी-भीनी माया से उत्पन्न कष्टों को मिटाने वाले हैं; अतः उनके चरणकमलों की वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

सद्गुरु दीन दयाल, अशरण शरण विवेक गुरु।
परखायो सब जाल, शिशु ए "सूरत दास" को ॥३॥

टीका :— दीनों पर कृपा करने वाले तथा शरणरहितों को शरण

देने वाले सद्गुरू श्री विवेक साहेब इस अज्ञ बालक "रामसूरत दास" के सभी बन्धनों को परखा दिये ॥ ३ ॥

ज्ञान पुष्टि के हेत, ताते वन्दत तव चरण।
स्थित रहौं स्वदेश, जेहि ते पद छूटै नहीं ॥४॥

टीका :—अतएव देहादि अनित्य-नाशवान् पदार्थों के अभाव पूर्वक स्वरूपज्ञान हृदय अंतर्गत पुष्टि के लिये आपके चरण कमलों की वन्दनाकर रहा हूँ; जिससे अजर-अमर स्वतः चैतन्य पद में सर्वदा एकरस स्थित रहूँ अपना अमर पद अब से न छूटने पावे ॥ ४ ॥

व्याख्या :— जब संसार स्वप्नवत् है; देह, भोग, बहु सम्बन्ध, मान, यश, कीर्ति दोष उत्पादक एवं जल के बुदबुदेवत् ही नाशवान् क्षणभंगुर हैं; इस शरीर-संसार में, मैं अकेला ही आया हूँ और शरीर नाश-उपरान्त भी अकेला ही रहूँगा; अर्थात् हमारा और भासमान शरीर-संसार का निश्चिय सम्बंध नहीं है, तब हे गुरुदेव ! हमें ऐसी सुबुद्धि दीजिये कि अब से अपना अविनाशी पद न छूटने पावे। संसार का प्रेम छोड़कर अपने अविनाशी स्वरूप का ही प्रेम करें, हमें भोगों से क्या प्रयोजन ! जब सभी नाशवान् हैं जो अविनाशी वस्तु अपने आप है, उसी में टिकाइये, संसार सागर से पार कीजिये।

हे प्रभू ! एक तू ही सहारे, मेरी नैया लगा दो किनारे ॥ टेक ॥
काम आदिक मनोमय की धारा, डूबता हूँ न पाता किनारा।
वासना वायु झोंके हिलारे, मेरी नैया..........॥ १ ॥
बाँस बल्ली न पतवार ही है, घाट औघट बही जारही है।
होके मल्लाह करदो सहारे, मेरी नैया..........॥ २ ॥
ना है परमार्थ साधन की शक्ती, ना है वैराग्य ना ज्ञान भक्ती।
ना तो है और कोई हमारे, मेरी नैया..........॥ ३ ॥
हूँ अनादी से दुखड़ा उठाया, शान्ति तेरे बिना मन न पाया।
कर दो हे नाथ भव दुःख से न्यारे..........॥ ४ ॥
नाथ ! मैं आफतों का हूँ मारा, धर्म तेरा है करना सहारा।
होके अभिलाष निर्मद पुकारे, मेरी नैया लगा दो किनारे ॥ ५ ॥

प्रसंग १. जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न गुण और लक्षण वर्णन।

साखी

जड़ से भिन्न स्वरूप है, भिन्न लखै जो कोय।
जस का तैसहिं जानि जो, संशय सबही खोय ॥१॥

टीका :—जड़-प्रकृति-जाल से अपना चेतन स्वरूप पृथक है। इस प्रकार जो समझता है और जड़-चेतन की वास्तविक स्थिति को जान लेता है, उसके सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या :—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु ये जड़तत्त्व हैं। ये कारण रूप में भी हैं और कार्यरूप में भी; परन्तु इनमें चेतन का कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता और अगणित चेतनों में जड़ का कोई लक्षण नहीं दर्शता। इस प्रकार जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न धर्मी हैं और दोनों अनादि तथा नित्य हैं। जड़-चेतन के सम्पूर्ण भेदों को ठीक रूप से जान लेने पर ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देवता तथा भूत प्रेतादि के सारे भ्रम अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

मैं कौन हूँ ?

दृष्टांत :—एक ग्राम में करुणा और केशव दो मित्र रहते थे। करुणा सत्संगी और सात्वकी था और केशव रजोगुणी। किन्तु करुणा के सत्संग से केशव की भी रूप-रेखा सतोगुण में अब परिवर्तन होने वाली ही थी एक दिन केशव आकर करुणा को पुकारा—मित्र! मित्र! कहाँ गये? करुणा घर में से निकलते हुए बोला—कहिए मित्र जी! कैसे दर्शन दिए? केशव—मैं दर्शन देने लायक क्या हूँ, आपके दर्शन करने एवं कुछ ज्ञान चर्चा सुनने आया हूँ। दोनों एक कमरे में आसन बिछाकर जा बैठे। केशव—मित्र जी! मनुष्य को मुख्य क्या बात जानने योग्य है, और क्या काम करने योग्य है? करुणा कुछ विचार कर बोले—मनुष्य को मुख्य स्वरूपज्ञान जानने योग्य है और सम्पूर्ण विषय-विकार, दुर्गुण तथा

देहाभिमान त्याग कर धर्म, भक्ति, सत्संग, सदाचरण पूर्वक अपने रमैया राम अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाना मुख्य कर्तव्य है। प्रथम अपने आप को जानना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? इत्यादि, पश्चात् कल्याण-कर्तव्य भी बनेगा। केशव—इसमें क्या बड़ी बात है, अपने को कौन नहीं जानता ? मैं तो हूँ ही। करुणा—अपने को तो सभी जानते हैं, किन्तु जैसा अपना निश्चित सत्यस्वरूप है वैसा नहीं जानते। अच्छा बताओ ! आपका स्वरूप कैसा है ? केशव—क्या मैं देह नहीं हूँ ? करुणा—आप देह कैसे हो सकते हैं ? क्या घर में रहने वाला, घर को जानने वाला, घर हो सकता है ? देखिये ! यदि आप या मैं देह होता तो देह छिन्न-भिन्न होती रहती है, किसी की दोनों आँखें फूट जाती हैं, किसी के हाथ-पैर आदि टूट जाते हैं। यदि आप-हम, हाथ-पाँव, आँख आदि होते तो उन सबों के नष्ट हुए उपरान्त कैसे रह सकते थे ! देह की हड्डी या नश तथा खाल खराब होने पर काट के निकाल देते और दूसरा जोड़ देते हैं, मल-मूत्र निकलते ही रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में जीव जब चारों ओर से लक्ष्य समेट लेता है, तब देह मुर्दा पड़ी रहती है, कुछ ज्ञान नहीं होता। पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ [आँख, नाक, कान, जीभ, चर्म] केवल पाँचों विषय जानने के साधन हैं, उनमें स्वयं जानने की शक्ति नहीं है। जैसे आपकी आँख चाहे मार्ग की ओर ही है, किन्तु आप दृढ़ लक्ष्य से किसी विचार में लीन हैं तो सामने से मनुष्य चला जाता है; किन्तु आप नहीं जानते। कोई पीछे से आता और पूछता है—अमुक मनुष्य इधर गया है ? आप कहते हैं—मैं नहीं जाना। क्या आपकी आँख मार्ग की ओर नहीं थी ? थी तो अवश्य, फिर क्यों नहीं जानते ? आँख ने क्यों नहीं देख लिया ? आँख आदि इन्द्रियाँ यंत्र-जड़ हैं, वे स्वयं कैसे ज्ञान कर सकती हैं ? उनका आधार लेकर आप जीव ही पंच विषयों का ज्ञान कर सकते हैं। अर्थात् देह आप नहीं हो सकते आप देह को जानने वाले देह से भिन्न चैतन्य जीव हैं।

केशव—अच्छा ! यदि जीव देह नहीं; तो जीव पृथ्वी आदि तत्त्वों से बना एक पदार्थ है, जैसे दो रंग मिला देने से तीसरा रंग बन जाता है, एवं पृथ्वी आदि तत्त्व से ही उत्पन्न हुए नाना चित्र-विचित्र फल-फूल काँच, सोना, चाँदी आदि विलक्षण देख पड़ते हैं, वैसे पृथ्वी आदि तत्त्वों से बने हुए अनेक विलक्षण ज्ञान गुण वाले जीव हैं। करुणा—आजकल की विशेष विदेशी विद्या एवं साइन्स आदि पढ़ने से आपकी भी बुद्धि उल्टी हो गयी है। भला दो रंग मिला देने से तीसरा रंग हो गया तो विलक्षण क्या हुआ ? रहा रंग का रंग ही न। और पृथ्वी आदि तत्त्वों से बने हुए फल-फूल चाँदी-सोना तत्त्वों से क्या विशेष विलक्षण हुए ? कार्य अपने कारण से विरोधी गुण-धर्म वाले नहीं हो सकते। जैसे कारण-पृथ्वी, जल, तेज, वायु में पंच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं, वैसे फल-फूल आदि अनेक विलक्षण माने हुए कार्यों में भी पंच विषय विद्यमान हैं। यदि फल-फूल आदि कार्य पदार्थों को परस्पर भिड़ा दो तो कुछ न कुछ शब्द अवश्य होगा। उसको छूने से कोमल, कठिन, गर्म, ठण्ड आदि स्पर्श अवश्य होंगे। उन सबों में किसी प्रकार रूप अवश्य है। उसे चीखने से किसी प्रकार रस अवश्य ज्ञात होगा। उसमें सुगंधी-दुर्गन्धी आदि कुछ गंध अवश्य होगी, फिर वे पंच-विषय से विलक्षण कहाँ हुए ? पृथ्वी आदि तत्त्वों से कोई भी कार्य बनेगा, वह पंच-विषय से पृथक नहीं हो सकता। सब जड़कार्य विलक्षण होते हुए पंच विषय लक्षण युक्त तत्त्व ही हैं। कारण-कार्य का समवाय (नित्य) सम्बंध है; अतः जिस कारण विशेष से जो कार्य-पदार्थ बनेगा, वह उस कारण के लक्षणों से लक्षित होगा, जैसे मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप ही है, इत्यादि। तब भला बतलाओ। यदि हम जीव भी पृथ्वी आदि तत्त्वों से बने होते तो पृथ्वी आदि रूप रहते, पंच विषय का स्वरूप हमारा भी रहता। किन्तु हम जीव पंच विषयों के ज्ञाता उनसे भिन्न हैं, यह अटल नियम है कि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ से भिन्न रहता है। फिर हम ज्ञाता चैतन्य जीव पृथ्वी आदि तत्त्व पंच-विषय ज्ञेय कैसे हो सकते हैं ?

केशव—ठीक है, शरीर जड़ है और चैतन्य जीव उसमें ज्योति रूप है। अर्थात् शरीर रूप दीपक में चैतन्य रूपी ज्योति निकल रही है, एक दिन चैतन्य-ज्योति सम्पूर्ण निकल जाने पर शरीर मुर्दा होकर पड़ा रहेगा। करुणा—चैतन्य जीव ज्योति रूप नहीं। ज्योति तो तेल-बत्ती के विशेष संयोग से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। यदि जीव भी क्षण-क्षण बनता और लुप्त होता रहता, तो बालकपन से आज तक की बात न स्मरण रहती। देखो! जीव के आगे-आगे जन्मों के संस्कार अन्तःकरण भूमिका में टिके रहते हैं। जन्मते ही बालक का दूध पीना, हँसना-रोना, बन्दूक आदि शब्दों से भयभीत होना, तेल-उबटन के समय शिश्न इन्द्रिय खड़ी हो जानी, इत्यादि भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा, मोह ये पूर्व-पूर्व जन्मों के ही संस्कार से बाल्यकाल में बिना सिखाये-समझाये ही उदय होकर क्रिया होने लगती है। अतएव भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में एकरस रहने वाले चैतन्य जीव नित्य-सत्य हैं। केशव—तब जीव पहले जन्म की बातें क्यों नहीं जानता? करुणा—वह पूर्व का साधन-औजार अर्थात् देह-इन्द्रिय न होने से नहीं जानता। [इसके विषय में अमृतबोध दूसरे पाठ के २० शब्द की व्याख्या में देखिये] भला! जब जड़ पृथ्वी तत्त्व आदि के परमाणु नहीं नष्ट होते तब जीव का क्यों नाश होगा। जैसे तालाब आदि के जल सूख जाते हैं किन्तु वे नाश नहीं होते, वे जल-कण, अग्नि-वायु-द्वारा आकाश में जाकर ठहरे रहते हैं फिर विशेष संयोग पाकर अग्नि-वायु-द्वारा वैसे ही बादल बनकर पृथ्वी पर बरसते हैं। मुख्य पृथ्वी तत्त्व के अनेकों कार्य पदार्थ परिवर्तित होकर उनके परमाणु पृथ्वी में लीन होते रहते हैं, परन्तु वायु के परमाणु सब वैसे ही सर्वत्र स्थित रहते हैं तथा सूर्यादि कारण विशेष के भावाभाव से अग्नि परमाणुओं का न्यूनाधिक होना लगा रहता है। इस प्रकार तत्त्वों में क्रियादि षट् भेद होने से परिवर्तनपना तथा कारण-कार्य का द्वन्द्व लगा रहता है; परन्तु तत्त्व-परमाणुओं का नाश नहीं होता। वैसे अगणित चैतन्य जीव कर्म-वासना-वश चारों खानियों में

भ्रमते रहते हैं और स्वरूप में बन्धन न होने से सद्गुरु-सत्संग-द्वारा सद्बोध-सद्रहस्य प्राप्त कर और आसक्ति भूल मिटा कर जन्म-मरण रहित सर्वदा के लिये मुक्त भी हो जाते हैं। अस्तु, बन्धन-मुक्ति में कहीं भी रहे परन्तु जीव अविनाशी है, जीव का कभी अभाव नहीं होता। सारांश—जब जड़ की इकाई नहीं नष्ट होती, तब जीव क्यों नष्ट होंगे ?

केशव— निदान मैं कौन ठहरा ? करुणा—आप नित्य सत्य चैतन्य जीव हैं। केशव—यह दृढ़ निश्चय एवं अपरोक्ष अनुभव कैसे हो ? करुणा—देखो ! आप ही सब के कथनकर्ता हैं, आप चैतन्य ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि वृत्तियों के ज्ञाता हैं। आप अपने अविनाशी शुद्ध स्वरूप को भूल कर तत्त्वों से अपनी उत्पत्ति मानते हैं, अपने को स्वतंत्र न जानकर ही देवी-देवादि की व्यर्थ कल्पना कर लिये हैं, नाना सम्बंधी, स्त्री, पुत्र, कुल-कुटुम्बादि अपना करके मानते हैं, ये सर्व भूलें हैं। ये भूलें एक दिन में न मिटेंगी। नित्य सत्संग में आओ, सद्ग्रंथ पढ़ो, रजो-तमो गुणियों का संग त्याग करो। यद्यपि हम सब शुद्ध चेतन ही हैं, किन्तु अनादि विषय-अध्यास तथा स्वरूप के भूल-वश बुद्धि भ्रम गयी है। जैसे एक अध्यापक ने एक बालक को बतलाया कि--मृगराज नाम सिंह, किन्तु बालक अभ्यास करते समय सिंह भूलकर शृगाल याद किया। अध्यापक ने पाठ सुनकर पुनः बतलाया मृगराज नाम सिंह होता है तू शृगाल क्यों रटता है ? किन्तु 'मृगराज नाम शृगाल' यही विशेष अभ्यास होने से बालक वही उल्टा पाठ पुनः रटने लगा, अध्यापक ने कहा—जैसे तुमने मृगराज नाम शृगाल अभ्यास कर लिया है, वैसे जब सावधानी पूर्वक मृगराज नाम सिंह भली प्रकार अभ्यास करेगा तब पाठ और ज्ञान शुद्ध होगा। तद्वत् हम सब अजर, अमर, निर्विकार चेतन स्वरूप हैं। तथापि उक्त शुद्ध स्वरूप को भूलकर विकारी विजाति देह को अपना स्वरूप मानते आये हैं। अतएव दया, शील, संतोष, विवेक, वैराग्यादि, सर्व हंस गुण रहनी संयुक्त, सत्संग, सद्ग्रंथ, सत्याचरण पूर्वक शुद्ध अन्तःकरण करके अपने शुद्ध स्वरूप को देह से

भिन्न निश्चय करें। शम, दम-द्वारा मन-इन्द्रियों को स्ववश कर पंच-विषय की आसक्ति त्यागें, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, तत्त्व-प्रकृति, शरीर, मन, आदि सम्पूर्ण भासमान् प्रपंचों का मैं साक्षी-पारखी सबों से भिन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे एकरस, निर्विकार, शुद्ध चेतन, अजर, अमर, नित्य प्राप्त, नित्य संतुष्ट हूँ। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अपना स्वरूप अपरोक्ष हो जायेगा, और सर्व अध्यास-आसक्ति-रहित जीव जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हो जायेगा। केशव—प्रथम हमारा कर्तव्य क्या है?

करुणा— दोहा

प्रथम भक्ति निश्छल करहु, सतसंगत दृढ़ ठान।
तन मन धन निःसार लखि, त्यागहु मद अभिमान ॥ १ ॥
मुख्य लाभ नर देह को, परमारथ के काम।
स्वारथ से लखिये अधिक, जो चाहे कल्यान ॥ २ ॥

कवित्त

सोना ऐसो मानुष के गुण सब लोप होत,
औसर विनाश होत अंजुली सो पानी है।
तेल से रहित जैसे दीपक बुझाय जात,
भोग अंत क्षण ही में नाश जिनगानी है॥
देह धन नारि बन्धु पल ही में छूटि जात,
वोहदा अमीरी शान तान राजधानी है।
ऐसे जग स्वप्न समान झूठ-मूठ पर,
अभिलाष शान करे मूढ़ अभिमानी है ॥ १ ॥

शब्द—चेतावनी

धरम बिन तन की कौन बड़ाई ॥ टेक ॥
खात पियत पाँचों सुख भोगत, पशु पक्षी कृमिटाई।
तेहि से श्रेष्ठ काह निज मानो, जब वहि गुण अपनाई ॥ १ ॥
नर तन पायो मोक्ष लेन को, सो पशु भोग गंवाई।
तेहि पर बनत ज्ञान गुण संयुत, यह तेरो लघुताई ॥ २ ॥

हाड़ माँस मल मूत्र अपावन, चाम केश लपटाई।
जर जूड़ी पित वात कफन से, घेरि अमित दुखदाई ॥ ३ ॥
विवश रूप शूलत तन जिव को, तेहि निर्वाह सताई।
तपत जीव भरमत तन मग में, निशि दिन परत रोवाई ॥ ४ ॥
शील दया सद्गुण नहिं उर में, भक्ति धर्म मृदुताई।
जस पशु तस नर दोय न जानो, नर तन व्यर्थ नशाई ॥ ५ ॥
सुख चाहो सद्गुण उर लाओ, सत्संगत सुखदाई।
बिन अभिलाष भजन नर तन फल, जन्मि पुनः मरि जाई ॥ ६ ॥

इस प्रकार करुणा की ज्ञान संयुक्त वाणी सुनकर केशव रजोगुण त्याग कर शुद्ध सात्वकी और सत्संगी बनकर स्वरूपज्ञान को प्राप्त हुआ। अतः सभी को जड़ से पृथक अपने रमैया राम चैतन्य स्वरूप में स्थित होना चाहिये। "बोलो जनैया जीव की जय।"

संशय दो परकार के, जगत ब्रह्म कहि गाय।
ब्रह्म जगत् से ब्रह्म है, उभय प्रकार मिलाय ॥ २ ॥

टीका :— मनुष्यों को प्रायः दो प्रकार के भ्रम हैं, कोई कहता है जगत् से ब्रह्म हुआ अर्थात् जड़ से चेतन हुआ और कोई कहता है ब्रह्म से जगत् हुआ; अर्थात् चेतन से जड़ हुआ। इस प्रकार चाहे जगत् से ब्रह्म होना माने और चाहे ब्रह्म से जगत् होना माने; अर्थात् चाहे चेतन से जड़ की उत्पत्ति माने और चाहे जड़ से चेतन की उत्पत्ति माने, दोनों भाँति जड़-चेतन की अभिन्नता ही सिद्ध होती है। इसमें जड़-चेतन की पृथकता एवं शुद्ध ज्ञान नहीं होता ॥ २ ॥

व्याख्या :— (जगत् से ब्रह्म, अर्थात् जड़ से चेतन) जड़ाद्वैतवादी एवं भौतिकवादी कहते हैं कि प्रकृति एवं ईथर नामक जड़ तत्व से ही सारे जड़-चेतन का विकास हुआ। अर्थात् जड़ का ही परिवर्तन चेतन है। जड़ से पृथक चेतन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं।

समीक्षा :— चाहे प्रकृति कहें या ईथर; चाहे कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा फासफोरस आदि कहें, वे सब जड़ हैं। जड़

प्रकृति में चेतना धर्म नहीं है, फिर उससे चेतन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतएव जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं; अपितु अगणित चेतन जड़ तत्त्वों से सर्वथा पृथक हैं।

(ब्रह्म से जगत् अर्थात् चेतन से जड़) चेतनाद्वैतवादी कहते हैं कि संसार में केवल एक चेतन की सत्ता है। उसी चेतन से जड़ तत्त्व, जड़-जगत् की उत्पत्ति हुई। जैसे सुवर्ण से भूषण, जल से तरंग, मिट्टी से घट पृथक नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत्, अर्थात् चेतन से जड़ पृथक नहीं। चेतनाद्वैतवादी श्री सुन्दरदास जी कहते हैं :—

कवित्त

तोहि में जगत् यह तू हूँ है जगत् माहिं,
तो मैं अरु जगत् में भिन्नता कहाँ रही ?
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप,
भाजन विचार देख उहै एक हैं मही।
जल के तरंग फेन बुदबुदा अनेक भाँति,
सोऊ तो विचार एक वहै जल है सही।
जेते महापुरुष हैं सबको सिद्धान्त एक,
सुन्दर अखिल ब्रह्म अन्त वेद यूँ कही ।।

उपर्युक्त कथन से तथा "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इस उक्ति से सिद्ध हुआ कि चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई और अन्ततः जड़-चेतन सर्वथा एक ही हैं।

समीक्षा :—जड़ तत्त्वों में चेतना धर्म न होने से तथा चेतन में जड़ता धर्म न होने से चेतन से जड़ की उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती। ब्रह्म को सच्चिदानंद कहते हैं, फिर उससे असत्, अचित् और अ-आनन्द रूप जगत् कैसे बन सकता है ? निराकार ब्रह्म से साकार जगत् का निर्माण बतलाना आकाश से फूल प्राप्त करना है।

निराकार अद्वैत व्यापक ब्रह्म तो मन का भ्रम है। हाँ, चेतन

अनेक हैं, परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, और उससे जड़-प्रकृति तथा जड़-जगत् सर्वथा पृथक है।

जड़ाद्वैत तथा चेतनाद्वैत—दोनों मतों में जड़-चेतन की अभिन्नता सिद्ध होती है; अतएव मूलतः दोनों वादों को भूला कहा जाय तो अन्यथा न होगा। हाँ, जड़ाद्वैतवाद की अपेक्षा चेतनाद्वैतवादी पुनर्जन्म, कर्म-फल-भोग, वासना-त्याग से मोक्ष आदि मानते हैं, अतएव वे सर्वथा भूले नहीं हैं। चेतनाद्वैतवादियों का व्यावहारिक पक्ष आस्तिकतापूर्ण ही है, यदि वे विधि-निषेध-रहित निर्लिप्तवादी पूर्ण ब्रह्म नहीं बन गये हैं तो! किन्तु मूल सिद्धान्त जड़-चेतन अभिन्न होने से चारवाक-जैसा ही है।

पारख बिन सो ना मिटै, संशय भर्म असार।
ताते पारख गुरू से, परख गहौ टकसार॥ ३॥

टीका :— उपर्युक्त अज्ञान ग्रंथि यद्यपि भ्रमपूर्ण तथा सारहीन है, तथापि पारखज्ञान की प्राप्ति बिना उसकी सर्वथा निवृति नहीं हो सकती। अतएव पारखी सद्‌गुरु से उनके सत्संग में पारखबोध ग्रहण करो॥ ३॥

भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई।
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई॥
(बीजक, शब्द ११५)

ईश ब्रह्म परमात्मा, मिथ्या सबहीं भास।
सो सब कल्पित जीव के, भरमहिं से अध्यास॥ ४॥

टीका :— जीव से पृथक ईश्वर, ब्रह्म तथा परमात्मा आदि सब मिथ्या भास हैं। यह सब जीव के ही कल्पित हैं, इन सबके संस्कार भ्रम से ही ग्रहण हो गये हैं॥ ४॥

व्याख्या :— जीव ही भ्रम-वश अपने से पृथक ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देवता आदि की कल्पना करने वाला है। जीव ही वेद, कुरान, बाइबिल का रचने वाला, नाना मत-पन्थ चलाने वाला, ज्ञान-विज्ञान का

शोधन करने वाला तथा सबका द्रष्टा है। अतएव जीव ही सर्वोपरि तत्त्व है। ऐसे परम तत्त्व जीव को तुच्छ बतला कर और उसी के द्वारा कल्पित, ईश्वर ब्रह्म को सर्वोपरि कहना कितनी बड़ी नास्तिकता है !

जीव बिना कुछ ना भयो, जड़ से कोई ज्ञान ।
ज्ञाता अपने आप है, सबसे आप महान ।।५।।

टीका :— रमैया राम चैतन्य जीव बिना जड़ तत्त्व कारण-कार्य से थोड़ा भी ज्ञान न हुआ है, न हो सकता है; अतएव सम्पूर्ण कारण-कार्य देह मन आदि का ज्ञाता चैतन्य अपने आप अजन्मा, नित्य रहने वाला सर्व तत्त्व प्रकृति से पृथक स्वयं भूप है, उसको जड़ नहीं जान सकते ।। ५ ।।

शिक्षा— धर्म - मतावलम्बी जड़ से भिन्न अविनाशी चेतन का अस्तित्व, वासना-वश आवागमन, वासना त्याग से मोक्ष मानते हैं; अतएव धर्म, भक्ति, दया, सत्याचरण, विवेक, वैराग्य सद्गुण-ग्राही होते हैं; और आज-कल के विशेष पढ़े-लिखे भौतिकवादी लोग उपर्युक्त हितैषी बातों को न मान कर केवल देहबुद्धि धारण कर पशु-भोग को ही जीवनलाभ मानते हैं। इसलिये क्षण-क्षण भोग-तृष्णा में जलते हैं। क्योंकि प्रकृति-पार चेतन और परलोक तथा धमगुरु में दृढ़ विश्वास बिना सत्याचरण और उसका फल शांति कैसे मिल सकती है ! अतः देहबुद्धि त्याग कर और जीवबुद्धि धारण कर परमार्थ-पथ-गामी होना चाहिये ।

यकरस जीव अखण्ड है, चेतन अमर अनन्त ।
अक्रिय अभय अकाम नित, जड़ सम्बंध भुलन्त ।।६।।

टीका :— जीव एकरस, अखण्ड, चेतन, अमर, निष्क्रिय, अभय, निष्काम और असंख्य हैं; वे जड़ विषयों के मोह-वश प्रकृति-जाल में भूले हैं ।। ६ ।।

व्याख्या :— प्रश्न—बाल, युवा, वृद्ध आदि में जीव को एकरस कहते हैं; किन्तु बाल्य अवस्था में कम, युवा अवस्था में अधिक तथा वृद्धावस्था में पुनः शक्ति क्यों कम हो जाती है ?

उत्तर :—वे शरीर की अवस्थायें हैं। बाल्य-काल में देह कोमल, छोटे आकार-प्रकार युक्त, युवा में कड़ी और बड़ी तथा वृद्धावस्था में जर-जर होने से कम-विशेष शक्ति रहती है। सो देह की शक्ति है जीव केवल सत्ता देता है।

प्रश्न :— जीव की मुख्य ज्ञान-शक्ति में भी तीनों अवस्थाओं में कम-विशेष शक्ति रहती है, सो क्यों ?

उत्तर :— जैसे सूर्य एकरस-एकी प्रकार का प्रकाश वाला है, किन्तु उस के सामने जैसे लाल, पीले, हरे आदि काँच किये जायँगे, वैसे ही सूर्य का प्रकाश काँच पर पड़कर और पुनः काँच से लौटकर काँच का हरा-पिलादि प्रकाश अन्य छाहीं दीवार आदि पर पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार सूर्यवत् जीव एकरस है। किन्तु देह के बाल्य, युवा, वृद्धावस्थादि रूपी काँच जैसे-जैसे जीव के सामने पड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ज्ञान-प्रकाश, मनोभास अन्तःकरण रूपी दीवार पर पड़ता जाता है। जैसे सूर्य एकरस होते हुए साधक रूप हरे-पीले आदि काँच भिन्न-भिन्न रंग की प्रकाश-शक्ति बढ़ा देते हैं; इसी प्रकार जीव एकरस होते हुए भी भिन्न-भिन्न अवस्था वाली देह ज्ञान रूपी प्रकाश में कारण होती है।

प्रश्न—तब तो जीव की ज्ञान-शक्ति में जड़-देह भी कारण हुई ?

उत्तर :— इससे क्या प्रयोजन ! सूर्य के सामने काँच लगाने से और नाना भाँति प्रकाश देखने से सूर्य की क्या हानि ? क्या सूर्य का एकरसपना नष्ट हो जायगा ? कभी नहीं, तद्वत् आपके सामने एक वस्तु है तो एक का ज्ञान करते हैं, यदि दस हैं तो दस का करेंगे, सौ-दो-सौ हैं तो सौ-दो-सौ का ज्ञान करेंगे, प्रत्येक विधि आप एकरस ज्ञान मात्र ठहरे। जब तक देह का सम्बन्ध है तब तक साक्षी-दशा में कम-विशेष वस्तु, प्राणी, देह एवं अवस्था में पड़ने से कम-विशेष ज्ञान होते रहेंगे, किन्तु आप ठहरेंगे सर्वदा एकरस ही। यथा—
"स्वरूपज्ञान चैतन्य का सदा एकरस जोय। देहोपाधि सों ज्ञान में, घट बढ़ भासे सोय ॥ ज० चे० ॥"

जागृत स्वप्न सुषुप्ति में, जीव विवश हैरान ।
भूत भविष्य वर्तमान का, साक्षी आपहिं जान ॥७॥

टीका :— जागृत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति में, उन्हीं अवस्थाओं के वश होकर जीव कष्टित है । किन्तु भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों का साक्षी स्वतः चेतन जीव ही है ॥ ७ ॥

व्याख्या :—जागृत अवस्था में, नाना भोग-इच्छाओं में तथा मोह-माया में पड़ कर जीव कष्टित रहता है और उन्हीं वासनाओं के वश में पड़ा हुआ स्वप्न में भी दुखी रहता है और दुःखमूल सारी वासनाओं को बीज रूप में लेकर सो जाता है, इसलिए अज्ञानी जीव को सुषुप्ति भी दुःखपूर्ण ही है। यद्यपि जीव त्रयकालदर्शी, अपने हानि-लाभ का द्रष्टा है और वह सबसे सावधान होकर अपना कल्याण कर सकता है; परन्तु गुरु-विवेक बिना भूला है ।

प्रश्न :—भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों का साक्षी जीव कैसे है ?

उत्तर :—मनुष्य तो सर्वशक्तिमान है ही, पशु, पक्षी आदि भी तीनों कालों का हाल खानि अनुसार कम-विशेष जानते हैं। जैसे अब वर्षात आने वाली है, ऐसा जानकर पक्षी आदि रहने के लिये घोसला बना लेते हैं, ये भविष्य का ज्ञान है। चूहे को कभी बिल्ली पकड़ने दौड़ी थी, इससे भूतकाल का ज्ञान रख कर चूहा बिल्ली को देखते ही भाग कर छिप जाता है और वर्तमान में सभी हानि-लाभ जान-बूझ कर काम करते ही हैं, तब मनुष्य का क्या कहना है ? खेती, नौकरी, वाणिज्य करना; अपने पूर्व शत्रु से सजग रहना इत्यादि त्रयकाल ज्ञाता जीव सिद्ध होते हैं। रहा पूर्व जन्म की देह-इन्द्रिय न होने से पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं कर सकते। यहाँ केवल वर्तमान देह के विषय में त्रयकाल के साक्षी प्राणियों को कहा गया है। अतः सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ मनुष्य जीव मन-इन्द्रियों और बाह्य प्राणी-पदार्थों

से त्रयकाल सावधान रह कर दृढ़ सद्पुरुषार्थ-द्वारा जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

इच्छा क्रिया रु सुक्ख दुख, त्याग ग्रहण को ज्ञान।
ये सब लक्षण जीव के, निर्णय सब परमान॥८॥

टीका :—स्वाभाविक क्रिया न होकर बल्कि इच्छा युत क्रिया होनी और दुःख-सुख का ज्ञान करना, ज्ञान संयुक्त हानि जान कर किसी वस्तु को त्याग देना और लाभ जान कर ग्रहण कर लेना—ये सब घटधारी जीव के लक्षण हैं। निर्णय करके स्वयं अनुभव से ऐसा जाना जाता है, और सर्व आप्त वक्ताओं का यही प्रमाण भी है, यथा—

दो०—इच्छा क्रिया अवस्था, ज्ञान अमरता होय।
ये यक्षण जहँ पाइये, चेतन जीवहिं सोय॥ ८॥
(पंचग्रन्थी)

जड़ता एक समान है, धर्म क्रिया गुण भिन्न।
शक्ति मेल आकार युत, भेद परस्पर खिन्न॥ ९॥

टीका :—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चारों तत्त्व जड़ता से एक रूप हैं, अर्थात् सभी जड़ हैं। किन्तु इन तत्त्वों में पृथक-पृथक धर्म, गुण, शक्ति, क्रिया, आकार और एक तत्त्व में अन्य तत्त्वों का सम्बंध रूप मिलाव है। इनषट् भेद संयुक्त तत्त्वों के साधक अंशों द्वारा अनेक कार्यों की उत्पत्ति और बाधक अंशों से कार्य-पदार्थ का नाश होकर तत्त्वों में परस्पर बियोग होना लगा रहता है।॥ ९॥

कारण सब संयोग मिलि, अमित कला विस्तार।
चेतन में वह एक नहिं, देखो दृष्टि विचार॥१०॥

टीका :—पृथ्वी आदि कारण तत्त्वों के सर्व साधक अंशों का संयोग मिलकर केवल प्राकृतिक सृष्टि में असंख्य जड़ कलायें एवं विचित्र रचनाएं फैली हैं। तत्त्वों के साधक-साधक अंश मिलकर सोना-तामा, फल, फूलादि हो जाना और पुनः बाधक तत्त्वों के अंशों से नष्ट हो जाना—ये सब कार्य तत्त्वों में दिखाई पड़ते हैं। विचारदृष्टि से देखो, जड़ तत्त्वों के कारण-

कार्य रूप प्रपंच चेतन जीवों में एक भी नहीं हैं। जीवों में तो केवल ज्ञान-कला है। वह देहोपाधि से सर्व वस्तुओं का ज्ञाता और कथन कर्ता है ॥ १० ॥

धर्म क्रिया गुण शक्ति सब, चारों में भर पूर।
अहैं स्वभाविक तत्त्व में, भिन्नहिं भिन्न लखूर ॥११॥

टीका :—धर्म, क्रिया, गुण, शक्ति एवं सर्व षट् भेद के अंग चारों तत्त्वों में पूर्ण हैं। उक्त षट् भेद अनादि स्वाभाविक भिन्न-भिन्न तत्त्वों में हैं, ऐसा विचार-द्वारा लखने में आता है ॥ ११ ॥

सुक्ष्म अनल समीर है, जल पृथ्वी स्थूल।
कठिन धर्म भू में अहै, शीतल जल अनुकूल ॥१२॥
कोमल वायु प्रत्यक्ष है, पावक धर्म प्रकाश।
पवन शब्द स्पर्श विषय, गंध मही गुण खास ॥१३॥
जल रस अग्नी रूप गुण, ज्ञान विहीन बखान।
सुख इच्छा अध्यास करि, जीव विकल भरमान ॥१४॥

टीका :—अग्नि-वायु सूक्ष्माकार और पृथ्वी-जल स्थूलाकार ये चारों के आकार हैं। पृथ्वी में कठिन धर्म तथा जल में शीतल यानी ठंडक धर्म है, जो सभी को अनुकूल लगता है। अर्थात् ठंडा-ठंडा जल पीकर सभी घटधारियों की तृषा शांत होती है ॥ १२ ॥ वायु में प्रत्यक्ष कोमल धर्म और अग्नि में प्रकाश तथा उष्ण धर्म है, ये तत्त्वों के धर्म हैं। वायु में शब्द और स्पर्श दो विषय (गुण) हैं। और पृथ्वी का विषय गंध है ॥ १३ ॥ जल में रस गुण और अग्नि में रूप गुण, ये चारों तत्त्वों के पंच विषय या गुण हैं। यद्यपि इन गुणादिकों से कारण-कार्य रूप तत्त्व हरे-भरे हैं, तथापि चेतनत्व ज्ञान-रहित जड़ के जड़ ही हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, और संत वर्णन भी करते हैं, यथा—"पावक पवन गगन जल धरणी। नाथ सहज इनकी जड़ करणी ॥ रामा०" उपर्युक्त पंच विषय युक्त तत्त्वों के कार्य रूप नर-नारियों की देहों तथा अनेक वस्तुओं में स्वरूप

की भूल से सुख-भ्रम, सुख-इच्छा तथा सुख की इच्छा से भोग और भोग से अध्यास-आसक्ति एवं जगत्-वासनायें बनती हैं और उससे कष्टित होकर जीव संसार चक्कर एवं आवागमन में भ्रमता रहता है ॥ १४ ॥

उर्ध गमन अग्नि क्रिया, दाहक शक्ति रहान ।
तिरछी गमन समीर करि, शक्ति सनेह मिलान ॥१५॥
जल में शक्ति रसायना, पिण्ड बँधाय रहाय ।
अधोक्रिया संयोग मिलि, चलै प्रवाह सदाय ॥१६॥
गुरुत्वा धारण शक्तियुत, क्रिया चाक समजान ।
ए महि में वर्तमान हैं, लखो सो मर्म सुजान ॥१७॥

टीका :—अग्नि में उर्ध गमन (ऊपर जाने की) क्रिया और दाहक (पदार्थों को जला देना रूप) शक्ति है, वायु में तिरछी गमन क्रिया एवं स्नेह (खिंचाव) की शक्ति है अर्थात् अधिकांश वायु के ही खिंचाव से तत्त्व एकत्रित हो-हो कर कार्य बनते रहते हैं ॥ १५ ॥ जल में रसायना शक्ति है, सर्व कार्यों के पिण्ड मुख्य जल के रसायना शक्ति से ही बँधे होते हैं, और उसमें सदा नीचे बहने की क्रिया है, इसी से अधोक्रिया का नित्य सम्बन्ध लेकर जल सदा प्रवाहित रहता है ॥ १६ ॥ पृथ्वी में गुरुत्वा तथा धारणा ये दो शक्तियाँ हैं और क्रिया खड़े चाकवत् पश्चिम से पूरब जाने की है[1], ये पृथ्वी में विद्यमान है, ऐसा जानना चाहिये । हे सयाने जीव ! इन शक्ति गुणादिकों के रहस्य को विचार दृष्टि से देखो ॥१७॥

इमि गुणादि जड़ रूप सब, चेतन भिन्न स्वरूप ।
पटतर ताहिं न अन्य कछु, उपमा रहित अनूप ॥१८॥

टीका :— इस प्रकार गुण धर्मादि युत कारण-कार्य जड़रूप ही हैं । वे कभी चेतन नहीं हो सकते । चेतन जीव जड़ तत्त्वों से भिन्न ज्ञान स्वरूप हैं, उनमें केवल ज्ञान गुण, ज्ञान धर्म, ज्ञान शक्ति और ज्ञान आकार है । चेतन

१—चक्राकार पश्चिम से पूर्व ओर घूमने की क्रिया जो पृथ्वी की बतायी गयी है, यह साइंस के मत से ग्रन्थकर्ता ने कहा है ।

जीव की समता में कारण-कार्य रूप तत्त्व-प्रकृति नहीं दिये जा सकते; वह उपमा रहित है, अनोखा है, आप की भाँति आप ही है, अर्थात् जीव के समान जीव ही है, जड़ नहीं ॥ १८ ॥

ताते दोउ अनादि हैं, जड़ चेतन निर्धार।
उत्पति परलय ताहि की, कहते बिना विचार ॥१९॥

टीका:— अतएव कारण समूह रूप जड़ तत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु के अनन्त परमाणु, तथा असंख्य, अखण्ड अविनाशी चैतन्य जीव दोनों उत्पत्ति-नाश रहित अनादि, निराधार, अपने आप, अकृत्रिम हैं। अतः उपर्युक्त जड़-चेतन की उत्पत्ति तथा नाश, बिना गुरु-विचार के ही लोग कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या :— प्रश्न— असंख्य जीव अखण्ड अविनाशी उत्पत्ति-नाश रहित हैं, ठीक है, किन्तु जड़ तत्वों में तो प्रत्यक्ष बनना-बिगड़ना रूप उत्पत्ति-नाश लगा है। उत्तर— घर, घड़ा, चार खानियों की देहें, वेलि, वृक्ष, बुदबुदा, तरंग, लहर, गैस, दीपक, बिजली आदि के प्रकाश तथा आँधी, बौंडर आदि अनेकों कार्य अनादि से चार मूल कारण तत्वों से प्रवाह रूप उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन होते रहते हैं। किन्तु कारण रूप पृथ्वी, जल, तेज, वायु न किसी से उत्पन्न हुए हैं न किसी में लीन होंगे। क्योंकि मूल कारण का अन्य कारण नहीं होता है। यदि कारण का भी अन्य कारण माने तो उसका कारण भी अन्य कारण मानना पड़ेगा, और परम्परा का अंत न होगा। अतएव युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष, चार तत्वों के अनन्त परमाणु अर्थात् कारण समूह रूप भूमण्डल, समुद्र, वायु मण्डल, सूर्यादि उत्पत्ति-नाश रहित-क्रियाशील हैं, और इन जड़ तत्वों से भिन्न असंख्य चैतन्य जीव अविनाशी हैं।

जगत प्रवाह अनादि यह, चार खानि विस्तार।
कर्म क्षेत्र नर देह में, पाप पुण्य जस धार ॥२०॥

टीका :— दृष्टि-गोचर जड़-चेतन मय जगत प्रवाह रूप अनादि से है। सुखाध्यास वश जीव सदा से चार खानियों में देह धरते छोड़ते आ रहे

है। अतः चार खानियों का फैलावा भी अनादि काल से है। अर्थात् अनादि से कर्म-भूमिका मनुष्य शरीर में जब-जब आते हैं, तब-तब जैसे शुभाशुभ कर्तव्य करके हृदय में वासनायें धारण करते हैं वैसे ही सुख-दुःख चारों खनियों में भोगते रहते हैं॥ २०॥

जो जैसहिं तैसहिं रहै, तत्त्व क्रिया संयोग।
कारण कारज रूप जो, घट बढ़ विमल वियोग॥२१॥

टीका :— चार कारण जड़ तत्त्वों में स्वाभाविक क्रिया-संयोगादि षट् भेद तथा तत्त्वों के कम-विशेष साधक-बाधक के संयोग-वियोग से अनेक कार्य रूपों का बनना और पुनः मिट जाना इत्यादि जितने जगत्-प्रवाह के प्रपंच तत्त्वों में स्वाभाविक है, वे प्रथम थे और आज हैं, तथा भविष्य में रहेंगे। एवं "जो जैसे-तैसे रहे" किन्तु—॥ २१॥

द्रष्टा कारण कार्य नहिं, सब को जाननहार।
घट बढ़ रहित सो एकरस, आप सबन से न्यार॥२२॥

टीका :— जो सबका परीक्षक है, कार्य-कारण के गुण-लक्षणों को पृथक्-पृथक् जान एवं नाम धर कर कथनकर्ता और द्रष्टा है, जानने-मानने वाला है, वह चेतन जीव कभी जड़ तत्त्व रूप कारण-कार्य नहीं हो सकता। वह तत्त्व-कार्यों की भाँति घटता-बढ़ता भी नहीं; अर्थात् चेतन जीव हर अवस्था में एकरस रहने वाला सबसे भिन्न अपने आप अजन्मा, शाश्वत, पुराणपुरुष है॥ २२॥

पंच विषय से पार जिव, सब का ज्ञाता आप।
इन्द्रिन द्वार से जानता, दुख सुख मानि सो थाप॥२३॥

टीका :— जगत् पंच विषय से परे-खरे सब का ज्ञान करने वाला चैतन्य अपने आप है। अर्थात् प्रकृति से भिन्न चैतन्य अन्तःकरण रूपी सूक्ष्म इन्द्रिय से मानसिक संकल्प रूपी भास को तथा पंच ज्ञान इन्द्रियों से पंच विषय-जगत को जानता है, और स्वरूप की भूल से मानन्दी समझ अनुकूल पंच विषयों में सुख-दुःख मान-मान कर राग-द्वेष स्थापित करता रहता है॥ २३॥

त्याग करत प्रतिकूल लखि, ग्रहण करत सुख मानि ।
सुख दुख रहित सो आप है, बिन गुरु जाय न जानि ॥२४॥

टीका :— जीव प्रतिकूल, दुःखदायी माने हुए वस्तु-प्राणियों को देखते ही उन्हें तुरंत त्याग करने के प्रयत्न में लग जाते हैं, और अनुकूल, सुखदायी माने हुए वस्तु-प्राणियों को ग्रहण करते रहते हैं। यद्यपि सर्व सुख-दुःख द्वन्द्वों से परे शुद्ध निर्विकार अजर-अमर चेतन अपने आप है। तथापि (मनुष्य-तन-द्वारा) बिना सद्गुरु ज्ञान के यह बात जानने में नहीं आती ॥ २४ ॥

दृश्यमान जो दीखता, जड़ ही का सब साज ।
लक्ष राखि नित ताहि में, भूलि रहा निज काज ॥२५॥

टीका :— जितने नेत्र से रूप देखे जाते हैं, कान से शब्द सुने जाते है, नाक से गंध, जिह्वा से स्वाद और त्वचा से जितने स्पर्श होते हैं, ये सभी पाँचों विषय जड़ की सामग्रियाँ हैं। उपर्युक्त पंच विषय जड़ वस्तुओं में मनुष्य सदा अपना लक्ष्य रख कर स्वतः कल्याण भूल रहा है ॥ २५॥

व्याख्या :— जीव अपनी ओर ध्यान नहीं देता कि हम मनुष्य शरीर में क्यों आये हैं, मनुष्य तन का क्या फल है, नर-देह प्राप्त कर हमें क्या करना चाहिये; इत्यादि, इन बातों का तनिक भी विचार नहीं करता। मनुष्य ने चंचल पंच विषयों में सुख निश्चय कर रखा है, इसका मन सदा भोग विषयों में ही रमण करता रहता है, मनुष्य कृमि-कीट सदृश हो रहा है। यह नहीं जानता कि यह कंचनमयी देह, पुत्र, घर, धन, मान-पुजापा यश-कीर्ति स्वप्न से भी झूठे हैं। क्योंकि जागृत होने पर पूर्व स्वप्न का स्मरण भी होता है, किन्तु शरीर छूट जाने पर इस शरीर तथा घर, धन कुटुम्बियों का स्मरण तक भी नहीं होता फिर आज की देह, तथा मान-सुख मृग-तृष्णा-सदृश एवं भ्रांतिपूर्ण नहीं तो क्या है। जीव को व्यर्थ ही संसार में सुख प्रतीत होता है। यदि गंभीरतापूर्वक विचार-दृष्टि से देखा जाय तो यह तो जगत् तन, मन, विषय वास्तव

में जहर से भी जहर हैं। इन्हीं विष रूप भोगों का ही तो स्पर्शकर-कर के जीव अनादि से जरते-मरते आ रहा है। फिर भी मनुष्य, स्वप्नसृष्टि में भूल रहा है। इसे तनिक-सा विचार नहीं आता कि इस जगत् एवं तन-मन का सम्बन्ध झूठा है, स्वप्न भ्रम है, मिथ्या है और दुखद है।

जीवन दुःखपूर्ण और स्वप्नवत् है

दृष्टांतः— एक राजा सैनिक और मित्रों के साथ जंगल में विहार करने गया। संयोगाधीन राजा का घोड़ा मचल कर भागा और सबका साथ छोड़ कर एक निर्जन स्थान में ले गया, जहाँ कोई नहीं दिखता था। राजा मार्ग भी भूल गया, चारों ओर से जंगल-ही-जंगल था। राजा एक वृक्ष में घोड़ा बाँध कर और एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ कर इधर-उधर देखने लगा। इतने में एक महात्मा एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए देखने में आये। महात्मा को देख कर राजा के मन में कुछ सांत्वना आयी और उनके पास गये तो क्या देखते हैं महात्मा उदास चित्त से बैठे हैं और उनके नेत्रों से जल टपक रहा है। राजा धीरे से प्रणाम करके बैठ गये। महात्मा नेत्र खोले और राजा की ओर संकेत करके उनका समाचार पूछे। राजा ने अपना पूरा समाचार कह सुनाया। पुनः राजा ने बड़ी कोमलता से पूछा— हे संत भगवन्! आप इतने उदास क्यों हैं और नेत्रों से आँसू क्यों बहा रहे हैं? महात्मा बोले— बेटा! संसार से उदास ही होने योग्य है। संसार के कोई पदार्थ सुखदायी नहीं हैं; सभी रोग और संताप रूप हैं। जिस देह में लोग सुख मानते हैं, वह भी महान दुःख रूप है। जितने प्राणी-पदार्थ हैं सब राग-द्वेष करके जलाने वाले हैं। फिर सदा साथ भी देने वाले नहीं। पलक मारते-मारते छूटते हैं। जब तक शरीर रहता है, जीव को त्रय ताप, नाना कष्ट, विवशता, निर्वाह आदि में जलाता है; पुनः स्वप्न की भाँति छूट भी जाता है। बिना गुरुपद-स्थिति देह छूट जाने पर भी जीव को सुख नहीं मिलता, वह देहाध्यास-वश पुनः देह धरता, गर्भ में जलता, नाना कष्ट सहता है। जीव स्वरूप से अजर, अमर, नित्य-

तृप्त, निश्चित और मुक्त रूप होते हुए भी अपनी भूल-वश जड़-परमाणु देशों में भ्रम रहा है और दुःख उठा रहा है। अतः संसार-शरीर एवं दृष्टिगोचर भोगों को दुःख रूप जान कर उदास हो रहा हूँ और अपने पूर्वकृत भूलों पर पछतावा करके रोता भी हूँ।

राजा बोला — हे प्रभो ! वास्तव में संसार का सम्बन्ध स्वप्न-भ्रम और दुःखपूर्ण ही है ? महात्मा बोले—सत्य में बेटा ! यह संसार का सम्बन्ध दुःख और स्वप्न-भ्रम रूप ही है। देखो ! मैं प्रथम जब संसार माया में आसक्त था तब की बात कहता हूँ, ध्यान पूर्वक सुनो ! एक दिन मैं रात को स्वप्न देखने लगा तो क्या देखता हूँ कि मानो मैं एक बाग में गया हूँ और एक डगाली पकड़ कर फूल तोड़ने लगता हूँ, फूल तोड़ कर जब अपनी ओर देखा तो क्या देखता हूँ कि हमारा शरीर बिलकुल स्त्री का हो गया है। इतने में एक मनुष्य आया है और हमें अपनी पुत्री बतला रहा है, मुझे वह अपने घर ले गया है और एक लड़के के साथ मेरा विवाह कर दिया है। फिर स्वप्न ही में क्या देखता हूँ कि मैं उस लड़के के साथ उसके घर गया हूँ। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर हमारे तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई हैं। इतने में क्या देखता हूँ कि बड़ा पुत्र मर गया है। अब तो हमारे दुःख की थाह नहीं रही, मैं विह्वल हो रो रहा हूँ और भी अनेक प्रकार सुख-दुःख उठा कर कष्टित हो रहा हूँ। इतने में बड़ी दरिद्रता आ गयी है, बाल-बच्चे अन्न-दाना बिना रो रहे हैं, पुरुष की देह में नाना रोग घेर लिये हैं। मैं व्यग्र चित्त होकर उसी पूर्व बाग में आया हूँ और पुनः फूल तोड़ने लगा हूँ, जैसे फूल तोड़कर अपनी ओर दृष्टि किया कि तुरन्त ही प्रथम वास्तविक पुरुष की रूप-रेखा में आ गया हूँ। अब हमें यह भी स्मरण होता है कि मैं तो स्त्री था, हमारे कई पुत्र-पुत्रियाँ थीं और हमारा पुरुष बहुत रोगी था, मैं दरिद्र अवस्था में था, फिर मैं पुरुष कैसे हो गया ? इतने में हमें पूर्व वास्तविक पुरुषदेह का भी स्मरण होता है, मैं सोचता हूँ, अरे मैं तो खास कर पुरुष ही तो था, केवल बीच में स्त्री हो गया था। हाय ! यह क्या चरित्र है ? मैं

किधर जाऊँ, क्या करूँ ! इधर दुखित संतान एवं रोगी-दरिद्री पुरुष का स्मरण आता तो अत्यंत मोह से आकुल-व्याकुल हो जाता। अस्तु, मनोमय के चरित्र में मैं शोकसागर में पड़ा था।

इतने में रोगी पुरुष लाठी टेकते-टेकते आ निकला। मैं उसे देखते ही मारे मोह के रोने लगा। वह बोला—क्यों रोते हो, यहाँ हमारी स्त्री आयी थी, उसे सिंह ने तो नहीं खा लिया? मैं रो-रो कर कहने लगा—आप की स्त्री मैं ही हूँ, यहाँ न जाने क्यों स्त्री से पुरुष हो गया हूँ। वह पुरुष बोला—हुआ सो हुआ अब चलो घर में लड़के रो-रो कर मरते हैं। मैं घर की ओर संतान की मोह में रोता हुआ चल दिया, जब घर पर पहुँचा तो वहाँ क्या देखता हूँ कि सारा घर नदी में बह गया है, जहाँ घर था वहाँ बिलकुल नदी की धारा है। हाय ! हमारी संतानें कहाँ गयीं ? मैं विक्षिप्त-सा हो गया हूँ। नदी की धारा में देखा तो सब संतानें उस में बह रही हैं। अब तो हमारे दुःख की और थाह नहीं रही, और मैं रोने लगा। इतने में एक सिपाही आया और हम से कहने लगा है कि आप यहाँ खड़े होकर क्यों रोते हैं? आप तो इस देश के राजा हैं। मैंने कहा—भाई ! मैं राजा नहीं हूँ। वह कहने लगा— नहीं-नहीं, आप वास्तव में राजा हैं। वह मुझे बुला ले गया और एक विशाल राजभवन में प्रवेश कराया। मुझ को देखते ही राज्य-सभा के लोग उठ खड़े हुए और हमें राजशाही वस्त्र पहनाने लगे। वस्त्र पहना कर मैं राज्यगद्दी पर बैठाया गया। मानो मैं वहाँ सैकड़ों वर्ष तक राज्य भोग कर चुका हूँ। इतने में एक नौकर आया और हमसे कहता है—हे पृथ्वीनाथ ! आप का शत्रु सिर पर चढ़ आया है। अतः आप शीघ्र सावधान हो जाइये। मैं इतना वचन सुनकर घबड़ाया कि बाहर से मारो-काटो का शब्द कान में सुनायी पड़ा। मैं भी एक खड्ग लेकर वहाँ पहुँच गया। निदान शत्रु का खड्ग हमारे हाथ में लग गया और मैं विह्वल होकर गिर पड़ा, बस गिरते ही जाग गया। तो न मैं स्त्री हुआ न राजा और न खड्ग ही लगा है, मैं आँख मीचते-मीचते खोला तो सामने वही प्रथम की वस्तुएँ हैं।

मैं चारपाई पर बैठा-बैठा सोच रहा हूँ, अहो! यह सब सारी विपत्तियाँ एवं सुख-दुःख मैंने केवल स्वप्न ही में तो भोगा है। इतना कह कर महात्मा पुनः राजा से बोले—हे राजन्! उपर्युक्त स्वप्न के अनुसार ही क्या आज के दिखते हुए घर-धन, कुल-कुटुम्ब, जगत्-वेष, मान-पुजापा, शरीर आदि नहीं हैं? अवश्य हैं। स्वप्न के वे दुःख-सुख तो आज भी स्मरण में आते हैं; किन्तु ये आज के घर, धन, शरीरादि छूट जाने पर स्मरण तक नहीं होंगे। अतः आज के भोग-विलास, घर-धन, शरीरादि स्वप्न से भी गये बीते हैं। भला! यह स्वप्न चित्र नहीं तो क्या है? प्रारब्ध पूर्ण होने पर जीव समस्त कुल-कुटुम्ब देहादि छोड़ कर वासना-वश माता-पिता की विषय-क्रिया-द्वारा पुनः गर्भ में जाता है, और जीव के कर्म-वासना अनुसार रज-वीर्य का सम्बन्ध होकर माता के गर्भ में देह का अंकुर रूप मांस का लोथड़ा बनता है। उस मांस के लोथड़े में से जीव की कर्म-वासना अनुसार ही हाथ-पाँव तथा उँगुलियाँ निकलतीं और शरीर का पूरा आकार-प्रकार बन कर नौ महीने के उपरान्त गर्भ से बाहर आता है। बालकपन में शरीर कोमल रहता, सब उसे बच्चा-बच्चा व छोटा मुन्ना कहते हैं। पुनः वही कौमार अवस्था को पाकर युवा हो जाता है। हाथ-पाँव कड़े हो जाते हैं, उतनी कोमल सूरत नहीं रह जाती। शादी-विवाह भी हो जाता है। तब उसे लोग बाबू, जीजा व दामाद तथा अपने-अपने पद अनुकूल पुकारने लगते हैं। पुनः सिनेमा चित्रवत् वह अवस्था भी परिवर्तित हो जाती है और अधेड़ एवं कुछ दिन में वृद्ध अवस्था आ जाती है। तब वही प्रथम जो बच्चा तथा छोटा मुन्ना कहा जाता था वही आज बाबा व बूढ़ा डोकरा कहा जाता है। पुनः जो शरीर कोमल, सुडौल और सुन्दर था, उसी शरीर का चाम अब लटक रहा है। वह लाठी पकड़ कर चलता है, दिन-रात खों-खों करता और रोता है। जो प्रथम प्यार की दृष्टि से देखा जाता था, वही अब दुरुदुरू हो रहा है। उसकी बोली लोग सह नहीं पाते। वह चारों ओर से दुतकारा-फटकारा जाता है। एक दिन ऐसा होता है कि वह

समस्त घर-धनादि, कुल-कुटुम्ब, शरीर, राज-काज, विद्या, पद-प्रतिष्ठादि छोड़कर पुनः वही गर्भ-अग्नि में पयान करता है। हे राजन् ! यह शरीर एवं शरीर के लोग, मित्रगण आदि वृथा स्वप्न नहीं तो क्या हैं ? ठीक-ठीक उपर्युक्त स्वप्न के अनुसार ही ये आज के लोग-प्राणी तथा शरीरादि का सम्बन्ध है। जिसे आज देखो वह कल नहीं देख पड़ता, यथा —

कवित्त

स्वपन समान प्राणी बारी-बारी चले जात,
हमरहु बारी अब आइ नियराई है।
काहि सेती मोह करों काहि से मैं द्वेष करों,
आज काल बीच मेरो यहाँ से विदाई है ॥
हाय, मन मूढ़ ऐसो जानि के न चेत करे,
काँचे कुम्भ पानी भरि चाहे कुशलाई है।
मेघा काहिं सर्प गह्यो मेघा कीट खान चाहे,
काल तैसे नर गह्यो नर विष भाई है ॥ १ ॥

हे राजन् ! इसी हेतु मैं सब से उदास हो रहा हूँ। इस संताप रूपी देह और दुनिया से ऊब-घबरा कर रो भी रहा हूँ। प्राणी इस शरीर में केवल थोड़े समय के लिये आया है; अब उसका श्वास जाने वाला ही आ रहा है, किन्तु फिर भी अज्ञानी जीव होश नहीं करता, अपने मार्ग का सम्बल (धर्म-भक्ति) नहीं कर लेता इस प्रकार जगज्जीवों की उल्टी क्रिया देख कर और भी रोवाई आ रही है। महात्मा की इतनी वाणी सुन कर राजा के हृदय में संसार की ओर से उपरामता का उमंग उमड़ आया और हाथ जोड़कर पूछने लगा — हे दीनबन्धो ! इस विकराल संसार सागर से कैसे उद्धार हो ? दया कर समझाइये। महात्मा बोले —

कुण्डलिया

प्रथम धर्म मानुष्य कर मानव धर्म सुधार।
मानव धर्म सुधार अहिंसा दया सु बरते।
समता शील स्वभाव धर्म आचरण को करते ॥

भोजन छाजन मोह नींद मैथुन भय देखो।
पशु पक्षी कृमि कीट मनुष सबहीं में पेखो॥
इतने में यदि नर रहे कहहु कौन भे श्रेष्ठ।
धर्म भक्ति आचरण सत् तब नर होहिं बरेष्ठ॥ १॥

आखिर तन धन तिय कुटुम छुटहिं आपनो देह।
अस जिय जानि विचारि उर करु भक्ती सो नेह॥
करु भक्ती सो नेह हर्ज-खर्चा मत डरिए।
यक दिन सबहीं छोड़ि गर्भ तापन में जरिए॥
बाँधि न कोइ लइ जाय धरणि धन गृह समुदाई।
पर लइ जावन होय धर्म में देहु लगाई॥
धर्म भक्ति में जो लगे सो जावे निज साथ।
नहिं तो यक दिन छोड़ि सब नर होवे बे हाथ॥ २॥

आज-काल में छोड़नो तन धन तिय परिवार।
करन होय जल्दी करो अवसर जात तुम्हार॥
अवसर जात तुम्हार कूँच को आवत बारी।
काह परचो नर सोय करहु अजहूँ तइयारी॥
एक श्वास दुइ श्वास जो तेहि में करो सुधार।
निपट मोह की धार न अवसर जात तुम्हार॥ ३॥

नित सत्संगत बैठि के परखहु आपन रूप।
अजर अमर अविचल विरुज अक्रिय तृप्त स्वरूप॥
अक्रिय तृप्त स्वरूप ताहि स्थिर होय रहिए।
नाहक जगत् प्रपंच शीश पर क्योंकर लहिए॥
मुख्य काम को मारि क्रोध की गरदन काटे।
लोभ मोह को तोड़ि वासना भोग निपाटे॥
ज्ञान भक्ति अरु विरति यथा श्रेणी में रहिए।
हर प्रकार सत् कर्म भक्ति मारग को गहिए॥
चेतहु करहु सो आज है काल्ह काल को फांस।
जग असार दुख जानि कर करु गुरु पद अभिलाष॥ ४॥

इतना वचन सुन कर जिज्ञासु वन्दना करने लगा — छन्द —

जय संसृति हरना, दुख भय टरना, विमल ज्ञान उजियारा।
भ्रम मोह निवारयो, मोहिं उबारयो, जगत् उदधि विकरारा॥
पर अब जग वासा, स्वप्न तमाशा, लख्यों तुम्हारी दाया।
हे संत पियारे, दया तुम्हारे, भयों मैं आज अमाया॥१॥

शिक्षा—पद

सारी रचना यहाँ की असार है, रैन सपना बना संसार है॥ टेक॥
ना है माता कोई के न ताता, मित्र भ्राता सगे झूठ नाता॥
मिथ्या माया क फैला पसार है, रैन सपना ......॥ १ ॥
छिन में बालक जवानी को पाता, छिन में हो वृद्ध जर जर दिखाता॥
छिन में तज जाता सब व्योहार है, रैन सपना ......॥ २ ॥
एक से एक राजा वो रानी, पानी के बुदबुदे वत् विलानी॥
कौन रहता सदा बरकरार है, रैन सपना ......॥ ३ ॥
झूठी माया में काहे को फूले, धर्म परमार्थ काहे तू भूले॥
छिन में धनवान् होता भिखार है, रैन सपना ......॥ ४ ॥
बाँध मुठ्ठी यहाँ आप आये, खोल के हाथ छूँछे हि जाये॥
सँग में कौड़ी न जाती तुम्हार है, रैन सपना ......॥ ५ ॥
धन कुटुम्बी को निशिदिन सम्हाले, धर्म परमार्थ वादे में टाले॥
काल लेता अचानक हि मार है, रैन सपना ......॥ ६ ॥
चेत जल्दी कमाई तु कर ले, त्याग अभिमान मन से सम्हर ले॥
ना तो सहना परे यम का मार है, रैन सपना ......॥ ७ ॥
स्वप्न है देह संसार सारा, इसका है प्रेम करना गँवारा॥
प्रेम अभिलाष गुरुपद क सार है, रैन सपना बना संसार है॥ ८ ॥

कहहुँ कहाँ तक भूल निज, मोह अँधेरी रात।
भरमि रहे सब जीव तहँ, राग द्वेष करि घात॥२६॥

टीका— अहो! हम अपनी भूल कहाँ तक कहें? और हम ही नहीं बल्कि इस मोह रूपी तम-रात्रि में सर्व मन-वशी जीव भ्रम रहे हैं। झूठे ही स्वप्न-कौतुक में किसी को अनुकूल मान कर मोह करते और किसी को

प्रतिकूल मान कर ईर्ष्या करते हैं। यहाँ तक कि नश्वर स्वार्थ-वश दूसरे जीव का गला घोटते, दबाते, सताते; अहो! कितना अज्ञान है संसार में, तब प्राणी कैसे सुखी हों ॥ २६ ॥

कवित्त—

कैसो यह कौहट स्वपन में भुलाय जीव, मेरो घर धन नारि देह यूँ कहतु है।
यह नहिं जानत अकेले हम आये यहाँ, फिर भी अकेले आज काल में चलतु है ॥
मोह मद्य पान करि जीव ये न चेत करे, आय के अचानक सो काल हूँ गहतु है।
आश-अभिलाष सब एक हूँ न पूर भयो, जाय पुनि गर्भ माहिं जीव सो जरतु है ॥

निज नाभी में कस्तुरी, जस मृग रहा भुलाय।
खोजत औरहिं और लखि, ऐसा भरमि रहाय ॥ २७॥

टीका— जैसे अपनी नाभि (ढोंढ़ी) में कस्तुरी होते हुए भी सुगंधी कहीं अन्य वस्तु से आ रही है; ऐसा जान कर जहाँ-तहाँ घास-फूसों में मृगा खोजता और देखता फिरता रहता है, इस प्रकार भ्रमित रहता है ॥ २७ ॥

विषयन में सुख मानि के, स्वतः स्वरूप भुलान।
त्याग मोक्ष सुख निकट का, रहत सदा हैरान ॥ २८॥

टीका :— उपर्युक्त दृष्टांतानुसार मोक्ष-अधिकारी मनुष्य-जीव क्षण-भंगुर विजाति दुःख रूप जड़ पंच विषयों में सुख मान-मान कर अपने शुद्ध निर्विकार, अजर, अमर, नित्य तृप्त स्वरूप को भूल कर स्वरूपज्ञान से बेभान हो गया है। इन्द्रियों के पंच विषय भोग, मान-सुख की कामना, शरीर की ममता एवं बाहरी सर्व मन-इन्द्रियों की दौड़ को मिटा कर अपनी वृत्ति को अपने अमृत स्वरूप में टिकाते हुए शोकपरिश्रम-रहित अनन्त अचिंत शान्ति रूपी मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु इस निकट के मोक्ष-सुख को त्याग कर मनुष्य विषयों के पीछे चंचलता पूर्वक सर्वदा कष्टित होता रहता है ॥ २८ ॥

व्याख्या:— अथाह, अपार, अचिंत, अविनाशी सुख-शान्ति का सागर जो अपना हृदय निवासी शुद्ध स्वरूप है, उस पर लक्ष्य न होने से मनुष्य के हृदय में प्रतिक्षण कमी और दुःख का अनुभव हुआ करता है।

यह भूल-वश समझता है कि हमें कोई बाहरी वस्तु की अप्राप्ति है, इसी से दुःख है। कुछ अपनी मान-बड़ाई, स्तुति तथा मनोरंजनीय शब्द सुनने, कुछ देखने, स्पर्श करने, सूँघने, तथा चखने को प्राप्त हो जाते, अथवा ऐश्वर्य, सम्पत्ति, स्वामित्व, अधिकार, मित्र, जनसमाज तथा मनभावन सम्बन्ध मिल जाते, तो मैं सदा के लिये सुखी हो जाता। किन्तु यह मनुष्य की नितांत झूठी कल्पना है। रागजन्य बाह्य प्राणी-पदार्थों-द्वारा अनन्त एकरस सुख-शान्ति का लाभ मिलना कदापि सम्भव नहीं। बल्कि भोगों-द्वारा कष्ट-चिन्ता की वृद्धि अवश्य होगी। अतएव बाह्य मान-भोगों से लक्ष्य हटा कर हृदय अन्तर अविनाशी संतोष धाम में निवास करना चाहिये।

छोड़ि आश जग ब्रह्म की, गुरुपद दृढ़ अनुराग।
मोहै नहिं फिर ताहि में, गहि विवेक वैराग्य ॥२६॥

टीका:— अपनी अविनाशी स्थिति के अतिरिक्त बाह्य आशा-कामना ही दुःख रूप है। अतएव जगत् पंच विषय भोग, शरीरादि तथा कल्पित ब्रह्मादि, सर्व पिण्ड-ब्रह्माण्ड की आशा पूर्ण त्याग कर अपने अविनाशी शुद्ध स्वरूप में दृढ़ अनुराग जोड़ना चाहिये। और भोग तथा कल्पनाओं का त्याग भी ऐसा दृढ़ करना चाहिये कि युवती-भोग, गृह, धन एवं वाणी-कल्पना में ललच-ललच कर पुनः मोह को न प्राप्त होवे। सर्वदा विवेक-वैराग्य धारण कर संसार-शरीरादि से अनासक्ति पूर्वक स्वरूपनिष्ठ रहे ॥ २६ ॥

भूल मिटै गुरु की कृपा, पारख पद दर्शाय।
सहजै में तब शांत ह्वै, नमों नमों गुरु राय ॥३०॥

टीका:— पारखी सद्गुरुदेव की पूर्ण कृपादृष्टि रूपी सत्योपदेश जब प्राप्त होता है, तब स्वरूप की भूल मिट जाती है, और विवेक-द्वारा सर्व-परीक्षक अपने अपरोक्ष स्वरूप के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं; फिर सर्व संसार निःसार है और अपनी स्वरूपस्थिति ही सार है ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने से सद्पुरुषार्थ-द्वारा सरल रीति से मनुष्य शान्ति पद को प्राप्त हो जाता

है। अतएव जिन सद्गुरुदेव से अविनाशी स्वरूप का बोध और स्थिति की प्राप्ति होती है, उन गुरुदेव को बारम्बार नमस्कार है ॥ ३० ॥

शिक्षा—हे मनुष्य ! इस दुःखपूर्ण स्वप्न वत् संसार-शरीरादि की आशा परित्याग कर गुरुदेव की शरण ले, जिससे जरा-व्याधि, जन्म-मरण से छुट्टी मिल कर अविनाशी सुख-शान्ति मिले।

प्रसंग-२—पंच विषय जड़ से जीव की पृथकता तथा
सुख-इच्छा-वश बन्धनादि वर्णन।

पंच विषय जड़ रूप है, कारण तत्त्व सो जान।
भिन्न सदा जिव ताहि से, इच्छा करि सुख मान ॥३१॥

टीका:— जितने अनेक चित्र-विचित्र रूप रंग युक्त पंच विषय कार्य पदार्थ दिखलायी देते हैं, सब चार कारण जड़ तत्त्वों से बने जड़ के रूप हैं, ऐसा जानना चाहिये; और चेतन रमैयाराम इन कारण-कार्य रूप जड़ तत्त्वों से सर्वदा भिन्न, पृथक-पृथक असंख्य अविनाशी ज्ञान रूप हैं; परन्तु बिना गुरु पारख पंच विषयों में सुख मान-मान कर भोगेच्छा-वश जीव जगत नगर में भ्रमते रहते हैं ॥ ३१ ॥

इच्छा से दुख होत है, सुखहिं मूल है ताहिं।
जीव विवश है ताहि के, भोगत कष्ट सदाहिं ॥३२॥

टीका :— विषयों की इच्छा ही से सब दुःख उत्पन्न होते हैं और उस विषय इच्छा की जड़ विषयों में सुख भ्रम होना ही है पंच विषयों सुख भ्रम के वशीभूत होकर इच्छा, कामना, तृष्णा, एवं काम-क्रोधादि तथा जन्म-मरण आदिक अनेक कष्टों को जीव सदा-सर्वदाभोगता रहता है ॥३२॥

अविनाशी जिव है स्वतः, ज्ञान स्वरूप असन्ध।
तामें इच्छा है नहीं, भूल दृष्टि से बन्ध।३३॥

टीका :— रमैयाराम चेतन स्वयं, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड तथा नित्य तृप्त है, अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप में इच्छा, मानन्दो, भास, अध्यास नहीं है। केवल उक्त अपने ज्ञान स्वरूप की भूल दृष्टि से अर्थात् अपने नित्य

संतुष्ट, तृप्त ज्ञान-स्वरूप पर न लक्ष्य रहने से ही इच्छा-मानन्दी में जीव बन्धमान हो रहा है ॥ ३३ ॥

भूलहिं से आसक्ति सब, भूल नाश तब नष्ट।
चेतन स्वतः स्वतंत्र है, बोध बिना सहि कष्ट ॥३४॥

टीका :— स्व-स्वरूप की भूल से ही सारी जड़ासक्तियाँ हैं भूल मिट जाने पर आसक्ति भी मिट जाती है। चेतन अपने आप और स्वतंत्र है, ज्ञान बिना ही दुःख उठा रहा है ॥ ३४ ॥

व्याख्या :— अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप की भूल से ही पंच विषय रमणी स्पर्श, कुटुम्ब-सम्पत्ति, मान-मकान, सुख, ऐश्वर्य-स्वामित्व, विद्या-वाणी, कल्पना, शरीर, इन्द्रिय, अध्यास, वासना, सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म भासमान् भोगों में सुख मान-मान कर सर्व जगदासक्ति-विश्वहंता जीव ने निर्माण कर रखा है; और गुरु पारख-द्वारा स्वरूप की भूल मिटते ही सर्व जगतदासक्ति खानी-वाणी के भास-अध्यासों को विवेक-वैराग्यादि सद्साधनों-द्वारा मनुष्य मिटा कर सर्व बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतएव चैतन्य जीव स्वयं स्वतंत्र निर्बन्ध नित्य तृप्त है; मात्र स्वरूप बोध और उसकी स्थिति बिना जन्म-मरण देहोपाधिक क्लेशों को भोगता है। यथा—

सवैया

आप को भूलि प्रपंच गहै नर, आप को जानि प्रपंच हटावे।
आप को भूलि भ्रमै इत ही उत, आप को जानि सदा थिरतावे ॥
आप को भूलि मनोमय डोलत, आप को जानि के ताहि मिटावे।
आप को भूलि के देह कहै मम, आप को जानि स्वरूप डटावे ॥

दुख अनेक खुद आप से, लीन्हा जीव बनाय।
भूल भरम से और कहि, ईश ब्रह्म ठहराय ॥३५॥

टीका :— अनादि काल से मनुष्य अपनी भूल-वश भोगों को भोग-भोग कर शारीरिक-मानसिक अनेक दुःख-दर्द बनाते आया है; किन्तु कोई

दुःख पड़ने पर भूल-भ्रम-वश मनुष्य कहता है कि हमें ये दुःख कोई विशेषज्ञ ईश्वर-ब्रह्म ने दिया है; किन्तु यह मनुष्य की नितान्त भूल है क्योंकि — "निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।" ॥ ३५ ॥

विषयाध्यास अनादि का, संस्कार दिल माहिं ।
मन इन्द्रिन संघात में, सन्मुख सोई विचाहिं ॥३६॥

टीका :— शरीराभिमान, पंच विषयों की आसक्ति, वासना एवं संस्कार अनादि काल से हृदय अन्तर्गत पड़े हैं। मन-इन्द्रियों के सम्बन्ध से वे ही जीव के सम्मुख संकल्प रूप में उठ-उठ कर भोगों में खींचते रहते हैं ॥ ३६ ॥

साधन निश्चय संग मिलि, भोग कि चाह बढ़ाय ।
गहि आदत सो ताहि की, जीव प्रतंत्र रहाय ॥३७॥

टीका :—पाँचों विषयों में सुख का निश्चय और राजसी विषयासक्तों के संगदोष में दबी हुई भोग-वासनायें जागृत होकर बढ़ जाती हैं; और उन्हीं विषय-भोगों की आदतों के वश यह जीव सर्वदा बन्धमान रहता है ॥३७॥

पुनि पुनि भोग की चाह करि, तृप्ति न कबहूँ पाय ।
दुर्गति अमित सो ताहि से, फिर भी वही सुहाय ॥३८॥

टीका :— पाचों विषयों को मनुष्य नित्य भोगता है, इन्द्रियों के सामने भोग भी विद्यमान हैं और भोग भी रहा है, किन्तु भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती। बल्कि "हैजा में पिपासावत्" मनुष्य भोगों की तृष्णा में पड़ा रहता है। यद्यपि भोगासक्ति-वश उसको अपार कष्ट होता है; तथापि आदत और भूल वश वही विषय-भोग जीव को प्रिय लगता है। अहो! क्या आश्चर्य है ? ठीक मनुष्य की यही गति है कि—"प्रसवकाल नारी दुख पावे। भूलि ताहि शठ पति पुनि भावे" ॥ ३८ ॥

तेहि सम अधम न और कोइ, जानि बूझि गफिलाय।
सुधा त्यागि सो गरल गहि, जन्म मरण दुःख खाय ॥३९॥

टीका :— उसके सदृश कोई पापी नहीं है जो जान-समझ कर असाव-

धान होता है। वह अमृत त्याग कर विष ग्रहण करता है और जन्म-मरण के दुःख-बीजों को बोता है॥ ३९॥

व्याख्या :— आशा, तृष्णा, चिन्ता, कामना, काम, क्रोधादि अनेकों दुर्गुण, आधि, व्याधि, उपाधि, त्रय अवस्था, जन्म-मरण, गर्भवास, चारों खानियों की असंख्यों देहें धरने इत्यादि का असह कष्ट केवल विषयासक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जान-बूझ, समझ-विचार कर उन्हीं विषय-भोगों में गाफिल होवे पतित होवे, तो उसके समान पापी संसार में कोई नहीं है। कहा भी है—"जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मंद न कोई। कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन विधि होई॥ बी०" नित्य तृप्त, नित्य संतुष्ट, निज अविनाशी स्वरूप के स्थितिप्रद सद्‌गुण, सदाचार, ब्रह्मचर्य, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि अमृत को त्याग कर विषम विष रूपी विषय-भोगों को ग्रहण कर जन्म-मरण देहोपाधि के अनेक कष्टों को गाफिली-वश जीव उठाता रहता है॥३९॥

शिक्षा—रंच मात्र मन कल्पित विषय सुख भोगों में पहाड़ भर दुःख भरा है। जीवन क्षण-भङ्गुर है। सम्बन्ध और शरीर के सम्पूर्ण व्यवहार, सुख, सम्पत्ति, स्वामित्व स्वप्नवत् हैं अपना शुद्ध स्वरूप संसार-शरीरादि से सर्वथा भिन्न है। कितना भी संसार-शरीरादि को हृदय में भरना चाहो, अंत में सब छूट जायेंगे। अतः हे मनुष्य! तू मन-इन्द्रियों की लोलुपता, विषय-तृष्णा को त्यागकरके अपने अविनाशी जीव का कल्याण कर! अन्यथा पूर्ण मन-इन्द्रिय स्ववश पूर्वक सद्‌गुण-रहस्य-बिना वाक्यज्ञान केवल खर-भार वत् है; यथा—

कवित्त

वाणी बहु कथि डारे कविता बनाय डारे,
बहु विद्या पढ़ि डारे पण्डित कहाई है।
जग परचार करि प्रभुता प्रकाश करे,
भाँति भाँति ग्रन्थ काहिं अर्थ हूँ लगाई है॥

नाम रूप जीवन जवानी सब शुचि होय,
कहाँ लगि कहौं कछु कमती न लाई है।
गो मन स्ववश दृढ़ बिरति विवेक बिन,
गंध बिन फूल रहि ताहि समताई है॥ १॥

दृष्टांत—एक ग्राम में एक पाण्डे जी सहित कुटुम्ब रहते थे। पाण्डे जी विशेष रूप से सुखाध्यासी (आरामतलब) मनुष्य थे। उन्हें घर का काम-काज करना भार रूप लगता था। विशेष रूप से पंचायत में और झाड़-फूँक में कल्पित मशान, चुड़ैल, जिंद उतारने जाया करते थे। पाण्डे जी के घर में जिस कोठरी में भोजन बनता था, वहाँ ऊपर ही छप्पर में छिद्र हो गया था। वर्षा का समय होने से पाण्डे जी की स्त्री को भोजन बनाने में बहुत कष्ट होता था। कई बार स्त्री ने पाण्डेय महाराज से कहा कि छप्पर बाँध कर रख दो, जिससे पानी चूना बंद हो जाय। किन्तु पाण्डे जी टाल-मटोल कर मामला खटाई में छोड़ते रहे। एक दिन एक मनुष्य पाण्डे जी को भूत उतारने (झाड़-फूँक) करने के लिये बुलाने आया पाण्डे जी यही चाहते भी थे। बस क्या था पोथी-पत्रा बगल में दाब कर चल दिये। पाण्डे जी की स्त्री उनके चरित्र से बहुत ऊब-घबरा गयी थी। अतः 'चलें देखें यह मुवा क्या करता है ? ऐसा विचार कर स्त्री भी चुपके से पीछे-पीछे चल पड़ी। वहाँ जाकर देखती क्या है, कि पाण्डे जी एक लकड़ी से पृथ्वी में चिन्ह पारते जाते हैं, और यही सूत्र (मंत्र) कहते जाते हैं "जल बाँधू जलहरि बाँधू, बाँधू जल की काई। पिपरा पर के देवता बाँधू, हनूमान की दोहाई॥ आकाश बाँधू पाताल बाँधू, बाँधू पौना नीर। सूर्य-चन्द्र सतलोक बाँधू, जय तकिया के पीर॥ गौरा पारवती की दोहाई, लोना चमाइन की दोहाई चल छू.........।" इतना सुनते ही पण्डितानी पाण्डे जी के पीठ में बल पूर्वक लात मारते हुए बोली—रे मुवा ! घर का छप्पर तो तुझ से बाँधे नहीं; बँधता, यहाँ आकाश-पाताल, सूर्य-चन्द्र सभी को बाँधने आया है ठीक है—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।"

सिद्धांत—पाण्डे यह जीव है इसके इन्द्रिय रूपी छप्पर चू रहे हैं भाव यह कि इन्द्रिय की विषय-लोलुपता इतनी बढ़ गयी है कि जीव अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप को भूलकर सर्वदा मलिन देह-इन्द्रियों में अहंता-ममता दृढ़ कर विषय-भोग की इच्छा-वश संतप्त रहता है। इन्द्रिय रूपी छप्पर से रात-दिन विषय-विकार रूपी जल चूते रहते हैं। सुबुद्धि रूपी स्त्री जीव रूपी पति को समझाती है कि इन्द्रिय रूपी छप्पर बाँधकर रखो, एवं पाँचों विषयों की आसक्ति हृदय से निर्मूल कर अपने चैतन्य स्वरूप को देह-इन्द्रियों से पृथक् जानकर अहिंसा, सत्य, शीलादि सद्गुण-सदाचार धारण कर शीघ्रातिशीघ्र स्वरूप स्थिति बना लो। किन्तु जीव तो आकाश-पाताल बाँधने में लगा है; अर्थात् अपना सुधार न कर सबको शिष्य, प्रेमी, जिज्ञासु बनाने, स्ववश करने, संसार के सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि, मान्य-प्रतिष्ठा, भोग-विषय प्राप्त करने, में लगा है; यहाँ तक कि जाड़ा-गर्मी-वर्षा सूर्य-चन्द्रादि को भी स्ववश करना चाहता है। भला! मन-इन्द्रिय जीतकर स्वरूपस्थिति करे तो नेता, अगुवा बनकर धर्म-प्रचार करके सारी चैतन्य, जड़-सृष्टि को स्ववश कौन करे ?

शिक्षा—बाह्य मान-भोग शरीर-ममता, सबको स्ववश, प्रेमी बनाने की इच्छा-तृष्णा त्याग कर और मन-इन्द्रियों को स्ववश कर स्वरूप-स्थिति करनी चाहिये। जो अपना पूर्ण सुधार कर लेगा उसी द्वारा अन्य का सुधार होना भी निश्चित है। यह बड़ों का मत है यथा—"मूल दया जो आप सवाँरे। सवँरे और जीव को तारे॥" अतः सावधान!

कवित्त—

कहब सुनब माहिं पर उपदेश माहिं,
बहु परचार माहिं कुशल लखात जू।
सूर्य-चन्द्र रात-दिन स्ववश करन चाहे,
पंच विषय ठाट जग स्ववश चहात जू॥
स्ववश स्वतंत्र सुख मन के निरोध किए,

देह मन जीत कर इन्द्रिन बँधात जू।
ताहि को न करे मन मूढ़ चित लायकर,
मन देह सुख हित विष में धँसात जू॥ १॥

पद

बिना सद्आचरण धारे, न कथनी काम आती हैं।
ये तन मन इन्द्रियाँ चंचल, सदा नर को नचाती हैं॥ टेक॥
स्ववश तन मन वचन करना, नहीं कुछ साग मूली है।
अधमता आपने मन की, सदा भव में पचाती हैं॥ १॥
स्वभाविक दूसरे के दोष को, मन देखता निशिदिन।
हजारों भूल जो अपनी, नहीं वे दृष्टि आती हैं॥ २॥
बड़ा बनना गुरू बनना, सरल विद्वान् भी बनना।
मगर मन की कुचालें जो, न जल्दी जीत जाती हैं॥ ३॥
बिना निश्चय लगन उत्साह, श्रद्धा भाव के आये।
ये साधन हीन साधक को, विषय भव में गिराती हैं॥ ४॥
यदी सुख चाहते अविचल, तो निज तन मन वचन वश कर।
लखे अभिलाष निज दुर्गुण, तभी मन शान्ति आती है॥ ५॥

चहै जो निज कल्यान, तन मन वच सब दोष तजि।
करै सदा गुण गान, भक्ति विवेक विराग गहि॥४०॥

टीका :—यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, तो शरीर के—चोरी, हिंसा, व्यभिचार; मन के—ईर्ष्या, क्रोध, मान, छल; तथा वचन के गाली, निंदा, झूठ, इन सर्व दोषों को शीघ्र काल रूप जानकर त्याग करे; और भक्ति, विवेक, वैराग्य धारण कर सर्वदा सद्गुणगान एवं सद्विचार, अविनाशी स्वरूप का मनन चिंतन करता रहे॥ ४०॥

दृष्टांत—एक विवेकी संत से एक मनुष्य आकर बोला—हे संत भगवन्! घर-गृहस्थी में रह कर मनुष्य अपना उद्धार कैसे करे? संत बोले—(१) मद्य, मांस, अनेकों दुर्व्यसन और ऊपर कहे हुए दुर्गुणों

का त्याग करे, (२) सत्संग सद्ग्रन्थ में मन लगावे, (३) माता-पिता बड़े-बूढ़ों की सेवा, साधु-गुरु की आज्ञा का पालन कर सदाचारी, नम्र, इन्द्रिय-मन का संयमी रहे, (४) किसी से झगड़ा न करे, (५) सबके घात को सहकर निर्मानी निर्विवादी रहे, (६) संसार-शरीर को नाशवान् जानकर ममता-मोह स्वार्थपरता की कमी करे, (७) दीन-दुखियों की यथाशक्ति सहायता धर्म-परमार्थ करते हुए परलोक कमावे। आगे और स्पष्ट रूप से सुनो—

पद

जो शुभग नेत्र तुम पाये हो, उससे ऐसा वर्ताव करो।
आसक्त रूप नर नारी का, यकदम दिल से आभाव करो॥
नाटक चाटक अरु नाचरंग, वो फिल्म सिनेमा मत देखो।
निज घातक जान उसे त्यागो, निशिवासर गुण अवगुण लेखो॥
उन नेत्रों से वैराग्यवान् श्री सद्गुरु का दर्शन करना।
सद्ग्रन्थों का अवलोकन कर, यहि भाँति काज निज का सरना॥
जो शब्द रसीले विषय भरे, वे शब्द तुम्हारे घातक हैं।
भरमिक वाणी गुरुवाओं के, आग्राह्य बन्ध के दातक हैं॥

दोहा— भरमिक वाणी त्यागि के, गुरु वाणी मन लाव।
संतों के उपदेश में, बाढ़े नित नित चाव॥
कुसंग त्याग हो भले विधि, हो सुसंग पर ध्यान।
रसिक तान अरु गान पर, कबहुँ करे नहिं कान॥
ठाट बाट सब छोड़ि के, हो सादगी स्वभाव।
देह मान को नाशि के, शांति हिये में पाव॥
जीभ स्वाद हित मूढ़ नर, हिंसा घात करोड़।
करत रहत बे पीर हो, मानव रहनी छोड़॥

आदत में पड़ हैरान रहे, बेकार अधिक धन व्यय होवे।
आशा तृष्णा में जले सदा, कष्टों में पड़ कर नित रोवे॥
जिन कर्मों से चौरासी हो, सब लोग उसी को करते हैं।
आदत कुसंग में पड़ करके, अज्ञान वशी नित जरते हैं॥

गाँजा अफीम वो भाँग चरस, चण्डू ताड़ी मदिरा बीड़ी ।
खानी पेनी सुँघनी में पड़, मरता है नर बन कर टीड़ी ॥
ये आदत मात्र हैरानी है, गंदा स्वभाव निज करना है ।
पैसा बेकार फेंकना है, दोहरा सिगरेट चबाना है ॥
जो मांस अपावन मलिन महा, जिसको पशु भी नहिं खाते हैं ।
थू है मानव जिनगानी पर, जीते जी नर्क चबाते हैं ॥

दोहा—है मनुष्य के वास्ते, खाद्य पदार्थ अनन्त ।
शुद्ध अंकूरज ग्रहण हित, उपदेशत हैं संत ॥
षट् पशु धर्म सुधारि के, नर रहस्य अपनाय ।
परिहरि दुर्गुण दुर्व्यसन, शुद्ध वचन मन काय ॥
मिथ्या व्यय होना छुटे, लतहत हो स्वच्छन्द ।
करि भक्ती गुरु संत को, पुनः परै नहिं फन्द ॥

संतों में प्रेम दिनोदिन हो, बढ़ता जावे उत्कंठ नवल ।
सब राग द्वेष कल्पना छुटे, सुख शांती हो नित ध्येय अमल ॥
इन शुभ कर से धन को व्यय कर, गुरु संतों की सेवा ठाने ।
प्रिय कुटुम विषय भोगादिक से, शुभ कर्म धर्म ज्यादा जाने ॥
क्योंकि ये सब छुटने वाले, पल भर में सब छुट जाएँगे ।
जो दान धर्म तुम कर लोगे, वे ही करतल गत आएँगे ॥
जिस धन से स्वारथ परमारथ, के काम बहुत बन सकते हैं ।
उस धन को भोले भाई सब, बेकार जगह व्यय करते हैं ॥
संतों का सत्संगत तज कर, बस यही कुफल ही होएगा ।
जो जहर आग को खाएगा, अंतिम विह्वल हो रोएगा ॥
यह तेरे लिए हि कहता हूँ, मानो या ना मानो भाई ।
जैसी करनी फल पाओगे, शुभ का सुख अशुभ क दुखदाई ॥
याते जब औसर मिला आज, तब जल्दी से पुरुषार्थ डटो ।
सद्गुण सत्संगत धारण कर, दुर्व्यसन कुसंग से वेगि हटो ॥
अपने से ज्यादे बने नहीं, तो धर्म पंथ में लगे रहो ।
गृह धर्म साथ में लिए हुए, सत्संग भक्ति में पगे रहो ॥

इस भाँति पुनः मानव तन पा, सुख होय और भक्ती होगी।
संतत प्रयत्न में लगने से, होकर विराग मुक्ती होगी॥
यदि तीव्र इच्छा हो मुक्ती की, तो जगत् हलाहल सम देखो।
परिणामी लखि सुख भोगों को, जग से उपराम हो मन जीतो॥
सुख भोग रोग दुखमय समझो, अपना मन गुरु पद में जोड़ो।
तज कर के सकल विभव सुख को, जग से अपना रिस्ता तोड़ो॥

दोहा—यहि प्रकार उपदेश सुनि, जिज्ञासू हर्षाय।
प्रेम पुनीत प्रफुल्ल तन, करत बन्दना गाय॥

पद

श्री सद्गुरू के पद कमल में, दास का नित प्रेम हो।
सत्संग कथा साधन सुसंयम, आदि में दृढ़ नेम हो॥ टेक॥
हिंसा कपट व्यभिचार कामादिक मनोमय सैन्य जो।
गुरु ज्ञान सर से भेद कर, गुरु भक्ति में नितक्षेम हो॥ १॥
जग से विमुखता हो भले, अन्तरमुखी हम नित बनें।
जग के विभव को त्याग कर, गुरु ज्ञान धन का लेन हो॥ २॥
अज्ञान वश भटकूँ फिरूँ, जग को मैं अपना मान कर।
निज पद की ममता हो हमें, औरो न कोई ध्येन हो॥ ३॥
अभिलाष अब फिर से नहीं, चंचल सुखों में भाव हो।
स्थीर निज पद में रहूँ, बस शांति सय्या सेन हो॥ ४॥

काम क्रोध मद लोभ, करैं सदा घनघोर उर।
राखि प्रेम गुरु चोभ, शरणागत पारख प्रभू॥४१॥

टीका:—काम, क्रोध, लोभ, अहंकारादि मानसिक शत्रु हृदय में सर्वदा घनघोर युद्ध मचाये रहते हैं। अतः इन मानसिक शत्रुओं को मिटाने के लिये पारख प्रभु सद्गुरुदेव की शरण ग्रहण करनी चाहिये; और उनके चरणों में प्रेम रख कर सत् साधन-द्वारा हृदय-स्थित सर्व दुर्गुणों को मिटा डालना चाहिये॥४१॥

सत् सिद्धान्त अरूढ़, सद्चिद् ज्ञान स्वरूप निज।
काटि वासना गूढ़, गहै अटल गुरुबोध यह॥४२॥

टीका:— अपना स्वरूप सत्, चैतन्य तथा ज्ञानमय है। इस अविचल

गुरुबोध को ग्रहण करके तथा सत्य सिद्धान्त—स्वरूपबोध में स्थित होकर हृदय-स्थित समस्त वासनाओं को मिटाना चाहिये ॥ ४२ ॥

व्याख्या :—जो शरीर चाम का थैला है, जिसमें बड़ी-बड़ी हड्डियाँ भरी हैं, जो मांस और रक्त का भण्डार है, जो मल-मूत्रों का एक मात्र कारखाना है, अर्थात् इस शरीर से ही मल-मूत्र बन कर नित्य निकलते रहते हैं, जिसमें थूक, खखार, पीब, वीर्य भरे वजबजाते हैं, और नौ इन्द्रियाँ—दो आँख, दो कान, दो नाक, तथा मुख, गुदा और मूत्रद्वार रूपी नालियों से सदा नरक बहा करता है, जो शरीर नाना रोग, शोक, काम, क्रोधादि, त्रयताप, निर्वाह, शीत-धूप, सर्प, बिच्छू, सिंह, चींटी, मच्छड़, अनेक प्राणी-पदार्थों की प्रतिकूलताओं से घिरा हुआ जीव को रक्त के आँसू से रुला रहा है, जो स्वप्नवत् क्षणभंगुर दुःखपूर्ण है, ऐसे अपने-पराये नर-नारियों के अपावन शरीरों में सुख मान कर नाना विषय चेष्टा में आसक्त रहना यही गूढ़ वासना का स्वरूप है।

यह शरीर नरक और अग्नि का कुण्ड है, और सर्व प्राणी इसमें पड़े जल रहे हैं। फिर भी प्राणी देहाभिमान नहीं छोड़ते। जब तक कौमार-यौवन अवस्था तथा स्वास्थ्य ठीक रहता है, तब तक मदांध मनुष्य समझता है अब हम कभी दुखी नहीं होंगे, और अमर होकर रहेंगे किन्तु एक दिन ऐसा आता है कि सारा मान-अभिमान चूर्ण हो जाता है, और असह दुःख सह-सह पृथ्वी में नाक रगड़-रगड़ कर प्राण छोड़ता है। ऐसे विजाति, चंचल, जड़सृष्टि पर अभिमान करना कितनी मूर्खता है ! अतएव देह की अहंता-ममता त्यागनी चाहिये, और बाह्य मन की दौड़, विषयचेष्टा को निर्मूल कर अपने अविनाशी नित्य सत्य स्वरूप में शान्त होना चाहिये।

साखी

मुख्य काज यह जीव का, त्याग करै जग राग।
निज स्वरूप में शांत है, छोड़ि सकल मन दाग ॥४३॥

टीका :— जीव का मुख्य कार्य अपने चैतन्य स्वरूप के अतिरिक्त समस्त जगत् का मोह त्यागना ही है। अतः सम्पूर्ण मानसिक विकार काम, क्रोध, लोभ, हिंसादि एवं सूक्ष्म जड़ासक्ति मन-संकल्प दृश्यों को त्याग कर अविनाशी स्वस्वरूप में शान्त होना चाहिये ॥ ४३ ॥

हाड़ मांस मल मूत्र तन, कफ पित भरा अपार।
तापर करे गुमान अति, कैसे होय उबार ॥४४॥

टीका :— जो शरीर हाड़, मांस, मल, मूत्र, कफ, पित आदि अनेक विकारों से पूर्ण है, जो मुर्दा रूप घृणायुक्त है; जिसमें रात-दिन कठिन रोवाई आ रही है; जो विपत्ति का भण्डार और शोक का कोष है, उस शरीर पर अज्ञानी मनुष्य बहुत अभिमान करता है; ऐंठ-ऐंठ कर चलता है, चर्ममय स्थूल का नाना बनाव-चिकनाव मनअनुमोदित शृङ्गार करता है। अहो ! कितने शोक की बात है। भला ! ऐसे जीवों का जन्म-मरण से कैसे उद्धार हो सकता है। जो चामके कीड़े बने हैं वे चाम से कब मुक्त होंगे। अर्थात् देहाभिमानी मनुष्य की कभी शान्ति-स्थिति नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥

क्षण भंगुर सब जानि के, करि वैराग्य अटूट।
संत गुरू आधार लै, जाय सकल दुख छूट ॥४५॥

टीका :— अतएव सारी माया नाशवान् समझ कर, सबसे अखण्ड वैराग्य करो, और विवेकवान सद्गुरु-सन्तों का आश्रय ग्रहण करके स्वरूप ज्ञान में स्थित होओ, फिर सारे दुःखों से छुटकारा मिल जायगा ॥ ४५ ॥

व्याख्या :— सांसारिक भोग क्षण में लोप हो जाने वाले हैं, आज की सुन्दर नवयुवती, पुत्र-पुत्री, बड़े-बड़े राज्य, पद-प्रतिष्ठा, शासन, अमित धन स्वप्न एवं सिनेमा चित्रवत् पलक मारते-मारते नष्ट होते जा रहे हैं, या नष्ट हो जायेंगे; यह आज का तना हुआ देह का चाम एक दिन लटक जायेगा, कालदेव इस देह को आहार करने निमित्त मुख फाड़ कर समय देख रहा है, अर्थात् इस श्वास से उस श्वास तक में इसे खाना चाहता है; इस प्रकार सर्व भोग संसार-शरीरादि को क्षणभंगुर नाशवान् जानकर और विवेकी साधु-गुरु का आश्रय लेकर अटूट-अखण्ड-प्रबल

वैराग्य करना चाहिये। सर्व पिण्ड-ब्रह्माण्ड की आसक्ति अहंता-ममता त्याग कर स्वस्थ्य स्वरूप में शान्त होना चाहिये। जिससे सम्पूर्ण चिन्ता, कामना, आशा, तृष्णा, जन्म-मरण देहोपाधि कृत सर्व दुःख-द्वन्द्व सदा के लिये छूट जायँ और जीव स्वतंत्र, मुक्त हो जाय ॥ ४५ ॥

कुण्डलिया

पूरण सुख वैराग कर, केहि सो कहौं बुझाय।
वाणी में आवे नहीं, कहत नहीं कहि जाय ॥
कहत नहीं कहि जाय, आप ही जानत सोको।
तन मन जगत प्रपंच, ताहि को लागत फोको ॥
रात-दिवस आठो पहर, चढ़ा रहे वैराग।
सो सुख जाने ताहि को, जाके हृदया लाग ॥ १ ॥

राखि दृष्टि सोई सदा, दृढ़ ग्लानि उर माहिं।
मृतक चिता समान चित, करो दशा जिन काहिं ॥४६॥

टीका: — वही प्रबल वैराग्य की अखण्ड धुन, अखण्ड दोष दृष्टि और हृदय में जगत्-भोग नर-नारि देहों की ओर से दृढ़ ग्लानि एवं उपरामता रख कर मुमुक्षु को देहाध्यास शिथिल करना चाहिये। जगत्-वेष, किसी के विवाद में अपना अमूल्य अवसर नहीं नष्ट करना चाहिये, बहिरमुखवृत्ति से एकरस वैराग्य सुख जाता रहता है। संसार-शरीर प्राणी-पदार्थों का सम्बन्ध भ्रम स्वप्न समझकर उनकी ओर से ममता-मोह सर्वथा हटाते हुए अपने अविनाशी स्वरूप पर लक्ष्य देना चाहिये। जैसे लकड़ियों की चिता पर मुर्दा सहजिक स्थिर रहता है, वैसे अपने चित्त को सांसारिक भोगों एवं प्राणी-पदार्थों की ओर से मृतक अर्थात् आसक्तिरहित कर देना चाहिये। एक दिन मृत्यु निश्चित है, और मृत्यु पश्चात् हमारे साथ कुछ न जायेगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर अन्त में होने वाली अपनी मृतक दशा को प्रथम ही बना लो। पिण्ड, ब्रह्माण्ड, शरीरादि की इच्छा-आसक्ति-रहित निज पारख स्वरूप में निवास करो। सद्प्रयत्न-द्वारा मानसिक हानि-लाभ, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि जब अपने को न सतायें, बस यही मृतकचित्त या मृतसंस्कार तथा संसार से मरना है ॥ ४६ ॥

वैराग्य भावना !

यह शरीर हड्डी, मांस और चर्म-नसों से बना है, इसमें मल-मूल रक्त-पीवादि अशुचि पदार्थ भरे हैं, यह अत्यन्त दुर्गन्धमय है, अतः त्यागने योग्य है।

यह शरीर दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से सदैव तपता रहता है। इस शरीर ही द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल, स्तुति-निन्दा रूपी द्वन्द्व प्राप्त होते हैं। इस वासना-वासित शरीर में रहने से ही ताप रूपी भोगों में सुख बुद्धि होती है, अतएव यह शरीर दुःख रूप होने से भी त्यागने योग्य है।

यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार जड़ तत्त्वों से बना जड़-मुर्दा है। जीव के निकल जाने पर यह पत्थर वत् पृथ्वी पर पड़ा रहता है। अतः जड़ विजाति रूप होने से भी यह त्यागने योग्य है।

यह शरीर विद्युत्-प्रभा सम क्षण-भंगुर है। इन्द्र-धनुष के समान ही यह क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। पानी के बुद्बुदा के समान यह टिकाऊ नहीं है। इसका घड़ी-पल भी रहने का आशा-भरोसा नहीं, अतः क्षण-भंगुर होने से भी यह त्यागने योग्य है।

इसलिये चलते-फिरते या लेटे हुए या निर्विक्षेप स्थान में बैठ कर इस अपवित्र, दुःख रूप, जड़ तथा क्षण-भंगुर शरीर की आसक्ति से मुक्त होने के लिये साधक को इस प्रकार भावना करनी चाहिये—

मानो यह शरीर मुझ से पृथक हो गया है, इसे चील्ह-गीध और कुत्ते नोच-नोच कर खा रहे हैं। इस शरीर के एक-एक अङ्ग पृथक-पृथक हो गये हैं। वायु के चलने से यह पृथ्वी पर लुढ़क रहा है, अथवा इसको कीड़े-दीमक खा कर मिट्टी कर दिये हैं। अथवा यह शरीर सड़, गल गया है और अत्यन्त दुर्गन्धित रूप से दृश्य हो रहा है। इसमें कीड़े किलबिलाते हैं। अथवा यह शरीर सूख कर हड्डी-हड्डी हो गया है और कहीं वन या नदी के तट पर पड़ा है। अथवा यह शरीर जला दिया गया है, केवल राख की ढेरी ही दिखायी देती है। मुझ से इस संसार

से और शरीर से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। मैं केवल शुद्ध चैतन्य निर्विकार, निश्चल, निर्द्वन्द्व स्थित हूँ।

(जिन्हें निर्द्वन्द्व मुक्तिपद निरर्थक और संताप रूप संसार के भोग सुखमय प्रतीत होते हैं उनके लिये यह प्रसंग नहीं है। यह वैराग्यप्रिय, सूक्ष्मदर्शी मुमुक्षु के लिये है।) स्वरूप ज्ञान हो जाने पर देहाध्यास की सर्वथा निवृत्ति ही अमृतपद, शान्तिपद तथा मोक्षपद है। इस शरीर में रहते हुए विचार पूर्वक हृदय से जिन्होंने इस शरीर को सर्वथा त्याग दिया है, सर्वदा जिनका चित्त इस शरीर से ऊपर उठा हुआ है, उनके अमृत स्थिति का सुख अथाह है। अतः मुमुक्षु को सावधानी और दृढ़ प्रयत्न पूर्वक शरीराध्यास को शिथिल कर मुक्त होना चाहिये।

सोरठा

नारी धन सुत भाय, लोभी मोही कामि सम।
रहै चित्त दृढ़ लाय, अर्पण करि तन मन सभी ॥४७॥

टीका:— जैसे कामी नवयुवक को युवती स्त्री, लोभी को धन और मोही को पुत्र अति प्रिय लगते, एवं कामी, मोही, लोभी को स्त्री, पुत्र, धन ही जीवन-आधार प्राण-प्रिय हैं। इसी प्रकार सर्व देहोपाधि आवागमन के रोगों से मुक्त होने के लिये सम्पूर्ण सुख-भ्रम को त्याग कर मोक्ष-साधन के पुरुषार्थ में तन मन को तृण वत् न्योछावर कर दृढ़ चित्त से वैराग्य धारण में लीन होना चाहिये। क्योंकि यह प्रबल वैराग्य-अभ्यास ही सर्व दुःखों से मुक्त कर जीव को निर्भय अचल पद देने वाला है। अतः कामी, मोहियों के ही समान स्वरूपस्थिति तथा वैराग्यसाधना में प्रेम करना चाहिये ॥४७॥

जाप करै मन लाय, तैसे गुरु पद को यदी।
कण्टक सकल नशाय, गाजै निज पद में सदा ॥४८॥

टीका:—सद्गुरु की पूर्ण कृपादृष्टि के महान प्रताप से उपर्युक्त ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण संसार पंच विषय शरीरादि की ममता-मोह को भस्म करते हुए दृढ़ वैराग्य पूर्वक मोक्ष की विरह भावना संयुक्त गुरु पद—निज शुद्ध स्वरूप का मन लगा कर दृढ़ चित्त से यदि जाप, स्मरण, चिंतन करे,

एवं स्वरूपस्थिति के लिये अपने को सर्वथा अर्पण कर देवे, तो ऐसे अखण्ड साधन-अभ्यास में सम्पूर्ण आसक्ति-विघ्न रूप कांटे नष्ट हो जायँ और जीव सर्वदा के लिये अपने अविनाशी पद में निश्चित, निर्भय सुखी हो जाय ॥४८॥

चौपाई—

याते यह सिद्धांत विचारी। करै अटूट विराग सम्हारी ॥
मन में कबहुं न लावे माना। सदा एकरस रूप पिछाना ॥
निरय समूह जानि यह देहा। तजि सब भोग सँहारै नेहा ॥
अंतिम काज जानि कर एहा। गहि परमारथ तजि जग नेहा ॥
रात दिवस यहि में रहै भीने। यहि ते अपर काज नहिं चीन्हें ॥
यही विराग केर सहिदानी। बड़े भाग्य से पावहिं प्रानी ॥

दोहा—जड़ संसृति दुख शूल मय, क्षण भंगुर संसार।
कठिन रोग आवागमन, हा! हा!! क्लेश अपार ॥ १ ॥
तृण सम जग सुख त्यागि के, सब आशा से हीन।
जीवन्मुक्ती अभय सुख, मैं होइहौं कब लीन ॥ २ ॥
अस विचार अनुराग में, तत्पर ह्वै दिन रैन।
तोड़ि राग बन्धन विषय, लहै मुक्ति सुख चैन ॥ ३ ॥

चेतावनी—पद

मत मान करो मत शान करो, ये जीवन दो दिन की माया।
मत यौवन का अभिमान करो, जल बुन्द ढले तेरी काया ॥ टेक ॥
यह जीवन है सपना जैसा, यह जीवन पानी का फेना।
यह जीवन है कण ओस क्षणिक, यह जीवन जिमि तरु की छाया ॥ १ ॥
घर पुत्र कुटुम सुख सम्पत्ती, जो मान रहे अपना अपना।
ये भी सपना कर गौर जरा, क्या ले जाये क्या है लाया ॥ २ ॥
यह चाँद उगा है उजियाली, अँधियारी आये दो दिन में।
यह नीत अनादी इस जग की, वह जावेगा जो है आया ॥ ३ ॥
संसार है स्वारथ का साथी, दुख आन पड़े नहिं कोई है।
किसकी ममता में तू भूला, फूला फूला फिरता धाया ॥ ४ ॥
निःसार विनाशी कष्ट भरे, इस जग में है इक सार भजन।
अभिलाष तजो अभिमान सभी, करलो जो करने है आया ॥ ५ ॥

प्रसंग—३—जड़-चेतन के अनादि सम्बन्ध से भूल,
तथा गुरुबोध से निवृत्ति वर्णन।

साखी

षट विकार कण्टक अहैं, पार जीव सो आप।
सुखमानन्दी आशवस, सहत त्रिविधि संताप ॥४६॥

टीका:— छे विकार अर्थात् रोग—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद; वैसे ही उपजना, बढ़ना, बाल्य, युवा, वृद्ध, मृत्यु ये शूल रूप जीव को अत्यन्त दुःखदायी हैं। यद्यपि इन विकारों से जीव का शुद्ध स्वरूप सर्वदा भिन्न अपने आप निर्विकार है, तथापि पाँचों विषयों में सुख मानना और भोगों के आशा-वश उपर्युक्त विकारों में पड़कर यह रमैयाराम चेतन दैहिक, दैविक, भौतिक इन त्रिविध तापों को सदा सहता रहता है॥ ४९ ॥

काम क्रोध भय लोभ है, मोह सकल दुख मूल।
जीव विवश है ताहि के, दुर्मति अति लहि शूल ॥५०॥
अहंकार छोड़ै नहीं, भोग क्रिया सुख मान।
बिन जाने निज हानि को, खानि बानि अरुझान ॥५१॥

टीका:— काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय ये ही आवागमन त्रिविध दुःखों के मूल-कारण हैं, और जीव अपनी भूल-वश इन्हीं दुर्गुणों के वशीभूत रहता है : अतएव अनेकों दुर्बुद्धि ग्रहण कर जन्म-मरण देहोपाधिकृत अत्यन्त संताप भोगता रहता है॥ ५० ॥ पंच विषय भोग-क्रिया को सुख रूप मानकर जीव देहाभिमान कदापि छोड़ता नहीं। भूत, प्रेत, देवी-देवादि, अनुमित कल्पना मात्र हैं, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, सम्पत्ति, शरीर नाशवान् क्षणभंगुर दोष-उत्पादक हैं; इनकी आसक्ति, ममता, अहंकार से हमें नित्य आवागमन चक्कर में घूम-घूमकर त्रिविध ताप, देहोपाधिकृत अनन्त कष्ट भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार जगदानन्द-विषयानन्द देहाभिमान में अपनी हानि न जानकर यह मनुष्य जीव खानी-वाणी जाल में बँधता रहता है। दोहा—नारि पूत गृह द्रव्य तन, खानी कहिये सोय। नाना कर्ता कल्पना, वाणी जाल लखोय॥ ५१ ॥

लावनी

अनादि कालसे भूला चेतन, जड़ में प्रीति टिकाया है।
गुरू कृपा बिन जानि न पावै, ताते जग भरमाया है॥
सन्मुख गोचरदेखि परै जो, पंच विषय जड़ माया है।
जड़तत्वन से विकसित सबहीं, तामें जीव भुलाया है॥५२

टीका—विवेक करने से ज्ञात होता है, कि यह रमैया राम अविनाशी चैतन्य जीव अपने शुद्ध निर्विकार अखण्ड स्वरूप को अनादि काल से भूल-कर जड़ देह-गेह स्त्री-पुत्रादि पंच विषयों में आसक्ति बनाते आया है। पारखी सद्गुरु की पूर्ण कृपा दृष्टि प्राप्त किये बिना यह रहस्य सब के जानने में नहीं आता। इसी से जगत् जीव स्त्री-पुत्र-शरीरादि नाशवान् पदार्थों की आसक्ति-वश सत्संग, विचार, शान्ति, मोक्ष से वंचित हो संसार चक्कर में भ्रमते रहते हैं। पंच ज्ञान-इन्द्रियों के सम्मुख गोचर-पंच-विषय जड़ पदार्थ जो देखने में आते हैं, सब माया-मय, क्षण भंगुर, स्वप्नवत् छूटने वाले हैं; एवं सर्व दृश्य प्रपंच चार जड़ तत्त्वों से फैले हुए नाशवान हैं और जीव के अविनाशी स्वरूप से बहुत दूर हैं; किन्तु अज्ञान-आवरण-वश निःसार पंच विषयों में सुख की कल्पना करके और उनमें ललच-ललच कर अपने शुद्ध स्वरूप को जीव भूल रहा है॥ ५२॥

शब्द रूप रस गंध जो कहिए, सपरश त्वचा से जाना है।
श्रोत्र नेत्र जिभ्या अरु नाशा, इन द्वारे सुख माना है॥
जिनकी आदत जेहिमा जैसी, क्रिया तहाँ तस ठाना है।
सोई रूप जिव मानि आपनो, सुख इच्छा दुख ताना है।५३

टीका:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच विषय कहे जाते हैं, इनको घटधारी जनैया जीव पंच ज्ञान इन्द्रिय कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नाक द्वारा जानते हैं और बारम्बार सुख मान-मान कर भोगते रहते हैं। यद्यपि पाँचों विषय की आसक्ति प्रत्येक घटधारी को है तथापि जिनकी आसक्ति जिन विषयों में विशेष है, वे उनके लिये विशेष परिश्रम करके उन भोगों

की प्राप्ति के लिये लवलीन रहते हैं। उसी अभ्यासिक भोग-विषय एवं जड़-शरीर को अपना स्वरूप मानकर काल्पनिक विषय सुख इच्छा-वश चिन्ता-शोक, काम-क्रोधादि, जन्म-मरण के अनेक दुःखों से कष्ट पाते रहते हैं ॥५३॥

निजहिं मूल सम्बन्ध अनेकन, चाह सकल निर्माई है।
चाह सोई खुद जिव भरमावे, निजको याद न आई है॥
गुरु पद पारख छोड़ि भूमिका, खानि वानि अरुझाई है।
अजहूँ चेत ख्याल करु प्यारे, निज स्वरूप अपनाई है ॥५४

टीका:—मनुष्य अपने वस्तविक स्वरूप को भूलकर देह, गेह, परिवार, धनादि की अनेक ममता बना लिया है और विषयों की सारी इच्छायें रच ली हैं। वे विषय-इच्छायें ही स्वतः जीव को भ्रमाती हैं, जिससे उसे अपने आप का स्मरण नहीं होता। विषय - इच्छाओं में पड़ा मानव अपने स्वरूप - ज्ञान की स्थिति को छोड़कर मोटी - झीनी माया में फँसा है। ऐ प्यारे मानव ! आज भी चेतो। सावधान होओ ! और स्वस्वरूप ज्ञान में स्थित होओ ॥ ५४ ॥

व्याख्या:—संसार का सम्बन्ध स्वप्नवत् है। जीव का यहाँ कोई नहीं है और न उसे यहाँ सदैव रहना है। सारे वैभव नाशवान हैं। अतएव दृश्य संसार-शरीर का अभिमान त्याग कर अपने अजर-अमर स्वरूप में स्थित करो।

मन माने दुख सुख हैं सबहीं, मनहिं हेतु सब गाई है।
जहँ जहँ मनका मानव देखो, मिलन वियोग दिखाई है॥
तहँ तहँ तैसे दुःख सुख जानों, तन अध्यासजमाई है।
ताहि विवश नाचत जिवसबहीं, और न कोईदुखाई है ॥५५

टीका:— मन की मान्यता से ही संसार के सारे दुःख-सुख द्वन्द्व जीव को सताते हैं। समस्त आप्तपुरुष तथा सत्शास्त्र यही कहते हैं कि मन ही बन्ध-मोक्ष का कारण है। देखो जिन-जिन वस्तु-प्राणियों में मन-द्वारा राग

या द्वेष माना जाता है, उन्हीं के मिलन-वियोग में सुख-दुःख का अनुभव होता है। अर्थात् रागयुत प्राणी-पदार्थों के मिलन और द्वेषयुत प्राणी-पदार्थों के वियोग में सुख की अनुभूति तथा रागयुत प्राणी-पदार्थों के वियोग और द्वेषयुत प्राणी-पदार्थों के संयोग में दुःख की अनुभूति होती है। इस प्रकार राग-द्वेष की मान्यता के अनुसार दुःख-सुख का अनुभव जानना चाहिये। जीव मान-मान कर शरीर की आसक्ति दृढ़ करता है। इस देहाभिमान तथा विषयासक्ति के वश ही जीव जगत्-नगर में नाचता है, और इसको कोई दूसरा दुख देने वाला नहीं है ॥ ५५ ॥

व्याख्या:— कोई ईश्वर-परमात्मा या दुरत्यया अनिर्वचनीया माया जीव को दुःख देती हो, ऐसी बात नहीं। जीव अपने मन से ही दुःख और सुख बनाता है इसीलिये कहा है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।

अर्थात् :—मनुष्य के बन्ध-मोक्ष का कारण मन ही है। विषयी मन बन्धन करता है और निर्विषयी मन मुक्ति।

There is nothing either good or bad but thinking makes it so.
(Shakespear)

अर्थात् :— न कुछ अच्छा है न बुरा (न सुख है न दुःख), परन्तु सोचना ही उसे बनाता है, (मेरी मान्यता ही सुख-दुःख का कारण बनती है।

ममता, मानन्दी से दुःख-सुख होते हैं

दृष्टांत :—एक मनुष्य अपनी स्त्री और छे महीने की आयु वाले पुत्र को घर पर छोड़ कर किसी दूर देश में पैसा कमाने गया। कुछ कारण-वश वह मनुष्य परदेश में १०-१२ वर्ष रह गया, घर पर पुत्र भी बढ़कर १०-१२ वर्ष का हो गया। एक दिन पुत्र ने माता से पूछा—माता जी ! हमारे हृदय में पिता जी के दर्शन करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है। अतः पिता जी का नाम और पूरा पता बतला दीजिये और मार्ग का खर्चा दे दीजिये, मैं पिता के दर्शन करने चला जाऊँ।

माता के बहुत रोकने पर भी जब पुत्र नहीं माना, तब माता ने पुत्र के पिता का नाम और पता बतलाकर और कुछ पैसा देकर कहा कि जाओ दर्शन कर आओ। पुत्र चला और रेलगाड़ी-द्वारा एक दिन एक रात बिता कर एक बड़े शहर के जंक्शन-स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ गाड़ी की बदली होती थी। अधिक ठंडी का महीना और १० बजे रात्रि का समय था। गाड़ी आठ बजे दिन में मिलने वाली थी। अतः चलें रात्रि भर धर्मशाला में रह जायँ। ऐसा विचार कर लड़का धर्मशाला में गया और एक कोठरी में आसन बिछा कर विश्रांति करने लगा। संयोग वश उस लड़के का पिता भी "कई वर्ष घर से आये हो गये, अतः अब चलें घर बाल-बच्चों का समाचार लें" ऐसा विचार कर रेलगाड़ी द्वारा चला और उसी जंक्शन-स्टेशन पर आ पहुँचा। रात्रि और ठंडी होने से उसे भी विश्रांति करने की आवश्यकता थी, अतः वह भी संयोगवश उसी धर्मशाला के उसी कोठरी में आ गया जहाँ कि उसका पुत्र सो रहा था। वह बेधड़क जाकर उस लड़के का हाथ पकड़ कर कोठरी से बाहर प्लेटफार्म पर कर दिया और स्वयं उस कोठरी में आसन जमा दिया। लड़के के बहुत विनय करने और रोने-कलपने पर भी उसे कोठरी में नहीं रहने दिया। लड़का बेचारा करता ही क्या? और कहीं स्थान न पाने से प्लेट फार्म की कठिन ठंडी को रात्रि भर किसी प्रकार भोग कर प्रातःकाल किया। प्रातःकाल उसका पिता कोठरी से निकल कर प्लेटफार्म पर आया और लड़के के नाम, ग्राम तथा कहाँ से आये हो कहाँ जाओगे, इत्यादि बातें पूछी। लड़के ने जब अपना पूरा समाचार कह सुनाया तब "यह तो मेरा ही इकलौता पुत्र है" ऐसा जान पुत्र को हृदय से लगा कर जोर-जोर से रोने लगा और अपनी भूल पर बहुत पश्चाताप किया।

देखिये! जब तक अपना पुत्र नहीं माना था तब तक उसके सुख-दुःख में पिता को कोई सुख-दुःख नहीं हुआ; और "यह मेरा ही पुत्र है" ऐसा मानते ही उसके सुख-दुःख में अपने को सुख-दुःख होने लगे। और भी, जैसे

गाँजा, भाँग, तम्बाकू आदि में सुख मान-मानकर जब भोगों की आदत बना ली जाती है तब उसकी प्राप्ति में सुख और अप्राप्ति में दुःख अपने को हुआ करता है; और जब उसे निष्प्रयोजन समझकर त्याग दिया जाता है और कुछ काल में उसकी वासना, सुख-मानन्दी बिलकुल नष्ट हो जाती है; तब उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में अपने को कोई सुख-दुःख नहीं होता है। गाँजा आदि से प्राणी मुक्त हो जाता है। सारांश यह कि अपने अविनाशी शुद्ध स्वरूप से संसार का कोई सत्य सम्बंध नहीं है, केवल अपना ज्ञान स्वरूप जैसा निःसंग, अखण्ड, नित्यतृप्त है, वैसा न जानकर संसार की अहता-ममता-वश ही जीव को जन्म-मरण में भ्रमना पड़ता है। अतएव जरा-व्याधि से मुक्त होकर सदा हित स्वतंत्र होने के लिये सद्गुरु पारखी द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त करके विषयासक्ति, कल्पना, कर्त्तावाद, स्त्री, पुत्र, गृह, सम्पत्ति का मोह, देहाभिमान, अष्ट मैथुन, हिंसा, पंच विषयों में सुख मानना, ऐश्वर्य मान-बड़ाई एवं सम्पूर्ण भासमान अपन-परार की मोह मानन्दी मिटा कर भक्ति, बोध, वैराग्य, शान्ति, धैर्य, संतोषादिक सर्व हंस रहनी, सद्गुणों के संयुक्त स्वस्वरूप के दृढ़ अभ्यास द्वारा किसी दिन सर्व वासना-अध्यास, अहंता-ममता और पंच विषय सुख मानना रूपी भ्रम बिलकुल नष्ट हो जाते हैं; और जीव चारों ओर से निःगर्ज, निश्चेष्ट, संतुष्ट, स्थिर, शान्त हो जाता है। मिथ्या काल्पनिक मानन्दी कृत राग-द्वेष, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, मान-अपमान, सुख-दुःख मिट जाते हैं। जैसे स्वप्न से जागृत होने पर स्वप्न के हर्ष-शोक, सुख-दुःख नहीं सताते, ठीक इसी प्रकार बोधनिष्ठ पुरुष मानन्दी मोह रूपी स्वप्न से जागकर मानन्दी कृत सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं। देह-ब्रह्म, पिण्ड-ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण इच्छा, वासना, मानन्दी, सुखाकर्षण रूपी महा भवसागर से पार हुए विवेकी जन प्रारब्धांत (शरीर छूटने पर) पश्चात् आवागमन रहित सदा सर्वदा के लिये विदेह मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न :— जिनको आप बोधवान-जीवन्मुक्त कहते हैं उन्हें भी तो

शारीरिक व्याधि तथा दुःख-सुख होते हैं और उन्हें भी भूख-प्यास लगती है, वे भी अन्न-जल खाते-पीते और कपड़ा पहनते हैं इत्यादि, फिर क्या मुक्त ?

उत्तर :— एक मनुष्य मार्ग में पड़ी हुई रस्सी को सर्प जान कर भागा और एक खन्धक में गिर पड़ा उसे चोट लग गयी। पुनः प्रकाश लेकर देखा गया तो सर्प नहीं वह रस्सी है, इस प्रकार भ्रम मिट जाने पर भी जो खन्धक में गिर कर चोट लग गयी है, वह कहीं एक महीना में अच्छी होती है, भ्रम तुरंत मिट गया और चोट एक महीना में अच्छी हुई सो क्यों ? इसी प्रकार भ्रम रूप जड़ भास में जीव दौड़कर (सकाम पुरुषार्थ-द्वारा) प्रारब्ध रूप चोट लगा लिया है। अब गुरु पारख-द्वारा जड़भास मनोमय मिथ्या जानकर त्याग देने पर भी पूर्व चोट रूप प्रारब्ध देह के सुख-दुःख भोगने ही पड़ते हैं। क्षण मात्र रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाने से एक महीना विवश कष्ट भोगना पड़ा, तब यह देह तो अनादि-अज्ञान-रचित है। अतएव प्रारब्ध भोग-भोगना ही पड़ेगा। और जब तक देह है तब तक अन्न, जल, वस्त्रादि निर्वाहिक वस्तुओं को आसक्ति-रहित ग्रहण करना ही पड़ेगा। जब अन्न-जल, खा-पीकर और वस्त्र पहन कर अज्ञानी जीव जन्म-मरण में भ्रमने के कर्म बना लेते हैं, अन्न-जलादि उनके अज्ञान में कोई बाधक नहीं होते, तब बोधवान् मुख्य देह निर्वाह की वस्तुओं को ग्रहण कर क्यों न मुक्त होने का पुरुषार्थ कर लेंगे। बाधक के अतिरिक्त अन्न-जलादि देह निर्वाहिक होने से मोक्ष-साधन में सहायक ही होते हैं। कहा भी है—

चौपाई

"बिना अशन प्रारब्ध न भोगा। तेहि हित भोज वारि को योगा ॥
नहिं तो विवेकी ग्रहण न करहीं। हेतु कौन परवृत्ति में परहीं ॥
कर पुरुषार्थ मोक्षके कामा। तेहि हित भोज वारि को सामा ॥

(भवयान)

प्रश्न :— यह बात तो समझ गये, किन्तु जीवन्मुक्त सिद्ध महात्मा

वे ही हैं जिनके आशीर्वाद-शाप फुरें, और कुछ-का-कुछ चमत्कार दिखला दें, और संसार की सर्व बातों को जान जायँ।

उत्तर:— आशीर्वाद-शाप कुछ-का-कुछ चमत्कार एवं नाटक दिखलाना पाखण्डियों का खेल है। जो अपने काया, मन, इच्छाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर अविनाशी स्वरूप में स्थिर हो गये, ऐसे परम विवेकी पुरुष किसी को शाप-आशीर्वाद नहीं दिया करते। हाँ! उनका आशीर्वाद रूप ज्ञान-भक्ति सत्योपदेश है ही। और जीवन्मुक्त संत संसार की सर्व बातों को जान जायँ, यह भी कोई हेतु तथा प्रयोजन नहीं। जो हीरा-मोती आदि का जवाहिरी है, उसे किसी साग की पहचान न हो तो कोई हानि नहीं, तद्वत्। अस्तु! मिथ्या भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। चुपचाप अपने कल्याण पर ध्यान देना चाहिये, और सांसारिक दुःखों से मुक्त होना चाहिये।

सन्मुख जो जो फुरना आवे, तामें मन मिलि जाई है।
राग प्रवाह चले निशिवासर, परबल द्वेष बढ़ाई है॥
काम क्रोध भय लोभ मोह में, झगड़ा विविध मचाई है।
जड़ प्रियता अज्ञान यही है, ज्ञान बिना नहिं जाई है॥५६

टीका:— जीव के लक्ष्य के सम्मुख जो-जो स्मरण आते हैं, उन-उन स्मरणों में वह सुख मान कर अपनी वृत्ति रूपी सत्ता दे देता है, अर्थात् उसमें अपने मन को मिला देता है। इसी से शरीरादि पंच विषयों में राग मानना रूपी प्रवाह धारा जीव के सामने रात-दिन जागृत अवस्था में चला करती है। राग से कामना और कामना-भंग में द्वेष की भी प्रबल रूप से वृद्धि हो जाती है; एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय के वशीभूत हुआ प्राणी अनेक झगड़े-रगड़े में पड़ कर मनोमय-क्रांति मचा देता है। स्वप्नवत् नाशवान् असार जड़ पंच विषय शरीरादि में आसक्ति होना ही महान अज्ञान का लक्षण है। बिना पूर्ण स्वरूप ज्ञान के एवं देह और जीव के पूर्ण

भिन्न विवेक बिना यह अज्ञान रूप पंच विषयासक्ति तथा शरीराभिमान मिट नहीं सकते ॥ ५६ ॥

दोष दृष्टि जब लखै निरन्तर, करि अभ्यास बनाई है।
भास अध्यास अनुमान कल्पना, भिन्नसकल परखाई है॥
जीव जमा यक साँच यथारथ, सो टकसार लखाई है।
करि सत्संग मोह तम त्यागो, जड़ासक्ति नशिजाई है॥५७

टीकाः— जब वैराग्य अभ्यास पूर्वक पाँचों विषयों के प्रति एकरस दोषदृष्टि बन जाय, विषयों को दोषदृष्टि से ही देखे, तब जड़ासक्ति निवृति हो जाती है। पंच विषयों में सुख प्रतीत रूप भास, आसक्ति रूप अध्यास, जगत्-कर्त्तादि अनुमान तथा सुख-दुःखादि कल्पना—इन सबको सद्गुरु ने पृथक मनोमय मात्र परखाया है। अविनाशी सत्यजीव ही परम तत्त्व है, यह सिद्धान्त बीजक और पारखी सन्तों के सत्संग में दर्शित किया गया है। अतएव विवेकी पारखी सन्तों का सत्संग करो और खानी-वाणी की मोह-अँधियारी का त्याग करो, जिसमें जड़ासक्ति का नाश हो और जीव को परमशान्ति की प्राप्ति हो ॥ ५७ ॥

व्याख्याः—जहाँ चाँदी आदि के सिक्के ढलते हैं उसे टकसाल कहते हैं। सरकार के टकसाल से निकले हुए सिक्के सब निःसंकोच ले लेते हैं; क्योंकि वह सच्चा होता है। इसी प्रकार सद्गुरु कबीर तथा पारखी सन्तों की निर्णय वाणियाँ एवं सत्संग टकसाल के तुल्य हैं। निष्पक्ष जिज्ञासुओं के लिये वे निःसन्देह ग्रहण करने योग्य हैं; क्योंकि वे परख की कसौटी पर कसे हुए हैं। सद्गुरुकबीर ने जीव ही को परम तत्त्व माना है। आपने कहाः—

बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥
(बीजक, रमैनी २६)

प्रसंग-४ —जड़-चेतन दोनों की अपेक्षित जानकारी तथा पृथक-पृथक गुण-धर्मादि वर्णन।

लावनी

सुनो अपेक्षित ज्ञानजगतका, जातेसब निरुवार सही।
बिनाअपेक्षित भेदलखेयह, जड़चेतनका ज्ञान नहीं॥
जड़हिं अपेक्षा चेतनजानो, चेतन से सब सृष्टि कही।
जड़ चेतन अनादि है दोनों, इसकाकोई कर्तार नहीं॥५८॥

टीकाः— संसार का अपेक्षित ज्ञान सुनो, जिससे सब प्रकार से सच्चा निर्णय होता है। बिना अपेक्षित रहस्य को जाने जड़-चेतन का ज्ञान नहीं हो सकता। जड़ तत्त्वों में चेतना धर्म नहीं है और चेतन का अस्तित्त्व संसार में है; अतएव जड़ से पृथक चेतन का अस्तित्त्व निर्विवाद सिद्ध है। इस प्रकार जड़ की अपेक्षा चेतन का अस्तित्त्व सिद्ध होता है। चेतन से ही चार खानियों, नाना कलाओं एवं ज्ञान-विज्ञान की सब सृष्टि फैली है। जड़ और चेतन दोनों अनादि तथा नित्य हैं, इनके ऊपर कोई दूसरा कर्ता-ईश्वर नहीं है॥५८॥

व्याख्याः—जड़-चेतन के अपेक्षित ज्ञान के विषय में सद्गुरु श्री विशाल साहेब रचित सद्ग्रंथ भवयान सप्तम् प्रकरण की टीका में भली प्रकार देखना चाहिये। संक्षिप्त रूप में यहाँ भी अवलोकन कीजिये— "अग्नि के प्रकाश में एक ओर कठोर धर्म युक्त विशेष स्थूलाकार पृथ्वी देखकर दूसरी ओर उस पृथ्वी और प्रकाश की अपेक्षा (आधार से) नदी-समुद्रादि में शीतल धर्म युक्त द्रव पदार्थ जल बहते देखा गया। पुनः प्रकाशादि की अपेक्षा से वेलि, वृक्ष, तृणादि को हिलते-उड़ते देखा, एवं शरीर की त्वचा में स्पर्श होते जानकर जाना गया कि अग्नि, जल, पृथ्वी आदि वेलि, वृक्ष, तृणादि को उड़ाते-हिलाते नहीं; अतएव इन तीनों से भिन्न कोई चौथा पदार्थ वायु है, जिससेपदार्थों का उड़ना-हिलना आँधी-बौड़र रूपी कार्य हो रहे हैं। पुनः पृथ्वी, जल, वायु में प्रकाश-उष्ण धर्म नहीं है, अतः इन तीनों से भिन्न अग्नि पदार्थ अवश्य है॥"—भवयान का सारांश॥

तात्पर्य यह कि एक तत्त्व की अपेक्षा (आधार) से ही अन्य तत्त्वों का ज्ञान होना निश्चित हुआ। इसी प्रकार यहाँ जड़ की अपेक्षा चैतन्य का ज्ञान करना चाहिये। अर्थात् चार कारण जड़ तत्त्वों में कहीं ज्ञान शक्ति नहीं है, इसलिये चार जड़ तत्त्व-निर्मित जितने भी कार्य पदार्थ हैं, उनमें ज्ञान शक्ति नहीं है। अब विचारना यह है कि इन चार कारण जड़ तत्त्वों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा उनसे बने असंख्य जड़कार्य-पदार्थों से भिन्न कोई चैतन्य पदार्थ अवश्य है, जो देह साधन-द्वारा जड़ रूप चार तत्त्वों एवं असंख्य जड़ पदार्थों के गुण, धर्म, नाम, ठहरा कर कथनकर्ता, ज्ञाता है। जैसे पृथ्वी के गुण, धर्म, आकारादि से बिलकुल उल्टे जल के गुण, धर्म आकारादि हैं। वैसे परस्पर चारों तत्त्वों के गुण, धर्म, आकारादि भिन्न-भिन्न की उत्पत्ति किसी अन्य तत्त्व से नहीं हुई है। मान लीजिये, पृथ्वी से यदि जल की उत्पत्ति होती तो पृथ्वी में और जल में कोई भेद नहीं होता। जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घर, घड़ा, कंकड़, पत्थर पृथ्वी रूप हैं, जल से उत्पन्न बुदबुदा, तरंग, लहर, जल रूप हैं, वायु से उत्पन्न आँधी-बौंड़र आदि वायु रूप हैं तथा अग्नि से उत्पन्न दीपक, गैस, बिजली आदि के प्रकाश अग्नि रूप हैं, इत्यादि; वैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चारों तत्त्वों में समानता नहीं पायी जाती। अतएव चारों तत्त्व परस्पर भिन्न-भिन्न उत्पत्ति-नाश-रहित अनादि, नित्य, क्रियाशील हैं। वैसे ही उन चारों तत्त्वों से विरोधी ज्ञान-गुण, ज्ञान-धर्म वाले, असंख्य अविनाशी जीव उन चारों जड़ तत्त्वों से पृथक भिन्न-भिन्न अनादि नित्य सत्य पदार्थ हैं। जैसे कोई अज्ञान-वश कहे कि रात्रि की सम्पूर्ण अँधियारी सिमिट कर सूर्य का रूप धारण कर ली और प्रातः काल हो गया। जैसे यह बात निरी कल्पना है। वैसे मुर्दा, अचेत जड़ तत्त्वों से ज्ञान वर्ण चैतन्य जीवों की उत्पत्ति मानना है। अतएव कारण-कार्य चार जड़ तत्त्वों से भिन्न अखण्ड, अविनाशी, नित्य, असंख्य चैतन्य उत्पत्ति-नाश-रहित हैं। केवल जड़-वासना-वश संसार में बँधे हैं, उसे त्याग कर जिज्ञासु

जीवन्मुक्त होकर सदा के लिये अपने आप स्वरूप में ठहर जायेंगे।

चेतन, जड़-देह-इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के सहारे दृश्य जड़ को देखता है; इस प्रकार चेतन के साक्षित्य में ही जड़ दृश्य की सिद्धि होती है। और "जड़-दृश्य को देखने तथा जानने वाला कौन है?" इस प्रकार अपनी ओर लक्ष्य घुमा कर विचारने से मैं स्वयं जड़-दृश्य का द्रष्टा जड़ से पृथक शुद्ध चेतन सिद्ध हुआ। इस प्रकार व्यवहार में जड़ की अपेक्षा से चेतन का ज्ञान होता है; परन्तु मूलतः दोनों परस्पर की अपेक्षा-रहित स्वयं सिद्ध हैं। जड़-दृश्य का कोई द्रष्टा हो या न हो, वह अपने आप में सत्य सिद्ध है; इसी प्रकार जड़-देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण तथा जड़ दृश्य हो या न हो, चेतन अपने आप में स्वतः सिद्ध है।

माटी पानी आग हवा से, कारज सब विस्तार लही।
दृष्टि गोचर जहँ तक देखो, पंच विषय का भाव गही॥
जड़ तत्त्वन के धर्म क्रिया गुण, शक्ति स्वभाविक रूप यही।
कारज भिन्न तत्त्व से नाहीं, तत्त्वन में षट् भेद कही॥५६

टीका—पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार कारण जड़ तत्त्वों से संसार के समस्त पंच विषय कार्यों का विस्तार हुआ है। नेत्रों से जहाँ तक देखने में आवे एव पंच ज्ञान इन्द्रिय द्वारा जहाँ तक भास होते हैं, सब पंच विषय जड़ स्वभाव के ही संयुक्त हैं। चार जड़ तत्त्वों में धर्म, क्रिया, गुण, शक्ति, रूप-आकार आदि सदा से स्वाभाविक विद्यमान हैं। पंच विषयों के जितने कार्य पदार्थ दृश्य हो रहे हैं, वे चार जड़ तत्त्वों से पृथक नहीं हैं। और चार जड़ तत्त्वों में छः भेद हैं; अतएव अनन्त कार्य पदार्थ तत्त्वों से बनते रहते हैं। भेदों का स्पष्ट वर्णन प्रथम कर आये हैं और नीचे भी देखिये—॥ ५६ ॥

कारण भूत परस्पर देखो, है संयोग मिलाप सही।
धर्म कठोर धरणि में कहिये, शक्ति धारणा स्वयं रही॥

गन्ध विषय संयोग क्रिया, स्थूलाकार है लखो मही।
शीतल धर्म रसायन शक्ती, जलमें पूरणअहै सही ॥६०

टीका:—देखो ! चार कारण जड़ तत्त्वों में परस्पर संयोग सम्बन्ध या मिलाप है । पृथ्वी में अन्य तीन तत्त्व इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु प्रत्येक में अन्य तीन तत्त्व मिले रहते हैं । और पृथ्वी कठिन धर्म, धारणा शक्ति युक्त स्वतः है । गंध विषय है, अन्य तीन तत्त्वों से संयोगवान् है, और विशेष भू भाग से कंकड़-पत्थर आदि बनते रहते, इससे पृथ्वी में क्रिया भी विद्यमान है । आकार में स्थूलाकार है, इस प्रकार पृथ्वी षट् भेद से पूर्ण प्रत्यक्ष देखी जाती है । पुनः जल शीतल धर्म और रसायना शक्ति से पूर्ण है ॥ ६० ॥

क्रिया सम्बन्ध ताहि में जानो, रसगुण है स्थूल लही।
धर्म प्रकाशक दाहक शक्ती, क्रिया मेल है तेज रही ॥
सूक्ष्माकार वो क्रिया स्वाभाविक रूप विषय है लखो यही।
वायू कोमल धर्म सूक्ष्मा, शक्ति सनेह सदैव रही ॥६१
तिरछी गमन क्रिया संयोगहिं, सपरस शब्द प्रत्यक्ष सही ।
भ्रमण चाकवत् पृथ्वी का है, अर्ध गमन जल सतत बही ॥
पावक उर्ध गमन किरिया है, तत्त्व संयोग सदैव रही ।
खट-खट-चूँ-चूँ सर-सर सूँ-सूँ, भुक-भुक तत्त्व अवाज सही॥६२

टीका:—उपर्युक्त जल में अधोगमन क्रिया और अन्य तीन तत्त्वों से सम्बन्ध, रस गुण (विषय) तथा स्थूलाकार है । अग्नि में प्रकाश करने का धर्म, अनेक कार्यों को जला देने की दाह्य शक्ति, उर्ध गमन क्रिया, अन्य तीन तत्त्वों से मेल, सूक्ष्म आकार, स्वाभाविक क्रिया तथा रूप विषय आदि षट् भेदों से पूर्ण है, ऐसा प्रत्यक्ष देख लीजिये । वायु में कोमल धर्म, सूक्ष्म आकार, स्नेहा (खिचाव की) शक्ति, तिरछी गमन क्रिया, अन्य तीन तत्त्वों से संयोग, और शब्द-स्पर्श दो विषय सदा से रहे हैं । पृथ्वी की क्रिया खड़े चाकवत्

है, जल सदा नीचे को बहता है, अग्नि ऊपर को जाती है, और परस्पर तत्त्वों में सम्बन्ध रहता है।[1] पृथ्वी में खट-पट आदि और जल में चूँ-चूँ अर्थात् चुल-चुल, घुल-घुल आदि तथा वायु में सर-सर सूँ-सूँ या साँय-साँय और अग्नि में भुक्-भुक् या भक्-भक् शब्द होते हैं ॥ ६१—६२ ॥

सब का द्रष्टा जीव हमेशा, पारख स्थिति बोध लही ।
अहै निरन्तर निराधार सो, जड़ तत्त्वन से पार सही ॥
सूरत दास के ज्ञान भयो उर, संत गुरू की कृपा चही ।
साहिब कबीर दयानिधि स्वामी, धन्य धन्य तव शरण लही ॥

टीका :— उक्त षट् भेद संयुक्त चार कारण जड़ तत्त्व अनन्त कार्य एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड सर्व का द्रष्टा-साक्षी-ज्ञाता यह अपने आप चैतन्य जीव ही है। अतएव आवागमन चक्र से मुक्त होने के लिये विवेकी साधु-गुरु से

१—तत्त्वों के षट्भेद समझने की सरल रीती कोष्टक में दी जाती है।

नाम तत्त्व	धर्म	गुण विषय	क्रिया	शक्ति	मेल	आकार
पृथ्वी	कठोर	गंध	क्रियावान्	धारणा गुरुत्वा	अन्य तीन तत्त्वों से	स्थूलाकार
जल	शीतल	रस	अधोगमन नीचे बहना	रसायना कुछ धारणा	अन्य तीन तत्त्वों से	स्थूलाकार
अग्नि	गर्म प्रकाश	रूप	उर्धगमन ऊँचे जाना	दाहक	अन्य तीन तत्त्वों से	सूक्ष्माकार
वायु	कोमल	शब्द और स्पर्श	तिरछी गमन	स्नेह तोड़ने जोड़ने की	अन्य तीन तत्त्वों से	सूक्ष्माकार
आकाश	०	०	०	०	०	०

नोट—आकाश कोई द्रव्य न होने से नाम मात्र शून्य है, अतः उसमें षट्भेद भी नहीं।

अपने शुद्ध स्वरूप का बोध प्राप्त करना चाहिये । तत्पश्चात् सम्पूर्ण भासमान् पंच विषय प्राणी-पदार्थ पिण्ड-ब्रह्माण्ड एवं काम, क्रोधादि मानसिक तरंग हमारे शुद्ध स्वरूप में नहीं हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय कर विवेक-वैराग्य पूर्वक सर्व स्थूल-सूक्ष्म शुभाशुभ वृत्तियों का अभाव करते हुए अपने अचल पारख स्थिति को प्राप्त होना चाहिये । अपना शुद्ध पारख स्वरूप सर्व जड़ तत्त्वों से परे-खरे सदा एकरस निराधार सत्य है । इस दास के हृदय में ऐसा ज्ञान श्री पारख प्रभु गुरुदेव ही उगा दिये । अतः यह विवेकी साधु गुरु की बारम्बार दया दृष्टि का इच्छुक है । धन्य, धन्य, हे दयासागर, अनाथों के नाथ ! सद्गुरु श्री कबीर साहेब ! आप की शरण प्राप्त कर यह दास कृतार्थ-पंथ में पहुँच गया, अतएव आपके चरणों में बारम्बार बलिहार है ॥ ६३ ॥

प्रसंग —५—जड़ तत्त्व एवं देह से पृथक् चेतन का विवेक ।

शब्द—१

जनैया जीव आप सबन से न्यार ॥ टेक ॥
श्रोत्र नेत्र नाशिका से अलगै, जिह्वा त्वचा से पार ।
हाथ पाँव मुख शिश्न गुदा युत, तन स्थूल असार ॥१
शब्द रूप रस गंध विषय जो, सपरश केर अधार ।
सुख भ्रम मानि स्वपन में भरमै, द्रष्टा दृश्य से पार ॥२
लेन देन औ चलन फिरन सब, मन इन्द्रिन व्यापार ।
प्रेरक आप जीव तेहि निशिदिन, भूलत ताहि मझार ॥३
जो जो कर्म करत इच्छा वश, विवश वासना हार ।
हाड़ रु मांस चाम के कूपा, जड़हिं सरूप परार ॥४
देह से कर्म कर्म से देहैं, गढ़ि अध्यास सवाँर ।
गर्भवास दुख जन्म मरण त्रय, भोगत कष्ट अपार ॥५

भर्म रूप त्रय लिङ्गहिं जानो, रज्जू सर्प निहार।
शुद्ध रूप जिव आपहि चेतन, करि सुविवेक हिगार ॥६
है कुसंग यह काया माया, जाते सब विस्तार।
गुरू कृपा आसक्ति त्यागि के, जीते मुक्ति लहार ॥७

टीका:— सब का ज्ञाता चैतन्य जीव अपने आप निःसंग सब से पृथक् है ॥टेक॥ कान, आँख, नाक से जीव पृथक् है, और जिह्वा त्वचा से भी भिन्न अपने आप है, क्योंकि इन इन्द्रियों से स्वतंत्र जीव इच्छानुकूल पृथक-पृथक काम लेता और उन्हें रोकता रहता है। इस देह में केवल जीव ही ज्ञान स्वरूप सार-अमृत है और हाथ, पाँव, मुख, उपस्थ, गुदा संयुक्त यह स्थूल शरीर तो असार जड़ मुर्दा साज ही है ॥ १ ॥ जीव अपने अचल पद को भूल करके चंचल पंच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का सहारा पकड़ रहा है; और चञ्चल, विजाति, दुखरूप पंच विषय, देहादि में भ्रम-वश सुख मान-मान कर स्वप्नसृष्टि-मनोमय संसार-चक्र में चंचल और दुखी हो रहा है। द्रष्टा शुद्ध चेतन, चंचल दृश्य मनोमय और पंच विषय देहादि से सदा पृथक है ॥ २ ॥ लेना-देना, चलना-फिरना मन-इन्द्रियों के सर्व व्यापारों का रात-दिन प्रेरक यह अपने आप जीव ही है। वह मन-इन्द्रियों के धंधाओं को अपने से पृथक् न समझ कर उसी में भूलता और इच्छा-वश रीझता-खीझता रहता है ॥ ३ ॥ यह जीव इन्द्रिय-सुख के लिये जो-जो कर्म इच्छा-वश करता है, उस-उस में वासना के विवश होकर अपने को हार जाता है। अर्थात् वासना के हाथ बिक कर लाचार हो जाता है। यद्यपि यह शरीर हाड़, मांस, चर्म का कूप जड़ रूप, क्षण भंगुर है, तथापि भ्रम-वश उस में मिल रहा है ॥ ४ ॥ यह प्रकृति-भिन्न जीव देह से नाना सकाम कर्म और कर्म से देह बनाता रहता है और बारम्बार देहाध्यास को सुरक्षित रखता है। इसी देहाध्यास वश गर्भवास का दुःख, जन्म-मरण का दुःख, त्रय ताप का दुःख, एवं देहोपाधि कृत अनन्त दुःख भोगता रहता है ॥५॥ जैसे मिलित अंधकार-प्रकाश में रस्सी में सर्प का भास होता है, वैसे सामान्य जानपना और अबोध अंधकार मिलित होने से जीव को भ्रम रूपी त्रय लिंगों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक देहों) में सुख और सत्यता का भास होता है।

त्रय लिङ्ग शरीर का कोई स्वतंत्र स्वरूप न होने से केवल वासना[1] मय भ्रम मात्र है। और शुद्ध स्वरूप चेतन अपने आप निःसंग त्रय देहों से पृथक् है, इस प्रकार देह और चेतन का शुद्ध विवेक करके अपने को सर्व देहादि दृश्यों से पृथक् करना चाहिये ॥६॥ जीव के साथ महा माया रूप यह काया ही महान कुसंग है, जिससे सम्पूर्ण दुःख प्रपंचों का विस्तार हो रहा है। अतएव सद्गुरुदेव की कृपा और अपने दृढ़ पुरुषार्थ से इस विजाति, अशुचि, शोक दुःख मय, और क्षण भङ्गुर देह की आसक्ति सर्वथा त्याग कर स्वस्वरूप में शान्त होकर जीते जी मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिये "जियत न तरचो मुए का तरिहो, जियतै जो न तरै ॥ बी०"

सारांश—जो जीते जी मुक्त हो चुके हैं, अर्थात् शरीर-संसार का अध्यास छोड़ कर संसार-शरीरादि को मृतक और सुषुप्ति वत् जान कर अपने अचल स्वरूप में सदा के लिये शान्त हो गये हैं; उन्हें मृत्यु की चिन्ता और जीने की प्रसन्नता नहीं रहती, वे जीने-मरने से पृथक् अजरामर स्वरूप देश में ठहर जाते हैं। धन्य-धन्य, यही परम जीवन है ॥ ७ ॥

शब्द—२

जिव बिन देह काम नहिं आवे ॥ टेक ॥
शब्द श्रोत्र से सुने न कबहूँ, नाक न गंध जनावे।
जिह्वा स्वाद कभी ना चाखै, त्वचा परश नहिं भावे ॥१
नारि पुरुष के भाव न जिव बिन, रूप न नेत्र दिखावे।
चित मन बुधि हंकार न ताके, सब सम्बन्ध लखावे ॥२
पंच विषय इन्द्रिन के द्वारे, सुख मानन्दि टिकावे।
भूल भरम से जग में अरुझे, आपुहि आप बँधावे ॥३
जीव नहीं तब नाम न कोई, जड़ के जड़हिं रहावे।
जीवहि नाम रूप को ज्ञाता, नामी आप कहवे ॥४

१—सोरठा—"भर्म रूप नर नारि, जानि मनोमय देखि तू।
लोभै नहीं निहारि, है कछु औरहि और लखि ॥ भ०"

यह सब देह साज क्षण भङ्गुर, जिव तेहि साथ दुखावे ।
जीवहिं सत्ता तेहि में देकर, खानि बानि भरमावे ॥५
जैसा अपने आप जीव यह, तैसे जो ठहरावे ।
तो सब छूटि जाय दुख जालहिं, बहुरि न भव में आवे ॥६
याहि यतन सूरत करि निशिदिन, सह प्रारब्ध बितावे ।
जानि अकेल विलग ह्वै जग से, गुरु उपकार मनावे ॥७

टीका :—रमैया राम चेतन जीव के बिना यह अपवित्र-घृणित जड़ शरीर कोई काम में नहीं आता ॥ टेक ॥ जब देह से जीव निकल जाता है, कान से कभी विविध प्रकार के शब्द नहीं सुनाता, और नाशिका इन्द्रिय सुगंध-दुर्गन्ध रूपी गंध का ज्ञान नहीं करती, जिह्वा षट्रस स्वाद को नहीं चखती तथा चमड़ी से कोमल-कठोर अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श का भी भाव-अभाव नहीं होता ॥ १ ॥ स्त्री-पुरुष के जड़ शरीरों से चैतन्य जीव जब निकल जाते हैं तब नारि-पुरुष का परस्पर भाव-प्रेम-खिचावा भी नहीं होता, और न नेत्र विविध प्रकार के रूप को देख सकते हैं। जिस अंतरीय साधन अन्तःकरण से दृश्यों में भाव-प्रेम मान-मान कर सब का सम्बन्ध दर्शित होता था; अन्तः-करण रूप चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार भी उस जड़ मुर्दा शरीर में नहीं रहते ॥ २ ॥ यह चैतन्य जीव जड़ देह में रहकर पाँचों ज्ञान इन्द्रियों-द्वारा पंच विषयों को भोग-भोग कर सुख मानन्दी टिका लेता है। अपने शुद्ध स्वरूप की भूल से और पंच विषयों में सुख के भ्रम-वश यह जीव जगत् जञ्जालों में फँसता रहता है। स्त्री-पुत्र, गृह-सम्पत्ति, भोगों में सुख मान-मान कर रागवान् हो-होकर "कमल भ्रमर न्याय" यह जीव अपने आप बँध जाता है ॥ ३ ॥ देह से जीव के निकल जाने के पश्चात् यह कंचनमयी मानी हुई सुख रूप काया पृथ्वी पर पड़ी रहती तब कोई यह नहीं कहता कि फला भैया लेटे हैं। सब यही कहते हैं जिससे नाता था वह बोलता तो निकल गया, अब मिट्टी पड़ी है, इसका शीघ्र दाह-संस्कारादि कर देना है। निदान देह जला या गाड़ देने पर मिट्टी में मिल जाती है। तब इस देह का कमला, केशव, उमादत्त आदि कोई नाम नहीं रह जाता, केवल जड़

तत्त्व के जड़ तत्त्व ही रहते। नाम-रूपादि सब का ज्ञान करने वाला जीव ही है; यही सब का नामकरण करने वाला अपने आप नामी कहलाता है ॥ ४ ॥ इन्द्रिय, अन्तःकरण, स्त्री-पुत्र, गृह-सम्पत्ति, पंच विषय भोग, मायामय जहाँ तक दृश्य-भासों में सुख माना गया है; ये सभी नाशवान् जड़ शरीर के साज स्वप्न वत् तथा दुःखपूर्ण हैं। इन्हीं के साथ पड़कर जीव सदा-सर्वदा दुःख भोगता रहता है। माया-मोह वश जीव ही इन्द्रिय-मन में भोगों के लिये शक्ति दे-देकर खानी-वाणी रूप संसार-सागर में, भ्रमता रहता है ॥ ५ ॥ दुःख-सुख द्वन्द्वों से रहित यह जीव जैसा अपने-आप शुद्ध निर्विकार, निःसंग, मुक्तरूप है, गुरु पारख द्वारा वैसे ही बोध धारण कर सर्व पिण्ड-ब्रह्माण्ड के आशा-राग-सुखाकर्षण-रहित यदि अपने में स्थिर हो जाय तो इस जीव के देहोपाधिक सर्व दुःख-द्वन्द्व सदा के लिये छूट जायँ, फिर कभी इसे जन्म-मृत्यु के चक्कर में न आना पड़े ॥ ६ ॥ ग्रन्थकर्ता "श्री राम सूरत साहेब" कहते हैं कि हे जीव ! संसार बन्धन से छूट कर निराधार स्थिति-मुक्ति के लिये ही तुम दृढ़ यत्न करो। एवं विवेक-वैराग्य पूर्वक नैराश्य बेगारवत् प्रारब्ध यात्रा को व्यतीत करो, और तन, मन, इन्द्रियों, अनेक प्राणी-पदार्थों, पंच विषय दृश्यों से भिन्न अपने आप को शुद्ध, निर्विकार निःसंग जानकर जगत् प्रपंचों से पृथक् हो जाओ। और इस अमोघ शांति-स्थित को देने वाले गुरुदेव का उपकार सदा मनाते रहो, अर्थात् अपने आप को गुरुदेव का ऋणी समझ कर सदा उनका कृतज्ञ बने रहो ॥ ७ ॥

शब्द-३

सब सिद्धांत जीव से जारी ॥ टेक ॥
जीव बिना कोइ मत नहिं जग में, जीवहिं सकल पसारी।
द्वैत अद्वैत और सब धोखा, तत्त्वमसी श्रुति चारी ॥१
जीव सबन का जाननहारा, जीवहिं करत विचारी।
जीव छोड़ि कोइ कहत सुनत नहिं, देखो आँख उघारी ॥२
बिना जीव के जड़ मति जानो, जड़ के सबहिं पुजारी।
पूजत वंदत आपुहिं मानत, जाने बिना भुलारी ॥३

यह विपरीत भई जग कौहट, स्वप्नहिं सत्य लहारी ।
जागृत में कछु हाथ न आवत, जानहिं मात्र दुखारी ॥४
करि सतसंग मोह भ्रम त्यागो, जीव कल्पना सारी ।
पारख बोध विरति दृढ़ राखो, आवागमन नशारी ॥५

टीका:— संसार के सम्पूर्ण सिद्धांत, मत-पन्थ मनुष्य जीव ही से चालू हुए हैं, अतः मनुष्य जीव ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ टेक ॥ बिना मनुष्य जीव के आधार के संसार में कोई मत, कोई सिद्धान्त अपने आप नहीं प्रकट हो गये, मनुष्य जीव ही ने सर्व सिद्धांतों का विस्तार किया है। द्वैत, अद्वैत, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, चार वेद और इनके अतिरिक्त अनेक धोखामय कल्पित सिद्धांत भासिक जीव की ही कल्पना है॥ १ ॥ जीव ही द्वैत-अद्वैत, चार वेदादि एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड का ज्ञाता है; और जीव ही सबका विचार-अनुभवकर्ता तथा प्रतिपादक है। परमार्थ की आँखे खोल कर निष्पक्ष हृदय से देखिये तो जीव को छोड़ कर अर्थात् जहाँ मनुष्य जीव नहीं हैं वहाँ चार तत्त्व या अनेक जड़ पंच विषय कार्य, बीज, वृक्ष, नदी, पर्वत एवं कल्पित देवी-देवादि कुछ कहते-सुनते नहीं, क्योंकि वे स्वभाव से ही जड़ हैं ॥ २॥ सर्वज्ञाता, स्वतंत्र, एकदेशी चैतन्य भूप को जो किंचिज्ञ, प्रतिबिम्ब एवं अंश मानते तथा जड़ तत्त्व से उसकी उत्पत्ति और नाश मानते उन सबों की अज्ञानमय बुद्धि समझनी चाहिये। स्वरूपज्ञान बिना सब जड़ देह-इन्द्रिय तथा कल्पित देवादि के ही पुजारी हो रहे हैं। मनःकल्पित लड्डू खाने वत् आप ही देवी-देवादि की कल्पना करके कृत्रिम को ही श्रेष्ठ मानते, पूजा वन्दना करते। अहो! एक स्वस्वरूप की परख बिना संसार के सर्व प्राणी कल्पना में भूल रहे हैं ॥ ३ ॥ गोचर तत्त्व-प्रकृति-रहित अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर चार तत्त्वात्मक जगत्, देह-इन्द्रिय, स्त्री-पुत्र, गृह-धन, तथा कल्पित देवी-देवादि रूपी मनोमय स्वप्न सृष्टि को ही सत्य मान कर उसे इस जीव ने पकड़ लिया है। यह महान विपरीत जगत् में स्वप्न-कौहट हुई; किन्तु मोह रूपी स्वप्न आवरण को हटा कर जब जीव स्वतः स्वरूप में जागृत होता है, तब विचार करने से उपर्युक्त स्वप्न सृष्टि कुछ भी हाथ में नहीं आती। मानन्दी द्वारा केवल स्वप्न संसार को जान-जान करके

दुखी होते थे। विजाति पदार्थ सब बाहर के बाहर ही छूट जाते हैं, जीव को केवल संसार-दुःख की ही प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥ अतः सत्संग करके मोह-भ्रम का त्याग करो, ये सम्पूर्ण खानी-वाणी मनोमय सृष्टि जीव की कल्पना है, और उलट करके जीव को ही दुःख देती है। अतएव मैं शुद्ध चैतन्य देह सम्बन्ध से सबका भास्कर अचल, अक्रिय सर्व से भिन्न स्वतंत्र हूँ, यह पारखबोध और शब्दादि पंच विषय देहादि के विषय प्रबल वैराग्य अपने हृदय में दृढ़ रखो, फिर तुम्हारा आवागमन का बन्धन बीज सुखाध्यास अवश्य विनष्ट हो जायगा। और तुम सदा के लिये दुःख द्वन्द्व-रहित हो जाओगे ॥ ५ ॥

शब्द-४

ज्ञान कला जड़ में कछु नाहीं ॥ टेक ॥

पावक पवन नीर पृथ्वी में, क्रिया स्वभाविक आहीं।
धर्म शक्ति गुण देखि प्रत्यक्षहिं, ज्ञाता भिन्न लखाहीं ॥१
कारण से कारज सब होते, घट बढ़ ऋतू सदाहीं।
जानि मानि जीव तहवाँ भूलत, जड़हिकोजीव कहाहीं ॥२
भूल महा यह गुरु बिन जानो, बिन सतसंग न जाहीं।
ताते करो विवेक हमेशा, पारख शुद्ध सदाहीं ॥३
कहत सुनत जानत जो सबको, न्यारा सब से आहीं।
नित्य जीव चैतन्य निरन्तर, दुख सुख विषय गहाहीं ॥४
चौखानिन में ज्ञान के लक्षण, षट पशुधर्म दिखाहीं।
जागृत स्वप्न सुषोपति तहवाँ, जड़ में कछु न लखाहीं ॥५
याते बदत जो जीव वृक्ष में, नास्तिक मति कहि ताहीं।
जल मृतका से हरा भरा वह, तत्त्वन योग बढ़ाहीं ॥६
घट बढ़ शक्ति तत्त्व में देखो, कोइ सूखत हरियाहीं।
ये सब लक्षण जड़ के जड़ में, उपजत विनशत रहत सदाहीं ॥

जाननहार जीव है यकरस, देह विजाति नशाहीं।
ताते ठहरि रहो निज रूपहिं, आवागमन विलाहीं ॥८

टीका :—जड़तत्त्वों में कुछ भी ज्ञानशक्ति नहीं है ॥ टेक ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु में स्वाभाविक क्रियायें हैं; उनमें कठोर, शीतल, उष्ण तथा कोमल धर्म, धारणा, रसायना, दाह्य तथा स्नेहा शक्तियाँ और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द विषय प्रत्यक्ष देखे जाते हैं और इन सबके ज्ञाता चेतन इनसे भिन्न सिद्ध होते हैं ॥ १ ॥ कारण रूप चार जड़ तत्त्वों से सभी कार्य पदार्थ बनते हैं। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि की घट-बढ़ क्रियाओं से सदैव छः ऋतुओं का वर्तमान होता है। इन प्रकृति जालों में रमणीयता की कल्पना करके और इन्हें देखकर तथा उनमें सुख की मान्यता करके यह जीव अपने आपको भूल जाता है और हृदय, मस्तिष्क, वीर्य, रक्त, तेज, श्वास तथा जड़ को ही जीव कहने लगता है ॥ २ ॥ यह महान भूल गुरु-ज्ञान-बिना ही जानना चाहिये। बिना सत्संग के इसकी निवृत्ति नहीं होगी। अतएव सदैव जड़-चेतन का विवेक करो और जड़ासक्ति त्याग कर शुद्ध ज्ञान स्वरूप में सदैव रमण करो ॥ ३ ॥ जो सबका कहने, सुनने और जानने वाला है, वह सबसे पृथक है। वह चेतन जीव नित्य तथा शाश्वत है, वह विषयासक्ति-वश ही दुखी-सुखी होता है ॥ ४ ॥ मनुष्य, पशु, अण्डज, तथा उष्मज इन चार खानियों में जीव के लक्षण हैं। भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा और मोह—ये छः पशु कर्म इनमें दिखते हैं। इनमें, जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं—ये सब जीवधारी के लक्षण हैं। परन्तु जड़ वृक्ष वनस्पतियों में उपर्युक्त लक्षण कुछ भी नहीं दिखते ॥ ५ ॥ अतएव जो कहते हैं कि वृक्ष-वनस्पतियों में जीव हैं, उनकी बुद्धि सत्य को नहीं समझती। वृक्षादि जल, मृतकादि से हरे भरे रहते हैं और तत्त्वों के संयोग से बढ़ते हैं ॥ ६ ॥ देखो! तत्त्वों में घट-बढ़ शक्तियाँ हैं, अतः साधक-बाधक अंश पाकर कोई वृक्ष सूखता और कोई हरा-भरा होता रहता है। ये सब लक्षण जड़ के हैं और जड़ तत्त्वों में बरतते हैं। इस प्रकार वृक्षादि सदैव उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं ॥ ७ ॥ इन सबका जानने वाला चेतन एकरस तथा सत्य है, शरीर विजाति और नाशवान है। अतएव देहादि अनित्य पदार्थों की

आसक्ति छोड़कर अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाओ, फिर जीव का गमनागमन चक्कर समाप्त हो जायगा ॥ ८ ॥

व्याख्याः—जड़ तत्त्व पृथक वस्तु है और चेतन तत्त्व पृथक वस्तु है। जड़ में स्वाभाविक गुण-धर्मादि हैं इसलिये पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में छः ऋतुओं[1] का वर्तमान सदा होता रहता है। इधर चेतन जीव वासना-वश खानियों में भटकते रहते हैं। इस प्रकार जड़-चेतनमय सृष्टि प्रवाह रूप अनादि है।

भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा, मोह, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, सुख-दुःख, हानि-लाभ का ज्ञान ये सब देहधारी जीवों के लक्षण हैं। वृक्ष—वनस्पतियों में उपर्युक्त लक्षण न होने से वे निर्जीव हैं। जैसे तेल-बत्ती-अग्नि से दीपक में ज्योति बनती है, इसी प्रकार जड़ तत्त्वों के संयोग से वृक्षादि बढ़ते, हरे-भरे रहते तथा बाधक अंश पाकर नष्ट हो जाते हैं।

सबका ज्ञाता जीव है, वह सबको जान-जान कर तथा सबमें मोह टिका-टिका कर दुखी है। जब वह सबकी ममता को त्याग कर स्वरूप-निष्ठ हो जायेगा, फिर वह सदा के लिये परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा।

कुण्डलिया

पंच विषय से पृथक नहीं कारण तत्त्व सो चार।
तत्त्व चार संयोग मिलि शब्द आदि परचार ॥
शब्द आदि परचार रहै वह सबसे न्यारा।
सो है जिन्दा जीव सबन का करे विचारा ॥

---

१. चैत्र-वैशाख बसन्त ऋतु, जेठ-आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु, श्रावण-भाद्र वर्षा ऋतु, क्वार-कातिक, शरद ऋतु, अगहन-पौष हेमन्त ऋतु, तथा माघ-फाल्गुन, शिशिर ऋतु—ये षट् ऋतु हैं।

निर्भय रहै स्वतंत्र विषय की तज के आशा।
अविचल स्वच्छ स्वरूप करै उर में परकाशा॥
चार तत्त्व औ जीव मिलि, पंच द्रव्य अनादि।
ज्ञाता जीवहिं भिन्न लखि, और सकल जड़वादि॥ १॥

टीका—पृथ्वी आदि चारों कारण तत्त्व पाँच विषयों से पृथक नहीं हैं और चार तत्त्वों के द्वारा ही शब्दादि पाँचों विषयों का विस्तार है। इस प्रकार जड़ तत्त्व तथा पंच विषयों के विस्तार से जो पृथक है, वह चिरंजीव चेतन है, वही सबका विचार करने वाला है। उसे चाहिये कि वह विषयों की आशा छोड़कर निर्भय तथा स्वतंत्र हो जाय और हृदय प्रकाशक निष्क्रिय, शुद्ध स्वस्वरूप में स्थित हो जाय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा अगणित चेतन—ये पाँच पदार्थ अनादि तथा नित्य हैं। द्रष्टा चेतन जीवों को तत्त्वों से सर्वथा पृथक समझना चाहिये, शेष सभी जड़ कहे जाते हैं॥ १॥

जड़ चेतन निर्णय बिना शुद्ध होय नहिं ज्ञान।
शुद्ध ज्ञान होये बिना परै न रूप पिछान॥
परै न रूप पिछान करै जो कोटि उपाई।
जड़ में करि विश्वास प्रीति सत्संग में नाईं॥
अपनी चाहे मान और की निन्दा ठानै।
ऐसी करि दुर्बुद्धि सबन पर अपनी तानै॥
सत्संगत निर्णय करै छोड़ि कुसंग विकार।
गुरु कबीर पारख लहै होवै भवनिधि पार॥ २॥

टीका :—जड़-चेतन का स्पष्ट निर्णय हुए बिना निर्मल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और निर्मल ज्ञान की प्राप्ति हुए बिना अपना शुद्ध स्वरूप पहचानने में नहीं आता चाहे कोई विद्या-वाणी, विज्ञान-शोध, तीर्थ-व्रत, यज्ञ-उपवास, वेद-पाठादि करोड़ों प्रयत्न करे। जड़ भोगों में ही विश्वास तथा आसक्ति

होना, सत्संग में प्रेम न होना, अपना मान चाहना, अन्य की निन्दा करना तथा सब पर अपना शासन जमाना; इस प्रकार दुर्बुद्धि रखने से मनुष्य को सत्य का ज्ञान नहीं होता। अतएव कुसंग तथा उपर्युक्त दोषों को छोड़कर सत्संग में यथार्थ निर्णय करे और निष्पक्ष सद्गुरु कबीर का पारखबोध प्राप्त कर संसार-सागर से पार हो जाय ॥ २ ॥

व्याख्या:—सद्गुरु कबीर यह नहीं कहते कि कोई हमारी बात आँख मूँदकर मान ले। वे कहते हैं कि सारी बातें परख करके मानो। श्रद्धा की दीवार में विवेक के झरोखे खोल करके वस्तु-स्थिति की यथार्थ परख करो। सत्य के ज्ञान तथा सत्य में स्थित से ही कल्याण की प्राप्ति हो सकती है।

शिक्षा:—शरीर छूटते समय विवशतापूर्वक सब छूट जायेंगे; अतएव प्रथम से ही संसार का वासना-बीज दग्ध करके परम शांति की प्राप्ति करो।

प्रसंग—६—देह दुःख व बोध स्थिति लक्षण वर्णन।

कवित्त

कान दर्द आँख दर्द नाक दर्द दाँत दर्द,
दर्द ही में दर्द होत जीव सो बेहाल है।
काम क्रोध लोभ मोह दर्द ही को मूल सब,
याहि से पसार होत मरण बवाल है॥
स्वच्छ स्व स्वरूप गुरुबोध ही को ज्ञान जेहिं,
व्यापत न ताहिं जग दुख सब टाल है।
प्रारब्धी को भोग पुनि क्रियामान रोकि देत,
निराधार जीव मुक्त पारख बहाल है॥१

टीका:—कर्ण-पीड़ा, नेत्र-पीड़ा और दन्त-पीड़ा इस प्रकार पीड़ा-में-पीड़ा होती हैं और जीव दुःखों में विह्वल है काम, क्रोध, लोभ, मोह

आदि मानसिक विकार ही सभी दुःखों की जड़ हैं, इसी से जन्म-मृत्यु आदि का विस्तार होता है। जिसकी शुद्ध स्वरूप चेतन में रति है, उसको मानसिक विकार नहीं व्यापते तथा उसके संसार-जनित सारे दुःख मिट जाते हैं। वे पुरुष प्रारब्ध भोगों को आसक्ति-रहित भोगते हुए जन्मादि हेतु भूत विषयासक्ति युत कर्मों को मिटा देते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या :—मनुष्य शरीर का धारण करना तथा छोड़ना उन्हीं का सफल है जो धन, कुटुम्ब, देहादि समस्त विषयों की आसक्तियों को पूर्ण विनष्ट कर दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। वे जीवन्मुक्त पुरुष धन्य हैं जो दुःख की अंतिम घड़ी बिता रहे हैं। देहादि सब कुछ छूटनेवाला समझ कर सबकी आसक्ति से रहित हो जाना ही परमपद की प्राप्ति है।

प्रश्न :— इस प्रकार अमोघ-अचल स्थिति कब मिलेगी ?

उत्तर :—संसार के सम्पूर्ण स्नेह माया-मोह जब छूट जायंगे, स्वरूप स्थिति में जब पूर्णरूप से विरह भावना होगी, तब अचल स्वरूप-स्थिति होगी। तिसके साधन सुनो—

जैसे जैसे दुख दोष मन से मनन होत,
वैसे वैसे त्याग दृढ़ सुख सरसाय है।
जैसे जैसे सुख लाभ दिल में धरत नित,
वैसे वैसे हो विराग मुक्ति पद पाय है॥
चाहना को लेश नाहिं मोह तम नाशि जब,
धीरता को लाय उर थीरता दृढ़ाय है।
थीरता में शान्ति सुख जग सब लय होत,
फिर न जनम जग दुख सब जाय है॥२

टीका :— पंच विषय भोगों में जैसे-जैसे दुख और दोषों का चितन होता है, वैसे-वैसे त्याग में दृढ़ता होती जाती है और त्याग में सुख का अनुभव होता जाता है। जैसे-जैसे त्याग में सुख का लाभ हृदय में निश्चित

होता है, वैसे-वैसे संसार से दृढ़ वैराग्य होता जाता है और जीव मुक्ति पद में प्रतिष्ठित होता जाता है। जब किञ्चिन्मात्र विषय-इच्छायें नहीं रह जातीं मोह रूपी अँधियारी पूर्णतया विनष्ट हो जाती है, और हृदय में धैर्य-पूर्वक स्थिरता दृढ़ हो जाती है; तब ऐसी स्थिरता में शान्ति-सुख का अनुभव होता है और जगत् की सब वासनायें समाप्त हो जाती हैं तथा उस जीव का पुनः जन्म नहीं होता और उसके सारे दुखों का अभाव हो जाता है ॥२॥

जैसे जैसे बोध भाव तैसे तैसे हो विराग,
कामना को भंग तब निज पद पाय है।
जैसे जैसे सुख मानि पंच विषय भोग हित,
तैसे तैसे दुख लखि क्रिया नहिं भाय है॥
शुद्धता को प्राप्त तब स्ववश स्वतंत्र रहि,
भक्ति गुरु साधु की सतत मन लाय है।
खींचत जो बार बार मन वेग जानि सोइ,
ताहि को संहार करि सुभट कहाय है॥३

टीका :— स्वरूप बोध में जितनी प्रियता होती है उतना विषयों से वैराग्य दृढ़ होता है। जगत्-कामनाओं के समाप्त होने पर ही जीव अपनी स्थिति को पाता है। पंच विषयों में सुख मान करके जीव जगत्-नगर में नाचता रहा, उसके उल्टे उनमें दुःख-दोषों का अनुभव करके उन क्रियाओं की चेष्टा से रहित हो जाता है। तब वह निर्मलता को प्राप्त होकर स्ववश एवं स्वतंत्र हो जाता है। उसका मन साधु-गुरु की भक्ति में निरन्तर दृढ़ हो जाता है। विषयों में जो बारम्बार खिचाव होता है उसे मन का वेग समझना चाहिये। जो उसका नाश करता है वही वीर कहलाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या :— पाँचों विषयों का अभाव रूप दृढ़ वैराग्य तथा मैं अजर, अमर, निःसंग, शुद्ध, मुक्त स्वरूप चेतन हूँ— इस बोध-भाव से ही निर्वासनिक स्थिति मिलती है। मनके विकारों को जीतने वाला ही वीर है।

पद

वीर वही मन इन्द्रिन जीते ॥ टेक ॥

पंच विषय आसक्ति को त्यागे, देह भाव से रीते।
सकल पिण्ड ब्रह्माण्ड कि आशा, त्यागि परख निर्भीते ॥ १ ॥
बाह्य दौड़ सब जिनके नाशे, नित संतोष पियूते।
आस दृश्य तजि स्थिर भासिक, जन्म मरण दुख बीते ॥ २ ॥
सेवा प्रभुता मान विषय सुख, शूल रूप विपरीते।
पारख परख लक्ष मन स्थिर, जीवन्मुक्ति सुख याहि कहीते ॥ ३ ॥
मन का नष्ट परम पद जानो, यह पुरुषार्थ बलीते।
सोइ अभिलाष गहो दृढ़ निश्चय, मुक्ति लहो जगतीते ॥ ४ ॥

इन्द्रिन को बाँधि-बाँधि मन को मिटाय देत,
गुरु ज्ञान सत्संग पाय हुशियार हैं।
छल बल जग भोग भावत न जाहि नर,
ऐसे जग जीव जन होत भव पार हैं ॥
ताहिं की बड़ाई जन करत हैं लोग सब,
रहत अमान चित सबहीं से न्यार हैं।
साधन विविध विधि युक्ति सब जानकर,
निज पर हित सोचि करत सुधार हैं ॥४

टीका :— वे ही साधु-सन्त हैं, जो विषयों से इन्द्रियों को रोक कर मन की विषयासक्ति मिटा देते हैं और सद्गुरू का स्वरूपज्ञान तथा सत्संग प्राप्त करके सदैव मन-इन्द्रियों तथा बाहरी कुसंगों से सावधान रहते हैं। जिनको जगत्-भोग तथा तत्सम्बंधी छल-बल अच्छे नहीं लगते; संसार में वे हो जीव बन्धनों से पार पाते हैं। उन्हीं निष्काम पुरुष की सब लोग प्रशंसा करते हैं, परन्तु वे निर्मान चित्त होकर सबसे असंग रहते हैं। अनेक प्रकार के साधनों की युक्तियाँ जान करके और अपने-पराये का हित-चिन्तन करते हुए स्व-पर कल्याण करते हैं। ॥ ४ ॥

व्याख्या :— जो विषय-विकारों को त्याग कर मन-इन्द्रियों को जीत लिये, वे ही संत पुरुष हैं। उनके सम्पर्क में आने से ही जीव का कल्याण सम्भव है।

"तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरनि वह सन्त।
पर काजे परमारथी, प्रीति लिये निबहन्त ।। वै०"

शिक्षा :— यदि आप लोक-परलोक में सच्चा सुख चाहते हैं। यदि आप इच्छा-वासना-तृष्णा से अपना पिण्ड छुड़ाकर शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए सदा के लिये मुक्त होना चाहते हैं; तो परम परोपकारी, अविनाशी ज्ञानदाता विवेकी सन्त-गुरु की शरण अवश्य लें। बिना संत पुरुषों की शरणागति के कल्याण होना असम्भव है।

दृष्टांत :— एक ग्राम में पद्मचन्द्र नामक मनुष्य रहता था। वह अति साधु सेवी और सत्संग निष्ठ था। वह नित्य पास के सन्त-मठ पर सत्संग करने के लिये नियमानुसार जाया करता था। एक दिन सत्संग में शीघ्र न पहुँच सका। घर के आवश्यक कार्यों को समाप्त करके शीघ्रता पूर्वक सत्संग में जा रहा था। उधर से मार्ग में उसी गाँव के एक पढ़े-लिखे, कई विद्याओं के ज्ञाता मदनसेन बाबू आ गये; वे बोले— अरे पद्मचन्द्र ! बड़ी शीघ्रता में कहाँ जाते हो ? पद्मचन्द्र बोले—सत्संग में। मदनसेन–भला ! नित्य-नित्य साधुओं के पास बैठकर क्या पाते हो ? पद्मचन्द्र–ओह ! आप पढ़े-लिखे होकर यह भयंकर दुर्वाक्य कैसे निकाले ? क्या आप यह नहीं सुने हैं—

दोहा :—कोमल वाणी संत की, स्रवत अमृत मय आय।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन (मोम) होइ जाय ।।

चौपाई

पाप ताप सब शूल नशावे। मोह अन्धरवि वचन बहावें ।।
तुलसी ऐसे सद्गुण साधू। वेद मध्य गुण विदित अगाधू ।।
(वैराग्य संदीपनी)

कबीर सङ्गत साधु की, ज्यों गन्धी को वास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी वास सुवास॥

मदनसेन—हम तो समझते हैं कि साधुओं से कोई देश का कार्य नहीं होता; बल्कि अपना भार ही जनता को दे रहे हैं। पद्मचन्द्र—हम समझते हैं आज-कल जो विदेशीय भौतिक विद्यायें बहुत पढ़-लिख लेते हैं वे प्रायः आप ही के समान हो जाते हैं। जड़ से भिन्न अपने अविनाशी स्वरूप का अस्तित्त्व, वासना-वश आवागमन, वासना त्याग से मोक्ष तथा धर्म-भक्ति, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि सद्गुण, संत-साधु-संसर्ग से लोक-परलोक का सुधार, परम शान्ति की प्राप्ति इत्यादि सुखदायक बात ही नहीं मानते। बस केवल वन्दर-श्वानुवत् पंच विषय, मलिन-इन्द्रिय भोग हित क्षण-क्षण तृष्णा-वश जलते रहते हैं। यही भूल की महिमा है। भला! विचार करना चाहिये कि यदि प्रथम से विवेकी संत-महात्मा न होते, सद्ग्रंथ न बनाते, सत्योपदेश न करते, तो संसार के सम्पूर्ण प्राणी पशुवत् हो जाते, अर्थात् सद्गुण-सद्ज्ञान-रहित शिश्न-उदर के भोग तक ही बुद्धि होती। अच्छे, सदाचारी, सत्यपरायण सज्जन, संत-महात्मा द्वारा ही परम्परा से जगत् का कल्याण होते आया है। स्वरूपज्ञान पूर्वक दया, क्षमा, सत्य, शील, विचार, धैर्य संतोषादि सद्गुण ही मनुष्य को परमलक्ष्य, स्वतंत्र, शान्ति, मुक्ति तक पहुँचाने वाले हैं; और ये ही साधु गुण हैं; अन्यथा रूप, यौवन, बल, बुद्धि, विद्या सम्पन्न भी उक्त सद्गुण बिना पेट-पालन और इन्द्रिय-भोग में पशुतुल्य जीवन समाप्त कर रहे हैं। सत्संग-सद्बुद्धि-विहीन मनुष्य क्या अपना कल्याण सुधार करेगा क्या दूसरे का। आप तो ठीक इसी प्रकार हो रहे हैं —

चौपाई

करहिं मोह वश द्रोह परावा। साधु संग हरि भक्ति न भावा॥
अवगुण सिन्धु मन्द मति कामी। वेद विदूषक पर धन स्वामी॥
साधु द्रोह पर द्रोह विशेषी। दम्भ कपट जिय धरे सुवेषी॥रामा०

सन्त-महात्मा ही सदा जनता को सुमार्ग बताते आये हैं। देखो!

संत की महिमा वर्णन करते हुए गोस्वामी जी वैराग्य संदीपनी में कहते हैं—

सोरठा—"को बरणैं मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की।
जिनके विमल विवेक, शेष महेष न कहि सकत॥

दोहाः— महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सो तदपि, महिमा लिखी न जाइ॥
धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्र वर सोइ।
तुलसी जो रामहिं भजे, जैसहुँ कैसहुँ होइ।"

मदनसेन बोला—एक प्रकार आपका कहना ठीक है; किन्तु आजकल हम देखते हैं कि जिसके घर में खाना-पीना घटा तथा और कोई कष्ट हुआ, बस वे साधु-वेष बना-बना कर नीच-नीच जाति बड़ों-बड़ों से पुजवाते हैं। पद्मचन्द्र— चाहे जाति-पाँति में छोटे हों या बड़े, परमार्थ में गुण ही श्रेष्ठ होते आया है और रहेगा, देखो गोस्वामी जी पुनः वैराग्य संदीपनी में कहते हैं।

चौपाई

यदपि साधु सबहीं विधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना।
यह दिन रैन नाम उच्चरे। वह नित मान अगिन महँ जरे॥

दोहा:—तुलसी भगत सपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥

और त्याग के विषय में ऐसा समझना चाहिये कि जो गृहस्थी त्यागता है वह अपना सर्वस्व ही त्यागता है, चाहे वह एक फूटी हण्डी और टूटी झोपड़ी त्यागी हो अथवा सम्पूर्ण विश्व का राज्य, दोनों बराबर हैं। केवल सच्चाई से वैराग्य पूर्वक त्याग होना चाहिये। कहा भी है-

दोहा—"बड़े विवेकी तजत हैं, सम्पत्ति सुत पितु मात।
कंथा अरु कौपीन हूं, मोसो तजी न जात॥"

श्रेष्ठता, सद्गुण संत-स्वभाव धारण में है न कि कोई नाम-रूप द्रव्य-सम्पत्ति विशेष में। संत और सत्संग के अमौलिक गुण को न जान कर कितने प्राणी सत्संग से उल्टे रहते हैं। यथा—

कवित्त

गजराजवत् संत चलत स्वपंथ माहिं,
श्वान सम जग जीव भूँकत घनेरे हैं।
कोई कहे नारि मुई घर धन नाश भयो,
मारा दुरियावा गये साधु तब भेरे हैं॥
कोई कहे घर माहिं काम हूँ सधत नाहिं,
जीभ स्वाद हेतु बड़ा बाबा हूँ बनेरे हैं।
कोई कहे सर्वहूँ पाखण्डी मिलि साधु भये,
कोई कहे साधु नाहिं देश के लुटेरे हैं॥१॥

कंकर वो कंचन को पारख करत नाहिं,
कंकर के साथ भल कंचन को फेंकते।
कंकर स्वरूप जो असाधु साधु वेष माहिं,
ताहि साथ कंचन सु साधु काहि देखते॥
पर साधु गुरु तो अमान चित सहि लेत,
सब को समान जानि सम दृष्टि पेखते।
धन्य सन्त गुरु बोली-ठोली बहु निन्दा सहि,
नित्य अभिलाष परमारथ में जोड़ते॥२॥

साधु-वेष बनाकर संसार में बहुत ठग भी हैं, कामी-कुचाली भी हैं, यह बात नितान्त सत्य है। किन्तु उन ठग वेषधारियों के साथ-साथ सत्य विचारवान् विवेकी सन्तों की भी निन्दा करनी और उनका भी सत्संग छोड़ देना कितनी भूल है! कोई कंकर के साथ कंचन एवं भूसी-पइया के साथ चावल फेंकता है! कोई नहीं। यदि कहिये संसार में कोई साधु ही नहीं है, तो उल्लूक पक्षी की भाँति सूर्य की निन्दा करनी है। मदनसेन बोला— अहो भैया पद्मचन्द्र आप की बुद्धि संतों के सत्संग से बड़ी ही तीव्र और सद्धर्म-आचरण बोधक हो गयी है। अच्छा यह बतलाइये कि सन्तों के सत्संग से क्या-क्या लाभ होते हैं? पद्मचन्द्र—सुनो!

सवैया —

संत के संग से शांति मिले, अरु भोगन चाह अशांति नशावे ।
ईर्षा वो डाह विक्षेप को नाशि के, सर्व से मीत वो हीत बनावे ।।
चंचल चित्त को थीर करे, सुख सिन्धु स्वरूप में ध्यान बसावे ।
भोगन चाह गरीबी विनाशि के, क्षत्रपती सिरमौर सुहावे ।। १ ।।

दुःख के मूल कुसंगति जो अति, संत के संग से ताहि से छूटे ।
गांजा वो भांग तमाकू वो मद्य है, सो सब आदत से मन टूटे ।।
फैसनबाजी अनेकन खर्च वो, हर्ज से छूटि सुशांति अटूटे ।
मान वो मोह विकार विलाहिं, स्वरूप को बोध मिलै जो अखूटे ।। २ ।।

नास्तिक तत्त्व प्रकृति वो देह, विवाद को त्यागि स्व चेतन जाने ।
बन्धन त्यागि विषय स्नेह, जरा मरणों सह पिण्ड छुड़ाने ।।
मानुष देह को लाभ मिलै तेहि, जो सत्संगत को दृढ़ ठानै ।
चाहे जहाँ जेहि देश रहे, गुण देखि के ताहि सबै सन्मानै ।। ३ ।।

शील दया वो क्षमा सुविचार, अमोलिक रत्न सुसंग से पावे ।
होवे कमी नहिं कौनिउ भाँति, सबै विधि जीवन शान्ति बितावे ।।
जागो न मीत ! करो सत्संग, सबै फल आपहिं से दर्शावे ।
विद्या वो देह को मान तजो, सत्संग सदा अभिलाष बढ़ावे ।। ४ ।।

देखिये । नर-जन्म-प्राप्त कर सच्चे संत का सत्संग ही सार है, बिना सत्संग, भक्ति-भजन, तथा कल्याण सुधार के मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं ।

पद

भजन बिन नर तन माटी को मोल ।। टेक ।।
गहना भूषण हाड़ न बनते, चाम न बनती ढोल ।
नर का मांस काम नहिं आवे, गाड़ि जारि करि झोल ।। १ ।।
विषय भोग से श्रेष्ठ कहो जो, यहो ठीक नहिं बोल ।
बन्दर श्वान शूकरी शूकर, भोगत विषयन रोल ।। २ ।।

शिश्न उदर पोषत पशु पक्षी, तैसे नर को खोल।
भक्ति विवेक भजन नहिं संगत, नहिं सद्गुण अनमोल ॥ ३ ॥
स्वप्न सनेही जगत कुटुम्बी, क्यों भूले तू डोल।
ये अभिलाष क्षणहिं में छूटे, गहु गुरू भक्ति अमोल ॥ ४ ॥

ऐसा सुन कर मदनसेन अपना सर्व मान-मद त्याग कर नित्य का सत्संगी एवं संतसेवी हो गया, और अपने साथ-साथ कई एक को सत्संगी बना दिया।

जौन जौन दुख प्रतिकूल विषयन माहिं,
सोई सोई दुक्ख अनुकूल में दिखाइये।
लखि के स्वरूप भिन्न दुख सुख नाहिं कछु,
इच्छा सब दग्ध करि भर्म नहिं लाइये ॥
शब्द गन्ध रूप रस परश में सुख नाहिं,
मानि मानि जीव तहाँ भोग दुख खाइये।
ताहि वश देह तजि गर्भ माहिं जाय पुनि,
अब तो विराग लहि मुक्ति पद पाइये ॥५॥

टीका:— प्रतिकूल विषयों में जिन दुःखों की अनुभूति होती है, उन्हीं दुःखों को अनुकूलता में भी देखना चाहिये। अपने चेतन स्वरूप को सबसे पृथक समझो, दुःख सुख को झूठा जानो। विषयों की इच्छाओं को भस्मीभूत करो, भोगों में सुख-भ्रम मत लाओ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध में सुख नहीं है। जीव उनमें सुख की व्यर्थ मान्यता करके दुःखों को भोगता है। इन्हीं विषय-वासनाओं के वशीभूत होकर जीव पुनः-पुनः गर्भवास में जाता है। परन्तु, अब हे मुमुक्षु! विषय-भोगों से वैराग्य करो और मोक्षपद प्राप्त करो ॥५॥

व्याख्या:— अपमान, निन्दा, रोग, निर्वाहिक वस्तुओं की कमी तथा प्रतिकूल प्राणी-पदार्थों में मनुष्य दुःख मानता है और सम्मान,

स्तुति, स्वास्थ्य, धन-धान्य की बाहुल्यता एवं अनुकूल प्राणी-पदार्थों में वह आसक्त हो जाता है। परन्तु अनुकूलता की आसक्ति ही दुःखों का बीज है, ऐसा समझ कर साधक को अनुकूलता में ही दुःखों के दर्शन कर लेना चाहिये। विषयों से वैराग्य रखने वाला ही जीवन-लाभ परमशान्ति की प्राप्ति करता है। वासनाहीन शान्ति की प्राप्ति ही महा लाभ है। शेष, जीवन और जगत् सारहीन तथा स्वप्न है।

शिक्षा :— बहुत दिन दुःखवनों में भ्रमे, आज दुःख छुड़ाने का अत्यंत उत्तम अवसर मिला है, अतः अपना अमूल्य अवसर संसार के व्यर्थ मोह-ममत्व में न खोओ। कोई अपना साथी नहीं होगा। संसार के प्राणी-पदार्थ संसार में रह जायेंगे, तुम्हें बरबस सबको छोड़कर जाना होगा; और वह दिन दूर नहीं है। आज-कल में सब छूटने वाले हैं। अतः मोह नींद से जागो, अपने कल्याण-पथ में झट-पट जुट जाओ।

कवित्त

मूरख निपट तेरी आँख से दिखात नहिं,
सब मरे जात क्या तू अमर रहन को।
एक दिन आय के अचानक हि काल गहें,
तब तो भले हीं दुख विवश सहन को॥
याते सब भोगन को आश अभिलाष तजि,
एक चित निशिदिन करहु भजन को।
जीवन क्षणिक नर नेकी ही करत चलो,
नेक वो कुनेक दुइ रहत कहन को॥

माया मोह लोभ तजि गुरु को शरण गहि,
फिर नहिं दुख जग वन भरमाइए।
आदि मध्य अन्त दुःख चेति के सजग होय,
आदत स्वभाव वश काहे को भुलाइए॥

याद कर दुःख सब सन्मुख लाय लाय,
जाय जाय सत्संग मन को मिटाइए।
सुभग तु नर तन पाय क्यों विषय माहिं,
धाय धाय जन्म शुभ काहे को गवाँइए ॥६

टीका :— मनुष्यो ! माया-मोह और लोभ को त्याग कर विवेकी सद्गुरु की शरण ग्रहण करो, जगत् के दुःख-वनों में मत भटको। भोगों के आदि, मध्य तथा अन्त— सर्वत्र दुःख है, ऐसा जानकर विषयों से सावधान हो जाओ, दुर्व्यसन तथा मलीन स्वभाव के वश होकर क्यों भूल रहे हो ? भोगों के परिणाम में जीव को जो दुःख होता है उसको बारम्बार स्मरण में रखो और विवेकवान् सन्तों के सत्संग में जा-जाकर मन के विकारों को नष्ट करो। हे जीव ! सुन्दर मानव तन पाकर मृगतृष्णा रूप विषय-वासनाओं में दौड़-दौड़ कर क्यों उत्तम जन्म को खो रहे हो ॥ ६ ॥

व्याख्याः— मनुष्यो ! उठो ! अज्ञान नींद से जागो, देखो ! जिस स्वप्न की काया-माया में भूलते हो, वह बादलवत् अत्यंत क्षण-भंगुर है। जिन स्त्री-पुत्र-मित्रादि कुल-कुटुम्बियों के मोह में जकड़े हो, वे मन-वशी स्वार्थी हैं, क्षण में और के तौर हो जाने वाले हैं। जिस धन के कीड़े बने हो, धर्म-परमार्थ में खर्च किया नहीं जाता, वह एक दिन चोर या अग्नि से नष्ट होगा या तुम उसे छोड़ कर स्वयं चल दोगे। अतएव माया-मोह को जीतो, अपने आप का कल्याण करो।

शिक्षाः— मनुष्य जीवन अनमोल, अनोखा, मुक्तिदायी है परन्तु क्षण-भंगुर है; अतः शीघ्र माया-मोह त्याग कर जीव का उद्धार करना चाहिये।

अजहूँ तु चेत कर समुझ गुमानी नर,
कितहूँ दिनन तुम भोग में बिताय जू।
तृप्त पल एक नाहिं विषयन मग माहिं,
अनल में डारि घृत बढ़ै अधिकाय जू॥

तैसे यह भोग दुख अगिनी बढ़त जब,
त्यागे बिन भोग लत सुख नहिं पाय जू ।
गहि के शरण गुरुदेव की सहज माहिं,
पार भव सिन्धु होत मोक्ष पद लाय जू ॥७

टीका:—देह-मद, स्त्री-मद, धन-मद, राज - मद, ज्ञान - मद, तप - मद, सिद्धि-मद, विद्या-मद आदि में भूले हुए जीव को गुमानी नर कहते हैं। गुरुदेव कहते हैं—अरे अज्ञानी अभिमानी जीव ! तू आज भी मोह-नींद से जाग और अपने मनुष्य तत्त्व पर ध्यान दे । कितने दिन तुम व्यर्थ विषय-भोगों में समाप्त कर दिया, कुछ होश है ? फिर भी विषय-मार्ग में तुम्हारी एक पलक मात्र के लिये भी तो तृप्ति नहीं हुई । जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि बढ़ती है, वैसे विषयचेष्टा रूपी अग्नि में भोग रूपी घी पड़ने से वह तृष्णा का प्रचण्ड रूप धारण कर धधकने लगी, उसमें जीव बेभान हो जलने लगा। भला विचारिये ! भोगों की आदत त्यागे बिना जीव को कैसे सुख मिले ? कहीं भोग से भी तृप्ति होती है ? अतएव हे जीव ! श्री गुरुदेव की शरण ग्रहण करो, बस तुम सरल रीति से भवसिन्धु रूप विषय-धारा को उलंघन कर जाओगे। और मानसिक इच्छा के खिचाव-रहित जीवन पर्यन्त स्वतः स्वरूप में संतुष्ट होकर प्रारब्धान्त में जन्म-मरण-रहित विदेह मुक्ति पद को प्राप्त कर लोगे ॥ ७ ॥

आदत कुसंग लत दिल से निकारि जिन,
सोइ नर भूप जग शांति सुख पाई है।
गाँजा भाँग धूम्रपान बीड़ी सिगरेट कोई,
मदिरा अफीम चण्डू ताड़ी मांस खाई है ॥
दोहरा धतूरा राख खपटा कि लत जेहि,
तेहि बिन चैन दिन रैन नहिं आई है ।
सुखी होत सोइ नर इन से जो पार होत,
करि के अभाव दोष दृष्टि उर लाई है ॥८

टीका :— जिन्होंने कुसंग का सर्वथा त्याग किया है तथा दुर्व्यसनों को हृदय से निकाल दिया है; वे ही मनुष्य भूपवत्[1] हैं, संसार में वे ही शान्ति रूपी सुख का अनुभव करते हैं। अन्यथा अज्ञानी लोग तो गांजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, पान, मदिरा, अफीम, चण्डू, ताड़ी, मांस, दोहरा (खैर-सुपारी आदि) ,धतूरा, राख, खपड़ा आदि तक खाने-पीने की आदत बना लेते हैं; और इनके बिना उनको रात-दिन विश्रांति नहीं मिलती। सुखी वही मनुष्य होता है जो इन दुर्व्यसनों से पृथक होता है, इनका त्याग रखता है, इसके प्रति हृदय में दोष-दर्शन रखता है ॥ ८ ॥

शिक्षा—मांस, मछली, अण्डा तथा बुद्धि-नाशक नशीली, अपवित्र वस्तुओं को त्याग कर, देह-निर्वाह के लिये शुद्ध अन्न-जल, साग, फल, मूल, दूध, घृत, मेवादि पवित्रता, दया, अहिंसा एवं विचार पूर्वक ग्रहण करना चाहिये और शुद्ध सतोगुणी, नम्र, कोमल, सदाचारी शीलवान बन कर सत्संग सद्ज्ञान-द्वारा अपने जीवन का उद्धार करना चाहिये।

व्यसनी राजा

दृष्टान्त:— एक राजा अति दुर्व्यसनी था। वह गाँजा-भाँग, बीड़ी सिगरेट, तम्बाकू, चर्स, मांस, शराब आदि कोई भी व्यसन से वंचित न था। इस बात से राजदरबारी और प्रजा बहुत ऊब-घबरा गयी थी। चतुर और सतोगुणी मंत्री ने उसकी नीच आदतें छुड़ाने की युक्ति सोची। एक दिन एक शराब की बोतल मंत्री ने छिपाकर राजा के सामने से जाने लगा। राजा ने कहा—मंत्री जी ! हाथ में क्या लिये हो ? मंत्री बोला— तोता। राजा बोला—नहीं-नहीं सच-सच बतलाओ मंत्री बोला—घोड़ा। राजा बोला—कैसी बात कर रहे हो, सत्य-सत्य क्यों नहीं कहते ? मंत्री बोला —हुजूर ! हाथी है। यह सुन राजा

---

१ घुंघुची से सोना तौला जाता है, वजन में दोनों बराबर हैं; किन्तु मूल्य में बड़ा अन्तर, कहाँ सोना, कहाँ घुंघुची ? तद्वत राजा प्रमाण और वीतराग पुरुष प्रमेय हैं राजा घुँघुचीवत् और विषय-इच्छा-रहित संत जन सोना वत् हैं।

क्रोधित होकर कहने लगा--सत्य बात बताते क्यों नहीं, बतलाओ हाथ में क्या लिये हो ? मंत्री बोला—सरकार गधा लिये हूँ। राजा हँस के बोले आप क्या नाटक कर रहे हैं, सही-सही क्या लिये हैं ? यह सुन कर मंत्री ने राजा के सामने शराब की बोतल रख दी और बोला—यह शराब है। राजा बोला—इसको घोड़ा-हाथी आदि क्यों बतलाये ! मंत्री बोला--सुनिये ! शराब का पहला प्याला पीने से जीभ तोते की भाँति तुतलाने लगती है, इसलिये शराब को पहले तोता कहा। और दूसरा प्याला पीने से घोड़े की भाँति मनुष्य हिनहिनाने लगता है, अतः घोड़ा कहा पुनः तीसरे प्याले के पीने से हाथी की भाँति झूमने लगता है, अतः हाथी कहा और चौथा प्याला पीने से वह गधा का-सा हो जाता है, जहाँ-तहाँ मल-मूत्र या नालियों में लोटता फिरता है, अतः गधा कहा। और पाँचवाँ प्याला पीते ही मनुष्य शराब रूप हो जाता है, सब सुधि-बुधि जाती रहती है, इसलिये पाँचवी बार शराब की बोतल सामने रख दी उक्त विपरीत बात कहने का यही तात्पर्य है।

इतना सुनकर राजा बहुत लज्जित हुआ और उसी दिन से शराब पीना छोड़ दिया, और मांसाहारादि भी छोड़ दिया; किन्तु अभी गाँजा-भाँग, तम्बाकू आदि नहीं छूटे थे। राजा सोचता था इतने-दुर्व्यसन क्या करेंगे; किन्तु यह राजा की नितान्त भूल थी। एक दिन मंत्री ने राजा से सर्व दुर्व्यसनों को छोड़ देने को कहा। राजा ने उत्तर दिया—गाँजा-भाँग, तम्बाकू आदि खाने-पीने में तो कोई विशेष हानि नहीं प्रतीत होती। मंत्री ने कहा—सुनिये ! एक शहर में एक विशाल भवन था। वहाँ का यह नियम था कि उस भवन का जो विहार करना चाहता, वह प्रथम फाटक पर जाता तब वेश्यागमन करना पड़ता, पश्चात् वह उसे पार कर आगे जाता था। पुनः दूसरे फाटक पर मांस-भक्षण, तीसरे पर शराब-पान, चौथे पर गाँजा-भाँग, और पाँचवे पर जब तम्बाकू खाता-पीता तब पाँचों फाटक पार होकर उस भवन में विहार

करता था। एक राजा उस भवन में प्रवेश किया। वहाँ के कर्मचारी अन्दर जाने से रोके और कहे कि—यदि अन्दर जाना चाहें तो वेश्या-गमन करके जा सकते हैं। राजा सात्विक था, उसने वेश्यागमन करना अस्वीकार कर दिया; किन्तु कर्मचारी गण राजा को अन्दर जाने से न रोक सके। निदान राजा चार फाटकों पर—वेश्यागमन, मांस-भक्षण, शराब-पान न कर और गाँजा-भाँग न पीकर सबको हटाते हुए पाँचवें फाटक पर जा पहुँचा। वहाँ पर लोग कहने लगे—राजा साहब ! तम्बाकू तो खाइये, इसमें क्या दोष है ? राजा ने कई बार अस्वीकार किया, किन्तु बहुत कहने-सुनने पर "तम्बाकू कोई बहुत निकृष्ट वस्तु नहीं" ऐसा विचार कर खा गया। तम्बाकू खाते ही राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, वह सोचने लगा गाँजा-भाँग खाने-पीने ही में क्या हानि है। निदान लौटकर चौथे फाटक पर आया, और गाँजा-भाँग खूब खाया-पीया। अब तो इसकी बुद्धि और भ्रष्ट हो गयी और वह लौट कर तीसरे फाटक पर आया, और खूब छक कर शराब पीया। पुनः उसने सोचा— जब शराब पी लिया तब मांस खाने ही में क्या दोष ! क्या था, उसने आकर दूसरे फाटक पर मांस भी खाया। पुनः इस प्रकार उसकी बुद्धि और नष्ट हो गई; और धर्म से पतित हुआ राजा आकर प्रथम फाटक पर वेश्यागमन भी किया।

इतनी कथा कहकर मंत्री ने कहा— हे राजन् ! देखो !! राजा ने सभी दुर्व्यसनों को हटाया; किन्तु एक तम्बाकू खा लेने से गाँजा-भाँग, शराब, मांस-भक्षण एवं वेश्यागमन तक भी किया; अतः सर्व नीच आदतों, दुर्व्यसनों को शीघ्र त्यागना चाहिये। मनुष्य का शुद्ध शरीर-निर्वाह अन्न-जल, फल-मूल, मेवादि से चलता है, जिसमें नशा और हिंसा न हो, रज-वीर्य से न बना हो, शुद्ध अंकुरज मात्र हो, उसी को ग्रहण करना चाहिये। ऐसा सुन कर राजा उसी दिन से सर्व दुर्व्यसनों को त्याग दिया और शुद्ध सतोगुणी हो गया और बहुतों को गाँजा-भाँग, शराब-मांस, तम्बाकू आदि से मुक्त कराया।

शिक्षा-पद

अमलखोरी बुराई है, तिसे तुम त्याग दो प्यारे।
संत सत्सङ्ग को कीजै, सदा सद्गुण हृदय धारे ॥टेक॥
मांस वो मद्य तम्बाकू, वो बीड़ी चर्स गांजा है।
पड़ी आदत जहाँ इनकी, जले दिन रैन चितारे ॥ १ ॥
नशा से नाश तन धन हो, लोक परलोक सुख शांती।
कुसङ्गत में सदा पड़ कर, दुखों के भार सिर धारे ॥ २ ॥
व्यसन दुख जानि के त्यागो, कुसङ्गत से हटो जल्दी।
मनुष तन लाभ को ले लो, भक्ति सद्धर्म को लारे ॥ ३ ॥
अहिंसा शील गुरुभक्ती, सरल संतोष सत्सङ्गत।
मनुज के हैं यही लक्षण, गहो अभिलाष गुण सारे ॥ ४ ॥

वन्दना-सोरठा।

गुरू ज्ञान सिद्धान्त, अपने आप स्वदेश रहि।
गत मानन्दी भ्रान्त, लेन, देन उपकार यहि ॥१

टीका :— यही सद्गुरु का ज्ञान तथा सिद्धान्त है कि मुमुक्षु अपने स्वरूप देश में स्थित हो जाय। और सर्व जड़-मानन्दियों तथा भ्रान्तियों से मुक्त हो जाय। बोध लेने-देने का यही फल है ॥ १ ॥

गुरु पद शरण दयाल, याहि हेतु वन्दन करूँ।
कीजै मोहिं बहाल, सूरतदास विवेक गुरु ॥२

टीका:—हे दयानिधे सद्गुरु देव ! आप की शरणों में पड़ता हूँ; और आप के चरण कमलों की बारम्बार वन्दना करता हूँ। हे सद्गुरु श्री विवेक साहेब ! इस दीन दास "सूरतदास" को स्वयं शान्त स्वरूप में स्थिर कर दीजिये ॥ २ ॥

सवैया

भिखारी है आय खड़ा तव द्वार, दया करि दान दया निधि दीजै।
अखण्डित भक्ति मिलै गुरुजी, यही आश मेरी है निराश न कीजै ॥
दीन खड़ा विनवे कर जोर, स्वदास बना करुणानिधि लीजै।
आर्त अनाथ अनाश्रय जानि के, श्रीगुरुदेव जु दृष्टि घुमीजै ॥ १ ॥

पद

मन ! करु प्रेम शुचि सत्संग ॥ टेक ॥

जड़ चैतन्य को भिन्न दृष्टि, पाइ बोध अभंग ॥ १ ॥
व्यसन दुर्गुण दुसह दारुण, दुःख दमन कुसंग ॥ २ ॥
प्रश्न उत्तर कथा निर्णय, विविध ज्ञान प्रसंग ॥ ३ ॥
पर्शि आगत पाप संचित, बहत निर्मल गंग ॥ ४ ॥
साधि साधन विरति बाढ़त, ध्वंस होत अनंग ॥ ५ ॥
पाय पद अभिलाष आपन, लहत मोक्ष असंग ॥ ६ ॥

चतुर्थ पाठ समाप्त

पंचम पाठ प्रारम्भ

वन्दना-सोरठा

जाते ज्ञान प्रकाश, वन्दों गुरु पद परख को।
नाश्यो जड़ तम भास, अनादि भूल को मेटि के ॥१

टीका:—जिनसे स्वरूपज्ञान की प्राप्ति हुई, उन पारखी सद्‌गुरु के चरण-कमलों की बन्दना करता हूँ। आपने अनादि अज्ञान को मिटा कर जड़ासक्ति-अँधियारी को नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

तैसे बोध दृढ़ाय, अजर अमर जस आप जिव।
अन्य विकल्प हटाय, थीर कियो निज को निजहिं॥२

टीका:—यह जीव जैसे वृद्धादि अवस्थाओं से रहित अजर, अमर तथा स्वतः निराधार है, उसी प्रकार आप बोध दृढ़ कर दिये। मन की अन्य भ्रान्तियों को दूर करके जीव को अपने आप में स्थिर कर दिये ॥२॥

विनय पद

गुरु बिन को करे भव पार ॥ टेक ॥

ब्रह्म विश्व स्वरूप दूजे, ईश शून्य अकार।
कीश नट इव नर नचावत, किमि सकै सो तार ॥ १ ॥
विधि महेश सुरेश हरि, सनकादि सुर मुनि नार।
गुरु चरण के दास सब, चौबीसहूँ औतार ॥ २ ॥
यज्ञ जप तप योग साधन, तीर्थ वर्त हजार।
उर अविद्या ग्रंथि को, किमि करि सकै निरुवार ॥ ३ ॥
सकल भ्रम मत पथ परीक्षक, जाल युग से न्यार।
श्री कबीर दयाल दिनकर, परख ज्ञान उजार ॥ ४ ॥
काल गाल कराल बाल, बेहाल लेहु उबार।
सकल आश विहाइ, लघु अभिलाष शरण तुम्हार ॥ ५ ॥

प्रसंग—१—शुद्ध बोध से इच्छा, मानन्दी और कर्मों का नाश।

साखी

चार तत्त्व जड़ता सहित, पृथक पृथक गुण धर्म।
क्रिया शक्ति तैसे रहै, बिन जाने सुख भर्म ॥३

टीका:—पृथ्वी आदि चारों तत्त्व जड़तापूर्ण हैं। इनके गुण, धर्म, क्रियायें तथा शक्तियाँ पृथक-पृथक हैं। इनकी वास्तविकता जाने बिना इनसे रचित कार्य-पदार्थों—शरीरादि में सुख का भ्रम होता है ॥ ३ ॥

व्याख्या:—सभी तत्त्वों के गुण, धर्म, क्रिया, शक्ति, आकारादि पृथक्-पृथक् हैं; परन्तु जड़ता में सभी तत्त्व समान हैं। तत्त्वों के गुण-धर्मादि की भिन्नता से उनके कार्यों में विलक्षणता परिलक्षित होती है; परन्तु सभी तत्त्व एक समान जड़ होने से विलक्षण दिखते हुए सारे कार्य जड़ ही होंगे। विवेक न होने से ही लोग उन जड़-पदार्थों से चेतन की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं अथवा जड़-पदार्थों में सुख का भ्रम लाते हैं।

विषय पंच जड़ रूप हैं, ज्ञाता जिव चैतन्य।
ध्यास क्रिया सुख मानिके, राग मोह भरमन्य ॥४

टीका:—पाँचों विषय जड़ रूप हैं, उनके ज्ञाता-द्रष्टा जीव चेतन हैं। अज्ञान-वश विषय-क्रिया में जीव सुख मान कर उनका अध्यास टिका लेता है और उन्हीं के राग तथा मोह-वश पुनर्जन्मादि रूपी लोकों में भ्रमता रहता है ॥ ४ ॥

स्वच्छ ज्ञान वैराग्य युत, गुरू बोध जब पुष्ट।
अज्ञान बन्ध नाशै जबहिं, भक्ति विवेकहिं तुष्ट ॥५

टीका:—निर्मल स्वरूप-ज्ञान तथा वैराग्य-पूर्वक जब गुरु-बोध दृढ़ हो जाता है; तब भक्ति-विवेकादि हंस-रहनी-द्वारा अज्ञान-बन्धन नष्ट हो जाता है और जीव परम सन्तुष्टि को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

चेतन शुद्ध स्वरूप से, बन्धन रहित अकाम।
विपरीत चाहना छोड़ि के, गुरू बोध विश्राम ॥६

टीका :—यह चेतन अपने मूल स्वरूप से शुद्ध, निर्बन्ध तथा निष्काम है। कल्याण-विरोधिनी विषय-इच्छाओं को छोड़कर जीव को स्वरूप-बोध में ही परम शान्ति मिल जाती है ॥ ६ ॥

निजहिं भूल मानव सकल, सुख इच्छा वश शर्म।
ज्ञान अग्नि के दाह से, भस्म होत सब कर्म ॥७

टीका :—अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर ही सारी जड़-मान्यतायें बनी हैं। विषयों में सुख की इच्छा करने से ही जीव परिश्रम का बोझा सिर पर लाद रखा है। परन्तु ज्ञानाग्नि के प्रज्वलन में सारे कर्म-संस्कार भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या:—मैं सबसे निराला, अकेला, असंग हूँ, ऐसा न जानकर ही देह-गेह धन-परिवारादि में अहंता-ममता बनाकर जीव भटकता है; और अपने आपको सबसे पृथक जानकर और सबकी ममता त्यागकर सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

छन्द

जब देह आसक्ती मिटी नहिं हेतु चित संसार से।
नहिं द्वेष काहू से रहा नहिं प्रेम कोई यार से ॥
नहिं मान इच्छा भोग की अन्तःकरण में रेष है।
तहँ कर्म की कैसे गती जहँ शुद्ध पारख शेष है ॥ १ ॥

थीर आप ही आप में, अन्य कामना तोड़ि।
शेष बचै नहिं कर्म कछु, तन मन इच्छा मोड़ि ॥८

टीका :—कल्याण-साधन के अतिरिक्त सम्पूर्ण विषय-इच्छा-तन्तुओं को तोड़कर जब यह जीव सद्प्रयत्न-द्वारा अपने आप स्वरूप ही में निश्चलता पूर्वक ठहर जाता है और शरीर की क्रिया, मन की भावना तथा इच्छा शक्ति को सन्सार-भोगों से घुमाकर स्वरूप-स्थिति की ओर ही

लगा देता है, तब इस जीव को पुनः देह धराने में हेतु रूप कोई भी कर्म-वासना शेष नहीं बचती ॥ ८ ॥

प्रश्नः—ऐसी स्थिति कब मिलती है ?

उत्तरः— जब संसार परिवर्तनशील, दुःखपूर्ण तथा इसका सम्बंध स्वप्नवत्, मिथ्या, अपने स्वरूप से भिन्न, निरर्थक प्रतीत होता है, शरीर धरने-छोड़ने में हानि-ही-हानि ज्ञात होती है, तब उपर्युक्त स्थिति मिलती है। इसका तात्पर्य अकर्मण्य होना नहीं, अपितु अनासक्त होना है।

त्याग ग्रहण मन में सदा, निश्चय प्रेरक आप।
हानि समझ त्यागन करै, लाभ जानि करि जाप ॥९

टीका :— समझ के अनुसार भावनाओं-वासनाओं का अन्तःकरण में त्याग-ग्रहण सर्वदा होता रहता है; क्योंकि किसी बात को निश्चय करने वाला तथा मन-इन्द्रियों को प्रेरित करके किसी ओर क्रिया करने वाला यह हृदय निवासी अपने आप जीव ही है। प्रत्यक्ष देखा जाता है— किसी वासना, क्रिया में हानि जानकर उसे त्याग देता और किसी में लाभ समझ कर उसका जाप करने लगता, अर्थात् प्रिय पदार्थ कब मिले ऐसा रटन बांध लेता है ॥ ९ ॥

दीर्घ काल की मित्रता, क्षण में जात दुराय।
जानि कपट छल जाहि को, दिल से देत हटाय ॥१०

टीका :— बहुत समय का गाढ़ा प्रेम किसी मित्र से रहता है, किन्तु मनुष्य जब ऐसा जान जाता है कि यह मित्र अब हमारा वैरी हो गया, तब उसकी बहुत दिनों की मित्रता क्षण ही में न मालूम कहाँ चली जाती है। जिसको कपटी-छली-घातक जान लिया उसको हृदय से सर्वदा के लिये दूर कर देता है ॥ १० ॥

अनादि काल की भूल तस, पारख भये नशात।
पारख के परकाश में, छल बल नहीं सोहात ॥११

टीका :— इसी प्रकार अनादि काल की स्वरूप-भूल और विषयासक्ति की पूर्ण परीक्षा होते ही वह शीघ्र नष्ट हो जाती है। क्योंकि शुद्ध पारख ज्ञान के उदय में मन की धोखेबाजी अच्छी नहीं लगती ॥ ११॥

जस दिनकर परकाश में, उडगण ज्योति विलाहिं।
ज्ञान प्राप्त तस जीव को, संचित सकल नशाहिं ॥१२

टीका :— जैसे सूर्य के प्रकाश से तारागण के प्रकाश नष्ट हो जाते हैं वैसे स्वरूपज्ञान की स्थिति प्राप्त होते ही अनादि काल के घटाध्यास रूप संचित, अनेकों जन्म के भोग से बाकी शुभाशुभ कर्म रूप संचित और बोध अवस्था के प्रथम किए हुए सकाम शुभाशुभ कर्म रूप सर्व संचित सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं। यथा–साखी—

तौं लौं तारा जगमगे, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर ॥ १२ ॥

प्रसंग—२—इच्छा-शमन

भोग से इच्छा होत है, तेहि त्यागे निर्मूल।
प्रारब्धिक वर्तमान ले, छोड़ि वासना मूल ॥१३

टीका :— भोगों को भोगने से उनकी इच्छायें बनती हैं और भोगों को त्याग देने से इच्छायें जड़ से समाप्त हो जाती हैं। अतएव बोधवान को चाहिये कि वे केवल प्रारब्ध शरीर निर्वाह के लिये ही आसक्ति-रहित जड़-वस्तुओं का उपयोग करें और वासना का कारण रूप मनःकल्पित भोगों—मैथुनादि का मन, कर्म, वचन से त्याग करें ॥ १३ ॥

चाह करै किस वस्तु की, सबसे आपहिं भिन्न।
ज्ञान रूप निष्काम नित, भूल विवश है खिन्न ॥१४

टीका :— बोधवान किस वस्तु की इच्छा करे; क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप सभी मायामय पदार्थों से पृथक ज्ञानस्वरूप, निष्काम और शाश्वत है, वह अपनी भूल-वश ही दुखी होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या :— अज्ञानी होने से ही मनुष्य मायिक पदार्थों की

इच्छा में दुखी रहता है। जब इन भोग वस्तुओं, प्राणी-पदार्थों के सहित सम्पूर्ण पिण्ड-ब्रह्माण्ड अपने से अत्यन्त दूर, निष्प्रयोजन, दुःखपूर्ण भली भाँति निश्चय हो जाते हैं और सर्व कामनापूर्ण अजर, अमर अपने स्वरूप का दृढ़ बोध हो जाता है, तब स्वाभाविक विषय-इच्छायें छूट जाती हैं। जो निरन्तर निर्वासनिक, निःसंग परमपद में रमण करते हैं, वे ही इस भोगाध्यास से रहित होने का लाभ जानते हैं।

छप्पय—

गंध नाक तक होय कान तक शब्द सुरीले।
रस रसना तक रूप नेत्र तक छैल छबीले॥
चमड़ी तक स्पर्श भ्रम से सुख तहँ भासत।
क्षणभंगी दुख रूप मूढ़ मन ताहिं न जानत॥
अपने से संसार की वस्तु कोई नहीं भेटते।
याहि हेतु मन मारि के शांति सदन मैं लेटते॥ १॥

चाह सकल दुख रूप है, तेहि त्यागन कर्तव्य।
है अचाह सुख शांति लहि, तजि विकार मन्तव्य॥१५

टीका :— चाहनायें सभी दुःखदायी हैं, अतः उनका त्याग करना ही साधक का परम कर्तव्य है। सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर शान्ति रूपी सुख को प्राप्त करना चाहिये और विकारी निश्चय को त्याग देना चाहिये॥ १५॥

जब तक तन को साथ है, प्रारब्धी को अन्त।
परखि परखि तब तक रहो, तन मन प्राणिन फंद॥१६

टीका :— जब तक इस शरीर का संग बना है, एवं जब तक इस पापी प्रारब्ध-भोग की समाप्ति नहीं हो जाती, तब तक शरीर, मन और प्राणियों के बन्धनों को परीक्षा करके उन के जालों से बचते रहो॥ १६॥

प्रश्न—शरीर रहे तक बन्धनों से बचने को क्यों कहा गया और तन, मन, प्राणियों का फंदा क्या है?

उत्तर—पूर्ण वैराग्य पूर्वक वासना को मिटा कर स्वरूपस्थिति हो जाने पर भी जब तक शरीर का सम्बन्ध लगा है, तब तक प्रारब्ध-माया का आवरण है; इसलिये शरीर रहे तक माया से सावधान रहने को कहा।

तन, मन, प्राणियों के फंदें ये हैं--

(१) तन का फंदा—"शरीर का निर्वाह कैसे चलेगा, रोग, संकट, वृद्धावस्था आने पर सेवा-सहायता कौन करेगा ! औषधि, पथ्य के लिये द्रव्य कहाँ मिलेगा ! न जाने किस स्थान पर मृत्यु अवस्था आजाय !" ऐसा सोच कर डामाडोल रहना। रोग, संकट, अपमान प्राप्त होने पर अधैर्य होकर कल्याण-साधन से शिथिल होना या नीरोग और भोग्य वस्तुओं की अधिक प्राप्ति में "यह तो शरीरनिर्वाहिक है" ऐसा मान कर विशेष भोगी बने रहना। यह सब तन का फंदा है।

(२) मन का फंदा—संसार भर में धर्म प्रचार करने, सबको प्रेमी शिष्य, दास बनाने, माया में विशेष आसक्त होकर सत्संग, धर्म से शिथिल रहने, कंचन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठा, अगुवापन, अधिकार, कीर्ति, यश तथा पूज्यता प्राप्त करने की वासना हृदय में रखकर विशेष एकान्तवास, वाक्यसंयम पूर्वक स्थितिअभ्यास न करके व्यवहार की ही ओर अधिक प्रवृत्त रहना। यही मन का फंदा है।

(३) प्राणियों का फंदा--कोई आकर सेवा-प्रेम करे, मन अनुकूल बरते, बस उसके मन पर विश्वास करके या उसका सम्बन्ध सत्य मान कर उसमें अहंता-ममता बना लेना, अथवा कोई उद्वेगजनक बात कहकर निन्दा, द्वेष करे उसको शत्रु मान कर स्वयं उद्वेगित होकर ईर्ष्या-क्रोध में जलने लगना, इत्यादि यही प्राणियों का फंदा है।

प्रश्न--इन तन, मन, प्राणियों के फंदों से बचना क्या है ?

उत्तर--(१) तन के फंदा से बचना यह है--उचित पुरुषार्थ,

सावधानी, संयम, औषधि, आहार, विहार आदि रखते हुए ऐसा विचार रखे कि जैसा प्रारब्ध होगा वैसा सुख-दुःख रोग-नीरोग, मान-अपमान, निर्वाहादि अपने आप बरत जायँगे, उसमें चिंता करने से कुछ कम-विशेष नहीं हो सकता। अनायास पैसा रहे तब कीमती औषधि भी करे और पैसा न रहने पर महान औषधि तो वनस्पति जड़ी-बूटी और जल ही है। हमारे स्वरूप में शरीर न होने के कारण उस में रोग-शोक-निर्वाहादि नहीं हैं। अमूल्य अवसर में हमें अपने कल्याण-साधन में कटिबद्ध होना चाहिये। यह रोग-नीरोग, सुख-दुःखादि आकर स्वप्न-वत् शीघ्र चले जायेंगे। अपने हाथ से अपने शरीर की सेवा-रक्षा कर लेंगे, जब विवश हो जायेंगे तब जैसा प्रारब्ध होगा वैसा हो जायेगा। सदा-सदा के लिये हम दुःख-द्वन्द्वों से छूट रहें हैं, इस मल-मांस मय शत्रु रूप शरीर की कौन सी चिंता है ! संयोगाधीन बिना अन्न-जल, सेवा-सुश्रूषा के, रोग - कष्ट पूर्वक ही इस अपवित्र शरीर का नाश हो जाय तो एकरस स्वरूप की क्या हानि ? और इस विकारी शरीर का नाश हो कर यह कहीं भी तत्त्वों में मिल जाय, मैं तो नित्यप्राप्त, निरन्तर स्वरूपधाम में निश्चल ही हूँ। इस प्रकार समझ कर हर क्षण निर्भय-धैर्यवान बने रहना। विशेष पदार्थों, सेवकों, नीरोगों सुखों को प्राप्त होते हुए भी अहन्ता-ममता, हर्ष-शोक-रहित गरीबी, निर्मानता और नैराश्यता पूर्वक बरतना। यही तन के फंदा से बचना है।

(२)—संसार के सम्पूर्ण मनुष्यों को कोई भी धर्मवान्, ज्ञानी, शिष्य-सेवक तथा अनुकूल नहीं बना सका, तो हमी क्या बना लेंगे ! उचित मात्रा में उद्वेग—रहित शान्तिपूर्वक सहजिक हित की शिक्षा सामने मिले हुए प्राणियों को दे देना कर्तव्य है, चाहे कोई माने अथवा न माने, किसी पर कोई स्ववशता नहीं। मिथ्या, दुःखपूर्ण, बन्धन-दायी मान, यश, कीर्ति, पूज्यतादि की कामना तो विषयासक्ति का कुछ किरकिरा और मूल अंतःकरण में रहने से ही होती है। पूर्ण बोधलक्ष्य और वैराग्य में तो यह शत्रु रूप मान-पूज्यतादि की कामना किञ्चित्

भी नहीं रह सकती। अगुवापन, प्रभावशीलता और लायकपने का मद धारण करके सब के सुधार एवं शिक्षा-प्रचार का ही जीवन भर डींग मारते रह गये, प्रवृत्ति की ओर ही आकर्षित होते रहे, मुख्य कर्तव्य स्वरूप-स्थिति नहीं किये, तो हमारी सभी बुद्धिमता एवं श्रेष्ठता तभी मिट्टी में मिल जाती है जब कि उच्च-उच्च ज्ञानों का निर्णय करके हम जग-चिंतक बने रहे और प्रारब्धांत में पुनः गर्भवास में जाना पड़ा, इत्यादि विविध विचारों को उत्पन्न कर निरासक्ति और उदासीनता पूर्वक शिक्षा देने-लेने का उचित सम्बन्ध रखते हुए भी विशेष वाक्य-संयम, एकांतवास पूर्वक निर्वासनिक स्थिति करना ही मन के फंदे से बचना है।

(३)--कोई प्रेम करता है, सेवा करता है, मान देता है, उसके मन की बात है। जब उसकी इच्छा नहीं होगी, नहीं भी करेगा। सब जीव गर्जी हैं, चाहे भोग की गर्ज से मिलें, चाहे कल्याण की गर्ज से, फिर उनमें ममता क्यों ? सब जीव तन-मन के वश हैं, उनका मन पलट जायगा तो विमुख हो जायेंगे। अथवा मन नहीं पल्टेगा तो उनके शरीर में जब रोग लग जायेगा या अधिक थकावट हो जायेगी या उनसे वियोग हो जायगा, तब उनसे सेवा-मान नहीं मिलेंगे। सब जीव स्वतंत्र हैं, स्वरूप से भिन्न हैं; चाहे सारे संसार के मनुष्य हमारे शिष्य-दास हो जायँ तो उनके सम्बन्ध से माया-आवरण का ही भय है और अन्त में छूट जाने वाले ही हैं; इत्यादि विचार करके ममता-राग से सर्वथा और सर्वदा दूर रहना चाहिये। यदि कोई हम से प्रतिकूल रहता है, हमारी निन्दा, ईर्ष्या, अपमान, अनिष्ट-चिंतन करता है, हमें अनादर करके बोलता है; तो इस में विचार करना चाहिये कि वह हमारे लिये ऐसा क्यों करता है ! या तो जान या अजान में हम से कोई उल्टी बात उसके प्रति हो गयी होगी या उसके कोई मन अनुकूल मान-भोगों में हम बाधक हुए होंगे या भ्रम से या हमारे गुण, स्वभाव, रहस्य, ज्ञान, सुख, मान, प्रतिष्ठादि को न देख सका होगा और ईर्ष्या-वश वह हमें अपना वैरी

मान लिया होगा। यदि उसके प्रति हम से कोई अपराध हो गया है, तब तो हमें अपनी भूलों पर पश्चाताप करके उसे निकाल डालना चाहिये तथा यदि उचित हो तो उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये; और यदि हम से यथार्थतः कोई अपराध नहीं हुआ है, वह भ्रम से, ईर्ष्या-वश अज्ञान के कारण हम से वैर बाँध रहा है, तो समझना चाहिये वह अज्ञानी है। यदि वह बेचारा अज्ञानी न होता तो मेरे अपराध करने पर भी क्षमा कर देता, वैर न बाँधता; क्योंकि राग-द्वेष करने से अपनी ही हानि होती है। फिर वह जान-बूझ कर अपनी हानि क्यों करता ? इसलिए वह मेरा शत्रु नहीं है, बल्कि वैर-विरोध करके अपने अज्ञान का फल भोग रहा है। फिर भूला हुआ मनुष्य तो सर्वदा दया-क्षमा का पात्र है। वास्तव में हमसे कोई प्रतिकूल रहता है; हमारी निन्दा करता है, तो उसके हक में भले बुरा है; किन्तु हमारे लिये तो अपमान-निन्दा अमृत के तुल्य हैं। मान-प्रशंसा मिलते रहने से तो हर्ष, अहं, भुलावा ही होने का कारण रहता है और अपमान-निन्दा की प्राप्ति में तो अपने सिर की अभिमान रूपी गर्मी भी उतरती है, अपने दोष भी देखने में आते हैं, वास्तव में जिस साधक की अपमान-निन्दा नहीं होती, वह कुछ अंश में भाग्यहीन भी कहा जा सकता है। अपमान-निन्दा-दुःखादि की प्राप्ति तो कल्याण पथ में परम सहायक और भाग्य रूप समझना चाहिये। बन्धनदायी हमारे मान-बड़ाई का कोई नाश करता है तो हमारी क्या हानि करता है ! जैसे बहुत दिनों के बँधे हुए जल के बाँध के एकाएक टूट जाने से जल की प्रवाह-धारा वेगवान् होकर वह चलती है, वैसे ही बहुत दिनों का मन में लगा हुआ मान-अभिमान रूपी बाँध अपमान-निन्दादि से एकाएक टूट जाने पर सच्चे साधक के हृदय में साधन-प्रवाह वेगवान् होकर चल पड़ता है। बाहर का माना हुआ वैरी वास्तव में वैरी नहीं है, मुख्य वैरी तो मेरे दुर्गुण ही हैं। इत्यादि विविध विचार उत्पन्न करके ईर्ष्या, क्रोध, वैर, विरोध से रहित रहते हुए प्राणी मात्र का हित चिंतक बने।

सारांश—अपनी समझ अनुकूल बाहर से चाहे कोई हमें मित्र माने या शत्रु, हम किसी से ममता-आसक्ति तथा द्वेष भावना न करें। सब से उदासीन, सब के रगड़े-झगड़े से दूर, सब का हित चिंतक होते हुए स्थिति-रत रहें। यही प्राणियों के फंदों से बचना है।

राग किये से ना डिगो, द्वेष किये नहिं ऊब।
मन वश प्राणी जानि के, परखि बचो तेहि खूब ॥१७

टीका :— किसी प्राणी के विशेष सेवा-प्रेम करने, अनुकूल आज्ञाकारी रहने से उसके प्रति ममता-मोह बना कर अपने कल्याण-पथ से विचलित न होओ, और यदि कोई ईर्ष्या करके अपमान, निन्दा, कटु वचन कहे, टेढ़े रहे, तो उसमें ऊब-घबरा भी न जाओ। क्योंकि सभी प्राणी मन के वश हैं। अपनी-अपनी भावना-समझ अनुसार कोई प्रेम करेगा तो कोई द्वेष भी करेगा। अतएव प्राणियों को मनवश जान कर उनके राग-द्वेष कृत फंदाओं से परीक्षा पूर्वक भली भाँति बचते रहो, अर्थात् सर्वदा शत्रु-मित्र भावना से रहित रहो ॥ १७ ॥ वैराग्य सन्दीपनी में भी कहा है—

दोहा—सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान ॥
सोइ ज्ञानी सोई गुणी, सोइ दाता सोइ ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई, राग द्वेष की हानि ॥

काल खात सब जीव को, सूझि परत नहिं अन्ध।
जीव ग्रसे दुर्मति प्रबल, पड़े मानसिक धन्ध ॥१८

टीका :— मुख्य दम्पती भोग तथा संसार पंच, विषय, विद्या, वाणी, मान, प्रतिष्ठा, नाम, रूप, खान, पान, पट, पात्र अर्थात् जहाँ तक एड़ी से चोटी एवं पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक जड़ वर्ग की सुख- मानन्दो, अहंकार, मानसिक आमोद-प्रमोद है; यही बड़ा भारी कष्टदायी काल है। यही विषयानन्द-अहंकार रूपी काल मनवशी सर्व जीवों को खा रहा है, जन्मादिक दुःखों में भ्रमा रहा है। किन्तु भूले जीवों को समझ नहीं पड़ती; विषयासक्ति

रूपी प्रचण्ड दुर्बुद्धि जीव को घेरे हैं, इसलिये मनःकल्पित विषय-व्यवहार ही में सब जीव पड़े हैं।

दूसरा अर्थ—सब देह धारियों के जीवन को क्षण-क्षण समय समाप्त कर रहा है, मनुष्य नित्य-नित्य मृत्यु के निकट हो रहा है; आज मरे या कल; किन्तु विवेक-हीन अन्धे जीवों को यह मृत्यु का आक्रमण प्रतीत नहीं होता। मैं-तैं और मोर-तोर की मोह-मानन्दी में पड़कर के हाय धन, हाय कुटुम्बी, हाय भोग, हाय स्वार्थ इसी प्रकार की दुर्बुद्धि जीव को फँसाये हैं और परलोकी सौदा धर्म-परमार्थ कल्याण-सुधार त्याग करके मनःकल्पित स्वप्नवत् मायामोह के व्यवहार में सर्व अज्ञानी जीव पड़े हैं॥ १८॥

कवित्त

पल वो मिनट गयो आज गयो काल्ह गयो,
याहि बीच काल आय गाल में धरतु है।
मोर नारि मोर पूत मोर घर मोर धन,
मोर मोर करि शठ याहि में मरतु है॥
कहत सुनत खात सूँघत परश माहिं,
जीवन अमोल मणि बीतत टरतु है।
भजन विचार गुरु ज्ञान सत्सङ्ग बिन,
यह जीव फेरि चौ खानि में परतु है॥ १॥

जब सुख को दुख जानिके, निरहंकारी होय।
वही दृष्टि यकरस रखै, तबहीं बन्धन खोय॥१९

टीका :— दम्पती भोग सहित पाँचों विषयों के मनःकल्पित सुखों को भली भांति दुःख रूप जान करके और नख-शिख अपवित्र शरीर[1] का अध्यास त्याग कर इससे जब पूर्ण निराभिमानी हो जाय और विवेक-वैराग्यादि

१—यह शरीर अशुचि रूप, दुःख रूप, क्षण-भंगुर रूप, मानसिक ताप रूप अज्ञान से चौरासी कर्म की भूमिका रूप होने से अत्यन्त कष्टदायी है, इसलिये इसका अभिमान त्याग कर मोक्ष लेना चाहिये।

सद्पुरुषार्थ करके वही लक्ष्य जीवन पर्यन्त एकरस सामने बनाये रखे तभी यह जीव जन्म-मरण के बन्धनों को नष्ट कर डालेगा ॥ १६ ॥

प्रश्न— विषय सुख को दुःख रूप जानने को क्यों कहा ?

उत्तर— वास्तव में विषयों में सुख नहीं है। सारे सुख आदती हैं। कल्पित सुख-भोगों से कामना-तृष्णा बनकर परिणाम में दुःखों की प्राप्ति होती है। जन्म-मरण और देहोपाधि कृत समस्त दुःखों का आविर्भाव इन कल्पित विषय सुखों की वासनाओं से ही होता है। इसलिए माने हुए विषय सुखों को दुःख रूप जानने को कहा, जैसे वास्तव में वे हैं।

प्रश्न— निरहंकारी होने को क्यों कहा ?

उत्तर-- अहंकार करते उसी में बनता है जो वस्तु अपनी हो, जिसमें पूर्ण स्ववशता हो। विचार करके देखिये तो इस संसार में कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, न किसी वस्तु में पूर्ण स्ववशता ही है। मुख्य जिस शरीर को बिलकुल अपना माना जाता है, वह भी तत्त्वों का विकार है, आज-कल में नष्ट होकर कारण तत्त्वों में लीन हो जायेगा। न जन्म के प्रथम यह था न मृत्यु के पश्चात् रहेगा। फिर जब शरीर ही अपना नहीं है तो शरीर की छाया रूप मन से कल्पित अनेक बाहरी सम्बन्ध स्त्री, पुत्र, गृह, सम्पत्ति, देश, ग्राम, नाम, रूप, वर्ण, आश्रम, जगत्, वेष, मठ, समाज, मत, पथ, ग्रन्थ, पट, पात्र, अधिकार, मान्य, गुरुवाई, शिष्याई, विद्या, वाणी, गुण, स्वभावादि में अहंकार करते कैसे बनेगा ? यहाँ तक कि विशेष अनुभव, ज्ञान, जीवन्मुक्ति-सुख भी शुद्ध मुक्त जीव में नहीं है। जो यह स्मरण किया जाता है "मैं अजर, अमर, शुद्ध चेतन हूँ" यह स्मरण-वृत्ति भी जीव-द्वारा स्वप्नवत् कल्पित है। केवल शरीर सम्बन्ध में देहाध्यास त्यागपूर्वक जीवन पर्यन्त स्वरूपस्थिति दृढ़ रखने के लिये ही है। अन्यथा जिस दिन प्रारब्धांत हो जायगा, उसी दिन से विदेह मुक्त जीव को अपने-पराये का कभी-किञ्चित् भी स्मरण

नहीं सतायेगा। शताब्दी बीत चलेगी, अनेकों युग समाप्त हो जायेंगे, कितनों कल्पों का अंत हो जायेगा और इतना ही क्या सर्वदा-सर्वथा कभी भी-कुछभी चिन्तन मुक्त जीव के पास नहीं आयेगा। सर्वदा निश्चित निर्द्वन्द्व, निःसंग, निश्चल, निष्क्रिय, शुद्ध, शान्त स्थित रहेगा। फिर जब द्रष्टा-दृश्य का इतना अंतर है, तो दृश्यों का अहंकार करना कहाँ तक उचित है ! अहंकार-वश आवागमन का चक्कर चलता है, शरीर का अभिमान त्याग देने से ही मुक्ति मिलती है। इसलिये निरहंकारी होने को कहा।

निश्चय करि जस आपना, हानि लाभ तस धारि।
मन प्राणी सम्बन्ध से, उत्पति कर्म प्रचारि ॥२०

टीका :— मनुष्य अपने अन्तःकरण में जैसी निश्चयता कर लेता है, उसी प्रकार हानि-लाभ की कल्पना धारण करता है। मन-द्वारा बाह्य प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर कर्मों की उत्पत्ति करता है ॥ २० ॥

अपने शुद्ध स्वरूप में, हानि लाभ कछु नाहिं।
मनन करै निशिदिन यही, गुरुपद प्रेम निबाहि ॥२१

टीका :— जीव के अपने निर्मल स्वरूप में किसी प्रकार की हानि तथा लाभ नहीं है—इसी का रात-दिन स्मरण करे और स्वरूप-बोध में निमग्न रहे ॥ २१ ॥

प्रसंग—३—जीव का मुक्त स्वरूप और रहस्य वर्णन।

ख्वाहिश रहित स्वरूप में, स्थित रहत हमेश।
मात्र मानन्दी के तजे, नहिं सम्बन्धहिं लेश ॥२२

टीका :— सांसारिक-इच्छाओं से रहित पुरुष ही सदैव स्वरूप में स्थित रहता है। क्योंकि देह-गेहादि दृश्यों की केवल अहन्ता-ममता छोड़ देने पर जीव का जड़ से किञ्चित भी सम्बन्ध नहीं रह जाता ॥ २२ ॥

निश्चय तजि निश्चय गहै, निश्चय से भव पार।
निश्चय बिन सबही बहे, बूड़ि मरे भव धार ॥२३

टीका :— भोगों में सुख का निश्चय त्याग करे और त्यागवृत्ति में सुख का निश्चय ग्रहण करे, इस निश्चय से जीव संसार-सागर से पार हो जाता है। त्याग की दृढ़ निश्चयता बिना ही 'तन वन में, मन घर में' तथा 'तन में योग, मन में भोग' की वासना रखकर सब वाचिकज्ञानी विषय-धारा में बहकर संसार-सागर में डूब मरे ॥ २३ ॥

दित्य वरण यह जीव है, जहाँ न जड़ तम चीन्ह।
शुद्ध रूप अस जानि के, जिस दिन निश्चय कीन्ह ॥२४

सब मानन्दी छोड़ि तब, आपुहिं आप सुधार।
मुक्त रूप तस आप है, ऐसा परम विचार ॥२५

टीका :— जैसे सूर्य में किञ्चिन्मात्र अंधकार नहीं, उसी प्रकार जीव में जड़-अन्धकार का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अपना शुद्ध स्वरूप जानकर जिस दिन यह निश्चय कर लेता है ॥ २४ ॥ उसी दिन से यह सभी प्रकार की अहन्ता-ममता छोड़कर अपने आप कल्याण कर लेता है। जैसे अपना स्वरूप निर्बन्ध है वैसा स्थित रह जाना ही परम विवेक है॥ २५ ॥

प्रश्न—सब मानन्दी छोड़ना और अपने आप का सुधार करना क्या है?

उत्तर--(१) जितने प्राणी हैं सब पंथी हैं, जितने पदार्थ हैं सब चार तत्त्वों के विकार, परिवर्तनशील, नाशवान् हैं, भोग दुःखपूर्ण हैं, शरीर झूठा है, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, सुख-दुःख स्वप्नवत् हैं, मिथ्या देह ही तक पहुँचने वाले हैं; यह सारा दृश्य संसार मुझ से बहुत दूर है, वासना-द्वारा प्रतीत होने वाले इस स्वप्नवत् संसार में हमारा किंचित्मात्र-कुछ भी शेष कर्तव्य नहीं है, न कुछ प्राप्त करना ही है, मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्यतृप्त, नित्यसंतुष्ट, निश्चल, निर्द्वन्द्व, निश्चिंत, निरन्तर शान्त स्वरूप हूँ; इस प्रकार बोध दृढ़ करके सर्व देहादि दृश्य पदार्थों की अहंता-ममता निःशेष भलीभाँति त्याग देना ही सब मानन्दियों को छोड़ना है।

(२) दूसरे की देखा-देखी, राग-द्वेष, ईर्ष्या-जलन, परदोष-दर्शन आदि पूर्ण रूप से त्याग कर सदा अपने में ही दुर्गुणों को देख-देख कर अपने मन, स्वभाव, इन्द्रियों को प्रतिक्षण स्ववश करते हुए स्वरूपलक्ष्य में सावधान रहना ही अपने आप का सुधार, कल्याण या मोक्ष करना है।

अस निश्चयता शीघ्र लहि, सब उपाधि को डारि।
पारख यकरस ज्ञान में, जगत वासना जारि ॥२६

टीका :— उपर्युक्त कल्याण की निश्चयता अविलम्ब धारण करके संसार की मोह-मानन्दी तथा भोगाध्यास रूप सम्पूर्ण झंझटों को दूर डाल दो। सब से भिन्न, सब का परीक्षक मैं शुद्ध चैतन्य पारख रूप हूँ, इस प्रकार निरन्तर एकरस धारणा रूपी ज्ञानाग्नि में संसार की वासना, अभ्यास, मोह-ममता रूपी बीज को जला डालो ॥ २६ ॥

स्थिति दृढ़ अभ्यास यह, प्रारब्धि भोग आधार।
फिर ना आवागमन है, मुक्त आप निरधार ॥२७

टीका :— जागत् वासना पूर्ण मिट जाने पर भी जब तक प्रारब्ध भोग सम्मुख है तब तक उसका आश्रय ले करके स्वरूप-स्थिति का निश्चलता पूर्वक निरन्तर अभ्यास करो। प्रारब्धांत तक स्वरूप-विचार में तन्मय रहने से पुनः उस मुमुक्षु के लिये जन्मना-मरना नहीं है, अर्थात् शरीर-पात-पश्चात् जन्म-मृत्यु चक्र से छूटकर बोधनिष्ठ जीव अपने आप निराधार, दुःख द्वान्द्वों से रहित विदेह मुक्त हो जायेगा ॥ २७ ॥

प्रश्न—प्रारब्ध भोग के आधार में स्वरूपस्थिति का दृढ़ अभ्यास करना क्या है ?

उत्तर—जब तक विवश प्रारब्ध है, तब तक उसकी समाप्ति की अवधि तक देह-भोग को भोगना है। एक काल में निर्वासनिक स्थिति हो जाने पर भी शेष प्रारब्ध भोग-काल में स्थिति का अभ्यास यदि त्याग दिया जायेगा तो पुनः बंधन बन जायेंगे, क्योंकि शरीर रहे तक बन्धनों का सम्बन्ध है। इसलिये ऐसा जान कर जगत्-आसक्ति का

त्याग करता हुआ अविचल वैराग्य पूर्वक प्रारब्ध भोग के साथ-साथ निरन्तर भाव युक्त स्वरूप का बारम्बार चिंतन करते रहना ही प्रारब्ध भोग के आधार में स्वरूप-स्थिति का दृढ़ अभ्यास करना है।

प्रश्न—फिर उसका आवागमन नहीं है, वह निराधार मुक्त हो जाता है, इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—उपर्युक्त वैराग्य-बोध-पूर्वक स्वरूपस्थिति जीवन पर्यन्त करते रहने से जिस दिन शरीर छूटता है उस दिन जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीर से अथवा जड़दृश्यों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर के सर्वदा के लिये अपने आप विदेह मुक्त हो जाता है। उसे फिर जन्मना-मरना नहीं पड़ता।

प्रश्न—फिर मुक्त जीव कहाँ रहता है ?

उत्तर—उसके रहने के लिये कोई जड़ तत्त्वों का परिणामशील स्थान नहीं है। जब तक जड़-वासना के वश है तब तक जड़ तत्त्वों का आधार लेता है, मुक्त जीव की जड़-वासना सर्वथा छूट जाने पर और वह किसी का अंश-कार्य न होने के कारण स्वतः, निःसंग, अविनाशी, अक्रिय होने से प्रारब्धान्त में श्वासा-नाड़ियों का तत्त्वों में लय होकर स्थूल-सूक्ष्म शरीर का नाश हो जाता है और जीव जहाँ-का-तहाँ जड़-सम्बन्ध-रहित अपने स्वरूप में निराधार निश्चल ठहर जाता है।

प्रश्न—फिर मुक्त जीव को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्व दबा, डुबा, जला या सुखा-उड़ा सकते हैं कि नहीं ?

उत्तर—जीव पच विषयों से रहित, ज्ञानस्वरूप, स्वतः, निःसंग होने से किसी तत्त्व या जड़ पदार्थों का संयोग मुक्त जीव में नहीं हो सकता।

"काल न खाय कल्प नहिं व्यापे ॥ बी०"

प्रश्न—फिर मुक्त जीव जगत् को जानेगा या नहीं ?

उत्तर—चिन्तन से जानना-जनाना होता है, और वहाँ तन मन

का अत्यन्त अभाव होने से कुछ चिन्तन नहीं, और जब चिन्तन नहीं, तब जनना-जनाना क्या ? अतः वह सर्व दुःखों से छूटा हुआ निश्चिन्त शान्त रहेगा; वहाँ कुछ जानना-जनाना नहीं रहेगा।

प्रश्न—तो फिर मुक्ति में क्या मजा है ?

उत्तर—अहो, भोले भाई ! मजा ही सजा है, चिन्तन होना ही दुःख है। आप यहाँ निश्चिन्त बैठे हैं आप से कोई आकर अभी कह दे कि आपके घर में डाका पड़ गया है या आपका पुत्र मर गया है तो आप, यह जानते, चिन्तन होते ही विकल हो जायँगे। जब तक आप नहीं जाने थे तब तक चाहे घर लूट गया हो, चाहे पुत्र मर गया हो, कोई चिन्ता नहीं। किन्तु जानते ही, चिन्तन होते ही सब दुःख होने लगे। गाढ़ी सुषुप्ति में आपको क्या दुःख होता है ? अर्थात् कुछ नहीं। तो फिर सदा के लिये विदेह निश्चिन्त मुक्ति पद की महिमा का क्या वर्णन किया जाय ! सर्वदा देहोपाधिक क्लेशों से मुक्त। सत्संग करो, निर्मानी बनो, भोग-त्याग करो, जगत्-भोग दुःख रूप समझो, अन्तर-अभ्यासी बनो तब मोक्ष लाभ जँचेगा।

तन की भूख तनिक है, तृप्त पाव या सेर।
मन की भूख अथाह है, तृप्त न पाय सुमेर ॥२८

टीका :— पेट की भूख थोड़ी होती है; वह पाव, सेर या आध सेर अन्न से मिट जाती है; किन्तु मन की भूख, मन की चाहनायें समुद्र वत् अथाह-अपार होती हैं, उन्हें यदि पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ सुमेरु पर्वत के बराबर भोग दिये जायँ तो भी मिट नहीं सकतीं ॥ २ ॥

व्याख्या :— आश्चर्य की बात है, मनुष्य क्यों दुखी रहता है ! उसके लिये दिन भर में पाव, सेर या आध सेर रूखा-सूखा भोजन मिलना चाहिये। वह भी प्रारब्ध और पुरुषार्थाधीन मिल ही जायगा। जीवन धारणोपयोगी वस्तुओं के लिये तो उसे कोई विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, फिर मनुष्य क्यों चिंतित, दुखी रहता है ?

कारण कि वह अज्ञानी है। वह मनःकल्पित भोगों के लिये रात-दिन लोलुप है। जिसके एक स्त्री है, वह दो-चार मनइच्छित रूपवती भामिनी चाहता; दो-चार होने पर सौ-पचास और इतने ही में क्या विराम ! अज्ञानी पुरुषों का मन अनेकों स्त्रियों में तथा स्त्रियों का मन अनेकों पुरुषों में भटका करता है। जिसका निर्वंश है वह 'एक ही पुत्र हो जाता तो अच्छा था' ऐसी कल्पना करता है, जिसके दो-चार हैं वह दस-पचास चाहता है। मनुष्य का पेट न तो पुत्र धन से भरता है न भोग-राज्य-पृथ्वी से और न तो अधिकार, मान, प्रतिष्ठा, बड़ाई, पूज्यता से ही। मनुष्य का मन नवीन-नवीन भोगों के लिये रात-दिन भटकता रहता है।

तृष्णा का स्वरूप

दृष्टांत---एक महात्मा एक चूहा (मूसा) पर प्रसन्न होकर के कहा—तुम क्या चाहते हो ? जो वर माँगना हो माँग लो। चूहा ने कहा—मैं बिल्ली से डरता हूँ, अतः मुझे बिल्ली बना दीजिये। महात्मा ने कहा—तुम बिल्ली बन जाओ। वह बिल्ली हो गया। अब वह कुत्ते से डरने लगा और आकर महात्मा से प्रार्थना की कि हमें कुत्ता से भय खाना पड़ता है, अतः मुझे कुत्ता बना दीजिये। महात्मा ने उसे कुत्ता बना दिया। एक दिन कुत्ता जंगल में टहलने गया तो उसने एक मस्त हाथी को झूमता हुआ देखा कुत्ते के मन में लालच हुआ कि मैं हाथी हो जाता तो कितना उत्तम था ? इसी प्रकार मैं भी महान स्थूल-वाला होकर मस्त,झूमता। अतः आकर महात्मा से हाथी बनने के लिये प्रार्थना की। महात्मा ने उसे हाथी बना दिया। एक दिन का समाचार है, वह उसी जंगल में कहीं मस्त पड़ा था। इतने में वहाँ का राजा देखा और सवारी योग्य अच्छा हाथी समझ कर बँधवा ले गया। एक दिन राजा और रानी दोनों उस हाथी पर बैठे कहीं जा रहे थे। कुछ दूर चलते-चलते हाथी के मन में आया कि "राजा हमारी

पीठ पर बैठा है, इतना तक तो गुञ्जाइस है, क्योंकि वह पुरुष है और रानी स्त्री होते हुए क्यों बैठी है ?" ऐसी घृणादृष्टि करके मचलाया और अपना शरीर हिला कर पीठ से राजा-रानी को गिरा दिया। गिरते ही राजा तुरन्त उठकर अपने अंग-वस्त्र को नहीं सम्हाला बल्कि रानी के अंगों और वस्त्रों को झाड़ने लगा और उससे कहने लगा—तुम्हें कोई विशेष कष्ट तो नहीं हो गया ? रानी के प्रति राजा की इस प्रकार सहानुभूति देख कर हाथी सोचने लगा 'रानी होने में बड़ा सुख है' यदि हम रानी हो जायँ तो क्या पूछना है ! इस प्रकार सोचकर महात्मा से आकरके कहा—महात्मन् ! हमें रानी बना दीजिये। महात्मा ने कहा—तुम्हारी तृष्णा बुझती ही नहीं; तुम नित्य-नित्य और ही कुछ होना चाहते हो अच्छा चलो ! फिर तुम्हें चूहा बना देते हैं, ऐसा कह कर हाथी को पुनः चूहा बना दिये।

सिद्धांत—चूहा न तो बिल्ली, कुत्ता, हाथी आदि इसी शरीर से बन सकता है और न कोई बना ही सकता है और न चूहा आदि मनुष्य के सदृश बोल ही सकते हैं। कथन का सारांश यह है कि उपर्युक्त दृष्टांत अनुसार ही मनुष्य का मन भोगों से नहीं भरता। स्वार्थ की लोलुपता-तृष्णा अधिक होने से ही मनुष्य न्याय-अन्याय नहीं समझता। दूसरे का धन, मान, अधिकार छीनता, पर स्त्री पर कुदृष्टि डालता, हिंसा करता, चोरी, घूसखोरी, बेइमानी, धोखेबाजी करता। जिसके फल में आज और आगे नाना देहों को धर-धर कर अनेक क्लेशों को भोगता रहता है।

छन्द—सारे जगत् की सम्पती सुख भोग जो मिल जाय है।
तिस पर न होगा शान्त मन नित और-और बकाय है॥
गुरु ज्ञान बिन संतोष के पावे कहाँ सुख शान्ति है।
जग भोग तो तृष्णा लहर भव रोग-शोक अशान्ति है॥

शिक्षा—तृष्णा त्यागो और दयाचन्द्र, सत्यनाथ और उनके पुत्रों के समान संतोषी बनो।

सन्तोष की अनोखी मूर्तियाँ

दृष्टांत—एक ग्राम में दयाचन्द्र और सत्यनाथ नामक दो भाई रहते थे वे दोनों सज्जन थे और गुरुदेव के परम भक्त थे। वे दोनों नित्य सत्संग में जाते और साधु-गुरु की कृपा से उन्हें वैसे सद्गुण भी प्राप्त हो गये थे। दयाचन्द्र बड़े थे और सत्यनाथ छोटे। दयाचन्द्र के चार लड़के थे और सत्यनाथ के केवल एक ही था। दोनों भाई वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। एक दिन दयाचन्द्र ने अपने छोटे भाई सत्यनाथ से बड़ी नम्रता से कहा—भैया ! हम दोनों वृद्ध हो चुके हैं, जीवन का कोई ठिकाना नहीं। अतः धन में पुत्रों का बटवारा कर दिया जाय। सत्यनाथ—अरे भाई साहब ! क्या हम सब भी गँवारों की भाँति बाँटा-बूटी करेंगे ? दयाचन्द्र—हम दोनों को थोड़े बाँटना है ! अरे ! इन लड़कों के लिये धन में भाग कर देना है। जिससे आगे चलकर इन सभी में झगड़ा-झंझट और फूट न हो। सत्यनाथ बड़े भाई की आज्ञा स्वीकार कर घर में आया और रखे हुए रुपयों तथा सर्व वस्तुओं को पाँच भाग करके पाँचों लड़कों को दे दिया। जब बड़ा भाई दयाचन्द्र सत्यनाथ से पूछा कि धन को किस प्रकार बाँटे हो ? तब सत्यनाथ ने कहा—पाँच भागों में। दयाचन्द्र—अरे ! यह आपने क्या किया ? आधे धन में हमारे चारों पुत्रों को देना चाहिये और पूरे आधे को अपने एक पुत्र को देना चाहिये। सत्यनाथ—यदि हमारे और आप में बाँट हुई होती तो धन में दो भाग करना अति उत्तम था, किन्तु बाँट तो हुई है लड़कों में, इसलिये बराबर पाँच भाग ही में धन रहेगा।

कुछ काल के पश्चात् दोनों भाई परलोक सिधार गये। बड़े भाई दयाचन्द्र के चार पुत्र एक में रहते थे और सत्यनाथ का एक पुत्र पृथक रहता था जिसका नाम कृष्णचन्द्र था। कृष्णचन्द्र ने उन चारों भाइयों से कुछ पृथ्वी खरीदी। उस में असर्फी से भरा हुआ एक घड़ा निकला। कृष्णचन्द्र ने उस घड़े को लाकर चारों

भाइयों को सौंपने लगा। वे चारों भाई कहते थे कि हम पृथ्वी आप के हाथ में बेच दिये हैं उसमें जो कुछ निकले एवं उत्पन्न हो वह आप ही का है। कृष्णचन्द्र कहते—मैंने केवल पृथ्वी खरीदी है, असर्फी नहीं, अतः इसे आप स्वीकार कीजिये। इस प्रकार दोनों ओर से वार्तालाप चल रहा था। असर्फी लेने को कोई स्वीकार नहीं करता था। होते-होवाते दोनों पक्ष से यही निश्चय हुआ कि इस द्रव्य को गरीबों की सेवा, परोपकार तथा संतों की सेवा में लगा दिया जाय। निदान परोपकारादि में उस धन को लगाया गया। कृष्णचन्द्र से एक मनुष्य ने कहा—जब आप असर्फियों से भरा हुआ घड़ा पाये तब उसे दूसरे से बताये क्यों ? कृष्णचन्द्र बोले—अरे हमारे भोले भाई ! भला ! विचार तो करो, यह क्षण-भंगुर घर-धनादि क्या हम सब के साथ परलोक में जायेंगे ? जब सभी वस्तुयें यहाँ तक कि शरीर भी अभी-अभी छूट जाने वाली वस्तु है, तब किस पदार्थ के लिये कपट, तृष्णा एवं चाहना करें। हम गृहस्थों के लिये यही सर्वोत्तम है कि अपने परिश्रम की कमाई सत्यता पूर्वक जो मिले उसी में संतोष पूर्वक निर्वाह करते हुए परमार्थ कमायें। मोटा-महीन किसी प्रकार अपना शरीर निर्वाह चलता रहे और आये हुए संत-महात्मा एवं अतिथियों की सेवा होती रहे बस इतना ही धन अधिक है और विशेष तो भार तथा दुःख पूर्ण ही है।

कवित्त

धन तो सुफल जौन परमार्थ माहिं लागे,
तन तो सुफल जासे संत को सेवत है।
मन तो सुफल जौन अपने स्ववश होय,
कुविचार त्यागि सुविचार सो गहत है ॥
साधुता सुफल जब निरहंकारी होय,
विरति सुफल जब बंधन दहत है।
बोध-ज्ञान आड़बन्द धारण सुफल तब,
अभिलाष आज मरि फेरि न मरत है।

[चेतावनी—पद]

धरम यक अपने जइहैं साथ ॥ टेक ॥

मात कहे ये पुत्र हमारो, पुत्र कहे ये बाप।
भाई कहै हमारो साथी, नारि कहे मम नाथ ॥ १ ॥
कर दै दै उर माता रोवे, बहिन भतीजा तात।
सगे सहोदर बाहर रोवें, नारि रोवे दै माथ ॥ २ ॥
दरवाजे तक नारी जावे, घर बाहर तक मात।
चिता भूमि तक सगा सहोदर, हंस अकेला गाथ ॥ ३ ॥
जेहि तन में प्रियता अति गाढ़ी, सो तन देखि डेरात।
चार जने मिलि खाट उठावें, लै मरघट को जात ॥ ४ ॥
कुल कुटुम्ब तन महल खजाना, वोहदा मान अगाध।
रंच सहाय करें नहिं कोई, कर्म भोग दुख माथ ॥ ५ ॥
करन होय सो जल्दी करलो, अवसर बीतो जात।
कूच समय अभिलाष तिहारो नर होइहो बेहाथ ॥ ६ ॥

मन ख्वाहिश तन भोग में, मगन रहत सब लोग।
बिन विवेक नहीं लखि परै, कर्म वासना रोग ।२६

टीका :— मनःकल्पित भोगों की इच्छाओं तथा शरीर-निर्वाहिक धंधाओं एवं क्रियाओं में सब जीव निमग्न हैं। बिना विवेक उनकी समझ में यह नहीं आता कि कर्म-वासनायें जीव के लिए रोग हैं ॥ २६ ॥

व्याख्या :— सब जीव भोगों में आसक्त हैं या शरीर-निर्वाह की चिन्ता में व्यस्त हैं उन्हें यह ध्यान ही नहीं है कि विषयों की वासनायें दुःखपूर्ण हैं, हमें इन्हें दूर करके शान्ति प्राप्त करना चाहिये।

किसी दिन स्तुति, सम्मान और सुख मिलता है, तो किसी दिन निन्दा अपमान तथा दुःख अवश्य मिलता है। विद्या-चातुर्य सम्पन्न सुकुमारिता एवं यौवन अवस्था की छटा, रूप, लावण्य का एक दिन

जरा अवस्था आकर अवश्य ही नाश करती है। स्त्री, पुत्र, धन, मित्र, समाज, अधिकार, पद तथा कुटुम्ब जन का वियोग एक दिन अनिवार्य है। आज-कल में वह दिन अवश्य आयेगा जब कि अविद्या-वश सुख रूप, सत्य भासती हुई यह अपवित्र, जड़, दुखरूप, असत्य काया गल-गल कर क्षीण होगी। अपने आप करवट नहीं लिया जायेगा। आँगन विदेश हो जायगा और सबके देखते-देखते गला रूँध जायगा, बोली बन्द हो जायगी, नेत्र नहीं खुलेंगे, नाड़ियाँ जवाब देने लगेंगी। लोग चारपाई से उतार कर उत्तर-दक्षिण सुला देगें और संसार के अपने माने हुए स्त्री, कुटुम्ब, धन, गृह, शरीरादि त्याग कर चल देना पड़ेगा। एक-एक दिन सबकी यही दशा है। किसके सामने शारीरिक-मानसिक कठिन दुःख नहीं हैं? जन्म-मरण-गर्भवास, रोग, वृद्धावस्था, प्रियवियोगादि दुःखों का कौन शिकार नहीं बनता? फिर अपना कल्याण-साधन त्याग कर दो दिन के संयोग मान्य, प्रतिष्ठा, अधिकार, भोग-सुख और जवानी के मद में मनुष्य क्यों इटलाता फिरता है? अपनी हस्ती में किसी को नहीं गिनता। कारण—केवल विवेक की कमी है। सबके सिर पर दारुण दुःख होते हुए भी अविवेक-वश दुःख नहीं भासता। असत्य, क्षणभंगुर, बादल रूप स्त्री, पुत्र, धन, गृह, मान्य, अधिकार, शरीरादि मायिक पदार्थों को देखकर व्यर्थ ही मयूर पक्षीवत् अज्ञानी मनुष्य प्रसन्नता में नाचा करता है। यह भी कभी उसने सोचा है, कि इन सबका वियोग होते तनिक भी विलम्ब नहीं लगेगा। यदि सोचा है, फिर माया के मद में भूलने का कहाँ स्थान है। और यदि नहीं सोचा है तो कल्याणदायी मनुष्य जीवन को पाकर वह क्या किया? जैसे अभिमान और क्रोध से फनफनाता हुआ सर्प दावाग्नि के बीच में पड़कर ऐंठ-ऐंठ कर जल मरता है, वैसे माया के मद में ऐंठता हुआ मनुष्य अनेक शारीरिक-मानसिक व्याधियों तथा भावी दुःखों से देखते-देखते नष्ट होकर अन्ततः मृत्यु का ग्रास बन जाता है। फिर भी मनुष्य को माया का अभिमान नहीं छूटता। विवेकी को ही संसार दुःख रूप प्रतीत होता है "सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः।"

आदत जस अभ्यास करि, तैसे मान मिलाप।
तेहि स्मरण प्रवाह में, सहत दुसह सन्ताप ॥३०

टीका :— यह मनुष्य अभ्यास करके जिस प्रकार स्वभाव बना लेता है, वैसे उस स्वभाव में अहन्ता-ममता मिली हुई रहती है। इसीलिये मनुष्य अपने दुर्स्वभाव में अहंबुद्धि रखता है; और उसी स्वभाव की प्रवाह-धारा में पड़ करके असह कष्टों को सहता रहता है ॥ ३० ॥

स्वभाव

दृष्टांत :— एक थानेदार साहब को गाली देने का प्रबल स्वभाव था। एक बार एक सभा लगी। सभा में थानेदार साहब को लोग सभापति बनाये और सब लोग प्रार्थना किये-कृपया सभा में बैठकर किसी को गाली न दीजियेगा। उन्होंने कहा—'अब हम किसी साले को गाली नहीं देंगे।'

उल्लू नाव

दृष्टांत :— एक मनुष्य मूर्ख स्वभाव वाला एक ग्राम में बसता था। लोग उसे उल्लू-उल्लू कह कर पुकारा करें। वह उस ग्राम से ऊब-घबरा कर किसी दूर देश में चला गया। एक समय की बात है वह एक कूप पर बैठा था। एक मनुष्य जल भरने आया और इससे कहा—तू कूप से हट जा! यह मूर्ख मनुष्य बहुत कहने-सुनने पर थोड़ा हटा और पुनः घूम कर वहीं बैठ गया। पानी भरने वाले ने कहा—"तू महा उल्लू है" कूआँ से नहीं हटता। उसने कहा—

असी कोस पर छोड़ा गाँव, तू कस जाना उल्लू नाँव ?"

पानी भरने वाले ने कहा—

"कूद कुदइया दाहिन बाँव। तब मैं जाना उल्लू नाँव ॥

सारांश :— जो जैसा होता है, कहीं भी जाय उसे लोग परख लेते हैं; क्योंकि मनुष्य का नीच स्वभाव बिना विचार तथा ग्लानि के

नहीं छूटता। देहमद, स्त्रीमद, राजमद, धनमद तथा ज्ञानमद, तपमद, सिद्धिमद, विद्यामद ये अष्टमद हैं।

मद वश मान अज्ञान में, करत कल्पना जीव।
जड़ विषयन को पृथक करि, शुद्ध रूप निज शीव ।।३१

टीका :— मान, मद और अज्ञान के वश में पड़कर जीव व्यर्थ कल्पनायें करता रहता है। जड़-विषयों की अहन्ता-ममता छोड़ देने पर वही शुद्ध कल्याण स्वरूप है ॥ ३१ ॥

व्याख्या :— अपने में पूज्यता-उच्चता आदि का लक्ष्य होना 'मान' है, जड़-वस्तुओं का घोर अहंकार होना 'मद' है और अपने स्वरूप का यथार्थ बोध न होना 'अज्ञान' है। इन्हीं के वश में जीव मलीन है और इनसे मुक्त होकर जीव कल्याण रूप है।

कंटक चुभने से अधिक, विषय खटक दिन रैन।
गुरू कृपा लहि शमन हो, वर विवेक दिल चैन ।।३२

टीका :— अज्ञानी मनुष्यों के हृदय में विषय-वासनाओं की पीड़ा काँटे के चुभने से भी अधिक दुःखदायी होती है। साधक स्वरूप बोध रूपी गुरु-कृपा तथा श्रेष्ठ विवेक-द्वारा ही विषय-वासनाओं को ध्वंस कर हृदय में शान्ति प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

अन्तरमुख अभ्यास करि, मुख्य पुरुषारथ येह।
मन समाज को छोड़ि जेहि, हितकर युक्ति सनेह ।।३३

टीका :— साधक का मुख्य कर्तव्य है कि वह अन्तरमुख अभ्यास करे, मन-वशी प्राणियों की संगत छोड़कर कल्याणकारी साधनों से प्रेम करे ॥ ३३ ॥

व्याख्या :— सबका देखा-देखी, पर-दोष-दर्शन, पर-निन्दा, राग-द्वेष, बहु-सम्बन्ध, प्रपंच से हटकर वाक्य-संयम तथा एकान्त-वास पूर्वक अपने गुण-दोषों का संशोधन करना, हृदय से दोषों को

निकालते हुए सद्गुणों को टिकाते रहना, देहाभिमान, विषयासक्ति त्यागते रहना, स्वरूप-ज्ञान का चिन्तन करते रहना, बाह्य विषयों से सुखकी आशा त्याग कर स्वस्वरूपबोध में ही सन्तोष को प्राप्त करना आदि ही अन्तरमुख अभ्यास करना है।

देखि सुनी भोगी सभी, संस्कार दिल माहिं।
तजि उद्वेगन शान्त ह्वै, उदय होय जब जाहिं ॥३४

टीका :— पूर्व के देखे, सुने तथा भोगे हुए विषयों की सारी वासनायें अन्तःकरण में टिकी हैं। वे जब उठें, तब उन उद्वेगों का द्रष्टा बन कर उन्हें छोड़ दे, उनमें अपनी सत्ता न दे, फिर वे शान्त हो जायँगी ॥ ३४ ॥

व्याख्या :— कोई वासना अजर-अमर नहीं है, और न वह जीव के स्वरूप में ही है। वासनाओं के उठने पर सावधानी पूर्वक उन्हें भिन्न देखते रहिये, वे अपने आप नष्ट हो जायँगी, घबराने की आवश्यकता नहीं है।

प्रसंग—४—दुराचरण का त्याग और उद्धार हेतु
चेतावनी।

चोरी हिंसा झूठ जो, सब पापों का मूल।
बिना तजे नहिं जाय दुख, बाढ़ै निशिदिन शूल॥३५

टीका :— चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण—सभी पापों की जड़ है। इनका सर्वथा त्याग किये बिना दुःखों का अन्त नहीं होगा; प्रत्युत रात-दिन कष्ट बढ़ते रहेंगे ॥ ३५ ॥

व्याख्या :— दूसरे के घर में सेंध लगाकर या कूद कर धन ले आना, घूसखोरी करना, व्यापार में अपना कच्चा माल देकर दूसरे का सच्चा माल ले लेना, तौल-माप में विशेष लेना तथा कम देना, घिसा बाट तथा घटिया तराजू रखना, धाँधली करके दूसरों का माल सस्ता लेना तथा अपना महँगा देना, दर्जी-सोनार होकर ग्राहकों का कपड़ा या सोना-चाँदी आदि चुराना, अपने घर ही में अपने कुटुम्ब से छिपाकर

सार्वजनिक अन्न या रुपये को अपना अलगिया बनाना, दूसरे की फसल को काटना-तोड़ना आदि चोरी के रूप हैं। इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

अस्त्र-शस्त्र या अपने-शरीर-इन्द्रियों से किसी प्राणी को जान-बूझ कर मारना या मारडालना, निन्दा, उपहास, मजाक करके, गाली देकर, कटु बोलकर किसी को दुःख पहुँचाना, किसी का अनिष्ट-चिन्तन करना, ईर्ष्या-डाह करना आदि हिंसा के स्वरूप हैं। इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

जैसा देखा गया, सुना गया और अपने मन में निश्चय है, अर्थात् जो जैसा है उसे उसी प्रकार न कह कर छल-कपट पूर्वक विपरीत कहना— मिथ्या भाषण है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

सत्य-भाषण का तात्पर्य यह नहीं है कि "खर-खर भर-भर" कहा जाय। पात्र-योग्यता न होते हुए सबके सामने जैसा-का-तैसा धड़ाम से कह बैठना, सहानुभूति, सभ्यता और वाक्य-संयम-रहित सत्यवादिता का जोश भरकर गर्म-नर्म हाँकते जाना, यह ठीक नहीं है। बहुत लोग प्रायः कहते हैं—"हमसे लसफस-लजबज या अनुमित-कल्पित बातें नहीं आतीं; हम तो जैसा का तैसा धड़ाम से कह बैठते हैं, चाहे नक्का पड़े चाहे दूवा, चाहे कोई अच्छा माने चाहे कोई बुरा।" यह समझ ठीक नहीं है। जैसे लोग दूसरों के गुण-दोषों को विवरण करने के लिए खर-खर (सत्यवादी) बनते हैं, वैसे वे अपने विषय में बनें— अपने गुण-दोषों को देखें।

यदि अपने गुण-दोषों को देखने लगेंगे, तो दूसरे के देखने-कहने का उन्हें समय ही नहीं मिलेगा। जिस वाणी में किसी की यथार्थतः हानि न हो, लल्लो-चप्पो न होते हुए भी यथार्थतः सबको प्रियकर-लाभकर हो वही सत्य है। सत्य बोलें, प्रिय बोले, किन्तु असत्य भी न कहें। सत्य में कडुवाहट अवश्य है; परन्तु जितना सम्भव हो उसमें मिठाई घोलने का प्रयत्न करना चाहिये।

दृढ़ निश्चय बिन नहिं फुरै, जीवन का जो ध्येय।
ताते संयम राखि उर, नेम धरम को सेय ॥३६

टीका :--मनुष्यों का उद्देश्य दृढ़ निश्चय के बिना सफल नहीं होता। अतः हृदय में संयम रखकर नियम-धम का पालन करो ॥ ३६ ॥

व्याख्या :-- कितने लोग कहते हैं कि गृहस्थी में रहते हुए झूठ बोलने आदि का त्याग नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह तो "हर-हर शब्द परा जब कान, तब भिक्षा पर गिरा उतान।" वाली कहावत चरितार्थ करना है। मनुष्य जब पहले निश्चय कर लिया कि गृहस्थी में रहकर सुधार नहीं हो सकता, तब वह कैसे सुधार कर सकता है।

जब तक पापों को सर्वथा त्याग तथा सद्गुणों को सर्वथा ग्रहण करने के लिये हम दृढ़ प्रतिज्ञा नहीं करेंगे, तब तक हमारा सुधार नहीं हो सकता।

सत्य पालन करने में सुख है

दृष्टांत :— एक घर के कुटुम्बी बहुत गरीब थे। कुछ काल में उस घर में नयी बधू आयी। वह बड़ी विचारशीला, सत्यपालक थी। घर के कुटुम्बी-धन हीन और अज्ञानी होने से चोरी, बदमाशी, बेइमानी करके पेट पालते थे। बहू ने घर वालों को शिक्षा दी—"चोरी-बेइमानी करना, दूसरे का अधिकार छीनना बिलकुल छोड़ देना चाहिये। सत्यता पूर्वक अपने कर्म-कमाई में जो जुरे उसी में सुखे-दुखे निर्वाह करना चाहिये। पूर्व जन्मों के बुरे कर्मों से आज हम सब निर्धनी हैं। आज भी वही बुराई करेंगे तो अब और परलोक में सदा दुखी रहेंगे। अपनी हानि हो जाय दुःख हो, तो भी सत्य, दया नहीं छोड़ना चाहिये। फिर दूसरे का धन छीनना तो बड़ा भारी पाप है।" यह बधू की शिक्षा सुन कर घर वाले बुरे कर्म का त्याग कर दिये। मेहनत मजदूरी करके संतोष

पूर्वक निर्वाह करते और थोड़े में से भी थोड़ा काट-कपट कर कुछ धर्म में लगाते।

एक दिन वहाँ के राज्य की रानी का हार जो हीरे-रत्नादि से जटित बहुमूल्य था, आँगन में धो कर के सुखाया था। एक पक्षी ऊपर उड़ा जा रहा था, उसने समझा यह कोई खाने की वस्तु है, अतः झपट कर उस हार को चोंच में लेकर भागा। इतने में उस निर्धनी कुटुम्बी के घर तक जब पक्षी गया तब उसे परीक्षा हो गयी कि यह खाने की वस्तु नहीं है, ऐसा जानकर वहीं छोड़ दिया, तुरन्त ही वह हार नयी बधू पायी और समझ गयी कि यह रानी का है। अतः वह उस हार को अपने ससुर के हाथ से रानी के पास भिजवा दी। उस छोटी बधू और निर्धनी कुटुम्बी की निर्लोभता-सत्यता को देख कर राजा का सारा समाज दंग हो गया और रानी ने उस निर्धनी कुटुम्बी को कई ग्राम इनाम रूप में दे दिया। जिससे वे निर्धनी एक रईश हो गये।

शिक्षा—देखो! सत्यता में बड़ा गुण और सुख है; अतः यदि सत्य पालन करने में पहले कष्ट भी हो तो उसका अन्तिम परिणाम भला समझ कर सत्य पालन करना चाहिये।

नर तन रतन अमोल है, मिले भाग्य से जान।
समय पाय चूकै नहीं, गहो सयाने ज्ञान ॥३७

टीका:— विश्व की अखिल सम्पत्ति देकर भी जो न खरीदा जा सके ऐसा यह मनुष्य शरीर रूपी रत्न अनमोल है, यह बड़े सौभाग्य से अर्थात् पूर्व शुभ संचितों के बल से प्राप्त हुआ जानना चाहिये। बुद्धिमानो! मोक्ष-दायी नर शरीर का ऐसा उत्तम समय पाकर असावधान न होओ, शीघ्र सद्‌गुरु के स्वरूप ज्ञान को ग्रहण करो॥ ३७॥

शिक्षा:—मनुष्य के अज्ञान की सीमा नहीं। वह इस कच्ची देह

रूपी पुतली में बैठकर बहुत दिन जीने का दावा बाँधता है; वायु वेग से भी तीव्र रूप धारण कर मनुष्य की आयु भागी जाती है; किन्तु इसे होश नहीं होता। भोले भाई कहते हैं—इस वर्ष तो बड़ा खर्च है, अनेक झंझटें हैं, अगले वर्ष भजन-भण्डारा करेंगे, परमार्थ कमायेंगे। यह नहीं जानते इस घड़ी हैं, सम्भवतः उस घड़ी न रहें। इस पानी के बुल्ला रूप शरीर का क्या विश्वास, क्या आशा-भरोसा है? क्षण में यह रहता है और क्षण में नहीं रहता। मनुष्य मिथ्या माया को पाकर भूल जाता है। बाल्य अवस्था खेलखाल कर अबोध में बिता देता है, जवानी अवस्था में भोगों का ही सेवन करता है, कुछ आगे चलकर नाना उद्यम, ठगी, घूसखोरी, बेईमानी करके सुबह से शाम तक लूट-खसोट कर अपना और कुटुम्बियों का पेट पालता है। वृद्ध अवस्था अशक्तता, अङ्गपीड़ा, तृष्णा-चिन्ता की उलझनि में समाप्त कर अन्ततः मर जाता है और जिन मायावी पदार्थों एवं कुटुम्बियों के लिये वह जीवन भर न्याय-अन्याय नहीं समझा, वे एक भी साथ नहीं जाते, केवल पाप-वासना-वश नाना दुःख रूपी योनियों में स्वयं भ्रमता रहता है। जिनका जीवन पशुवत् अन्धाधुन्धमय है, उनकी तो बात ही न्यारी है; परन्तु जिन्हें कुछ ज्ञान भी हो गया है उनमें से भी अधिकांश प्रमाद, आलस्य और भोग का आश्रय लेकर परमार्थ-हीन हो रहे हैं। आज करेंगे-कल करेंगे, ऐसे में अनमोल जीवन को स्वाहा कर रहें हैं। परमार्थ के विषय में तो कल का वादा ही नहीं करना चाहिये। जो कुछ करना हो अविलम्ब-अभी कर लेना चाहिये; कल कभी नहीं आता। मृत्यु-पश्चात् तो धर्म-परमार्थ ही काम आते हैं, फिर इस क्षणभंगुर काया में रहकर धर्म-परमार्थ करने में विलम्ब क्यों?

पल में परलय होयगा बहुरि करोगे कब

दृष्टांतः—एक देश में एक राजा राज्य करता था। उसका छोटा भाई सत्संगी और सतोगुणी था। छोटा भाई अपने बड़े भाई (राजा)

को धीरे-धीरे धर्म की ओर आकर्षित कर लिया। जब राजा के मन में कुछ धर्म-भक्ति बसने लगी, तो एक दिन छोटा भाई कहा—भाई साहब! अब समय मिला है, हर प्रकार की सुन्दर योग्यता है, अब सन्त मठ, धर्मशाला, गौ-शाला, अनाथालय, विद्यालय, औषधालय आदि अधिक रूप में खुलवाइये। धर्म-परमार्थ करके अपना जीवन सफल कीजिये। राजा बोला—तुम्हारा कहना तो ठीक है, किन्तु अभी कुछ दिन ये सब काम हम नहीं कर सकते। राज्य के काम में कुछ त्रुटियाँ आ गयी हैं, उन्हें सम्हाल करके ही धर्म-परमार्थ की ओर ध्यान दिया जा सकता है। छोटा भाई अदब से कुछ कह न सका; किन्तु अपने बड़े भाई को चेताने के लिये दूसरी युक्ति सोचकर जाके पूरे नगर में डुग्गी दिला कर प्रचार करा दिया कि हमारा बड़ा भाई कुछ दिनों के लिये मृत्यु को जीत लिया है। राजा डुग्गी सुनकर छोटे भाई से पूछा—ये डुग्गी क्यों बज रही है? छोटा भाई—भाई साहब! आप कुछ दिनों के लिये जो मृत्यु को जीत लिये हैं; उसी की प्रसन्नता में मैंने डुग्गी बजवायी है। राजा—अरे! मैंने मृत्यु को कैसे जीत लिया? छोटा भाई—आप ही तो कहते थे कि कुछ दिनों के पश्चात् धर्म-परमार्थ किये जायँगे। इतना वचन सुनकर राजा के विचार में घोर परिवर्तन हो गया। उसके पूर्वार्जित शुभ संचित चमक पड़े। वह अपने जीवन का व्यर्थ अभिमान त्याग कर धर्म-भक्ति में डट गया अब उसके बहुत धन नित्य धर्म में खर्च होने लगे। बिना सत्संग व सन्त दर्शन के तो राजा एक दिन भी व्यर्थ समझने लगा। उसने अपने न्यायशाला तथा शयनगृह में "अचानक एक दिन मरना अवश्य है" इस वाक्य को लिखवा दिया। जिससे सदा मृत्यु का ध्यान बना रहे। वह जगत्, जिन्दगी, सुख, ऐश्वर्य को झूठा जानकर नित्य सत्संग में रत रहने लगा।

शिक्षा:—आप भी लोक-परलोक में यदि सुखी रहना चाहते हैं तो शीघ्र धर्म-परमार्थ में जुट जाइये। इस क्षणभंगुर काया की आशा नहीं है, क्योंकि श्री कबीर साहेब कहते हैं—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ॥ १ ॥
कबीर पानी हौज का, देखत गया विलाय।
ऐसे जियरा जायगा, दिन दस ढीलो जाय ॥ २ ॥
बारी बारी आपने, चले पियारे मित्त।
तेरी बारी जीवरा, नियरे आवे नित्त ॥ ३ ॥

पद

भजन बिन कैसे निबही ? नर जइहो बिराने देश ॥ टेक ॥
मात पिता नारी सुत बन्धू, महल खजाना भेष।
सुन्दर देह जवानी विद्या, कोई न जहिहैं लेश ॥ १ ॥
दो दिन मिली जवानी जीवन, मोक्ष लेन को शेष।
तेहि को खोयो मोह मया में, पछितइयो परदेश ॥ २ ॥
धर्म-भक्ति संतन की सेवा, नहिं सत्संग करेस।
टट्टू बने हाट के जैसे, अन्त खाय मुख खेश ॥ ३ ॥
गई सो गई आज से चेतो, दो पल जीवन शेष।
करु अभिलाष भजन भक्ती में, नहिं दुख पइहो ठेस ॥ ४ ॥

शुभ अवसर अस जानि के, स्थिति में चित लाय।
निजहिं बाद बन्धन सकल, पारख राखि हटाय ॥३८

टीका :— मोक्षदायी मनुष्य शरीर की प्राप्ति, सद्गुण सम्पन्न सच्चे पारखी सन्तों से भेंट, स्वरूपज्ञान की उपलब्धि, अपना भी कल्याण करने का ध्येय, साधन करने योग्य नीरोग शरीर, प्रारब्धिक जीवन का कुछ शेष भाग सम्मुख इत्यादि इस प्रकार सुन्दर कल्याणकारी समय मिला जान कर ऐ कल्याण-इच्छुको ! अपनी स्वरूपस्थिति में मन लगाओ। स्वतः स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त मन, प्राणी, पदार्थों की ओर से आये हुए सम्पूर्ण बन्धनों को अपने हृदय में परीक्षादृष्टि रखकर, दूर करते जाओ ॥३८॥

छन्द

भरमते चव खानि म नर देह यह तुमको मिला।
फिर छोड़कर पारख अपाना मोह भव में बहि चला ॥

अफसोस की है बात यह जो पार ना भव सिन्धु हो।
लागो स्वमग दृढ़ ध्येय से भव सिन्धु अबहीं बिन्दु हो ॥३९

टीका :— चारों खानियो में भटकते-भटकते आज यह मनुष्य-तन तुम्हें पुनः प्राप्त हुआ है। फिर हे जीव ! अपना विवेक-पथ छोड़ करके मोह-सागर में तू पुनः क्यों बहने लगा ? ऐसा सुनहला अवसर पाकर भी यदि संसार-सागर से तुम न पार होओ, तो दुःख की बात है। अतएव दृढ़ ध्येय पूर्वक अपने कल्याण-पथ में लग जाओ, फिर तो तुम्हारे लिये संसार-सागर बुन्द के समान हो जायेगा ॥ ३९ ॥

प्रसंग —५— साधन-नियम

साखी

भूल शक्ति से ग्रसित सब, बोध शक्ति से नाश।
अमित शक्ति गुरु ज्ञान में, पावै मोक्ष निवास ॥४०

टीका :— सब जीव भूल की शक्ति में बँधे हैं, ज्ञान की शक्ति से ही भूल का नाश होगा। गुरु ज्ञान में अपार शक्ति है, अतः उसे धारण कर लेने पर जीव मुक्त स्वरूप रह जायगा ॥ ४० ॥

व्याख्या :-- अपने चेतन स्वरूप को न जानना, प्रत्युत देह ही को अपना स्वरूप मानना—भूल-शक्ति है; और अपने को देहादि से पृथक, तृप्त चेतन स्वरूप जानना—ज्ञान की शक्ति है। दृढ़ ज्ञान हो जाने पर समस्त आसक्ति रूप बन्धनों का नाश हो जाता है।

मुक्त रूप जीव स्वयं है, बन्धन देह धरेश।
गुरू कृपा पुरुषार्थ निज, नाशत सकल कलेश ॥४१

टीका :— जीव शुद्ध स्वरूप से निर्बन्ध तथा स्वतः है; परन्तु अनादि वासना-वश देह बन्धन धारण कर रखा है। सद्गुरु कृपा रूपी स्वरूपज्ञान तथा अपने साधना-पुरुषार्थ से कष्टदायी सारे बन्धनों का संहार होता है ॥४१

तेहि साधन के अंग सब, जानि करै अभ्यास।
सो न गिरत संसार में, ध्वंस होत सब आश ॥४२

टीका :— उपर्युक्त कल्याणार्थ साधन के सर्व भेदों को सद्गुरु-सत्संग एवं सद्ग्रंथ से जान कर जो निरन्तर अधिक काल तक अभ्यास करता है, वह सांसारिक भोगों में कदापि नहीं गिर सकता। प्रत्युत उसकी संसार की सम्पूर्ण इच्छायें-वासनायें मिटकर, वह स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

जीव नित्य चेतन सदा, भिन्न देह से आप।
तन सम्बन्ध सब क्षणिक जग, अस विवेक लहि जाप ॥४३

टीका :— जीव नित्य है, चैतन्य है, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों में एकरस है, शरीर से पृथक अपने आप है; वही मैं हूँ। शरीर तथा शरीर के साथ प्रतीत होते हुए संसार के सम्पूर्ण मायावी पदार्थों का सम्बन्ध नाशवान् है, इस प्रकार द्रष्टा-दृश्य की पृथक दृष्टिरूपी विवेक को धारण कर बारम्बार स्मरण करते रहना चाहिये ॥ ४३ ॥

लघु सुख भोगन वस्तु में, दुख अनन्त तेहि माहिं।
दोष दृष्टि दृढ़ राखि के, गहि वैराग्य सो ताहिं ॥४४

टीका :— पांचों विषयों के भोग वस्तुओं में मानना और भ्रम मात्र का किञ्चित् सुख है; किन्तु उस भोगाध्यास में तृष्णा, चिन्ता, विवशता, रोग, शोक, जन्म, मरणादि अगणित दुःख भरे है। अतएव दृढ़ दोष-दृष्टि रख कर उन भोगों की राग-तृष्णा से रहित हो जावे और शुद्ध वैराग्य धारण करे ॥ ४४ ॥

सकल कामना छोड़ि के, ठहरि रहै निज रूप॥
चित निरोध शम कहत तेहि, मन हनि प्राप्त स्वरूप ॥४५

टीका :— भोगों की सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग करके अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निश्चलता पूर्वक स्थित हो रहे, ऐसी अविचल स्थितिद्वारा चित्त की चञ्चलता जब पूर्ण ध्वंस हो गयी और मन-वासनाओं का नाश

करके स्वरूपस्थिति की निरन्तर प्राप्ति हो गयी, इसी को शम या शान्त पद कहते हैं ॥ ४५ ॥

भोग इन्द्रियन से तजै, विषयासक्ति हटाय।
शुद्ध चाल संतोष युत, साधन दम कहलाय ॥४६

टीका :— सन्तोष पूर्वक साधु रहनी को धारण कर शरीर प्रारब्ध भोगों को उदासीनता युक्त वेगारवत् भोगते हुए मन से विषय वासनाओं को निकाल करके त्वचा, कान, नाक, जिह्वा और नेत्र से बन्धनदायी स्पर्श शब्द, गन्ध, रस और रूप आदि भोगों का त्याग करे, यही दम साधन कहलाता है ॥ ४६ ॥

वाम विषय सुख नेह तजि, अति गलानि तेहि माहिं।
उपरति सोई बखानिये, यह निश्चय दिल जाहिं ॥४७

टीका :— स्त्री-विषय-सुख की आसक्ति का त्याग करे और उसके प्रति अत्यन्त घृणा एवं ग्लानि हो। इस प्रकार विषयों के प्रति दृढ़ दोषदृष्टि को ही उपरामता कही जाती है ॥ ४७ ॥

व्याख्या :—कल्याणार्थी पुरुषों के चित्त से स्त्रियों की आसक्ति तथा स्त्रियों के चित्त से पुरुषों की आसक्ति सर्वथा दूर हो जाना चाहिये।

दुख सुख चिन्ता शोक भय, मान और अपमान।
भूख पिपासा सहन करि, सोइ तितिक्षा जान ॥४८

टीका :— संसार के प्राणी, पदार्थ और प्रारब्ध से मिले हुए दुःख-सुख, चिन्ता, शोक, भय मान, अपमान, भूख, प्यास आदि को सहन करे, इन द्वन्द्वों में अपने स्वरूप-लक्ष्य से विचलित न होवे, इसी को तितिक्षा जाननी चाहिये ॥ ४८ ॥

सत्यासत्य सु तौल कर, श्रवण करै गुरु न्याय।
गुरुपद निष्ठा प्रेम जेहि, श्रद्धा सोइ कहाय ॥४९

टीका :— जड़-चेतन विभेदक गुरु का निर्णय सुने और साँच-झूठ का

भली-भाँति न्याय करके असत्य जड़ वर्ग की आसक्ति त्यागकर सत्य चैतन्य के रहस्य सद्गुण को ग्रहण करे। सद्गुरु की चरण-भक्ति तथा अपने स्वरूप में जो दृढ़ विश्वास और प्रेम है, वही श्रद्धा कहलाती है ॥ ४९ ॥

पारख शुद्ध चैतन्य मैं, अस निश्चय जब होय।
जगत ब्रह्म कल्पित सबहिं, समाधान कहि सोय ॥५०

टीका:— शुद्ध पारख चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, और खानी-वाणी सब कल्पना मात्र मुझसे भिन्न हैं, भली-भाँति जब इस प्रकार निश्चय हो जाय; उसी को समाधान कहते हैं ॥ ५० ॥

इन साधन में एक ही, साहस युत अपनाय।
शुद्ध होय दिल ताहिके, संशय भरम नशाय ॥५१

टीका:—उपर्युक्त साधनों में से यदि एक ही साधन वीरतापूर्वक कोई ग्रहण कर लेता है तो उसका हृदय पवित्र हो जाता है अबोध और विषयासक्ति नाश हो जाती है ॥ ५१ ॥

देह सहित दुख जगत के, छूटन हित जेहि चाह।
सोई मुमुक्षू जानिये, रहित सकल दुख दाह ॥५२

टीका:—शरीर से लेकर संसार के सम्पूर्ण दुःखों से छूटने की जिन्हें तीव्र इच्छा है; अर्थात् आवागमन के चक्रों से सर्वथा छूटकर जो सर्वदा के लिये विदेह-मुक्ति चाहते हैं; उन्हीं को मुमुक्षु जानना चाहिये। वे ही गर्भ, जन्म, अवस्थाकृत तथा मरणादि शारीरिक सम्पूर्ण क्लेशों तथा मानसिक जलन से छूटकर मुक्त हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

श्रेष्ठ साधु गुरु जानिके, भक्ति सहित पद सेव।
हंस रूप जिव आपही, निश्चय श्रवण भेव ॥५३

टीका:— विवेकी सन्त और सद्गुरु देव को सर्वश्रेष्ठ अपना उद्धारक जानकर प्रेमपूर्वक उनके चरणों की सेवा करे। सार-असार जड़-चेतन का निर्णय करने वाला हंस स्वरूप अपने आप चैतन्य ही है, ऐसा उनके सत्य-

उपदेश-द्वारा जानकर हृदय में निश्चय हो जाय, यही गुरुमुखज्ञान सुनने का रहस्य है ॥ ५३ ॥

जड़ासक्ति से जीव को पारख दृष्टि छोड़ाय।
विषयन से न्यारा करे, संतत मनन गहाय ॥५४

टीका :— सावधानता पूर्वक परीक्षादृष्टि धारण कर विषयासक्ति, देहाध्यास से अपने चैतन्य स्वरूप को बारम्बार छुड़ावे। अर्थात् जड़-चेतन, सार-असार की पृथक बुद्धि तथा अनेकों साधना रूप सद्‌गुरु के सत्योपदेश निर्णयों को अपने मन को ग्रहण करा के सर्वदा उनका चिन्तन करता रहे और विषयों से अपने शुद्ध स्वरूप को पृथक करता रहे ॥५४॥

चेतन अविनाशी अटल, तन विकार सब नास्ति।
भास अध्यास मानब सकल, पृथक जीव खुद आस्ति ॥५५
बुद्धी ऐसी पुष्ट जेहिं, संतत करि अभ्यास।
निदिध्यास साधन अहै, और नहीं कुछ आश ॥५६

टीका :— अपना चेतन स्वरूप अविनाशी तथा निश्चल है और शरीर तथा शरीर सम्बन्धी सारे पदार्थ विकारी और नाशवान हैं। भास, अध्यास, मानना आदि सबसे जीव पृथक तथा स्वतःनिःसंग है—ऐसा निरन्तर अभ्यास करके जिनकी बुद्धि दृढ़ हो गयी है, और बाह्य कोई आशा-वासना नहीं रही गई है, यह निदिध्यास-साधन कहलाता है ॥५५-५६॥

व्याख्या :— देहादि नश्वर पदार्थों की आसक्ति ध्वंस करके स्वरूपज्ञान में निरन्तर दृढ़ स्थित हो जाना ही, सभी साधनों का फल है।

काम क्रोध मद लोभ जो, हन्ता मोह विकार।
दया छमा सत भाव से, देवै सबहीं टार ॥५७

टीका :— विषय-इच्छा, क्रोध-जलन-हिंसा, विजाति पदार्थों का अहंकार धन की लालच, शरीर का अभिमान, कुटुम्बियों का मोह ये जो अन्तःकरण

में दुर्गुण हैं, इन सभी को दया, क्षमादि सद्गुण और सत्य स्वरूप का निश्चय धारण कर हृदय से निकाल देवे, तात्पर्य—जहाँ दया, क्षमा है वहाँ क्रोध-जलन-हिंसा नहीं रह सकती और जहाँ सत्य स्वरूप का निश्चय है वहाँ काम, मद, लोभ, अहंकार और मोह नहीं रह सकते ॥ ५७ ॥

शान्ति तोष उर दीनता, भक्ति विवेक विराग।
शुद्ध गुणन से रहिए, त्यागि सकल जग राग ॥५८

टीका :— शांति, सन्तोष, गरीबी - स्वभाव और भक्ति, विवेक, वैराग्य हृदय में धारण कर और संसार के सम्पूर्ण मोह-ममताओं का त्याग करके उपर्युक्त शुद्ध सद्गुणों से अपनी स्वरूप की स्थिति की सुरक्षा करते रहिये ॥ ५८ ॥

काय वचन मन से तजै, हिंसा जीवन केर।
निर्वाह मात्र व्योहार रखि, लक्षण मानुष केर ॥५९

टीका:—शरीर, वाणी और मन से जीवों की हिंसा का त्याग करे, अपने तथा साथियों (कुटुम्बियों) के निर्वाह मात्र के लिये व्यवहार-धन्धा रखे—यही मनुष्य का लक्षण है ॥ ५९ ॥

व्याख्या:—इसी पाठ की ३५ वीं साखी में मन, वाणी, कर्म की हिंसा के स्वरूप का वर्णन कर आये हैं, उनका सर्वतोभात्या त्याग करे।

जितने में अपना और कुटुम्बियों, साथियों का जीवन-निर्वाह चल जाय उतना ही व्यवहार-धन्धा रखे। कंकर-पत्थर रूप निरर्थक धन कमाने की तृष्णा में अपने अनमोल जीवन को न खोवे। कितने लोग कल्याण-साधन ही छोड़कर नहीं, प्रत्युत धर्म-कर्म को तिलांजलि देकर जीवन पर्यन्त धन कमाने में लगे रहते हैं और पर्याप्त मात्रा में धन-संग्रह कर लेते हैं; परन्तु उस धन का सदुपयोग न हुआ तो वह एक दिन अपने हाथों से कपूर की भाँति उड़ जाता है। जीवन पर्यन्त का पैसा-पैसा संग्रहीत खजाना एक ही बार पानी में डूब जाता है।

कितने लोग अपना संचित धन आवश्यकता से अधिक भवन-

निर्माण के जोश में, फर्नीचरों से भवन सजाने में पतनकारी विलासी सामाग्रियों में, लड़के-लड़कियों की सादियों में तथा अन्य प्रकारों से कई हजार, कई लाख तथा कई करोड़ रुपये पानी की भाँति बहा देते हैं। वे ही लोग उस धन को लोक हिताय कार्यों में, परोपकार में उसका आधा, तिहाई भी नहीं लगा पाते। यह उनका कितना बड़ा दुर्भाग्य तथा अज्ञान है।

अतएव मनुष्य को चाहिये कि वह निरर्थक धन का व्यय तो करे ही नहीं। निर्वाह को भी संतुलित करके अतिरिक्त धन को परोपकार में लगाये और व्यवहार के जाल को कम करके साधन-भजन में लगे; जिससे जीवन का लक्ष्य—शान्ति की प्राप्ति हो।

निश्चय संग पुरुषार्थ जो, इत उत दोनों ओर।
पाप पुण्य जो जो कुछ करै, सुख दुख तैसे होर ॥६०

टीका:—शुद्ध निश्चय, शुद्ध संगत, तथा शुद्ध पुरुषार्थ होने से मनुष्य की प्रगति कल्याण-मार्ग की ओर होती है और अशुद्ध निश्चय, अशुद्ध संगति तथा अशुद्ध पुरुषार्थ से जगत्मार्ग की ओर प्रगति होती है। मनुष्य भला-बुरा जैसा करता है वैसा सुख-दुःख का अनुभव करता है ॥६०॥

ताते बाधक त्यागि के, साधक गहि शुभ नीत।
तीनों अंग सुपुष्ट करि, ठहरि रहै दे चीत ॥६१

टीका:—अतएव कल्याण-विरोधी निश्चय, संगत तथा पुरुषार्थ छोड़कर कल्याण साधक सदाचार मार्ग को अपनावे। उक्त तीनों शुद्ध अंगों को भली-भाँति पुष्ट करके और दृढ़ चित्त पूर्वक स्वरूपस्थ हो रहे ॥ ६१ ॥

प्रश्नः—कल्याण विरोधी निश्चय, संगत तथा पुरुषार्थ का त्याग और कल्याण साधक निश्चय, संगत एवं पुरुषार्थ का ग्रहण क्या है ?

उत्तर—(१) निश्चय—"मैं देह, प्राण, मन, वीर्य हूँ या किसी विशेष कर्ता का अंश हूँ, विवश हूँ, भोग-भोगना ही जीवन लाभ है"

इत्यादि, निश्चय का त्याग करे। "मैं शुद्ध चैतन्य स्वतः अविनाशी, निर्विकार स्वरूप, निःसंग हूँ, शरीर, प्राण, मन, वीर्य, अंश-अंशी-भाव से रहित सर्व जड़ दृश्य पदार्थों का साक्षी सब से भिन्न स्ववश निराधार हूँ। वासना-वश देह-बन्धन में पड़ा, हूँ, वासना त्याग कर मुक्त हूँ। अब सद्गुरु का स्वरूपज्ञान तथा विवेक-वैराग्यादि प्राप्त कर हमें अपने स्वरूप में ही भोगाध्यास-रहित जीवन पर्यन्त स्थित रहना है। संसार के पाँचों विषय, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, रूप, यौवन, मान-प्रतिष्ठादि सब दुःखपूर्ण, भूल-भ्रम-उत्पादक हैं। मान-भोग में किञ्चित् मात्र भी शांति नहीं है। उदासीनता पूर्वक शरीर-निर्वाह लेकर आठोयाम केवल स्थित-साधन-रत रहना ही हमारा शेष और परम कर्तव्य है। पूर्व अध्यास वश यह साधन इन्द्रिय रूप मुर्दा शरीर प्रारब्ध भोग के सम्मुख है, इससे जगत् का ज्ञान है, नहीं तो मेरे शुद्ध स्वरूप में जगत का किंचित मात्र भी चिन्तन-भान नहीं है। इस क्षण-विनाशी जगत् के प्रति किसी के मिलन-वियोग प्राप्ति-अप्राप्ति में मेरा लेश मात्र भी हानि-लाभ नहीं है। इस जगत् से मुझे कुछ भी प्राप्त करने, कुछ सुख भोग-भोगने, किसी से मिलने आदि का किंचित् मात्र भी प्रयोजन नहीं रह गया है। जहाँ कहीं चाहे जब, चाहे जिस भाँति इस मल-मांसमय अपवित्र पिण्ड रूप शरीर का नाश हो जाय, मेरी कुछ भी हानि या लाभ नहीं; बल्कि प्रारब्ध रूप संकट से छूटने में ही कुशल-मंगल है। मैं नित्य संतुष्ट, नित्य प्राप्त, सर्व - कामनापूर्ण हूँ, फिर विनाशी, दुःखपूर्ण, अपवित्र जड़ शरीर-संसार पंचविषयों से क्या प्रयोजन है ?

पद

हमारे लिये तो हमीं ही बहुत है,
हमारे लिये अब न कुछ चाहना है ॥ टेक ॥

दोहा—जग इन्द्री सन्मुख पड़ो, याते होत प्रतीत ।
नहीं जगत् को काम क्या, मैं चैतन्य अभीत ॥

हृदय से हमारे जगत अब नहीं है,
किसी भोग की अब न कुछ कामना है ॥ १ ॥

दोहा—भोग मान बहु कुछ मिले, तो, भी लाभ न मोर।
हानि न होवे ना मिले, यह निश्चय दृढ़जोर ॥

जगत् दृश्य आये गये मैं रहा थिर,
परम पद को पाये न कुछ पावना है ॥ २ ॥

दोहा—जगत मिले दुःख ही मिले, सुख शांति नहिं रंच।
याते सबसे मोड़ि मुख, ले पारख मैं संच ॥

हुए चक्रवर्ती बनें भिक्षु क्यों हम,
स्वयं त्याग करके न कुछ भावना है ॥ ३ ॥

दोहा—ज्ञान वर्ण अमृत स्वतः मुक्त तृप्त निरधार।
अविचल शान्त स्वरूप मम, मन माया गो पार ॥

अटल राज्य पाये न अभिलाष बाकी,
जगत् जाल में अब न फिर आवना है ॥ ४ ॥

उपर्युक्त निश्चय को धारण करे।

(२) संगत— 'वाम-वंचक, राजसी-तामसी, भ्रामक, अधविच्चड़ भेषधारी और राग-भय-उत्पादक स्थान-भूमिका, पदार्थ, बोली, क्रिया स्मरण आदि कुसंग का सर्वथा त्याग करे।' सद्रहस्य सम्पन्न वैराग्यवान् पारखी सद्गुरु तथा सन्तों की संगत करे, कहा भी है।

साखी

विरागवान् के संग बिन, होय नहीं वैराग।
संगत हूँ फल ना मिले, बिन सांचा मन लाग ॥ विशाल व० ॥

जहाँ धीर गंभीर अति निश्चल, तहँ उठि मिलहु कबीरा।
सन्त महन्तो सुमिरो सोई। जो काल फाँस से बाँचा होई ॥ बीजक क० ॥

तिनको चरणोदक सही, तिनको महा प्रसाद।
तिनको दर्शन निश्य सही, जिनकी मिटी उपाध ॥ वैरा० श० ॥

इत्यादि प्रथम तो सच्चे दृढ़ वैराग्यवान् की संगत मिलना दुर्लभ हो जाता है, दूसरे मिली भी तो मान-बड़ाई भोग, मर्यादा की इच्छा-आड़ा से निर्मान हो कर उनसे दासत्व पद लिया नहीं जाता, यह बड़े भारी दुःख की बात है। अतएव अपने को दुःख के बीच समझ कर हम साधु-गुरु की शरण लिये हैं दुःख छुड़ाने के लिये, कुछ बराबरी, मान-भोग, बड़प्पन-पूज्यतादि के लिये नहीं इत्यादि, विविध विचार उत्पन्न कर, अहंकार शत्रु का सिर काट कर तथा मान-भोग की इच्छा को त्याग कर वैराग्यवान् के सामने अपनी स्थिति-शान्ति-हित निर्मान-कोमल, दीन-हीन, दासत्व पद धारण करे, टहलुआ बने, निष्कपट सच्चा प्रेम करे। नाना प्राणी-पदार्थों की कामना, मन की चञ्चलता और भोगों से उदासीन सदा सत्संग-रत रहे।

(३) पुरुषार्थ—भोग-इच्छा, सकाम-क्रिया का सर्वथा त्याग करे। केवल कल्याण के ध्येय से तन, मन, वचन से विवेकी सद्गुरु-सन्तों की सेवकाई, सद्ग्रंथों की पढ़ाई, लिखाई, कण्ठस्थ कराई, अर्थ-विचार, स्मरण-चिन्तन में रत रहते हुए मुख्य पुरुषार्थ वैराग्य पूर्वक दृष्टा-दृश्य का विवेक करके निर्वासनिक स्थिति का लाभ लेवे।

उपर्युक्त कल्याण के जो तीनों अङ्ग बतलाये गये हैं, इनको जीवन पर्यन्त निरन्तर सादर धारण किये रहे, खण्डित न होने देवे, तभी मोक्ष-लाभ सम्भव है।

भूख तृषा सम लक्ष जेहिं, प्राप्ति हेतु तेहि खोज।
अन्न पात्र संयोग लहि, खाय स्वाद युत मौज ॥६२

टीका :— जैसे कोई कई दिन का भूखा और प्यासा मनुष्य अन्न, जल की प्राप्ति के लिये सचिंतित उसकी खोज करता है और भाग्य-वश सहित पात्र स्वादिष्ट व्यञ्जन तथा शीतल सुमिष्ट जल का संयोग प्राप्त कर, उन्हें खूब ही आस्वादन पूर्वक प्रसन्नता से खाता और पीता है। इसी प्रकार जो केवल शान्ति-स्थिति के ही भूखे हैं, जन्म-मरणादिक घोर कष्टों से छूट कर

मात्र मुक्ति ही चाहते हैं, उन्हें साधु-गुरु के सद्शिक्षा, सत्सङ्ग तथा सद्साधन ग्रहण करना अमृत के तुल्य भासते हैं और वे ही निर्मानिता पूर्वक जीवन पर्यन्त सत्संग-सद्साधन-रत रहकर मुक्त हो जाते हैं। जिसके चित्त में मान-भोग का लक्ष्य प्रतिक्षण खुरखुराड मचाता है, उसे क्या सत्सङ्ग प्रिय होगा, क्या साधन ? वह तो सर्वदा राग-द्वेष का शिकार बना रहता है ॥ ६२ ॥

मुख्य प्रयोजन हेतु यह, भूख प्यास जेहि दूर।
साधन करि यहि हेतु से, सफल परिश्रम पूर ॥६३

टीका :— अन्न-जल की खोज एवं प्राप्ति की खास यही आवश्यकता तथा कारण है कि जिससे भूख-प्यास दूर होकर तृप्ति हो जाय। इसी प्रकार सत्संग तथा सर्व सद्गुण-साधनों की प्राप्ति एवं पुरुषार्थ करने का मुख्य यही प्रयो-जन है कि जिस जरा-मरण बंधन को काटने और एकरस स्थिति होने के लिये यह परिश्रम किया जाता है वह सफल हो जाय, कर्तव्य-उपाधि का अन्त हो अर्थात् पूर्ण स्वरूपस्थिति-शांति की प्राप्ति हो जाय। इसके अति-रिक्त और कोई हतु नहीं ॥ ६३ ॥

सर्व दुखन को नाश भौ, गुरु पद पारख प्राप्त।
सब साधन को फल यही, गहै कोइ नर आप्त ॥६४

टीका :— स्वरूपज्ञान में जब निरन्तर स्थिति हो गयी, तब जानो, सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो गया। यही सब साधनों का परिणाम है, इसे कोई महान पुरुष ही प्राप्त करते हैं; अथवा जो स्वरूपस्थिति प्राप्त करता है वही महान है ॥ ६४॥

व्याख्या :-- जीवन का लक्ष्य स्वरूप-ज्ञान पूर्वक परम शांति की प्राप्ति है। शान्ति का स्वरूप और महत्त्व वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :--

अमल अदाग शान्ति पद सारा। सकल कलेश न करत प्रहारा।
तुलसी उर धारे जो कोई। रहे अनन्द सिन्धु महँ सोई॥

दोहा :— अति शीतल अति ही अमल, सकल कामना हीन ।
तुलसी ताहिं अतीत गनि, वृत्ति शान्ति लयलीन ॥
सात द्वीप नौ खण्ड में, तीन लोक जग माहिं ।
तुलसी शान्त समान सुख, अपर दूसरो नाहिं ॥

वैराग्यवान् महात्माओं की विलक्षण ही स्थिति होती है ।

एक महात्मा अविनाशी स्वरूप स्मरण में स्वस्थ चित्त बैठे थे । इतने में एक राजा हाथी पर बैठा जा रहा था, राजा बोला—कहिये महात्मा जी ! आप चुपचाप बैठे हैं, संध्या क्यों नहीं करते ? महात्मा बोले—हमारे पूर्व के काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, आशा तृष्णा, ईर्ष्या, हिंसा, परसंताप, झूठ, छल, चोरी, प्रपंच, कहाँ तक कहें परिवार में अगणित सदस्य थे; वे एक-न-एक मरा करते हैं और नये कुटुम्ब में से सद्बुद्धि रूपी स्त्री से दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, शील, संतोष, नम्रता, समता, ब्रह्मचर्य, विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति, स्वरूपज्ञान, स्थिति, मुक्ति आदि अनेक पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं। इसलिये हमें सदा सूतक (सूदक-छूत-छूवा) लगा रहता है, तो भला बतलाइये ! मैं कैसे सन्ध्या करूँ ? महात्मा जी की ज्ञान भरी वाणी सुनकर राजा प्रभावित हुआ और हाथी से उतर दोनों हाथ जोड़कर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया महात्मा आशीर्वाद दिये । राजा कहने लगा— हे संत भगवन् ! आप महान त्यागी हैं, आप का दर्शन बड़े सौभाग्य से मिला । महात्मा बोले—नहीं-नहीं, मैं कुछ त्यागी नहीं हूँ, महान त्यागी तुम हो । राजा चौंककर कहने लगा—स्वामी ! मैं महान त्यागी कैसे हो सकता हूँ ? महात्मा—तुम महान त्यागी इसलिये हो कि भक्ति, विवेकादि सद्गुण युक्त जो अविनाशी अक्षय स्वरूपज्ञान धन है उसको त्याग कर द्रव्य, स्त्री, पृथ्वी आदि तुच्छ पदार्थ ही में सन्तुष्ट हो । जो त्रयलोक सम्पदा से भी बढ़कर अविनाशी परमार्थ का त्याग कर कौड़ी-छेदाम

के समान मायावी वस्तु ही में संतोष रखे वह कितना महान त्यागी है! और मैं तो तुच्छ मायिक पदार्थों का त्याग करके अविनाशी, अघट, स्वरूपज्ञान तथा मोक्ष रूपी अपार धन का लोभी हूँ और उसी की रक्षा में रात-दिन लगा हूँ। महात्मा की इस प्रकार वार्ता सुनकर राजा की और आँखें खुलने लगीं। इतने में राजा अशर्फियों की एक थैली महात्मा के सामने रख कर स्वीकार करने का आग्रह किया। महात्मा अपनी नाक को ढँककर वहाँ से उठकर चल दिये और कहे—तुम्हारे रुपये से गन्दगी आ रही है। राजा महात्मा के पीछे दौड़ा-दौड़ा चला जाता और कहता—हे महात्मन् ! हमारी सेवा स्वीकार कीजिये। इतने में एक पाखाना के पास जा पहुँचे और खड़े हो गये। राजा भी पीछे से पहुँचा। पाखाना की दुर्गन्धी से राजा अपनी नाक बन्द कर महात्मा से विनती करने लगा--हे स्वामिन ! यहाँ से शीघ्र चले चलें, क्योंकि यहाँ बड़ी दुर्गन्धी है। महात्मा वहाँ से जाकर दूसरे स्थान पर राजा से कहने लगे--जैसे भंगी को पाखाना में रहते-रहते पाखाना की दुर्गन्धी नहीं ज्ञात होती, किंतु जो वह काम नहीं करता, उसको नहीं सहन होती। ठीक इसी प्रकार विशेष मायावी पदार्थों में रहते-रहते तुम्हें माया की दुर्गन्धी नहीं ज्ञात होती, किन्तु मुझे तो माया के पास रहा नहीं जाता[1] राजा--सरकार ! आप माया से इतना क्यों डरते

---

१ राजा की असर्फियों से महात्मा को गन्दगी नहीं आई; क्योंकि असर्फियों में गन्दगी नहीं होती। वास्तव में राजा के धन-मद को दूर करने के लिये सन्त की यह एक युक्ति थी। इसके अतिरिक्त धन का अधिक संग्रह आसक्ति, अहंकार एवं दुर्गुण-उत्पादक होने से दुर्गन्ध रूप अर्थात् त्याज्य तो है ही। यद्यपि गृहस्थ-विरक्त-सबको शारीरिक निर्वाह मायिक वस्तुओं से ही लेना पड़ता है; किन्तु विवेकवान माया को अपनी दासी बना लेते हैं और अविवेकी माया का दास स्वतः बन जाता है। जो विवेकवान गृहस्थ तथा सन्त लोक हितार्थ कार्यों में प्रवृत्ति लेते हैं उनके पास धन-पैसे का स्वाभाविक आदान-प्रदान तथा सामान्य-विशेष संग्रह भी रहता है; परन्तु वे उससे सर्वथा अनासक्त रहते हैं।

हैं, माया में क्या-क्या दोष हैं ? महात्मा —ओह ! अरे ! विशेष माया (धनादि) ही से तो अनेक दुर्गुण काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, परसन्ताप, राग-द्वेष उत्पन्न होकर जीव को जलाते रहते हैं; अन्त में माया छूट भी जाती है। परन्तु दुर्गुणकृत वासनायें चौरासी में अनन्त कष्ट देती हैं। राजा बोला--हे दयासागर ! इस मायासक्ति से अपना पिण्ड कैसे छुड़ाया जाय ? और गृहस्थी में रहते हुए अपना सुधार कैसे करें ? महात्मा बोले ?

पद

पहले पहल संत की संगत, पुनि कुसङ्ग से दूर रहे।
सद्ग्रन्थन का नित अवलोकन, भक्ति भाव में पूर रहे॥
निज बुद्धीका अहं मिटावे, गुरू बुद्धी विश्वास करे।
छल बल कपट चतुरता त्यागे, सरल अमद उर दीन धरे॥
अग्नि चोर डाकू वो राजा, धन छीने अरु नाश करें।
ठाट बाट इन्द्रिन आसक्ती, नाच राँच धन खर्च करे॥
पान तमाकू गाँजा मदिरा, हर्ज खर्च नित जीव जरे।
तिन सब फादिल हर्ज खर्च तजि, जीव काज पर ध्यान धरे॥
फादिल हर्ज खर्च जो करते, उसमें दसवाँ भाग अगर।
धर्म भक्ति में ताहि लगावे, सुख शान्ती का मिले डगर॥
उल्टी बुद्धी है जीवन की, उल्टा मारग चलते हैं।
याही से दुखिया हो दुर्गुण, अग्नी माहिं उबलते हैं॥

उपर्युक्त दृष्टान्त का अर्थ कितने लोग यह लगाते हैं कि साधु को पैसा छूना भी नहीं चाहिये। परन्तु यह अज्ञान मात्र है। कितने पैसा न छूने का हठ रखने वालों में भी दम्भ, अभिमान और पाखण्ड भरा रहता है और कितने लोक-हिताय कार्यों में प्रवृत्त होते हुए भी विवेकपूर्वक रहकर जीवन्मुक्त देखे जाते हैं। अतएव यहाँ का तात्पर्य है कि सन्त, साधक या कोई भी कल्यार्थी मनुष्य हो अधिक संग्रह वृत्ति से दूर रहे। लोक-हिताय कार्यों के लिये यदि उसे अधिक संग्रह रखना पड़ता हो, तो निराभिमान तथा अनासक्ति पूर्वक उसका सदुपयोग करता रहे।

कहर मची जीवन पर भारी, दुख प्रवाह नित बहता है ।
नर दीवाने डगर भुलाने, गुरु मारग नहिं लहता है ॥
जिस माया में फूले घूमैं, क्षण में नाश दिखाई है ।
भक्ति धरम सद्गुण बिन फिरसे, चौरासी भरमाई है ॥
ठाट बाट अभिमान आज का, सबही धूल मिलाई है ।
चेतो चेतो उठो मुसाफिर, गुरु मारग में आई है ॥
तन मन धन जन विद्या वाणी, निज स्वरूप से पृथक अहे ।
आज कल में सब छूटेंगे, क्योंकर पंथी मोह गहे ॥
धीरे धीरे मन को जीते, ब्रह्मचर्य को शीघ्र लहै ।
तब सुख होवे भय दुख छूटे, जब इन्द्रिन से पार रहे ॥
ब्रह्मचर्य जो ना कर पावे, शील व्रती गृहधर्म चले ।
विद्यावाद कुतर्क त्यागि के, सत्य अहिंसा भक्ति भलै ॥
माया सभी अभी छूटेगी, इससे मद को त्याग करे ।
अविनाशी पारख पद स्थिति, जगत् अभाव न भाव करे ॥

कुण्डलिया

आज काल टारो नहीं, गहो शीघ्र गुरु ऐन ।
और कहूँ संसार में, नहिं सुख शांती चैन ॥
नहिं सुख शांती चैन, रैन दिन काम सतावे ।
भोग विषय जित भुगै तितै तृष्णा बढ़ि जावे ॥
और मिलै तब और और तब और बढ़ावे ।
मन शैतान सवार शीश नर काहिं नचावे ॥
आज काल में सुखी होब यह आशा ठाने ।
दुख ही में दिन जात देखते आयु सिराने ॥
अन्धा है यह जीव हिताहित ज्ञान न करता ।
हित सद्गुरु को छोड़ि अहित जग भोग में जरता ॥
सुखी जीव होवे नहीं, बिन पकड़े गुरु लैन ।
आज काल टारो नहीं, गहो शीघ्र गुरु ऐन ॥

दोहा :— राजा इतने बैन सुनि, अश्रुपात युग नैन ।
बांधि युगल कर, नमन करि, बोल्यो मधुरी बैन ॥

पद

बना लो चरण रज शरण में पड़ा हूँ,
ये संसार सागर से मुझको बचाकर ॥ टेक ॥

दोहा— नारि पुत्र गृह कुटुम धन, देह भोग सुख साँच ।
मानि-मानि ममता विवश, मर्कट इव नित नाच ॥

है घनघोर छाई अविद्या निशा उर,
उगा ज्ञान तम को नशा दो दिवाकर ॥ १ ॥

दोहा— वोद्र भोग हित अति चतुर, परमारथ नहिं ध्यान ।
सत्य अहिंसा भक्ति नहिं, पर उपकार न दान ॥

पशू तुल्य जीवन अनोखा बिताये,
गहे हाथ कंकड़ सु हीरा गवाँकर ॥ २ ॥

दोहा— काह जगत् में काह हौं ? काह मेरो कर्तव्य ।
नहिं जान्यों सत्संग करि, मद माया मन्तव्य ॥

बड़ी भूल कीन्हें न चीन्हें प्रभू को,
अहो नाथ ! अपराध मेरे क्षमा कर ॥ ३ ॥

दोहा— बार बार बिनती करों, धारि चरण में माथ ।
सत् मारग की सूझ दे, कीजै नाथ सनाथ ॥

यही एक अभिलाष मेरी पुरा दो,
दुखी जान करके शरण में लगा कर ॥ ४ ॥

प्रसंग—६— सुसंग-कुसंग-विवेचन ।

जग महँ रहे न लाभ कछु, विषय प्रपंच अपार ।
चाह अनन्त दुखाहिं तहँ, राग द्वेष मिल रार ॥६५

टीका :— सांसारिकता में फंसे रहने में अपना कोई लाभ नहीं है; प्रत्युत विषयासक्ति से उत्पन्न हुए अपार जंजाल घेर लेंगे, अनेक विषय-इच्छायें दुःख देंगी और राग-द्वेष के चक्कर में पड़कर अनेक झगड़े-रगड़े बढ़ जायँगे ॥ ६५ ॥

पर धन दारा हरण करि, जबरन करत उपाधि।
भय तृष्णा परिश्रम मह, दुक्ख अनेकन साधि ॥६६

टीका :-- खल लोग पराये के धन, स्त्री आदि का अपहरण करते, बलात्कार तथा अन्य उपद्रव करते। इसके फल में भय, तृष्णा और परिश्रम धारण करके अनेक दुःखों को बना लेते हैं ॥ ६६॥

सुर दुर्लभ निष्फल भयो, जीवन मानुष केरि।
संगत श्री गुरु संत की, कियो न कबहूँ हेरि ॥६७

टीका :— इस प्रकार देव-दुर्लभ मानव-जीवन निष्फल हो गया। इस अभागे जीव ने कभी भी निर्मल संतों की खोज करके, उनका सत्संग नहीं किया ॥ ६७ ॥

व्याख्या :-- अन्य मतावलंबी कोई स्वर्ग लोक वासी देवता मानते हैं; किन्तु कहते हैं—वह कर्म भूमिका या मोक्ष स्थान नहीं है। देवता लोग पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक पुनः आते हैं 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति' और मनुष्य शरीर मोक्ष भूमिका है। इसलिये यह नर देह देव दुर्लभ है। इस प्रकार उनकी मानन्दी के अनुसार पराइत वाणी द्वारा मनुष्य शरीर की विशेषता में 'सुर दुर्लभ नर देह' को कह दिया गया, नहीं तो अण्डज, पिण्डज, उष्मज, और मनुष्य इन चार खानियों से विशेष कोई सचैतन्य खानि निर्णय से नहीं है।

त्रिविध कुसंग कुकर्म में, भय चिन्ता मिलि व्याधि।
धन जन बाहर संग मन, हृदय वासना आधि ॥६८

टीका :-- प्राणी, पदार्थ तथा हृदयस्थ वासना रूप मन--ये तीन कुसंग हैं और चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार ये तीन कुकर्म हैं--इन्हीं से जीव भय, चिन्ता तथा नाना भव-व्याधियाँ बनाता रहता है ॥ ६८ ॥

भूउहिं की करतूति से, उत्पति तन मन कर्म।
भास अध्यास अनुमान भव, कलिपत सबहीं भर्म ॥६९

टीका :-- स्त्री-पुरुष के पारस्परिक बिलास रूप मिथ्या कर्तव्य सेही तन-मन में बन्धनदायीकर्म उत्पन्न होते हैं। विषयों में सुख-प्रतीत, वासनायें मन की आकाशीय उड़ानें, मनोमय--सब कल्पित तथा भ्रान्तिपूर्ण हैं ॥६९॥

व्याख्या:—मैथुनादि मनःकल्पित भोगों से न शरीर-निर्वाह होता है न परमार्थ बनता है; प्रत्युत शरीर, मन—सबका पतन होता है; अतः यह मिथ्याकर्म है। यही भव-व्याधि है। कल्याणार्थी को अपने को विषयासक्ति से सर्वथा मुक्त करना चाहिये।

तन मन से निश्चय करै, भिन्न सदा निज रूप।
हानि लाभ से रहित है, चेतन अमर स्वरूप।७०

टीका—अपना स्वरूप तन मन से सर्वथा पृथक् है, मायाबी पदार्थों के हानि-लाभ से परे, चैतन्य, अविनाशी स्वरूप है, इस प्रकार जीवन पर्यन्त निरन्तर अपने हृदय में निश्चय करते-रहना चाहिये ॥ ७० ॥

व्याख्या:—मनोमय के सत्य प्रतीत होने से ही तन, मन-कृत जड़ाध्यास, जड़-भावनायें उत्पन्न होती हैं; जिससे जीव संसार चक्र (जन्म-स्मरण) से मुक्त नहीं हो पाता। किन्तु वह मनोमय बंध्या-पुत्रवत् नितांत झूठा है केवल अपने ज्ञानामृत स्वरूप की ही भूल से मन रूपी भ्रम दुःख दे रहा है। अपनी सत्ता बोध-वैराग्य बल-द्वारा समेट लेने से मनका निर्मूल हो जाता है, इसे नीचे के दृष्टांत से स्पष्ट समझिये।

मुमुक्षु और मन का सम्भाषण

मुमुक्षु अपने मन से कहता है—मन! तू बड़ा कौतुकी है, महान चञ्चल है, विकट उपद्रवी है। मुझे एक क्षण भी तू स्थिर नहीं रहने देता। जागृत अवस्था में तो उपद्रव मचाता ही है; परन्तु स्वप्न में भी तू मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता। थोड़ा गाढ़ी सुषुप्ति अवस्था में तू पीछा छोड़ता है, परन्तु जैसे मेरी नींद खुली कि तू प्रथम से ही सामने खड़ा रहता है।

फिर संसार का उपद्रव सामने कर देता है। तू मुझे कितना दुःख देगा ? अब भी तो मान जा ! मन—हे चैतन्य सरकार ! आप जो कुछ कहें मैं सहने को तत्पर हूँ, आप की टेढ़ी-सीधी सर्व बातें मुझे प्रिय हैं; क्योंकि आप मेरे स्वामी हैं। आप के ही मानने से मेरा जीवन है, सत्ता है। आप न मानें तो अभी मैं समाप्त हो जाऊँ। मेरे में क्या बल है जो आप को दुःख दे सकूँ ? परन्तु, हाँ ! बिना पैसे का मैं आप का नौकर हूँ। एक क्षण में भी करोड़ों कोस की यात्रा करके लौट आता हूँ। सोते जागते जहाँ आप चाहते हैं वहाँ मैं उपस्थित रहता हूँ। फिर मेरे में बुराई ही कौन-सी है ? जो मैं बुराई में ले जाता हूँ तो भलाई में भी ले जाता हूँ, जो मैं जगत्-चिंतन कराता हूँ तो मैं स्वरूप-चिंतन भी कराता हूँ। फिर मैं केवल बुरा ही क्यों हूँ ? सच पूछिये तो स्वतन्त्र रूप से न मैं भला हूँ न बुरा हूँ आप ही जैसा मुझे भला-बुरा बना देते हैं वैसा हो जाता हूँ। जिधर संकेत करते हैं उधर दौड़ जाता हूँ, दास को उजर ही किस बात की ? मुमुक्षु—वाह रे मन ! वाह !! तू तो पूरा निर्दोषी बन गया, तो क्या मैं ही दोषी हूँ ? मैं तो चाहता हूँ कि दुःखों से छूट जाऊँ, जन्मना-मरना न पड़े। परन्तु तू बारम्बार अवरोधक हो रहा है, नाना बन्धनों में बाँधा करता है। मन—हे चैतन्य सरकार ! स्वामी से विशेष बात करना ठीक नहीं होता; परंतु जब तक दूसरे के दोषों से दृष्टि घुमा कर अपने दोष न देखे जायँगे तब तक कल्याण होना सर्वथा असम्भव है। आप हमारे ऊपर सब दोष मढ़ कर थोड़े समय के लिये अपना बोझा हल्का तो अवश्य कर लेते हैं; परंतु मेरे में क्या स्वतंत्र शक्ति है जो आप को भुला सकूँ ? "मन ही पापी है, मनी ही चञ्चल है" यह सुनते-सुनते तो मेरे कान दुखने लगे। कुछ आप भी विचार कीजिये ! क्या मेरा ही सब कुछ दोष है ? न तो मेरे में कोई स्वतंत्र सत्ता है, न बल है। आप ही की सत्ता से शक्तिमान हूँ। यदि आप की अवज्ञा करूँ तो भी तो बुरा कहा जाऊँगा, और फिर मेरे में शक्ति ही क्या है कि आप के विपरीत चल सकूँ ? जहाँ आप इच्छा करते हैं वहाँ मैं दौड़ा

जाता हूँ, अनेक मान-भोग की इच्छा-वासना करके आप स्वयं दुखी हैं और दुःखों का कारण बतलाते हैं हमें। आप जिस-जिस चीज की इच्छा करेंगे, उसी-उसी का चिन्तन बार-बार आप के सामने मुझे कराना ही पड़ेगा। आप ही विचारिए ! आप कभी पंच, परधान और सरपंच तथा एम० एल० ए० यहाँ तक की मिनिष्टर, राष्ट्रपति बनना चाहते हैं। कभी विद्या-वारिधि होना चाहते हैं। कभी ललना-आलिङ्गन, कभी सुन्दर सुपुत्रों को गोद में बिठा कर हृदय ठण्डा करना चाहते हैं। कभी द्रव्य संग्रह की, कभी विश्व विख्यात होने की इच्छा करते हैं। कभी संसार भर का गुरु-पूज्य बन कर सब को चेताने की इच्छा करते हैं। जितना आप संसार के भोग, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई चाहते हैं, उतना परमार्थ-मोक्ष चाहते ही कहाँ हैं ? यदि आप का निश्चित रूप से कल्याण का ही ध्येय होता तो मैं आज तक आप का मोक्ष-साधक बन गया होता। मेरे में बुराई अवश्य है, किन्तु वह आप ही के तो कारण से है ? यदि आप मेरे में बुराई की सत्ता न भरें तो मैं क्यों बुरा बनूँ ? मैं कुछ स्वतन्त्र तो हूँ नहीं कि स्वयं बुरा बन जाऊँ। आप ही मेरे स्वामी हैं, चाहे मुझे बुरा बनावें चाहे भला बनावें। मुमुक्षु—हे मन ! तू ही तो भुला देता है, बारम्बार उल्टी-पल्टी क्रिया करा देता है; तो फिर तेरा दोष नहीं तो किनका दोष है। मन—हे जनैया देव ! जो आप भूल जाते हैं, वह आप ही का दोष है। एक तो आप अनादिकाल से हमारे में बुराई का कूक (बल) भर दिये हैं। दूसरे आप आज भी असावधान हो जाया करते हैं। मेरे में तो कोई स्वतन्त्र बल नहीं है। आप मुझसे हरक्षण सावधान रहें और मेरे में भलाई की ही सब शक्ति भर देवें, तो मुझे भी अच्छा मार्ग प्रिय लगने लगे। आप ही की जगत्-इच्छा, विषय-भोग रूपी उल्टी क्रिया से मैं बुरा हो गया हूँ। आप मुझे विषय-बुराइयों की ओर से घुमा कर कल्याणकारी पथ पर चलाइये तो मैं भला बन जाऊँ। आप आज से ही जगत्-इच्छा त्याग कर एक स्वर से स्वरूप-स्थिति-पथ पर चलें, मुझे अच्छे

कर्मों में लगावें, तो मैं आप का शान्ति और मोक्ष-साधक[1] बन जाऊँ। देह रहे तक आप की जीवन्मुक्ति-शान्ति की सावधानता पूर्वक रखवाली करूँ, कभी भी गाफिल होकर आप दुःख में न गिरें। मैं आपको जीवन्मुक्ति सुख का अनुभव कराते-कराते स्थिर, गम्भीर, मन-वाणी, कर्तव्य-कर्म और संसार से परे विदेह मोक्ष रूपी परम धाम में करके ही लौटूँ। किन्तु आप अपनी सर्वशक्तिमानता की ओर ध्यान दीजिये और सर्व इच्छा छोड़िये तथा मेरा सदुपयोग कीजिये। ऐसा सुनकर मुमुक्षु साधक बोला —हे मन ! तू नितांत सत्य कह रहा है, बिल्कुल ही फुर-फुर कहता है। मैं मान-भोग की इच्छा करके ही भ्रष्ट हूँ। दुःख झेल रहा हूँ। इस प्रकार मन से कह कर साधक अपने आप को धिक्कारने लगा— अरे मूर्ख ! तू अपने आप के उद्धार के लिये क्यों नहीं यत्न करता ? इस क्षणिक और विकराल संसार में तू क्यों व्यर्थ ही सुख की आशा कर रहा है ? सांसारिक मान-भोग की इच्छा में तुम्हें क्षण-क्षण अतृप्ति, अशान्ति रहती है, फिर भी उसे नहीं त्यागता। अरे ! तू अमृत चाहता है तो विष त्यागना होगा और अविकार स्वरूप में शान्ति चाहता है तो विकार-अपवित्र रूप भोग-देहासक्ति त्यागनी होगी और सर्व देहादि जरा-व्याधि से छूट कर मुक्त होना चाहता है तो मान-भोग अर्थात् स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त सर्व इच्छायें छोड़नी होंगी। अतः सर्व इच्छा छोड़ और स्वरूप में शान्त हो। मुझ से जगत् से क्या काम ? शरीर और भोग से, धन से, जन से, इन्द्रिय-स्वाद से, मान से, नाम से, कीर्ति से, महिमा से, सांसारिक वस्तुओं से क्या काम ? मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, अविनाशी हूँ, अविकार हूँ, कारण-कार्य अंश अंशी-रहित स्वतः अखण्ड हूँ, निराधार हूँ, शान्त हूँ, अमृत हूँ, अजर हूँ, सर्वकामना

१— यहाँ का सारांश यह है कि मन भुलावन रूप शत्रु रूप अवश्य है, तथापि यदि हम उससे हर क्षण सावधान होकर अच्छे मार्ग पर उसे लावें तो वह बाधक के अतिरिक्त साधक हो जायगा। मन क्या है ? मेरी भूल से बना है। वह कुछ स्वतन्त्र नहीं है।

पूर्ण हूँ, स्वच्छन्द हूँ, निर्द्वन्द्व हूँ, अकेला हूँ, अपने आप हूँ, मन-देह-त्रयताप से पार हूँ, अडिग, अचल, एकरस, नित्य, मोक्ष-धाम हूँ। इस प्रकार विवेक करते-करते मानसिक सृष्टि विलीन हो गयी अहंकार का पता नहीं लगा, फिर अहंकार के विलीन होते ही स्वतः द्रष्टा स्वरूप में मुमुक्षु शान्त हो गया। धन्य-धन्य ! यही परम पुरुषार्थ है, यही परम लाभ है, यही परम जीवन है, यही परम धन एवं परम पद है। परम और गाढ़ी स्वरूप स्थिति दशा में निश्चल स्थित होकर स्थितिवान कहते हैं—

पद

हृदय से जगत को नहीं चाहता हूँ,
हमारी जगत् की ये अंतिम विदाई ॥ टेक ॥

दो०—जगत् जलन में वास कर, जीने की क्या आश ?
मरने को फिर भय कहाँ ? अभय परख पद वास ॥
न जीना जगत् में न मरना मुझे है,
अचल शान्ति पारख परख में समाई ॥ १ ॥

दो०—मान बड़ाई विषय सुख, मृग तृष्णा को राज।
अहो ! हाय-हा ! सबहि से, थकित भयों मैं आज ॥
नहीं और दीखे हमारे नजर में,
परम बोध पारख अटल मन बसाई ॥ २ ॥

दो०—प्राप्त करन नहिं कछु रह्यो, नहिं बाकी कर्तव्य।
यहि असार संसार हित, नहीं और मन्तव्य ॥
जगत् स्वप्न से ना कोई वास्ता है,
परख थीर हो देह बुद्धी मिटाई ॥ ३ ॥

दो०—मन वाणी कर्तव्य वो, नहिं प्रमाणु को गम्य।
अविनाशी अविकार अज, शांत परम पद रम्य ॥
हुआ पूर अभिलाष जो चाहते थे,
सदा के लिए अब अभय देश पाई ॥ ४ ॥

प्रसंग—७—स्थिति

निज स्वरूप के बाद सब, काल रूप दर्शाय।
ताते नेह न कीजिये, है विजाति जड़ काय ॥७१

टीका—यदि गम्भीरता से विचार पूर्वक देखा जाय तो अपने अविनाशी चैतन्य स्वरूप से भिन्न शरीर-अन्तःकरण से लेकर पाँचों विषय पिण्ड-ब्रह्माण्ड जहाँ तक दृश्य-भास है सब कष्ट रूप दुःखदायी ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि इन विजाति दृश्य-भासों के अध्यास वश ही बारम्बार इस जीव को जन्मादिक तथा देहोपाधिक घोर कष्टों की प्राप्ति होती रहती है। इसलिये स्वस्वरूप के अतिरिक्त जहाँ तक पंच विषय मायिक पदार्थों का सम्बन्ध होता है, उनमें कदापि किञ्चत् भी आसक्ति न टिकाइये, ये सभी विजाति, स्वरूप से भिन्न जड़ सम्बन्धी हैं॥ ७१॥

आप पृथक भ्रम दुख सकल, परख समाधि सदोय।
मुख्य काज पूरा सोई, शान्त स्वरूप लहोय ॥७२

टीका—अपने चैतन्य स्वरूप से भिन्न सब सम्बन्ध असत्य और दुःखपूर्ण है, ऐसा जानकार और शरीरादि विजाति अध्यास त्याग कर पारख समाधि में निरन्तर निवास करो। देहादि विषयों की बासनायें मिटा कर स्वस्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लेवे, यही मनुष्य-जन्म का मुख्य कर्तव्य पूर्ण करना है॥ ७२॥

प्रश्न—पारखसमाधि में निरन्तर निवास करना क्या है?

उत्तर—यहाँ का यह भाव है कि स्वरूप से भिन्न शरीरादि मायिक पदार्थों को दुःखपूर्ण, असत्य, पृथक्, स्वप्नवत् तथा अपने स्वरूप को नित्य, सत्य, संतुष्ट, निर्द्वन्द्व सदैव लक्ष्य में रख कर विषय-वासना-देहाभिमान से सदा दूर, मन का साक्षी होकर स्वरूपनिष्ठा में लवलीन रहे। इस धारणा को कभी खण्डित न होने देवे, बल्कि सद्साधना पूर्वक तैल धारा वत् एकरस अध्यास-विहीन स्वरूपनिष्ठ रहे, यही पारखसमाधि में निरन्तर निवास करना है।

एकरस वृत्ति निरोध कर, लहि साधन अभ्यास।
तेहि ते नहिं विचलित कभी, तूड़ै मानस फाँस ॥७३

टीका :-- पूर्वोक्त साधनों का एकरस अभ्यास धारण करके मनोवृत्तियों (विषयासक्ति, अध्यास, वासनाओं) को मिटाता रहे। इस साधन से कभी हटे नहीं। मन सम्बन्धी राग-द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान, भोग-वासना, मान, कीर्ति, सेवा-प्रेम की इच्छा, प्राणी-पदार्थों पर स्ववशता की अभिलाषा, देह की अहंता-ममता आदि बन्धनों को सदैव विवेक-वैराग्यादि शस्त्रों से काटता रहे ॥ ७३ ॥

सदा सजग हुशियार जो षट विकार से पार।
लहि पारख संतोष बल, मोहै नहीं परार ॥७४

टीका :— जो सर्वदा अपने अन्तःकरण-स्थिति दुर्गुण तथा, मन-और बाहरी प्राणी-पदार्थों से सावधान और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद इन छे[1] विकारों से रहित स्वरूपस्थिति करने में चतुर हैं; वे स्वतः पारखस्वरूप की संतुष्टि-शक्ति से विजाति मायिक पदार्थों में मोहित नहीं होते ॥ ७४ ॥

प्रश्न—स्वरूप में संतुष्टि की शक्ति क्या है ?

उत्तर--पूर्ण स्वरूपबोध प्राप्त कर भोग वासना-रहित जब अपने स्वरूप ही में जीव स्थित हो जाता है, तब जगत् भोगों से वैराग्य और निरिच्छा पूर्ण रूप से प्राप्त होती है। यही स्वरूप संतुष्टि की शक्ति है।

गुरु आज्ञा पालन करै, श्रद्धा प्रेम बढ़ाय।
करत रहै मन भंग नित, दुर्मति सकल दुराय ॥७५

टीका :— उपर्युक्त स्थिति प्राप्ति के लिये मुमुक्षु का कर्तव्य है कि विश्वास और प्रेम बढ़ा कर गुरु की आज्ञा पालन करता रहे। अभिमान, कपट, आलस्य, भोगों की वासनायें और सम्पूर्ण दुर्बुद्धि को दूर डाल कर अपने मन के विकारों को सदा ध्वंस करता रहे ॥ ७५ ॥

१--उपजना, बढ़ना, बाल्य, युवा, वृद्ध, मृत्यु ये भी षट् विकार हैं।

शिक्षा— मुमुक्षु का कर्तव्य है कि एकङ्गा होकर गुरु का आज्ञाकारी और परमार्थ-परायण बने। आधा चित्त गुरु की ओर आधा चित्त जगत् की ओर न रखे।

दृष्टांत—एक सेठ के यहाँ एक कम समझ का नौकर था। सेठ ने एक दिन नौकर को दस रुपये का नोट देकर कहा--इसे भुना लाओ। इसके भुनाने में दस रुपये मिलेंगे, देखना! भली प्रकार गिन लेना। नौकर बाजार में गया और हर दूकान पर यही कहता--इस दस रुपये के नोट को ले लो और हमें दस रुपये फुटकल दे दो। दूकानदार लोग दो-दो रुपये के नोट देकर दस रुपये पूर करना चाहते तो नौकर कहता--नहीं जी! हमें दस रुपये चाहियें। एक दूकानदार इनके दस रुपये का नोट लेकर पाँच-पाँच रुपये के दो नोट देने लगा। नौकर ने कहा--मैं लूँगा तो दस नोट लूँगा नहीं तो नहीं भुनाऊँगा। निदान सेठ से जाकर कहा—रुपया नहीं भुना मिला। एक दूकानदार पाँच-पाँच के दो नोट देता था; किन्तु मैं दस रुपये का नोट देकर कब दो नोट लेने वाला था? सेठ ने कहा—अरे! वे पाँच-पाँच मिलकर दस रुपये हो जाते। अब नौकर ने दृढ़ ठान लिया कि दो मिला देने से एक पूर्ण हो जाता है। एक दिन सेठ ब्राह्मण और नाई को बुला कर नौकर से कहा—तुम तीनों कहीं पुत्री का विवाह खोजने के लिये जाओ और देखना! लड़के का घर-द्वार अच्छा होना चाहिये। लड़का पढ़ा-लिखा आयु बीस वर्ष की रहे। नौकर कुछ विचार कर बोला—एक लड़का बीस वर्ष का ना मिला और दस-दस वर्ष के यदि दो लड़के मिल जायँ तो काम चल सकता है? सेठ बोला— अरे मूर्ख! क्या यह भी नोट भुनाना है? अच्छा! अब तू कहीं मत जा, नहीं तो हमारी इज्जत लेलेगा।

सिद्धांत—उपर्युक्त गवाँर नौकर की भाँति ही मन है। यह कुछ ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति-साधना करके और उधर इन्द्रिय-स्वाद एवं मान भी प्राप्त कर अर्थात् दोनों मिला कर मुक्ति चाहता है। किन्तु

भोग-त्याग दोनों मिला कर किनका दुःख छुटा है ? अतः एकाङ्गी होकर वैराग्य, भक्ति में मन लगाना चाहिये, तभी दुःखों से छुटकारा हो सकता है।

गजल

यदी मुक्ति दिल से सही चाहते हो,
तो संसार से मन, हटाना पड़ेगा ॥ टेक ॥
सुखाशा अहन्ता हृदय से मिटा कर,
गुरू भक्ति में मन लगाना पड़ेगा ॥ १ ॥
रहे आज तक तू गुरू से विमुख हो,
मगर मन गुरू को चढ़ाना पड़ेगा ॥ २ ॥
अनेकों विषय की लगी वासना जो,
उसे तोड़ कर थिर कराना पड़ेगा ॥ ३ ॥
हृदय राग वो द्वेष इर्ष्या जलन को,
दो चंचल चपल सब जलाना पड़ेगा ॥ ४ ॥
सदा दृष्टि पारख प्रबल एक धारा,
सजग वीरताई लहाना पड़ेगा ॥ ५ ॥
अमर स्थिती निश्चय अभिलाष होवे,
कभी देह में फिर न आना पड़ेगा ॥ ६ ॥

प्रसंग—८— शान्ति-साधन वैराग्य।

पंच विषय सुख राग में, बहुतक भये बेहाल।
बड़े बड़े नृप रंक सब, जरठ युवा अरु बाल ॥७६

टीका—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पाँचों विषयों की सुखासक्ति में पड़ कर बड़े-बड़े राजा तथा दीन एवं बालक, युवक, वृद्ध संसार के अखिल प्राणी बहुत दुखी हुए और हो रहे हैं ॥ ७६ ॥

सत रज तम के युक्त नर, देह नरक भ्रम कूप।
सुख तृष्णा वश दुखी सब, पंडित चतुर सु भूप ॥७७

टीका—सकाम भावना से यज्ञ, दान, धर्मादि करने वाले सतोगुणी तथा शुभाशुभ मिश्रित कर्म करनेवाले रजोगुणी और घोर हिंसा पाप चोरी

व्यभिचारी अनीति करने वाले तमोगुणी, ये सभी दुःख के सागर में बह रहे हैं। विषय सुख की तृष्णा वश विद्वान्, बुद्धिमान् तथा नृपाल सभी जन्मादिक दुःखों के शिकार हो रहे हैं। क्योंकि भ्रमकूप (अज्ञान के उत्पत्ति स्थान) अपवित्र शरीर की आसक्ति में सब पड़े हैं॥ ७७॥

प्रश्न—रज-तम के साथ सतोगुणी को भी दुःख का पात्र क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—रजो-तमो दुःख के पात्र हैं ही, किन्तु स्त्री, पुत्र, धन, शरीर-सुख एवं कल्पित स्वर्ग-सुख-प्राप्ति की कामना रखकर यज्ञ, दान, धर्मादि करने वाले सकामी सतोगुणी भी विषय के अल्प सुख भोगने के लिए बारम्बार शरीर धारण करते हैं, जो विवेक दृष्टि से स्पष्ट दुःख रूप ही है और विशेष शुभ कर्म होने पर भी पूर्व संचित शुभाशुभ मिश्रित-कर्मों से शरीर धारण होता है। जिससे सुख-दुःख दोनों का भोग होता है। अतएव सकाम शुभ कर्म भी जन्मादि का हेतु रूप होने से सकामी सतोगुणी को भी दुःख का पात्र बतलाया गया है।

प्रश्न—तो क्या दान, धर्मादि नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—अवश्य करे; किन्तु मोक्ष का ध्येय लेकर निष्काम भावना से केवल अन्तःकरण शुद्धि अर्थ या अपना कर्तव्य समझ कर आसक्ति कामना, अभिमान तथा मान-बड़ाई से रहित होकर करे। हाँ ! यदि मुमुक्षुता बुद्धि न हो तो सकाम भावना से भी दान, धर्मादि शुभ कर्म करने वाला मनुष्य, रज-तम से श्रेष्ठ ही है। क्योंकि मुक्त न होकर जन्म धारण करेगा तो स्त्री, पुत्र, धन, शरीरादि सुख का भागी तो होगा ही। इसलिये सब विधि धर्म करना परम आवश्यक है। अच्छा धर्म-वैराग्य प्रतिपादक एक दृष्टांत कहते हैं, सुनो—

जीव का सच्चा साथी परमार्थ ही है

दृष्टांत—एक ग्राम में बातुलसिंह नामक बहुत धनी मानी मनुष्य रहता था। वह कई विद्याओं का ज्ञाता भी था। उसके एक स्त्री थी और एक पुत्र था। उसको धन, कुटुम्ब और विद्या का बहुत अभिमान

था। वह यही अपना जीवन लाभ मानता था। धर्म-कर्म-ज्ञान-भक्ति को पाखण्ड तथा धोखा-भ्रम समझता था। उसी ग्राम में एक गहन्तासिंह नामक सत्य ज्ञान और भक्ति निष्ठ मनुष्य रहता था, वह समय-समय पर बातुलसिंह को धर्म-भक्ति की ओर सुझाव देता, तथापि बातुलसिंह उसकी बात पर कुछ ध्यान नहीं देता, बल्कि उत्तर में यही कहने लगता-चलो-चलो ! ऐसे भूल-भुलैया का खेल हम बहुत देखे हैं, मरने पर किस भक्त और धर्मी के पास विमान आता है उन्हें स्वर्ग ले जाने के लिये। भला ! आज का प्रत्यक्ष विषयसुख छोड़ कर धर्म-भक्ति और परलोक की आशा रूपी भ्रम में पड़ना चाहिये ? तब गहंतासिंह कहता—ये दो दिन के धन कुटुम्ब और विषयसुख क्या सदा टिकाऊ हैं ? क्षण-पल में शरीर ही नहीं रहता, लोक-परलोक में जीव का सच्चा साथी धर्म-परमार्थ ही है। किन्तु इतना कहने पर भी बातुलसिंह माया-मोह में मदोन्मत्त हो धर्म-भक्ति की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। कुछ दिन पश्चात् बातुलसिंह बीमार पड़ गया। हाथ-पाँव पहले से ही लुंज (विकृत) हो गये थे। अब क्या हो, खाट पर से ही मल-मूत्र करना पड़ता, बातुलसिंह के एक पुत्र गादरसिंह नामक था। उसको जब वह बुलावे कि—भैया ! यहाँ आओ, मेरे को उठा कर मल-मूत्र करा दो, तब गादरसिंह चादर ओढ़ कर तान देता, बातुल सिंह कहते ही रह जायँ, किन्तु वह नहीं उठे, मानो कुम्भकरण की-सी नींद घेर ली है। क्योंकि जैसा नाम वैसा गुण उसमें भी था। बातुलसिंह की स्त्री उस समय मायके में थी। उसके बुलाने के लिये वह गादरसिंह से रो-रो कर कहा—भैया ! तुमको यदि मैं घृणित प्रतीत होता हूँ, मेरी सेवा नहीं कर सकते हो, तो शीघ्र जाओ अपनी माता को बुला लाओ। वह गादर था ही, दो दिन के पश्चात् इधर-उधर घूमते-फिरते अपनी माता के पास जा पहुँचा और अपने पिता की सब दुर्दशा कह सुनायी। वह स्त्री भी बहुत दिन मायके में रहने से "जिमि स्वतंत्र ह्वै बिगरहिं नारी" के न्यायानुसार अन्य पुरुष के प्रेम में फँस चुकी थी। इस कारण अपने

पति का प्रेम अब टूट गया था। किन्तु जैसे-कैसे उदास चित्त हो वह पुरुष के पास गयी। पुरुष स्त्री को देखकर रोने और कहने लगा–हाय प्राणप्यारी! जब से तुम मुझको छोड़ कर चली गयी हो, तब से हमारी बहुत अबदशा हो चुकी है। स्त्री उसकी आर्त वाणी सुनकर ऊपरी मन से कपड़ा उठाकर देखी तो पुरुष के दोनों पुट्ठों में घाव हो गये। स्वच्छता न होने के कारण दुर्गन्धी भी आती थी। लोगों के कहने के भय से दो-चार दिन कुछ सेवा की, किन्तु उसका गाढ़ा प्रेम अन्य पुरुष में होने से उधर ही उसका खिचावा था। इस कारण छलपूर्ण व्यभिचारिणी एक रात्रि को घर के सब वस्त्र-आभूषण एवं द्रव्य (रुपये) आदि लेकर भाग गयी। सबेरे उसका पुत्र गादरसिंह उठा तो देखा पेटी का ताला टूटा पड़ा है। माता भी नहीं है। यह समाचार बातुलसिंह से जाकर कहा तो वह हाय-हाय करके रोने-विलपने लगा। अब तो उसके दुःख की थाह नहीं रही। जिस धन-वनिता आदि का अभिमान करता था, वह सब चूर्ण हो गया। अब बातुलसिंह को प्रेमी गहंतासिंह का स्मरण आया और किसी मनुष्य-द्वारा बुलवाया "अति खल को शिक्षा नहिं लागत। दुःख पड़े पर आपुहिं जागत॥" के न्यायानुसार वह अपने आप गहंतासिंह से रो-रो कर कहने लगा—

चौपाई

अहो मित्र! मैं बड़ अभिमानी। जो तुम्हरी शिक्षा नहिं मानी॥
याते सहा दुःख मैं भारी। जो गुरु भक्ति हृदय नहिं धारी॥
अब कोइ युक्ति बतावहु प्यारे। नाशै यह सब दुःख हमारे॥
जिनके वश मैं फिरा भुलाना। सो सब जीते भयो बिराना॥
मित्र गहन्ता के मन माहीं। दया आय कछु युक्ति बताहीं॥
अहो! स्वजाती तुम मम जीवा। गुरु के वचन सु अमृत पीवा॥
मन वश जीव सभी जग केरो। एक को एक पकरि के बोरो॥
निज स्वारथ तक सब का प्रेमा। स्वारथ पूर रहे नहिं नेमा॥
याते अबहिं सम्हरि तुम जाओ। साधु गुरू में प्रेम लगाओ॥

दोहा—तजहु जगत् के मोह मद, जो दुख दान हमेश।
गहहु भक्ति सत्संग शुचि, काटहु कर्म कलेश ॥ १ ॥
तम धन तिय सुख साज जो, सबहीं दुख को रूप।
नाहक भूला रे पथिक! जगत् भोग दुख कूप ॥ २ ॥

पद

यह काया दुर्गुण का घर है, इसमें सब दुर्गुण छिपे हुए।
हैं समय समय पर दुख देते, जिसमें आसक्ती किये हुए ॥
भय रूप जगत् है भोग रोग, जिसमें तुम सुख दृष्टी देखो।
वास्तव में पूरण दुख से हैं, जो कुछ नजरों से तुम पेखो ॥
है मिलन बिछोहा असमञ्जस, कोई है मित्र तो अरि कोई।
कोई जो स्तुति करता है, तो करता है निन्दा कोई ॥
जो आज खुशी का दिन झलका, तो कल्ह चिन्ता की ढेरी है।
दुख है तो सुख कछु आयेगा, सुख है तो दुख की बेरी है ॥
जो लड़का हुआ आज पैदा, तो बजी बधाई जोरों से।
कल्ह ही लड़का का अन्त हुआ, तो दुःख मचा अति शोरों से ॥

दोहा—जिस पदार्थ के मिलन में, मानेगा सुख जीव।
तेहि वियोग में अवश हो, होगा दुःख अतीव ॥ १ ॥
जग में सुख कछु है नहीं, जो है सो दुःख रूप।
बार बार सुख खोज में, जाय परत दुख कूप ॥ २ ॥
जाहि मिलन में सुख लखत, सोई दुख का घेर।
मिलन बिछोहा त्याग दे, परे न दुख में फेर ॥ ३ ॥
मिलने में नहीं सुख लखे, तो बिछोह दुख नहिं।
यहि ते दोनों से पृथक, निज स्वरूप के माहिं ॥ ४ ॥
देह विभव सुख सम्पतो, वो कुटुम्ब घर वार।
इन में मोह न कीजिए, नहिं तो दुःख अपार ॥ ५ ॥
क्योंकि क्षण क्षण ये सभी, देखत बदलत जात।
मेला हाट वो पंथ वत्, कोई न देइहैं साथ ॥ ६ ॥

पद

संसार में रहना नहीं, संसार ही दुख मूल है।
जो कुल कुटुम्बी मान हितकर, निश्य तामैं फूल है ॥टेक॥
प्रियकर विषय भोगादि नारी, सुत मिलै तो हर्ष हो।
पर ताहि के नित रक्षिबे में, कठिन अरु प्रतिकूल है ॥ १ ॥
जिस पुत्र में जिस नारि में, जिस कुल कुटुम परिवार में।
जो मानता है सुक्ख प्राणी, सोई भव मग शूल है ॥ २ ॥
सब देखते ही देखते, क्षण मात्र में नश जायँगे।
जिस जिस की सेखी में पड़ा, तू निश्य पद को भूल है ॥ ३ ॥
हे भाई! तेरे कोइ नही, संसार के परिवार सब।
नित ही रुलायेंगे तुझे, जो मानता अनुकूल है ॥ ४ ॥
सब दुक्ख मूलक काम है, जिससे सकल हो आपदा।
इसका हृदय त्याग हो, तो शमन हो सब हूल है ॥ ५ ॥
यदि त्याग कर जग वासना, सद्‌बोधमें सन्तुष्ट हो।
तो हस्तगत हो शांतपद, अब से न भव में झूल है ॥ ६ ॥

इतनी शिक्षा सुनि जब पावा। बातुल सिंह को पलटि स्वभावा ॥
शान गुमान बिसरि सब गयऊ। सत् परमारथ पथ को लयऊ ॥
प्रारबिधहुँ को पल्टेउ भोगा। रोग निवृत्ति भयो निःशोगा ॥
खोजत सच्चे सन्त विरागी। पाय गयो सद्‌गुरु बड़भागी ॥

दो०—सद्‌गुरु से सद्‌बोध लहि, पायो अति विश्राम।
नमन करत गुरु वन्दना, जय पारख सुख धाम ॥ १ ॥

शब्द—विनय

तुम बिन नाथ सह्यों दुख भारी ॥ टेक॥
करि करि यत्न अनेकन जगमें, चौखानिन मजधारी।
भूलि भूलि निजरूप निरन्त, करत क्रिया भूलहिं की सारी ॥ १ ॥
जँह जँह गयों लह्यों कहि आपन, सुत वित बन्धू नारी।
सोसब बाँधि विषय भवमाहीं, अंतचले सबछोड़ि के यारी ॥ २ ॥

अब ह्वै अन्ध सारिस इत उत में, भटकत बना अनारी।
करि २ सुरा पान दिग भ्रम वत्, चलत मार्ग उल्टहिं निशिचारी ॥ ३ ॥
सो परखाय छोड़ाय भरम सब, दै निज ज्ञान तमारी।
लै निज शरण हरण करि भव रुज, कै निर्बन्ध भरम दुख हारी ॥ ४ ॥

सो प्रत्यक्ष प्रमाण है, वेद शास्त्र सब ग्रन्थ।
जो जस किये सो जगत में, कहैं संत सब पन्थ ॥७८

टीका :— सत[1], रज, तम गुणों से युक्त समस्त सकामी जीव जन्मादि दुःखों के भागी हैं। जो जैसा सत, रज, तम कृत कर्म किये हैं वे जन्म धारण कर-करके वैसा सुख-दुःख भोगे हैं, इसे वेद-शास्त्रादि समस्त सद्ग्रन्थ तथा सभी सम्प्रदायों के संतजन कहते हैं ॥ ७८ ॥

ताते पक्षहि त्याग कर, गहो शरण गुरु ज्ञान।
बिन वैराग्य न सुख कहीं, परखो संत सुजान ॥७९

टीका :— अतएव समस्त पक्षपात को त्याग कर सद्गुरु की शरण में स्वरूपज्ञान प्राप्त करो। ऐ विवेकी सन्तो ! परीक्षा करो ! बिना अखण्ड वैराग्य के कहीं सुख नहीं है ॥ ७९ ॥

सजग रहै वैराग्य में, सब उपाधि को छोड़ि।
निज स्थिति में लगन करि, सकल कामना तोड़ि ॥८०

१—संत शिरोमणि श्री कबीर साहिब बीजक में कहते हैं—हिंडोला—"भरम हिंडोला झूले सब जग आय ॥ पाप-पुण्य के खम्भा दोऊ मेरु माया माहि। लोभ भँवरा विषय मरुवा काम कीला ठानि ॥ शुभ-अशुभ बनाये डाँड़ी गहे दोनों पानि। कर्म पटरिया बैठि के को को न झूले आनि ॥ झूलत गण गंधर्व मुनिवर झूलत सुरपति इन्द झूलत नारद शारदा झूलत व्यास फणिन्द्र ॥ झूलत विरंचि महेश शुक मुनि झूलत सूरज चन्द्र। आप निर्गुण सगुण होय झूलिया गोविन्द ॥ छौ चार चौदह सात इकइस तीनों लोक बनाय। खानि बानि खोजि देखहु स्थिर कोइ न रहाय ॥ धरती अकाश दोउ झूलहीं झूलहि पौना नीर। देह धरे हरि झूलहीं ठाढ़े देखे हंस कबीर ॥"

टीका :— इसलिये सकाम कर्म-ममता, ईर्ष्या, अभिमान, राग-द्वेष, मान-बड़ाई, बहु सम्बन्ध, सबको चेताने की वासना; अर्थात् मान-भोग की कामना रूपी सर्व दुर्गुणों का त्याग करके सदैव वैराग्यवृत्ति ही में सावधान रहे और सर्व इच्छा तंतुओं को तोड़कर अपनी स्वरूपस्थिति में ही प्रेम करे क्योंकि यह वैराग्य-स्थिति दशा ही सार है, इसी के परिणाम में निर्भय विदेह स्थिति की प्राप्ति होती है, अन्यथा संसार की कोई भी क्षणभंगुर वस्तु अंत में सहायक नहीं होती, न दुःख से ही छुड़ा सके ॥ ८० ॥

व्याख्या :— यदि सही-सही जरा-व्याधि से रहित होकर नित्य शान्ति एवं स्थिति चाहते हो तो जगत् से उल्टी क्रिया करो। जगत् के प्राणी देह में आसक्त हो रहे हैं, तुम उससे उपराम रहो, स्वरूप में प्रेम करो। जगत् मान-बड़ाई-बड़प्पन चाहता है, तुम उसे काल रूप समझो। जगत इन्द्रिय-स्वाद चाहता है, तुम उसे विषवत् समझो। जगत सबको अपने वश करके सब पर शासन चाहता है, तुम किसी को वश करना न चाहो और किसी प्राणी से आवश्यकता न रखो। जगत् दूसरे की ईर्ष्या-निन्दा कुटिलता करता है तुम यह न करके सबमें क्षमा, समता, हितैषिता-दृष्टि रखो। जगत सबसे बड़ा बनना चाहता है, तुम सबसे दीन बनो। जगत् संसार के भोगों को सुखमय देखता है, तुम उसे भयंकर समझो। जगत संसार के सम्पूर्ण मान-सुखों की इच्छा करता है, तुम कुछ भी इच्छा न करो। बस निर्मानता पूर्वक सदैव स्थिति-साधन-रत रहो, संसार, शरीर का अध्यास निकाल कर फेंक दो; तभी अविचल मुक्ति पद मिलेगा; तभी उस स्थान पर पहुँच सकोगे जहाँ कोई शंका, प्रश्न, चेष्टा एवं आवश्यकता शेष न रहेगी। दुःख से अत्यन्त रहित सर्वथा-सर्वदा तुमही तुम विराजोगे।

पूर्ण तृप्त जिव आप है, जाने बिन सो बन्ध।
बन्ध नशै गुरु ज्ञान से, होय अटल निर्बन्ध ॥८१

टीका :— जगत्-चिंतन तथा सम्बन्ध से सर्वदा और सर्वथा भिन्न अखण्ड, निष्क्रिय, पूर्णसंतुष्ट रूप यह चैतन्य जीव है, अनादि जड़ सम्बन्ध

से भूल वश ऐसा अपने आप को न जानने से ही यह जीव जगत्-भोगों में बन्धमान हो रहा है। किन्तु इस मनुष्य शरीर में सद्गुरु द्वारा अपने स्वरूप के पूर्ण ज्ञान को जब यह जीव प्राप्त हो जायगा तब उस ज्ञान से अध्यास-वासना रूपी सम्पूर्ण बन्धन नाश हो जायँगे और यह जीव अविचल मुक्ति अवस्था को प्राप्त हो जायगा ॥ ८१ ॥

मुक्त रूप गुरुदेव हैं, मुक्तिहिं सब व्यवहार।
मुक्ति हेतु सब जनन को, करते सदा पुकार ॥८२

टीका :—वैराग्यतत्पर सद्गुरुदेव संसार-शरीर के अध्यास-वासनाओं से सर्वथा छूटकर मुक्त, स्वरूप में स्थित हैं, और उनके सारे व्यवहार-धंधाएँ अपने और पराये के मुक्तिअर्थ ही हैं। वे जीवों के कल्याणार्थ पुकार-पुकार कर सर्वदा सत्योपदेश करते रहते हैं ॥ ८२ ॥

शिक्षा—वैराग्यवान् संत सांसारिक भोग-इच्छाओं से सर्वथा रहित होते हैं वे जो कुछ व्यवहार इच्छा, क्रिया, करते भी हैं वह मात्र प्रारब्ध भोग और जीवों के कल्याणार्थ ही। उनके प्रारब्ध भोग और ऊपरी व्यवहार देख कर अपने मन में भ्रम नहीं लाना चाहिये।

वैराग्य-प्रिय सन्त

दृष्टांत—नगर से कुछ दूरी पर एक जंगल था वहाँ एक महात्मा झोपड़ी में वास करते थे। महात्मा वैराग्यशील, शान्त, और स्थितिवान् थे। वहाँ का राजा एक दिन टहलते-टहलते मित्र साथियों के सहित वहाँ जा पहुँचा। महात्मा पूर्व (गृहस्थी में) के राजा के परिचित थे। राजा को आते देख महात्मा पाँव पसार कर एक पेड़ के आधार लेट गये। राजा बोला—आप पाँव पसारना कब से सीखे ? महात्मा बोले—जब से मैंने हाथ पसारना छोड़ दिया। महात्मा की रहस्यपूर्ण गम्भीर वाणी सुनकर राजा विनम्र हो गया और विनय पूर्वक महात्मा से कहने लगा—हे स्वामिन् ! कुछ सेवा के लिये, आज्ञा दीजिये, करने को तत्पर हूँ। महात्मा बोले—मक्खियाँ बहुत भिनक रहीं हैं, कोई ऐसी

युक्ति लगा दो कि ये कभी न आवें। राजा--इसमें तो हमारा कोई वश नहीं। महात्मा बोले—जब ऐसी तुच्छ बात तुम्हारे वश में नहीं, तब तू और क्या कर सकता है ? राजा बोला--सरकार ! आप कुछ माँगिये मैं अवश्य दूँगा। महात्मा बोले—अच्छा ! तुझे देना है तो ऐसी जवानी दो कि कभी बुढ़ापा न आवे। ऐसा जीवन दो कि जिसमें आधि व्याधि, उपाधि एवं आदि-अन्त न हो। ऐसा भोग पदार्थ दो जो कभी क्षीण व चंचल न हो। राजा—सरकार ! ये पदार्थ तो मेरे पास नहीं हैं। महात्मा—तो मुझे जरा-मृत्यु से मुक्त होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिये।

राजा उस दिन महात्मा को नमस्कार कर घर चला गया, किन्तु एक दिन पुनः जाकर बहुत आग्रह विनय कर अपनी फुलवारी की कोठी (मकान) में महात्मा को लाकर टिका दिया। अच्छे-अच्छे पलङ्ग, मसहरी, गद्दे, तकिये, कुर्सी, मेज आदि लगवा दिये। एक दिन महात्मा और राजा दोनों एक-एक सिंहासन पर बैठे थे। राजा ने महात्मा से पूछा—अब तो आप और हम एक समान हुए न ? महात्मा चुप रह गये। पुनः एक दिन महात्मा और राजा अपनी-अपनी गद्दी पर बैठे थे। राजा बोला--अब तो हमारे और आप में कोई अन्तर न रहा। महात्मा शीघ्र गद्दी से उतर कर और उनके सर्व वस्तुओं को वहीं त्याग कर राजा से कहने लगे—हमारे आप में अवश्य कोई अन्तर नहीं रहा, अच्छा ! चलिये हम और आप इन सबों को त्याग कर सत्संग में भजन करने के लिये चले चलें। इतना सुनकर राजा सकपका गया। महात्मा—अब सकपकाते क्यों हो ? हमारे आप में तो कोई अन्तर है नहीं, फिर हमारे समान तुम भी सबको त्याग सकते हो, चलो ! अब चलें सत्संग-भजन करने। राजा—सरकार ! हमारा राज्य कौन देखेगा ? रानी और कुटुम्बी रो-रो कर मर जायेंगे। महात्मा—फिर समान होने का तो अहंकार भर लिये हो न ? राजा—महात्मन् ! ये सब भोग-पदार्थों की आसक्ति आप को क्यों नहीं हुई ? महात्मा--

मैं आप के भोगों को विषवत् और गद्दी, तकिये को तुच्छ समझता था। ऐसा कहते-कहते बहुत रोकने पर भी महात्मा न रुके और स्व-च्छन्द विचरण करने चले गये।

शिक्षा—वैराग्यवान् के ऊपरी व्यवहार तथा प्रारब्ध भोगों को भोगते देखकर अपने मन में भ्रम नहीं लाना चाहिये। श्रद्धा-भक्ति पूर्वक बहुत काल उनकी संगत करके उनके आन्तरिक अनुभव का रस प्राप्त करना चाहिये।

माया-निवारक पद

जो दृश्य सामने दीख रहे, सब क्षण भंगी अरु चंचल हैं।
तब क्यों कर राग किया जावे, जब भोग विषय नहिं अविचल हैं॥
जिस ज्वानी में तुम भूल रहे, जिस रूप में तुम मतवाले हो।
धन पुत्र नारि सुख ठाट बाट में, गर्क हुए सुधि टाले हो॥
तेरी सेखी दिखते दिखते, सब नश जायेगी पल भर में।
जब पड़ जाओगे परवश हो, उस कालबली के करतल में॥
जो नारी सुत मद फूल रहे, अरु कहता है घर दार मेरा।
हाथी घोड़े जोड़े सैनिक, अरु अतुल विभव जर तार मेरा॥
मेरे कहने पर सब चलते, सब मेरे ही अनुगामी हैं।
मैं विश्व विदित अखिलेश्वर हूँ, हम ही तो जग में नामी हैं॥
जो निज से पृथक दृश्य तम है, उसको जो अपना मान रहे।
वे निज स्वरूप को तज करके, चंचल सुख को सुख जान रहे॥
जो हाड़ मांस मल मूत्रों की, मज्जों की भरी पिटारी है।
साक्षात् नरक रौ-रौ तन है, जिसको माने सुखकारी है॥

दो०—ज्वर जूड़ी पित बात कफ, पेट दर्द अरु शूल।
कुष्ट दद्रु खुजली बधिर, यह शरीर दुख मूल॥

जिस तन को तुम अपना कहते, अरु चलता है अकड़े अकड़े।
यह जरा काल के आते ही, झड़ जायेंगे सारे नखड़े॥
निज देख छातियों का उभार, अरु गोल कपोल में मुग्ध हुआ।
तेरी इन्द्रिय ही अग्नि हुई, उसमें पड़कर तू दग्ध हुआ॥

इस काम विषय में लग करके, मानव तन वृथा गवाँया है।
सुख भोग के झाड़े में पड़ कर, निशिवासर रगड़े खाया है॥
अबलानन देख देख करके, क्यों मान रहे अपनी बाजी।
ये दुःख निसेनी भामा हित, करता है विविध जालसाजी॥
जिस हित तू निशिदिन दौड़ रहा, कतहूँ नहिं स्थिति पाता है।
बोझा सिर तोड़ उठाता है, परपंच विषय में राता है॥
वह चौरासी का दाता है, जिसमें पड़कर तुम अटक रहे।
हे जीव! चेत करले अबहीं, क्यों कर कंटक में भटक रहे॥
जिस तन को पाकर के बुध जन, अपनाते हैं गुरु की भक्ती।
क्रमशः क्रमशः आगे बढ़ कर, अंतिम में पाते हैं मुक्ती॥
तिस अमूल्य नरतन को पाकर, हे भाई! विष को गपक रहे।
इन्द्रिय की भोगासक्ती में, तुम पंच विषय हित लपक रहे॥
जग से उलटा कर इन्द्री को, संतों की सेवा में लाओ।
सद्ग्रन्थों का अवलोकन कर, सत्संगत में नित नित जाओ॥
तन मन धन से गुरु सेवी हो, गुरु आज्ञा को पालन करना।
जो कुछ भी गुरु की आज्ञा हो, सुख पूर्वक निज सिर पे धरना॥
गुरु मनसा के अनुसार चले, निज मन को शीघ्र मिटा डाले।
उस मलिनपना को धो डाले, जो अंतस हों काले-काले॥

दोहा—"ते दिन गये अकारथे, संगत भयो न संत।
ज्ञान बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भटकंत॥
कहा भरोसा देह का विनशि जाय छिन माहिं।
श्वास श्वास में भजन करु, और यतन कछु नाहिं॥"

शब्द—चेतावनी

क्षणिक तन क्षण ही में जाई नशाय॥ टेक॥

तजि सद्पंथ जगत् में लागे, मोर-मोर गोहराय।
तन धन तिय परिवार परोसी, सब यह हीं छुटि जाय॥ १॥

आवे काल धरे जब श्वासा, कोई न करे सहाय।
बरबस पकरि गर्भ लै जावे, कोमल तन कोह्लिलाय॥ २॥

चार जने मिलि खाट उठावें, लै मरघट को जायँ।
गाड़ि जारि सब धूरि मिलावें, जो तन प्रिय अधिकाय ॥ ३ ॥

यह संसार सत्य करि मान्यो, निपट स्वप्न जो आय।
देखत काल कलेवा प्राणी, तबहुँ न सोच समाय ॥ ४ ॥

आज काल मत टारो बन्दे, लो परलोक बनाय।
नहिं अभिलाष अंत पछितइहो, काल धरे जब आय ॥ ५ ॥

सुख इच्छा भव सिन्धु है, नाद बिन्द विस्तार।
विषय मोह की धार में, बहा जात संसार ॥ ८३

टीका :— मनःकल्पित विषय सुख की इच्छा ही संसार सागर है; इसी से बन्धनदायी नाद-वाणी जाल और बिन्द-खानी जाल का फैलाव होता है। किन्तु इस विषयासक्ति की धारा-प्रवाह में अविवेक-वश विश्व के सारे प्राणी बहे जाते हैं ॥ ८३ ॥

जस निश्चय सुख जगत में, तस जो निज की ओर।
बन्धन छूटत देर नहिं, मिटै कलपना दौर ॥ ८४

टीका :— जिस प्रकार सांसारिक विषयों—शब्द स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध में सुख निश्चय है, उस प्रकार निर्वासनिक स्वरूप-स्थिति में सुख निश्चय हो जाय, तो जीव को बन्धनों से छूटने में विलम्ब न लगे और मनःकल्पित घुड़दौड़ मिट जाय ॥ ८४ ॥

व्याख्या :— इच्छा-रहित होने का सुख व शान्ति जिनके हृदय में प्रवेश हो जाती है वे आठों पहर इच्छा-रहित होने की साधना में ही तत्पर रहते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण इच्छा से रहित होना ही निर्वासना है और निर्वासना ही मोक्ष है। अतः जगत्-इच्छा-रहित होओ।

ताते प्रथमहि बोध को, करो हृदय में पुष्ट।
जानि अकामहि आप को, रहै सदा सन्तुष्ट ॥ ८५

टीका :— इसलिये पहले अपने हृदय में स्वरूपबोध को दृढ़ निश्चय

करो। पश्चात् अपने चैतन्य स्वरूप को सर्व इच्छा-विहीन जानकर सर्वदा भोग चेष्टा-रहित, तृप्त रहो ॥ ८५ ॥

प्रश्न—स्वरूप बोध को हृदय में पुष्ट करना क्या है ? उत्तर—परिवर्तनशील, स्वप्नवत् शरीर तथा दृश्य पाँचों विषय संसार से मैं अत्यन्त भिन्न, अखण्ड अविनाशी, शान्तस्वरूप, निर्द्वन्द्व, पूर्णकाम हूँ। जब मैं शरीर नहीं हूँ, तब इन्द्रिय-भोग, मान, कीर्ति की क्या आवश्यकता ? मल-पिण्ड रूप शरीर के नाश होने में चिन्ता क्या ? रहने में प्रसन्नता क्या ? अपने से पृथक् वस्तु के हानि-लाभ से क्या प्रयोजन ? मैं सर्व प्रयोजन-रहित स्वयं अमृत धाम हूँ, इत्यादि, बारम्बार निरन्तर विवेक करते रहना ही स्वरूप बोध को हृदय में पुष्ट करना है।

और किसी से चाह नहिं, प्राप्त करन कोइ वस्तु।
चेतन अपने आप है, स्वय वस्तुतः अस्तु ॥८६

टीका:— स्वरूपबोध और स्थिति साधना के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राणी से किञ्चिन्मात्र भी कोई मायिक वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा मुमुक्षु को नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यह अपने आप चैतन्य स्वरूप ही स्वतः अखण्ड पदार्थ और पूर्णकाम है ॥ ८६ ॥

प्रश्न —क्या वैराग्यवान् सचमुच संसार की इच्छा नहीं रखते ? उत्तर—'सचमुच न और क्या नकल मात्र !' अधूरे वैराग्य में तो नहीं कहा जाता, किन्तु जिन्हें पूर्ण विवेक-वैराग्य की धारणा है, उन्हें संसार के विलासमय पदार्थ देख कर स्वाभाविक घृणा और उपरामता होती है। क्योंकि वे संसार के सर्व पदार्थों को भलीभाँति परिवर्तनशील, छूटने वाले, बंधनदायी, मायामय जानते हैं। जैसे स्वप्न से जागृत होने पर स्वप्न के पदार्थों को मिथ्या समझ कर उनकी इच्छा नहीं रहती, ठीक इसी प्रकार अज्ञान-मोह से जाग कर बोध-वैराग्य में सावधान पुरुष को संसार स्वप्न के मायिक वस्तुओं की लेश मात्र भी इच्छा नहीं रहती।

प्रश्न— शरीर निर्वाहिक अन्न, जल, वस्त्र, औषधि आदि तथा पारमार्थिक साधनों की तो उन्हें भी इच्छा रहती है ?

उत्तर— वह इच्छा मनःकल्पित सुख के लिये नहीं है, केवल उदासीनता पूर्वक शरीर निर्वाह लेकर अपने पराये हितार्थ कल्याण के लिये ही है।

प्रश्न— जब मुक्तिप्राप्ति के साधन करते हैं तब शरीर निर्वाह लेने (खाने-पीने) की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— क्यों ? पशु के समान भोगी जीवन बिताने के लिये, दूसरे को लूट-लूट कर अपना घर भरने के लिये तो खाया-पीया जाय और मोक्षसाधन करने के लिये न खाया-पीया जाय ! क्या यह बात कोई विचारवान् उचित मानेंगे ? वास्तव में मोक्ष साधकों (संत सज्जन और भक्त) का खाना-पीना ही सार है और भोगी मनुष्य का तो खाना-पीना क्या है घूर पाटना है, पशु के समान केवल वोद्र-पूर्ति के लिये है।

गहि वैराग्यहिं राग तजि, जगत भोग सुख तुच्छ।
काक विष्ट वत् जानि के, तजि दीजै सब पच्छ ॥८७

टीका— अखण्ड वैराग्य धारण करो और सम्पूर्ण मोह-ममताओं को तज दो, क्योंकि संसार के पाँचों विषय के भोगसुख अत्यन्त तुच्छ, त्यागने-योग्य एवं घृणित हैं। अतएव सांसारिक भोगों को कागड़ा के अपवित्र मल के समान जान कर सब प्रकार से आसक्ति त्याग करो ॥ ८७ ॥

शिक्षा— जब आप के लिये राज्य गद्दी है, तब दास क्यों बने ? जब आप के लिये अमृत है, तब विष क्यों खायँ ? जब आप के लिये अक्षय सुख है, तब क्षणिक मान-भोगों में क्यों भूलें ?

मैं अविनाशी सत्य हूँ, अविचल नित्य अनूप।
गुरू बोध अस धारि के, तजि प्रपंच भ्रम कूप ॥८८

टीका— मैं अविनाशी हूँ, सत्य हूँ, निष्क्रिय हूँ, भूत-भविष्य-वर्तमान त्रयकाल बाध-रहित नित्य हूँ और सब से विलक्षण, अनुपम हूँ। इस प्रकार

सद्‌गुरु का स्वरूप बोध अपने हृदय में अविचल रूप से धारण करके ममता-मोह और विपरीत बुद्धि-उत्पादक अज्ञान का सर्वथा त्याग कर दो ॥ ८८ ॥

सब उपाधि मानब तजै, हर्ष शोक नहि ताहिं।
स्थित सदा स्वरूप में आवागमन नशाहिं ॥८९

टीका:— न यह मेरी देह है और न मैं देह हूँ, जब मैं देह नहीं तब देह सम्बंधी नाम, रूप, गुण, स्वभाव, अवस्था, पद, श्रेणी, अधिकार, स्तुति, निन्दा, कुटुम्ब, समाज आदि मायिक वस्तुयें मेरी कैसे हो सकतीं हैं ? मैं निःसंग, शुद्ध, चैतन्यमात्र हूँ ! इसप्रकार सर्व बन्धन रूप मानन्दियों (अहंता-ममताओं का पूर्ण त्याग करे, सर्व मानन्दियों के छूट जाने से उन पुरुष को इस संसार के प्रति किञ्चित् भी हर्ष-शोक नहीं रह जाता। उनकी सर्वदा के लिये स्वरूप में ही स्थिति हो जाती है, उनके जन्मना-मरना रूपी द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं ॥ ८९ ॥

सह पुरुषार्थ रहस्य अस, धारण करै जो कोय।
मिलै परम पद ताहि को, संशय सबहीं खोय ॥९०

टीका :— इस वैराग्य-प्रसंग में वर्णित सद्‌गुण-सदाचरणों को जो धारण करेगा, उसके सभी सन्देह समाप्त हो जायँगे और उसे कल्याण की प्राप्ति हो जायगी ॥ ९० ॥

वर्तें सहित निराश, सोई रहस्य प्रारब्ध तक।
मुक्त विदेह निवास, भूत भविष्य की आश तजि ॥९१

टीका :— उपर्युक्त सद्‌गुण-सदाचरणों को जीवन पर्यन्त निरन्त उपयोग में लावे; और भूत-भविष्य की आशा छोड़ कर वर्तमान में प्रारब्ध-भोगों को नैराश्यतापूर्वक व्यतीत करे, तो यह जीव निश्चय ही परमपद रूप मोक्ष को प्राप्त हो जाय ॥ ९१ ॥

भयो जीव को काज, फली भूत वैराग्य तेहि।
जन्म मरण दुख साज, शमन सभी षटराग जग ॥९२

टीका :—दु:खसाज रूप जन्म-मरण तथा सांसारिक प्रपंच के नाश हो जाने पर वैराग्य सफल हो गया और जीव का कल्याण हो गया। ९२॥

व्याख्या :-- बारम्बार दुःख पूर्ण शरीर का सम्बन्ध कराने वाली जो जगत्-वासना है; निर्दयता पूर्वक उसका शीघ्र अभाव करके परम पद का भागी बनना चाहिये। जो संसार-शरीर आज-कल में अभाव होकर सदा के लिये सुषुप्ति वत् होने वाला है, उस प्रतीत मात्र स्वप्न सांसारिक भोगों की क्या आशा ? कौन सी इच्छा-आस्था-प्रेम ? तथा कौन-सा मान-अभिमान ? अतएव दुःखपूर्ण निष्प्रयोजन संसार की वासना शीघ्र मिटा कर मोक्ष लो।

प्रसंग—९—विजाति लक्ष बन्धन तथा गुरुज्ञान से शमन।

साखी

लक्ष जहाँ जहँ जीव का, फँसे उसी में जान।
बिन विवेक टूटै नहीं, पक्ष विजाती मान ॥९३

टीका :—जिन-जिन मायिक पदार्थों में मनुष्य की आसक्ति लगी है उसी में उसे बँधा हुआ जानना चाहिये; और बिना वैराग्य पूर्वक स्वरूप-विवेक के उन मायिक पदार्थों की आसक्ति तथा मानन्दी रूपी बन्धन टूटता नहीं ॥ ९३ ॥

सबै स्वजाती जीव हैं, देह भिन्न सब काहिं।
देह बन्ध नाशै जभी, मोक्ष रूप कहि ताहिं ॥९४

टीका :— संसार के सम्पूर्ण जीवन स्वजाति, अपने समान हैं, इस परिवर्तनशील शरीर से सभी जीवों का स्वरूप पृथक है। शरीर के बीज रूप अध्यास-आसक्ति-बन्धन जब पूर्णतया नाश हो जाते हैं, तब उस जीव को मुक्त स्वरूप कहा जाता है ॥ ९४ ॥

व्याख्या :—जिस जन्म में मृत्यु है, जिस हँसने में रोवाई है, जिस सुख में दुःख है, जिस हर्ष में शोक है, जिस फूल में शूल है,

जिस संयोग में वियोग है, जिस भोग में आवागमन रूपी महान रोग है, जिस छिन्नभिन्न जड़सृष्टि में जीव को कहीं शान्ति नहीं, ऐसे सांसारिक पदार्थों तथा क्षणिक, दुःखपूर्ण शरीर की आसक्ति त्याग कर, हे जीव ! अपने अमर, अभय स्वरूप में शान्त हो।

बोध भाव जब तक नहीं, अन्तःकरण न शुद्धि।
गुरु कृपा बिन ना मिलै, मानुष की जो बुद्धि ॥९५

टीका :— जब तक स्वरूपज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, राग-द्वेष कामना-आसक्ति का त्याग करके अपने हृदय को पवित्र नहीं किया जाता तथा सद्गुरु की पूर्णकृपादृष्टि नहीं होती, तब तक मनुष्य की बुद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ ९५ ॥

प्रश्न—मनुष्य की बुद्धि क्या है ?

उत्तर :—काम, मद, मोह, विषयासक्ति, दुर्व्यसन अर्थात् मनः-कल्पित सर्व भोगों का त्याग करके शुद्ध आचार-विचार पूर्वक सत्संग और दया, शील, विवेकादि सद्गुण तथा स्वरूपनिष्ठा में जीवनपर्यन्त अनुरक्त रहे; यही मनुष्य की बुद्धि है।

बुद्धि बिना पशुवत् भया, यद्यपि नर तन पाय।
जिव अज्ञान अनादि का, ज्ञान बिना कस जाय ॥९६

टीका :— यद्यपि दो हाथ-पैर तथा आँख-कान आदि मानव के आकार-प्रकार युक्त इस मनुष्य शरीर की प्राप्ति तो अवश्य हो गयी है, तथापि उपर्युक्त मनुष्य की बुद्धि बिना यह आकार मात्र का मनुष्य बिना सींग-पूँछ के पशु हो रहा है। अपने स्वरूप की भूल सदा-सर्वदा की है, फिर स्वरूपज्ञान बिना वह शीघ्र कैसे जायगी ? जब मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है तब मानव-बुद्धि कहाँ से प्राप्त हो ?

ज्ञान हेतु गुरु संत हैं, संत हेतु सद्धर्म।
धर्म बिना गुरु ना मिलैं, कोटिन कीजै कर्म ॥९७

टीका :— ज्ञान दाता सद्गुरु सन्त हैं और सद्गुरु-संतों के मिलने में हेतु रूप सद्धर्म है। धर्म-द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना सद्गुरु नहीं मिलते चाहे कोई करोड़ों उद्योग करे ॥ ६७ ॥

व्याख्या :— जब तक धर्म-द्वारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं कर लिया जाता, तब तक गुरु-सन्तों के साथ रहने पर भी जानो वे नहीं मिले हैं। अतएव धर्माङ्गों को धारण करके अन्तःकरण शुद्ध करो।

आगे एक दृष्टांत देकर यह बात समझायी जाती है कि मायावी वस्तुओं की प्राप्ति से हृदय में न तो शान्ति आती है और न तो मनुष्यता ही आती है, शान्ति और मनुष्यता की प्राप्ति होती है, सच्चे सद्गुरु से स्वरूपज्ञान प्राप्त करने में सत्संग-भक्ति, धर्म-परमार्थ कमाने में लोक-परलोक के सुधार तथा मोक्ष प्राप्त करने में।

दृष्टांत ----एक ग्राम में एक बलदेव दास नामक भक्त रहते थे। वे थोड़े ही में अपना शरीर-निर्वाह लेते हुए शील, संतोष, ब्रह्मचर्यादि सद्गुणों को धारण कर निष्प्रपंच सरल जीवन बिता रहे थे। न वे किसी से प्रेम करते थे न ईर्ष्या, उनका परम ध्येय यही था कि—

दोहा—"अति कोमल अरु विमल रुचि, मानस में मल नाहिं।
तुलसी रत मन होइ रहे, अपने साहिब माहिं ॥वै० सं०॥

एक दिन भक्त जी अपने खेत में बैठे मन-ही-मन भजन कर रहे थे। इतने में ग्राम के ठाकुर बाबू बृजसेन सिंह आ गये जो कि अंग्रेजी आदि कई विद्या पढ़कर कोई सरकारी पद में प्रतिष्ठित थे। ठाकुर जी बोले—भक्त जी! क्या चुप-चाप बैठे हो? अब की सरपंच या प्रधान की सीट पर खड़े होओ, मैं आप को वोट दिलाऊँगा, और अपना विवाह तो आप अवश्य कर लीजिये क्योंकि 'बिन घरनी घर भूत क डेरा'। भक्त जी—न-न भैया! यह क्या कहने लगे अरे! सरपंची और परधानी में पैरा-धान हो जाना पड़ेगा और विवाह तो सब दुःखों का घर है। हमें चुपचाप अपनी कुटिया में भजन करने दो और कुछ नहीं चाहिये।

ठाकुर--भला ! तुम भी क्या समझोगे कि मैं भी मनुष्य-शरीर पाया था ? भक्त जी--क्या भैया ! मनुष्यता यही पंच, परधानी या पंच विषय-भोग एवं विद्या, वोहदा ही में है ? सांसारिक भोगों में पड़ कर इच्छा ज्वाला बढ़ेगी कि घटेगी ? अरे ! पंच सरपंच हो जाने पर डिप्टी, कलेक्टर व कलेक्टर होने पर मिनिष्टर, फिर भी राष्ट्रपति होने का मन कहेगा। गुरु-गुरु कहो ! इतने ही में कहाँ संतोष ? मन जो-जो चाहने लगेगा कि जो कभी होने वाला ही नहीं और किसी की कभी भोग से भी तृप्ति हुई है ? अच्छा ठाकुर जी ! आप धन, स्त्री, पुत्र, विद्या, अधिकार आदि माया-भोग से सम्पन्न हैं, अतः आप को तो पूरा संतोष हो गया होगा और आपकी इच्छा शान्त हो गयी होगी ? ठाकुर जी—अरे भक्त जी ! जिस प्रकार मुझे सुख-शान्ति है वह मैं ही जानता हूँ, आप से क्या कहूँ ? रात -दिन दौड़ते-दौड़ते दम फूलता है। बड़े-बड़े पद के लिये ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारियों की कोशिशें करता हूँ। सगे-सम्बन्धियों और मित्रों को भी प्रसन्न करने के लिये तमाम बातें बनानी पड़ती हैं। जब कार्यालय से घर आता हूँ तब स्त्री-पुत्र और पुत्र-बधुओं की एक-न-एक फरमाइशें पेश हो जाती हैं। कोई कहे में नहीं हैं। कोई उधर फूला बैठा है। चार हाथ जोड़ता हूँ तो छे हाथ टूटता है क्या करूँ, भोजन कर लेने के पश्चात् जब चारपाई पर लेटता हूँ तब भी चिन्तायें नहीं छूटतीं। चारपाई पर पड़े-पड़े ही चिंता-सागर में डुबकियाँ लगाया करता हूँ और भोग से तो मन कभी शान्त ही नहीं होता, क्योंकि तृष्णा कहाँ बुझने वाली है ? भक्त जी —फिर क्यों सांसारिक भोगों को सुख रूप कहते हो ? ठाकुर—सांसारिक भोगों में दुःख तो है, किन्तु उसी में सुख भी तो है और बिना संसार का भोग-विलास किये मनुष्य शरीर का फल ही क्या है ? भक्त जी--जिस किंचित भ्रम-सुख में अनन्त दुःख हों, कभी भी शांति न मिले, वह सुख काहे का ? और मनुष्य शरीर का फल विषय-भोग ही बतलाना यह बड़ाभारी अज्ञान है। सुन्दर जवानी, विद्या, वाणी, दिव्य शरीर, नवयुवती, पुत्र, पुत्री, बड़े-बड़े दर्जे, हुकूमत ये सब

प्राप्त हो जाना मनुष्यता नहीं है। मनुष्यता है धर्म, विचार, दया, शील, क्षमा, ब्रह्मचर्यादि सद्‌गुणों को धारण करने में। मोक्ष या परलोक बनाने के ये सब सद्‌गुण जिसके पास नहीं हैं वह पशु से भी नीच और दुखी है। क्योंकि पशु हैं वे हल में चलते या कोई भी काम करते हैं, शाम को आकर चारा खाते और आनन्दपूर्वक सो जाते हैं। उन्हें पुत्र-पुत्री का विवाह करने, कर्ज या मालगुजारी देने की चितायें नहीं रहतीं और मनुष्य तो सदा नाना चिंताओं से लदा रहता है; किन्तु हाँ! मनुष्य के पीछे जैसे नाना चितायें लगी हैं वैसे वह सर्व चिंताओं का त्यागकर धर्माचरण-सद्‌गुण पूर्वक शांति प्राप्त कर सकता है। कहा भी है—

साखी—मुक्त होउ मन बंध तजि, धरो नहीं फिर देह।
मानुष तन को लाभ यहि करिये सहित सनेह ॥ ५० ॥

नहीं तो:—

सवैया

इन्द्रिन भोग विषय सुख स्वाद, चहूँ घट खानिन में दर्शावे।
भोजन छाजन मैथुन मोह में, लीन सदा चौ खानि रहावे ॥
ताहि लो बुद्धि रहो नर की, तब नाहक मानुष नाम धरावे।
ता नर से पशु ही भल जानहु, जो परस्वारथ देह लगावे ॥ १ ॥

चौपाई

मानुष तन कर, फल नहिं भोगा। कहत संत सब पंथ सुयोगा ॥
हिंसा प्रथम त्यागि गहि दाया। शील सनेह नम्र उर छाया ॥
शील दया बिन क्रूर स्वभाऊ। जलैं जलावें निज पर काऊ ॥
तेहि के हिये शान्ति क्षण नाहीं। क्रोध विवश जहँ तहँ बिललाहीं ॥
याते त्यागहु पर संतापा। मलिन विकार हृदय कर पापा ॥
तन मन वचन अहिंसा धारे। परम धर्म सद्‌ग्रंथ पुकारे ॥
पर धन हरण सताउब काहू। त्यागहु गहहु शील समताहू ॥
मद्य मांस मैथुन पर नारी। गांजा भाँग व्यसन व्यभिचारी ॥
चोरी झूठ कुटिलता त्यागहु। सत्य वचन सद्‌गुण महँ पागहु ॥
कुकरम कुसंग त्यागि सब भाँती। सत्संगत सेइये दिन राती ॥

जेतिक माया जगत् पसारा। देह-गेह धन पुर परिवारा ॥
क्षणिक दुखद सपना सम जानो। तजि आसक्ति विरति रति मानो ॥

सोरठा—यह संसार सराय, पथिक जीव आवत चलत।
कोइ न कछू लइ जाय, नहिं लावत कछु बाँधि के ॥

अस जिय जानि हानि करु मोहा। लोभ क्षोभ त्यागहु मद कोहा ॥
मात पिता पर पिता पितामह। तजि तजि गये धरणि धन धामह ॥
नहिं छेदाम बाँध्यो कोइ गाँठी। गाड़ि जारि माटी मिलि माटी ॥
जीव को लाभ भयो चौरासी। जन्म-मरण नाना दुख फाँसी ॥

दोहा :—याते नर तन योग है, माया मद को त्याग।
भक्ति विरति सत्सङ्ग करि, मोक्ष पंथ अनुराग ॥

मानुष तन कर फल मैं गावा। सद्गुण रहनी मोक्ष बतावा ॥
मानुष बुद्धि याहि बतलावे। याहि छोड़ि पशुवत् सब भावे ॥

दोहा :—चतुराई विद्या विपुल, कौशल कला अनेक।
सकल गुणन महँ धूरि है, जो नहिं भक्ति विवेक ॥

मान भोग अरु तन की आशा। कल्पित स्वर्ग लोग सुख वासा ॥

दोहा :—सबहिं त्यागि निरचाह ह्वै, शान्ति सरस रस बोर।
बिसरि गये संसार सुख, मोर तोर नहिं भोर ॥
ग्रंथि वासना हृदय गत, पैरि पार निज देश।
जन्म मरण बन्धन विनशि, भयो शान्त अकलेश ॥
मानुष तन को फल यही, अरु कर्तव्य तुम्हार।
याहि छोड़ि नहिं और कछु, देखो हृदय विचार ॥

पद

जीवन जगाओ मोह हटाओ, बन्धन छुड़ाओ चेतन का।
और न कोई काज तिहारो, जो सोचो निज हेतन का ।।टेक॥
धन जन मिल्यो मान यश कीरति, राज रियासत सुख मन का।
का तोहि मिल्यो देखु रे मानुष, तुमहो चेतन बे-तन का ॥ १ ॥
यह संसार सराय मुसाफिर, दो दिन आये भोगन का।
आज काल में कूँच तिहारो, करो स्वरूप विवेचन का ॥ २ ॥

भरम पसारा दुनियादारी, नारि पियारी तन धन का।
क्षण में सबहीं नाश दिखावे, जैसे मोती ओसन का ॥ ३ ॥
भूल भुलैया में दिन खोयो, अब तो चेतो चेतन का।
सीटी बजी रेल अब छूटे, उठो मुसाफिर टेशन का ॥ ४ ॥
आज-काल्ह में कूँच होयगा, बासा होएगा बन का।
आश अभिलाष किया जो तूने, रह जावे तेरे मन का ॥ ५ ॥

इतनी उपदेश भरी वाणी सुनकर ठाकुर वृजसेन सिंह भक्तराज की धन्यता मनायी और वह भी नित्य का सत्संगी तथा सतोगुणी हो गया।

जगत ब्रह्म की वासना, खानि बानि का जाल।
सो सब कल्पित जीव के, मन माया भ्रम काल ॥९८

टीका :— जगत्-ब्रह्म की वासना, खानी-वाणी का जाल, मन-माया तथा भ्रम—ये सब जीव के ही कल्पित तथा उसके लिये दुःखदायी हैं ।।९८

व्याख्या :— साधारण लोग जिसको जगत् कहते हैं विद्वान लोग उसे ब्रह्म कहते हैं; अर्थात् विद्वान लोग जगत्-ब्रह्म में कुछ अन्तर नहीं मानते। अतएव जगत्-वासना कहें या ब्रह्म-वासना कहें; कल्याणार्थी को इनका त्याग करना अनिवार्य है। मोटी माया खानी जाल है और अपने चेतन स्वरूप से पृथक कर्त्ता-धर्तादि की कल्पना करना झीनी माया वाण जाल है। इनका अध्यास भी त्यागना आवश्यक है। मन की वासना ही माया है और मन में ही नाना भ्रांतियाँ खड़ी होती हैं, ये सब जीव की बनायी हैं और वही उसे त्याग कर निर्बन्ध हो सकता है।

सबकी आशा छोड़ दे, जो चाहे कल्यान।
दुख सुख फिर होवे नहीं, जीव स्वतन्त्र हि जान ॥९९

टीका:—यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो विषय से ब्रह्म तक सबकी आशा-वासना सर्वथा छोड़ दे। जीव स्वतन्त्र है, वह अपने से पृथक वस्तुओं तथा मान्यताओं की आसक्ति जब छोड़ देगा, तब वह दुःख-सुख के प्रपंचों से मुक्त हो जायगा ॥ ९९ ॥

चाह किये दुख होत है, है अचाह सुख जान।
दुख सुख रहित सो आप है, अजर अमर पहिचान ॥१००

टीका:—बाह्य पदार्थों के लिये इच्छा करने पर जीव को दुःख होता है और इच्छा-रहित होना ही सुख समझना चाहिये और अपना स्वरूप दुःख-सुख द्वन्द्वों से रहित अजर-अमर है, उसे परखो ॥ १०० ॥

व्याख्या:—पंच विषय-भोग, मान्य, पूज्यता, अधिकार, अगुवा-पन आदि मायिक वस्तुओं की इच्छा करने से ही अपने हृदय में बेचैनी, कमी, अतृप्ति, अप्राप्ति रूपी दुःख सताते हैं, और इन मायावी दृश्य पदार्थों से सर्वथा इच्छा-स्पृहा-रहित हो जाने पर निर्वासनिक शान्ति वृत्ति का अनुभव रूपी सुख मिलता है, उपर्युक्त भोग-मान इच्छा रूपी चंचलता कृत दुःख और निर्वासनिक शान्ति वृत्ति के अनुभव रूपी सुख, इन द्वन्द्वों से अपना निश्चित शुद्ध स्वरूप सर्वथा पृथक् अजर और अविनाशी है, गम्भीरता पूर्वक सत्सग और विवेक से इस रहस्य की भली-भाँति परीक्षा करो, क्योंकि यह गूढ़ विषय है।

प्रश्न—जब निर्वासनिक वृत्तिजनित स्थिर सात्विक सुख भी नाश-वान् और अपने स्वरूप से भिन्न है तब वैराग्य-बोध और साधन-द्वारा उसे प्राप्त करने से क्या लाभ ?

उत्तर—यही तो परम लाभ है, जीवन-पर्यन्त मानसिक दुःखों से छुट्टी मिली रहती है और शरीर-नाश-उपरान्त इस निर्वासनिक सुख के परिणाम में एकरस निर्द्वन्द्व विदेह मुक्ति मिल जाती है। अतएव—

पारख को सत जानि के, सब औरेब हटाय।
गुरू युक्ति से फंद तजि, निज स्वरूप ठहराय ॥१०१

टीका—सर्व परीक्षक अपने चैतन्य स्वरूप को सत्य-निश्य और सन्तुष्ट रूप जानकर मन की सब चालबाजी, बाहरी लोलुपताओं को अपने हृदय से निकाल दो। सद्गुरुदेव की (तथा सत्संग-सद्ग्रन्थ) युक्तियों (एवं स्वा-

नुभव) से मन के अनेक इच्छा रूपी बन्धनों को त्यागते हुए अपने स्वरूप में स्थित होकर निर्वासनिक सुख का अनुभव करो ॥ १०१ ॥

माया के बहु रूप हैं, लक्ष देय नहिं ताहिं।
निजहिं ठौर से काटते, शांत होय दिल माहिं ॥१०२

टीका—माया के अनेक रूप हैं, उनमें अपना लक्ष्य न दो। अपने स्थान से ही मन के सभी फंदाओं को काटते हुए अपने आप में शान्त होओ ॥१०२

व्याख्या:—माया के अनेक रूप हैं। स्त्री, पुत्र,सम्पत्ति आदि की इच्छा को सब कोई माया का रूप समझते ही हैं; किन्तु अधिकार, मान्य, पूज्यता, बड़ाई, स्वामित्व प्राप्ति की इच्छा, लेखक, कवि, अवतार, जनसमाज-द्वारा प्रतिष्ठित गुरु बनने की इच्छा, प्रसिद्ध बनने की इच्छा, सेवक-शिष्य-वृद्धि की इच्छा, आश्रम-मान में अहन्ता-आसक्ति, अपने दाम्भिक अहंकारपूर्ण रहस्यों को वैराग्य रहस्य मानना, अपने को पूर्ण मान कर विवेकियों की सम्मति से विरुद्ध मनमानी की भावना, सब का गुरु, सबका उद्धारक अपने को मानकर कल्याण से हीन होते हुए भी अपने को कल्याण स्वरूप मानना आदि, अनेक माया के रूप हैं। मुक्ति-इच्छुक को चाहिये कि इन माया के अनेक रूपों (मान,इच्छा, आसक्ति, भूल, भ्रमों) की ओर चित न देवें— उपर्युक्त बातों की किंचित भी इच्छा न करें। बल्कि अपने उदासीन, निर्द्वन्द्व, शुद्ध चैतन्य स्वरूप की स्थिति रूपी भूमिका के विचार से सब मायावी फंदाओं को काटते हुए अपने स्वरूप में ही शांत होवें।

लिखना-पढ़ना, शिक्षा दे देना और सुन लेना सरल है, किन्तु उसे धारण करना कठिन और प्रयत्न की बात है। हाँ ! जो केवल मोक्ष के ही विरही हैं, उन्हें लिखने-पढ़ने और कहने-सुनने से धारण करना ही सरल लगता है। हमें अपने शिर की अभिमान रूपी गर्मी को उतार करके और निष्कपटता पूर्वक अपने हृदय को टटोल करके अपनी परीक्षा लेनी चाहिये कि हम कितना लिखते-पढ़ते एवं कहते-सुनते हैं और

कितना धारण करते हैं ? हमारा लिखना-पढ़ना कहना-सुनना तभी सफल है जब हम उसे धारण करें। आज-कल एवं घड़ी-पल में शरीर के वियोग होते समय 'धारणा' ही हमें मृत्यु रूपी संसार-सागर से बचाकर मुक्त कर देगी, वाच्य-ज्ञान और मान्य, पूज्यता, जन-समाज नहीं। ऐसा जानकर खूब सावधान, उदासीन, स्वरूपनिष्ठ, होना चाहिये।

सवैया—

पारख रूप हमार सदा निज, भूलि के भर्म में जाय फँसे हैं।
खानि व बानि के जाल निरन्तर, एकते एकहिं आय ग्रसे हैं ॥
सो सत्संग विवेक लखे बिन, पंचम हंग भुवंग डसे हैं।
याद न आवत रूप कभी निज, राग विषय सुख आश लसे हैं ॥

टीका—हमारा स्वरूप निर्द्वन्द्व नित्य पारख रूप है; किन्तु अनादि से अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर शरीर की अहंता-ममता रूपी भ्रम में जाकर बँध गये हैं। इसी से मोटी और झीनी माया के एक-से-एक विकराल फाँस घनिष्ट रूप से आकर मुझे घेर लिये हैं। उपर्युक्त स्वस्वरूप को सत्संग-विवेक से परीक्षा किये बिना क्रोध, लोभ, मोह, भय और पाँचवाँ काम-वासना का अहंकार [1] रूपी सर्प काट कर के मुझे जड़ाध्यासी बना दिया है। अपने शुद्ध स्वरूप का कभी स्मरण नहीं आता, विषय सुख के मोह और इच्छायें इस चित्त पर चढ़ी हुई हैं ॥ १०३ ॥

प्रसंग—१०—बंधन से छूटने की युक्ति।

खेती बचै किसान की, देखि बिगुर्चा भाग।
सावज आवहिं निकट नहिं, तैसहिं युक्ति में लाग ॥ १०४ ॥

१--स्थूल देह का विश्व, सूक्ष्म देह का तैजस, कारण देह का प्राज्ञ, महा कारण देह का प्रत्यगात्मा, कैवल्य देह का निरंजन अभिमान। ये पंच मुखी अभिमान रूपी सर्प सर्व गुरु-विमुखियों को डस रहा है। इसका विवरण देखना हो तो मेरी बीजक टीका की ११८ वीं साखी की टीका देखें।

टीका—लकड़ी का मनुष्य बनाकर किसान लोग खेत में खड़ा करते हैं, उसी को बिगुर्चा (ऊढ़-धोखा) कहा जाता है। पशु उसे देख कर और सत्य मनुष्य (रखवाला) जान कर खेत के पास डर से नहीं आते और आये रहते हैं, तो भाग जाते हैं, जिससे फसल की हानि नहीं होती एवं खेती सुरक्षित रह जाती है। तैसे अपने कल्याण-साधन के उपाय में लगना चाहिये।

सिद्धांत में जीवों का कल्याण होना ही खेती है और मर्यादा बिगुर्चा है तथा हठी पक्षपाती मनुष्य सावज हैं। तात्पर्य यह कि जितने में अपने वास्तविक सिद्धांत और सद्रहस्य स्थिति में किसी प्रकार की हानि न हो उतना जग जीवों के कल्याणार्थ तथा जन-समाज में धर्म, भक्ति, पर-मार्थ-वृद्धि के लिये लौकिक मर्यादा ले लेना उचित है। यह व्यवहार देख कर चाहे हठी, पक्षपाती मनुष्य आप के सत्संग में न आवें तो भी कोई हानि नहीं, बल्कि कुसंगति से छुट्टी ही मिली रहेगी और समुचित रूप से अपना तथा जगत् का कल्याण होगा। कहा भी है—

दोहा— मर्यादा जेहि जौन विधि, बरतै तौन प्रमान।
जमा माहि कछु फेर नहिं, उज्ज्वल धर्म रु ज्ञान ॥ १०४ ॥

मारग जह पर जौन विधि, तैसहिं चलै बचाय।
अटके नहिं पुनि ताहि में, कारज अपन बनाय ॥१०५

टीका :— उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर जहाँ पर जिस प्रकार की लोक-मानन्दी हो (अपने रहस्य और सिद्धांत में हानि न होने देते हुए खण्डन-मण्डन तर्क-वितर्क से बचा कर के) उसी मार्ग से वैसे ही व्यवहार में चले, अर्थात् सर्व जीवों के कल्याणार्थ उचित मर्यादा को लेकर के चले; जिससे समाज में आलस्य, प्रमाद, अशुद्धि, राग-द्वेष तथा विद्रोह होकर धर्म की हानि न होने पावे। फिर यह भी बात है कि विशेष सिद्धांत-रहस्य के विरुद्ध मर्यादा लेकर उसमें बँध भी न जाय; खास कर सब का समता पूर्वक हितैषी होते हुए अपना कल्याण करे ॥ १०५ ॥

व्याख्या:— मनुष्य मात्र को चाहिये—दूसरे का अधिकार छीन करके, चोरी, घूसखोरी, ठगाई, बेईमानी करके न खाय; नशीली वस्तु, तथा मांसादि अशुद्ध पदार्थ न खाय; अपनी सच्ची कमाई या दूसरे-द्वारा सहर्ष अर्पित की हुई सात्विक वस्तु को ग्रहण करे; अन्न-सागादि अमनियाँ कर, जल छान कर, चौका लगा कर, वर्तन शुद्ध माज कर, स्नानादि किये हुए पवित्र शुद्धाचारी के हाथ के पकाये हुए भोजन को स्नानादि शुद्धता करके ग्रहण करे। जैसे-कैसे जिस-किसी का बनाया हुआ अशुद्धता पूर्वक बिना नहाये, बिना कपड़ा, जूतादि उतारे जहाँ कहीं बैठ कर या होटल में नहीं खाना चाहिये। इससे मर्यादा टूटती है, अपवित्रता, आसुरी स्वभाव तथा आलस्य बढ़ता है, धर्म परमार्थ-पथ का नाश होता है। ऐसे ही गृहस्थों को विवाह-शादी भी धर्म-मर्यादा-अनुसार ही करना चाहिये। सब में मिल कर खा लेने, सब में विवाह कर लेने से, सब में समता, प्रेम, मनुष्यता नहीं आ जाती है। सब में समता का स्थापन तो स्वार्थ का त्याग करने से होता है। जब तक मनुष्य स्वार्थी है, वह सब में समता का रहस्य कैसे बरत सकता है? आज-कल अधिकांश लोग तिलक-माला धारण करने में लज्जा करते हैं, अपने हाथ से भोजन बनाकर कुर्ता, टोपी, जूतादि उतार कर भोजन करने में लज्जा करते हैं, कोट-बूट पहने, बिना हाथ-पैर धोये, कुर्सियों पर बैठ कर होटलों का अशुद्ध सामिष भोजन ग्रहण करना आज-कल की सभ्यता मानी जाती है। अण्डा-मांस खा कर अन्न की बचत करने का आज-कल जनता में प्रचार किया जा रहा है। बलिहारी है लोगों की बुद्धि पर! सब से विशेष तो मिट्टी है, अर्थात् मिट्टी खा कर इन्हें अन्न की बचत करनी चाहिये। एक डाक्टर ने कहा—"अपने जीवन की रक्षा के लिये मल-मांस-मूत्रादि भी खाना पड़े तो खा लेना चाहिये।" ये लोग चौथिया बुखार में गुड़ में खटमल लपेट कर खिलाने तथा कै होने पर मक्खी का मल शहद में मिला कर चटाने का आदेश देते हैं। धन्य है इन लोगों का अनुसन्धान! उपर्युक्त बातों को सुन कर भले मनुष्य का तो यों ही चित मचलाने

लगेगा। ये मल-मूत्र ग्रहण कर परिणामी और विनाशी शरीर को अपरिणामी और अविनाशी बनाना चाहते हैं। सदाचारी मनुष्य तो प्राण-संकट आने पर भी शराब तथा मल-माँस नहीं ग्रहण कर सकता। और इस तुच्छ विनाशी शरीर के लिये छोटे-बड़े किसी भी देह धारी जीव की हिंसा नहीं कर सकता। क्या करें, प्रकृति भिन्न अविनाशी चैतन्य का शोध-बोध शान्ति-स्थिति का तो इन्हें कुछ लक्ष्य है नहीं जिससे सदाचारी बन सकें, इनकी तो विनाशी अपवित्र जड़ शरीर तक ही दृष्टि है, इसलिये स्थूल-भोग-प्रिय बन कर भोग और क्षण-विनाशी शरीर के लिये आकाश-पाताल एक करना चाहते हैं। रह गया, सारे संसार को तो कोई एक मार्ग पर ला नहीं सकता, सज्जन सदाचारी परमार्थ-पथ के पथिकों को खूब सावधान रहना चाहिये। कैसे भी व्याधि हो परन्तु अशुद्ध-पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये और किसी भी देहधारी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये। शुद्ध सात्वकी अहिंसकी सदाचारी बनना चाहिये। धर्म-मर्यादा को आडम्बर नहीं समझना चाहिये। उत्तम मनुष्य शरीर प्राप्त कर, धर्म-भूमि भारत वर्ष में निवास कर के सदाचारी, संयमी, धार्मिक और धर्म-मर्यादा-पालक होना चाहिये।

अहे अकेले जीव यह, नहिं साथी जग और।
हाट बाट वत् संग है, देखहु करि निज गौर ॥१०६

टीका—यह जीव नितान्त अकेला है, इसका सच्चा संगी इस संसार में अन्य कोई नहीं है। जो तुम आज दो दिन के कुटुम्बी, मित्र, सगे, सहोदरों तथा समाज का साथ देखते हो, वह केवल बाजार तथा मार्ग में मिले हुए प्राणियों के समान क्षणिक है। क्षण में आते और जाते रहते हैं, अपना लक्ष्य ठहरा कर गम्भीरता पूर्वक इस बात को विचार-दृष्टि से देखो। बात सही है कि नहीं ?॥ १०६ ॥

ताते संत सुजान जो, वैर भाव सब छोड़ि।
स्वपन समानहिं जानि सब, सजग रहैं मुख मोड़ि ॥१०७

टीका—इसीलिये जो ज्ञानी महात्मा हैं, वे सब प्रकार सबसे बैर और प्रेम को त्याग कर के और देहादि सर्व मायिक वस्तुओं को स्वप्न के समान असार जान करके तथा सब की आशा-वासना से अपने चित्त को घुमा कर अपनी स्थिति-साधना ही में सदैव सावधान रहते हैं ॥ १०७ ॥

सो०—कहाँ देह को भोग, परम भोग इक और है।
　　जाके होत सँयोग, नीरस लागत इन्द्र पद ॥ भर्तृहरि वै० ॥

निस्पृह संत

दृष्टांत—एक राजा अपने मंत्री और कुछ साथियों के सहित एक वैराग्यशील महात्मा के दर्शन करने चला। महात्मा जङ्गल में एक झोपड़ी में रहते थे। महात्मा एक चारपाई पर साधारण कम्बल का आसन बिछाये लेटे थे। राजा साथियों के सहित महात्मा के पास जा पहुँचा और नमस्कार करके सामने खड़ा हो गया। महात्मा ने पृथ्वी पर पड़ी हुई चटाइयों पर बैठ जाने का संकेत किया। ये सब चटाइयों पर बैठ गये। १५ मिनट महात्मा कुछ नहीं बोले; पश्चात् साधारण भाषा में राजा को प्रजापालन, धर्म-परोपकार की शिक्षा देकर और करुणादृष्टि से देखते हुए कहे—बच्चा! अब जाओ, कभी माया में भूल कर दो दिन के जीवन को खराब न करना। यह मनुष्य-शरीर कल्याण करने के लिये मिला है।

राजभवन पर आकर मंत्री ने राजा से प्रश्न किया कि महात्मा के व्यवहार, बोली, आचरण उदासीन और साधारण क्यों थे? और दूसरी बात—आप के पहुँचने पर वे चारपाई से उतर कर आप की योग्यता-अनुसार आप का सत्कार क्यों नहीं किये? बुद्धिमान् राजा बोला—महात्माजन प्रसिद्धि, मान, बड़ाई को अपने निवृत्ति-मार्ग में बंधन रूप समझते हैं; इसलिये वे ऊपरी चमक-दमक तथा बहुत सम्बन्ध-दोष को त्याग कर गरीबी, उदासीनता पूर्वक जगत् के किसी एक कोने में रह कर संसार से मुक्त हो जाना चाहते हैं, क्योंकि—

सवैया

मान बड़ाई जो नाम रूप, बड़प्पन वो मर्याद जहाँ है।
विद्या वो वाक्य चपल्य चलाक, ये मुक्ति के घातक देख महा है॥
याहि से छोड़ि सबै परपंच, स्वरूप में संच सो संत लहा है।
काह कहौं तेहि की सुख-शान्ति, अनन्त अचिंत अकाम महा है॥ १॥

दूसरी बात—'वे चारपाई से उतर कर हमारा सत्कार क्यों नहीं किये ?' यह सोचना बड़ी भारी भूल है। ऐसे वैराग्यशील संत का हम लोगों की ओर एक बार दया-दृष्टि-पूर्वक देख लेना ही परम सत्कार है। ऐसे संतों की तो चरणधूलि झाड़ने को मिल जाय तो अपना परम सत्कार (सौभाग्य) समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त वे मान-बड़ाई तथा द्रव्य के इच्छुक तो हैं नहीं कि हमारे पहुँचते ही हम से लल्लो-चप्पो करने लगते।

वैराग्यवान् निस्पृह संतों में श्रद्धा-भक्ति रख कर अपना कल्याण करना चाहिये। उनकी दया दृष्टि अहेतुक सब पर सर्वदा रहती है। उन्हें मायिक वस्तु देकर नहीं प्रसन्न किया जा सकता; क्योंकि—

पद

जिसे मन समाया अमर स्थिती में,
रिझाओगे उसको भला काह देकर॥टेक॥
दो०— जहाँ न आशा चाहना, सकल भावना अंत।
सपन जगत् तन मन निरखि, तोड़ि वासना तंत॥
जिसे विश्व सारा निरस हो गया है,
रिझाओगे उसको भला काह देकर॥१॥
दो०— अमर शान्ति अविकार पद, मन वाणी के पार।
ताहि वास आठो पहर, तन जड़ ग्रन्थि निवार॥
सकल कामनायें जहाँ पूर ही हैं,
पुराओगे उसको भला काह देकर॥२॥

दो०— भोग मात्र प्रारब्ध जेहि, शेष कर्म नहिं और।
देह रहे या नाश हो, पृथक् परम पद ठौर॥
टुटी मोह ग्रन्थी गया रूठ जग से,
मनाओगे उसको भला काह देकर॥३॥

दो०-- जिन्हें और नहिं भावता, हर क्षण शान्त स्वरूप।
तेहि की गति सोइ जानि है, जे होइहैं तद्रूप॥
हुए मुक्त भव से न अभिलाष इच्छा,
बुलाओगे उसको भला काह देकर॥४॥

वैराग्यवान् संतों के रहस्यों को सुनकर सभा सहित मंत्री बहुत प्रसन्न हुए और सब के सब नित्य के सत्संगी और धर्मपरायण हो गये।

कहे सुने से मुक्ति नहिं, बिना किये अभ्यास।
स्वच्छ करो दिल आपना, छोड़ि सकल मन भास॥१०८

टीका — बिना उस पर बारम्बार चिंतन, पुरुषार्थ किये और उसके परिणाम में बिना भोग-मान की चेष्टा त्यागे केवल ज्ञान-वैराग्य के निर्णयों को कह देने अथवा सुन लेने से मुक्ति नहीं होती। इसके लिये मन की विषयासक्ति और तज्जनित राग, द्वेष, ईर्षा, बड़ाई, अभिमानादि सम्पूर्ण विकारों को त्याग कर अपना हृदय पवित्र बनाओ॥१०८॥

व्याख्या:— कहना सरल है, करना कठिन है, किन्तु दृढ़ मुक्ति-इच्छुक को करना ही सरल लगता है। केवल पुष्पित बातों से, मात्र वाणी का पकवान खाने से निर्वासनिक स्थिति नहीं मिलती। इसके लिये भोगों का दृढ़ त्याग करना चाहिये। मान-बड़ाई दास-दासी और प्रसिद्धि की कामना का भी दृढ़ त्याग होना चाहिये। इस मल-मांस मय पिण्ड—शरीर की आसक्ति और प्रेम सर्वथा त्यागना चाहिये। दृश्य वर्गों में जब कहीं भी अहंता-ममता आमोद-प्रमोद नहीं रहेंगे, यह दावानल मय विषय-भोग जब दावानल रूप ही दर्शेगा, जब और कुछ प्रिय न रहेगा, कल्पित सुखार्थ इच्छा न रहेगी, संसार की अहंता रूपी

सम्बन्ध-संस्कार से जब प्रति क्षण अपना चित्त सर्वथा छुटा हुआ स्वरूप-चिंतन में रत रहेगा, तब जीवन्मुक्ति का निर्वासनिक सुख-शांति-लाभ और प्रारब्धांत में विदेह मुक्ति-लाभ जीव को प्राप्त होगा। इसलिये आसक्ति तथा अहंकार त्याग कर अन्तःकरण को पवित्र बनाओ।

जैसे चैतन्य के साक्षित्व एवं हैता में पृथक् अनेकों बीज-वृक्ष, जड़-पदार्थ प्रवाह रूप बन कर पुनः नाश होते रहते हैं। उसमें जीव की कोई हानि नहीं। इसी प्रकार अनादि काल से इस अविनाशी जीव के साक्षित्व में स्वप्नवत् असंख्यों देह मिलीं और छुटीं और वर्तमान की देह भी प्रारब्ध क्षय होते ही विनश जायगी इसमें मेरा कुछ हानि-लाभ नहीं। हानि-लाभ भूल वश तभी तक दर्शित होते थे जब तक कर्म-बन्धन में थे। अब कर्म-बन्धन को उलंघन कर स्वरूप में स्थित हुए। पृथक् पदार्थ देह चाहे जब तक रहे और चाहे जब नष्ट हो जाय, हमारा उसमें हानि-लाभ नहीं। केवल जब तक प्रारब्ध शरीर है तब तक मन, प्राणी, पदार्थों से सावधान होकर स्वरूपनिष्ठा में रत रहना है, फिर तो प्रारब्धांत पश्चात् आपी सर्व दुःख-द्वन्दों का अभाव हो जायगा। ऐसा दृढ़ निश्चय कर सदैव साधन-रत रहना चाहिये।

नकल किये ना और की, होय आपना काम।
बिना असल निज ध्येय के, मिलै न सुख विश्राम ॥१०६

टीका:— बाहरी किसी अन्य की नकल करने मात्र से अपना काम नहीं बनता, शान्ति और मुक्ति नहीं मिलती। अपने हार्दिक वैराग्य-बोध की ध्येय-पुष्टि-बिना अविनाशी सुख-शान्ति एवं पारखस्थिति रूपी विश्रांति नहीं मिलती ॥१०६॥

नकल से विफल, असल में सफल

दृष्टांत—एक बार अकबर बादशाह महाभारत पढ़ने लगा। उसे भी इच्छा हुई कि यदि इसी प्रकार एक महाभारत मेरे नाम से भी बन जाय तो हमारा नाम भी युगानयुग प्रसिद्ध रहेगा। ऐसा सोचकर बीर-

बल को बुला और अपना अपर्युक्त विचार प्रकट किया। बीरबल बोला—सरकार! आप के नाम से भी महाभारत बन सकता है; किन्तु महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। आप के महाभारत में उतने तो होने ही चाहिये और एक श्लोक का कम-से-कम एक रुपया बनाने वाले को परिश्रम का फल अवश्य देना पड़ेगा। अकबर—निदान बनायेगा कौन? बीरबल—सरकार! हमारे सिवाय और कौन बनायेगा? अकबर ने बीरबल को खजाने से एक लाख रुपये दिलवा दिया। १५ दिन व्यतीत हो जाने पर अकबर ने बीरबल से पूछा—क्यों जी बीरबल! महाभारत बन गया? बीरबल—सरकार! महाभारत कोई साधारण वस्तु थोड़े है, कठिन संस्कृत के श्लोकों में नये चरित्र (महाभारत) का अनुभव करना पड़ता है। हाँ! आधा बन चुका है। इसी प्रकार एक-दो महीने व्यतीत हो जाने के पश्चात् बहुत से कोरा कागजों का बण्डल बाँध कर बीरबल राजभवन में प्रवेश किये, जिन कागजों में एक अक्षर भी नहीं लिखा था। अकबर बादशाह की बेगम ने कहा—बीरबल जी! यह क्या है? बीरबल—यह अकबरी महाभारत है। बेगम—हाँ-हाँ! एक दिन बादशाह जी भी कह रहे थे कि हमारे नाम से एक महाभारत बन रहा है। तो उसमें मेरा भी तो नाम आयेगा न? बीरबल—इसी कारण तो मैं यहाँ आया हूँ, आप से यही पूछना है कि महाभारत की प्रधान नायिका द्रौपदी के पाँच पति थे, और इस अकबरी महाभारत की प्रधान नायिका आप हैं। अतः यह बतलाइये कि आप के पाँचों पति कौन-कौन हैं। बेगम ने जोर से कहा—अरे बीरबल! इस महाभारत को अभी जलाइये-जलाइये। ऐसा कहती हुई बेगम ने उस कागज के बण्डल में आग लगा दी, वह बिलकुल जल गया। एक सप्ताह के बाद अकबर के पूछने पर बीरबल ने कहा—सरकार! वह तो बन गया था; किन्तु बेगम साहेब ने जला दिया।

दृष्टांत[1]—एक ग्राम में एक स्त्री पतिव्रता धर्मवाली और सत्यपरायणा

१—यह कल्पित दृष्टान्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कहा गया है।

रहती थी। उसका पति जिस समय जो कुछ कहे उसे वह तुरंत करती थी। एक दिन स्त्री मूसल लेकर धान कूटती थी, इतने में बाहर से पति आया और बोला—हमारे पीने के लिये जल लाओ। स्त्री तुरंत मूसल को आकाश में खड़ा कर पति को जल पिलाया। यह घटना देखकर उस पतिव्रता स्त्री को सब लोग धन्यवाद देने लगे। वहाँ एक दूसरी स्त्री खड़ी-खड़ी यह चरित्र देख रही थी। उसे भी ऐसा करके धन्यवाद पाने की आशा हुई, किन्तु इसमें पतिव्रता-धर्म, सत्याचरणादि कुछ न थे। फिर भी जाकर अपने पति से कही—मैं कल जब मूसल से धान कूटने लगूँगी तब तुम आकर मुझसे जल माँगना। दूसरे दिन स्त्री जब मूसल से धान कूट रही थी, तब उसका पति आया और जल माँगा। स्त्री ने मूसल को आकाश में खड़ा कर जल देना चाहा कि मूसल हाथ से छूटते ही उसकी नाक पर जोर से आकर लगा। अब पति को जल देना कौन कहे, पति को ही मलहम-पट्टी करनी पड़ी।

शिक्षा— बड़े पुरुषों की ऊपरी नकल न करके बल्कि उनके सद्गुण सदाचरण की नकल करनी चाहिये, जिससे सच्चा कल्याण है।

हंस स्वतः निश्चय करै, जड़ देहन से पार।
यकरस अचल स्वतंत्र है, जहाँ न कोई परार।।११०
निजस्वरूप चैतन्य में, काम क्रोध नहिं लोभ।
मन इन्द्रिन के भोग से करत अनेकन छोभ।।१११

टीका:— जल-दुग्धवत् सत्य-असत्य का निर्णय करने वाले अपने चैतन्य स्वरूप को (माने हुए स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य इन पंच) जड़ शरीरों से पृथक निश्चय करना चाहिये। वह अपना स्वरूप एकरस, अविचल और स्वतंत्र है, जहाँ (स्वरूप में) अन्य कोई विजाति वस्तु नहीं है ॥ ११० ॥ अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में काम, क्रोध और लोभादि दोष नहीं हैं। केवल मन-इन्द्रियों की भोगासक्ति-वश हो मनुष्य अनेकों प्रकार मोह उत्पन्न करता रहता है ॥ १११ ॥

शिक्षाः — अपने स्वरूप को तन, मन, जगत्-विकारों से पृथक शुद्ध जान कर जगत्-अध्यास रहित सदैव स्वरूपनिष्ठ रहना चाहिये।

प्रसंग-११—उपासना की रीति।

साधु गुरू के पद कमल, शिष्य भाव की रीति।
दर्श पर्श के भाव जो, लक्षण कहौं सुनीति ॥११२

टीका:— संत-सद्गुरु जनों के चरण-कमलों में शिष्यत्व भाव के आचरण तथा दर्शन, सत्संग आदि करने के नियम और सुन्दर नीति कहता हूँ॥११२॥

दीन हीन लघुता सहित, सन्मुख गुरु के होय।
पत्र पुष्प मेवादि फल, अर्पण करिये सोय ॥११३

टीका:— शिष्य, भक्त तथा जिज्ञासुओं को चाहिये कि सर्व अहंकार त्याग कर विनम्रभावपूर्वक सद्गुरु तथा श्रेष्ठ सन्तों के सन्मुख जाये; और पत्र, पुष्प, फल, मेवादि जो कुछ सेवा में ले गया हो, उसे समर्पित करे ॥११३॥

पुनि पीछे त्रय बन्दगी, चरणामृत उतारि।
सज्जन गण मिलिपान करि, शिष्य वर्ग जे धारि ॥११४

टीका :— पश्चात् दोनों हाथों से अँजुलि बाँध, पृथ्वी पर रख कर उन पूज्य साधु-गुरु के सर्वांग दर्शन करते हुए और अपने मस्तक को अँजुलि तक ले जाते हुए त्रयबार 'साहेब बन्दगी' करे, पुनः उनके चरणामृत को उतार करके जितने शिष्य श्रेणी को धारण करने वाले तथा सज्जन-भक्त समूह होवें वे सब अपनी श्रद्धा-भक्ति पुष्टि अर्थ उसे पान करें ॥११४॥

गुरु प्रसन्न चित देखि के, शिष्य विनय कर जोर।
शरण शरण गुरु रावरे, क्षमा करो अघ मोर ॥११५

टीका :— सद्गुरु तथा श्रेष्ठ संत को प्रसन्न चित्त देखकर शिष्यों को विनय-प्रार्थना-आरती आदि करना चाहिये। हे सद्गुरु ! मैं आप के चरणों की शरण हूँ, हमारी भूलों को क्षमा करें॥ ११५॥

व्याख्याः--जब सद्गुरु या संत जन शीत, धूप, भूख, प्यास,

थकावट आदि से पीड़ित न हों, तथा खान-पान-स्नानादि व्यवहार में न हों; उचित समय में आरती-वन्दना-प्रश्न आदि करे। यह नहीं कि वे दूर से थके-माँदे, भूखे-प्यासे आये और उनको पहले जल-पानी न देकर आरती-वन्दना ही करने लगे।

तन मन धन का मान तजि, अर्पण गुरु को जान।
विधिवत् करे उपासना, आज्ञा गुरु की मान ॥११६

टीका:— शरीर, मन (बुद्धि चातुर्य) तथा धन का अभिमान त्याग कर अपने को साधु-सद्गुरु की शरणों में अर्पण जानना चाहिये। सद्गुरु की आज्ञा स्वीकार कर नियमानुसार भक्ति करे॥ ११६॥

सोइ मुमुक्षु बड़ भाग है, गुरु पद में जेहिं नेह।
करि पुरुषारथ मोक्ष लहि, सुखाध्यास तजि देह ॥११७

टीका:— वही मुक्ति-इच्छुक बड़ा भाग्यवान है, जिसका प्रेम सद्गुरु के चरणों में तथा अपने स्वरूप में अविचल भाव से लगा है। वे भाग्यवान मनुष्य, शरीर के सुखाध्यास, आसक्ति तथा अभिमान को पूर्ण रूप से त्याग कर और द्रष्टा-दृश्य का भिन्न विवेक रूप पुरुषार्थ करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं॥ ११७॥

प्रसंग--१२—गुरु-शिष्य का कर्तव्य।

गुरू शिष्य की रीति यह, निज निज धर्म अनुसार।
स्वार्थ रहित वर्तें सदा, परख दृष्टि गहि सार ॥११८

टीका:— गुरु-शिष्य का यही व्यवहार है कि वे दोनों देह-स्वार्थ अभिमान से रहित होकर और कल्याण का लक्ष्य रख कर अपने-अपने धर्म के अनुसार चलें॥ ११८॥

खट्ट माला खट्ट

दृष्टांतः--एक भेषधारी साधु अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये तीन शिष्य बनाये और वे तीनों बिलकुल मूर्ख, केवल पेट पालने के

लिये ही आये थे। एक दिन मन्दिर में बैठे हुए तीनों शिष्य पूजा कर रहे थे। 'रामागाती बाबा क नाती' के सिवा और कुछ तो ये सब जानते न थे। माला फेरते हुए एक कहता--'खट्ट माला खटट, खट्ट माला खट्ट !' तब दूसरा कहता--'ई अंधेर कहाँ तक निबही, ई अंधेर कहाँ तक निबही ?' तब तीसरा कहता—'जब तक निबही तब तक खाव, नाहीं घूमि के घर का जाव' 'जब तक निबही तब तक खाव, नाहीं घूमि के घर का जाव ॥'

शिक्षा--इस प्रकार गुरु-शिष्य का व्यवहार नहीं होना चाहिये। केवल कल्याण के लिये ही गुरु-शिष्य का व्यवहार होना चाहिये।

त्यागि स्वार्थ अभिमान सब, गुरु शिष होय उदार।
पारख स्थिति पुष्ट जेहि, ताहि हेतु उर धार ॥११६

टीका:—सम्पूर्ण स्वार्थ-बुद्धि और अहंकार को त्याग कर गुरु-शिष्य दोनों को उदार होना चाहिये। जिससे गुरु-शिष्य का स्वरूप बोध दृढ़ हो वही भाव अपने-अपने हृदय में दोनों धारण करें ॥११६॥

व्याख्या:--गुरु को निर्लोभी, दानी एवं दयालु तथा शिष्य को निर्लोभी, सरल और नम्र होना चाहिये। केवल कल्याण के लिये ही गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है; अन्यथा कोई सम्बन्ध नहीं।

शिक्षा को बदला चहे, सेवा को एहसान।
दोनों निज पद से गिरे, दुख के हाथ बिकान ॥
(विशाल बचनामृत)

प्रश्नः—गुरु तथा शिष्य को स्वार्थ-अभिमान त्याग कर उदार होना क्या है ?

उत्तरः—शिष्य का कर्तव्य है कि वह भोग सुख और आराम-तलबी के लिये गुरु की शरण न लेकर केवल दुःखों से छूटने के लिये शरण लेवे। अच्छे-अच्छे वस्त्र और खान-पान की उत्तम-उत्तम 'वस्तुओं' को गुरु से प्राप्त करने की इच्छा न रखे। प्रथम के मिथ्या कुटुम्ब,

धन, जाति, बल आदि का तथा आज के जवानी, रूप, विद्या-बुद्धि, सर्व-कुशलता, पूज्यता, अगुवापन, परिश्रमशीलता, सेवकाई आदि का अभिमान न धारण करे। अपने को समझे, कि महा मलिन पापकर्मी दुखी, अनाश्रय होकर कहीं ठिकाना नहीं पा रहा था। दया करके सद्गुरुदेव अपनी शरण में मुझे लगा लिये और स्वरूपज्ञान सद्रहस्य की शिक्षा दिये, जिससे मैं पूर्ण सुखी हो गया। सब सन्त जन अच्छा-अच्छा खायें-पहने हमारे लिये तो सूखी रोटी, फटी लंगोटी ही काफी है। तावेदार को चाहिये ही क्या ? समाज में पीछे और नीचे बैठने को मिले, हमें कोई न जाने, न माने, वैराग्य में तो गरीबी-दासता ही साधक है। हम अपराधी से सेवा-भक्ति तो यों ही नहीं बन पाती है, हर समय अभिमान, कपट, आलस्य, पटैती आदि अज्ञान का आश्रय लिये रहता हूँ। रहा ! मुझसे किञ्चित सेवा जो भूले-भटके बन जाय उसको संत-गुरु स्वीकार कर लेवें यही हमारा परम सौभाग्य है। मिथ्या शरीर की मान-बड़ाई तो सर्व प्रकार से अनावश्यक तथा पतन का हेतु है, इत्यादि भाव धारण कर सदैव सन्तोष, नम्रता तथा दीनता को धारण किये रहना ही स्वार्थ-अभिमान त्याग कर शिष्य को उदार होना है।

गुरु का कर्तव्य है कि केवल जीवों के कल्याणार्थ ही उनको योग्य मुमुक्षु जान कर उन्हें शरण में लेवें, समाज की वृद्धि, नाम, कीर्ति, बड़ाई, पूज्यता, सेवा तथा भोग वस्तुओं की प्राप्ति के लिये नहीं। गुरुपने का अहंकार धारण कर शिष्यों को तुच्छ दृष्टि से न देखें, मान, पूज्यता, अधिकार का अभिमान कभी न धारण करें। मान, पूज्यता और अधिकार की प्राप्ति में भूले होने का बहुत डर है, कारण कि—(१) कुछ लोगों से मान-बड़ाई तथा जड़ पदार्थ उन्हें प्राप्त होते रहते हैं, जिससे पूर्ण विवेक दृष्टि न होने से अहंता-ममता सर्वदा पुष्ट होती रहती है। (२) उनके भूल और दुर्गुणों को उनके सामने छोटी श्रेणी के माने हुए शिष्य-सेवक जन सहसा कह नहीं सकते, जिससे उन्हें

चेत होकर सुधार हो। (३) एहसान और स्वार्थ के लोभ वश हाँ-में-हाँ मिलाने वाले पृष्ठपोषक (खुशामदी) चुगुलखोर लोग उनके भूल और दुर्गुणों को भी सदा निर्मूल और सद्गुण बतलाते रहते हैं, जिससे वे गहन अविवेक-अंधकार में पड़ जाते हैं। (४) खुशामद-चापलूसी न करने वाले सच्चे हितैषी, सत्यन्यायी की सुधार-दृष्टि से कही जानेवाली बातें मान-बड़ाई का विशेष अंश मन में घुस जाने से उन्हें प्रिय नहीं लगते, फिर उन बातों को वे मानेंगे ही कैसे ? इसलिये बड़ेपने के अभिमान में वे क्रमशः पतनपथ में ही चले जाते हैं। (५) मान-बड़ाई, अधिकार, गुरुवाई, मर्यादा के अभिमान में घिर जाने से उनको वैराग्य-शील संतों से नम्रता पूर्वक सत्संग करके अपने दुर्गुणों को निकालना दुस्तर हो जाता है; जिससे उनका मानसिक रोग असाध्य हो जाता है। अविवेक के कारण ऐसी परिस्थिति में विशेष ईर्ष्या, अभिमान, क्रोध तथा अहंता-ममता ही उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इसलिये भोग, मान, पूज्यता, अधिकार आदि मायावी सम्बन्धों को दुःख रूप, बन्धनदायी, क्षणभंगुर जान कर सत्संग-सद्विचार-द्वारा भोग-मान की इच्छा और अभिमान से सदैव रहित निर्लोभी, निर्भोगी, नम्र, सहनशील, दयालु बने रहना ही स्वार्थ-अभिमान त्याग कर गुरु को उदार होना है।

गुरु सोई हित बोध दे, शिष्य सोई ले बोध।
उभय न्याय संयुक्त हो, तजि कर सकल विरोध ॥१२०

टीकाः— सच्चा सद्गुरु वही है जो मान-भोग की कामना त्याग करके निःस्वार्थ भाव से शिष्य के कल्याण के लिए ही ज्ञान देवे; और सत शिष्य वही है जो आलस्य, कपट, अभिमान, भोग्य-लक्ष्य त्याग करके केवल कल्याणार्थ श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उस ज्ञान को सादर ग्रहण करे। इस प्रकार सम्पूर्ण लोभ-क्षोभ मान-मद से रहित होकर गुरु-शिष्य नीति-सहित बरतें ॥१२०॥

सोरठा

करै भक्ति निरधार, आलस तजि निर्मान है।
मुक्त रूप भव पार, वर विवेक पावै सोई ॥१२१

टीका:— शिष्य को चाहिये कि आलस्य तथा अभिमान को छोड़कर निःस्वार्थ भाव से भक्ति करे। वही शिष्य श्रेष्ठ विवेक प्राप्त करके और संसार-सागर से पार होकर मुक्त होता है ॥१२१॥

आलस्य का चित्र

वैष्णव सिद्धान्त के गुरु-शिष्य दो संत एक कुटी में रहते थे। एक दिन गुरु ने शिष्य से कहा—भगवान शालिग्राम को गंगा जी में स्नान करा लाओ। शिष्य बोला—हे गुरुदेव! भगवान को स्नान कराना कोई साधारण बात नहीं है, यह काम आप ऐसे महानुभाव से ही बनेगा। क्या करें, गुरु जी गये स्नान करा लाये। पुनः बोले—हे शिष्य! भगवान की पूजा-अर्चा करके भोग लगा दो। शिष्य—सरकार! आप के होते हुए मैं क्या पूजा-अर्चा करूँ? एक तो आपकी पूजा पर भगवान प्रसन्न भी रहते हैं। गुरुजी पूजा भी किये, पूजा के पश्चात् गुरुजी ने पाँच लड्डू जो भगवान को भोग लगाये थे उसको देकर कहने लगे—अच्छा भगवान का प्रसाद तो ले लो। शिष्य—सरकार! गुरु की प्रत्येक बात काटना भी ठीक नहीं होता। अच्छा लाइये गुरु जी! पाँचो लड्डू खा लूँ जिससे जलपान ही हो जाय।

एक दिन रात को गुरु जी के पेट में कुछ पीड़ा होने लगी। गुरु जी बोले—शिष्य-शिष्य! सुनो तो! शिष्य अपने आसन पर से लेटे हुए बोला—कहिये गुरु जी! जो आप कहेंगे मैं लेटे-लेटे ही सुन लूँगा। गुरु—पेट में पीड़ा हो रही है, पास के वैद्य के यहाँ से कुछ औषधि ले आओ। शिष्य—गुरु जी! पानी बरस रहा है। गुरु—पानी कहाँ बरसता है? आकाश में तारागण उगे हैं। शिष्य—ठण्डा-ठण्डा वायु

लगा इसी से मुझे ज्ञात हुआ कि पानी बरस रहा है। गुरु—जाओ तो सही। शिष्य—यदि इस समय वैद्य जी औषधि न देवें तो क्या करूँगा ? गुरु—तब चला आना। शिष्य—जब वैसे ही चला आना है तब अभी से न जाएँ। गुरु—अच्छा, दीपक तो बुझा दो। शिष्य—गुरु जी ! आप आँखें बन्द कर लें तो मानो दीपक बुझाया ही है। गुरु—तुझसे कुछ नहीं सधेगा, अच्छा द्वार का किवाँड़ तो बन्द कर ले। शिष्य—सरकार ! इतने काम हम किये, उतना आप ही कर लें।

शिक्षाः—इस दृष्टान्तानुसार कपट भक्ति न कर बल्कि निष्कपट श्रद्धा-प्रेम रखना चाहिये, तभी संसार-बन्धन से मुक्त होकर जीव परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

वन्दना सोरठा

बन्दीछोर कबीर, पारख रूप नमामि प्रभु।
सत सिद्धान्त गम्भीर, स्वयं प्रकाशी आप हो ॥१२२

टीका:— बन्धन छुड़ाने वाले, पारख रूप सद्गुरु कबीर के स्मृति में चित्त विनम्र है। महान सत्य पारख सिद्धान्त के प्रकाश करने वाले आपही हैं ॥ १२१ ॥

पारख ज्ञान शिरताज, चित उदार दायानिधे।
दीन जीव के काज, प्रगट कियो शुचि बोध निज ॥१२३

टीका:— उदारचित, कृपानिधि सद्गुरु ने दुखी जीवों के कल्याणार्थ सर्वोपरि, पवित्र अपना पारख ज्ञान प्रकट किया ॥ १२३ ॥

हरयो सकल अज्ञान, तव उपकार महान यह।
बन्दों उर धरि ध्यान, सदा हृदय वासा करो ॥१२४

टीका:— आपने सारे अज्ञान को हरण कर लिया; अतः आपका उपकार महान है। आपके उपकार का हृदय में स्मरण करके नतमस्तक हूँ, आपका बोध हमारे हृदय में सदैव बसे ॥ १२४ ॥

पारख ज्ञान अरूढ़, संत पारखी रूप सोइ।
सदा सहायक गूढ़, नमों नमों तव पद कमल ॥१२५

टीका:— पारख ज्ञान में स्थित पारखी संत-सद्गुरु कबीर रूप ही हैं। ऐसे संत ही दुष्प्राप्य स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर के कल्याणार्थियों के सहायक हैं, उन सभी सन्तों के चरण-कमलों में नमस्कार है ॥१२५॥

कृपा करो गुरुदेव, ताते निज कारज सफल।
आसक्ती हरि लेव, नहिं भूलों जग विषय में ॥१२६

टीका:— हे सद्गुरुदेव ! आप हमारे ऊपर कृपा कीजिये, जिससे हमारा स्वरूपस्थिति रूप कार्य सफल होवे। हमारी सम्पूर्ण जगत्-भोग तन-मन की आसक्ति हरण कर लीजिये। ऐसी दृष्टि दीजिये कि अब पुनः बन्धनदायी सांसारिक विषय भोगों में न भूलूँ ॥ १२६ ॥

महा प्रबल झकझोर, बहत जात नहिं थिति कहूँ।
सद्गुरु बन्दीछोर, श्री विवेक मम बाँह गहि ॥१२७

टीका:— मैं महान वेगवान् विषय-धारा के हिलोरे में बहा जा रहा था, कहीं स्थिति नहीं मिलती थी। इतने में बन्ध विनाशक सद्गुरु श्री विवेक साहेब मिले और हमारा हाथ पकड़ कर विषय-प्रवाह से मुझे निकाल लिये (ऐसे सद्गुरुदेव के चरण कमलों में बारम्बार बलिहारी है) ॥ १२७॥

सदा यही मम आश, कब छूटूँ भव जाल से।
जग से होहुँ निराश, रहहुँ सदा तव शरण महँ ॥१२८

टीका:— मेरी सर्वदा यही इच्छा रहती है, कि मैं कब जगत्-बन्धनों से सर्वथा छूट जाऊँगा, और संसार से इच्छा रहित होकर सदा आप के चरण-कमलों में निवास करूँगा; अथवा सर्वदा के लिये स्वस्वरूप में स्थित हो जाऊँगा ॥ १२८ ॥

पद

मन ! गुरु पद में इमि करु यारी ॥ टेक ॥

रवि मुख सुमन यथा रविमुख रत, मीन नीर जिमि प्यारी ॥ १ ॥
स्वाति बूँद पपिहा पतंग दँव, चातक इन्दु यथारी ॥ २ ॥
मधुर सरज मृग मधुर मधुर रव, कामिहिं प्रिय जिमि नारी ॥ ३ ॥
लोभी धन मोही सुत सन जिमि, मित्र-मित्र बलिहारी ॥ ४ ॥
अति अभिलाष मुदित निज पद में, मणि फणि लक्ष्य सदारी ॥ ५ ॥

विनय-पद

जय गुरु–सन्त ! मङ्गल मूल ॥ टेक ॥

काम क्रोध मदादि मन भव, त्रिविध ध्वंसक शूल ॥ १ ॥
अवनितल स्वच्छंद विचरत, हरत जन मन भूल ॥ २ ॥
द्वन्द्व गत सुख कन्द सन्तत, व्याधि विश्व विमूल ॥ ३ ॥
तरण तारण पाप हारण, विगत शोक समूल ॥ ४ ॥
पिण्ड से ब्रह्माण्ड तन मन, तुच्छ कीन्हें तूल ॥ ५ ॥
बार बार नमन्त तव, अभिलाष पद को धूल ॥ ६ ॥

सटीक विवेक प्रकाश पञ्चम पाठ सहित तृतीय
प्रकरण सिद्धान्त निर्णय समाप्त



प्रकरण फल छन्द

पारख सुभग सिद्धान्त निर्णय, प्रेम से उर ध्याय जू।
तैसे मनन पुरुषार्थ संयम, दोष दृष्टि बनाय जू॥
यक वृत्ति से उपराम तन, तद रूप निज पद भाय जू।
अन्तिम यहीतन जान कर, आवागमन विनशाय जू॥ १॥

सोरठा

जड़ चेतन बिलछान, गुरु निर्णय पारख लखे।
आवागमन नशान, जाहि प्राप्ति सब तुच्छ जग॥ १॥
पारख प्राप्ति निराश, जग सुख भोगन तूरि मन।
नित नव प्रति अभिलाष, श्री गुरु भक्ति पदाम्बु हित॥ २॥



सद्गुरवे नमः

रहस्य-विचार हेतु छन्द

सद्गुण रहस्य विचार बिन, संसार प्राणी बावरे।
विषभोग सायक से स्वयं, अन्तःकरण करि घावरे॥
यहि हेतु चंचल भोग हित, दिन रैन नर बिललावरे।
अब पाय कर सुविचार भेषज, नित्य गुरु पद ध्यावरे॥ १॥

साखी

आदर युत श्रद्धा सहित, गहे जो गुरुमुख बैन।
स्वप्न भरम से जाग कर, पावे अविचल चैन॥ १॥

सद्गुरवेनमः

सद्ग्रंथ

विवेक प्रकाश

सटीक

चतुर्थ प्रकरण रहस्यविचार

षष्ठ पाठ

प्रारम्भ

शब्द—१

गुरु-गुरु संत परम उपकारी ॥टेक॥

ज्ञान के आगर दया के सागर, पतित अनेकन तारी ।
जो कोइ शरणे आय दीन ह्वै, तुरतै ताहि उबारी ॥१
सरल स्वभाव सत्य उपदेशक, भूल भरम निरुवारी ।
कपट मानआलस जेहिं अन्दर, तेहिं कुसंग लखि टारी ॥२
समता धरम राखि तिन सबमें, यथा सुयोग विचारी ।
सहनशील बनि रहत निरन्तर, जीवन के हितकारी ॥३
निज सुख हेतु दुक्ख नहिं देते, काहू को फटकारी ।
कोमल वचन नम्र रहि सबसे, द्रावित दीन दुखारी ॥४
नैराश्य वृत्ति प्रारब्ध गुजारक, सब साकाम निकारी ।
निःस्वारथ हित चिन्तक सबके, राग द्वेष सब जारी ॥५

अपने सम सब जानि जीव को, दया निर्वैर सुखारी।
शान्त स्वभाव सन्त मत ऐसो, गहे होत भव पारी ॥६
सूरत ऐसो सन्त गुरूवर, जीवन के हितकारी।
तारण तरण विदित सब काहू, लोको वेद पुकारी ॥७

टीका :— विवेकी संत-गुरु जीवों के परम उपकारी होते हैं ॥ टेक ॥ वे ज्ञान की खानि दया के समुद्र और अनेक पतितों को तारने वाले होते हैं। जो उनकी शरण में विनम्र होकर आ जाता है, उसे वे अज्ञान-सागर से तुरन्त उबार लेते हैं ॥ १ ॥ वे सरल-स्वभाव, सत्य के उपदेष्टा और भूल-भ्रान्ति को दूर करने वाले होते हैं। वे सावधान भी होते हैं; जिनमें कपट, अहंकार तथा आलस्य देखते हैं, उन्हें कुसंग रूप जान कर उनकी संगत त्याग देते हैं ॥ २ ॥ किन्तु वे किसी से द्वेष नहीं करते, वे सभी में समता-धर्म का पालन करके यथायोग्य विचार पूर्वक बर्तते हैं। वे जीवों के हितकारी पुरुष सदैव सहनशील बनकर रहते हैं ॥ ३ ॥ वे अपने देहादि सुख के लिये किसी को डाँट-फटकार कर दुःख नहीं देते। सबसे नम्रता-पूर्वक कोमल वचन बोलते और दीन-दुखियों को देखकर द्रवित हो जाते हैं ॥ ४ ॥ वे हृदय से सभी सकाम-भावना को निकाल कर नैराश्य-वृत्ति पूर्वक प्रारब्ध का निर्वाह करते हैं। और राग-द्वेष को मिटा कर निःस्वार्थ-भाव से सबका हित-चिन्तन करते हैं ॥ ५ ॥ वे अपने समान सभी जीवों को जानकर और सबके प्रति दया तथा निर्वैरत्व की भावना रखकर सुखी रहते हैं। शान्त स्वभाव से रहना ही सन्तों का मत है, इस मत का ग्रहण करने वाला संसार-सागर से तर जाता है ॥ ६ ॥ ग्रन्थकर्ता "श्रीरामसूरत साहेब" कहते हैं कि इस प्रकार श्रेष्ठ संत-गुरुजन जीवों के हितकारी होते हैं। सबको विदित है कि संत जन दूसरे का उद्धार करने वाले तथा स्वयं संसार-सागर से तर जाने वाले होते हैं; इस बात को लोक और वेद भी कहते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या :— संसार में विवेकवान संत ही शीतल छाया हैं जिसके नीचे जाकर शोक-संतप्त प्राणी शीतल हो सकता है। खेद है उन पर,

जो ऐसे सन्तों का महत्त्व नहीं जानते और शान्ति के लिये इधर-उधर भटकते हैं।

संत-महिमा

नरसिंह खरसिंह

सोरठा—शिष्य कह्यो कर जोरि, हे गुरु दीन दयाल प्रभु।
क्षमा कियो अघ मोरि, बाल दीन मति हीन लखि ॥ १ ॥

चौपाई

एक समय कर सुनहु सु बाता। विचरत बाट रह्यौं मैं जाता।
भक्ति साधु गुरु के अनुरागा। सत्य विवेक विचार विरागा ॥
मनन करत मन बीच सप्रेमा। साधु गुरू पद भक्ति सु नेमा ॥
इहै विचार करत मन माँहीं। मिल्यो वृक्ष यक सुन्दर छाहीं ॥
करन लग्यो तहँ क्षण विश्रामा। पथिक एक आयो तेहि ठामा ॥
पढ़े लिखे वह कछु विद्वाना। बइठ्यो आय हृदय भरि माना ॥
पूछन लाग्यो मोहि सन बाता। कहहु साधु आपन कुशलाता ॥
आयो कौन देश पुनि जइबो। करिहो काह सु काह कमइबो ॥
नाहक छोड़ि कुटुम परिवारा। ठोकर खाहु अनेक प्रकारा ॥
माँगहु भीख फिरहु बौराना। करहु कुकाज सुकाज न जाना ॥
दिन भर बैठि अन्न पर खावहु। और अनेकन जीव भ्रमावहु ॥
गृह में दुख परिश्रम जब देखा। सरल युक्ति जानेहु तब भेषा ॥
नहिं कछु देश काज तुम करहू। मिथ्या भेष प्रपंच अनुसरहू ॥
साधू घातक देश समाजू। फिरत जगत महँ लागि बेकाजू ॥
"नारि मुई गृह सम्पति नाशी। मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी ॥"
यह रामायण में है भाषा। कहँ तक कहों कुपंथ कुशाखा ॥

दोहा—साधु भेष संसार में, फादिल रचना कीन।
मिथ्या यह संसार को, भार आपनो दीन ॥ २ ॥
बहुत भाँति कटु बैन से, कहिस मोहिं फटकारि।
सद्गुरु तव उपदेश से, सुनत रह्यों मन मारि ॥ ३ ॥

धन मद नारी रूप मद, यौवन प्रभुता मान ।
विद्या मद जाको भयो, सो नर नहिं शैतान ॥ ४ ॥

"मूरख से क्या बोलिए, शठ से काह बसाय ।
पाहन में क्या मारिये, (जो) चोखा तीर नशाय ॥ ५ ॥"

सोरठा—अस सिद्धान्त विचारि, बोल्यों नहिं कछु ताहि से ।
जो कछु कहिस प्रचारि, सुनत रह्यों तेहि बात को ॥ ६ ॥

सो शंका गुरुदेव निवारहु । अन्तःकरण विछेर सँहारहु ॥
साधु कुकाज करहिं की काजा । सो गुरुदेव सुनावहु आजा ॥
कौन हेतु साधू जग जावा । सो सब मोहिं गुरुदेव सुनावा ॥
कृपा दृष्टि फेरेउ गुरुदेवा । कहन लग्यो सन्तन कर भेवा ॥

दोहा—साधु न होते जगत् में, बूड़ि जात संसार ।
नीति धर्म सब लुप्त ह्वै, बाढ़त पाप अपार ॥ ७ ॥

ऋषि मुनि ऊँच नीच भूपाला । साधु ज्ञान से भयो निहाला ॥
जनक नृपाल कृष्ण अरु रामा । शिवि दधीच कौशल अभिरामा ॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषण सेवरी । व्यास वशिष्ठ श्वपच औ कोरी ॥
कहँ लगि कहौं अनन्त जहाना । साधु नीति से लाभ उपाना ॥
मानुष लक्ष्य सुझावन पन्थू । सत्य रहनि औरो सद्ग्रन्थू ॥
साधु बिना को करे सुकाजा । सत्य अहिंसा नीति सु साजा ॥
दया क्षमा सत धीर विचारा । लक्षण साधु केर निरधारा ॥
यह लक्षण जेहि घट में नाहीं । सो बिन सींग पूँछ पशु आहीं ॥
खान पान अरु सुख संयोगू । राज पाट नव तरुणी भोगू ॥
चारि वेद छौ शास्त्र विधाता । इङ्गिलिश उर्दू के अति ज्ञाता ॥
जहँ तक विद्या जग में जावा । सो सब चहे ताहि पहँ आवा ॥
सुन्दर रूप जवानी चारू । महिमा विश्व माँहि परचारू ॥
तत्त्व शोध विज्ञान बहूता । उदय अस्त लौ राज लखूता ॥

दोहा—पंच विषय सुख भोग जो, कमती नाहीं कोय ।
पर साधू के गुण बिना, रहे तेऊ भी रोय ॥ ८ ॥

भक्ति विवेक विराग विचारा। दया क्षमा सत् धीर अचारा ॥
सो सब प्रकट जक्त में आहीं। विकस्यो साधु गुरू के पाहीं ॥
साधु न होते जगत् मझारा। को अस करत ज्ञान उजियारा ॥
लड़ि भिड़ि कटि मरते आपस में। होत घोर हिंसा पर वश में ॥
रामायण तुलसी रचि दीन्हा। साधु नीति तामें भल चीन्हा ॥
कहँ लग कहौं अनेक प्रकारा। साधु ग्रन्थ रचि रचि परचारा ॥
साधन करि साधू कर रीती। ह्वै आदर्श दिखायो नीती ॥
राति समान जगत कहँ देखा। सूर्य समान साधु कहँ लेखा ॥
पर आपन हित के उपचारू। साधु प्रकट जग में परचारू ॥

दोहा—नीति धर्म सद्ज्ञान धन, औ विवेक वैराग।
ये गुरु साधू से मिलें, तेहि के बिना अभाग ॥ ९ ॥

जेहि घर साधु सन्त नहिं जाहीं। सो श्मशान समान दिखाहीं ॥
जो नर साधु सन्त नहिं पूजा। नर तन विफल योनि दुख दूजा ॥
जो नर सन्त देखि मुसकाहीं। रौ-रौ नरक भोग दुख खाहीं ॥
भव संसार अगाध अपारा। नर तन नाव साधु कड़िहारा ॥
नाविक साधु गुरू नहिं जाना। सो भव सागर माँहि डुबाना ॥

दोहा—वैर करे मल्लाह से, चाहे उतरन पार।
निज कर पाँव पछारहीं, ऐसी गति संसार ॥ १० ॥

साधु बिना जो हानि हो, साधु सेव से लाभ।
सो सब इक दृष्टांत में, कहों तोहि उपराज ॥ ११ ॥

सुनहु शिष्य इक ग्राम में, खरसिंह नरसिंह नाम।
दुइ भाई बलवान् अति, सुख पूरित धन धाम ॥ १२ ॥

धन जन नारि विपुल परिवारा। सुख संयोग अनेक प्रकारा ॥
द्रव्य करोड़ केर तेहि काजू। शत्रु संहारि लहत सुख साजू ॥
दोऊ के इक-इक सुत जाये। बल विद्या बुद्धी गुण छाये ॥
खरसिंह तो विद्वान् बहूता। रजो गुणी स्वभाव सम हूता ॥
वेश्या गमन प्रदोष प्रचारी। हिंसक क्रूर कुटिल अति भारी ॥
सज्जन कहँ देखत करि रोषू। चोर चुगुल वेश्या कहँ पोषू ॥

दोहा—जितने दुर्गुण दुर्व्यसन, सब खरसिंह के पास।
चोरी जारी झूठ छल, हिंसा पाप दुराश ॥ १३ ॥

नरसिंह धर्मवान् सुपुनीता। साधु नीति समुझै कछु रीता ॥
शील व्रती अरु सत्य सहायक। ग्रन्थ सन्त सङ्गत चित लायक ॥
भूलि केर नहिं करे कुसंगू। नहिं हिंसक नहिं पर मति भंगू ॥
मानुष के लक्षण जो आहीं। सो सब नरसिंह के उर माहीं ॥

सोरठा—एक समय को हाल, खरसिंह घर पर नहिं रह्यो।
एक संत तेहि काल, आइ गयो तेहि द्वार पर ॥ १४ ॥

नरसिंह प्रेम सहित कर जोरी। कीन्ह प्रणाम बहोरि बहोरी ॥
पुनि सुन्दर आसन बइठावा। चरण धोय चरणामृत पावा ॥
विधिवत् करिपूजा गुरु साधू। धन्य धन्य नाश्यो उर व्याधू ॥
बहुत जन्म कर सुकृति सु जागी। सद्‌गुरु दर्श मिल्यो बड़ भागी ॥
मानुष तन कर फल मैं पावा। मानो सब दुख दूरि परावा ॥
तुम बिन सकल जगत अँधियारा। सूझै पंथ न वारा पारा ॥
ज्ञान भक्ति दुइ दृग तुम जाये। तेहि बिन जगत् अन्ध भटकाये ॥
जाति पाँति विद्या सुख नाना। धर्म भक्ति बिन दुःख निदाना ॥
ताते साधू संत जग माँहीं। प्रकट भक्ति मारग बतलाहीं ॥

दोहा— बहुत भाँति उपकार कथि, साधु देव सन्मानि।
कछुक दिवस तेहि रोकि के, सत्संगत गृह ठानि ॥ १५ ॥

सोरठा— निज इच्छा अनुसार, संत रह्यो तेहि द्वार पर।
पुनि विचरण संसार, कहन लग्यो नरसिंह से ॥ १६ ॥

स्ववश स्वतंत्र जानि कर सन्ता। नरसिंह विदा कियो पुनि अन्ता ॥
इतने में खरसिंह तब आवा। सन्त आगमन सुनि दुख पावा ॥
बोलिस वचन कठोर प्रचारी। रे नरसिंह शठ तैं अति भारी ॥
साधु निठल्लन कहँ तुम सेवहु। सब धन धाम ताहि में खोवहु ॥
भोग त्यागि निरस्वाद सु साधू। पशु समान जीवन बरबादू ॥

दोहा— तेहि के पीछे तुम पड़े, क्षत्री कुल कहलाय।
हानि करत साधू फिरत, बिना काम बहकाय ॥ १७ ॥

नरसिंह नम्र वचन तब बोल्यो । अहो भ्रात ! कैसी मति खोल्यो ॥
दशरथ राम वो पाण्डु विदेही । अज वो सगर परीक्षित जेहीं ॥
हरिश्चन्द्र मोरध्वज राजा । क्षत्री वंश माहिं उपराजा ॥
साधु नीति सब संत सुसेवी । सदाचार युत सम्पति देवी ॥
दोहा—क्या हमही संसार में, साधु सेव को कीन्ह ।
बड़े बड़े पहिले भये, सो साधू पद चीन्ह ॥ १८ ॥
खरसिंह बोल्यो क्रोध करि, रे शठ ! नाहिं लजाहिं ।
ज्ञान कथत बातें करत, बोलो रोकत नाहिं ॥ १९ ॥
आपन भाग लेहु धन माहीं । शीघ्र पृथक होवहु मोहिं पाहीं ॥
अस कहि पृथक कीन्ह तेहिकाला । आगे केर सुनहु अब हाला ॥
नरसिंह भयो स्वतंत्र सुनीता । करन लग्यो शुभ धर्म पुनीता ॥
नित्य साधु संगत महँ जावे । धर्म अचार विचार बढ़ावे ॥
कुल परिवार सहित भयो भक्ता । साधु गुरू पद के अनुरक्ता ॥
भानुचन्द्र सुत तेहि के जाये । बल विद्या बुद्धी गुण छाये ॥
संत सेव तेहि को बतलावा । साधु गुरू पहँ भक्त करावा ॥
गुण निधान नीतिज्ञ सुजाना । पूजत साधु डारि अभिमाना ॥
दोहा—भानुचन्द्र अति प्रेम युत, करत सन्त गुण गान ।
सहित कुटुम्ब हुलास बहु, नरसिंह अति सुखमान ॥ २० ॥
भानुचन्द्र शिर नाय के, बोल्यो पितु से बैन ।
धर्म कथा कछु कहहु पितु, जासे होय सुचैन ॥ २१ ॥
सोरठा—नरसिंह अति अनुराग, कहन लग्यो निज पुत्र से ।
हम सबको बड़ भाग, साधु गुरू जो मग मिले ॥ २२ ॥
साधु गुरू जो गुण मोहिं दीन्हा । सो अब तोहिं कहौं परबीना ॥
जीव सत्य अविचल अविनाशी । भूल विवश भरमत चौरासी ॥
घर धन कुटुम देह सत् मानी । हित अनहित नहिं चीन्हें प्रानी ॥

करै परस्पर घात कुदाऊँ। काटै आप हाथ निज पाऊँ॥
साधु संत आदर नहिं करहीं। क्रोध विवश ह्वै कटि पिटि मरहीं॥
पर नारी परधन अपवादू। जोति हेतु करि वाद विवादू॥
गाँजा भाँग तमाकू खावै। मदिरा बीड़ी माँस चबावै॥
पढ़ि लिखि पूर्ण बने विज्ञानी। अकरम करत फिरैं मन मानी॥

दोहा—अस नर को पशु जानि के, संगत करहु न भूल।
ये संगत संगत नहीं, ये सङ्गत तिरशूल॥ २३॥

सङ्गत करो सन्त कर नीकी। तेहि ते और लखो सब फीकी॥
भूलि नहीं पर निन्दा कीजे। पर अवगुण पर चित नहिं दीजे॥
भूलि के परुष वचन नहिं बोलो। पर के दोष कबहुँ नहिं खोलो॥
छोटे बड़े जीव जो आहीं। तिन पर दया धरो मन माहीं॥
भूलि के तिन्हें कष्ट नहिं दीजे। क्योंकर हिंसा घात करीजे॥
पर धन पत्थर धूरि समाना। ऐसो जानि लोभ नहिं आना॥
गाँजा बीड़ी भाँग धतूरा। मदिरा माँस तमाकू चूरा॥
नाच सिनेमा हँसी ठिठोली। जूवा वेश्यागमन सु होली॥
दिल से त्यागि देव इक दम से। कबहूँ ध्यान करो नहिं मन से॥
भूलिके नहिं तन ठाट बनाओ। भूलि न पर भामिनि मन लाओ॥
जड़वादी को सङ्ग न कीजे। पामर से अति दूर रहीजे॥
पढ़ि के विज्ञ विदेशी विद्या। जो यथार्थ में आहि अविद्या॥
भोग मात्र जेहि में हैं ज्ञाना। कोल श्वान जेहि परम सयाना॥
तेहि कर मद धारण करि नीके। खण्डत धर्म ज्ञान निर्भीके॥
शोक! शोक! हा शोक! महारी। धर्म विटप कहँ युवक कुठारी॥
साधू देखि हँसत ठट्टाई। तनिक लाज नहिं करत कदाई॥
पढ़ि लिखि चही सभ्यता धारन। उलटि असभ्य बनत जग जारन॥
मात पिता गुरु धर्म को ठेली। शौक सिंगार भोग भक भेली॥
ऋषि सन्तान सनातन धर्मी। तेहि के सुवन अहो! अघकर्मी॥

दोहा—आज काल के नवयुवक, पठित विदेशी ज्ञान।
परमारथ से शून्य ह्वै, भोगहिं गनत महान॥ २४॥

ऐसो मलिन विचार गहि, अथवा करि दुःसङ्ग ।
मात पिता गुरु धर्म की, करिय न आज्ञा भंग ॥ २५ ॥
धर्म नीति मानुष रहनि, साधु सङ्ग उपकार ।
सदा हृदय में धारि के, सारासार विचार ॥ २६ ॥
जड़ चेतन को भेद जो, सकल कह्यो समुझाय ।
जीव अनेक सो सत्य हैं, माया तन बिलगाय ॥ २७ ॥

धर्म भक्ति नित करत उछाहू । साधु गुरू पद प्रेम प्रवाहू ॥
भानुचन्द्र नरसिंह परतापा । बढ़यो राजधानी तक व्यापा ॥
करहिं प्रशंसा नर औ नारी । जहँ तहँ लोग कहैं परचारी ॥
नरसिंह भक्ति माँहिं परधाना । भानुचन्द्र तेहिं सुवन सुजाना ॥
नीति निपुण धर्मज्ञ सुहावन । भानुचन्द्र गुणखानि सुपावन ॥

दोहा—जौन भूप वहि देश कर, सुत से रह्यो विहीन ।
अंत समय वृद्धापना, आयो आयू छीन ॥ २८ ॥

मन्त्री से बोल्यो तब राजा । सुनहु सचिव वो सकल समाजा ॥
अब दूसर राजा बैठारो । अंत समय अब भयो हमारो ॥
बोलि उठ्यो तब सकल समाजा । विन्ती एक सुनो महराजा ॥
नरसिंह क्षत्री के यक बारा । सुन्दर ज्ञान निधान कुमारा ॥
नीति धरम गुण तेज निधाना । साधु सेव सज्जन सन्माना
सत्य अहिंसक वीर सुशीला । कहँ लगि कहौं सकल गुण शीला ॥
भूप बनावन के अधिकारा । भानुचन्द्र गुण धाम कुमारा ॥
मंत्री कह्यो सुनो महराजू । भक्तिमान् नर में नर राजू ॥
जिनके हृदय साधु गुण आवा । ताहि समान न और प्रभावा ॥
भक्ति करत जो सहित उछाहू । सुनहु भूप सोई नर नाहू ॥

दोहा—यहि ते वेगि बुलाय के, देहु भानु को राज ।
भक्ति पंथ तुमहू लगो, हे भूपति महराज ॥ २९ ॥
ऐसो वचन सुन्यो जब, भूपति भानु बुलाय ।
राज तिलक ताको कियो, नृपति राज हर्षाय ॥ ३० ॥
राज सुता पुनि आपनो, दियो भानु को व्याह ।
सत्संगत सब भक्ति गहि, चलत धर्म की राह ॥ ३१ ॥

भानुचन्द्र टीका जब पाये। नीति सहित तब राज सुहाये॥
सासु ससुर सत्सङ्ग दृढ़ावा। सद्गुरु पहँ शिक्षित करवावा॥
प्रेम भक्ति सत् धर्म सु काजू। भयो दक्ष पूरब महराजू॥
तजि चिन्तवन जगत दुख दायी। चरचत परमारथ सुखदायी॥
भानुचन्द्र के भक्ति प्रतापा। भूपति केर मिट्यो संतापा॥
भानुचन्द्र नीतिज्ञ सुजाना। परिजन अभ्यागत सन्माना॥
मातु पिता सेवे सब भांती। धर्म भक्ति बाढ़यो कुशलाती॥
क्रम क्रम विषय वासना त्यागी। भानुचन्द्र परमारथ पागी॥
नित्य साधु सेवे सन्माने। सबसे बड़ा साधु गुरु जाने॥
राजद्वार संत गृह भयऊ। धर्म भक्ति बाढ़यो नित नयऊ॥

दोहा—यह महिमा गुरु भक्ति कर, साधु सेव कर जान।
राई से राजा कियो, धन्य साधु सन्मान॥ ३२॥

यह तो फल अति तुच्छ है, राज भोग दुख जान।
साधु सेव से परम् पद, लहि जिव होय निहाल॥ ३३॥

अब आगे कर सुनहु हवाला। खरसिंह खर वत् फिरै बेहाला॥
चोरी जारी झूठ लबारा। बिना प्रयोजन जीवन मारा॥
दूसर केर बड़ाई सुनहीं। लेइ उश्वास अबहिं जनु मरहीं॥
दुखी देखि बहुतै हर्षावे। अहंकार करि गाल बजावे॥
चलै कुपंथ सुपंथ न चलहीं। साधु भक्त देखत पुनि जलहीं॥
साधु गुरू को गाली देवे। पाप भरी नौका वह खेवे॥

दोहा—कहँ लगि कहौं अनेक विधि, सब अपराध कमाय।
जलत जलावत रहत वह, खरसिंह भार लदाय॥ ३४॥

खरसिंह के इक रह्यो कुमारा। अवगुण सिन्धु अनेक प्रकारा॥
जस सदगुण खरसिंह महँ सूना। तेहि के सुत मैं तेहि से दूना॥
"संगत भली भली बुधि होई। ओछी संगत मूलहु खोई॥ पं०"
इक जारिन तेहि के पुर वासी। नित्य नवीन पुरुष अभिलाषी॥
निरखै पुरुष एक से एका। तृप्त न होय कबहुँ यहि लेखा॥
सकल काष्ट से अग्नि न तोषू। सर्व नदी न सिन्धु सन्तोषु॥
प्राणिन से नहिं काल अघावे। जगत् माँहिं सो विदित रहावे॥

तैसे सर्व पुरुष से जारिन। तृप्त न होय कबहुँ व्यभिचारिन ॥
तेहि जारिन से खरसिंह फँसेउ। नित नित ताहि प्रेम में लसेउ ॥

दोहा—खरसिंह को सुत जो रह्यो, तेहि जारिन के सङ्ग।
पहिले से स्नेह करि, काम राग में तंग ॥ ३५ ॥

खरसिंह जारिन लखि स्नेहू। सुत के हृदय भयो अति कोहू ॥
खरसिंह को मारन हित भाई। करन लग्यो विचार मन लाई ॥
एक समय जारिन के सङ्गा। खरसिंह काम विवश मति भंगा ॥
प्रेम भाव में रह्यो भुलाना। खर सुत आय निकारि कृपाना ॥
हत्यो प्राण खरसिंह कर तुरतै। जारिन कांहि सँहारचो जुरतै ॥
भयो कोलाहल नगर मझारा। खरसुत खरसिंह जारिन मारा ॥
राजनीति खर सुत पर लागा। प्राण दण्ड पायो बेलागा ॥

दोहा—यह महिमा अज्ञान की, साधु सेव प्रतिकूल।
आयू भर दुख में जरैं, अन्त विविध विधि शूल ॥ ३६ ॥

यद्यपि ऐसे सब नहीं, तदपि दुखन कर पात्र।
जो सत्सङ्गत त्यागि के, गहैं भोग ही मात्र ॥ ३७ ॥

परम् विशुद्ध रूप गुरु साधू। तेहि तजि और सकल अपराधू ॥
सत्सङ्गत महिमा नहिं जाने। ते उलूक सम जग प्रगटाने ॥
दिनको राति राति दिन देखहिं। यह अज्ञान अपार विशेषहिं ॥
तन धन जन भोगन सत् माने। परमारथ बे काज पिछाने ॥

सोरठा—ताते साधु समान, और प्रिये नहिं जानिए।
अन्ध को नैन प्रदान, तिमिर माहिं रवि साधु गुरु ॥ ३८ ॥

सुखी भयो बहु भाँति, गुरु उत्तर से शिष्य तब।
लह्यों आज कुशलाति, धन्य धन्य मैं धन्य भों ॥ ३९ ॥

पुनः शिष्य कर जोरि, पाँव परचो गुरु देव के।
स्तुति कियो बहोरि, जय पारख परकाश गुरु ॥ ४० ॥

वन्दना—पद

जय सन्त सद्गुरु वर अज्ञान तम हटाये,
सद्ज्ञान दान देकर परमार्थ पथ सुझाये ।। टेक ।।

गुरु सन्त से विमुख हो बहुतेक प्राणी जग के,
तिन वंचकों के भ्रम से गुरु धन्य सो छुड़ाये ।।१।।

गुरु सन्त ही जगत् में तारण तरण उजागर,
गुरु साधु भक्ति के बिन पशु वत् जनम बिताये ।।२।।

अज्ञान राग छेदन भक्ती प्रकाश मारग,
निजरूप बोध देकर विक्षेप सब दुराये ।।३।।

इस दास के हृदय की शंका सकल मिटा कर,
गूरु देव धन्य बोधक पद कमल में लगाये ।।४।।

शब्द—२

धाय चलो मनुवाँ गुरु दरबार ।। टेक ।।

नर तन पाय मोक्ष को धामा, भक्ति भाव उर धार
गुरु दरबार परम सुखदाई, मिलै मोक्ष पद सार १
चार खानि चौरासी भरम्यो, धरि धरि देह असार
भाग्य जागि गुरु संत मिले जब, मिटा भरम अँधियार २
स्वयं प्रकाश प्रकाशक चेतन, आपुहिं खुद निरधार
तहाँ ठहरि जो रहत निरन्तर, जन्म मरण दुख छार ३
जीवहिं सत्य स्वरूप जो निष्छक, साधु गुरू आधार
सूरत स्वतः सुरति थिर करिके, पार होत भवधार ४

टीकाः— जिज्ञासु अपने मन को समझाता है—हे मन ! विवेकी साधु-गुरु के सत्संग रूपी दरबार में सप्रेम दौड़ चलो ।। टेक ।। मुक्ति-सदन मनुष्य-शरीर को प्राप्त कर स्वप्न मय संसार के मिथ्या मोह खटपट

को छोड़ो और अपने उद्धार निमित्ति साधु-गुरु की भक्ति भावना हृदय अन्तर्गत धारण करो। सत्सङ्ग रूपी गुरु दरबार अत्यन्त श्रेष्ठ शान्ति-सुख देने वाला है, जरा-व्याधि, दुःख-द्वन्द्व-रहित सत्य सार अविनाशी अचल मुक्ति पद तुम्हें वहीं मिलेगा ॥ १ ॥ हे मन! सद्गुरु - सत्सङ्ग से विमुख होकर तूने आज तक दुःख ही तो उठाया, जड़ तत्त्वों के असार और दुःखपूर्ण शरीर धारण कर-कर अनादि काल से चार खानि चौरासी चक्र में भ्रमता ही तो रहा। हाँ! अनेक जन्मों के शुभ संचित आज जागृत हुए जब कि विवेकी साधु-गुरु मिले और सत्सङ्ग स्वरूपज्ञान रूपी प्रकाश दिये, जिससे स्त्री-पुत्र-देह यावत् जड़ सृष्टि की ममता-मोह रूपी भ्रम अँधियारी भी नाश हो गयी ॥ २ ॥ अपना आप शुद्ध पारख स्वरूप स्वयं प्रकाशी स्वतंत्र है, जड़ देह-इन्द्रिय-अन्तःकरणादि को प्रकाश करने वाला चैतन्य है, अपने आप स्वतः है, निराधार निःसङ्ग है। जगत् पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण सुख-मानन्दियों को पूर्ण ध्वंस कर, उस एकरस स्वतन्त्र स्वतः अविनाशी स्वरूप में विवेक पूर्वक जो एकरस अपनी चित्तवृत्ति को दृढ़ कर स्थित हो जाते हैं, उनका जन्मना-मरना रूपी दारुण दुःख सदा के लिये निवृत्त हो जाता है, हे मन! वही कर्तव्य करो ॥ ३ ॥ वैराग्यशील साधु - गुरु के सत्संग का आश्रय लेकर जो निश्चय स्वतः चैतन्य स्वरूप के ही प्रेमी हो गये हैं यानी जिनकी नाशवान् देह-गेहादि के प्रति उपरामता होकर अविनाशी स्थिति में ही लगन लग गयी है, वे ही प्रारब्ध पर्यन्त अपने आप चैतन्य स्वरूप में चित्त स्थिर कर अज्ञान ध्वंस पूर्वक देह पात पश्चात् संसार से मुक्त होकर विदेह हो जाते हैं। हे मन! वही परम पुरुषार्थ पालन करो ॥ ४ ॥

शब्द – ३

करो मन लगन भजन सुखदाई ॥ टेक ॥
जन्म अनन्त देह धरि धरि के, कर्म किये दुखदाई
अब तो नर तन छुटन हेतु ये, फाटक मुक्ति देखाई १
मोर तोर कछुवो नहिं यहवाँ, यह तो माया भाई
करि सतसंग गुरू मग लागो, मन रुज दोष नशाई २

शक्ति सहित श्रेणी लखि अपनो, मानामान हटाई
भक्ति भाव वैराग्य ज्ञान लहि, शांत स्वतः पद पाई ३
द्रष्टा दृश्य से पृथक सदा है, यह अभ्यास बनाई
सौदा हाट बाट सँग साथी, अंत कोई नहिं जाई ४
श्रवण मनन निदिध्यासन करिके, सार शब्द लौ लाई
गुरु विवेक से वचो हमेशा, शोध बोध अपनाई ५
स्वस्वरूप साचात निरन्तर, दृढ़ निश्चय उर लाई
खानि बानि की छोड़ि कल्पना, अविचल सत्य सदाई ६

टीका—हे मन। सुखदायी स्वरूप-चिन्तन रूपी भजन में प्रेम करो ॥टेक॥ अगणित जन्मों से शरीर धारण कर-कर के तू अज्ञान जन्य दुःखदायी कर्तव्य ही करता रहा। किन्तु अब तो संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिये ये मुक्तिद्वार रूपी मनुष्य शरीर दिखलाई देता है ॥ १ ॥ इस स्वप्न संसार में न कुछ मेरा है न कुछ तेरा है; हे भाई! यह सभी दृश्य प्रपंच मायामय असार है। "ना कछु मेरा ना कछु तेरा, चिड़िया रैन बसेरा रे॥" अतः विवेकी सन्तों का सत्संग करके गुरुमार्ग पकड़ो और काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मानसिक रोग-दोष-दुर्गुणों को साधन बल से नाश कर डालो ॥२॥ अपनी शक्ति और श्रेणी का विचार कर मान अपमान की वृत्ति हटाते हुए सत्य-स्थित साधु-गुरु की भक्ति-निष्ठा-द्वारा अन्तःकरण पवित्र पूर्वक प्रबल ज्ञान-वैराग्य धारण कर, अपने अविनाशी शान्ति पद को प्राप्त करो ॥ ३ ॥ पंच ज्ञान इन्द्रिय-गोचर समग्र पिण्ड-ब्रह्माण्ड, पंच विषय, शरीरादि और अन्तःकरण-गोचर समग्र मानसिक संकल्प, इन असार दृश्य प्रपंचों वे अपना अविनाशी द्रष्टा स्वरूप सर्वदा भिन्न निःसंग, अचल, दुःख-द्वान्द्वों से परे औरखरे है। इस अभ्यास को तैल धारा वत् प्रबल बना लो। और इस संसार रूपी बाजार तथा पंथ में मिले हुए संगी-साथियों में ममता-मोह ईर्ष्या-द्वेष न करो मात्र अपना अविनाशी सौदा, अविनाशी स्थिति बना लो, अंत में तुम्हारे साथ कोई जाने वाला नहीं

है ॥४॥ श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके साधु-गुरु के शिक्षा मय वचनों में प्रेम लगाओ—सद्गुण सधारण करो और अपने अविनाशी स्वरूप के शोध बोध को ग्रहण कर तथा गुरु-पारख को बल विवेक-दृष्टि धारण कर सर्वदा तन, मन, प्राणी, पदार्थ, देश, समाज के उथल-पुथल रूपी प्रपंचमय भवसागर से बचते रहो ॥ ५ ॥ अपने आप अविनाशी शुद्ध स्वरूप का एक-रस साक्षात्कार एवं अचल स्थिति की दृढ़ निश्चयता अपने हृदय-अन्तर्गत धारण कर खानी-वाणी कृत आशा-तृष्णा सुख-दुःखादि सम्पूर्ण कल्पना-भावना त्याग कर हे मन ! सर्वदा के लिए अचल नित्य सत्य स्वरूप में शान्त होओ ॥ ६ ॥

कवित्त—

थिर राखि उर निज हानि लाभ डारि कर,
　　शांत निज रूप माँहि पारख बिहार जू।
मिलन बिछोह जहाँ राग द्वेष लेश नाहिं,
　　मोर तोर शोर सब भरम असार जू॥
चार तत्त्व जड़ दृश्य पिण्ड ब्रह्माण्ड जग,
　　चेतन अखण्ड भिन्न तन मन पार जू॥
ऐसो गुरु बोध गुण गहि के सुजन सोइ,
　　मेटि भव दुःख सब मुक्ति निरधार जू॥१

टीका—विवेकी पुरुष अपने आप को सम्बोधन करके कहते हैं—बाह्य भ्रामक एवं काल्पनिक मिथ्या हानि-लाभ को पृथक् डाल कर अपने मन को स्थिर रखो, और स्वतः अविनाशी स्वरूप में शान्त होकर निःसंग-स्वच्छन्द पारखपद में रमण करो। जिस अविनाशी स्वरूप में मिलन-वियोग, राग-द्वेष किञ्चित् मात्र नहीं हैं, भूले नर जीव मिथ्या माया स्त्री-पुत्र, गृह-देहादि को अपना-पराया मान कर जो द्वन्द्व मचा रहे हैं यह सब निःसार और भ्रम है। चार तत्त्व मय पिण्ड-ब्रह्माण्ड अचेत और अपने से अत्यन्त दूर हैं और अपना शुद्ध स्वरूप नित्य जागृत चैतन्य अखण्ड सर्व

से पृथक् तन-मन विकारों से परे है। इस प्रकार गुरुबोध और स्थिति रहस्य सर्व हंस गुण रहनी को जो धारण करता है, वही सज्जन-संत सराहनीय है और वही जन्म-मरण मूलक सर्व मानसिक भव दुःखों को ध्वंस कर दृढ़ स्थिति दशा पूर्वक प्रारब्धान्त में निराधार विदेह मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

शिक्षा—जन्म-मरण, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था, मिलन-वियोग, शोक, मोह, राग-द्वेष, आधि-व्याधि-उपाधि अनेक दुःख द्वन्द्वों से अपने को घिरा जान कर एवं लोक-परलोक की निःसारता विचार कर हे मनुष्य। मुक्ति का पुरुषार्थ कर।

गृहस्थी में कर्तव्य पालन

दृष्टांत—एक संत से एक सद्गृहस्थ ने प्रश्न किया—गृहस्थी में रहकर अपना कल्याण कैसे करे? महात्मा—चोरी, घूसखोरी, हिंसा, व्यभिचार, परपीड़न, झूठ, पर-निन्दा, कपट, छल, बेईमानी, जबर्दस्ती, नशा, नाच आदि दुर्गुणों का त्याग करे। चौसर, ताश, जूवा न खेले। निरर्थक शहर-बाजार न घूमे। अनावश्यक गप्प-सड़ाका प्रपंच पंचायत करके, घर-घर घूम कर या आलस्य में समय न खोवे। चोर, बदमाश, जुवक्कड़, पियक्कड़, व्यभिचारी, नशेबाज, पर निन्दकी, नच-देखवा, धर्म-हीन, धन, विद्या, शरीरादि का प्रमादी, नास्तिक, जड़वादी का संग न करे। कुटुम्बी, पड़ोसी, ग्रामवासी, समाज को पीड़ा देने वाला विरोधी न बने। किसी का अनभल न सोचे।

बड़ों में श्रद्धा और अदब, बराबरी में समता, छोटों में दया रखे। परिवार, पड़ोस, ग्राम, देशवालों में यानी सर्व मनुष्य मात्र में समता-सुमति रखे। सबका हित चिन्तन करे। खेती, नौकरी, दूकानदारी जो कुछ शरीर निर्वाहिक काम करता हो, उसमें आलस्य न करे। परिश्रम पूर्वक अपने सत्य की कमाई से अपना और कुटुम्ब, नौकरों का पोषण करे। सादगी से रहे, कम खर्चीला बने, परन्तु धर्म-परोपकार करने में उदार रहे। दीन-दुखियों और रोगियों की सेवा करे। माता-पिता बड़े-

बूढ़ों की सेवा करे, स्त्री होवे तो सास-ससुर, पति, परिवार की सेवा करे। यदि माता-पिता, सास-ससुर अज्ञानी होवें, धर्म-भक्ति करने से रोकें एवं दुष्ट स्वभाव के हों, तो भी पुत्र का या स्त्री आदि का धर्म है कि गृहस्थी में रहकर माता-पिता, सास-ससुर और पति की सेवा यथायोग्य हर प्रकार से करें। हाँ ! उनके रोकने से धर्म-भक्ति करने से न रुके। भक्त प्रह-लाद माता-पिता की सेवा करते थे। परन्तु पिता (हिरण्यकश्यपु) के अधर्म-सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते थे और न हिरण्यकश्यपु के रोकने से धर्म-भक्ति का त्याग ही करते थे। इसलिये सब का भ्रम त्याग कर पूर्ण निर्भयता पूर्वक भक्ति-धर्म धारण करे। सतसंग, सद्ग्रन्थ-अध्ययन, संत-सेवा, गुरु-आज्ञा-पालन, सद्ग्रन्थ-सत्योपदेश और विवेकी संत-गुरु में विश्वास पूर्वक प्रेम करे। अपने कमाये हुए धन से सन्त-सेवा, अतिथि-सत्कार, गरीब-दुखियों की सहायता अहिंसकी यज्ञ-भण्डारा, दान-धर्म करे। तुम्हारा धन केवल तुम्हारे ही भोगने के लिये नहीं है। धन की सफलता धर्म करने में है। कहा है—

साखी—जो जल बाढ़ै नाँव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥
कबीर माया जात है, सुनो शब्द निज मोर।
सुखियों के घर साधु जन, सूमों के घर चोर ॥ क० सा० ॥

यदि विशेष धन न हो तो भी अपने निर्वाह में से कुछ काट-कपट कर धर्म करे, क्योंकि परलोक में वही साथी होगा, और परिवार को तथा अपने को भिन्न-भिन्न दिशा का पंथी समझ कर मोह का त्याग करे। अपने सत्य स्वरूप का चिन्तन करते हुए भक्ति पूर्वक कल्याण करे। ऐसे उपदेश सुनकर सद्गृहस्थ अपने सुधार में लग गया।

शब्द—४

जपो नर अपना रूप निराला ॥ टेक ॥

सबसे पृथक अखण्ड अक्रिये, चेतन अनुपम आला
स्वतः स्वतंत्र जीव अविनाशी, इच्छा गत सब काला १

चित मन बुद्धि वचन नहि हंता, जहाँ नहीं जग जाला
भास अध्यास अनुमान न दूजा, कल्पित सबहीं चाला २
जल पृथ्वी नहिं आगि हवा जहँ, चेतन स्वच्छ रहाला
निराधार वह जड़ की संगत, भूलि रहा बेहाला ३
भाग्य उदय गुरु ज्ञान मिला अब, सद् विवेक की माला
मिटी भरम अँधियारी सबहीं, पारख पाय उजाला ४
जैसे अमृत जीव एकरस, तैसे रहस्य जो पाला
जीतै मुक्त होय वह निज में, आवागमन नशाला ५
साधन रहित ठहरि निज पद में, विजय मिलै तत्काला
साहेब कबीर सोइ रूप पारखी, लहि सत्संग बहाला ६

टीका :—ऐ मनुष्य ! प्रकृति से विलक्षण अपने चेतन स्वरूप का स्मरण करो ॥ टेक ॥ वह सर्व भासवान दृश्य से पृथक, अखण्ड, निष्क्रिय, चेतन उपमा- रहित, श्रेष्ठ, अजन्मा, स्वतंत्र, चिरंजीव, अविनाशी तथा सब समय इच्छाओं से रहित है ॥ १ ॥ उसमें चित, मन, बुद्धि, वाणी, अहंता-ममता तथा नाना जगज्जंजाल नहीं है । भास, अध्यास तथा देवी-देवादि के अनुमान ये सभी मन की कल्पित क्रियायें हैं ॥ २ ॥ पृथ्वी आदि जड़ तत्वों से रहित चेतन स्वच्छ है । वह निराधार है; किन्तु जड़ाध्यास-वश अपने को भूलकर दुखी हैं ॥ ३ ॥ अनेक जन्मों के शुभ संस्कार उदय हुए और सद्गुरु का स्वरूपज्ञान तथा स्वरूप-स्मरण रूपी सद्विवेक की माला प्राप्त हुई । पारखज्ञान रूपी प्रकाश पाकर सारी भ्रम अँधियारी मिट गयी ॥ ४ ॥ जैसे यह जीव अविनाशी तथा एकरस है, यदि उसी प्रकार रहनी से रहे तो वह शरीर रहते ही सर्व जड़-वासनाओं से मुक्त हो जाय; और शरीर पात-पश्चात् गमनागमन समाप्त हो जाय ॥ ५ ॥ विवेकादि साधन संयुक्त अपने स्वरूप में स्थित होओ, फिर शीघ्र ही मन-इन्द्रियों पर विजय मिल जायगी । विवेक सम्पन्न पारखी संत ही कबीर रूप हैं, उनका सत्संग पाकर जीव कृतार्थ हो जायगा ॥ ६ ॥

व्याख्या:—मनुष्य का वास्तविक स्वरूप चेतन है। वह ऊपरी खोल शरीर नहीं है, किन्तु शरीर का प्रेरक है। यदि वह अपने पूर्णकाम, नित्य स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो जाय, तो वह कृतार्थ हो जाय। उसका अपना स्वरूप कैसा है :—

सवैया

न काम न क्रोध न लोभ न मोह, न राग न द्वेष न चाह कि धारा।
न आशा न तृष न हर्ष न शोक, न आपन न गैर कि आहि सम्हारा॥
तत्त्व बिजाति सो देह विनश्वर, चेतन द्रष्टा सो साक्षी निनारा।
भाव यही नित चाव सही, निज स्थित रूप रहे निरधारा॥१

शब्द—५

जपो नित सार शब्द गुरु बानी॥

सार शब्द से काज जीव को, और सकल भ्रम बानी ॥टेक
सार शब्द से निर्णय सबबिधि, पालन धर्म निशानी
बिना धर्म के ज्ञान न कोई, कहै सन्त सब ज्ञानी १
दया क्षमा सत धीर धरम कहि, शम दम संयम जानी
शील विचार धरम गहि वीरहिं, विरति विवेक अमानी २
भक्ति भाव सद् रहस्य जहाँ तक, सद्गुण सुखकी खानी
अभय अशंक धीरता लहिके, दुर्मति कुसंग नशानी ३
परधन पत्थर मिट्टी जानो, पर त्रियमातु समानी
सब तन धारी आप समानहिं, व्रत अहिंसा मानी ४
याते सार शब्द को धारो, जो चाहो कल्यानी
पारख स्थिर रूप निरन्तर, बनो ताहि दृढ़ ध्यानी ५

टीका:—सार शब्द, गुरुमुख वाणी का सदैव निर्णय तथा मनन-चिन्तन करो सार-शब्द गुरु-मुख वचनों से ही जीव का कल्याण होने वाला है,

अन्य जीव मुख, माया मुख तथा ब्रह्ममुख की वाणियां तो भ्रमपूर्ण हैं ।।टेक।। सार शब्द से ही सार-असार का निर्णय होता है और लक्षण सहित धर्म का पालन होता है। सभी ज्ञानी सन्त कहते हैं कि बिना धर्म का पालन किये ज्ञान नहीं होता ।। १ ।। दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, शम, दम, संयम, शील विचार, वीरता, विवेक, वैराग्य तथा निर्मानता—ये सब धर्म के लक्षण हैं ।।२।। भक्ति, प्रेम, सदाचार, तथा जहाँ तक सुखमूल सद्गुण हैं और निर्भयता, संशयहीनता, धीरता कुबुद्धि-कुसङ्ग से दूरत्व—ये सब धर्मांग हैं ।।३।। दूसरे का धन मिट्टी, दूसरे की स्त्री माता तथा सभी प्राणियों को अपने समान जानो, इस सर्वमाननीय अहिंसाव्रत का पालन करो, यह सब धर्म के अंग हैं ।। ४ ।। अतएव यदि कल्याण चाहते हो तो निर्णय शब्दों को अपनाओ। अपना ज्ञान स्वरूप नित्य शान्त है, उसी में दृढ़ स्थित करो ।।५।।

व्याख्याः— निर्णय वाणी को सार शब्द कहते हैं। सार शब्द निर्णय को नामा। जाते होय जीव को कामा ।। पंचग्रंथी ।। निर्णय वाणियों के आदर से यथार्थ धर्म की पहचान हो सकती है। जीवन में धर्म का बड़ा महत्त्व है। धर्म से ही लोक-परलोक में जीव सुखी रह सकता है। धर्म से ही जीव का कल्याण सम्भव है।

अबका और तबका

दृष्टान्तः--अकबर बादशाह अपने दरबारियों को एक रुपया दिया और कहा--इसमें से चार-चार आने के तीन सौदा खरीद लाओ और चार आने पैसे फिरा लाओ। सौदा का नाम है—चार आने का 'अब' चार आने का 'तब' चार आने का 'अब न तब'। सब दरबादी क्रमशः बाजार भर खोज डाले, सौदा नहीं पाये। पीछे बीरबल गया और सौदा ले आया। बादशाह ने कहा—तीनों सौदे कहाँ हैं ? लाइये ! बीरबल ने एक पाव मिठाई देते हुए कहा—यह तो चार आने का 'अब' है। अर्थात् इसको अभी खाकर तृप्त हो सकते हो और चार आने पैसे एक संत के चरण में चढ़ा आये हैं, वह 'तब' है। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् परलोक में वह आपको मिलेगा और चार आने एक वेश्या को दे आये

हैं, वह 'अब न तब' है। अर्थात् उससे न तो इसी लोक में आपको लाभ है न परलोक ही में। और चार आने पैसे फिरा लाये हैं। बीरबल की बुद्धिमानी पर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ।

शिक्षा—यह बात बिलकुल सत्य है कि जीव के साथ अन्त में कुछ नहीं जाता है, केवल जो उसने धर्म-भक्ति-परोपकार कर लिया है, वही उसका साथी है, धर्म ही मोक्ष की कुञ्जी है। अतएव धर्म करो।

शब्द—६

परख बिन गुरुपद नाहीं दृढ़ाय ॥ टेक ॥
जो जो मन में उठै स्मरण, ताही में मिलि जाय
सुख निश्चयता वहि में करिके, जीव सदा भरमाय १
कहूँ मान हित धावत निशि दिन, राग द्वेष मिलि गाय
गुरु सिद्धान्त जान नहि पावत, निजको रहा भुलाय २
देखी सुनी भोग जो भोग्यो, बरबस मनन कराय
तेहि कारण वैराग्य न भावत, हंता मान लदाय ३
सद्गुण समता भाव नहीं कुछ, निज निज ओर खिंचाय
यह विपरीत भयो जग कण्टक, निशि दिन चुभतै जाय ४

टीका:—बिना परीक्षा स्वस्वरूप की स्थिति दृढ़ नहीं होती ॥ टेक ॥ मन में जो-जो स्मरण उठते हैं, जीव उन्हीं में मिल जाता है। उन्हीं में सुख की निश्चयता करके भटकता है ॥ १ ॥ कहीं तो रात-दिन मान-बड़ाई के लिये दौड़ता है और परिणामतः राग-द्वेष में पड़ कर उसी की गाथा गाता रहता है। गुरु के निर्मल, निष्काम सिद्धान्त को नहीं जान पाता, अपने आप को भूल रहा है ॥ २ ॥ पूर्व में विषय देख, सुन तथा भोग लिये हैं, उनकी वासनायें बलात्कार उनका स्मरण करा देती हैं। इसलिये विवेक-हीन जीव को वैराग्य अच्छा नहीं लगता, अहंकार का बोझा लिये घूमता है ॥ ३ ॥ साधना-हीन स्वार्थियों में न सद्गुण रहते न परस्पर समता का

भाव रहता, बस अपनी-अपनी ओर स्वार्थ तथा मान की खींचतान रहती है। ये स्वार्थ तथा राग-द्वेष कल्याण-मार्ग के काँटे बनकर जगत में स्थित हुए हैं, और भूले लोगों को रात-दिन चुभते ही जा रहे हैं॥ ४॥

व्याख्या:— साधक के चित्त में जब परम वैराग्य उदय होता है, और वह देहादि अनित्य पदार्थों का अभाव करके अविनाशी स्वरूपज्ञान में तन्मय होता है, तब उसके लिये संसार अर्थहीन हो जाता है, और वह संसार में आकर्षित नहीं होता। जिनके चित्त में यह दृढ़ हो गया है कि प्राणी-पदार्थों तथा सम्मान कीर्तियों के सहित यह सारा विश्व एक दिन ओझल हो जायगा, यह सब कुछ हमारे लिये महाशून्य के सदृश हो जायगा, वे अपना चित्त किसमें रमायेंगे? ऐसे महापुरुष संसार में जो कुछ करते हैं वह जीवों के कल्याणार्थ ही। वे स्वयं तो पूर्णकाम हैं।

जहाँ उपर्युक्त ज्ञान की दृष्टि नहीं है, वहाँ केवल राग-द्वेष और तू-तू, मैं-मैं ही लगा रहता है। स्वार्थ और मान की कामना से ही राग-द्वेष होते हैं; और कल्याण-मार्ग में राग-द्वेष ही रोड़े हैं। जहाँ समता-सुबुद्धि नहीं है, वहाँ परस्पर किस प्रकार घृणित व्यवहार होता है, इसे निम्न उदाहरण से मनन करें।

गधा और बैल

दृष्टांत:— एक गृहस्थ के यहाँ दो विद्वान पंडित गये। गृहस्थ ने दोनों का आदर-सत्कार किया। कुछ ठहर कर एक पण्डित जी बाहर टट्टी-मैदान चले गये। आसन पर रहे हुए पण्डित से गृहस्थ ने पूछा—महाराज! जो अभी मैदान गये हैं वे पंडित जी कितने विद्वान् हैं? पण्डित जी ने कहा—उसको न पूछो, वह पूरा 'गधा' है। कुछ विलम्ब पश्चात् बाहर गये हुए पण्डित जी आये और जो आसन पर थे वे टट्टी गये। गृहस्थ ने इनसे भी पूछा—महाराज! अभी जो पंडित जी बाहर डोलडाल गये हैं वे कितने विद्वान हैं? पण्डित ने कहा—अरे

भैया ! वह तो पूरा 'बैल' है, वह विद्वान क्या है। दोनों पंडित जब स्नान-ध्यान कर लिये तब गृहस्थ ने एक पंडित जी के सामने घास और एक के सामने भूसा लाकर खाने के लिये रख दिया। पंण्डितों ने कहा—यह क्या ? गृहस्थ ने कहा—बैल-गधा को खाने के लिये घास-भूसा के अतिरिक्त चाहिये ही क्या ?

शिक्षा:—सच है, आपस की फूट अपनी तुरन्त हानि करती है, साथ ही साथ समाज-देश में वैषम्य (ईर्ष्या-डाह) का बुरा प्रभाव डाल कर सब का पतन करती है। अतएव आपस की फूट ईर्ष्या-डाह त्याग कर समता धारण कर, पर के हितचिन्तक और कर्तव्य में रत रहना चाहिये।

शब्द—७

लखो अब बन्ध मोक्ष को हाला ॥ टेक ॥

सुक्ख चाहना सबहिं सतावत, तृप्त न होय बेहाला
इन्द्रिय भोग परिश्रम भारी, मिलन-बिछोह दुखाला १
भोग साज जो वस्तु अनेकन, पंच विषय के जाला
सुख ग्राही सब खैंचत सोऊ, दुख विकराल देखाला २
स्ववश रहित परवशता तामें, मन प्रतिकूल कराला
मोहविवशतबहुँनहिंचेतत, आपहिंआपअपनिबनिकाला ३
शब्द सुनन श्रवण से चाहत, रसना रसहिं मिठाला
नेत्र से रंग रूप में रीझत, त्वचा से परश निहाला ४
नाक द्वार से गन्ध अनेकन, सूँघि सूँघि मतवाला
सुखहिं दुःख यह काल भयो अब, त्याग करो तत्काला ५

यहै नचावत जीव जगत में, इन बिन मोक्ष निराला
सुख दुःख रहित स्वरूप अपाना, तहाँ न इन्द्रिन चाला ६
सुख इच्छा तजि सुखी निरन्तर, होवत मोक्ष बहाला
शांत स्वरूप विराजत नितही, आवागमन नशाला ७

टीका:— अब बन्धन और मुक्ति के रहस्य को समझो ॥ टेक ॥ विषय-सुख की इच्छायें सब जीवों को सताती हैं, यद्यपि विषयों को भोग कर जीव की तृप्ति नहीं होती, अपितु वह कष्टित ही होता है। इन्द्रिय-भोगों के पीछे बहुत बड़ा परिश्रम है, विषयों के मिलने-बिछुड़ने में दुःख होता ही है ॥१॥ भोग-सामग्री की जो अनेक वस्तुयें हैं, वे पंच विषयों के जाल हैं। उसे भी सब सुखार्थी जीव अपनी-अपनी ओर खींचते हैं; इस प्रकार भोग-मार्ग में भयंकर दुख दिखलाई पड़ता है ॥२॥ विषय-भोग मनुष्य के सर्वथा स्ववश नहीं है, अपितु परवशता के ही हेतु हैं; भोगों में मन को कठिन प्रतिकूलता लगी रहती है। तिस पर भी मनुष्य मोह के वश होकर सावधान नहीं होता; अपने आप अपना काल बन रहा है ॥३॥ श्रोत से शब्द, जिह्वा से रस, नेत्र से रूप, त्वचा से स्पर्श तथा नाक से गन्ध में मतवाला बनकर जीव अपने आपको भूल गया। यह विषय-सुख ही दुःख तथा काल रूप बन गया, अतएव ऐ कल्याणार्थी! इसका शीघ्र त्याग करो ॥४-५॥ ये विकारी पाँचों विषय ही जीव को जगत में नचा रहे हैं; इनकी आसक्ति सर्वथा छोड़कर जीव असङ्ग, मुक्त हो सकता है। मनुष्य का अपना वास्तविक स्वरूप तो दुःख-सुख-प्रपंचों से रहित है, उसमें मन-इन्द्रियों की चाल नहीं है ॥६॥ जीव विषय-सुख की इच्छा को छोड़ कर सदा के लिये आत्यन्तिक सुख-शान्ति को प्राप्त कर लेता है, मुक्त हो जाता है। वह नित्य अपने शान्त स्वरूप में विराजता है, और उसका जन्मना-मरना समाप्त हो जाता है ॥७॥

व्याख्या:— मानव विवेकी प्राणी है। उसे अपने बन्ध-मोक्ष पर विचार करना चाहिये। विषयों में फँसे रहना ही बन्धन है तथा उनसे पूर्ण निवृत्त हो जाना मोक्ष है। यह काम जितना शीघ्र बन सके कर लेना चाहिये; क्योंकि जीवन क्षण-भंगुर है।

शब्द—८

जीवन को इच्छा दुखदाई ॥ टेक ॥

इन्द्रिन द्वार भोग जो भोगत, इच्छा तेहि निर्माई
भरमित ह्वै सुख मानि रूप निज, करि परतीत भुलाई १
इच्छा मिटन हेतु गुरु संगति, करो सदा मन लाई
पारख तेज पाय तम नाशे, सब अज्ञान बिलाई २
आशा वासा चाह कामना, इच्छा रूप कहाई
जीव से भिन्न अहै सब मिथ्या, जीवहिं नाम धराई ३
सूरज ओट वृक्ष तर छाया, लखो द्रव्य कछु नाई
दर्पण चित्र हाथ नहिं आवै, त्यौं अध्यास भ्रमाई ४
जड़ चेतन दो वस्तु अनादी, तीसर कलिपत गाई
भूल से अपने आय अड़े सब, आपुहिं जानि हेराई ५
काँच महल जस श्वान भूलकर, भूकत दिवस बिताई
कूपमाहि त्यौं रूप देखिकर, कूदि सिंह निज जान गवाँई ६
तैसहि दशा जीव की लखिए, स्वप्न की व्याधि दुखाई
बिन जागे सो दूरि होय नहिं, कहैं कबीर बुझाई ७

टीका:— जगत्-जीवों को विषय की इच्छायें ही दुःख देती रहती है[1] ॥ टेक ॥ पंच ज्ञान-इन्द्रियों-द्वारा कामना पूर्वक पंच विषय भोगों को जो भोगा जाता है, उसी भोगक्रिया में इच्छा का रूप निर्माण होकर बलिष्ट हो जाता है। जीव भ्रमित होकर विषय-सुख को ही अपना स्वरूप समझ

१— सुन्दर नवयुवती, उत्तम आज्ञाकारी पुत्र, अतुल सम्पत्ति, सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि, सारे जगत् पर पूर्ण अधिकार, सब से मान-बड़ाई प्राप्ति की सब कोई इच्छा करते हैं और पूर्णरूपेण मन-अनुसार किसी को नहीं मिलते। इसलिए विषय-इच्छा केवल दुःख ही देने वाली है।

कर, एवं विषयों में ही सुख का निश्चय कर अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है ॥१॥ अतः हे मनुष्य ! विषय-इच्छा निवृत्यर्थ मन लगाकर सप्रेम साधु-गुरु का सत्संग करो। फिर "विषय-सुख परिणाम में दुःखरूप हैं" ऐसी परीक्षा-दृष्टि के प्रबल सूर्योदय रूपी तेज को प्राप्त कर सर्व जड़ासक्ति रूपी अन्धकार अपने आप नष्ट हो जायँगे ॥२॥ किसी भोग का सूक्ष्म अध्यास मात्र अन्तःकरण में रहना 'वासा' (वासना) है, पुनः बाहरी प्राणी-पदार्थों और भीतरी मनन के संग-दोष से उस भोग को भोगने की मन में भावना उठने लगना 'चाह' (चेष्टा) है, और तन-मन में क्रिया प्रकटा कर उस भोग की प्राप्ति के लिये आतुर होने लगना 'कामना' है, तथा भोग के लिये पुरुषार्थ करके पुरुषार्थ-सिद्धि—भोग-प्राप्ति का मार्ग देखना 'आशा' है। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा अन्तर होते हुए भी 'वासा' 'चाह' 'कामना' तथा 'आशा' ये चारों इच्छा के रूप कहे जाते हैं। जीव के शुद्ध स्वरूप से ये सब पृथक्, असत्य, काल्पनिक हैं, भूल-वश जीव ही कल्पना पूर्वक इनके नाम रख-रख कर कष्टित हो रहा है ॥३॥ सूर्य सम्बन्धी वृक्ष के आड़ में एवं वृक्ष के नीचे छाया रहती है, किन्तु उससे शीतलता का बोध होते हुए भी विचार करके देखिये वह-छाया कोई वस्तु नहीं है। और दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, किन्तु चित्र प्रतीत होते हुए भी हाथ से पकड़ने में नहीं आता, तैसे ही अध्यास-वासना कोई यथार्थ वस्तु न होते हुए भी बिना पूर्ण वैराग्य एवं पारख-दृष्टि के वह जीवों को संसृति-चक्र में भ्रमाती रहती है ॥४॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये जड़ और असंख्य चैतन्य; ये दो वस्तुयें अनादि-सनातन हैं, इनको छोड़कर तीसरा नाम जो भी अध्यास, वासना, इच्छा, मन आदि कहे जाते हैं, वे केवल निरी कल्पना, मिथ्या ही ठहरते हैं। अपने शुद्ध स्वरूप की अनादि भूल से ये सब बन्धन सामने डेरा डाले हैं और अपने आप शुद्ध स्वरूप की दृढ़ पारख-दृष्टि होते ही एवं पूर्ण सद्रहस्य मुक्त स्वरूप में ठहरते ही सर्व मानन्दी, अध्यास, इच्छा तथा कामना नष्ट हो जाती हैं ॥५॥ जैसे काँच-मन्दिर में निज प्रतिबिम्ब अवलोकन कर भूल-वश कुत्ता भूकते-भूकते ही दिन बिताया, और सिंह जैसे कूप-जल में अपनी छाया देख, उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी (वैरी) समझ कर तथा उसे मारने के लिए कूप में कूद कर

अपना जीवन नष्ट कर दिया ॥६॥ विचार पूर्वक देखिये, तो उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार ही जीव की दशा है, अर्थात् अपने अचिन्त्, अमृत, शुद्ध स्वरूप को भूलकर पंच विषय, देह तथा पिण्ड-ब्रह्माण्ड में ममता टिका कर उन्हीं वासनाओं से रात-दिन लड़ता है और जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है। जैसे स्वप्न के कल्पित रोगों से जीव दुखी होता है, किन्तु बिना जागृत हुए वह कष्ट दूर नहीं होता, सद्गुरु श्री कबीर साहेब समझा कर कहते हैं कि तैसे मोह रूपी स्वप्न में कल्पित अध्यास-वासना रूपी मानसिक व्याधियाँ कष्ट देती हैं और बिना मोह स्वप्न से जागृत हुए कष्ट दूर नहीं होता ॥७॥

शिक्षाः—संसार स्वप्नवत् है; जीवन, यौवन, धन, स्वामित्व, प्रभुता एवं जगत्-वैभव के समस्त सुख क्षण-भंगुर नाशवान् हैं; जो आज परम प्रीति दर्शा रहा है कल वही अपनी मनोकामना में भंग होते देख ईर्ष्या-द्वेष करने लगता है; जिनसे आप हँस-बोल रहे हैं, अपना मान रहे हैं, क्षण ही में वे इस संसार से चल बसते हैं। अर्थात् इस संसार में कोई किसी का नहीं है, और तो क्या, जिस शरीर को क्षण-क्षण अपना मान कर अज्ञान से ममता करते हैं, वही अनेक रोग-शोक से जीवन भर जीव को कष्ट देते-देते अंत में स्वप्नवत् छूट जाता है। अतः इस स्वप्नमय संसार से चित्त हटा कर अपने अविनाशी नित्य प्राप्त स्वरूप में लगाओ और जन्मादिक दुःखों से मुक्त होओ।

अपने आप की खोज एवं स्थिति-लाभ

दृष्टांत—एक जिज्ञासु आकर एक विवेकी संत से पूछा—हे प्रभो! मैं कौन हूँ? यह जगत् क्या है? मेरा और जगत् का कैसा सम्बन्ध है? और कैसे छूट सकता है? दया कर दर्शाइये। संत बोले—तुम शुद्ध चैतन्य, स्वरूप से अविनाशी, सनातन हो। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार अनादि कारण तत्त्वों से रचित चार खानि के शरीर तथा बेलि वृक्षादि और नाना वस्तुयें परिवर्तनशील नाशवान् हैं और भूमंडल, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि ये सब अनादि पदार्थ क्रियाशील हैं; यही जगत् है। निज स्वरूप की भूल-वश तथा देहादि मायिक वस्तुओं की आसक्ति

से ही तुम्हारा और दुःखपूर्ण देहादि जगत् का सम्बन्ध है। वह मानना और स्मरण मात्र है। सद्गुरु से बोध प्राप्तकर और देहादि विजाति मायावी पदार्थों का मोह त्याग कर सद्गुण युक्त स्वरूपबोध में स्थित हो जाने से प्रारब्धांत में जन्म-मरण का बन्धन टूट कर जीव मुक्त शुद्ध रह जाता है।

जिज्ञासु—हे स्वामिन् ! आप जीव और जगत् का सम्बन्ध मानना और स्मरण मात्र बतलाते हैं, सो मैं स्पष्ट कैसे जानूँ ? संत—जैसे माने हुए प्रिय पदार्थ, सगे, सम्बन्धी एवं मित्र का स्मरण करके मन ही मन मोह में आतुर होना, या कोई कामी ही है जब तक स्त्री का स्मरण नहीं है तब तक उसकी ओर से वह निश्चित रहता है और उसका स्मरण होते ही काम-भावना के आवेश में मन-ही-मन आकुल-व्याकुल हो जाता है। प्रति क्षण जीव के सामने एक न एक स्मरण आते ही रहते हैं। जो सस्मण नहीं आते उसके प्रति जीव को कोई हानि-लाभ एवं हर्ष-शोक नहीं सताते। जो स्मरण जीव के सम्मुख आ जाते हैं उसमें हर्ष-शोक, राग-द्वेष सताने लगते हैं। माने हुए मित्र के स्मरण से मोह और शत्रु के स्मरण से क्रोध मन-ही-मन में होने लगता है। स्मरण-रहित जीव निर्द्वन्द्व शान्त रहता है, जैसे सुषुप्ति, समाधि और स्थिति-दशा में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। अतः जड़ पदार्थों की अहंता-ममता रूपी मानन्दी और संकल्प रूप स्मरण ही बंधन है। मानन्दी से स्मरण-क्रिया, स्मरण-क्रिया से मानन्दी पुष्ट होती रहती है, अतः दोनों का पूर्ण त्याग ही मोक्ष है। जिज्ञासु—मानन्दी-स्मरण का त्याग कैसे हो ? संत—विषय-इच्छा पर रोक लगाने से। जिज्ञासु—यह तो बड़ा कठिन कार्य है। संत—कोई कठिन नहीं ! प्रथम जिन भोग-इच्छाओं पर रोक लगाना है उन्हें निष्प्रयोजन तथा पूर्ण दुःखरूप निश्चय करना चाहिये। हानिकर निश्चय हो जाने पर तो जीव उसे कदापि नहीं रख सकता। देखिये, इच्छा पर सभी को रोक लगाना पड़ता है। जैसे कोई दस रुपये लेकर बाजार में गया, वहाँ लाखों रुपये के मन अनुकूल उपयोगी वस्तुयें हैं, किन्तु

रुपये दस ही होने से इच्छा पर रोक लगाना ही पड़ा। विषयोपभोग की चेष्टा हुई किन्तु भामिनी नहीं है या बीमार है या इन्द्रिय में खराबी है या समय नहीं है तो इच्छा पर रोक लगाना ही पड़ा। रह गया अज्ञानी जन परवश इच्छा पर रोक लगाते हैं और ज्ञानी स्ववशता से, उसे दुःख रूप जान कर, मोक्ष की इच्छा से। प्रथम भोग-इच्छा को दुःख रूप निश्चय करना चाहिये; क्योंकि जितनी इच्छा की जाती है उतना मिलता नहीं, मिले हुए भोगों में खिन्नता, परिवर्त्तनशीलता, राग-द्वेषादि लगे रहते हैं, पुनः भोग अभ्यासवश ही जन्म-मरण की यातना होती है। अतः अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप से जगत्-तन-मन को बहुत दूर, अनावश्यक, दुःखपूर्ण जान कर उसकी इच्छा, आसक्ति त्यागना चाहिये। देहादि भास-वृत्तियों से सर्वथा भिन्न मैं शुद्ध चैतन्य, निःसंग, निश्चल हूँ, इस प्रकार की विवेक-धारा हृदय में सदा प्रवाहित रखना चाहिये। इस प्रकार एकरस अभ्यास से विवेक-धारा स्वाभाविक हो जायगी, और साक्षी दशा का लाभ लेते हुए अन्ततः दृढ़ स्थिति दशा प्राप्त हो जायगी तब स्वाभाविक चित्त स्वरूपस्थ रहेगा, इच्छायें शान्त रहेंगी, कर्त्तव्यों की समाप्ति हो जायगी। शेष स्थिति-ही-स्थिति रहेगी।

छन्द--

निज भूल से संसार से मतलब मुझे दर्शाय है।
निज भूल को यदि त्याग दें मतलब न कुछ रह जाय है॥
आसक्ति तन मन को तजो फिर कुछ नहीं रह जायगा।
सर्वस्व बन्धन क्षीण हो पारख परख ठहरायगा॥ १॥

तन धन विभव वो मान प्रभुता नित मनोमय दृश्य चल।
सब मृत्यु के ही बीच में अरु मृत्यु भी है आज कल॥
चैतन्य तू सब से जुदा तू मृत्यु से भी पार है।
तू आप में ही थीर हो तजि मानसिक संसार है॥ २॥

सबहीं तुम्हारे से पृथक् मिलते बिछुड़ते जो रहे।
सब स्वप्न भ्रम के रूप हैं तू हर्ष-चिंता क्यों लहें?॥

निःसङ्ग अमृत पद अचल तू जीव अपने आप है।
तू थीर हो तजि गर्ज इच्छा भोग जग सन्ताप है ॥ ३ ॥

दोहा—इमि शिक्षा सुनि सन्त की, भौ जिज्ञासुहिं बोध।
सद्गुण युत निज रूप को, चिंतन करत समोद ॥ १ ॥

स्वरूप स्मरण-पद

हमारा रूप अविनाशी, जगत् द्वन्दों से न्यारा है।
अचल अविकार अमृत पद, परम निश्चित प्यारा है ॥ टेक ॥

नहीं है तत्त्व परकिरती, न दुखमय सृष्टि जड़ चंचल।
न सूरज चन्द्र जल थल है, पवन पावक न तारा है ॥ १ ॥

मिलन बिछुड़न गहन त्यागन, न तन मन के सकल भ्रन बन।
न जागृत स्वप्न सुषुपति है, न यह संसार सारा है ॥ २ ॥

मनःकलिपत सकल मन भव, जगत् तन मन सुषुप्ती वत्।
मिला भी क्या छुटा भी क्या, स्वयं नित प्राप्त प्यारा है ॥ ३ ॥

जलन संसार तन मन की, उपाधी स्वप्न की कौहट।
न इनकी गति मेरे में है, न इनमें गति हमारा है ॥ ४ ॥

सकल है शत्रु जड़ सृष्टी, चित्त तू! सब से फट जावे।
लीन अभिलाष हो निज में, जगत् भव सिन्धु सारा है ॥ ५ ॥

शब्द—६

अनारी जीव मन वश लादे जग भार ॥टेक॥

पंचविषय की ख्वाहिश निशिदिन, सहते कष्ट अपार
भोग हेतु पुनि यत्न अनेकन, करि करि अत्याचार १

सुखाध्यास पड़ि गाफिल होवैं, धर्म सजगता हार
करत क्रिया विपरित विवश ह्वै, हानिहिं लाभ विसार २

आपन शक्ति भूलि निज रूपहिं, बढ़ी परिश्रम रार
बिन सतसंग बोध बिन पाये, भरमि रहे संसार ३

दृष्टि फेरि निज जगत् विषय से, संतत दुःख विचार
तन मन से उपराम निरन्तर, लहि गुरु साधु अधार ४

टीका—यह अज्ञानी जीव भ्रम-मन के वशीभूत होकर अपने शिर पर जगत्-प्रपंच का बोझा लादता रहता है ॥ टेक ॥ जीव पंच विषय-भोगों की इच्छा रात-दिन करके दुस्तर कष्ट का अनुभव करता है । धर्म-अधर्म नीति-अनीति का न ध्यान देकर अत्याचार पूर्वक भोग-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है ॥ १ ॥ विषय-वासनाओं में पड़कर स्वरूप से विभ्रान्त हो धर्मनीति एवं कल्याणकारक सजगता-परीक्षा-दृष्टि खो देता है । इस कर्तव्य से हानि होगी या लाभ, इस बात को पृथक् डाल कर, बल्कि मन-वश विवेक-वैराग्यादि के विपरीत विषयासक्ति कृत हो कर्तव्य करने लग जाता है ॥ २ ॥ अपनी शक्तिऔर स्वरूप को भूल कर यह तन-मन कृत परिश्रम एवं राग-द्वेष मय झगड़ा विस्तृत हो गया है । सत्य न्यायी साधु-गुरु का सत्संग और शुद्ध स्वरूप बोधकी प्राप्ति बिना मन-वश जीव संसार संसृति चक्र में भ्रम रहे हैं ॥३॥ अतः सांसारिक दुःखों से निवृत्त होने के लिये विषय-वासनाओं से अपनी मानसिक दृष्टि घुमाकर स्वतः अविनाशी स्वरूप में लगाओ और स्थूल-सूक्ष्म सांसारिक विषय-प्रपंचों में सर्वदा दुःख विचारो दुःख रूप तन मन से सर्वदा उपराम होकर विवेकी साधु-गुरु का सत्सङ्ग आश्रय लो और मोक्ष प्राप्त करो ॥४

शब्द—१०

करो विवेक विषय दुख हेतु ।
धरो विराग तजो सुख जेतू ॥ टेक ॥
जेहि ते सब दुख उत्पति होवै, तन मन भज भरमेतू
भूल विवश निश्चय सुख किरिया, चेतन शुद्ध अचेतू १
जड़ प्रमाणु सब क्रियावान् हैं, चंचल होत रहेतू
तेहि संग थिर नहिं होय कबहुँ वह, जीवहिं अचल वहेतू २
परम् पुनीत स्वरूप निरन्तर, तेहि तजि विषय गहेतू
जामें चाह गर्ज नहिं कुछ भी, समता काहि कहेतू ३

काम क्रोध लोभादि न जहवाँ, अभय अचिंत रहेतू
राग द्वेष परपंच तजो सब, स्वतः स्वरूप लहेतू ४
सन्मुख वपु प्रारब्ध कर्म जो, सह विवेक निबहेतू
बोध ज्ञान के तेज रहनि से, करम के बीज दहेतू ५
गत प्रारब्ध जीव निरधारहिं, जस का तसहिं रहेतू
याहि हेतु पुरुषार्थ करो नित, मुक्ति विदेह लहेतू ६

टीका—पंच विषयों में दुःख दृष्टि निश्चय करने के लिये तुम चैतन्य देह का पृथक्-पृथक विवेक करो, और पंच विषय देहादि को विजाति दुःख रूप दृढ़ निश्चय करके उनसे दृढ़ वैराग्य धारण कर जितनी सुख मानन्दियाँ हैं, त्याग दो ॥ टेक ॥ जिस भोगासक्ति से सम्पूर्ण जन्म-मरणादि दुःखों की उत्पत्ति होती है और तन-मन भयभीत होकर सदा भ्रमित होते हैं उस भोगासक्ति भोग क्रिया में सुख मानन्दी का निश्चय केवल अपने स्वरूप की भूल से ही है, निज शुद्ध स्वरूप की भूल से ही शुद्ध चैतन्य अचेत जड़ देह हो रहा है ॥ १ ॥ उधर जड़ के परमाणु सब क्रियावान् हैं, वे सदा चंचल होते रहते हैं। इधर अचल चैतन्य भी उन्हीं चंचल तत्वों में मिलकर कभी स्थिति को नहीं पाता, अचल होते हुए भी तत्त्व, देह की वासना-वश जड़-सृष्टि में बहा करता है ॥ २ ॥ जो अपना परम पवित्र स्वरूप है, उसको भूलकर अभाग्य-वश यह जीव विषय ग्रहण करता है। जिस अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में कोई अन्य की किञ्चित् भी इच्छा, आवश्यकता नहीं है; सर्वदा संतुष्ट है, उसमें भला ! किस जड़ तत्वों एवं पदार्थ का पटतर दिया जाय ?॥ ३ ॥ हे मन ! राग-द्वेषमय सम्पूर्ण प्रपंचाग्नि को त्याग दो और जिस स्वच्छ स्वरूप में काम, क्रोध, लोभादि मानसिक जलन का अत्यन्ताभाव है, जो अभय, अचिंत, सदा स्थिर पद है, उसी स्वतः स्वरूप में स्थिर होओ, जिससे सर्व दुःखो का नाश हो ॥ ४ ॥ प्रारब्ध कर्म रूप जो सम्मुख देह-भोग है, उसे गुरु-विवेक-सहित व्यवहार में दया दृष्टि पालन कर, नैराश्यता और संतोष पूर्वक बेगारवत् निर्वाहते चलो। आगे पुनः देह धराने वाला जो कर्म बीज

रूप सुख मानन्दी रूप क्रियामाण कर्म हैं; उन्हें स्वरूप-बोध और ज्ञान के सद्रहनी रहस्य रूपी अग्नि-द्वारा जलाकर भस्म कर दो ॥ ५ ॥ फिर तो प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर जड़ शरीर अपने आप छूट जायगा, और चैतन्य अपने आप निराधार स्थिर रह जायगा। फिर कभी दुःखालय-संसार और यमपुरी—शरीर के दर्शन नहीं होंगे। हे जीव! सम्पूर्ण दुःखों से छूटने के लिये तुम रात-दिन विवेक-वैराग्यादि अभ्यास रूपी सदपुरुषार्थ करो और अबकी बार अवश्य विदेह मुक्ति ले लो, यथा—"अबकी बार जो होय चुकाव। कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव ॥ बी०" ॥ ६ ॥

प्रश्न—मनुष्य का परम लक्ष्य क्या है? उत्तर—दुःख से अत्यन्त निवृत्ति, स्वतन्त्र-अघट सुख-शांति की प्राप्ति। प्रश्न—इसके लिये परम कर्तव्य क्या है? उत्तर—मन को स्ववश करना। प्रश्न—मन स्ववश करने के लिये परम साधन क्या है? उत्तर—(१) शारीरिक-मानसिक अनेकों दुःख-पीड़ाओं को मनन, (२) भोगों में दोष-दृष्टि, (३) विशेष जन समूहों से अप्रीति, (४) विवेकी साधु-गुरु में निष्ठा, (५) एकांत वास, (६) मान-सेवा-बहुभोगों का त्याग, (७) स्वावलम्बीपना, (८) विशेष वाक्य-संयम, (९) वैराग्य-चर्चा-श्रवण एवं वैराग्य-प्रेरक ग्रन्थ-मनन, (१०) मृत्यु का लक्ष्य, (११) मनोद्रष्टा का अभ्यास, इन साधनों से मन स्ववश हो जाता है।

शब्द—११

करो मन त्याग जगत दुखकारी ॥टेक॥

पूर्व दशा अवलोकि निरन्तर, चाह परिश्रम भारी
दुर्गति सहत कष्ट को प्रतिक्षण, परवश है लाचारी १
जो कुछ भोगि देखि सुनि करके संस्कार उर धारी
पंच विषय की सुख मानन्दी, सन्मुख हरदम जारी २
शुभ औ अशुभ मेल है तेहि में, घट बढ़ बुद्धि विचारी
तैसे दुख सुख राग द्वेष लहि, भरमत फिरत अनारी ३

सब का मूल हेतु ये मनसिज, वाम विपति अँधियारी
तेहि कारण सब उत्पति तन मन, पिण्ड कला जिवधारी ४

चार तत्त्व ब्रह्मांड स्वभाविक, ज्ञान रहित नित जारी
चंचल क्षणिक अनस्थिर किरिया, तेहि वश जीव दुखारी ५

स्वतः अखंड शुद्ध अविनाशी, जीव सदा अविकारी
गुरु की कृपा बोध अस धारण, करिके भव दुख टारी ६

तजि स्मरण शांत ह्वै दिल में, सूरत निजहिं विचारी
बैठि एकांत पृथक करि सब को, दृश्य प्रपंच विकारी ७

टीका:—हे मन ! दुखदायी संसार का त्याग करो ॥ टेक ॥ जीवन-पर्यन्त गुरुपद में स्थित रहने के लिये विवेक-विचार रूपी दिव्य दृष्टि-द्वारा गम्भीरता पूर्वक अपनी प्रथम विषयासक्ति दशा को बराबर लखते रहो—कि विषय-इच्छा-वश सदा बड़े-कड़े परिश्रम उठाने पड़ते थे, अनेकों अवगति सहनी पड़ती थीं, प्रतिक्षण-प्रतिमिनट दुःसह दुःखों का सामना करना पड़ता था, परवशता की जंजीर में जकड़े पड़े रहते थे, विषय-वासना-वश सब से लाचारी दीनता लेनी पड़ती थी, ध्यान रहे ! यदि हम साधु-गुरु की निष्ठा तथा गुरुपद से विचलित होंगे और गृह, धन, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, विद्या, मानादि का जोश भर कर संसार चक्र में गिरेंगे तो वही पूर्व दशा पुनः रखी है ॥ १ ॥ जीव ने देख, सुन और भोग करके हृदय में जो वासनायें धारण कर रखा है, वे पंच विषय के सुख मानना रूपी मनन जीव के सामने जागृत इन्द्रिय-अन्तःकरण-द्वारा प्रति श्वास प्रवाहित रहते हैं ॥२॥ कम-विशेष शुद्ध-अशुद्ध बुद्धिनिश्चय तथा विचार-शक्ति-द्वारा कर्तव्य कर-कर के उस मनोमय में शुभ-अशुभ वासनाओं का पुनः मेल होता रहता है। तदनुसार ही दुःख-सुख तथा राग-द्वेष को प्राप्त होकर यह अज्ञानी मनुष्य संसार में भ्रमता फिरता है ॥ ३ ॥ सर्व विकारों तथा स्वरूप-भूल का कारण यह मन से उत्पन्न हुआ काम ही है; एवं दारुण दुःख मय

स्त्री रूपी अन्धकार की आसक्ति ही है। इस विषयासक्ति के कारण ही तन-मन और तन-मन कृत अनेकों दुःखों का निर्माण हुआ और शरीर की रचना तथा रक्षा रूपी बोझा अपने शिर पर अनादि से रख कर जीव कष्टित हो रहा है ॥ ४ ॥ चार तत्त्व कारण-कार्य सविस्तृत सम्पूर्ण जड़ सृष्टि ज्ञान-रहित स्वाभाविक प्रवाह रूप नित्य परिवर्तन शील हैं, चंचल, क्षण-भंगुर, अनस्थिर एवं क्रियावान् हैं; देहोपाधि युक्त उस जड़ सृष्टि के बीच में पड़कर सूखा, अति-वृष्टि, पाला, पत्थर आदि ब्रह्माण्डिक क्रिया के वश जीव कष्टित होता रहता है ॥ ५ ॥ यह चैतन्य जीव अपने आप अखण्ड, शुद्ध, अविनाशी और सर्वदा तन-मन विकारों से परे है। इस प्रकार सद्गुरुदेव की दया-दृष्टि से अपने स्वरूप-बोध को दृढ़ निश्चयता पूर्वक धारण करके शरीर की अहंता-ममता तथा विषयासक्ति को पूर्ण ध्वंस कर जन्म-मरण दुःखों से मुक्त हो जाना चाहिये ॥ ६ ॥ ग्रन्थकर्ता सद्गुरु कहते हैं कि सर्व भासमान् मायावी पदार्थों से अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पृथक् समझ कर और संकल्पों को त्याग कर हृदय-स्थित स्वरूप में शान्त होना चाहिये। और भीड़-भाड़ जगत् प्रपंच से उपराम हो, स्वच्छन्द एकान्त-निर्जन स्थल में बैठ कर उपर्युक्त कथनानुसार इन्द्रिय-गोचर सर्व पंच विषय दृश्य तथा अन्तःकरण गोचर सर्व संकल्प-स्मरण-दृश्यों को विकार रूप दुःखदायी समझ कर और उन्हें भिन्न त्यागते हुए अपने अविनाशी स्वरूप-धाम में निश्चिन्त निवास करना चाहिये ॥ ७ ॥

शिक्षा----कोई मान देता, कोई अपमान करता, वही मनुष्य कभी पूज्य भाव से देखता, कभी फूटी आँखों से भी नहीं निहारना चाहता, कहीं हमारे गुणों की प्रशंसा होती, कहीं निन्दा, कभी सुख-सामग्री से पूर्ण और नीरोग्य होकर यह शरीर सुख देता, कभी दरिद्री-रोगी होकर कष्ट देता, कभी मन स्थिर होकर शान्ति-सुख अनुभव कराता, कभी चंचलता पूर्वक कष्ट देता। अरे चित्त! इस क्रियाशील और कष्टप्रद संसार को त्याग दे और अपने अविनाशी स्वरूप में लीन हो; जहाँ मान-अपमान, पूज्य-तुच्छ, प्रशंसा-निन्दा, सुख-दुःख, तन-मन का अत्यन्त अभाव है; जहाँ चिताग्नि-रहित नित्य संतुष्ट स्थिर पद है।

शब्द—१२

हे मन मीत प्रीत अब टारो ॥ टेक ॥

काम क्रोध अरु लोभ मोह भय, असमञ्जस सब जारो
स्वतः स्वतंत्र अभय सुखसरसै, लखि परिणामि विचारो १
मन वश प्राणी भक्ति न भावत, बिन सतसंग अधारो
ह्वै प्रतिकूल भूलवश क्षण क्षण, क्रिया करत नहिं हारो २
सुख इच्छा सब कालकूट है, दुखप्रद जानि अपारो
निज पद शोधबोध अमृत सद, पान किये सुख सारो ३
समता सजग भाव धरि दिल में, कोमल वचन उचारो
नहिं सम्बन्ध और काहू से, केवल दुख निरुवारो ४
हित भावना राखि सबहिनमें, जस अपना चित धारो
सूरत साधु दशा गहि नितही, परिहरि मद निरधारो ५

टीका:— हे, मित्र मन ! दुःखदायी मायाजाल से अब प्रेम हटा लो ॥टेक॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा कल्याण-पथ पर चलने में जो दुविधा होती है, ज्ञानाग्नि से भस्म कर दो। सांसारिक मायाजाल को नाशवान समझ कर और अपने अविनाशी स्वरूप का विचार करो, तब तुम्हें अपने आप स्वतन्त्र निर्भय-स्थिति सुख की प्राप्ति होगी ॥१॥ बिना सत्संग-आधार के मन-वशी जीव को साधु-गुरु की भक्ति में प्रेम नहीं होता; बल्कि प्रमाद-वश क्षण-क्षण अपनी स्थिति-शान्ति के विपरीत ही कर्तव्य करता रहता है और उस दुर्गुण रूप क्रिया को करने से हार नहीं मानता ॥२॥ मनःकल्पित सर्व विषय-सुख की चेष्टा ही कालकूट विष के तुल्य है; अतएव उसे महान् दुखदायी जानो। अपना अविनाशी स्वरूप नित्य, सत्य अमृत रूप है; अतः उसी के शोध-बोध में लवलीन होओ, उसी के अनुभव पान से नित्य सुख, सार-स्थिति को पाओगे ॥३॥ अपने और सबके मन फन्दाओं से सावधान रहो; राग-द्वेष-रहित सब प्राणियों के प्रति अपने हृदय

में समता भाव धारण कर सर्वदा नम्र वचन बोलो। जीव का किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है, उसे केवल अपनी दुःखनिवृत्ति ही प्रिय है ॥४॥ दुःख से छूटने के लिये जैसे अपने मन में सद्‌गुण, सद्‌बोध धारण करो, वैसे सब के प्रति हितभावना रक्खो, 'सद्‌गुण-ग्राही होकर सर्व जीव दुःख से छूट जायँ।' सन्त "श्री रामसूरत साहेब" कहते हैं—नम्र साधु-दशा को सदा ग्रहण कर और स्त्री, पुत्र, धन, देह, विद्या-प्रभुता, जगत्, वेष, शिष्य, शिष्या आदि सम्पूर्ण चंचल पदार्थों का अहंकार त्यागकर अविनाशी निराधार स्वरूप में ठहर जाओ ॥५॥

प्रश्न—साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर—पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण सुख-इच्छाओं का जो पूर्ण त्यागी हो और जिसमें अहंकार का लेश न हो। जिस साधु में स्त्री-पुत्र, धन-कुटुम्ब, विद्या-प्रभुता, शिष्य-शरीरादि का अभिमान है उससे कोटि गुणा अच्छा और भला गृहस्थी में रहता हुआ भक्तिभाव पूर्ण निर्मान भक्त है।

जीवन में समता और निःस्वार्थ भाव रखने की बड़ी आवश्यकता है। जो समता-सन्तोष नहीं रखता उसकी दशा पंडित-पंडितानी जैसी होती है।

समता-संतोष न धारण करने का कुफल

दृष्टांत :—एक ग्राम में पंडित और पंडितानी दो प्राणी रहते थे। पंडितानी के नैहर (मइके) से एक दिन मिठाई के नौ लड्डू आये। पंडित और पंडितानी दोनों बड़े स्वादी और एक के प्रति दूसरे ईर्ष्यालु थे। पंडितानी कहती 'लड्डू मेरे मइके से आया है, अतः पाँच लड्डू मैं खाऊँगी, आप चार ही खाइये।' पंडित कहते 'पुरुष का भाग विशेष होता है और लड्डू मेरे ससुराल से आया है, अतः पाँच लड्डू मैं खाऊँगा, तुम चार खाओ।' इस प्रकार विवाद हो रहा था। निदान यह निश्चय हुआ कि जो पहले बोल देवे वह चार खाय और जो पीछे बोले वह पाँच खाय। अब तो दोनों प्राणी किवाँड़ बन्द करके अपनी-

अपनी कोठरी में जा करके लेट गये, कोई चूँ नहीं करता; क्योंकि जो पहले बोलता वह चार ही लड्डू खाने को पाता। दिन बीत गया, रात बीत गयी, प्रातःकाल हुआ। पड़ोसी लोगों को संदेह हुआ "पंडित-पण्डितानी को सर्प ने तो नहीं काट लिया ? आज किवाँड़ नहीं खुला।" निदान पड़ोसी लोग फाटक को उखाड़ कर पंडित के घर में घुस कर देखे तो दोनों प्राणी मरे-जैसे श्वास चढ़ाये पड़े हैं। लोग उन्हें मृतक समझ कर श्मशान में ले गये, वह ग्राम दो ही तीन घर का पुरवा था। अतः संयोगाधीन नौ ही मनुष्य श्मशान तक जा सके। जब चिता रच-कर दोनों प्राणी को चिता पर रखा गया और जलाने को हुआ, तब पंडितानी ने सोचा कि हमारे सिर में बड़े-बड़े बाल हैं, पहले मैं ही जलूँगी, यह मुवा पहले बोलेगा नहीं। इसलिये अब लड्डू का मोह और हठ छोड़ देना आवश्यक है। ऐसा विचार कर पंडित से पंडितानी क्रोधित होकर बोलीं—रे निर्लज्ज ! तू पाँच खा मैं ही चार खाऊँगी। दाह करने वाले नौ ही मनुष्य थे, अतः वे सोचने लगे—मानों पंडित-पंडितानी साक्षात भूत हो गये हैं और हम नौ मनुष्यों को पाँच-चार का भाग लगा कर खाना चाहते हैं क्या ? अतः सब वहाँ से भागे और घर में आकर मारे डर के किवाँड़ बन्द कर लिये। पीछे से पंडित-पंडितानी ग्राम में आये और विश्वास दिये, नौ लड्डू का कारण बतलाये, तब घर में रहने लगे।

शिक्षा :— भोग और स्वार्थासक्ति-वश जहाँ अज्ञान है, वहाँ स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा सब में वैर-विरोध, ईर्ष्या-डाह लगा रहता है। अतएव भोग तथा स्वार्थासक्ति को जीत कर सब में समता-सन्तोष की स्थापना करनी चाहिये।

मनुष्य सारे संसार को प्रसन्न नहीं कर सकता। उसे चाहिये कि वह सचाई से अपना शुद्ध आचरण रखे। मनुष्य सबको कैसे नहीं प्रसन्न कर सकता इसे निम्न उदाहरण से मनन करें।

सब को नहीं प्रसन्न कर सकते

दृष्टांत—पिता पुत्र बाजार जा रहे थे। पिता घोड़ा पर बैठा था, पुत्र पैदल चल रहा था। लोग देखकर कहने लगे—देखो! यह बड़ा निर्दयी है, स्वयं घोड़े पर बैठा है और पुत्र को पैदल दौड़ा रहा है। ऐसा सुन पिता उतर कर पुत्र को घोड़े पर बैठा दिया और कुछ दूर बढ़ा। लोग देखकर कहने लगे—देखो! कलियुग का जमाना, पुत्र स्वयं घोड़ा पर बैठा है, पिता को पैदल दौड़ा रहा है। यह सुनकर पिता-पुत्र दोनों पैदल चलने लगे। यह देखकर लोगों ने कहा-अहो! ये दोनों कितने मूर्ख हैं, दोनों पैदल चलते हैं, घोड़ा छूछे ले जाते हैं। अब पिता पुत्र दोनों घोड़ा पर बैठ लिये। ऐसा देख कर लोगों ने कहा—ये कितने निर्दयी हैं? एक बेचारे घोड़ा की जान पर दो-दो जवान लदे हैं।

सारांश—शिक्षा—संसार भर को कोई प्रसन्न नहीं कर सकता। शास्त्र कहते हैं—"संसार में लोग शुद्ध, पवित्र, सात्विक मनुष्य को नीच पतित कहते हैं, चतुर को दम्भी, क्षमाशील को दुर्बल, शक्तिशाली को क्रूर या अभिमानी, हतबुद्धि को चोर, सुन्दर को कामुक, त्यागी को पाखण्डी कहा करते हैं, तब भला सारे संसार को कौन प्रसन्न कर सकता है? अतः केवल अपने चरित्र सुधारने पर ध्यान देना चाहिये, सब को प्रसन्न कर पाना असम्भव है।

शब्द—१३

लखत तन मन को सुन्दर भाव ॥टेक॥
जीवहिं सत्ता तेहि को देकर, प्रकट करत तन भाव
नख से शिखा पर्यन्त निहारत, पृथक पृथक रंग लाव १
हाथ पाँव मुख लिंग गुदा लखि, इन्द्रिन कर्म बढ़ाव
श्रवण नासिका नेत्र त्वचा रसि, रसना रसन लगाव २

सूक्ष्म सहित स्थूल देह यह, विषयन पंच सजाव
निजको भूलिकेजीवविवशतेहि,भ्रमत मानि दुख पाव ३
कारणदुखसुख भास मननकरि, अशुचिमाहिंशुचिभाव
अनितपना में नित्य दृष्टि रखि, यही अविद्या घाव ४
मात्र कल्पना कल्पित मिथ्या, स्वप्न समान अभाव
मानि मानि सुख जड़ में अरुझत,दर्पण चित्र लखाव ५
नारि पुरुष तस भाव निरन्तर, हाथ कछू नहिं आव
बिन गुरु दया परखनहिंपावे, दुखहिं सुक्ख करि भाव ६
याहि ते छोड़ि मोह मन झगड़ा, अभय रूप ठहराव
अविचल परख प्रकाश निरन्तर,निश्चयसोइ अपनाव ७

टीका:-- अज्ञानी मनुष्य मलीन शरीर तथा स्मरणों में सौन्दर्य की कल्पना करता है ॥टेक॥ जीव ही तन-मन में अपनी सत्ता देकर शरीर की मलीन चेष्टाओं को प्रकट करता है। एड़ी से चोटी तक आकर्षित दृष्टि से देखता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्राभूषणों से अंगों को सजाता[1] है ॥१॥ हाथ, पाँव, मुख, उपस्थ तथा गुदा—इन्द्रियों को बारम्बार देखता है और इनसे दूषित क्रियाओं का विस्तार करता है। इसी प्रकार श्रोत्र, नासिका, नेत्र, त्वचा तथा जिह्वा से पाँचों विषयों में

---

१ कवित्तः— कालर कमीज कोट बूट पतलून हैट,
दशन में मिसी अरु घड़ी हूँ कलाई है।
केशहूँ अनेक भाँति-भाँति के सँवारि कर,
फूल गोट पेटी रंग गाल चुपड़ाई है॥
मुख हूँ में पान खाय मूछ हूँ मुड़ाय कर,
नर रूप होइ के देखो काह बनि जाई है।
याहि वह व्यसन वो फैशन में भूलि कर,
भारत गारत करि धूरि में मिलाई है॥१॥

रमण करके बन्धनों को पुष्ट करता है ॥२॥ मनोमय सूक्ष्म शरीर के सहित यह स्थूल शरीर पाँचों विषयों से सजाया हुआ है। जीव अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर देह-इन्द्रियों की आसक्ति के वश हो गया है, उन्हीं की अहन्ता-ममता करके भटकता और दुःख भोगता है ॥३॥ दुःखों का कारण है आसमान पाँचों विषयों में सुख की मान्यता, गन्दे और नश्वर शरीर में रमणीयता और नित्यत्व की कल्पना, यही अविद्या है और यही जीव के लिये पीड़ा है ॥४॥ यह शरीर कुछ दिन के लिये ही सत्य-सा दिख रहा है, अन्यथा यह कल्पना मात्र, मिथ्या है, स्वप्न तुल्य है और अन्त में सदा के लिये शून्य हो जाने वाला है। जड़-शरीर तथा पंच विषयों में सुख मान-मान करके जीव दुःखों में फँसा है। जैसे दर्पण का चित्र देखने में तोआता है, परन्तु हाथ से पकड़ने में नहीं आता; इसी प्रकार शरीर कुछ दिन के लिये तो अवश्य सत्य-सा दिखता है; परन्तु अन्ततः यह जीव के साथ नहीं रहता ॥५॥ इसी प्रकार अविवेक-वश स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री अपने हृदय में भर लेना चाहते हैं; परन्तु जीवनपर्यन्त परस्पर अभिन्न भाव से सम्बन्ध रखने पर भी क्या दोनों एक हो जाते हैं। केवल दुःखपूर्ण आसक्ति ग्रहण कर एक दूसरे से सदा के लिये छूट जाते हैं। परन्तु बिना सद्गुरु-ज्ञान के प्राप्त हुए यह जीव उक्त सम्बन्धों, शरीरों तथा भोगों की निस्सारता परख नहीं पाता, और दुःख को ही सुख रूप कह कर गाता फिरता है ॥६॥ अतएव हे मन ! यह मोह का झगड़ा छोड़कर और निर्भय स्वरूप ज्ञान में स्थित हो। अपना ज्ञानस्वरूप चेतन अविचल तथा नित्य है, उसी को दृढ़ता पूर्वक अपनाओ और उसी में स्थित होओ ॥७॥

शिक्षाः— हे जीव ! जिन मनुष्यों के बहु सम्बन्ध, मान, सुख में तू फूलता और अहं-स्फुर्ण करता है; ये सब निज-निज मनवशी दुखदायी स्वप्नवत् छूटने वाले हैं। जिस शरीर में अहं मान कर एक दिन में पचासों मील दौड़ जाने का दावा बाँधता; वह देखते-देखते क्षण-पल में रोगिष्ट या मरणशय्या पर पड़ा रहता है; यहाँ तक---अपने आप करवट लेना दुस्तर हो जाता है। अतएव दुःखरूप असत्य, अपवित्र

जड़ काया का अभिमान त्याग कर जिसमें रोग-व्याधि, विवशता, छूटना, विजातिपना नहीं है, उस अपने अचल स्वरूप में दृढ़ साधनयुत लीन होओ।

शब्द—१४

जीतो मन काम काल घनघोरा ॥ टेक ॥

काम विवश सबजीवदुखित अति, हानिलाभतनबौरा
इच्छा हेतु यतन करि नाना, चंचल इत उत दौरा १
विघ्न पड़ै तब क्रोध प्रचण्डहिं, है हिंसा अति घोरा
डामलफाँसीकैदजेहलमें, साँसतिअमित सहत बरजोरा २
याहि हेतु सब जाल जगत के, धन जन कहिहिं मोरा
भाजत पलक तड़ित सम क्षण में, नाशहोतबिसभोरा ३
जेहि कारण करि लोभ मोह मद, रक्षण करि बहुतेरा
समय अमूल्य मोक्षप्रदखोकर, जीवजातचौरासी ओरा ४
नहिं कोई साथ देत तबक्षणयक, जो कुछ सभी लुटेरा
संस्कार सुख आश वशी है, योनिन देह धरेरा ५
याते स्वपन समान जगत्सुख, जानि तजो दुख भोरा
जगसे सजग रहो निशिवासर, फेरि जनम नहिं होरा ६

टीका—हे मन ! अत्यन्त भयंकर, कष्टदायी काम शत्रु को जीत लो ॥ टेक ॥ इस काम शत्रु के वशीभूत सर्व मनवशी जीव अत्यन्त दुखित होकर हानि-लाभ-विचार-शून्य विक्षिप्त हो रहे हैं। भोगेच्छा-वश नाना उद्यम में चंचलता पूर्वक इधर-उधर दौड़ते रहते हैं ॥ १ ॥ भोग-कामना में बाधा पड़ने पर प्रबल क्रोध की उत्पत्ति होती और अत्यन्त घोर हिंसा रूपी पाप करने पर तत्पर हो जाते हैं। इस काम-फन्द में पड़कर आजीवन

कारावास, देश-निकाला हो जाता, फांसी का तख्ता देखना पड़ता एवं कारागृह में बन्द हो पड़े-पड़े सड़ते और जेल-दूतों-द्वारा उन्हें असह कष्ट विवशता पूर्वक सहन करना पड़ता है ॥ २ ॥ इस काम-वासना के कारण संसार चक्र के समस्त जाल बन्धन उपस्थित हो जाते हैं और घर धन, कुल, कुटुम्बादि को अपना कह-कह कर मोह-वश जीव नाचता फिरता है। वे धन कुटुम्बादि पलक फेरते ही विद्युत् प्रभा वत् क्षण ही में नाश हो जाते और विषय के वियोगाग्नि में पागल होकर जीव कष्ट का भागी बना रहता है ॥ ३ ॥ जब जिन शरीर-इन्द्रिय, स्त्री-पुत्रादि की आसक्ति-वश लोभ, मोह और अभिमान करके अधिक-अधिक भोग-वस्तु के उपार्जन और रक्षा में नर-तन-रत्न समाप्त करता है और मोक्षदायी अमूल्य समय को नष्ट कर चौरासी कर्म-वासना की ओर जाता है ॥ ४ ॥ वे सब प्राण छूटते समय कोई एक क्षण भी साथ नहीं देते, बल्कि जो कुछ मायावी धन रहता है, उसे कुल-कुटुम्बी एवं नात-गोत सब लूट लेते हैं। पश्चात् यह जीव विषय-सुख की आशा-वश उसी संस्काराधीन अनेक योनियों में देह धर-धर कर असह तथा अमित कष्टों का भागी बना रहता है ॥ ५ ॥ अतएव सांसारिक विषय-सुखों को स्वप्नवत्, दुःखदायी जान कर शीघ्र त्यागो; और तन, मन, जगत्-बन्धनों से निशिदिन सावधान रहो; अपने को वासना-वश और दुर्गुणों के बीच में समझ कर सतत परीक्षा पूर्वक अपने अविनाशी स्वरूप में लीन रहो, इस अभ्यास में शरीर शान्त होने पर पुनः जन्म नहीं धारण करना पड़ेगा ॥ ६ ॥

काम-काण्ड, चपला माया से सावधान !

दृष्टांत—एक नगरी में एक धनी-मानी सेठ रहता था वह अपनी पुत्री का विवाह जिसका नाम चपला था पूर्व देश के भद्रसेन नामक नवयुवक सेठ-पुत्र के साथ कर दिया था। किन्तु सेठ की पुत्री के साथ एक जौहरी का विषयासक्ति-जनित प्रेम-सम्बन्ध हो गया। निदान यह बात जब सेठ ने जाना तब उसने एक नौकर-द्वारा अपने दामाद भद्रसेन को बुला कर कहा—हम कुछ काल के लिये तीर्थ यात्रा करने जा रहे हैं, अतः आप पुत्री को अपने साथ लिवा ले जाइये।

भद्रसेन ऐसी बात सुन कर कुछ आश्चर्यित-सा हो गया; वह सोचने लगा—"हो न हो इसमें कुछ दाल में काला हो" अब भद्रसेन गुप्त रहस्य का पता लगाना चाहा; अतएव वह दिन-रात चपला की देख-रेख में रहने लगा। एक दिन आधी रात का समय आने पर चपला को खिड़की से निकल कर जाते देख भद्रसेन उसके पीछे हो लिया और सोचने लगा—'देखें यह हरामजादी कहाँ जाती है ?' चलते-चलते चपला जौहरी के घर में घुस गयी, तब पाँच मिनट पश्चात् भद्रसेन भिखारी का वेष धर कर द्वार पर पुकारा--

दोहा— मैं भिक्षुक बहु भूखिया, धर्मवान् सुनि लेहु।
आइ गयों तव द्वार पर, धर्म जानि कछु देहु ॥

ऐसी आर्त वाणी सुन कर जौहरी ने चपला से कुछ भोजन देने के लिये कहा। चपला एक थाली में भोजन लाकर भिखारी को देते हुए कहने लगी—ऐ भिखारी बाबा ! लो, भोजन कर लो और यही आशीर्वाद दो कि हमारी और जौहरी की मित्रता आजीवन बनी रहे। भिखारी— यदि तू इस प्रकार आशीर्वाद चाहती है तो भिक्षा रूप में अपने गले का हार मुझे दे-दे। चपला इतना सुनते ही गले का हार उतार कर भिखारी को दे दिया। भद्रसेन भिखारी का वेष उतार कर वास्तविक रूप में हो अपनी सय्या पर जाकर सो रहा। प्रातः काल होते ही चपला को विदा कराकर घर की राह पकड़ी। जब घर पहुँचा तब दूसरे दिन चपला से पूछा—तू हमारे में कितना प्रेम करती है ? चपला— अहो प्राण नाथ ! मैं जितना प्रेम आप में करती हूँ वह मुख पर क्या कहूँ ? भला ! आप को छोड़ कर हमारे और कोई है ? आज तक आप के सिवा किसी पुरुष का मैंने मुख तक नहीं देखा। हमारे जीवन के आप ही एक आधार हैं, ऐसा कह कर गले से लिपट गयी। भद्रसेन— भला ! तू सब जेवरों को लायी है, किन्तु गले का हार मैं नहीं देखता। चपला बोली—अरे, राम कहो ! आप को इतना भी विश्वास नहीं।

आपकी शपथ खा कर कहती हूँ -कई जगह हार टूट जाने से पुनः बनवाने के लिये माता के पास रख आयी हूँ। इतनी छल पूर्ण बात सुन कर भद्रसेन हार को जेब से निकाल कर चपला के सामने रख दिया और कहा देख ! यह तुम्हारा हार है या नहीं ? इतना देख कर चपला भौचक्की-सी रह गयी, और जान गयी कि जौहरी के घर हमारा पति ही भिखारी के रूप में गया था। निदान चपला ने विविध हाव-भाव से पति को विश्वास देकर मना ली, कि जो हुआ सो हुआ, अब ऐसी भूल न होगी। एक दिन चपला अपने कोठे पर स्नान कर रही थी, दूसरी ओर एक नवयुवक क्षत्री अपने कोठे पर बैठा था। निदान एक-को-देख कर चमड़ी की वृथा चमक में परस्पर मोहित हो गये। यह मानी बात है कि जीव अपनी दृढ़ निश्चयता को पूरी करता है। फिर क्या था, दोनों का दूषित सम्बन्ध आरम्भ हो गया। एक दिन भद्रसेन कहीं शहर में चला गया था। इधर घर सूना जान कर दूती-द्वारा चपला ने क्षत्री कुँवर को बुला लिया और कुछ समय पश्चात् क्षत्री कुँवर अपने घर चला गया। ये सब बात चपला का छोटा पुत्र देखता था, उससे न रहा गया और चपला से बोला--हे माता ! इस बुरे कर्म को त्याग दे, नहीं तो मैं पिता से कह दूँगा। चपला सोचने लगी कि हमारे सुख में नालायक पुत्र बाधक होगा। अतः सबसे प्रथम इसे ही समाप्त करना है। बस क्या था उस बेचारे छोटे बच्चे को ऊपर छत पर बुला ले गयी और तलवार लेकर पुत्र का अंग-अंग काट कर क्षत्री कुँवर-द्वारा रात ही में नदी में डलवा दी। इसके उपरान्त जब भद्रसेन आया तब बच्चे को न देख कर बहुत पूछा किन्तु निर्दया, कपटी चपला ने इधर-उधर बतला कर कहने लगी कि हम-आप स्थायी हैं तो बहुत बच्चे होंगे। भद्रसेन भी कम स्त्रैग न था, वह भी उसी हत्यारिनी के कहे में आगया। एक दिन क्षत्री कुँवर कहने लगा कि इस प्रकार चोरी-चोरी कब तक प्रेम करते बनेगा ? चपला ने कहा-- तो क्या करूँ ? क्षत्री कुँवर—किसी प्रकार भद्रसेन को मार डाल, तो

हम दोनों स्वतंत्रता से सुख भोगें। चपला--अच्छा ! मैं उनके मारने के लिये कोई युक्ति अवश्य लगाऊँगी। ऐसा सोच कर भद्रसेन जब घर में आया तो चपला बोली--हे प्राण नाथ ! आप जब सामने से चले जाते हैं तब हमें कुछ अच्छा नहीं लगता, इससे आप घर में ही रहा करें। भद्रसेन—भला ! सदा घर में ही बैठे रहने से कैसे बनेगा ? रोजगार-व्यापार के लिये दूकान पर जाना ही पड़ेगा। चपला-यदि आप चले ही जाया करें तो अपनी तलवार रख दें। जिससे मैं उसीको देख कर मन को सांत्वना देती रहूँगी। अतएव भद्रसेन अपनी तलवार चपला को देकर प्रातःकाल दूकान पर चला गया। तब चपला ने क्षत्री कुँवर को बुलवा कर कहा—देखो ! आज मैं उनके हाथ से तलवार ले ली है, अब आप इतना अवश्य करें कि इस तलवार को ले मार्ग में जाकर बैठे रहें, और जब वे रात्रि में दूकान से आयेंगे तो आज उनके हाथ में कोई हथियार नहीं रहेगा। बस आप उनका काम समाप्त कर दीजियेगा। इतना सुनकर हाथ में तलवार लेकर क्षत्री कुँवर मार्ग में जाकर छिपकर बैठ गया। इधर भद्रसेन के द्वार पर एक थानेदार घोड़ा पर बैठकर आ निकला। निदान चपला तथा थानेदार एक-को-एक देखकर मोहित हो प्रेम सम्बन्धित बात करने लगे। थानेदार—तुम्हारी-हमारी मित्रता कैसे निपटेगी ? चपला—एक क्षत्री कुँवर हमारा यार है, वह अभी आयेगा। यदि उससे आप संग्राम में जीत जायँ तो आप के साथ मैं रह सकती हूँ। अन्यथा क्षत्री कुँवर बाधा करेगा। थानेदार—अरे ! तुम हम पर प्रसन्न रह, मैं उसे एक ही वार में यमसदन पहुँचा दूँगा। इतने में संध्या हो आयी और भद्रसेन को दूकान से लौटते समय उसे क्षत्री कुँवर निःशस्त्र देख कर तलवार से उसका धड़ और शिर पृथक् कर हर्षित हो चपला के द्वार पर आया। तो क्या देखता है कि एक थानेदार तलवार हाथ में लिये द्वार पर बैठा है। इतने में थानेदार क्षत्री कुँवर को चपला का लगवार समझ कर एक झपाटे में उसका काम समाप्त कर घर में घुसा तो चपला है ही नहीं। पता लगाने से ज्ञात हुआ कि

वह छलिया स्त्री एक और पठान से प्रेम कर रखी थी, अतः उसी पठान के साथ वह न जाने कहाँ भाग गयी। अब थानेदारजी करते ही क्या? अंत में रो-झंख के अपने घर लौट गये। इधर काम कला में जो चरित्र हुआ सो हुआ ही, अब आगे का समाचार सुनिये। उस पठान के साथ चपला एक राजधानी में जाकर रहने लगी। पठान के साथ कुछ काल तो प्रेम चलता रहा, किन्तु पठान के मोहल्ले में एक अतीव सुन्दर माली का लड़का रहता था। चपला माली के लड़के पर मोहित होकर पठान को छोड़ कर उसके घर चली गयी। पठान राजद्वार पर प्रार्थना किया कि हे पृथ्वी नाथ! हमारी स्त्री को अमुक माली का लड़का अपने घर रख लिया है। अतः सरकार-द्वारा साफ-साफ न्याय होकर हमारी स्त्री को हमें दिलाया जाय और माली के लड़के को उचित दण्ड दिया जाय। राजा ने माली के लड़के और चपला को बुला कर पूछा—तो चपला ने बयान दिया कि मैं इन दोनों की स्त्री नहीं हूँ। ये लोग बहका कर हमें अपना-अपना कहते हैं। ऐसा सुन राजा ने दूतों को बुलवा कर माली के लड़के वो पठान को बँधवा कर आजीवन कारावास की आज्ञा दी। और कहा कि ये स्त्री किसी की नहीं मेरी होकर रहेगी। अब चपला को राजा कहता कि मैं रखूँगा और दीवान कहता मैं रखूँगा। इस छीना-छोरी में दीवान अपना हाथ न लगते देख ईर्ष्या-वश राजा के शत्रु से मिलकर अपने राजा को हरा कर राज्य-रहित भिखार बना दिया। अंत में वह चपला राजा और दीवान दोनों के हाथ से निकल कर एक घुड़सवार के साथ भाग गयी। सत्य है—

दोहा—नारि नीर गम्भीर दधि, ये सब थाह न होंय[1]।
नारी मन में क्या बसे ?, जानि सके नहिं कोय ॥ १ ॥
धर्म वीर तब तक विरति, जब तक फंद न बाम।
नारि छन्द में परत हो, मनुष होत बे काम ॥ २ ॥

१—दुष्ट नारियों में वर्णन किये हुए छल-कपट सुमुक्षु स्त्री दुष्ट पुरुषों में समझ लें।

"नारी यंत्र न त्यागिया, मोहित भया निदान ।
ते दृढ़ बन्धन में परे, धिक् ताको सब ज्ञान ।। वै० ॥"

अतः इस चंचल चपला से बचिये और इस नीचे के पद को स्मरण कीजिये—

पद

ये चंचल भामिनी भव से, बचेगा शूर कोई है ।
वही ज्ञानी चतुर पण्डित, विरागी मुक्त सोई है ॥ टेक ॥
वही दुखसे निकल सकता, वही सुखिया रहे हर दिल ।
न कामिन फंद में आया, सदा निर्बन्ध जोई है ।। १ ।।
वही है भूप-शाहन्शाह, वही विद्वान् से बढ़ कर ।
हृदय के काम कीचड़ को, जिन्होंने साफ धोई है ॥ २ ॥
पड़े जो काम के वश में, लिये ठेका दुखों का वो ।
नचे बन्दर समा निशि दिन, जन्म जन्मांत रोई है, ॥ ३ ॥
है लानत सर्व ज्ञानों पर, जो भामिन भाव में बूड़े ।
तजे निजतंत्र जीवन को, सदा दुख बोझ ढोई है ॥ ४ ॥
तजो अभिलाष भव बन्धन, यदी सुख शान्ति को चाहो ।
उठो जागो चलो जल्दी, यहाँ नहिं मीत कोई है ॥ ५ ॥

शब्द—१५

सो ऐसी कब रहनी आई हमार ॥ टेक ॥

नहीं राग नहिं द्वेष काहु से, हितकर वचन उचार
तोष विवेक शांति गहि उर में, लै समाजि सुख सार १
निज से परे जानि सब नश्वर, अनुदिन यही विचार
सब घट भर्म प्रलोभन तज के, रहब सबन से न्यार २
तन मन वचन दोष तजि सबहीं, ज्ञान अग्नि में जार
उभयजाल सब आश शमनकरि, निज स्वरूप निरधार ३

बिना प्रयोजन बात न करबे, जीत मान नहिं हार
अहै स्वजाती जीव आप सम, दुर्मति सकल निकार ४
अच्छे अच्छे रहस सुहावन, खोजि खोजि टकसार
धारण करि हम रहब निरन्तर, जहाँ नहीं संसार ५
अभय रूप द्रष्टा बनि सबका, चलत फिरत तजियार
सरि तट बागविपिन या निरजन, बसिबसि काजसुधार ६
गुरु कबीर वो संत पारखी, बोधक देव अधार
सूरत शरण हरण सब भव रुज, कब होइहौं भव पार ७

टीका—अहो ! ऐसी मुक्तिदायी रहनी एवं सद्‌गुण सदाचार हमारे हृदय में कब आयेंगे ? ॥ टेक ॥ जब कि किसी भी प्राणी से राग-द्वेष नहीं होगा; सब से हितकर तथा मिष्ट शब्द बोलेंगे। भोगों में लोलुप न होकर स्वरूप में ही संतोष को प्राप्त होंगे और विवेक पूर्वक हृदय में शान्ति धारण कर मन भ्रम को परख-परख कर ध्वंस करते हुए वासना-निवृत्ति के सच्चे सुख को प्राप्त होंगे ॥ १ ॥ निश्चय प्राप्त निज अविनाशी शुद्ध स्वरूप से पृथक सर्व भासमान को नाशवान क्षणभंगुर जान कर प्रति-दिन यही विचार तथा वैराग्य-ध्येय दृढ़ रखेंगे। सर्व अनुकूल नर-नारि शरीरों में जो सुख-भर्म तथा ममता होती है एवं मान, यश, कीर्ति तथा भोगों का लोभ-लालच होता है, उसे दृढ़ साधन बल से त्याग कर सर्व संसार-खटपट-प्रपंच से भिन्न कब हम स्वरूप-स्थिति एवं वैराग्य-धारणा में तन्मय होंगे ? ॥ २ ॥ कब हम तन, मन, वचन के सर्व कुचालों को त्याग कर, ज्ञान रूपी अग्नि में उन्हें जला डालेंगे ? खानी-वाणी जालों के सर्व वासनाओं को पूर्ण ध्वंस कर कब हम अपने सतत प्रयत्न-द्वारा निराधार शुद्ध स्वरूप में एकरस स्थित होंगे ? ॥ ३ ॥ निष्प्रयोजन बात नहीं करेंगे, जीत-मान की अभिलाषा नहीं रखेंगे, हार-अपयश-निन्दा में अधैर्य नहीं होंगे। संसार के सम्पूर्ण जीव अपने समान स्वजाति स्वतंत्र हैं, किसी पर कोई अधिकार नहीं; अतएव कब हम अपने हृदय से समस्त दुर्बुद्धि तथा ममता-

मोह को निकाल कर निःभार, स्वतंत्र हो जायेंगे ? ॥ ४ ॥ सत्सङ्ग से अच्छे-अच्छे आचरणों को खोज कर और हृदय अन्तर्गत धारण कर कब हम ऐसे पारख पद में सदा शान्त रहेंगे जहाँ मनोमय संसार-प्रपंच नहीं होगा ॥ ५ ॥ निर्भय अविनाशी स्वरूप-लक्ष्य के दृढ़ अभ्यास पूर्वक सर्व भासमान् का द्रष्टा बनकर चलते-फिरते सर्व विधि सब से प्रेम हटाते रहेंगे। नदी के तट, बाग, जङ्गल, तथा भीड़-भाड़ रहित किसी भी निर्जन स्थल में ठहर-ठहर कर कब हम अन्तिम—जीवन्मुक्ति-स्थिति का कर्तव्य पूर्ण करेंगे! ॥ ६ ॥ पारख प्रकाशी श्री कबीर साहेब एवं सोई रूप पारखी संत और बोध प्रदाता सद्गुरुदेव ही इस दास के आश्रय हैं। ग्रन्थ कर्ता कहते हैं—हे प्रभु! इस दीन "राम सूरत दास" को आप अपनी शरण में लगा कर कब सर्व मानसिक रोगों का हरण कर लेंगे, और जन्म-मरणरूपी भव-सागर से कब मैं पार हो जाऊँगा ? ॥ ७ ॥

शिक्षा—उपर्युक्त भावानुकूल मुमुक्षु को अनुराग-विचार में दृढ़ होकर इस स्वप्नमय विराने जड़-देश तथा बहु-सम्बन्ध का मोह त्याग कर अपने अविनाशी स्वरूप में शान्त होना चाहिये।

गृहस्थी में वैराग्य

दृष्टांत—ऐसी शिक्षा सुन कर एक ने कहा ये तो बड़े सूक्ष्म विषय हैं, हम सब गृहस्थ कैसे वैराग्य कर सकते हैं ? संत ने कहा—ऐ भैया! तुम बहुत वैराग्य कर सकते हो। चोरी से वैराग्य करो; व्यभिचार, हिंसा, मांस-मद्य-भक्षण से वैराग्य करो; गाँजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू से वैराग्य करने से अर्थात् उसे त्याग देने से तो तुम्हारी गृहस्थी की कोई हानि नहीं हो सकती; न तो तुम्हारी गृहस्थी बिगड़ेगी, न धन-खेती का ही नुकसान होगा, और न हल ही गिर जायगा; बल्कि पापाचरण और व्यसन त्याग देने से व्यर्थ खर्च से छुट्टी मिलेगी, तन-मन के रोग नाश होंगे, हर प्रकार सुखी रहोगे। फिर स्वार्थ-परमार्थ, तंदुरुस्ती-गृहस्थी सब का नाश करने वाले ये चोरी, हिंसा, परपीड़न,

व्यभिचार, झूठ अनेक पाप और व्यसन से क्यों नहीं वैराग्य करते ? अर्थात् इन्हें क्यों नहीं त्यागते ? "हम गृहस्थों को भजन-भक्ति-सत्संग करने, सद्ग्रन्थ पढ़ने, धर्म-परोपकार-परमार्थ करने का समय नहीं, शक्ति नहीं" यह मानना बिलकुल मन की धोखेबाजी है। क्या भैया ! दिन-दिन गली-गली टहल कर गप्प-सप्प लड़ाने, दूसरे की निन्दा-चुगुली करने, प्रपंच-पंचायत करने, नाच-तमाशा-सिनेमा देखने, जूआ ताश खेलने का समय रहता है, फिर सत्संग करने, सद्ग्रन्थ पढ़ने, अपने गुण-दोषों का विचार करने तथा भजन-पूजन का ही समय नहीं रहता ? नाशकारी गाँजा, भाँग, बीड़ी, तम्बाकू खरीदने के लिये, नाना शृंगार के लिये, बिवाह गौन में, नाच-तमाशा मनःकल्पित व्यवहार में, तनिक क्षमा-सहन न धारण कर थोड़े-थोड़े खेत-द्रव्य या बात के लिये मुकदमें ठान कर उसमें उड़ाने के लिये तो धन रहता है, फिर परोपकार, धर्म, संत-सेवा के लिये ही नहीं रहता ? यह मनुष्य माया में लिपटा है केवल पशु के समान कमाने-खाने और भोगने में ही अपना जीवन लाभ मानता है। विवेकी संतों में प्रेम विश्वास रहता नहीं, सत्संग में बैठता नहीं फिर इसे ज्ञान कैसे हो ! मृत्यु-पश्चात् तो जीव के साथ धर्म-कर्म ही साथ जाते हैं। यहाँ के धन, गृह, कुटुम्बी यहीं छूट जाते हैं फिर भी मनुष्य मद नहीं त्यागता और धर्म नहीं करता। मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है—वह परोपकारी होवे। अपना छोटा बच्चा सामने आता है, उसकी कमीज फटी रहती है, यह देख कर उसके ऊपर हमें बड़ी दया लग जाती है। उसको हम गोद में उठा कर छाती से चिपका लेते हैं और यदि पास में रुपये न हों तो भी दूसरे से कर्ज लेकर अपने प्रिय पुत्र के लिये कमीज बनवा कर पहनाते हैं। फिर अपने बच्चे के समान ही दूसरे का बच्चा है, दूसरे के बच्चे को देख कर निर्दयता क्यों ? जिनके घर में चोरी की जाती है, जिनसे घूस लिया जाता है, किसी प्रकार दूसरे का अधिकार छीना जाता है, वह दूसरे के बच्चे का खूराक ही छीना जाता है, निर्दयता ही की जाती है; दूसरे की सेवा न

करके बल्कि घात करना कहाँ तक मनुष्यता है ? यदि मनुष्य संसार भर की सेवा नहीं कर सकता है तो पाप तो त्याग ही सकता है, सब के प्रति परोपकार की भावना तो रख ही सकता है। तन, मन, वचन और धन से परोपकार करके मनुष्य अपने सुख रूपी स्वर्ग का फाटक खोल सकता है किन्तु उसका पाप उसे इस लाभ से वंचित रखता है। यह सूत्र खूब ध्यान में रखना चाहिये—"पर उपकार स धर्म न भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥ रा०"

दोहा— इतनी शिक्षा संत की, सुनि गृहस्थ सुख पाव।
करत सप्रेम सु बन्दना, सद्गुण गहि सद्भाव ॥ १ ॥

गुरु उपकार स्मृति—विनय

मिले गुरु-संत मोह-तम-हारी ॥ टेक ॥
ममता मोह द्रोह मन कलिमल, अघ अवगुण अँधियारी।
नशि अज्ञान रैन दिनकर इव, दिव्य दृष्टि दुख टारी ॥ १ ॥
मीन माँस के लोभ वशी ज्यों, लखत न काल अनारी।
जलत पतंगी ज्योति मोह वश, मृगा शब्द सुनि ख्वारी ॥ २ ॥
त्योंही विषय मोहवश पामर, मैं अति दीन दुखारी।
दै निज बोध देह मद नाश्यो, शोक मोह निरुवारो ॥ ३ ॥
ऐसी बुद्धि करो मम साहेब, तव पद प्रेम सदारी।
तजि अभिलाष भोग विषयन की, मिले मोक्ष अविकारी ॥ ४ ॥

शब्द १६

अब हम मन को मारि भगइबै ॥ टेक ॥
गुरु की कृपा अटल धन पाये, शुद्ध स्वरूप रहइबै।
राग द्वेष सब झंझट तजि के, मानव सकल हटइबै ॥१॥
सद्ग्रन्थन को पाठ पठन करि, गुरुको ध्यान लगइबै।
भक्ति विवेक विराग मनन करि, लक्षण सबहिं टिकइबै॥२॥

निज से भिन्न भास जो सकलो, करिसत्संग नशइबै ।
पृथकपृथकजड़ चेतन निर्णय, सार शब्द गुनि गइबै॥३॥
सूरत स्वतः भाव रखि मन में, शुद्ध भाव बरतइबै ।
निशि दिन मुदित मगन गुरुपदमें, निज स्थिति ठहरइबै॥४॥
खानि बानि को द्रष्टा रहिकर, जग में नहिं भरमइबै ।
गुरु कबीर टकसार परख नित, लखिलखिसमयबितइबै॥५॥

टीका :— अब हम मन की समस्त कुचालों को दूर कर देंगे ॥ टेक ॥ सद्‌गुरु की कृपा से अविचल ज्ञान-धन मिला है, अब शुद्ध स्वरूप में ही स्थित रहेंगे। राग-द्वेषादि समस्त प्रपंचों को छोड़कर सभी अहन्ता-ममताओं को दूर कर देंगे ॥ १ ॥ सदग्रंथों का अध्ययन-मनन करेंगे, वैराग्यवान् सद्‌गुरु का ध्यान लगायेंगे। भक्ति, विवेक, वैराग्यादि शुभ गुणों का स्मरण कर उनके सभी लक्षण अपने जीवन में उतारेंगे ॥ २ ॥ अपने चेतन स्वरूप से पृथक जो पंच विषय दृश्य है, सत्संग करके उसकी आसक्ति छोड़ देंगे। जड़-चेतन का पृथक निर्णय करेंगे और निर्णय वाणियों का गायन चिंतन करेंगे ॥ ३ ॥ हृदय में स्वरूपज्ञान की स्थिति रख कर शुद्ध भाव पूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे। रात-दिन स्वरूपज्ञान में तन्मय रहकर अपनी स्थिति करेंगे ॥ ४ ॥ समस्त माया का द्रष्टा बनकर उनसे पृथक रहेंगे, उन में भूलेंगे नहीं। सद्‌गुरु कबीर के निष्पक्ष ज्ञान के सत्संग में सारासार-विवेचन करते हुए समय व्यतीत करेंगे ॥ ५ ॥

शिक्षा :— संसार समुद्रवत् है, इसमें मान-अपमान, स्तुति-निन्दादि कोलाहल रूपी तरंग उठा करते हैं। अतः इसमें अधैर्य न होकर, किसी के डिगाने पर न डिग कर कल्याण-पथ में तीव्र चलना चाहिये।

टेढ़ी खीर, अन्धा तथा मसखरा

दृष्टांत :—एक अन्धे मनुष्य के पेट में किसी प्रकार का विकार था। एक सुवैद्य ने बताया कि तुम खीर खा लो तो पेट का विकार दूर हो

जायगा। वह अन्धा मनुष्य खीर बनाने के लिये अहीर के यहाँ दूध खरीदने जा रहा था। इतने में एक मस्खरा मिल गया और कहा— कहो सूरदास! कहाँ जा रहे हो? सूरदास—दूध खरीदने। मस्खरा—क्या करोगे? सूरदास—खीर बना कर खाऊँगा। मस्खरा—किसने कहा है? सूरदास— एक वैद्य ने। मस्खरा— अरे! खीर जानते भी हो कि कैसी होती है? सूरदास— नहीं-नहीं बाबू! हम नहीं जानते हैं कैसी होती है। मस्खरा—अरे खीर होती है जैसे द्वितीया का चन्द्रमा। सूरदास—दुतिया का चन्द्रमा कैसा होता है? मस्खरा—जैसे हँसिया। सूरदास— अरे भगवन्। मैं खीर नहीं खाऊँगा; वह तो हमारी नटईको चीरि-फारि डारी।

सिद्धान्त :—अन्धा यह जीव है। इसके जन्म-मरण का महाविकार लगा है, जिससे यह कष्टित है। सुवैद्य पारखी गुरु कहते हैं—तू गुरु-ज्ञान रूपी खीर खा ले, जिससे जन्मादिक दुःख दूर हो जायँ। यह सुन कर जीव कुछ परमार्थ-पथ में चलना चाहता है; किन्तु गुरु-द्रोही मनुष्य परमार्थ-पथ को टेढ़ी खीर के समान बतला कर या उसकी निन्दा तथा अपमान करके उसे गुरु शरण से वंचित कर देते हैं। मूर्ख जीव कही-कुहा में आकर कुछ पकड़े-पकड़ाये धर्म-मार्ग को भी छोड़ बैठता है, निदान जीव का भवदुःख नहीं छूटता।

पद

यदी छूटना है तुझे दुःख भव से,
तो गुरु की शरण को भली भाँति गहिले ॥ टेक ॥
रहा तू जगत में भुलाये भुलाये,
मगर चेत कर अब गुरू पद में रहले ॥ १ ॥
चले अब गुरू मग शरम लाज तज कर,
कोई कुछ कहे तो तू मन मार सह ले ॥ २ ॥
जगत् छोड़ना है मरे बाद इक दिन,
अतः तू प्रथम त्याग कर शान्ति गह ले ॥ ३ ॥
बिताना है जीवन किसी भाँति से ही,
तो गुरु ऐन में चैन अभिलाष कर ले ॥ ४ ॥

छन्द

दुख छूटै कैसे भला, सतसंग में जब प्रेम हो
चैतन्य जड़ को करि विलग, गुरु भक्ति में शुभ नेम हो
एकान्त में बसता रहे, सरि तट व जंगल बाग हो
दुख रूप जग को जान कर, वैराग्य कर नहिं राग हो १

टीका :— प्रश्न— भला ! जीव का दुःख कैसे छूटे ? उत्तर— जब सतसंग में प्रेम हो, जड़-चेतन का भिन्न विवेक हो, गुरुभक्ति को मंगल मय जान कर उसका नियमित रूप से पालन हो, जगत्-प्रपंच छोड़कर नदी-तट, वन, बाग आदि एकान्त में रह-रह कर साधन करता हो, जगत् को दुःख रूप जान कर उससे वैराग्य हो, कहीं राग न हो— तभी दुःख छूट सकता है ॥ १ ॥

तजकर जो गुरुवर ज्ञान को सुख चाहता तेहि भूल है
सुख हेतु निज संतोष लहि, संतोष ही सुख मूल है
ममता किसी भी वस्तु की, निज के परे दुख धार है
सब वस्तुओं से वस्तु वर यह जीव चेतन सार है २

टीका— जो महान सद्गुरु के ज्ञान को त्याग कर सुख चाहता है, उसकी महान भूल है। सुख का एक मात्र कारण तो अपने आप में संतुष्ट होना ही है अर्थात् संतोष ही सुख की जड़ है। अपने चेतन स्वरूप से पृथक किसी भी वस्तु की ममता करना दुःखों की धारा में पड़ जाना है; क्योंकि सभी पदार्थों से महान और सार पदार्थ यह अपने आप जीव अर्थात् चेतन ही है ॥ २ ॥

शुद्ध स्वरूप से भिन्न सर्व भूल युत मानन्दी वर्णन

साखी

शुद्ध स्वतः जिव आप है, मुक्त रूप निरधार।
सुख मानन्दी भूल से, खानि बानि विस्तार ॥१॥

टीका :—जीव शुद्ध, अपने आप निर्बन्ध तथा असंग रूप है। यह विषयों में सुख मानन्दी तथा स्वरूप की भूल-वश मोटी-झीनी माया का विस्तार करता है ॥१॥

प्रिय नारी सुत वित्त जो, वर्णाश्रम कुल जाति।
कल्पित सो सब जीव के, मिथ्या सबहीं भ्रान्ति ॥२॥

टीका :—प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, वर्ण, आश्रम, कुल, जाति—सब जीव के कल्पित हैं, मिथ्या हैं, भ्रान्तिपूर्ण हैं ॥२॥

व्याख्या :—हे जीव! तुम्हारा इस असार संसार में कोई नहीं है। तू मोह नींद से जागृत हो! शोक है, सभी लोग अपने प्रिय, कुटुम्ब, धन, मकान एवं शरीर को छोड़-छोड़ कर जा रहे हैं, तिस पर भी तुझे चेत नहीं होता, तू अभी अपने जीने का दावा बाँध रहा है। अरे! इस अनादि काल के जगत् में यदि कोई भी प्राणी एक ही शरीर से अमर, होकर रहता तो तू भी इस शरीर में सदा रहने का विश्वास करता और जब देखता है कि आज-कल में सभी काल के कलेवा होते जा रहे हैं फिर क्यों नहीं होश करता!

कवित्त

तन भयो धन भयो और हूँ स्वजन भयो,
सुन्दर जवानी अरु भोगन कुँ ठाट है।
मान भयो शान भयो महल मकान भयो,
तार वायुयान भयो सुवरन पाट हैं॥
बड़े बड़े वोहदा स्वदेश वो विदेश सब,
अपने स्ववश भयो राज हूँ विराट है।
हाय! पर अंत माहिं एकहूँ न हाथ लग्यो,
काल मुख देखते हि देखते सपाट है॥

शब्द रूप रस गंध युत, सपरश में सुख मानि।
दुक्ख उदय याते सभी, जीव परैं चौ खानि ॥३॥

मात पिता बन्धू सकल, मन माने सब आहिं।
निज स्वरूप से भिन्न है, मोह करै नहिं ताहि ॥४॥

टीका:— शब्द, रूप, रस, गंध सहित स्पर्श विषय में सुख मानकर भोगने से ही तन-मन कृत सर्व दुःखों की उत्पत्ति होती रहती है और अविनाशी जीव चारों खानियों में भ्रमण करता रहता है ॥३॥ माता-पिता, बन्धु-बान्धव सम्पूर्ण सम्बन्ध-प्रपंच केवल मन-द्वारा मानने से ही हैं। अर्थात् सम्पूर्ण शरीरधारी भासमान् का निश्चित सम्बंध अपने अविनाशी स्वरूप से नहीं है, अतएव उनका मोह न करें ॥४॥

व्याख्या :— पूर्ण दुःख ध्वंस पूर्वक जो अविनाशी स्थिति के भूखे हैं, अर्थात् जो लोक-परलोक में सुखी रहना चाहते हैं, वे संसार में किसी भी प्राणी को अपना मानकर उसमें मोह न लगावें। यहाँ की किन्हीं वस्तुओं में आनन्द न माने यहाँ की समस्त वस्तुयें एक नाशक के पंजे में पड़ी हैं। जैसे जन्म के पश्चात् मृत्यु, जवानी के पश्चात् बुढ़ापा, नीरोग के पश्चात् रोग, संयोग के पश्चात् वियोग एवं मान को अपमान ने, स्तुति को निन्दा ने, सुख और हर्ष को दुःख और शोक ने अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को क्षण-भंगुरता ने अपना ग्रास बना रखा है।

कवित्त

काहिं में तू भूलकर ऐंठ के चलत नित,
　　सबहीं दुखद सब काल को पसारो है।
यह पुत्र यह नारि यह धन मित्र बड़ो,
　　यह मेरो खास और यह तो तुम्हारो है॥
मेरो तेरो यह जो अनेक विधि मान रह्यो,
　　स्वपन समान देह भोग सो असारो है।
तन मन धन सब क्षण ही में क्षीण होत,
　　केहि अभिलाष करि कहों ये हमारो है॥

जेते नाता जगत में, मानि मानि जिव कीन्ह।
देश गाँव अरि मित्र जो, गहि आसक्तो लीन्ह ॥५॥

टीका :—संसार के जितने सम्बन्ध हैं, उन्हें जीव ने मान-मान करके बना रखा है। किसी देश को अपना देश, किसी गाँव को अपना गाँव, किसी को शत्रु तथा किसी को मित्र मान कर आसक्ति बना लिया है ॥५॥

शिक्षा---हे मनुष्य ! जिस दिन तेरी आँख झप जायगी, तू शरीर त्याग देगा, उसी दिन से इस ग्राम, देश, कुटुम्ब, सम्पत्ति आदि का कभी स्मरण तक न होगा, अतः प्रथम से ही अहंता-ममता त्याग कर भजन कर।

सोरठा

चेतन ज्ञान स्वरूप, पंच विषय से पार है।
द्रष्टा शुद्ध अनूप, तत्त्व चारि अनमिल सदा। ६॥

टीका :— चेतन जीव ज्ञान स्वरूप है, पंच धिषय से रहित उन सबों का द्रष्टा शुद्ध अविनाशी अमृत रूप और अनोखा है, और चारों तत्त्व जीव से अनमिल, विजाति, सर्वदा कारण-कार्य जड़ रूप हैं ॥ ६ ॥

साखी

जीव देह के साथ में, भूल विवश भरमाय।
भूल मिटै नहिं देह यह, पारख स्वयं रहाय ॥७॥

टीका :— यह जीव स्व-स्वरूप की भूल-वश देह के साथ में भटकता है। स्वरूप-भूल मिट जाने पर प्रारब्धान्त में उसका और देह का सम्बन्ध सदा के लिये समाप्त हो जाता है और वह शुद्ध ज्ञान मात्र स्वतः रह जाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या :-- साधक को चाहिये कि वह अपने को शरीर से भिन्न शुद्ध, पूर्णकाम चेतन समझे और शरीर रहते-रहते अशरीर की स्थिति का अनुभव करे।

ऐसो दिना कब आई हमार, पियार न आपन रूप के वादे।
हर्ष न शोक न मोर न तोर, न मेल विछोह कमी नहिं ज्यादे ॥

हानि नहीं तब लाभ कुछौ नहिं, मान अमान समान अस्वादे।
काटि के बन्धन देह के मोह को, नित्य स्वरूप स्वतंत्र अवादे ॥

साधना-दृश्य

दृष्टांत :— एक बृहद राजद्वार लगा है। रत्नजटित मनोहर सिंहासन पर अत्यन्त कांतिवान् नृपाल बैठे हैं, जिनका नाम विवेकराजा है। अस्त्र-शस्त्र-सहित एक तीव्र दूत सम्मुख खड़ा है, जिसका नाम शुद्ध मन है। कई अभियुक्त (अपराधी) पकड़ कर आस-पास बैठाये गये हैं। दूत शुद्ध मन से विवेकराजा बोले—चैतन्य सरकार को कष्ट देने वाले जितने अपराधी हैं, उन्हें क्रमशः मेरे सम्मुख उपस्थित कीजिये। दूत शुद्ध मन पाँच अपराधियों को सम्मुख लाया। विवेक राजा—इन सबों के क्या-क्या नाम हैं ? शुद्ध मन—वाकेन्द्र[1] चक्षु राज[2], श्रोत्रपाल[3] घ्राण चन्द्र[4] त्वचामर्ता[5]। पाँचो में श्रेष्ठ अपराधी वाकेन्द्र से विवेक राजा बोले—तुम लोग कौन-कौन-सा आहार करते हो ? वाकेन्द्र-पाँचों विषयों में से एक-एक विषय का। विवेक राजा—तुम लोगों को अपना अपना आहार निरस, रूखा-फीका और कम करना पड़ेगा। तुम लोग पंच विषय की आसक्ति में बाँधकर चैतन्य सरकार को बड़ा कष्ट दिये हो। इसलिये तुम सब कठिन दण्ड के पात्र हो। अच्छा ! अपनी-अपनी चंचलता त्याग कर शान्ति पूर्वक अपनी-अपनी गोलकों में जाकर स्थिर हो जाओ। इतना सुनतेही पाँचों अत्यंत भयभीत होकर अपनी-अपनी गोलकों में जाकर चित्र खिचित-सा स्थिर हो गये। पुनः दूत शुद्ध मन ने एक अपराधी को लाकर उपस्थित किया। विवेक राजा—तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? मनसिज— नर-नारि की देहों में सुख दर्शा कर परस्पर विषय के लिये आतुर करा देना। विवेक राजा—इससे तुम्हें क्या लाभ ? मनसिज—मेरा लाभ तो नहीं, किन्तु मैं न होऊँ तो संसार चक्र में जीव नाचे ही कैसे ? इतना सुनकर विवेक राजा ने इसे दृढ़

१—जिह्वा, २-नेत्र, ३—कान, ४—नाक, ५—चमड़ो, पंचज्ञान इन्द्रियाँ।

बन्धन से एक खम्भे में बँधवाया। पुनः दूसरा अपराधी लाया गया। विवेक राजा—तुम्हारा क्या नाम है? अपराधी—क्रोध। विवेक राजा—तुम्हारा क्या कर्तव्य है? क्रोध—प्रतिकूलता को बिलकुल न सह पाना, कटुवाक्य, ईर्ष्या, निन्दा, लड़ाई, झगड़ा उपस्थित कर देना। विवेक राजा—इससे तुम्हारा क्या लाभ? क्रोध—मेरा लाभ तो नहीं, किन्तु मैं न होऊँ तो त्रयताप, फाँसी, डामल, कारागृह के अनेकों दण्ड, कलह, विद्रोह, संसार के नाना उत्पात ही क्यों हो? विवेक राजा ने इसे महान क्रूर जानकर एक लोह के सांकल में मजबूत बँधवाया। तीसरा अपराधी सामने लाया गया। विवेक राजा—तुम्हारा क्या नाम है? अपराधी--लोभ। विवेक राजा--तुम्हारा क्या कर्तव्य है? लोभ—और-और की तृष्णा बढ़ा कर जीव को निन्नानबे के फेर में छोड़े रहना। विवेक राजा--इससे तुम्हें क्या लाभ? लोभ--मेरा लाभ तो कुछ नहीं; किन्तु मैं न होऊँ तो संसार-बाजार ही ठण्डा पड़ जाय। विवेक राजा इसे भी बँधवाया। चौथे अपराधी से पूछा—तुम्हारा क्या नाम है? अपराधी--मोह। विवेक राजा--तुम्हारा क्या कर्तव्य है? मोह—अनुकूल, मन भावन, प्राणी-पदार्थों में ममता बना देना। विवेक राजा—इससे तुम्हारा क्या लाभ? मोह--इसमें मेरा लाभ तो नहीं, किन्तु यदि मैं न होऊँ तो मनुष्य मात्र वैराग्य धारण कर संसार बन्धन से मुक्त ही हो जाय। विवेक राजा इसे भी बँधवाया और दूत शुद्ध मन से कहा कि यदि कोई अपराधी और हो तो उसे भी पकड़ लाओ। शुद्ध मन जाकर एक बचे हुए विकट अपराधी को लाकर उपस्थित किया। विवेक राजा—तुम्हारा क्या नाम है? अपराधी—अहंकार। विवेक राजा—तुम्हारा क्या कर्तव्य है? अहंकार—समाज शरीरादि सारी जड़-सृष्टि, में मैं-मेरीपन निश्चय करा कर जीव के सिर पर मद-आवरण चढ़ा देना। विवेक राजा—इससे तुम्हें क्या लाभ? अहंकार—मेरा लाभ तो नहीं, किन्तु यदि मैं न होऊँ तो संसार के सम्पूर्ण बन्धन ही क्यों खड़े हों? विवेक राजा

ने इसे सबसे बड़ा अपराधी जानकर एक खम्भे में उल्टा टँगवा दिया। निहाल हुए शुद्ध मन को संकेत करते हुए विवेक राजा बोले—अब अनादि काल का रहट चक्र समाप्त करके चैतन्य सरकार को निष्काम, निःशोक, स्वतंत्र, शान्त और मुक्त कर देना है, अतएव तुम भी अब शान्त हो जाओ और मैं भी अब लीन होता हूँ, ऐसा कहते-कहते दोनों निर्मल एवं लीन हो गये। अब वहाँ दृश्य का पूर्ण अभाव हो गया। केवल शुद्ध चैतन्य सरकार दुःख-द्वन्द्व-रहित विराजमान हैं।

इस दृष्टांत का तात्पर्य यह है कि जगत् में दुःख का ज्ञान होने पर विवेक और शुद्ध मन की उत्पत्ति होती है और विवेक तथा शुद्ध मन-द्वारा निग्रहशक्ति से पाँचों ज्ञान इन्द्रियों को छुड़ा कर स्ववश कर लिया जाता है, और कामादि पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार साधना की उच्च अवस्था में पहुँच कर जब शुद्ध मन और विवेक भी लीन हो जाते हैं; अर्थात् शुभाशुभ समस्त वृत्तियों का अभाव हो जाता है, तब सर्व दृश्य-रहित मात्र चेतन रह जाता है। अन्ततः स्वरूप निष्ठा पूर्वक प्रारब्ध बरतते हुए देह अभाव काल में दुर्गुण-सद्गुण, पंच विषयादि सम्पूर्ण दृश्यों का सर्वथा अभाव होकर शेष शुद्ध चैतन्य ही देहातीत रह जाता है। यही बनाना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

विदेह मुक्ति-पद का चिन्तन

पद

कब धौं होइहौं निर्द्वन्द्व ॥ टेक ॥

दुःख सुख अपमान मान न, शोक हूँ न अनन्द।
जन्म ना पुनि मरण हूँ नहिं, विगत तन मन फन्द ॥ १ ॥
अनल अनिल अकाश जल थल, दृश्य वर्ण न गन्ध।
सकल शून्य समान चिन्तन, जिस को नहिं सन्द ॥ २ ॥
भूख प्यास न शीत आतप, त्रिविधि तापन धन्द।
भूल भ्रम लज्जा घृणा नहिं, विविध मन कृत मन्द ॥ ३ ॥
जानि अपर जनाइबो, मिलिबो बिछुड़िबो द्वन्द्व।
सर्व से अभिलाष नीवृत, आप आप स्वछन्द ॥ ४ ॥

भूल लखे बिन जीव निज, फंदा सकल बनाहिं।
आपहिं रचि बन्धन लिये, आशा फाँसी ताहिं ॥८॥

टीका :— अपनी भूल अपनी दृष्टि में न आने से जीव ने रागजनित सम्पूर्ण बन्धनों को बनाते आया है। आप ही मनुष्य जड़-भोगों में सुख मान-मान और भोग-भोग कर आसक्ति-बन्धन का निर्माण कर हृदय में धारण करते आया है, वही विजाति आशा ही जीव के लिये फाँसी रूप हो गयी। यथा—

"आपहिं बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा ॥बी"॥

दोहा :— 'जैसे पाँखी की दशा, देखत पाँखी आन।
तद्यपि कूदत दीप में, त्यों-विमोह बलवान ॥ विश्रा०॥

जैसा जीव स्वतंत्र है, तैसा जो ठहराय।
बाकी रहा न करन कछु, चेतन स्वतः रहाय ॥९॥

टीका :— जिस प्रकार अविनाशी जीव माया-रहित स्वरूप से स्वतंत्र, स्वच्छंद, शुद्ध रूप है, यदि वैसे ही सद्गुण युत अपने में स्थित हो जाय, तो उसे बाकी कुछ करने को न रहा, क्योंकि वह अमृत स्वरूप अपने आप ही है, फिर अपने आप में तृप्त हो जाने पर दूसरे की आवश्यकता ही क्या ? अतएव सदा के लिये चेतन जीव अपने में स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

अपनी स्थिति प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता

स्त्री, पुत्र, गृह धन प्राप्ति की कामना, विज्ञान सम्बंधी अनुभव-द्वारा आकाश-पाताल तथा प्रकृति को खोजने की कामना, सबसे बड़ा बनने की, सबको अपनी ओर आकर्षित कर सर्व प्राणी, जन-समाज पर स्ववशता स्वामित्व की कामना, मान, बड़ाई, शरीर-सेवा की कामना, दास-दासी, पद-प्रतिष्ठा तथा मुख्य स्थिति को छोड़ अशान्त होकर शिक्षा-दीक्षा प्रचार-प्रसार की कामना एवं अविनाशी स्थिति के अतिरिक्त शुभाशुभ कोई कामना जब तक शेष है, तभी तक इस निष्प्रयोजन,

स्वप्नवत् संसार से मनुष्य अपना अर्थ समझता है और बाहरी पदार्थों के लिये अशान्त होता है, और जब अपने अविनाशी स्वरूप को सबसे भिन्न तथा शुद्ध जानकर सद्‌रहस्यों-द्वारा क्रमशः उपर्युक्त सर्व कामनाओं एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण आशाओं से निष्काम हो जाता है और अपने अचल स्वरूप में ही पूर्ण संतोष को प्राप्त हो जाता है, तब पुनः उसे कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। जैसे प्रारब्ध-यात्रा में सर्व जीवों को प्राण अतिशय प्रिय है, वैसे स्थिति-यात्रा में स्थितवान् को शान्ति रूपी प्राण अतिशय प्रिय है, क्योंकि स्थिति का प्राण (आधार) शान्ति ही है। अतएव बाह्य भासमान् का अभाव कर स्वरूप में शांत होना चाहिये।

आगे पीछे भाव तजि, वर्तमान को शोध।
शौरज क्षमा विराग दृढ़, गहि स्वरूप को बोध ॥१०॥

टीका :— भूत भविष्य की कल्पनायें छोड़कर वर्तमान में अपने कल्याण की बातें विचारो और वीरता, क्षमा, दृढ़ वैराग्य तथा स्वरूप बोध को धारण करके अपना कल्याण करो ॥ १० ॥

व्याख्याः— आपके जीवन का कितना ही समय बीत गया हो, तथा कितना ही आने वाला हो, उनका कोई महत्त्व नहीं, कोई आशा-भरोसा नहीं। वर्तमान समय का ही महत्त्व है। उसी में आप अपना कल्याण कर सकते हैं। जिस समय में आप को अपना दुःख छुड़ाना है, वह वर्तमान ही है, आप भूलें नहीं। प्रसिद्ध विद्वान लांग फेलो [Longfellow] भी कहते हैं Trust no future however pleasant ! अर्थात् 'भविष्य कैसा भी मनोहर हो; परन्तु उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। Let the dead past bury its dead अर्थात् भूत काल मरा हुआ और दफनाया हुआ है। अतएव Act act in the living present ! अर्थात् वर्तमान का अस्तित्त्व है, उसी में काम करो।

"भूत भविष्य सब देउ बहाई। वर्तमान में बरतो भाई ॥"

बोध न ढीलै विघ्न लखि, रहै अपन मन मारि।
धन्यवाद तेहि जीव को, सद्रहस्य को धारि ॥११॥

टीका:—शारीरिक, मानसिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं कोई भी विघ्न-बाधा देखकर अपने बोध-वैराग्य को नहीं छोड़ना चाहिये। बल्कि सर्व विघ्न तथा दुःख सहन करते हुए अपना मन मार कर सद्पन्थ में चलना ही परम श्रेय है। वे ही पुरुष धन्य हैं, वन्दनीय हैं, जो विवेक, वैराग्य धारण कर और वीर बनकर अपने मार्ग को तय करते हुए चले जाते हैं, अपनी अमर स्थिति के लिये एक जीवन दुःख में बिता देना, बोली-ठोली, मार-कूट सह लेना, भिक्षा के अन्नों से उदर पोषण कर लेना घास-पत्ता और पानी से निर्वाह कर लेना, तथा संसार के सम्पूर्ण दुःखों को सह लेना सर्वोपरि है, परन्तु इस जन्म-मरण रूप कष्टप्रद यमसदन का पुनः दर्शन करना उचित नहीं ॥ ११ ॥

मरि मरि मन फिर फिर जगै, ऐसा सुक्ष्म हाल।
गुरू बिना नहिं लखि परै, परे काल के गाल ॥१२॥

टीका:—बोध-वैराग्य के अभ्यास-द्वारा मन को मिटा देने पर भी प्रारब्ध-कुसंग जब तक सम्मुख रहता है, तब तक मन पूनः-पुनः जागृत होता रहता है, इस प्रकार मन का सूक्ष्म रहस्य है। बिना गुरु-पारख-दृष्टि की एकरस धारणा के यह सूक्ष्म गति परखने में नहीं आती और मन रूपी काल के गाल में जीव पड़ा रहता है ॥ १२ ॥

व्याख्या:—बाहरी प्राणी-पदार्थ तथा समाज-कोलाहल एवं अज्ञान से बना हुआ अन्तःकरण, प्रारब्ध, भूल दुर्गुणों में ही विशेष बलदायी समझ कर और अपने को वासना से प्रतिक्षण बँधा जानकर शरीर प्रारब्ध रहे तक साधु-गुरु की उपासना, प्रबल वैराग्य, परीक्षा, मनोद्रष्टा एवं सद्रहस्य साधन में तत्पर रहना चाहिये। कभी मन में अहंकार-असावधानी भर कर सद्पुरुषार्थ से हीन नहीं होना चाहिये।

साधना का प्रेम

दृष्टांतः—श्री गुरुदेव से शिष्य ने शंका की कि हे गुरुदेव! मैं मन को जीतने के लिये विविध उपाय करता हूँ, किन्तु वह बार-बार मुझे भुला दिया करता है। मन की चतुरता को मैं नहीं परख पाता, इसका क्या कारण है ? गुरुदेव बोले—जैसे किसी ने एक कुत्ता जिला लिया है, उसको वह बहुत प्यार करता है, प्राणों के सदृश मानता है किन्तु वह कुत्ता अपने स्वामी की हानि ही करता गया। कुछ दिन उपरान्त स्वामी कुत्ते को अपना घातक समझ कर हटाना चाहा, किन्तु कुत्ता बार-बार हटाने पर भी नहीं जाता; क्योंकि वह बहुत दिन का मुहलग्गू हो गया था। निदान कुछ दिन उसके भोजन, सेवादि बन्द हो जाने से और बार-बार हटाने से स्वामी का घर कुत्ता छोड़ दिया। इसी प्रकार जीव रूपी स्वामी ने मन रूपी कुत्ते को अनादि काल से प्राणों से प्यारा मान कर जिला रखा है। जीव ने मन की खूराक विषय-भोग उसे नित्य देता आया, अब आज मन मित्र गुरुज्ञान से काल रूप समझने में आता है और उससे जीव अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है, किन्तु वह अनादि काल का मुहलग्गू होने से तुरन्त पीछा नहीं त्यागता। हाँ! यदि कुछ काल तक एक चित्त से भक्ति, बोध, वैराग्यादि का निरन्तर अभ्यास किया जाय और उसकी खूराक विषय-भोग उसे न दिया जाय, और रात-दिन अपने को दुःख तथा वासना-बन्धनों के बीच में जान कर समस्त-प्रपंच-वार्ता, शरीर-इन्द्रिय तथा भोग-मान्य की सूक्ष्म आसक्ति व क्रियाओं को नष्ट करते हुए हर क्षण एकरस सजगता पूर्वक मन की परीक्षा किया करे, दुःख रूपी देह-इन्द्रिय-भोगों में सुख न माने, अपने दुर्गुणों पर ही पूर्ण लक्ष्य रख कर सर्वदा उसे मिटाने में लगे रहे, तो धीरे-धीरे मन सदा के लिये समाप्त हो जायगा एकरस बोध-वैराग्य का अभ्यास करने से मन शीघ्र पकड़ में आ जाता है। जो मन आज एक क्षण भी पकड़ में नहीं आता, वह वैराग्य-अभ्यास-

द्वारा किसी दिन स्वयं शान्त हो जाता है। मानसिक गति शान्त हो जानी ही स्थिति है। स्थितिवान का चित्त संसार-शरीरादि तथा भोग-प्राणियों से सर्वथा पृथक हो जाता है। उस अवस्था में समस्त दृश्य वर्गों से चित्त का सम्बन्ध टूट जाता है, मन की गति स्ववश हो जाती है। सारा संसार उनके लिये तृण वत् हो जाता है। किन्तु हे शिष्य! ऐसी स्थिति असावधानी तथा वेष में आकर केवल पुजाने-खाने अथवा दुचित्तपन से किये हुए थोड़े साधन से नहीं होती; बल्कि दृढ़ निश्चयता युक्त रात-दिन बोध-वैराग्य के अभ्यास करने से, बाह्य भावनायें निकालने से निज दुर्गुणों को सदा शोधने से ही होती है। जैसे किसान प्रातः से संध्या तक खेत में हल चलाता है; या फावड़ा कुदाल भाजता है। यदि भोजन करने भी बैठता है, तो मन काम करने ही में लगा रहता है। कामी कोई भी काम करता है, किन्तु कामिनी को एक क्षण भी नहीं भुलाता। भला बतलाइये! इस प्रकार मन जीतने में और स्वरूप-स्थिति में कहाँ लगा जाता है? हाँ! कोई बिरले पुरुष लगते हैं। अतएव जब इसी प्रकार लगा जायगा तभी स्थिति प्राप्त होगी। किसी कामी नवयुवक का विवाह न होता हो, वह स्त्री के बिना विक्षिप्त-सा फिरता हो, इतने में कोई आकर उसका विवाह करने को निश्चय करे, तो वह कितना प्रसन्न होगा? उसे खाते, पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते प्रतिक्षण यही ध्यान रहेगा कि कब मेरा शीघ्र विवाह हो और स्त्री को घर में लाऊँ। इसी प्रकार स्वरूपस्थिति रूपी वधू बिना जीव अनादि काल से दुखी है, गुरुदेव आकर स्वरूपस्थिति-प्राप्ति के लिये सरल साधन बतला दिये, अब यदि हम सच्चे मोक्ष इच्छुक हैं तो उस कामी की भाँति हमें स्थिति के लिये एक चित्त डट जाना चाहिये। खाते पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते जब और कुछ न सुहाय; बस अपनी ओर ही सर्वदा चित्तवृत्ति खिंची रहे। अपवित्र, दुःखपूर्ण, चर्मस्पर्श-के लिये कामी कितना कटिबद्ध रहता है। शोक है! जो हम अपनी अमर स्थिति के लिये अपना बलि न चढ़ा दें। दृढ़ वैराग्यवान् कामी

मोहियों से भी अति प्रेम स्वरूपस्थिति की ओर रखते हैं। तभी वे काल रूपी कायागढ़ की लड़ाई में मन-शत्रु को मार गिराते हैं। हे शिष्य! उपरोक्त भावानुकूल तुम भी भक्ति, बोध एवं वैराग्य-अभ्यास में जुट जाओ, फिर मन सदा के लिये समाप्त हो जायगा और अचल स्वरूपस्थिति मिल जायगी।

शिष्य का जिज्ञासा मनन और याचना

हमारी लगन स्थिती में सदा हो, यही दृष्टि दाया प्रभू कीजियेगा ॥टेक॥
सभी छोड़ना आज वो काल में है, प्रथम से निराशा करा दीजियेगा ॥ १ ॥
हमारा समय गाफिली में न जावे, सजग बीरताई करा दीजियेगा ॥ २ ॥
नहीं आप को मान सुख हेतु भूलूँ, शरण भक्ति में मन लगा दीजियेगा ॥ ३ ॥
कथन से रहन नित्य ही श्रेष्ठ होवे, मेरा ध्येय आगे सदा कीजियेगा ॥ ४ ॥
जगत के दुखों को कभी भी न भूलूँ, अहं देह मन का मिटा दीजियेगा ॥ ५ ॥
स्वयं शान्ति का ना कभी ध्यान जावे, स्वतः रूप में मन बसा दीजियेगा ॥ ६ ॥
यही एक अभिलाष है और बाकी, अमर आप हूँ बस अमर कीजियेगा ॥ ७ ॥

सन्त विवेकी पारखी, तिनके नहिं अध्यास।
करत रहैं खरशान नित, तजि माया प्रति भास ॥१३॥

टीका :—जो विवेकवान् पारखी सन्त हैं जिन्हें जगत् दुःख रूप प्रतीत होता है, जो स्वरूपस्थिति ही एकमात्र अपना कर्तव्य समझते हैं; वे इस मृतक संसार के समस्त सुख-आशा-तृण को जला देते हैं। उनके हृदय में देह धराने वाली वासना नहीं रह जाती। प्रारब्धिक आवरण रूप देह भोग जो सम्मुख है उसे निरासक्ति पूर्वक भोगते हुए मनन दृश्य को सदा खरसान किया करते एवं मनन संकल्प को नित्य त्यागते हुए स्वरूप भाव में दृढ़ रहते हैं। माया-काया के सुख भ्रम को जड़ मूल से ध्वंस करते रहते, जैसे नश्वर, दुःखपूर्ण, जड़, अपवित्र शरीर है वैसे दृष्टि में रखते हैं ॥१३॥

जिन्हें बोध अपरोक्ष है, तिन्हें भरम नहिं कोय।
बोध बिना भ्रम ना मिटे, जीव सदा दुख रोय ॥१४॥

टीका :— जिन्हें अपने आप स्वयं प्रत्यक्ष का बोध है, उन्हे किसी

प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। बिना यथार्थ स्वरूपज्ञान हुए भ्रान्तियाँ मिट नहीं सकतीं, फलतः जीव सदैव दुःखों में पड़ा रोया करेगा ॥ १४ ॥

सोरठा

गुरु बोध है आदि, बन्धन भूल अनादि यह।
सब मानन्दी बादि, बोध भये मिट जात है ॥१५॥

टीका :—यह स्वस्वरूप की भूल तथा विषयासक्ति रूप बन्धन अनादिकाल से है और स्वरूप का बोध बीच में होता है; परन्तु संसार की सभी अहन्ता-ममतायें मिथ्या होने से स्वरूप का यथार्थ बोध होने से वे मिट जाती हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या :-वासना ही बन्धन है, और वासनायें छोड़ देने से छूट जाती हैं, यह सभी विवेकियों का अनुभव है; इसलिये जाना जाता है कि अपना स्वरूप वस्तुतः निर्बन्ध एवं मुक्त है। इधर वासनाओं का बन्धन भी प्रत्यक्ष है। यह बन्धन कब से है ? इसे अनादि मानने के सिवा कोई चारा नहीं है। यदि माना जाय कि अनादि से जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीर और वासनाओं से सर्वथा मुक्त तथा विदेह था, तो विदेह मुक्त जीव को किसी प्रकार का बन्धन प्राप्त होना सम्भव नहीं हो सकता। स्थूल शरीर से कर्म करके सूक्ष्म वासनायें बनती हैं और सूक्ष्म वासनाओं से स्थूल शरीर बनता है और जहाँ वासना-शरीर दोनों न हों, वहाँ किसी प्रकार का बन्धन कैसे सम्भव होगा ? अतएव निष्कर्ष निकला कि जीव के पास स्थूल-सूक्ष्म अर्थात् वासना-शरीर का बन्धन प्रवाह रूप अनादि है।

प्रश्न हो सकता है कि अनादि बन्धन मिट नहीं सकता; क्योंकि अनादि वस्तु मिटती नहीं ? उत्तर में समझना चाहिये कि जो वस्तु स्वरूपतः अनादि होती हैं वह अवश्य नहीं मिटती; परन्तु जो वस्तुयें प्रवाह रूप अनादि होती हैं, उनमें से बहुत से विरोध पड़ने पर मिट जाती हैं। जैसे बीज-वृक्ष प्रवाह रूप अनादि हैं; परन्तु बीज को आग में सेंक देने पर उससे पुनः वृक्ष नहीं होता। इसी प्रकार वासना और

शरीर प्रवाह रूप अनादि हैं परन्तु वासना के अभाव से पुनः शरीर नहीं हो सकता। अतएव अनादि बन्धन मिट सकता है।

बन्धन तो अनादि सिद्ध हुआ, परन्तु स्वरूप बोध आदि ही होगा। अर्थात् बन्धन अनादि से है, जिस जीव को विवेक हुआ और गुरु-द्वारा या स्वतः विवेक से बोध प्राप्त किया वह बन्धनों को तोड़ा। स्वरूप बोध के दाता और ग्राहक गुरु-शिष्य को बीज-वृक्षवत, प्रवाह रूप अनादि नहीं माना जा सकता। करोड़ों अरबों गुरु-शिष्यों की परम्परा गिनाया जाय तो भी अन्ततः यह निर्णय आयेगा कि अरबों गुरुओं के प्रथम भी जो पुरुष गुरुबोध तथा गुरु पद प्राप्त किये, वे देह धारी ही थे; और देहधारी का बन्धन अनादि है। पहले रोग-पीछे औषध होती है।

यह ध्यान रहे, चेतन स्वरूप का बोध या परिचय आदि होने से चेतन स्वरूप आदि नहीं हो जायगा, वह तो अनादि ही है। जैसे विज्ञानी जन प्रकृति के गर्भ से अनेक वस्तुयें खोज-निकालते हैं तो उनकी खोज नयी कही जा सकती है, परन्तु वस्तुयें तो अनादि ही हैं। इसका विस्तार देखना हो तो मेरी लिखी बीजक टीका की भूमिका के 'तृतीय खण्ड' दार्शनिक सिद्धान्त के २१ वें प्रसंग 'पारख की अनादिता' तथा साखी प्रकरण के २११ वीं साखी 'बहु बन्धन से बाँधिया. . .।' की टीका पढ़नी चाहिये।

बन्धन अनादि है, इसमें संदेह नहीं। विवेक-द्वारा उसका अभाव होता है यह विवेकियों का प्रत्यक्ष अनुभव है। अतएव बन्धन कब से कैसे हुआ आदि के उधेड़-बुन में अधिक पड़ने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत बन्धनों को निवृत्ति करना है। महाराजा बुद्ध का यह उदाहरण स्मरणीय है कि पैर में चुभे हुए काँटे को तुरन्त निकाल फेंको। "वह कहाँ से आया, कौन लाया, जो लाया वह कौन जाति वाला था आदि जानकर काँटा निकालूँगा"—यह हठ अज्ञानपूर्ण है।

काम, क्रोध, ईर्ष्या, विषयासक्ति, देहाभिमान आदि बन्धन प्रत्यक्ष हैं, ज्ञान-वैराग्य-द्वारा उनका नाश प्रत्यक्ष होता है; और उनके नष्ट हो

जाने पर जीव को परमशान्ति की प्राप्ति होती है। बस, यही करना मनुष्यों का या कम-से-कम साधकों का परम कर्तव्य है।

(जीव को भूल विवश मानन्दी युत देह धरने का हेतु वर्णन)

जमा आपने आप जिव, जड़ सम्बन्ध भुलंत।
सो सम्बन्ध अनादि का, विषय देह करि हंत ॥१६॥

टीका:— जीव स्वतः अविनाशी है, वह जड़ के सम्बन्ध में भूलते आया है। यह सम्बन्ध प्रवाह रूप अनादि है, अनादि काल से पाँचों विषयों तथा शरीर में अहंकार करके बँधा है ॥१६॥

काल देह मन विषय सुख, तेहि को करि अति पुष्ट।
याते जन्म प्रवाह चलि, कैसे हो सन्तुष्ट ॥१७॥
जहर जौन अमृत लखै, चखै प्रेम से ताहि।
हंकरि हंकरि बहु दुख सहै, तदपि गहै पुनि वाहि ॥१८॥

टीका:— शरीर, मन तथा पांचों विषयों में सुख की कल्पना ही काल हैं; इसे जीव अत्यंत दृढ़ कर रखा है। इसीलिये जन्म-मरण का प्रवाह चलता रहता है, जीव कैसे सन्तोष को प्राप्त करे ॥१७॥ जो विषयासक्ति विष तुल्य है उसे अमृत के तुल्य समझता है और उसी का सप्रेम आस्वादन करता है। उसके परिणाम में हाय-हाय करके अपार कष्टों को सहता है, परन्तु उन्हीं विषयों को ग्रहण करता है।

शब्द विषय स्पर्श है, रूप और रस गन्ध।
जिभ्या नेत्र रु घ्राण से, श्रोत्र त्वचा गहि बन्ध ॥१७॥
आदत जेहि की जौन में, करत सोई कर्तव्य।
पंच विषय से पृथक नहिं, और कोई मन्तव्य ॥२०॥

टीका:— शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पांच विषय है; उन्हें श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नाक से ग्रहण करके जीव बन्धन में पड़ा है ॥१९॥ जिनका व्यसन जिस विषय में लग गया है, वे उसी के लिये

सारे पुरुषार्थ करते हैं; परन्तु भूले लोगों का लक्ष्य पाँचों विषयों के कल्पित सुख-प्राप्ति से पृथक नहीं है ॥२०॥

शिक्षा—स्त्री, पुत्र, धन, रूप, यौवन, विद्या, वाणी, लोकचातुर्य, स्वामित्व, पद, प्रतिष्ठा एवं सांसारिक पंच विषय भोग मनुष्य के अंतिम और परम लक्ष्य--शान्ति-स्थिति को नहीं पूर्ण कर सकते; प्रत्युत ये उससे दूर ही करने वाले हैं। अतएव हे मानव ! तू अपने अविनाशी स्वरूप में जागृत् हो और इस असार संसार की मोह-माया त्यागकर। अन्त में यह निकम्मी काया भी साथ देने वाली नहीं, अमोल जीवन वायुवेग से भी तीव्र गति से बीतता जाता है, अतः सावधान ! कवित्त-

पल छिन दण्ड वो सिकण्ड हूँ तो बीति चले,
मिनट घरी वो दिन मास हूँ विनाश है।
सम्वत् वो बाल्य वो कुमार हूँ जवानी गयी,
वृद्धताई आई गयी गाँठि हूँ बतास है॥
हीलत चलत अरु डोकरो दिखात अति,
ताहू पे करत मूढ़ विविध दुराश है।
परलोक हित पल चित हूँ न चेतकरे,
नित्य-नित्य भोगन को और अभिलाष है॥ १॥

असार संसार में अपना कल्याण ही सार है

दृष्टांत--एक नगर में चन्द्रभूषण और विलासचन्द्र दो मित्र रहते थे। चन्द्रभूषण सात्वकी और विलासचन्द्र रजोगुणी था। विलासचन्द्र आकर चन्द्रभूषण से कहता है—अहो मित्र ! हम दोनों की कैसी युवा अवस्था की छटा है ! सुन्दर शरीर भी मिला है, विद्या भी कई प्रकार की पढ़ चुके हैं, सुन्दर-सुन्दर नवयुवतियाँ भी प्राप्त हैं, धन जन की कोई कमी नहीं। अहह ! धन्य-धन्य ! हम सब बड़े भाग्यशाली हैं, चलिये मित्र ! अच्छे-अच्छे भोग भोगे जायँ। चन्द्रभूषण--आप की बुद्धि तो नहीं मारी गयी है ? ये सब महान रोग-शोक पूर्ण विषय भोगों को सुख-रूप बतला कर भोगने को कहते हो। बिना सद्‌गुण-आचरण एवं सत्संग

भक्ति के विद्या, सुन्दर युवा पूर्ण शरीर तथा मानव जन्म क्या भार स्वरूप नहीं हैं ? कंचन-कामिनी भोग की तृष्णा बढ़ा कर एवं राग-द्वेष उत्पन्न कर क्या ताप में जलाने वाले नहीं हैं ! फिर क्यों उन्हें भोगने को कहते हो ? विलासचन्द्र—क्या मित्र जी ! आप का मस्तिष्क उल्टा हो गया है, जो साधुओं की-सी बात करते हो ? ये सुन्दर भोग सदा सुख ही देनेवाले हैं, इनमें दुःख कहाँ ? ज्ञात होता है आप किसी साधु के बहकाने में आ गये हैं क्या ? चन्द्रभूषण—आप की अज्ञानपूर्ण बातें हमें अच्छी नहीं लगतीं। क्या विवेकी साधु किसी को बहकाते हैं कि विषय विकारजन्य कुमार्ग छुड़ा कर सन्मार्ग पर लाते हैं ! देखिये ! अमोल जीवन आज तक जो भूल में गया सो गया, किन्तु अब न खोऊँगा; अब सर्व मोह-माया त्याग कर सत्संग का ही आधार पकड़ूँगा, हमें अच्छा अवसर मिल गया है। क्योंकि—

छन्द

यौवन अवस्था प्राप्त कर वैराग्य करना है भला।
अभ्यास हनि लहि थीर पन आवागमन देवे जला ॥
वैराग्य बिन ज्ञानी गयी बिन बारि बादल पेखना।
होवे घटा घनघोर पे पानी बिना क्या देखना ॥१॥

अहो ! मैं धन-जन, विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, ठाट-बाट, विषय-भोग ही को अपना जीवन-लाभ मान रखा था; परन्तु वे सब निश्चयताएँ कितनी निरी उल्टी थीं हमारा जीवन लाभ, हमारी श्रेष्ठता, हमारी विद्वता केवल गुरुशरण पकड़ कर सर्व विषय-विकार, संसार-स्वप्न की मोह-माया त्यागना तथा अपना कल्याण करना ही है। क्योंकि—

चौपाई

नर शरीर स्वतंत्र सुख साजा। पाय न भजन करे बड़ लाजा ॥
नश्वर तन धन तिय गृह भूरी। अन्त काल होवहिं सब धूरी ॥
बड़ कुल, बड़ धन, बड़ गुण ज्ञाना। धर्म भक्ति बिन पशू समाना ॥
उभय दिवस जीवन लघुताई। करिहौं भजन त्यागि ममताई ॥

खोद्र भरन हित पशू प्रवीना। वतनइ किहौं काह तव कीन्हा ॥
नर शरीर धरि भक्ति न ठाने। सत्संगत न संत सन्माने ॥
अथवा गहहिं न विरति विवेका। मोक्ष पंथ नहिं धारहिं टेका ॥
पर उपकार करहिं ना दाया। फिरैं बेहोश अहं गहि माया ॥
और और दौरहिं दिन राती। सुत कलत्र हित जोरहिं थाती ॥
तृप्त न होय अग्नि तृण पाई। तथा न शान्त होय क्षणकाई ॥
को हम कहाँ आय पुनि जइबै। को हमार पुनि काह कमइबै ॥
करहिं न क्षण विचार मन माहीं। भजन भक्ति नहिं ताहि सुहाहीं ॥
नर तन धरि तेहि केर अकाजा। पढ़ वो अपढ़ प्रजा चहे राजा ॥
याते सकल मोह मद त्यागी। श्री गुरु पारख पद अनुरागी ॥
सपन जगत् माता पित देहा। गृह दारा कुल मित्र सनेहा ॥
निपट भर्म बाजीगर खेला। शाम भये उजरचो जिमि मेला ॥
बहुत पथिक बहु दिशा प्रदेशी। जिमि निशि मन्दिर माहिं प्रवेशी ॥
होत भोर निज पंथ सिधारहिं। तिमि सब जीव पंथि अनुसारहिं ॥
नहिं कोइ मात पिता नहिं नारी। नहिं धन देह न मित्र अटारी ॥
क्षणिक सबहिं निज रूप नियारा। केहि से द्वेष करों केहि प्यारा ॥
जन्म-मरण मूलक अज्ञाना। देह सनेह वासना नाना ॥
ताहि त्यागि स्थिर अब होइहों। अमृत बोध स्वरूप समइहों ॥
खानि बानि सब दुखद स्वरूपा। अमल अबन्ध शान्त निज रूपा ॥

दोहा—तेहि ते नहिं कछु काम अब, विषय भोग जग केर।
थीर होउँ पारख स्वतः, जहँ सुख शान्ति घनेर ॥ १ ॥

इधर तो चन्द्रभूषण इस प्रकार विचार में निमग्न था, और उधर विलासचन्द्र ने पूरे नगर में प्रचार कर दिया कि चन्द्रभूषण अब आज-कल में संसार त्याग कर अवश्य वैराग्य ले लेंगे। निदान चन्द्रभूषण के श्वसुर बुलाये गये जो कि पास के जिले में वकील थे। वकील जी चन्द्रभूषण को समझाने लगे—बेटा! पढ़-लिख कर, उच्च जाति में होकर कुल न बोरो। साधु वह हो जिसके कोई न हो। तुम्हारे जैसे के लिये साधु होना-वैरागी होना लज्जायुक्त एवं सभ्यता के प्रतिकूल है।

अभी तुम्हें खेलने-खाने का समय है, कुछ मानव-जीवन, यौवन, विद्यादि का लाभ तो उठा लो। चन्द्रभूषण—अरे वकील जी! क्या मनुष्य तन, यौवन, विद्यादि का लाभ विषय ही है? क्या भोग पशु नहीं भोग लेते? क्या रूप विषय में आसक्त हो पतंगी दीपक में नहीं जल मरतीं? क्या गंध विषय में भँवरा नहीं मारा जाता? क्या शब्द विषय में मृगा अपना जीवन नहीं खोता? क्या स्पर्श विषय में हस्ती नहीं बाँधा जाता? क्या रस विषय में मछली, चींटी, शहद-मक्खी नहीं प्राण नष्ट करतीं? अर्थात् पतंग, मातंग, कुरंग, भृङ्ग, मीनादि भी विषय भोग की मस्ती-वश अपना जीवन स्वाहा करते हैं। सर्प, बिल्ली, कुत्ता, शूकर, पशु, पक्षी आदि भोग-भोगते ही रहते हैं। इन्हीं पंच विषयों को भोग कर ही अपने मानव-जीवन का लाभ माने तो उन पशु-पक्षियों तथा कीट-पतंगों से क्या वह विशेष हो गया? धर्म, भक्ति, विवेक, इन्द्रियसंयम-रहित अधिक अंग्रेजी-संस्कृतादि विद्या पढ़ कर एवं विविध भाषा बोल कर क्या उन मेंढकों के सदृश नहीं हुआ जो गड्ढों में पड़े व्यर्थ टर्र-टर्र किया करते हैं? सारांश—अपना जीवन लाभ विवेकी साधु-गुरु की शरण, सद्गुण ग्रहण, दुर्गुण हरण, स्वरूप रमण एवं शान्ति-स्थिति प्राप्त करने में ही है। इन्द्रियों का स्वाद तो कीट-पतंगादि भी लेते रहते हैं।

वकील—हाय! हम अपनी पुत्री का विवाह आप के साथ कर दिये थे, आप को साधु होने के लिये नहीं। भला! विवाहिता पत्नी का त्याग कर आप साधु होंगे तो आप की साधुता पूर्ण होगी कि आप एक महान पापी हो जायँगे? चन्द्रभूषण—भला! अज्ञान पूर्वक स्त्री के साथ विषय-सम्बन्ध करके, स्वयं दुःख उठा कर, उसे भी महान नर्काग्नि में झोंक देना है कि सुख देना है? जिस विषय-क्रिया से विषय-तृष्णा अथाह होकर नर-नारि सदा दुःखों से कराहते रहते हैं। पुनः पुरुष को नाना भार, नाना शोक होकर बल, वीर्य, धर्म, भक्ति अर्थात् लोक-परलोक के सच्चे सुखों से हाथ धोना पड़ता है, और स्त्री को तो पूरी

भगिनी बननी पड़ती है। पुत्र न होने, होकर रोगी रहने, मर जाने, अन्न धन की कमी रहने, अधिक धन-कुटुम्बादि प्राप्ति में तृष्णा, ईर्ष्या, परस्पर विरोध; रहने आदि में हर प्रकार भोगी जीवन में दुःख-ही-दुःख की अधिकता रहती है। इन सब बातों का सभी को अनुभव है। अतः मैं स्वयं दुःख की खाई में गिर कर और स्त्री को भी दुःख नहीं देना चाहता। "जो लोग घर-द्वार त्याग कर साधु हो जाते हैं, उनको पाप पड़ता है" ऐसा कहने और समझने वाले निर्बुद्धि हैं। पापी तो वह है जो विषय करके स्वयं दुखी हो, दूसरे स्त्री को भी नाना कष्ट के कूप में ढकेल दे, तीसरे अन्य जीव को गर्भ कूप में झोंक दे, और निर्विषय होने से तो सब को सुख-ही-सुख है। बल्कि विषयाध्यास ही पाप है। अतः धीरे-धीरे सभी को विषय-विकार का त्याग करना चाहिये। इसमें सिवा दुःख के किसी को सुख नहीं होता। इतना सुन कर वकील ने पूछा निदान आप चाहते क्या हैं? चन्द्रभूषण बोला—

पद

वही चाहता हूँ जहाँ है न कोई,
सदा के लिये बस हमी ही हमी हैं॥ टेक॥
दोहा—सकल दृश्य संसार नहिं, जल थल पावक पौन।
मिलन वियोगी दुख नहीं, नहिं आवन नहिं गौन॥
नहीं राग वो द्वेष मन वश जगत् है,
नहीं मान अपमान कोई कमी है॥ १॥
दोहा—दुखद स्वरूपी देह नहिं, नहीं मानसिक ताप।
जानि जनावन से रहित, सदा अकेले आप॥
न दैहिक न दैविक न भौतिक जलन है,
नहीं हर्ष विसमय न कोई गमी है॥ २॥
दोहा—अमर असंगी अचल पद, निर्विकार निर्भीत।
तन मन जगत् उपाधि गत, जन्म मरण दुखतीत॥
अगम शान्ति सागर अनोखा परम् पद,
सकल कामना पूर आपी अमी है॥ ३॥

दोहा—देह गेह धन क्षणिक सब, जन पंथी संसार।
कोइ काहू का है नहीं, मतलब के सब यार।।
उदासीन होकर जगत् देह मन से,
मिले मुक्ति अभिलाष मन में रमी है।। ४।।

ऐसा दृढ़ संकल्पमय वाक्य सुन कर चन्द्रभूषण के श्वसुर ने चन्द्रभूषण के पिता से जाकर बोला—

दोहा—जन्यो पुत्र आगंत कहँ, हमरो करिहैं, सेव।
सो सुत घर धन त्यागि के, करत साधु कर भेव।।

पिता उत्तर-

धन्य भाग्य मेरो प्रबल, जो सुत होवत सन्त।
यह पद कोइ इक पावहीं, जेहि कर फल अनगंत।।
धन्य मातु पितु धन्य कुल, धन्य ग्राम धनि देश।
जहँ सुत जन्महि सन्त ह्वै, काटहि पाप कलेश।।

इतना सुन कर वकील जी चन्द्रभूषण की माता के पास गये और बोले—

सुत उपजाइउ स्वार्थ हित, गर्भ सेय नौ मास।
सो सुत साधू होत हैं, बड़ अभाग्य परकाश।।

माता उत्तर—

शूकर कूकर इव जनहि, मातु पुत्र जग माहिं।
खेलि खाय खोवहिं वयस, ताड़हि माँ पितु काहिं।।
धन्य कोख मेरो भयो, सुत उपज्यो ह्वै सन्त।
आप तरहि तारहि जगत्, चले सुकृत के पंथ[1]।।

चन्द्रभूषण के श्वसुर अपनी पुत्री के पास गया और बोला—

दोहा—भाग फुटो तेरी सुता, तव पति होवत साधु।
सब सुख तव माटी मिल्यो, जीवन भौ बरबादु।।

---

१ चौ०—पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई।
नतरु बाँझभलि बादि बियानी। राम विमुख सुत ते हित हानी।।
(रामायण)

चन्द्रभूषण की स्त्री का उत्तर—

दोहा—पचहिं नारि के भोग में, सर्व पुरुष जग केर।
काम जीति भूपति भयो, धन्य धन्य पति मेर ॥
काम फन्द में सुख कहाँ, जलनि रैन दिन घोर।
पति प्रताप तेहि से बच्यों, उदय भाग्य भौ मोर ॥

सोरठा

जीवन निरस बिताय, करि गुजार संतोष युत।
रहब भक्ति लौ लाय, जाहु पिता घर आपने ॥

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति, संतोष युत घर वाले रहने लगे और चन्द्रभूषण ने सर्व संसारासक्ति त्याग कर श्री गुरुदेव पारख प्रभु की सदा के लिये शरण ले ली।

शिक्षा—सर्वोत्तम तो पूर्ण त्याग ही है; परन्तु यदि मनुष्य यह न कर सके तो गृहस्थी में रहकर धर्म, भक्ति, सत्संग करते हुए अपना लोक-परलोक अवश्य बनावे।

बन्ध मोक्ष सो मनहि से, त्याग ग्रहण नित होय।
याते मनुष्य स्वतंत्र है, समुझि सयाने लोय ॥२१॥

टीका:—बन्धन और मोक्ष का कारण अशुद्ध तथा शुद्ध मन है। वासना और क्रिया का त्याग तथा ग्रहण सदैव मन से ही होता है। अतएव श्रेष्ठ लोगों! मनुष्य अपने उद्धार करने में स्वतंत्र है, इस बात को समझो ॥२१॥

व्याख्या:—विषयों में आसक्त हुआ मन जीव को बन्धन करता है; और विषयों की वासना तथा क्रिया त्याग करने और ग्रहण करने में मनुष्य स्वतंत्र है। इसलिये वह चाहे तो विषयों की वासना-क्रिया सर्वथा त्याग कर और मन को सर्वथा निर्मल बनाकर मुक्त हो सकता है। गीता में भी यही बात बतायी गयी है।

अर्थ—मन बन्धन अरु मुक्ति का, कारण जानो दोय।
अशुभ बन्ध मन करत है, शुद्ध मुक्त कर सोय ॥

हो प्रतंत्र जेहि भाँति से, सोउ प्रमाण प्रत्यक्ष ।
दृश्य जगत है सामने, परवश जीव दै लक्ष ॥२२॥

टीका:— मनुष्य जिस प्रकार परतंत्र बनता है उसका भी प्रमाण प्रत्यक्ष है । पाँचों विषय दृश्य-संसार इन्द्रियों के सम्मुख है, अनादि अभ्यस्त विषयासक्ति के वश में होकर दृश्य-विषयों में आकर्षित होता रहता है ॥२२॥

व्याख्या:— मूलतः जीव स्वतंत्र है; निर्विषय, शुद्ध, परम सामर्थ्यवान है। वह विषयासक्ति जनित दुर्बलताओं को दुःखपूर्ण समझ कर और उसे त्याग कर पूर्ण स्वतंत्र और स्वस्थ हो सकता है ।

रज तम सत त्रय भाँति से, मनुष दिखे जग माहिं ।
कोइ रक्षक भक्षक कोई, सुखी दुखी दिखलाहिं ॥२३॥

टीका:— मनुष्य संसार में रज, सत, तम—इन तीन गुणों के संयुक्त दिखलाई देते हैं । कोई स्व-पर का रक्षक है और कोई भक्षक है, कोई सुखी है तथा कोई दुखी ॥ २३ ॥

व्याख्या:—मनुष्य जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं, इसीलिये समझ-संगत के अनुसार सत, रज, तम—इन तीन वृत्तियों में बदलते रहते हैं । शुद्ध सतोगुणी मनुष्य अपने-पराये के आध्यात्मिक-आधिभौतिक—सब प्रकार के रक्षक होते हैं और स्वयं में सुखी होते हैं तथा रजो-तमोगुणी मनुष्य अपने-पराये के भक्षक तथा दुखी होते हैं ।

कोइ कामी क्रोधी अधिक, लोभ मोह कोइ रोय ।
याहि हेतु जग जाल बहु, फँसे जीव सब कोय ॥२४॥

टीका:— कोई कामी है, कोई विशेष क्रोधी है, कोई लोभ मोह में पड़ा रो रहा है । ये ही जगत्-बन्धन के कारण हैं सब जीव इन्हीं में फँसे हैं ॥२४॥

नारि विवश मद अन्ध कोइ, सहते कष्ट अपार ।
भोग प्रतिष्ठा में बढ़े, सूझ न अपन परार ॥२५॥

टीका:— कोई स्त्री-आसक्ति के वश में मदान्ध हो रहा है और वह उसी में अपार दुःखों को भोग रहा है। कोई भोग तथा कोई मान-प्रतिष्ठा में पड़कर उसे अपना-पराया नहीं सूझता ॥२५॥

घात करत कोइ जीव को, खरचत द्रव्य हजार।
जानि न पावत आप को, मान बड़ाई प्यार ॥२६॥

टीका:— कोई हजारों रुपये खर्च करके भी अन्यों की हत्या कराता है। जीव को बाहरी मान-बड़ाई तथा अहन्ता-ममता प्रिय है, वह अपने को जान नहीं पाता ॥ २६ ॥

व्याख्याः—मैं कौन हूँ, मेरा उद्देश्य क्या है, मैं क्या कर रहा हूँ ? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मनुष्य विवेक नहीं करता। वह यह सोचता ही नहीं कि मैं एक पथिक हूँ, संसार में मेरा रहना थोड़ा है, अपना कल्याण करना हमारा परम कर्तव्य है।

लोभ हेतु संग्रह करैं, छल परपंच अनेक।
ह्वै उन्मा दिक पापरत, तृष्णा प्रबल सो टेक ॥२७॥

टीका:— कोई तो लोभ-वश छल, धूर्ताई, ठगाई, बेइमानी, घूसखोरी तथा अनेक प्रपंच करके धन संग्रह करने में लगे हैं। धन के उन्माद में पड़ कर पापरत हो रहे हैं। उनके हृदय में धन की अपार तृष्णा बढ़ी है और वे उसी में पड़े हैं ॥ २७ ॥

सोरठा

निशिदिन दौड़त अन्ध, सुत नारी में मोह करि।
ताहि न जानत मन्द, स्वतः स्वतंत्र स्वरूप खुद ॥२८॥

टीका:— अविवेकी मनुष्य पुत्र, स्त्री आदि में ममता करके रात-दिन दौड़ता रहता है; विवेक-हीन मनुष्य अपने स्वतः स्वरूप को नहीं जानता ॥२८॥

व्याख्याः—स्त्री, पुत्र, परिवार, मित्रादि संसार के प्राणी मार्ग के

पथिक हैं। सब बीचही में मिलकर छूट जाने वाले हैं। इसलिये इनमें ममता-बैर नहीं बनाना चाहिये; प्रत्युत इनमें समता की दृष्टि रखकर विवेक से चलना चाहिये। जीवन क्षणभंगुर है। यह आज है कल न रहे तो क्या दावा। यह क्षण ही में लुप्त हो जाता है। जीवन का परमोद्देश्य—कल्याण प्राप्त करना ही मनुष्य का कर्तव्य है।

स्वयं फँसत जंजाल, उत्पति करि सब आप ही।
जीव रहत बेहाल, सुख मानन्दी वश सदा ॥२६॥

टीका:—मनुष्य अपने हाथों से अपना बन्धन बनाकर स्वयं फँसता है। जीव विषय सुख की मान्यता तथा आसक्तियों में सदैव दुखी रहता है ॥२६॥

व्याख्या:—जितने बन्धन हैं, सब अपने बनाये हैं। हम अपने बन्धन-मोक्ष के स्वयं कर्ता हैं। हम स्थूल पंच विषय-प्राणी-पदार्थों, पिण्ड-ब्रह्माण्डों में अविवेक-वश आसक्त हो-होकर दुखी रहते हैं और इनकी आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर देने पर हम स्वयं निर्बन्ध हैं।

शिक्षा—हे मनुष्य स्त्री-पुत्र, गृह-धन, शरीरादि चंचल नाशवान् पदार्थों के मोह में और उन्हें स्ववश रखने, सदैव भोगने की चिन्ता में तू अपना मोक्षप्रद नरजन्म क्यों खोता है? सद्गुरु-सत्संग से तू अपने अविनाशी स्वरूप का परिचय कर। जो सदा संतुष्ट तथा नित्यप्राप्त है, जिसे प्राप्त कर पुनः कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहेगा। कोई शंका, प्रश्न, उद्देश्य नहीं रह जायँगे। सब विधि तुम ही तुम विराजोगे, एवं निश्चित लक्ष्य की पूर्ति हो जायगी। अन्यथा बाह्य गृह-सम्पत्ति समाज, शरीरादि घड़ी पल में स्वप्नवत् छूट जायँगे।

संसार स्वप्नवत् है

दृष्टांत:—एक राजा-रानी अपने शहर से तीर्थ-यात्रा को निकले। कुछ काल के पश्चात् जब अपने शहर के पास आये तो क्या देखते हैं

कि भूकम्प से अपना सारा शहर धँस गया है। वहाँ केवल जल-ही-जल है। यह देखकर राजा हँसने लगा, क्योंकि राजा ज्ञानी था। रानी रोकर कहने लगी कि सारे कुटुम्ब, सम्पत्ति, सेना, नौकर यहाँ तक पूरा अपना शहर नष्ट हो गया, फिर भी आप थोड़ा शोक नहीं मानते, बल्कि हँसते हैं। राजा बोला—तू मूर्ख है। मेरे सैकड़ों पुत्र-पौत्र और पुत्र वधुएँ सातों लोकों का राज्य तथा इन्द्रासन छूट गया, उसमें मैंने शोक ही नहीं किया, फिर एक छोटा-मोटा शहर, दो चार पुत्र-पौत्रादि के छूटने पर क्यों शोक करूँ? रानी—सो कैसे? राजा—मैं कल रात में स्वप्न देखा कि मानो मैं इन्द्र हो गया हूँ। मेरे सैकड़ों पुत्र-पौत्र एवं पुत्र वधुएँ हैं, और सातों लोक, देव-दनुज सब हमारे आज्ञावर्ती हैं; किन्तु स्वप्न से जागा तो कुछ नहीं। वैसे ही ४०-५० वर्ष से यह एक छोटा शहर, कुछ नौकर, सेना, दो चार पुत्र-पौत्रादिक मिले थे, आज नहीं हैं, तो क्या उपर्युक्त स्वप्न के समान ये नहीं हुए। अवश्य हुए। वह एक घड़ी का स्वप्न था, यह ४०-५० वर्ष का स्वप्न है, वह रात में सोते समय देखे थे, यह दिन में जागते समय में देख रहे हैं, हैं दोनों स्वप्न ही। स्वप्न के व्यवहार तथा वस्तु जागृत में जैसे नहीं रहते, वैसे ही जागृत के व्यवहार, पदार्थ स्वप्न में नहीं रहते। अपने शुद्ध स्वरूप में जागृत और स्वप्न का भास-प्रपंच एक भी नहीं है। यद्यपि प्रवाह रूप जगत् अपने क्षेत्र में सत्ता सहित सदैव स्थित है; तथापि उसका प्रतीत इन्द्रिय अन्तःकरण सम्बंधी, स्वप्नवत् मनःकल्पित कल्पना से ही होता है। जिस दिन प्राण छूटने लगते हैं, उस दिन सैकड़ों वर्षों की बीती आयु एक मिनट वत् लगती है; और कुटुम्ब समाज, सम्पत्ति-स्थान, शरीरादि स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। अतएव संसार असार है, जीवन परिणामी है, केवल मोक्ष-प्राप्ति ही सार है। भजन-भक्ति-बिना मनुष्य अपना जीवन "नट स्वांग" न्याय व्यर्थ ही भोगों में परिवर्तन करते हुए अन्ततः काल का ग्रास बन जाता है।

यथा :—

शब्द

भजन बिन तन धरि काह करी ॥ टेक ॥

नौ मासा माता के गर्भे, उल्टे लटकि जरी।
प्रगट ·पुहुमि जब बाहर आयो, रोवत दिन गुजरी ॥ १ ॥

खेलि खाय अरु पढ़न लिखन में, कछु दिन बीति परी।
ज्वान भयो भामिनी मन भायो ज्ञान भक्ति बिसरी ॥ २ ॥

नारि पुत्र कुल कुटुम देखि के ममता मन पसरी।
ढोवत भार गयो मानुष तन, मोक्ष आयु तुम्हरी ॥ ३ ॥

वृद्ध भयो पानी नहिं पूछैं, दुर-दुर सबहिं करी।
नारी पूत बुढ़ऊ का डाटैं, काल तुम्हैं न धरी ॥ ४ ॥

कबहुँ न इन्द्री मन को मार्यो, नहिं सत्संग करी।
आज काल में समय बितायो, मौत कि फाँस परी ॥ ५ ॥

यह संसार स्वप्न को साथी, देखत काल चरी।
तू अभिलाष परख में थिर हो, संसृति सिन्धु तरी ॥ ६ ॥

वन्दना—साखी

पावन परम कबीर गुरु, पारख ज्ञान प्रकाश।
जीव जमा परखाय के, हरण कियो सब भास ॥३०॥
ताते वन्दौं तव चरण, बोध स्वरूपी देव।
रवि सम ज्ञान प्रकाश करि, कियो मोह तम छेव ॥३१॥

टीका :—परम पवित्र सद्गुरु कबीर ने पारखज्ञान का प्रकाश किया तथा अविनाशी, सर्वोपरि जीव का परिचय देकर सर्व जड़ासक्ति एवं भ्रान्तियों को हरण कर लिया ॥३०॥ अतएव हे ज्ञानमय गुरुदेव ! आपकी वन्दना करता हूँ, आपने सूर्यवत् ज्ञान का प्रकाश करके अज्ञान-अँधियारी को नष्ट कर दिया है ॥३१॥



शब्द

मन ! सद्‌गुण हृदय में धारु ॥ टेक ॥

शील सरल स्वभाव सहजिक, शान्ति सहन सुचारु ॥ १ ॥
शिष्ट सौम्य सप्रेम सब सन, राग द्वेष निकारु ॥ २ ॥
सजग सत संतोष समता, सम सबोध सम्हारु ॥ ३ ॥
स्वस्वरूप समाधि सद्‌गुरु, सीख संत सेवारु ॥ ४ ॥
दीन दाया दान दिल दस, दमन मन संहारु ॥ ५ ॥
वर विवेक विराग विष सो, विरुज वीर विचारु ॥ ६ ॥
धाम धन धरणी धरणि, तन मन विमोह विगारु ॥ ७ ॥
नित निरत अभिलाष निज में, धीर धी धरु सारु ॥ ८ ॥

षष्ठम पाठ समाप्त

सप्तम पाठ प्रारम्भ

वन्दना—साखी

नमों नमों गुरु पद शरण, भूल भर्म जहँ नाहिं।
तहाँ गये सुख होत है, अमित शक्ति तेहि माहिं ॥१

टीका:—विवेक-वैराग्य सम्पन्न सद्गुरु के चरणों की वन्दना करके उनकी शरण होता हूँ, जहाँ भूल भ्रान्तियाँ नहीं हैं। उनकी शरण में जाने से ही वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। सद्गुरु-शरण तथा स्वरूपज्ञान में अपार शक्तियाँ हैं ॥ १ ॥

शरण रहित गुरु पद विमुख, जीव बहत भव धार।
त्राहि-त्राहि तहँ दुख अमित, जगत जाल व्योपार ॥२

टीका:—सद्गुरु-शरण से रहित तथा स्वरूप ज्ञान से हीन होकर जीव उस संसार प्रवाह में बह रहे हैं, जहाँ अपार दुःख है और जगत जाल का ही धन्धा है। हे सद्गुरु उससे बचाओ ॥ २ ॥

वन्दना—पद

संसार कठिन दुःख से जल्दी बचाइये,
हे सद्गुरू ! इस पतित दास को निभाइये ॥ टेक ॥
सुत दार मात तात सभी स्वार्थ पगे हैं।
करके विचार देखता कोई न सगे हैं ॥
भव पंथ सगे मीत की ममता छुड़ाइये ॥ १ ॥
त्रय ताप जनम मरण देहोपाधि दुख घने।
अरु काम क्रोध लोभ मोह शोक चित सने ॥
निज रूप बोध दान दे स्थिति टिकाइये ॥ २ ॥
प्रमदा प्रमोद पंथ मन गढ़न्त जग रहे।
खानी वो बानि धार बीच नाथ हम बहे ॥
डूबती हमारी नाव किनारे लगाइये ॥ ३ ॥

इस नाट्य नगर जगत् में कोई न सुखी है।
कोई न कोई भाँति राव रंक दुखी हैं॥
संसार मोह जाल की फाँसी छुड़ाइये॥ ४॥
सब भाँति से अनाथ आप के आधार हूँ।
अच्छा हूँ या बुरा हूँ नाथ ! हूँ तुम्हार हूँ॥
अभिलाष अधम बाल को पावन बनाइये॥ ५॥

शब्द--१

साधन विविध देख नर केरा ॥टेक॥

जीव स्वतंत्र देह में रहि कर, त्याग ग्रहण करि फेरा
जहँ जहँ लाभ जानि मन निश्चय, करत परिश्रम तहँ बहुतेरा १
कर्म उपासन ज्ञान योग करि, तीरथ व्रत घनेरा
श्वासा रोकि मौन गहि कोई, पूजा मूरति केरा २
जप तप ध्यान करत निशिवासर, राम कृष्ण कहि टेरा
वेद शास्त्र विद्या पढ़ि चौदह, फूलत मन के घेरा ३
स्वर्ग हेतु सुख साधन इतना, तजि माया जग केरा
कठिन कष्ट सहि कर नहिं ठहरत, पुनि विषयन सुख हेरा ४
विषय वृद्धि जाते हो तृष्णा, सोई कुसंग बसेरा
गाँजा भाँग तमाखू पीवत, दुर्गुण कोष गहेरा ५
बीड़ी सिगरेट चरस के अहदी, व्यसन अनेक लतेरा
हानि न सूझत मन वश मनुवाँ, आदत बड़ी दुखेरा ६
गान तान औ नाच सिनेमा, शौक ठाट बहुतेरा
मूल भरम से सुख तहँ भासत, भामिनि प्रेम रिझेरा ७

शक्ति स्वतंत्र जीव में लखिये, प्रेरक खुदतेहि केरा
सुख के बदले दुख तहँ देखत, हानि समुझि जेहि मेरा ८
युक्ति अनेक ताहि हित सोचत, त्याग करत नहिं देरा
लगन जीव की लागत जेहि में, रहत तहैं तेहि घेरा ९
ताते शक्ति सम्हारो आपै, तजि के जगत दरेरा
निज से पृथक दुखहिं सब जानो, याते करो निवेरा १०
ज्ञानवान दुख ही देखत, इच्छा त्यागि सुखेरा
याते त्यागि सकत सब कोई, होवे सुखी सवेरा ११

टीका :— मनुष्यों के अनेक साधनों को देखो ।।टेक।। जीव स्वतंत्र है, वह शरीर में रहकर स्वतंत्रतापूर्वक वासनाओं तथा क्रियाओं का त्याग-ग्रहण करता है। जिस काम में मन को लाभ निश्चय हो जाता है उसमें वह अथक परिश्रम करता है ।।१।। कोई कर्मकाण्ड, कोई उपासनाकाण्ड, कोई ज्ञानकाण्ड तथा कोई योगकाण्ड का प्रेमी होता है, कोई बहुत तीर्थ, उपवास ही करता रहता है। कोई प्राणायाम करता, कोई मौनी बनता, कोई मूर्ति पूजा करता ।।२।। कोई रात-दिन जप-तप ध्यान करता, कोई राम-कृष्णादि को पुकारता। कोई चार वेद[1] छः शास्त्र[2] चौदह विद्यायें[3] पढ़कर मन की अहन्ता-ममता में फूलता है ।।३।। मोक्ष तथा स्वर्गसुख की प्राप्ति के लिये जगत् की माया को त्याग कर उपर्युक्त ज्ञान-अज्ञान-मिश्रित साधन लोग करते हैं। उक्त साधनों में कठिन कष्ट नहीं सहन कर पाने से कितने लोग उनमें भी नहीं ठहर पाते और पुनः विषय-सुख की खोज में

१—ऋग्वेद, अथर्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये चार वेद हैं।

२—मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातंजल (योग), सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र हैं।

३—ब्रह्मज्ञान, रसक्रिया, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जल-तरण, संगीत, वैद्यक, अश्वसँवारन, कोक, नाटक और चाटक-चातुरी ये चौदह विद्यायें माने हैं।

पड़ जाते हैं ॥४॥ मनुष्य ऐसे कुसंग में निवास करता है जहाँ विषयासक्ति तथा तृष्णा की वृद्धि हो । वह गाँजा[1] भांग, तम्बाकू पीता है और दुर्गुण के खजाना को ही ग्रहण कर लेता है ॥५॥ बीड़ी, सिगरेट, चरस तथा नाना व्यसनों को धारण करता है । मन-वशी जीवों को उक्त दोषों में हानि का अनुभव नहीं होता, दुर्व्यसन दुःखदायी हैं, यह नहीं समझता ॥६॥ विषय भरे गान-तान, नाच-सिनेमा तथा अनेक प्रकार शौक-शृंगार—भूल-भ्रम-वश इनमें सुख ही है और प्रमदा-प्रमोद में आसक्त रहता है ॥७॥ देखो !

१—दृष्टांतः—कथा है एक राजपुत्र बड़ा व्यसनी था। गाँजा, भाँग, तम्बाकू, शराब आदि कोई व्यसन उससे नहीं छूटा था। अधिक व्यसन का शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ा और उसे अनेक रोग पकड़ लिये। बहुत वैद्यों से औषधि करवायी गयी, किन्तु संयम बिना रोग कैसे दूर हो ? संयोगाधीन एक महात्मा आये और राजा से कहे—आप के पुत्र को मैं अच्छा कर दूँगा। निदान कुछ औषधि देकर महात्मा ने राजपुत्र से कहा—इसको आप सेवन कीजिये। राजपुत्र ने कहा—पथ्य क्या लेवें ? महात्मा ने कहा—गाँजा, भाँग तम्बाकू, मद्य, बीड़ी, सिगरेट आदि खूब खाइये-पीजिये। राजपुत्र ने कहा—हाँ आप अच्छे वैद्य हैं, बहुत से मूर्ख वैद्य व्यसन त्यागने को कहते हैं। महात्मा ने कहा—व्यसन में बड़े गुण होते हैं। उसमें पाँच और बड़े होते हैं—(१) चोर नहीं आते (२) शरीर मोटा-ताजा रहता है, (३) बैठने को वाहन मिलता है, (४) जन्म-मरण का भय नहीं रहता, (५) वृद्धावस्था नहीं आती। राजपुत्र ने कहा—यह कैसे ? महात्मा—(१) तम्बाकू, गाँजा आदि के व्यसनी मनुष्य को सदा खाँसी आती रहती है, इसलिये चोर यदि आये हों तो डर से लौट जाते हैं, (२) व्यसन से शरीर में सूजन आ जाती है, इसलिये शरीर मोटा-ताजा दिखता है, (३) पैर शक्तिहीन हो जाते हैं, इसलिये कहीं आना-जाना पड़े तो बैठने को वाहन मिलता है (४) व्यसन से स्वयं बुद्धि क्षीण हो जाती है, दूसरे व्यसनियों के कुसंग के वश सत्संग, स्वरूपज्ञान से हीन होकर बंध-मोक्ष, सत्य-असत्य का भान ही नहीं रहता, फिर ऐसे घोर अन्धकार में जन्म-मरण का भय ही क्यों हो ! जन्म-मरण का भय तो विवेकवान को होता है, (५) ऐसे मनुष्य जवानी ही में मृत्यु योग्य निर्बल हो जाते हैं, फिर शरीर को जरजर करने के लिये वृद्धावस्था आने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। महात्मा के इन युक्ति पूर्ण वचनों को सुनकर राजपुत्र व्यसन बिलकुल त्याग दिया।

शिक्षा—गाँजा, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, काफी, कोको, शराब आदि कोई भी दुर्व्यसन कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिये।

जीव की शक्ति स्वतंत्र है और उसका वह स्वतः प्रेरक है। जहाँ सुख के स्थान पर दुःख समझता है और यह समझता है कि हमारी इसमें हानि है ॥८॥ उसको त्याग करने के लिये अनेक युक्तियाँ सोचता है और त्यागने में विलम्ब नहीं करता। जीव की लगन जिस ओर लग गयी उसी के आस-पास में वह रहता है ॥९॥ अतएव हे जीव ! संसार के राग-द्वेष को त्याग कर अपनी शक्ति को सम्हालो। अपने स्वरूप से पृथक की ममता को दुःखपूर्ण ही समझो, अतः उसका त्याग करो ॥१०॥ ज्ञानीपुरुष तो विषयों को केवल दुःखपूर्ण ही देखते हैं और उसकी इच्छाओं को त्याग कर सुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार सभी मनुष्य विषय-इच्छा त्याग कर शीघ्र सुखी हो सकते हैं ॥११॥

व्याख्या:—साधक, साधन, साध्य—ये त्रिपुटी है। मन-इच्छित प्रिय वस्तु प्राप्त करने की इच्छा तथा प्रयत्न करने वाला 'साधक' है; जिसके द्वारा वह प्राप्त किया जाय वह साधन है और प्राप्त करने योग्य वस्तु 'साध्य' है। जैसे कुम्हार साधक, चक्र,-दण्डादि साधन तथा घड़ा साध्य है। इसी प्रकार मनुष्य शान्ति अर्थात् मोक्ष रूपी साध्य का साधक है; किन्तु उसका साधन क्या है, यह नहीं जानता। इसीलिये वह विपरीत मार्गों में भटकता है।

सैकड़ों, हजारों तथा लाखों की सम्पत्ति आग में डाल कर यज्ञ तथा कर्म समझना, कल्पित कर्तादि में प्रेम को उपासना, जड़-चेतन अभिन्न भाव को ज्ञान तथा हठयोग, ज्योति, शब्द आदि का ध्यान योग, शहर नदियों को तीर्थ, उपवास को व्रत, किसी प्रकार का नाम-रटन जप, पंचाग्नि आदि तापना तप, व्यक्ति विशेष का ध्यान, राम-कृष्ण-कबीर आदि को जगत-कर्ता मानना—यह सब भोली बुद्धि का लक्षण है।

मन, वाणी शरीर के पवित्र कर्म ही कर्म हैं, विवेक-वैराग्य संपन्न सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा तथा स्व-स्वरूप चिंतन ही उपासना है, व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी कारण-कार्य तथा जड़ से भिन्न-स्वस्वरूप चेतन का बोध ही ज्ञान है, मन का एकाग्र होना ही योग है सत्संग तीर्थ

तथा सत्य ही व्रत है, स्वरूप-चिंतन जप, तितिक्षु होना तप स्वरूपबोध में निरंतर लक्ष होना ही ध्यान है।

वेद-शास्त्रों के अध्ययन का अहंकार व्यर्थ है। सदाचरण तथा शुद्ध ज्ञान बिना अध्ययन दो कौड़ी का है।

श्लोक:—पठक: पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्र विचिन्तका:।
सर्वे व्यसनिनो मुर्खा य: क्रियावान् स पण्डित:॥

अर्थात्—पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले एवं शास्त्र का चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं, जो आचरण सम्पन्न है, वही पण्डित है!

शिक्षा—जड़ से भिन्न चैतन्य, वासना-वश जन्म-मरण तथा वासना-त्याग से मोक्ष, सर्व सद्गुण, साधु-सम्पत्ति, सदाचरण आदि जिस सिद्धान्त में माननीय और ग्रहण हैं, वे सभी सिद्धान्त धर्म-मार्ग हैं, किन्तु जन्म-मरण के दुःखों से छूटकर नित्य स्थिति के लिये सच्चे गुरु और सत्य सिद्धान्त की खोज अवश्य करनी चाहिये।

आत्मचन्द्र और महात्मा

दृष्टांत--पूर्वी हवा चल रही है आकाश में बादल के छत्ते मड़ला रहे हैं। एक नदी के तटस्थल में सुन्दर बाग हरा-भरा दिखाई दिया। एक वैराग्यशील महात्मा एकान्त स्थल जान कर वहाँ ठहर गये। जगत् विषयों से अति उपराम हो महात्मा स्वरूप-स्मरण में बैठे थे। इतने में विद्या-बुद्धि-पूर्ण एक कुमार अवस्था का जिज्ञासु जगत् से उपराम होकर अपने कल्लाण के लिये सच्चे गुरु और सिद्धान्त की खोज में आ निकला। एक शान्त स्वरूपस्थ महात्मा निर्विक्षेप बैठे हैं, ऐसा देख कर वह अपने मन में सोचने लगा कि इन महात्मा से हमारा कल्याण हो जाना बहुत कुछ सम्भव है। निदान महात्मा के पास जाकर—

दोहा—करि प्रणाम संकोच युत, प्रेम प्रफुल्लित गात।
संशय हरो अनाथपति, बन्धु सखा हे तात॥

ऐसा विनय कर शान्ति पूर्वक बैठ गया। महात्मा कुछ विलम्ब

पश्चात् बोले—कहो बेटा! तुम यहाँ कैसे आये और तुम्हारा क्या नाम है? जिज्ञासु—हे शरण पालक गुरुदेव! मेरा नाम आत्मचन्द्र है। मैं संसार के दुःखों से उपराम होकर सच्चे सद्गुरु तथा सत्य-सिद्धान्त की खोज में निकला हूँ। प्रथम में एक विख्यात् महात्मा जिनका नाम पूर्णानन्द है, उनके पास गया, और उनसे प्रश्न किया कि स्वामी जी! जीव जन्म-मरण से छूट कर मुक्त कैसे हो? स्वामी जी ने कहा—यह अखिल विश्व ब्रह्म रूप ही है, अतएव द्रष्टा-दृश्य का भेद मिटा कर सर्वत्र ब्रह्म भाव को प्राप्त हो, बस मुक्त ही है। स्वामी जी के इतना कहने पर शंका का समाधान नहीं हुआ, और आगे बढ़ा। तो एक सगुण-उपासक महात्मा मिले, उन्होंने कहा कि क्षीरसाई विष्णु भगवान् तथा राम-कृष्ण की मूर्ति-पूजन से मुक्ति हो जायगी। एक शम्भु दल वाले साधु मिले, उन्होंने कहा—एक शंकर जी मुक्तिदान करने वाले हैं; और कौन दे सकता है? आगे बढ़े तो एक योगी मिले, उन्होंने कहा—विविध साधन योग-क्रिया करो, बस सहजिक सिद्धि प्राप्ति हो जायगी। इतने में एक पण्डा मिले और उन्होंने कहा—"जो जाय बद्री, सो न आवे वोद्री" यानी तीर्थ और गंगादिस्नान से मुक्ति हो जाती है। कोई कहता मुक्ति देने वाली आदि शक्ति हैं, कोई सूर्य, गणपति, खुदा, गॉड, कोई कल्पित देवी-देवता भूत-प्रेत, ब्रह्म-राक्षस, चौका, कबर, गादी, तकिया पूजने से ही मुक्ति बतलाते—यथा—

कवित्त

कोई मुक्ति हेतु ब्रह्म ईश्वर पुकार करे,
राम कृष्ण तीरथ वो मूर्ति कोई ध्यावते।
गणपति सूर्य शक्ति साधन विविध कोई,
भूत प्रेत देवी देव खुदा गॉड गावते॥
विष्णु वो महेश कोई गादी वो कबर माँहि,
विविध प्रलाप करि जग भरमावते।
अहो गुरुदेव! कछु समुझि परत नाँहि,
जीव बन्ध छोड़ि कर मुक्ति किमि पावते॥१॥

ऐसा कह कर जिज्ञासु विह्वल हो महात्मा के चरणों में गिर पड़ा। महात्मा सान्त्वना देते हुए बोले—धैर्य धारण करो, धीरे-धीरे सब शंका का सामाधान होकर मुक्तिदायक सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था, कि उस बाग में १५-१६ मनुष्य आ गये, सभी थके माँदे थे। उस सुहावन बाग को एकाएक देखकर सभी रुक गये। एक वृक्ष पर एक पक्षी कुछ शब्द कर रहा था, उसे सुनकर एक ने कहा—चचा जलालुद्दीन अली! अन्दाजिये यह चिड़िया क्या बोल रही है? मियाँ जी अन्दाज कर बोले—यह चिड़िया बोलती है कि "शुभान तेरी कुदरत,"। इतने में एक उपाध्याय जी चकरा कर बोले—अजी नहीं साहब! पक्षी बोलता है "राम लक्ष्मण दशरथ"। इतने में एक बनिया जी अपने बोक्चा (गठरी) को पटक कर अपनी बात ऊपर करने के लिये आये और बोले—चिड़िया कहती है "हल्दी मिर्चा ढक रख"। इतने में एक पहलवान साहब अकड़ते हुए कहने लगे कि चिड़िया कहती है "दण्ड मुगदर कसरत"। इसके पश्चात् तमोलिये ने कहा—चिड़िया कहती है "पान पत्ता अदरख"। एक चरखा कातने वाले ने कहा—चिड़िया कहती है "चरखा पोनी चमरख"। इतने में एक माली बोला—भाई साहब! आप सब नहीं अन्दाज पाये, मैंने चिड़िया की बोली भली प्रकार पहिचान ली है, चिड़िया बोलती है—"नीबू नारंगी कमरख"। इसी प्रकार अपनी-अपनी बात सिद्ध करने के लिये परस्पर भिड़ गये। बातेश्वर देव से अपनी बात न सिद्ध होते देख कर लाठेश्वर देव (डंडामार) का प्रयोग करने लगे। निदान किसी का हाथ टूटा किसी का पाँव तो किसी का सिर फूटा इत्यादि, सब रक्तपूर्ण हो गये। इतने में थाने दार साहब का दौड़ा आ गया और सिपाहियों-द्वारा सभी को बँधवा कर ले गये, और कानूनी कार्रवाई होने लगी। इन सब चरित्रों को महात्मा और आत्मचन्द्र देख रहे थे। महात्मा आत्मचन्द्र की ओर संकेत करके बोले—देखो! इसी प्रकार सब मत-पन्थों में झगड़ा मचा है। सभी अपनी-

अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं; कोई सत्य न्याय-निर्णय नहीं करता।

महात्मा ने कहा—बेटा! तुम सब पर सन्देह करने वाले सत्य हो यदि तुम या मैं का अस्तित्त्व न हो तो सन्देह किसे हो डेकार्ट ने (Principles of philosophy) कहा है:— I Think, therefore I am. अर्थात् मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ। भारतीय विद्वान भी कहते हैं:—'नहिं कश्चित् सन्दिग्धे ऽहं वा इति।' अर्थात् किसी को यह सन्देह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं हूँ।

सारांश हुआ मैं हूँ' दूसरी बात है मुझे पाप-पुण्य कर्मों का फल लगता है, मैं वासना-वश भटकता हूँ तथा वासना-त्याग से निर्बन्धता एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव पाप कर्म त्याग कर पुण्य-आचरण करना चाहिये और विषय-वासनाओं को जीत कर स्वरूपस्थ होना चाहिये।

'मैं हूँ' यह दार्शनिक पक्ष एवं ज्ञान है, मुझे शुभाचार से चलना चाहिये यह आचार पक्ष है तथा मुझे निर्वासनिक स्थिति प्राप्त कर स्वरूपस्थ होना चाहिये यह जीवन का परम एवं चरम लक्ष्य है बस इतना ही धर्मसार है। और इसके लिये किसी मत-विवाद की आवश्यकता नहीं।

महात्माओं के वचन हैं:—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई। यदपि मृषा छूटत कठिनई।
श्रुति पुराण बहु कह्यो उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥रा०॥

दोहा—जड़ चेतन दो वस्तु हैं, अति प्रसिद्ध जग माँहिं।
इनकी पारख प्राप्ति बिन, बन्धन छूटत नाहिं ॥
सत्य एक चैतन्य है, असत सकल जड़ जन्य।
अहै उभय से जगत यह, नहिं कोइ कर्ता अन्य ॥स०म०॥

साखी—मुक्ति मुक्ति सब कोइ कहै, मुक्ति न चीन्है कोय।
अपने से जो पृथक है, मुक्ति ताहि तजि होय ॥मुक्ति०॥

तुम थोड़े में इतनी हो समझो कि पृथ्वी, जल, तेज वायु चार

जड़ तत्त्व तथा असंख्य चैतन्य जीव मय प्रवाह रूप जगत् अनादि है। और जो असंख्य चैतन्य जीव हैं; वे स्वरूप से शुद्ध, निष्क्रिय, अविनाशी हैं, मात्र जड़ाध्यास वश जन्मादिक दुःखों में अनादि से पड़े हैं। वह बन्धन जड़ासक्ति मानना मात्र है। अतएव सद्रहस्य युक्त विजाति वासना-आसक्ति को त्याग कर स्वरूप में स्थित होने से प्रारब्धांत में जीव जन्मादिक-देहोपाधिक दुःखों से अत्यंत निवृत हो निराधार मुक्त हो जाते हैं। आत्मचन्द्र—हे गुरुदेव! स्वरूपस्थिति-पुष्टि-हेतु सद्रहस्य बतलाइये? महात्मा--सद्ग्रन्थ-सत्संग से श्रवण-मनन कर पूर्ण सद्रहस्यों को पुष्ट करना चाहिये। संक्षिप्त रूप से मुख्य-मुख्य आठ सद्गुणों का गुण-लक्षण सहित यहाँ भी वर्णन किया जाता है; ध्यान पूर्वक सुनो!

चौपाई

दया

छोटे बड़े जीव जग माँहीं। गज कृमि कीट मनुष खग आहीं॥
निज सम जानि घात नहिं कीजे। तन मन वच हिंसा तजि दीजे॥

क्षमा

दाँत से जीभ हाथ से आँखी। कटत दुखत तब केहि लगि माँखी॥
दाँत हाथ कोइ काटि न लेवै। वैसे क्षमै और को सेवै॥

सत्य

मैं चेतन जड़ देह निनारा। तीन काल सत् रहित विकारा॥
मोसे परे और नहिं कोई। मैं हौं अमर सनातन सोई॥
तन मन वचन सत्य व्यवहारा। सत्य स्वरूप धारि भव पारा॥

धैर्य

बहु दुख सुख सहि जगत मझारा। तीन ताप मर्णज संसारा॥
नहिं ऊब्यो जग चक्कर माँहीं। किमि गुरु मारग में घबराहीं॥
आवागमन माँहि दुख केता। कुछ दुख सहहु मुक्ति के हेता॥
मानपमान ताप त्रय सहिके। मुक्त होय पारख पद लहि के॥

संतोष

अन्न वस्त्र प्रारब्ध अधीना । मिलै सबहिं भूपति अरु दीना ॥
अब नहिं कछु चाहिय मोहिं भाई । केवल गुरु पद प्रीति सदाई ॥
सबहिं भोग जड़ नश्वर जानी । केहि हित करौं कामना तानी ॥

वैराग्य

विद्या देह रु मान बड़ाई । कुल कुटुम्ब घरणी सुखदाई ॥
क्षण महँ नशत स्वप्न सम देखा । ताते राग त्यागि शुचि भेषा ॥
कफनी आड़ बन्द अब बांधे । अन्त दशा जग विस्मृत साधे ॥

भक्ति

तन मन वचन छाड़ि छल हंका । मान रहित मृदु हृदय अशंका ॥
सेवै साधु गुरू पद मूला । शमन होत मर्णज त्रय शूला ॥
एक मात्र भक्ती के धारे । आवहिं गुण महान शुचि सारे ॥

बोध

चारि तत्त्व परमाणु स्वरूपा । जगत् कार्य कारण मय रूपा ॥
तिनके द्रष्टा चेतन न्यारा । गो गोचर जड़ तन से पारा ॥
सोइ मैं पारख निह्य अनूपा । जड़ाध्यास वश पड़ि जग कूपा ॥
पिण्ड ब्रह्माण्ड देह लग आशा । विषयाध्यास कीन्ह जब नाशा ॥
उलटि दृष्टि पारख महँ फेरा । आवागमन फंद निरवेरा ॥
कामी नारि लोभि जिमि दामा । प्रेम सदा निज पद अभिरामा ॥
दोहा—बोध रूप मैं आप हौं, आश देह जग भर्म ।
स्ववश स्वतंत्र अबन्ध मैं, नहिं साधन परिशर्म ॥
सोरठा—कह्यों तोहिं समुझाय, आठ निसेनी मुक्ति की ।
जरा मरण भ्रम जाय, जो यहि को धारण करे ॥
हर्षि उठ्यो कर बाँधि, आत्मचन्द्र गद गद गिरा ।
प्रेम प्रवाह अगाध, करत वन्दना नमन करि ॥

प्रार्थना त्रोटक छन्द

जय पारखज्ञान प्रबोध करं । गुरु मुक्त स्वरूप दयालु वरं ॥टेक॥
बहु संशय धार प्रवाह बहे । विषयावन भूलि के दुःख सहे ॥
सब संशय शोक विमोह वरं । जय पारखज्ञान प्रबोध करं ॥१॥

उर मोह निशा घनघोर रहा। नहिं सूझत पंथ हमार कहाँ ॥
रवि बोध उगाय नशे तिमिरं। जय पारखज्ञान प्रबोध करं ॥२॥
जग भेष के जीव मिले जितने। मोहि ठेलि के दूरि किये तितने ॥
गुरुदेव लगाय लिये शरणं। जय पारखज्ञान प्रबोध करं ॥३॥
गुरु पूर किये अभिलाष मेरा। उपकार न भूल सकूँ मैं तेरा ॥
गुरु बोधक देव स्वमोक्ष परं। जय पारखज्ञान प्रबोध करं ॥४॥
दोहा—यहि विधि उत्कंठित हृदय, आत्मचन्द्र वर वीर।
साधन करत समोद सत्, लह्यो अटल पद थीर ॥

सवैया

कौन सुहेतु जो आनफँसेजग, जानिनजाययेभूलकिसंधी।
याहिसे पंथ अनेक भयो जग, जीवन फाँससोदेहकिगंधी ॥
काम महाभटक्रोध प्रचण्ड, जोलोभ महामदमोहकिआंधी।
सूझतहै नहिं ज्ञानबिनाकछु, जीवअसेबहुजालकिबंधी ॥१

टीका:— किस कारण से मैं आकर जगत में फँस गया हूं—इस भूल का भेद लोगों को सहज रूप से जानने में नहीं आता। इसी से संसार में अनेकों मत-पंथ हो गये हैं और जीव गन्दे शरीर के मोह में बँधा है। काम महान योद्धा है, क्रोध प्रचण्ड दावानल है, लोभ महान वीर है तथा मोह तो जीव को झकझोर देने वाली आँधी है। स्वस्वरूपज्ञान हुए बिना जीव को कुछ नहीं सूझता, जीव अनेक बन्धनों में बँधा है ॥ १ ॥

व्याख्या:—अपने आपको भूलकर ही सारे बन्धन हैं। कामादि सारे विकार जड़ तथा जीव की सत्ता पाये बिना शक्तिहीन हैं। स्वरूप से जीव शुद्ध-बुद्ध मुक्त रूप है। वह विषयासक्ति का त्याग करके निर्बन्ध एवं मुक्त हो सकता है।

शब्द—२

साधन यतन सुनो मन लाई ॥ टेक ॥

विरति विवेक धारि शम दम उर, दृढ़ उपराम बनाई
समाधान श्रद्धादि तितिच्छा, जग दुख छूटन ताई १
उक्तियुक्ति शोधन करि जिनको, सब अध्यास हटाई
है मुमुच्छुता कहत ताहि को, इच्छुक मुक्ति दृढ़ाई २
श्रवण मनन निदिध्यासन गहिके, भय चिन्ता बिसराई
पृथक पृथक लच्छण भल जानो, साधु संग गुरु राई ३
दया छमा संतोष शांति लहि, धीरज निज लौ लाई
नम्र विचार भक्ति करि गुरु की, देह रहे तक भाई ४
गुरु पद लीन मीन जस नीरहिं, चित्त राखि दृढ़ताई
नर बड़ भाग्य भक्ति अस पावत, आवागमन नशाई ५

टीका—साधन का उपाय प्रेम पूर्वक सुनो! कहता हूँ—॥ टेक ॥ वैराग्य, विवेक, शम, दम हृदय में धारण करके दृढ़ उपरामता का वेग भरो। सांसारिक-जन्मादिक क्लेशों से छूटने के लिये समाधान, तितिक्षा, श्रद्धादि साधनों को निरन्तर धारण करो ॥ १ ॥ अपनी स्थिति के लिये अनेकों अनुभव-उपाय खोज-खोज करके देहादि सर्व अध्यासों को त्यागते रहो। मुमुक्षुता वृत्ति उसी को कही जाती है जो मोक्ष की इच्छा को दृढ़-तीव्र बना देवे ॥ २ ॥ और श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधनों को धारण कर संसार के भय चिन्ता को भुला दो। यहाँ तो साधनों का किञ्चिन्मात्र सूत्र रूप वर्णन है; श्रेष्ठ साधु-गुरु की संगत तथा सत्संग करके इन सब साधनों का भिन्न-भिन्न लक्षण भली प्रकार समझ लो ॥ ३ ॥ दया, क्षमा, सन्तोष, शान्ति, धैर्य आदि सद्‌गुणों को धारण कर स्वस्वरूप-स्थिति में प्रेम लगाओ। हे भ्रात! जब तक प्रारब्ध शरीर है तब तक नम्रता, कोमलता

सद्विचार आदि सद्गुणों को धारण कर वैराग्यवान साधु-गुरु का भक्ति-भाव करते रहो ॥ ३ ॥ जैसे मछली को जल अत्यन्त प्रिय, जीवन आधार है, वैसे सद्गुरु की चरण-भक्ति अथवा स्वस्वरूप में निश्चल रूप से मन लगा कर तद्गत रहो। वे नर रत्न बड़े भाग्यशाली हैं जो इस प्रकार गुरु की यथार्थ भक्ति तथा स्वस्वरूप की दृढ़ स्थिति को प्राप्त करते हैं, वे ही आवागमन के रोगों को मिटा कर सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

कवित्त

मनन प्रवाह धार चलत रहत नित,
ताहि वेग जीव सब बहे चले जात जू।
करि के विवेक गुरु ज्ञान सतसंग बल,
बहत न ताहि माहिं पार कोई जात जू॥
यहि बिन दुखअति मानुष के शिरभार,
खानि बानि जाल फँसि करतहै घात जू।
प्रगट जहान राग द्वेष में जलनि सब,
पार भव सिन्धु एक संत ही दिखात जू॥१

टीका—मनुष्यों के हृदय में स्मरण की प्रवाह धारा सदैव चला करती है, उसी के वेग में सब जीव मानसिक-सागर में बहे चले जाते हैं। द्रष्टा-दृश्य का भिन्न विवेक करके स्वरूपज्ञान और सत्संग की शक्ति से उस मनोमय-सागर में कोई विवेकवान् नहीं बहते, वे मन-गति से पार चले जाते हैं। इस मन-वेग को न रोक सकने से ही जन्मादिक अत्यन्त क्लेश और देहोपाधिक अनेकों बोझा मनुष्य के शिर पर लद जाते हैं, और मोटे-झीने बन्धनों में बँध कर मनःकल्पित स्वार्थ के लिए अन्य का घात मनुष्य करता है। सो संसार में प्रचलित हो है, मन-वश मोह-क्रोध में सब जीव जल रहे हैं, इस मनोमय सागर से पार तो एक विवेकी संत ही दिखलाई हैं देते हैं ॥ १ ॥

जहाँ तक मान सुख भावना को छोड़ कर,
शांत निज रूप माहिं नहिं कछु चाह जू।
चाहना सो दुख मूल अपने से वाद सब,
मानि मानि तद्रूप विषयन दाह जू॥
शब्द रूप रस गन्ध त्वचा पर्श प्रेम करि,
फँसत है जीव तेहि लत पथ माँह जू।
अली मृग मीन गज क्षण में पतंग जलि,
ताहि सम नर जीव मन वश आह जू॥२

टीका:—मान, बड़ाई और भोग-सुख की जहाँ तक इच्छायें हैं, उनको त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में शान्त हो जाओ, सांसारिक भोगों की किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न रखो। भोग-इच्छायें ही क्लेशों के कारण हैं और इच्छित वस्तुयें सब अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् हैं, उसे सुख और सत्य रूप मान-मान करके ही उसका रूप हो रहे हो और विषय-इच्छाओं में जल रहे हो। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पंच विषयों में त्वचादि पंच ज्ञान इन्द्रियों से आसक्त होकर उसी भोग-अभ्यास के पथ में जीव फँस जाता है। भँवरा, हिरन, मछली, हाथी और पतंग एक-एक विषय-भोग की आसक्ति-वश क्षण में जल जाते या बाँधे मारे जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य जीव भी मन-वश भोगासक्त हो हाय! करके बँध जाते और जन्मादिक-देहोपाधिक दुःखों को भोगते रहते हैं॥ २॥

छन्द—इक इक विषय इक जन्तु के लागे तो पांचों जरि मरे।
नर जीव के पाँचों लगे तब क्यों नहीं दुख में परे॥
इस हेतु पांचों त्याग कर साक्षी स्वतः में थीर हो।
तब काल भोगासक्ति से न्यारे परम् पद तीर हो॥ १॥

धारण अभ्यास बिन काम नहिं देत कछु,
साधन विविध विधि हाथी को नहान है।
काम क्रोध लोभ मोह समर जो तन कोट,
मन अरु इन्द्रिन के खैंच में खिचान है॥
बचने को युक्ति एक भक्ति ज्ञान सत्संग,
गहि के विराग गुरु साधु केर ध्यान है।
सावधान याहि विधि चलत विचार कर,
सोई शूर वीर जग मुक्ति को लहान है॥३

टीका—प्रयोग, अभ्यास-बिना वाच्यज्ञान तनिक भी काम नहीं देता; अनेक प्रकार के साधनों का ज्ञान, बिना अभ्यास के केवल हस्ती के स्नान-तुल्य है। शरीर रूपी किले में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रुओं से युद्ध हो रहा है, मन और इन्द्रियों के भोगाकर्षण में जीव पतित हो रहा है। इन मानसिक रिपुओं से बचने का एक उपाय भक्ति, स्वरूपज्ञान, सत्संग तथा वैराग्य धारण करके विवेकी साधु-गुरु का ध्यान करना रूप परमार्थ साधन ही है। सजग होकर इस प्रकार जो विचार पूर्वक साधन-पथ में चलते हैं, वे ही सुभट साधक संसार से मोक्ष-लाभ करते हैं॥३॥

मुक्ति हेतु त्याग एक दृढ़ कर लाय उर,
धीर वीर रक्ष ताहि करके विचार है।
तन मन दुख पेखि खानि वानि जाल लखि,
अपने से भिन्न सब दुख ही की धार है॥
चंचल विद्युत सम छाया रेल थिर नाहिं,
ताहि में जो सुख माने बड़ो ही गवाँर है।
इच्छुक जो मोक्ष सुख वासना को ध्वंस करि,
थीर एक गुरुपद निज रूप सार है॥४

टीका— जन्मादिक दुःखों से मोक्ष-प्राप्ति के लिये (भोगों के प्रति) एक त्यागवृत्ति ही निश्चयता पूर्वक अपने हृदय में लाओ, धैर्य और वीरता पूर्वक सत्यासत्य का विचार करके उस त्यागवृत्ति की एकरस सुरक्षा करो। शरीर-मन को दुःख रूप देखो, खानी-वाणी को बन्धन रूप विचारो अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् सब संसार दुःख ही की प्रबल धारा है। संसार की माया, जीवन, यौवन, भोग, मित्रादि विजली प्रकाश के समान क्षण-भंगुर हैं, ये रेल की छाया के तुल्य ही स्थिर नहीं रहते, उन असत्य भोगों में जो सुख मानता है वह बहुत भूला है। जो मुक्ति सुख का इच्छुक होता है, वह तो विषय-वासनाओं को मिटा कर गुरुपद रूप एक स्वस्वरूप में ही स्थित रहता है, वह स्वस्वरूप-स्थिति को ही सार-सत्य ग्रहण करने योग्य समझता है। भोग्य-लक्ष्य नहीं रखता ॥४॥

शिक्षाः— अनादि काल से आज तक नाना प्रकार विषय भरे एवं मान-बड़ाई के शब्द सुने गये, किन्तु संतोष न हुआ। नवयुवतियों का स्पर्श करते-करते अनन्त काल बीत चले, परन्तु शान्ति न आई। नर-नारियों के चित्र-विचित्र एवं अनेकों मन भावन रूप-रंग को नित्य आँख ढूँढ़ती रहती है, परन्तु अनादि काल से आज तक ऐसा रूप न मिला कि जिससे रूप देखने की कामना बुझ जाय। षट्रसों का स्वाद लेते-लेते पेट भर जाता है, किन्तु स्वाद लेने की इच्छा नहीं पूर्ण होती। नाक से नाना प्रकार इत्र-फुलेल-सुगंधों का वास लेते-लेते इन्द्रियाँ थक जाती हैं, किंतु मन नहीं थकता। प्राणी-पदार्थ और सांसारिक सुखों को स्ववश करने के लिये हम लोलुपी होकर रात-दिन दौड़ते रहते हैं; किन्तु संसार हमें ठुकराता ही रहता है। स्ववशता के बदले विवशता ही प्राप्त होती है फिर भी हमारा बेहया और लुच्चा मन शांत नहीं होता, हे मन! अचल सुख शांति का स्थान पंच विषय भोग और मान-बड़ाई नहीं है, अचल सुख-शांति का स्थान है अपने शुद्ध स्वरूप की स्थिति। अतएव संसार पंच विषय तन-मन से मुख फेर कर स्वच्छंद, निःसंग, अविनाशी स्वस्वरूप में स्थित होओ।

शब्द—४

दया धर साधु मता यह सार ॥ टेक ॥
मन वश बँधे जीव सब जग में, जानि न आपन परार
हित उपदेश लखावत तेहि को, रहत सबन से न्यार १
भूल रहा जिव विषय विपिन में, भोगत कष्ट अपार
ज्ञान स्वरूप संत तजि ताको, करहिं सदा उपकार २
न्याय नीति शुभ काज समझ कर, छोड़े सकल विकार
भय चिंता अभिमान न व्यापै, साधन यही सिधार ३
वैर तजै नहिं मोह किसी से, देश स्वरूपहिं न्यार
सद्विवेक गुरु भक्ति शरण गहि, आवागमन निवार ४

टीकाः— मनुष्यो ! हृदय में दया धारण करो, यही श्रेष्ठ साधु पुरुषों का सार-सिद्धान्त है ॥टेक॥ मन के वश सब जीव सांसारिक भोग बन्धनों में बँधे हैं, इन्द्रिय-भोग-सिद्धि-हेतु किसी को अपना-पराया नहीं जानते, अर्थात् भोग हेतु हिंसा-परपीड़न सब कुछ कर डालते हैं। उन्हें सन्त-महात्मा जन कल्याण की शिक्षा देते रहते हैं, और सब के बन्धनों से रहित भी रहते हैं ॥१॥ जीव विषय भोग रूपी जंगल में भूल रहा है और जन्मादिक अथाह क्लेशों को भोग रहा है। जो सदैव परोपकार करने वाले ज्ञान की मूर्ति सन्त-महात्मा हैं, उनके सत्संग-सद्गुणों को यह मनुष्य त्याग देता है ॥२॥ मनुष्य को चाहिये कि निर्णय और सदाचारों को कल्याणकारी कर्तव्य समझ कर धारण करे और सम्पूर्ण दुर्गुणों को त्याग देवे। और इस प्रकार साधन को परिपक्व बना लेवे कि भय, शोक तथा जड़ पदार्थों का अभिमान हृदय में कभी न व्यापने पावे; निर्भयता, निश्चितता, निराभिमानता आदि साधनों पर सदैव चलता रहे ॥३॥ वैर-विरोध त्याग देवे, और किसी से मोह भी न करे, क्योंकि अपना शुद्ध स्वरूप चेतनदेश सबसे पृथक है। अतएव राग-द्वेष त्याग कर स्वरूपविवेक, सद्गुरु

को भक्ति तथा उनकी अधीनता को ग्रहण करके जन्म-मरणादिक क्लेशों को मिटा डाले ॥ ४ ॥

कवित्त

रचत पचत चौ खानि में अनादि से तू,
आज शुभ अवसर नर तनपायी है।
देह जग सपन समान में न भूलो मन,
काज करो जाहि से सकल दुख जाई है॥
जौन जग भेष देह सत्य सुख मानि रह्यो,
सर्व भ्रम भास आज काल में विलाई है।
थीर होउ जहाँ जग देह को अभाव अति,
पारख परख निज रूप थिरताई है॥ १॥

शिक्षा—इस शब्द का 'दया घर साधु मता यह सार' शीर्षक है, अर्थात् मनुष्य को दया-परोपकारादि धारण करना चाहिये। जो दया परोपकारादि न धारण कर हिंसा-परपीड़नादि धारण करता है, उसका कुफल आज और आगे जन्मों में उसे दुःख ही मिलता है। 'बुरे कर्म के परिणाम में तुरन्त दुःख मिलता है, इस बात को समझाने के लिये यहाँ प्रसंग जोड़ कर दो दृष्टांत दिये जाते हैं—

जैसा करे सो तैसा पावे

दृष्टांत–ग्राम से एक मील दूर पर सड़क थी उस सड़क पर एक महात्मा की कुटिया थी। उन महात्मा को लोग 'रैसादास-रैसादास' कहकर पुकारा करते थे। महात्मा नित्य उस ग्राम में भोजन करने के समय आते और यही पद उच्चारण करके भिक्षा करते—"गली गली रैसा गोहरावै, जैसा करै सो तैसा पावै, साँझे देय सकारे पावै, पूत-भतार के आगे आवै॥" एक स्त्री के पति और पुत्र परदेश गये थे, इसलिये उस को चिढ़ होवे कि यह साधु "पूत भतार के आगे आवै, पूत-भतार के आगे आवै।" कहकर हमारे पूत-भतार का अनभल चाहता है।

इसलिये उसके मन में साधु को मार डालने की कुचेष्टा हो गयी, और विष मिला कर दो बड़ी-बड़ी रोटियाँ बनायी। जब महात्मा सायंकाल भिक्षाटन के लिये आये और यह पद उच्चारण किये—गली-गली रैसा गोहरावै...। इत्यादि, तुरन्त स्त्रीने विष मिले दोनों रोटियों को लाकर महात्मा को दे दी। महात्मा दो-चार घर में भिक्षा माँग कर कुटी पर आये और उन दोनों रोटियों को समूचा जान कर दूसरे दिन के लिये रख छोड़े और शेष दूसरे घर के भोजन खा लिये। संयोगाधीन उस स्त्री के पति और पुत्र परदेश से पैसा कमा कर लौटे थे और पास के स्टेशन पर गाड़ी से उतरे और सड़क-सड़क महात्मा की कुटिया तक आये। रात्रि आधी बीत चुकी थी, महीना भादौं का था, जल जोरों से बरसना प्रारम्भ हो गया। अतएव पिता-पुत्र महात्मा की कुटिया में गये, महात्मा ने यथोचित स्वागत किया और रखी हुई दोनों रोटियों को पिता-पुत्र को खाने के लिये दिया। क्योंकि महात्मा को पता ही नहीं था कि इन रोटियों में विष मिला है। निदान पिता-पुत्र दोनों रोटी खा कर सोये और विष के प्रकोप से रात में मर गये। जब प्रातःकाल स्त्री ने अपने पूत-भतार का मरना सुना तब माथा पीट-पीट कर रोने लगी। अपने दुष्कर्तव्य पर पछतायी तथा यह पद उसे सत्य रूप से स्मरण होने लगा—

"गली-गली रैसा गौहरावै, जैसा करै सो तैसा पावै।
साँझे देय सकारे पावै, पूत भतार के आगे आवै ॥"

मारा चहे जो और को पहले सो जावे मार है

दृष्टांत—एक ग्राम में ब्राह्मणों की बस्ती थी उसमें दो पटीदारों में विरोध चल रहा था। वे दोनों सम्पदा शाली थे और दोनों के एक-एक पुत्र थे। ईर्ष्या-द्वेष-वश एक पटीदार ने एक दुष्ट को कुछ रुपये देकर अपने विरोध पटीदार के पुत्र को मार डालने को कहा। उस दुष्ट ने परसा (कुठार) लेकर घर से निकला और संयोग-वश जिसने

विरोधी पक्ष के पुत्र को मरवाने की कुचेष्टा की थी उसी का पुत्र मिल गया, दिन डूबने से अँधेरा हो गया था, इसलिये पूरा पहिचान न सका और उसका ही परसे से सिर काट डाला। इतने में हल्ला हुआ और लोग उस दुष्ट को पकड़ लिये। पश्चात् मृतक को देखा गया तो जिसने दूसरे के पुत्र को मरवाना चाहा था, उसी का ही पुत्र मारा पड़ा है। अब क्या हो, अपना पाप अपने को ही खाया। ठीक ही है—

छन्द—मारा चहे जो और को पहले सो जावे मार है।
काँटा चुभावे और को उसके लिये तलवार है॥
इस हेतु वैर विरोध तजि दाया धरम को धारिये।
सब जीव तेरे रूप हैं अस जानि शील विचारिये॥

शिक्षा—इस प्रकार घटना चाहे सब पापियों पर न घटित हो, किन्तु हिंसादि पापों का फल मानसिक से, जन-समाज से तथा राजा से आज इस देह में और वासना-वश आगे जन्मों में क्लेश तो मिलता ही है। अतः हिंसादि पाप-कर्म का सर्वथा त्याग करके दया-परोपकारादि धर्म-सत्कर्म को धारण करो, जिसका फल लोक-परलोक हर स्थान में सुख है।

शब्द—५

जगत भोग तृष्णा दुखदाई।
बिन गुरु दया पार नहिं पाई॥ टेक॥

धन विद्या सुख नारि परश हित, युक्ति अनेक लगाई
करत परिश्रम प्राप्ति होय जो, चाह अधिक बढ़ि जाई १
और और की निशि दिन इच्छा, राग द्वेष अधिकाई
शत्रु मित्र की वृद्धी होवे, झगड़ा विवधि मचाई २
भोगासक्ति स्वार्थ की झंझट, समय अमूल्य बिताई
पूर होय नहिं तृप्त कभी वह, क्षण क्षण आयू जात नशाई ३

ऊब लाय जो दुक्ख पेखि तेहि, शरण गुरू की जाई
लहि निज बोध परख गुरु दृष्टी, शांति सदा सुखदाई ४
तृप्त कियो दर्शाय स्वरूपहिं, निर्मल शुद्ध दृढ़ाई
अभय अकाम भयों गुरु स्वामी, तव बल चाह मिटाई ५

टीका—सांसारिक भोगों की तृष्णा बहुत दुःख देने वाली है। बिना सद्गुरु कृपा के इससे कोई पार नहीं पाता ॥ टेक ॥ विभव, विद्या और स्त्री-स्पर्श सुख के लिये मनुष्य अनेकों उपाय लगाते हैं। पुरुषार्थ करने से यदि कुछ भोग्य पदार्थ प्राप्त हुए तो विशेष तृष्णा बढ़ जाती है ॥ १ ॥ अधिक-अधिक भोग-प्राप्ति की चेष्टा रात-दिन हृदय में खटकती रहती है, भोग प्राप्ति या विघ्न आदि में मोह-क्रोध की विशेषता हो जाती है, शत्रु-मित्र बढ़ जाते हैं, वे अनेकों उत्पात मचा देते हैं ॥ २ ॥ इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति तथा स्वार्थ, निर्वाह, अर्थात् शिश्नउदर पोषण के प्रपंच में पड़कर मोक्षदायी अमूल्य समय बिता देता है। वह स्वार्थ, व्यवहार न तो कभी पूरा पड़ता है और न भोग ही से मन कभी सन्तुष्ट होता है, बल्कि भोगासक्ति में पड़ कर क्षण-क्षण मोक्ष प्रद मनुष्य जीवन नष्ट होता जाता है।

सवैया

'भूल कि धूल परी तव आँखिन, सूझि परे नहिं सार असारा।
स्वप्न समान विभव तन धाम, सो आँखिहिं देखत होवत छारा॥
तौ हूँ सुझात न मूरख तोहिं, क्षणै क्षण जात अमौलिक वारा।
आश को छोड़ि न शान्ति गहे क्षण, हीलत डोलत जन्म गुजारा ॥ ३ ॥

जो संसार से घबरा कर उपराम हो उन स्वार्थ तथा भोगासक्तियों को कष्ट रूप जान कर और उन्हें त्याग कर सद्गुरु की शरण में चला जाता है, वह स्वरूप-बोध तथा उनकी परीक्षा-दृष्टि प्राप्त कर सदैव सुखदायी शान्ति पद में स्थित हो जाता है ॥ ४ ॥ स्वस्वरूप को पवित्र, शुद्ध तथा निश्चल परखा कर आप गुरुदेव इस जीव को सन्तुष्ट कर दिये। हे गुरु साहिब ! आप के कृपाबल से विषय-इच्छाओं को मिटा कर अब मैं निर्भय और निष्काम हो गया ॥ ५ ॥

आधुनिक परिस्थिति

दृष्टांत--उपर्युक्त शिक्षा सुन कर एक जिज्ञासु ने कहा, आप का गूढ़ पारमार्थिक विषय सरल भाषा में सुन कर बड़ा प्रेम जागृत होता है। अच्छा ! कृपया आज-कल की परिस्थिति पर कुछ सुझाव दीजिये।

महात्मा—सब परिस्थति का और मनुष्य के स्वभाव का सुधार-बिगाड़ शिक्षा-दीक्षा पर ही निर्भर है। आज-कल की जो शिक्षा है, उसका चिन्तन करते ही दुःख उत्पन्न हो जाता है। पहले ग-कार गणेश से शिक्षा आरम्भ होती थी, आज-कल ग-कार गदहे से शिक्षा आरम्भ होती है। पहले धर्म, सदाचरण और परमार्थ से सनी हुई शुद्ध हिन्दी और संस्कृत विद्या थी, आज-कल स्वार्थ, भोगासक्ति, भौतिकवाद, जड़-विज्ञान-विकास मत से सनी हुई परमार्थ विरोधी विदेशी, आसुरी विद्या है। पहले विद्यार्थी वेदी और चटाइयों पर बैठ कर सरलता पूर्वक पढ़ते थे, आज-कल कुर्सी, टेबुल, डेस्क तथा साज-बाज की आवश्यकता पड़ती है, जिससे फीस की हद हो गयी है। पहले विद्यार्थियों का वेष साधारण-सादा और सात्विक रहता था, पाँव में खड़ाऊँ पहनते थे, थोड़े कपड़े में उनका काम चल जाता था, आज-कल के विद्यार्थियों को एक हजार रुपये के पोशाक हों तो भी कम हैं। केवल फैशन करना, मद्य, मांस[1], जूठा भोजनादि खाना-पीना ही आधुनिक विद्या की सभ्यता मानते हैं। पहले विद्यार्थी ब्रह्मचारी होते थे, आज-कल विद्यार्थियों की कलुषित मनोवृत्ति को क्या कहा जाय, जब अधिकांश शिक्षक ही सात्विकता-शून्य, रजोवृत्ति-काम-प्रिय होते हैं, तब विद्यार्थियों को क्या शिक्षा देंगे ? अप्राकृतिक व्यवहार भी कतिपय अध्यापक तथा छात्रों में सम्भव हो जाता है। इस पतन का मुख्य हेतु रजोस्वभाव,

---

१—आज-कल इसी वातावरण से प्रेरित अधिकांश छात्रों-शिक्षकों की परिस्थिति है, सर्वथा सब के लिये यह बात नहीं हैं। हिन्दूस्तान में धर्म-परायणता भी अधिक मात्रा में है।

ठाट-बाट एवं भड़कीले पोशाकों की वृद्धि और परमार्थ-शून्यता ही है। पहले विद्याध्ययन के पश्चात् सद्गृहस्थ्य-जीवन या वानप्रास्थ तथा सन्यास क्रम-क्रम या बिना क्रम के ही अपने-अपने योग्यतानुसार ग्रहण करते थे, आज-कल विद्याध्ययन के पश्चात् मात्र कर्मचारी होने की इच्छा उत्तेजित रहती है, परमार्थ का कोई ध्यान नहीं। पहले विद्याध्ययन का फल प्राप्त होता था—प्रकृति पार राम रूप चैतन्य में विश्वास, वासना-वश आवागमन कर्म-फल-भोग, बन्ध-मोक्ष में विश्वास, सदाचरण युक्त पारमार्थिक जीवन, सद्गुरु-सत्संग में रुचि, लोक-परलोक में सुख-शान्ति, आज-कल विद्याध्ययन का फल मिलता है--जड़ प्रकृति--जड़-विज्ञान में विश्वास, चैतन्य जीव, आवागमन, बन्ध-मोक्ष में अविश्वास, भोग-परायणता, स्वार्थ-सिद्धि की चतुरता, हिंसा, अशान्ति, तन-मन वचन की चंचलता, तृष्णा, पतन, लोक-परलोक में दुःख-क्लेश। पहले महिलाओं को पुरुषों से अलग शिक्षा दी जाती थी, सदाचारिणी और पतिव्रता होती थीं, घर की स्वामिनी रहती थीं। आज-कल महिलाओं को नवयुवक विद्यार्थियों के साथ-साथ कालेजों में पढ़ाया जाता है अहो, यह अधःपतन का महान पथ! क्या नवयुवक छात्र या शिक्षकों के संसर्ग दोष से युवती छात्राओं का पतन नहीं हो सकता! क्या वे दोनों काष्ठ-पत्थर हो जायेंगे? आज-कल महिलायें शिक्षित होकर अधिक यही फल प्राप्त करती हैं—नंगे सिर, आधे खुले अंग, सज-धज के, शर्म-लाज तज कर मार्ग में निकलती हैं। एक पति से जीवन भर बँधा रहना उचित नहीं समझतीं। जिमि स्वतंत्र ह्वै बिगरहिं नारी। (रामा०) के भावानुसार स्वतंत्र होकर बिगड़ती हैं। विशेष फैशन केवल दूसरे को आकर्षित करने के लिये ही किया जाता है और दूसरे को आकर्षित करने की जिसके मन में अधिक भावना है तथा जो स्वयं अधिक रजोवृत्तिप्रिय है, उसे आगे चल कर व्यभिचार वृत्ति में फँस जाने की बहुत कुछ सम्भावना है। स्त्रियों को घर में पढ़ना चाहिये, अपने घर की पाठिका तथा कर्मचारिणी बननी चाहिये, पतिव्रता होनी चाहिये।

अदब, लिहाज से रहना चाहिये। सत्संग, भक्तिपरायणा होना चाहिये।

एक भक्त का लड़का कालेज में पढ़ रहा था उसके गले में कंठी न देख कर पूछा गया—भैया! कंठी क्या किये? उसने कहा—हमारे गले में कंठी[1] देख कर मित्र लोग हँसी करते थे इसलिये मैंने उसे निकाल दी। धन्य रे अविद्या मंडित आसुरी विद्या! विद्वान् होकर अपने धर्म में दृढ़ होना चाहिये कि और कायर? सच्चे सद्विद्वान् तो अनेकों कष्ट सह कर, प्राण तक देकर भी धर्म और अपने शुभ वेष का त्याग नहीं करते हैं, ये आज-कल के विद्वान् नवयुवक फैशन से अड़चन समझ कर या किसी के हँसी-मजाक कर देने पर कंठी-तिलक-यज्ञोपवीत तक का त्याग कर देते हैं। प्राण पर आ जाने पर ये धर्म और शुद्ध वेष की रक्षा कैसे करेंगे? कितनी कायरता परमार्थहीनता और फैशनासक्ति? धन्य हैं वे विद्यागर्वी विद्वान्, जो शुद्ध वेष-रेप को देख कर उनके हँसी-मजाक आती है। शीशे-कंघी से बार-बार बाल-वस्त्र सवाँरने में, अपवित्र स्थूल शरीर के अनुचित फैशन करने में तथा अनुचित आचरण में लज्जा नहीं लगती, फिर प्रकृति-पार अविनाशी चैतन्य के शान्ति-स्थिति प्रद शुद्ध सद्गुण, शुद्ध वेष के धारण करने में इतनी लज्जा-हँसी? सत्संग करते नहीं, सद्ग्रन्थ पढ़ते नहीं, फिर कैसे सद्बुद्धि हो। कैसे सदाचारी बन सकें

१—कोई-कोई कहते हैं, भजन-भक्ति किया करे और कंठी, शुद्ध वेष आदि न धारण करे तो भक्ति में क्या हानि? तो यह कहना भूल है, क्योंकि पहली बात तो भक्ति का यह चिन्ह है, फिर सच्चा भक्ति भजन का रसिक गुरु का दिया हुआ शुद्ध वेष धारण करने में हिचक ही क्यों करेगा, बल्कि प्रसन्न होगा। और जब फैशन धारण से विषयासक्ति तथा फौजी वर्दी धारण करने से वीरता की भावना उत्पन्न होती है, तब कंठी-तिलक शुद्ध वेषादि धारण करने से भक्ति रसिक को भकित की भावना क्यों नहीं उत्पन्न होगी। यहाँ शुद्ध वेष धारण कर कुचाली बने लोगों का उदाहरण देना युक्त नहीं है। यहाँ तो भक्ति भजन के भावुकों को शुद्ध वेष धारण करने की उपयोगिता बतलायी जाती है अतः भजन भकित में शुद्ध वेष अवश्य सहायक और उपयोगी है।

संत-महात्माओं को देख कर हँसी करते हैं, धर्म को कल्पना समझते हैं, धर्म-क्षेत्र में स्थित पुरुषों का तो कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता, किन्तु इस भौतिकता और परमार्थ-हीनता से जन-समाज का अवश्य पतन है। अतएव शिक्षकों-छात्रों तथा जन-समाज का कर्तव्य है कि वे अपनी मनुष्यता पर, परमार्थ पर ध्यान देवें, सदाचारी नम्र और सात्विकी बनें।

लावनी—६

कोई न अपना जग सुख स्वपना, निज २ मन अनुसारा हो
विवश वासना मनोमई सब, नाटक जग खेलवारा हो
शत्रु-मित्र जन मिलन वो बिछुड़न, दीखत सब संसारा हो
सुन लो शिक्षा सब जन दीक्षा, निज २ हित छुटकारा हो १

टीका :— सांसारिक सुख स्वप्न वत् निःसार हैं और इस संसार में कोई भी अपना खास सम्बन्धी नहीं हैं, सब अपने-अपने मन-मनसा-अनुसार चलने वाले हैं। वासना के वश सब जीव मन के रूप हो रहे हैं और इस संसार के सम्पूर्ण व्यवहार नृत्य तथा तमाशा के समान असत्य हैं। माने हुए शत्रु-मित्र, कुटुम्बियों तथा दीखते हुए सारे संसार का संयोग-वियोग पंथी वत् लगा रहता है। अतएव माया का मोह त्याग कर हे मनुष्यो! अपने-अपने कल्याण के लिये सब लोग सद्गुरु के सत्योपदेश तथा सम्मति को सत्सङ्ग में आकर श्रवण कर लो ॥ १ ॥

संस्कार शुभ अशुभ मेल अब, जस सङ्गत पुरषारथ हो
वैसे पुनि संयोग मेल तब, दुख सुख देह के स्वारथ हो
तामें फूलत पचकत प्राणी, निज को रहा बिसारा हो
याहि हेतु दुख धार बहै नित, पावे नहीं किनारा हो २

टीका :— जिस प्रकार कर्तव्य करके शुभाशुभ संस्कार पूर्व नर शरीर में हृदय अन्तर्गत गढ़ रखा था, उसी प्रकार शरीर और दुःख-सुख भोग तथा प्राणियों का मेल आज प्रारब्ध भोग में प्राप्त है और पुनः आज नर शरीर में जिस प्रकार की सङ्गत और शुभाशुभ पुरुषार्थ करके जीव ने

सुख निश्चय कर लिया है, उसी प्रकार की क्रिया दृढ़ होकर, वही वासना सबल हो पुनः देह धराने तथा देह के स्वार्थ सम्बन्ध में दुःख-सुख तथा भोग-प्राणियों के मेल में हेतु है । इस प्रकार पंच विषयों में सुख निश्चय करके वासना गढ़ना, पुनः उस वासना से शरीर धरना एवं दुःख-सुख को प्राप्त होकर फूलना-पचकना, यही अपना काम समझ कर अविनाशी जीव अपने स्वच्छ पद से पतित हो विषय-देहों में आसक्त होकर स्वस्वरूप को भूल रहा है। इसीलिये जीव जन्मादिक क्लेश-प्रवाह में सदैव बहता रहता है, किञ्चित् भी किनारा-शान्ति-स्थिति नहीं पाता ॥ २ ॥

काम भावना में जब आतुर, नेक न करै विचारा हो
निज पर धर्म अधर्म न सोचै, फाँसी जेल प्रहारा हो
सहत शासना विषय विवश वह, लादि मरै जग भारा हो
कैसा प्रबल विषय मदिरा है, हानि लाभ अविचारा हो ३

टीका :— काम-इच्छा के वेग में पड़कर जब मनुष्य चंचल होता है, तब किञ्चित् भी विचार नहीं करता कि यह अपनी स्त्री है या परायी, धर्म है कि अधर्म, इसके परिणाम में फांसी, कैद या मार-कूट मिलेगा, इत्यादि। विषयासक्ति-वश वह अनेकों दण्ड सहता है और संसार का बोझा लादते-लादते ही मरता है । यह विषय रूपी मद्य कितना प्रचण्ड है ? इसको पान कर लेने से हित-अनहित का विचार ही शून्य हो जाता है ॥ ३ ॥

शिक्षा-छन्द

स्वच्छन्द सुख की चाह हो तो काम दुख को त्यागिए ।
पुनि अष्ट मैथुन जीत कर गुरु की शरण में लागिए ॥
दुर्गुण व्यसन सब त्याग कर पारख परख में पागिए ।
तन मन जगत् से नेह तजि सत्सङ्ग में नित जागिए ॥ १ ॥

लोभ मोह क्रोध तस जानौ, मचा है हा हा कारा हो
एक एक को घात करैं सब, अपना और परारा हो
ताते गहो विरति यक चित से, जो सुख का भंडारा हो
जाहि प्राप्त फिर भूख न लागै, मिटै चाह दुख दारा हो ४

टीका :— उस काम के ही समान लोभ, मोह और क्रोध को भी समझो, इन काम, क्रोधादि से ही संसार में हा-हा कार—राग-द्वेष, लड़ाई विद्रोह मचा है। स्वार्थासक्ति से काम, क्रोधादि-वश एक-पर-एक वार कर रहे हैं। कोई अपना-पराया नहीं समझता, अपना स्वार्थ सिद्ध हो चाहे दूसरा चूल्हे भाड़ में जाय। इसलिये सांसारिक भोग, प्राणियों और सम्बन्धों से उपराम होकर जो स्थिर सुख का खजाना है ऐसे 'वैराग्य' को ही एक लक्ष्य से ग्रहण करो। उस अखण्ड वैराग्य को प्राप्त कर फिर विषय-भोग की क्षुधा न सतायेगी, दुःख पूर्ण विषयों की इच्छा नष्ट हो जायगी ॥४॥

सब आसक्ती त्यागो प्यारे, ब्रह्मचर्य गहि सारा हो
शांति कांति मिलै बल पौरुष, तेज सुयश संसारा हो
राग द्वेष दुर्गुण भय नाशे, शुभ गुण उरमें धारा हो
हंस रहनि जीवन बरतावे, परखि परखि मन न्यारा हो ५

टीका :—प्रिय मुमुक्षु ! सर्व राग को त्याग दो अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण कर सत्य स्वरूप बोध को ग्रहण करो। फिर तो स्वरूपस्थिति और शारीरिक-मानसिक प्रकाश, शक्ति, साहस प्राप्त होंगे तथा संसार में प्रताप और कीर्ति मिलेगी। मोह, वैर, भय आदि अवगुण नष्ट हो जायँगे और दया, क्षमादि कल्याणकारी सद्गुण हृदय में धारण हो जायँगे। उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर विवेकादि रहस्य पूर्वक जीवन को व्यतीत करे और परीक्षा कर-कर के सङ्कल्प-प्रवाहों से पृथक् होकर सद्स्वरूप में स्थित होता रहे ॥ ५ ॥

दिनदिनरहस्य लाभ अधिकाई, अनुभव सुख सरसाई हो
समता क्षमा जीव पर आवे, सद्विवेक सुखदाई हो
साहस हिम्मत बढ़ै निरन्तर, वीर भाव गहि पारा हो
यकरस चलै स्वतः मारग में, मिलै ध्येय जो धारा हो ६

टीका:— इस प्रकार निरन्तर साधना करते रहने से दिन-प्रतिदिन सद्गुण-स्थिति लाभ की विशेषता होती जाती है, अनुभव-सुख (स्वरूपा-नुभव-शान्ति) का लाभ होता है। प्राणियोंपर समता-क्षमा का भाव आता

है, शान्तिप्रद स्वरूप-विवेक प्राप्त होता है। कल्याण के लिये सदैव साहस-हिम्मत बढ़ता रहता है। वीर भाव को धारण करके मुमुक्षु मनोमय से पार हो जाता है। यदि मुमुक्षु अपने कल्याण-पथ में चलता रहे, तो उसका मोक्ष-उद्देश्य पूर्ण हो जाय ॥ ६ ॥

साधन शक्ति मिलै अति पावन, साधु गुरू के द्वारा हो
अजर अमर निजमें अति तृप्ती, छूटि जायजग भारा हो
फिर नहिं आवागमनहो तिसका, सदा मुक्त निरधारा हो
याही फल नर तन गुरुपद कर, अंतिम काम तुम्हारा हो ७

टीका:— विवेकी संत-सद्गुरु के सत्संग-भक्ति के द्वारा अत्यन्त पवित्र साधना की शक्ति[1] प्राप्त होती है। फिर तो वृद्धादि अवस्था-रहित अपने अविनाशी स्वरूप में निरतिशय संतुष्टि हो जाती है, संसार का अहंता-ममता-रूपी बोझा उतर जाता है। देह-वासना को भूने बीज वत् किये हुए ऐसे स्थिति-रत पुरुष का फिर जन्म-मरण नहीं होना, वे प्रारब्ध-पात्-पश्चात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा जड़तत्त्व-रहित सदैव के लिये निराधार, विदेह मुक्त हो जाते हैं, जन्मादिक क्लेशों से मोक्ष ले लेना ही मनुष्य-तन पाने और गुरु शरण में आने का फल है और हे मनुष्यो! यही तुम्हारा अन्तिम कर्तव्य है ॥ ७ ॥

शिक्षा—मनुष्य-शरीर-प्राप्ति का फल भजन करके मोक्ष प्राप्त करना है, मुमुक्षुता, भजन, भक्ति तथा धर्म से विहीन मनुष्य पशु से भी नीच है।

दृष्टान्त—उपर्युक्त शिक्षा सुन कर एक मनुष्य ने शिक्षक से पूछा धर्महीन मनुष्य पशु से भी नीच कैसे हैं? शिक्षक ने कहा—सुनो! भोजन, छाजन, भय, निद्रा, मैथुन और मोह ये छः कर्म पशु-मनुष्य दोनों में समान पाये जाते हैं; किन्तु धर्महीन मनुष्य पशु से भी अत्यन्त नीच हैं, क्योंकि पशु आदि के भोजन जो अनादि काल से घट-स्वभाव-

१—आलस्य, प्रमाद, राग-द्वेषादि दुर्भावों और इन्द्रियों पर सदैव स्ववशता प्राप्त हो जाय, जब चाहे तभी शुभाशुभ वृत्तियों को हटा कर चित्त को निर्बीज स्वरूपस्थ कर लेवे यही 'साधनाशक्ति' है और यही साधनाशक्ति की सीमा है।

अनुसार नियमबद्ध चले आये हैं, वे वही खाते हैं, परन्तु मनुष्य का भोजन जो इसके घट-स्वभावानुसार—सात्विक अन्न, फल, मेवा, दूध, घृतादि है, वह मनुष्य, मांस, मुर्गी के अण्डे, शराब आदि अपवित्र वस्तुओं तथा तमाकू, गाँजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट आदि नशीली वस्तुओं को ग्रहण कर कितना असंयमी और रोगी-शोकी हो रहा है ? वर्षा, शीत, धूप आदि निवारण के लिये पशु-पक्षी-कीटादि छप्पर, वृक्ष, घोसला तथा तृणादि के ही छाजन में सन्तुष्टता पूर्वक निर्वाह कर लेते हैं, मनुष्य को तो निर्वाह में सन्तोष कहाँ, खास छाजन का लक्ष्य ही नहीं रहता है। उसे तो शरीर को आकर्षक—खूब मोहनी बनाने के लिये उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण चाहिये। यदि पन्द्रह महला कंचन-भवन मिल जाय तो भी सन्तोष का नाम कौन लेने वाला है। पशु, पक्षी, कीटादि चाहे ग्राम में, चाहे वन में, चाहे श्मशान में कहीं भी रहे, उन्हें कोई अधिक भय नहीं रहता। मनुष्य को तो धन, कुटुम्ब और शरीर के नाश का, मान-बड़ाई और मर्यादा की हानि का सदा भय लगा रहता है। यहाँ तक कि (जो त्रयकाल में सत्य नहीं, ऐसे) कल्पित भूत, प्रेत, काली, भवानी का भी भय मनुष्य के सिर पर सवार रहता है। पशु-पक्षी आदि बहुत कम नींद लेते हैं, यहाँ तक कि कोई-कोई जानवर खड़े-खड़े सो लेते हैं, प्रमादी मनुष्य तो अनमोल नर जीवन को दिन-रात सोने ही में बिताता रहता है। पशुओं में मैथुन-कर्म का बड़ा संयम रहता है, कहीं वर्ष या छमाही में सम्बन्ध करते हैं मनुष्य को तो क्या कहा जाय, यहाँ चुप रहना ही उचित प्रतीत होता है पशुओं में उतना मोह नहीं होता, परस्पर के वियोग से रोते-पीटते नहीं, मनुष्य तो मिथ्या मोह में फँस कर अपने भजन, भक्ति, सत्कर्म से हाथ धो बैठता है, कुटुम्बियों-प्रेमियों के वियोग में रो मरता है, पागल हो जाता है। पशु आदि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये चोरी, ठगाई, बेइमानी, घूसखोरी नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, मनुष्य तो स्वार्थ-सिद्धि के लिये सब अघ कर डालता है अतएव धर्महीन नर को खर की भी पदवी देना उचित नहीं है, अपितु उससे भी नीच है।

इसलिये मनुष्य तभी मनुष्य है— जब इन्द्रिय-संयमी हो, दयालु, अहिंसकी, सदाचारी तथा सात्विकी हो, सत्संगी, परमार्थ-परायण हो। दो हाथ-पैर आदि मनुष्य का आकार-प्रकार ही मनुष्यता नहीं है, मनुष्यता है धार्मिकता में, जन्मादिक क्लेशों से मोक्ष ले लेने में।

याते करि अभ्यास निरन्तर, पूरण काम तुम्हारा हो
नहिं कछु शेष करन को आगे, स्थित खुद निरधारा हो
सर्व शिरोमणि पूज्य सोई जग, हुवा जो सबसे न्यारा हो
कालजालसंसारस्वप्नभ्रम, जानि त्यागि थितिसारा हो ८

टीका:— (भजन, भक्ति, धर्माचरण पूर्वक मोक्ष ले लेना ही मनुष्य तन पाने का फल है) इसलिये हे मुमुक्षु ! सद्साधनों का निरन्तर-लगातार अभ्यास करके जगत्-कामना-रहित स्वरूप में स्थिर हो जाओ फिर तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा। भविष्य में तुम्हें कुछ करना बाकी नहीं रहेगा। क्योंकि चैतन्य जीव स्वतः निराधार स्थित हो जायगा। संसार में सब का सिर-मुकुट-रत्न परमपूज्य वही हुआ है और होगा, जो सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थों तन-मन दृश्यों की अहंता-ममता-मानन्दी से पृथक् हो गया और विषयों को कष्टदायी, बन्धन रूप तथा उसका सम्बन्ध स्वप्न के तुल्य तथा असत्य समझ कर और उसे त्याग कर सत्य स्वरूप में स्थित हुआ॥ ८॥

पद

जिसके मन से विषयों के प्रेम दूर हो गये,
अपने अविनाशी पद को पाके पूर हो गये ॥टेक॥
जिसके लिये संसार परेशान है सदा,
वे भोग जगत् के उन्हें सब धूर हो गये ॥ १॥
सब जीव को मन शत्रु है क्षण-क्षण में नचाता,
उस मन शत्रू को जीत के वे शूर हो गये ॥ २॥
त्रय ताप से पूरण शरीर जीवन दुख मयी,
हो मुक्त उसके ध्यास से सुख मूर हो गये ॥ ३॥
उनका ही जीवन धन्य है नर देह को पाकर,
जिनके जनम मरण कलेश दूर हो गये ॥ ४॥

हरिगीत छन्द—७

नहिं आश कुछ आने जरा, निज से लखे सब भिन्न है
जग पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक, सब भास मात्रहिं खिन्न है
वैराग्य जीवन कर सफल, वैराग्य ही सुख सार है
होकर निराला आप खुद, सब से रहे निरधार है १

टीका— मुमुक्षु को चाहिये कि इस संसार की किञ्चिन्मात्र भी इच्छा अपने मन में न लावे, अपने शुद्ध स्वरूप से सर्व मायामय पदर्थों को पृथक् विचारे। पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक समग्र संसार-सृष्टि अपने चैतन्य स्वरूप से अत्यन्त दूर, प्रतीत मात्र, परिवर्तनशील तथा दुःख पूर्ण हैं। अतएव वैराग्य जीवन को ही सफल करो, क्योंकि वैराग्य ही निश्चित सुख रूप है और सब पदार्थों, व्यवहारों, संयोगों के परिणाम में वैराग्य ही एक सार रहता है। इसलिये अपने आप सबसे पृथक् होकर सर्व प्राणी-पदार्थों तथा देह की अहंता-ममता-मानन्दी रूपी आश्रय से रहित होकर वैराग्यवृत्ति ही में विराजना चाहिये ॥१॥

वैराग्य ही सार है!

वैराग्य कहते हैं—शरीर से लेकर पंचविषय, संसार तथा सुने हुए कल्पित स्वर्ग-सुख-भोगों के प्रति मन में किंचिन्मात्र भी आसक्ति तथा आकर्षण न होना। किंतु अविद्या-वश निज-पर शरीरों और विषयों में सुख, रमणीयता (सुन्दरता), पवित्र, सत्य की बुद्धि होने से मनुष्यों का राग शरीर तथा विषयों में सदैव बना रहता है। विचार करके देखिये तो संसार की समस्त वस्तुयें जड़, दुःखपूर्ण, अपवित्र, संसरण-शील (परिणामी) हैं। अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं से वैराग्य करने योग्य है। सुख तथा सुन्दर माने हुए सभी मायिक वस्तुओं एवं सम्बंधों के अन्त में दुःख, क्षणभंगुरता, असारता तथा असुन्दरता का ही बोध होता है।

रामायण खोलिये और जनकपुरी की पुष्प-वाटिका में राम-सीता का मिलाप,धनुषयज्ञ की रंगभूमि, विवाह, रामकलेवा, विवाह के पश्चात् अयोध्या लौटने पर वहाँ का उत्सव और लंका विजय पढ़िये तो मानसिक नेत्रों के सामने आनंदपूर्ण दृश्य नाच उठते हैं, बड़ा सुख लगता है। किंतु कैकयी कोप, राम-वनवास, दशरथ-मरण, सीता-हरण, लक्ष्मण को वाण लगना, धोबी के ताना मारने से श्रीराम जी का सीता को त्याग करना, लवकुश से युद्ध में हारना, चारों भाइयों का गोप्तार घाट सरजू नदी में अन्तर्धान होकर शरीर त्याग करना जब पढ़ा जाता है, तब स्पष्ट दर्शित होने लगता है कि संसार की सभी मायिक वस्तुयें असत्य, दुःखपूर्ण और क्षणभंगुर हैं।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत या महाभारत खोलिये और गोकुल की कृष्णलीला, गोपियों का प्रेम, रासलीला, कंश-शिशुपाल पर विजय, १६१०८ पटरानियों सहित श्रीकृष्ण जी का विहार, यदुवंशियों और कौरवों का विस्तार, पाण्डवों की वीरता और विजय आदि पढ़िये तो मन अवश्य प्रसन्न होता है। किन्तु गोपियों का वियोग, यदुवंशियों तथा कौरवों का नाश, पाँचों पाण्डवों का हिमालय में गलना, बधिक के वाण-द्वारा श्रीकृष्ण जी का शरीर-त्याग पढ़ कर मन में वैराग्य ही उत्पन्न होता है और यह निश्चय होता है कि संसार की सभी वस्तुयें असार, क्षणभंगुर और रागजनित होने से दुःखदायी हैं।

यह सभी जान सकते हैं कि वैवाहिक उत्सव, यौवन अवस्था, नीरोगता, विषयभोग, मान-बड़ाई, अधिकार, कुटुम्बियों का सम्बन्ध, मित्रों का मिलाप और यह जीवन सदा नहीं रहता। एक-एक दिन सब का वियोग होता है। सुन्दर, सुखदायी माने हुए अनेक पदार्थ और प्राणियों के शरीर छूट जाते, सड़-सड़ कर मिट्टी में मिल जाते, जल-बल जाते इत्यादि। तब वैराग्य ही उत्पन्न होता है, संसार की असारता ही दर्शती है। इसीलिये विवेकशील पुरुष प्रथम ही संसार की असत्य वस्तुओं में मन नहीं लगाते। इसी को 'विवेक बुद्धि' इसी को

'यथार्थ ज्ञान' कहते हैं कि जैसे संसार छूटने वाला, अपने लिये अभाव रूप है, वैसे ही सांसारिक वस्तुओं से पूर्ण वैराग्य करके दुःख रूपी संसार की आसक्ति का पूर्ण त्याग कर अपना कल्याण करें। अतएव संसार से वैराग्य करना ही—उसका प्रेम त्यागना ही सार है। प्रेम करने योग्य है अपना अविनाशी चैतन्य शुद्ध स्वरूप। क्योंकि उसी की दुःख-निवृत्ति के लिये हम बाहरी वस्तु-प्राणियों में प्रेम करते हैं और उसी (अपनी) दुःख-निवृत्ति के लिये ही प्रिय-से-प्रिय मानी हुई वस्तु तथा शरीर का त्याग कर देते हैं। अतः जगत्-प्रेम त्याग कर स्वस्वरूप में प्रेम करना चाहिये।

सुविवेक से लखि दोष दर्शन, विरति पथ आरूढ़ हो
नित तृप्त अपने आप में, परफुल्ल चित मति गूढ़ हो
फिर क्या किसी से राग तब, नहिं द्वेष का कछु भार है
फिर तृप्त ही वह तृप्त, आठोयाम सुख भण्डार है २

टीकाः—जड़-चैतन्य की भिन्न दृष्टि रूप शुद्ध विवेक से विषयों को दोष-दुःख रूप देखो, और वैराग्य में टिके रहो। भोग-वासना-रहित सदैव अपने आप शुद्ध स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहो, परिणाम में शान्ति लाभ तथा जन्मादिक दुःखों से अत्यंत निवृत्ति जानकर और प्रसन्न मन होकर स्वरूप-स्थिति बुद्धि को धारण करो। फिर ऐसी स्थिति में वहाँ किसी से मोह कैसा और न तो वहाँ किञ्चित वैर-विरोध की ही मानन्दी रहेगी। फिर तो वह राग-द्वेषादिक रहित आठों पहर सन्तुष्ट ही सन्तुष्ट निरन्तर शान्ति का कोष ही हो जायगा ॥ २ ॥

सम्बन्ध से सब हो रहा, जो दृष्टि गोचर दिख रहा
सम्बन्ध जड़ चैतन्य का, सो तो अनादी से रहा
सतसंग से अब कर जुदा, सतसंग ही यक सार है
याते सकल मद मान तजि, सत्संग ले आधार है ३

टीका:—जहाँ तक दृष्टिगोचर कार्य पदार्थ हैं सब जड़ या जड़-चेतन के संयोग से ही बनते हैं। जड़-चेतन का सम्बन्ध अनादि है। अब उन्हें सत्संग-द्वारा पृथक करो, क्योंकि सत्संग ही साधन-सार है। अतएव सारे अहंकारों को छोड़कर सत्संग का आश्रय पकड़ो ॥ ३ ॥

जिव में नहीं जड़ में नहीं, बस देह का अध्यास है
सम्बन्ध है यह देह का, जो बीच का प्रतिभास है
जागृत मनन सुख भावना, संसृति सोई संसार है
दुख जानि ताहि अभावकर, अमृत स्वतः निरधार है ४

टीका:—वासना रूपी बन्धन न शुद्ध जीव में है और न मात्र जड़ में है, यह दोनों के सम्बन्ध में सूर्य सापेक्ष वृक्ष की छायावत् देह का अध्यास मात्र है। वासना ही देह का सम्बन्ध-कारण है, जो जड़-चेतन के बीच का प्रतिभास है। जागृत में विषय शरीरादि जड़ दृश्यों के प्रति सुखासक्ति पूर्वक मनन होना यही जन्म-मरण का हेतु तथा संसार है। इसे दुःख पूर्ण जान कर सर्वथा त्याग दो और स्वतः अमर तथा निराधार स्वरूप में स्थित होओ ॥ ४ ॥

शिक्षा—यह देह बिजली की चमकवत् क्षणभंगुर, दुःखरूप अपवित्र और विजाति है, अतः इसकी भ्रम-आसक्ति को त्याग कर स्वयं पारख स्वरूप में शान्त होओ, जो अविनाशी धाम सुख-दुःख द्वन्द्वों से परे है।

मन इन्द्रियाँ संघात में, जिव कर्म रचता है सही
जस कर्म के हैं बीज उर, तस देह मिलि छुटती रही
जागृत स्वप्न सुषुप्ति महैं, तस भोग जग विस्तार है
सुख ग्रन्थि से सब हो रहा, तेहि त्यागि भवनिधि पार है ५

टीका:—जीव मन-इन्द्रियों के सम्बन्ध में शुभाशुभ कर्मों की रचना करता है। जीव के हृदय में जैसे कर्म के बीज रहते हैं, वैसे शरीर मिल-मिल कर छूटता रहता है। हृदयस्थ कर्मवासनानुरूप ही जीव जागृत, स्वप्न

तथा सुषुप्ति में दुःख भोगता है। जड़-सुखासक्ति के वश ही यह सब हो रहा है, उसे त्यागकर जीव संसार-सागर से पार हो जाता है॥ ५॥

चलना रु उठना बैठना, कहना रु सुनना मानना
अनुसार इच्छाशक्ति के, व्योपार होते जानना
प्रारब्ध भर बरताय कर, निर्मूल इच्छा कीजिए
बहिरंग वृत्ती तोड़ कर, निज स्थिति में जोड़िए ६

टीका:—चलना, उठना, बैठना, कहना-सुनना तथा मानना—ये सारे व्यापार इच्छाशक्ति के अनुसार होते हुए जानना चाहिये। अतएव ऐ कल्याण-इच्छुको! शरीर निर्वाह मात्र शुद्धता पूर्वक ग्रहण करते हुए विषय-भोगों की इच्छायें जड़ से ध्वंस कीजिये; बाह्यवृत्तियों को समाप्त करके स्वस्वरूपस्थिति में चित्त दीजिये॥ ६॥

पारख अटल जब एकरस, तैसे करे ठहराव है
याही तपस्या जाप है, यहि बोध गुरु सत भाव है
सूरत स्वतः निज रूप में, स्थित रहे निशिवार है
इसके लिये यह युक्ति गहि, गुरु भक्तिसे सब टार है ७

टीका:—अपना स्वरूप निश्चल ज्ञानमात्र है, अतएव अपने आप में ही स्थित होना चाहिये। यही तप, जप, गुरुबोध तथा सत्य की स्थिति है। अजर, अमर स्व-स्वरूप में ही निरन्तर स्थित रहो। इसके लिये वैराग्य-विवेक सम्पन्न सद्गुरु की भक्ति का आधार लो, जिससे सारे विघ्न समाप्त हो जायँ।.७॥

साधना की झाँकी

दृष्टान्त—सद्गुरुदेव से शिष्य बोला—हे गुरुदेव! मैं परम शान्ति एवं स्वरूप-स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाता हूँ। कृपया उसका मार्ग बतलाइये? गुरुदेव बोले—स्वरूप-स्थिति (जीवन्मुक्ति) को प्राप्त हो जाना बड़े परिश्रम तथा बड़े पुरुषार्थ की बात है। मैं अधिकतर

साधकों को देखता हूँ तो वे स्थूल सत्पुरुषार्थ, शुभकर्तव्य, सद्ग्रंथ-अध्ययन, सत्संग, भक्ति आदि छोड़कर दिन-का-दिन निठल्ला बैठे रहना साधन समझते हैं। फलतः यह होता है कि निरर्थक बैठे-बैठे नींद आती है और झपरी-जम्हाई लेते रहते हैं एवं नाना मन-स्मरणों में विचरते रहते हैं। हम जीवन्मुक्त महात्मा को नहीं कहते हैं, किन्तु साधक जनों को स्थूल सत् पुरुषार्थ, ज्ञान-वैराग्यमय सद्ग्रन्थों की पढ़ाई-लिखाई, पाठ करना कंठस्थ करना, साधु-गुरु की स्थूल सेवा, भोजन भण्डार आदि छोड़ देना मानो साधक जन की फाँसी और मन का भुलावा है। कोई विरले-विरले पुरुष दृढ़ पुरुषार्थ करके मनोमय सृष्टि को अभाव कर देते हैं। वे ही एकाकार स्वरूप-लक्ष्य में विशेष स्थित रहते हैं, किन्तु वे भी देह रहे तक सत्संग-सद्ग्रंथ का आधार नहीं छोड़ते। फिर अधबिच्च के साधक जनों को गुरु-साधु की स्थूल भक्ति और सत्संग, सद्ग्रंथ-अध्ययन छोड़ देना कहाँ तक उचित है और कहाँ तक साधन अंग है ?

जड़ाध्यास-अज्ञान अनादि अभ्यस्त होने से हृदय में अत्यन्त गहराई से गड़ गये हैं। उनका सर्वथा विनाश तभी हो सकता है जब रात-दिन सत्संग और सद्ग्रंथ अध्ययन तथा शम, दम, विवेकादि का अत्यन्त रगड़ा होगा। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि थोड़ा साधन-अभ्यास करने के उपरान्त साधक जनों को गुरुभक्ति, सत्संग एवं सद्ग्रन्थ अध्ययन आदि से भी निराशता उत्पन्न होने लगती है। पाठ, कथा, सत्संग में आलस्य-नींद लगती, सत्-शिक्षा सुन कर प्रसन्नता नहीं उत्पन्न होती। प्रपंच-चिन्तन तथा विवाद करने में रात-रात दिन-दिन न आलस्य लगे, न नींद। कितना पाप सवार है सिर पर ! क्या इसी पुरुषार्थ से स्थिति-मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है ? कुछ लोग तो ऐसा भी कहने लगते हैं कि क्या विशेष कर्म में प्रवृत्त होना है और क्या बहुत वाणी रटना है, इन सबों से अपनी स्थिति भिन्न है। सब से प्रथम यही प्रमाण लाते हैं "मूल गहे ते काम है" एवं "गुरु गम पढ़ि गुनि

परख दृढ़ गहा, ग्रन्थन को फिर ढोना क्या रे ?" तो ये प्रमाण देना युक्त है, परन्तु किनके लिये जिन्हें सारा संसार असार प्रतीत होता है, जिनके अन्तःकरण की वासनायें समूलता से विनष्ट हो गयीं हैं, जो विवेक-द्वारा अपने को सर्व देहादिकों से पृथक कर निरन्तर सद्पुरुषार्थ-द्वारा सर्वदा स्वरूप में ही शान्त रहते हैं, अर्थात् जो जीवन्मुक्त सिद्ध हो चुके हैं; उनके लिये यह प्रमाण युक्त है, किन्तु वे भी प्रारब्ध पर्यन्त सत्संग-सद्ग्रंथ, गुरुनिष्ठा लिये रहते हैं। फिर साधकों को सद्अभ्यास छोड़ देना कहाँ तक ठीक है ?

भक्ति, सद्ग्रंथ-अध्ययन एवं सद्पुरुषार्थ से निराशता होना अन्तः-करण का सूक्ष्म जड़ाध्यास और असावधानी है। अतएव मोक्ष-साधकों को मुख्य प्रारब्धिक-क्रिया तथा शयन-आराम करने के अतिरिक्त कभी निरर्थक बैठना ही नहीं चाहिये। तन, मन, वचन किसी-न-किसी अंग से सर्वदा सद्पुरुषार्थ में लीन रहना चाहिये। निराधार पारख-समाधि का अभ्यास भी उतने ही समय तक करना चाहिये जितने समय तक सांसारिक चिंतन से चित्त को हटा कर वैराग्य पूर्वक स्वरूप लक्ष्य में लीन हो सकें। निराधार स्वरूप देश से मन जैसे इधर-उधर करने लगे वैसे ही तुरन्त सद्ग्रंथ आदि में मन को लगा देना चाहिये। अन्यथा विशेष समय तक समाधि के धोखे में यों ही बैठे रहने से भीतर-भीतर मन इधर-उधर जगत् दृश्यों में दौड़ायेगा और सद्ग्रंथ अध्ययन, सद्-अभ्यास आदि का भी अकाज होगा।

साधक को अपना साधन मध्य रखना चाहिये जैसे रात-दिन भीड़-भाड़ में बिताना स्थिति-बाधक है ही, किंतु मैं सर्वदा जंगल या श्म-शान ही में रहूँगा, ऐसा निश्चय भी हठता मात्र है। जंगल में भी बहुत बातें सोचने को मिलेंगी, अनादि काल से जड़-संस्कार हृदय में भरे ही हैं। परम विवेकी के लिये नहीं कहा जाता वे तो समाज में या एकान्त में कहीं भी रहें सदैव स्ववश, स्थिति-रत रहते ही हैं, किंतु साधारण साधक के लिये कहना है कि यदि वह एक घंटा एकान्त में

रहता है तो उसका मन वैराग्य पूर्वक विवेक, द्रष्टा, स्थिति आदि साधनों में रत रहता है, तो यह बात नहीं है कि वह यदि चार छे या चौबीसों घंटे एकान्त में रहेगा तो हर समय उसका मन स्थिति-साधन-रत ही रहेगा। मन परिवर्तनशील है, कभी उसी बात को मन चाहता है और कभी नहीं चाहता। इसके अतिरिक्त साधारण साधक जब सदैव सद्ग्रंथ-सत्संग-संतसेवादि में रत रह कर सद्क्रियाशीलता को पुष्ट कर लेगा, तभी वह कुछ समय एकान्त में जाकर चित्त-वृत्ति निरवार करने की शक्ति भी पाता रहेगा। सद्क्रियाशीलता बिना निष्क्रियता (स्थिति) नहीं मिलती। शांति न जंगल में हैं न समाज में, शांति है, भक्ति-बोध-वैराग्य का श्रेणी अनुसार पुरुषार्थ करने में।

पेट को ठूँस-ठूँस कर भरना साधन के प्रतिकूल है, किन्तु चौथिया या साप्ताहिक उपवास ठानना अथवा दो-दो चार-चार दिन भूखे ही रह जाना, यह भी कम हानिकर नहीं है। विशेष भूख में या तो मन बार-म्बार भोजन का चिंतन करता है या तो मूढ़वृत्ति हो जाती है। शक्तिहत होकर कोई क्या विवेक करेगा और क्या स्थिति ? महीना खाँड़ में एक-दो दिन उपवास रहना कोई हानिकर नहीं है। किन्तु हलके रूप से उतना भोजन तो अवश्य करना चाहिये कि जिससे स्वास्थ्य की उचित सुरक्षा होते हुए आलस्य न आवे। कोमल सुखों का अपने को अभ्यासी बनाना शान्तिनाशक है ही, किन्तु विशेष गर्मी-ठण्डी सहनकरना भी कम हानिकर नहीं है। एकान्त में बैठ कर या तो विशेष गर्मी-ठण्डी ही सहिये या तो मन की परीक्षा ही कीजिये, दोनों एक साथ कठिन है, शरीर पत्थर की मूर्ति तो हो नहीं जायगा। बाह्य अधिक कड़े साधन से रोग लग जायगा तब और विवशता लेनी पड़ेगी।

रजोगुणी वस्त्र-भोजन एवं वस्तु की इच्छा करनी अनुचित है ही, किन्तु मैं सूखी-रोटी, कच्चा चावल तथा सत्तू ही खाकर रहूँगा, अथवा एक मैली चीथड़ी पहन कर ही रहूँगा; यह भी परीक्षा-रहित या मान-चाहना मात्र है। दिन-दिन बोलते ही रहना या अनधिकारी को शिक्षा

देना तथा प्रपंच करना साधन के विषम है ही; किन्तु मैं नितान्त बोलूँगा ही नहीं, जिह्वा हिलाना ही पाप समझ लेना, यह भी हठता या अपरीक्षा का ही चिन्ह है। लोभ-वश अधिक पैसा जोड़ना साधन-नाशक है ही, परन्तु मैं नितान्त पैसा छूऊँगा ही नहीं, यह भी अपरीक्षा यामान-चाहना मात्र है। यहाँ भण्डारा, वहाँ भण्डारा या अमुक ग्राम में जाऊँगा तो समझाने-बुझाने से कई चेले मुझसे शिक्षा-दीक्षा ले लेंगे, मानेंगे—इन सबों की इच्छा में दौड़ते रहेंगे तो साधन क्या करेंगे, किन्तु मैं एक आसन से उठूँगा ही नहीं, यह भी हठता मात्र है।

समाधि से उठे, एकान्त से आये, कोई कुछ पूछा, चिढ़चिढ़ा उठे। यह भी कोई एकान्त-साधना का रहस्य नहीं है। साधक को सर्वदा शान्त स्वभाव, सरल तथा निर्मानी होना चाहिये शिष्ट, सौम्य एवं सभ्य होना चाहिये, कड़ी बात का भी नम्र उत्तर देना चाहिये। द्वेष करने वाले का भी द्वेष न करके बल्कि उसका हित-चिन्तन करना चाहिये। देह-इन्द्रिय को सताने यथा निर्बल[1] कर देने से शान्ति नहीं मिलती, प्रत्युत भक्ति, बोध, वैराग्यमय सर्वांग सद्गुणों का धीरे-धीरे अभ्यास करने से शान्ति मिलती है। जो बहुत कड़े-कड़े साधन किये जाते हैं, या तो बिना परीक्षा के, या तो प्रसिद्धि, मान, बड़ाई, कीर्ति की इच्छा मिली होने से। साधन करते समय जो यह स्फुरणा उठती है कि मुझको लोग बड़ा वैराग्यवान् एवं सर्व-साधन-सम्पन्न समझते होंगे, यह भ्रम निश्चयता तथा अज्ञान नहीं तो और क्या है ? यथार्थ वैराग्यवान् तो मान-प्रसिद्धि की इच्छा को सार-हीन देखते हैं। वे सोचते हैं—जब हमें आज-कल एवं घड़ी-पल में इस असार संसार से सदा के लिये सो जाना है, तो फिर इस सुषुप्ति और मृतक रूप जगत् में मान-प्रसिद्धि की आवश्यकता ही क्या है। एक-दो नहीं, पचास-सौ एवं लाख-करोड़ नहीं, अनन्तों कीर्तिवान् हुए और सड़-सड़ कर मिट्टी में मिले। आज उनकी

---

१ दोहा—देह सुखाय पिंजर करे, धरै रैन दिन ध्यान।
तुलसी मिटै न वासना, बिना विचारे ज्ञान॥

प्रसिद्धि, कीर्ति तथा भोग्य वस्तुओं का कहीं चिह्न तक नहीं है, फिर हमारे इस नश्वर शरीर की कितने दिन प्रसिद्धि, कीर्ति रहेगी, कितने दिन भोग्य पदार्थ रहेंगे ? यथार्थ वैराग्यवान् को सारा संसार स्वप्न और निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। वे देह रहे तक सम रूप निरहंकारता पूर्वक रहकर मुक्त हो जाते हैं। जो अविनाशी पद को प्राप्त कर लिया वह नश्वर कीर्ति की इच्छा नहीं करता। इतने उपदेश सुन कर शिष्य बोला—साधक के कुछ रहस्य और बतलाने की कृपा कीजिये। गुरु बोले—सुनो !

१—बोली विचार पूर्वक नम्र, सत्य, प्रिय और कम बोलना।

२—सद्गुरु एव योग्य वैराग्यवान् सन्तों की सेवा, सद्ग्रन्थअध्ययन स्थूल सत् पुरुषार्थ आदि से मन न चुराना।

३—श्रेणी से प्रतिकूल प्रलोभन-क्रिया को न करना।

४—दूसरे से सेवा लेने की कुछ भी इच्छा न रखना।

५—किसी सेवक श्रद्धालु के प्रेम में आसक्त न होना।

६—रमणीय पदार्थों, कोमल सुखों की इच्छा न रखना।

७—अपना प्रारब्धिक जीवन उदासीनता पूर्वक और जहाँ तक बन सके थोड़े में निर्वाह करना।

८—देह-निर्वाह बिना चिंतन किये प्रारब्धानुकूल अपने आप हो जायगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर प्रारब्ध बरतना।

९—मान, यश, कीर्ति की इच्छा न करना।

१०—अधिकारी देख कर समय से जिज्ञासु-भक्तों को शिक्षा देना।

११—दूसरे के दुर्गुण न देखना, चुगली न करना।

१२—अपने दुर्गुणों पर बारम्बार विचार करना।

१३—सब से निर्मान रहना, सन्त-गुरु से निष्कपट रहना।

१४—अपने को दुःख के बीच समझना।

१५—संसार के प्राणी-पदार्थों के मेल-व्यवहार में भली प्रकार परीक्षा दृष्टि से-सावधानता पूर्वक बरतना।

१६— अपने को पन्थी समझना।

१७— देह से बारम्बार उपराम होकर दुःख दृष्टि और मृत्यु-निकट का सतत अभ्यास करना।

१८—मन-स्मरणों को त्याग-त्याग कर स्वरूप में शान्त होने का निरन्तर अभ्यास करना।

दोहा— निर्हंकारी दीनता, साधु गुरू पद सेव।
मान भोग की चाह तजि, अविनाशी पद लेव ॥ १ ॥
ना अति नीचे जाइये, ना अति ऊँचे होय।
मध्य साधना में रहे, मुक्ति सरल मग होय ॥ २ ॥
गुरु से इतने रहस सुनि, शिष्य सहर्ष सप्रेम।
बोध मनन मन में करत, तोड़त जग के प्रेम ॥ ३ ॥

बोध मनन पद

तू अविनाशी अविचल रूप ॥ टेक ॥

तन मन जगत् द्वन्द्व से न्यारे, तू अविकार स्वरूप।
दृश्य मनोमय को दलि मलि के, ठहर स्वच्छ निज रूप ॥१॥
है प्रारब्ध अज्ञान विवश तन, तेहि में सजग सद्रूप।
होनहार सोई तन होवे, बरतत स्वप्न स्वरूप ॥२॥
तू केवल निज वृत्ति निजहिं में, करि निज प्रेम स्वरूप।
सब दुख द्वन्द्व मूल से नाशे, मुक्ति विदेह अनूप ॥३॥
मिलन वियोग स्वप्न की सृष्टी, सबहीं भास दुरूप।
तजि चिन्तवन अचिन्त अचल निज, ठहरि परख पद भूप ॥४॥

शब्द—८

बूझो मन सन्धि जीव भरमाई ॥टेक॥
पंच विषय की सुख मानन्दी, सनमुख ताहि मिलाई
प्रेरक आप ताहि में मिलकर, निज को रहा भुलाई १
मन सुख मेल मिलावत सबहीं, विकत तहैं अरुझाई
मन अनुकूल पाय नहिं जहवाँ, त्यागत तुरत नशाई २

सब खानिन में ऐसहिं देखो, संस्कार लै जाई
अनन्तकाल से तैसहिं बीते, जन्म मरण दुखदाई ३
करि सत्संग गुरू पद भजिये, बन्ध मोक्ष बिलगाई
जड़ चेतन सम्बन्ध अनादी, मानव मात्र रहाई ४
पारख ज्ञान भये सब नाशत, कर्म बीज जलि जाई
दुख सुख अपन परार न जहवाँ, हानि लाभ नहिं भाई ५
परम धाम निज अटल स्वरूपहिं, किरिया रहित सदाई
ठहरि रहे तहँ छोड़ि कल्पना, आपुहि आप रहाई ६
यह सब बोध भाव गुरु शरणहिं, स्वतः स्वरूप लखाई
नमों नमों कबीर गुरु स्वामी, खानि बानि परखाई ७

टीका:— इस शत्रु मन के भेद को गुरु पारख ज्ञान से समझो, इस मन ने सर्व जीवों को अपने भ्रम सृष्टि चक्र में छोड़ कर भ्रमा रखा है ॥ टेक॥ प्रथम यह मन पंच विषय देहादि को सुख मानन्दी जीव के सम्मुख लाकर मिला देता है। फिर तो आप प्रेरक चैतन्य उसी पंच विषय मोह-मानन्दी रूपी स्मरणवृत्ति में मिल कर अपने आप शुद्ध निर्विकार पद को भूल कर तथा अपने को विषय देह रूप मान कर नाना कष्ट का अनुभव करता है ॥ १ ॥ मनःकल्पित सुखों के लिये सब प्राणी एक से एक मेल मिलाते—समता लेते, जहाँ मन अनुकूल सुख पा जाते वहाँ ही उसके हाथ बिक जाते, अर्पण होकर बँध जाते; और जहाँ मन अनुकूल नहीं पाते, उसका तुरन्त ही त्याग कर देते या उसके नाश करने में लग जाते ॥ २ ॥ केवल मनुष्य खानि ही में नहीं बल्कि सर्व खानियों में ऐसा देखा जाता है यहाँ की ही भोगासक्ति और राग-द्वेष मय गढ़ा हुआ संस्कार अन्य खानियों में ले जाकर जीव को राग-द्वेष में जलाता रहता है। दुखद मय जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े-पड़े इसी प्रकार अनादि काल बीत चुके, परन्तु आज तक भी जीव चेत नहीं किया ॥ ३ ॥ अतएव आज सुन्दर अवसर है, नर तन और सत्संग प्राप्त है, अब सद्गुरु का सत्संग करके

गुरु पद भजन में मन जोड़िये, फिर भक्ति सत्संग के आधार से क्या बन्धन है और क्या मोक्ष, इसका पृथक्-पृथक् निर्णय हो जायगा। यद्यपि जड़-चैतन्य का सम्बन्ध अज्ञान अनादि अभ्यस्त है, तथापि मानन्दी मात्र है ॥ ४ ॥ अतः पारख ज्ञान रूपी सूर्योदय का प्रकाश होते ही सर्व अन्धकार मय मोह का विनाश हो जायगा और सुख मानन्दी रूप सर्वशुभाशुभ कर्म बीज जल कर भस्म हो जायेंगे। फिर तो आप उस भूमिका में पहुँच जायँगे जहाँ दुःख-सुख प्रपंच और मैं-तैं की झंझट नहीं है, ऐ भ्रात! वहाँ हानि-लाभ की भी चिन्ताग्नि नहीं है ॥ ५ ॥ यही अपना अविचल ज्ञानस्वरूप ही परम धाम और परम पद है जो स्वरूपतः सदैव क्रिया से रहित है। अतएव हर्ष-शोक, सुख-दुःख, राग-द्वेषादि सम्पूर्ण कल्पनाओं को त्याग कर उस अपने परम पद रूप निष्क्रिय स्वरूप में ठहर रहना चाहिये। फिर तो तन-मन दृश्य उपाधि-रहित केवल आप ही आप निःसंग-स्वच्छन्द सदा एकरस आप शान्त रहेंगे ॥ ६ ॥ यह सब ज्ञानों का रहस्य और स्वतः स्वरूप का पारख सद्गुरु की शरण में पहुँच कर जानने में आता है। उन सद्गुरू कबीर की स्मृति में हृदय झुक जाता है, जिन्होंने खानी-बानी जाल परखाकर छुड़ा दिये ॥ ७ ॥

शब्द—९

करमन भोग लखो जिव कैसा ॥ टेक ॥

निज स्वरूप को भूलि निरन्तर, कर्म करै पुनि जैसा
सुख मानन्दी तामें करि के, क्रियमान रचि तैसा १

भोगन हेतु जो कर्म पूर्व के, संचित शेष रहैसा
सुखासक्ति सो खैंचत निशिदिन, खानिबानिमें वैसा २

वर्तमान प्रारब्ध उदय जो, सन्मुख देह धरैसा
चाहत नाहिं सो भोगन पड़ता, रोगन अधिक लहैसा ३

इमि प्रकार उर भूमि क्षेत्र में, बहुक्रम बीज रहैसा
करता धरता जिव अविनाशी, भोगत देह धरैसा ४
सब का कारण भूल स्वरूपहिं, जो नहिं चेत करैसा
पारख ज्ञान गहो अब गुरु का, संतत स्वच्छ रहैसा ५

सूरज सम यह ज्ञान अग्नि में, भास अध्यास जरैसा
निराधार गुरु पद में रहिकर, मानव सकल छुटैसा ६
बोध रहस्य प्रारब्ध कर्म को, सहित विवेक बितैसा
संचित पूर्व अगामी किरिया, यहि विधि सबहिं हटैसा ७

लेशमात्र नहिं शेष कर्म कछु, यकरस बोध गहैसा
मुक्त होय सब इच्छा तजि के, ऐसी रहनि रहैसा ८

सूरत स्वतः स्वरूप अखण्डहिं, घट बढ़ रहित हमेशा
करि अभ्यास ठहरि रहो वैसे, आवागमन मिटैसा ९

टीका—जीवों को कर्मों का भोग किस प्रकार होता है ? उसे ध्यान पूर्वक नीचे स्पष्ट रूप से देखो । ॥ टेक ॥ अपने अविनाशी निरन्तर एक-रस शुद्ध स्वरूप को भूल कर देह-इन्द्रिय, विषय-वासनाओं में सुख मान-मान कर पुनः-पुनः जैसे-जैसे कर्म मनुष्य करता जाता है, वैसे-वैसे 'क्रियमाण' कर्म की रचना होती जाती है; यही 'क्रियमाण' कर्म का स्वरूप है ॥ १ ॥ और पूर्व-पूर्व अनेकों नर जन्मों के सकाम शुभाशुभ कर्म जो भोग से बाकी बचे हैं, वे ही 'संचित' रूप से रह गये हैं। यही 'संचित' कर्म का स्वरूप है। वे ही सकाम सञ्चितें सुखासक्ति रूप में होकर वैसी ही (यानी कर्म संस्कारानुसार ही) जीव को रात-दिन खानी-वाणी के भोगों में खींचा करती हैं ॥ २ ॥ तीसरा जो 'प्रारब्ध' कर्म है, वह आज वर्तमान में आप के सम्मुख भोग रूप से उत्पन्न है, अर्थात् जिस देह को आप धारण किये हैं यह और इसके खास सुख-दुःखादि भोग यही मुख्य 'प्रारब्ध' कर्म का

स्वरूप है। इसको न चाहते हुए भी भोगना पड़ता है। कोई-कोई औषधि-संयम करते हुए भी अधिक रोगों को धारण कर जीवन भर कष्ट में पड़े रहते हैं, यह अदृश्य प्रारब्ध कर्म का वेग है ॥३॥ इस हृदय रूपी भूमिका में बहुत से शुभाशुभ कर्म के बीज रहते हैं। कर्मों का निर्माता और रक्षक अविनाशी जीव कर्मों के विवश हो असंख्य देहें धारण कर-कर के अनेक दुःखों को भोगता रहता है ॥ ४ ॥ इन सब का कारण अपने शुद्ध स्वरूप की भूल ही है, जो अपने अचिन्त और निःसंग पद का जीव स्मरण नहीं करता। अतः हे मन ! गुरुदेव का पारखज्ञान जो सर्वदा स्वच्छ है, उसी को धारण करो ॥ ५ ॥ सूर्य वत् इस पारख-ज्ञानाग्नि में भास-अध्यास रूप सम्पूर्ण ईन्धन जल कर भस्म हो जायँगे। सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प रूप वासनाओं को त्यागते हुए अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निराधार ठहर रहने से सर्व मानन्दी-बन्धन छूट जायेंगे ॥ ६ ॥ पश्चात् स्वरूप ज्ञान तथा सद्गुण रहनी संयुक्त प्रारब्ध कर्म भोग को सहितविवेक व्यतीत करते चलिये। इस प्रकार सुख मानन्दी युक्त क्रियामान कर्म सर्वथा रुक जाने से पूर्व पूर्व नर देहों के सम्पूर्ण सञ्चित कर्म नष्ट हो जायँगे ॥ ७ ॥ इस स्वरूपबोध की एकरस धारणा में कर्म वासनायें किञ्चित् मात्र भी बाकी नहीं रह जायँगी, अतएव एकरस स्वरूपबोध को धारण करो। ;ऐसे आचरण पूर्वक जीवन भर रहना चाहिये कि सांसारिक सर्व इच्छाओं को त्याग कर जन्मादि दुःखों से मुक्त हो जाय ॥ ८ ॥ ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि अपना स्वतः स्वरूप अखण्ड है, घट-बढ़ रहित, एकरस, अविनाशी, नित्य है, इसलिये जैसा अपना शुद्ध स्वरूप है, वैसे सद्रहस्यों का अभ्यास करके एकरस स्वतः स्वरूप में स्थिर हो रहिये, फिर आवागमन का दारुण दुःख सदा के लिये मिट जायगा और जीव स्ववश, स्वतंत्र हो जायगा ॥ ९ ॥

शिक्षा—संसार पंच विषय शरीरादि जहाँ तक भासमान् हैं, सब जड़-अचेत अपने शुद्ध स्वरूप से बहुत दूर, सुषुप्ति वत् हैं। ये केवल देह-संघात से मनोवासना में ही स्वप्न वत् भास हो रहे हैं। अतएव विजाति निष्प्रयोजन संसार-शरीरादि की आसक्ति त्याग कर संकल्प-विकल्प-रहित स्वतः अविनाशी स्वरूप में शान्त होना चाहिये।

कवित्त

जब तक न बोधहोत आवत न शांति उर,
शांति बिन सुख नाहिं मिलै कहुँ जानिये।
सुख एक मोक्ष स्वच्छ बन्धन से पार होत,
साधु गुरु पद माहिं भक्ति मन ठानिये॥
भक्ति ही तो हेतु सब गुणन को खानि जान,
ताहि रक्ष सत्संग साँच दिल लानिये।
कपट को दूरि कर शुद्ध मन आप भयो,
वासना को नाश भयो मुक्ति पद मानिये॥१

टीका:—जब तक स्वरूपबोध नहीं होता, हृदय में शान्ति नहीं आती, और यह समझने की बात है कि शान्ति के बिना स्थायी सुख कहीं नहीं मिलता। मोक्ष सुख ही वास्तविक सुख है, वह निर्मल और बन्धनों से पार होता है उसके लिये विवेकवान साधु-गुरु के चरणों में श्रद्धा करो। भक्ति ही सब सद्गुणों की खानि है, उसकी रक्षा करके सत्संग-द्वारा हृदय में सत्य की स्थिति लाओ। कपट को दूर कर देने पर मन अपने आप शुद्ध हो जाता है और वासनाओं के नष्ट हो जाने पर ज्ञानमय मोक्ष स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है॥१॥

शब्द—१०

अहो मन कपटी कुटिल तैं भारी॥ टेक॥

पारस पाय भीख तुम माँगत, नहिं परतीत अनारी
पायस मोहन भोग पाय शठ, करत विषय संग यारी १
स्वतः स्वरूप अमर अमृत पद, जहँ दुख आँच निनारी
तेहि तजि सदा विषय वन भरमत, सहत दुसह दुख भारी २

ईर्षा क्रोध दम्भ में धावत, गहि के कपट कटारी
चाल कुचाल कर्म वायस कर, भेष हंस वत् धारी ३
गुरु पद तजि माया मद भूले, जिमि मदिरा की ख्वारी
सूरत तजि गज अश्व द्वार पर, खर की करत सवारी ४

टीकाः—अहो मन ! तू बड़ा छली और क्रूर है ॥ टेक ॥ पारस पत्थर रूप नरतन पाकर तू विषय रूपी भीख माँगता है, ऐ मूर्ख ! तुझे इसका विश्वास नहीं है। स्वरूपज्ञान रूपी खीर तथा उत्तम व्यंजन पाकर हे शठ ! तू मलीन विषयों से प्रेम करता है ॥१॥ अपना स्वरूप अमर है, वहाँ दुखों की आँच नहीं है, परन्तु उसका स्मरण त्याग कर विषय-वनों में भटकता है और असहनीय भारी कष्टों को भोगता है ॥ २ ॥ कपट कटारी लेकर तू रात-दिन ईर्ष्या, क्रोध और दम्भ में दौड़ता रहता है। हे मन ! तेरी चाल तो कुचाल है, कर्तव्य कौवे का है, किन्तु वेष हंस का है ॥ ३ ॥ गुरुभक्ति तथा स्वरूपज्ञान को त्याग कर यह मन माया के मद में भूल गया है, मदिरा पियाउक के समान अपने को पतित कर दिया है। वह द्वार पर हाथी-घोड़े की सवारी त्याग कर गधे की सवारी करने के समान अपने को नीचे गिरा रहा है ॥ ४ ॥

शिक्षा—धर्म, भक्ति, सन्त-सेवा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-दमन आदि हितैषी कर्तव्यों को त्याग कर मन सदा माया-मोह में ही दौड़ता रहता है, अतः मन की परीक्षा सर्वदा करते रहना चाहिये।

अबुधचन्द्र

दृष्टांत—एक ग्राम में एक वैद्य जी रहते थे, उनके अबुधचन्द्र नामक एक पुत्र था। वैद्य जी अपने पुत्र को साथ लेकर एक दिन एक मरीज के यहाँ गये और नाड़ी देखकर औषधि दी और कहा तुम्हारी बीमारी जुकाम से बढ़ी है। पुनः वैद्य जी ने इधर-उधर भली प्रकार देख-भाल कर कहा—तुमने ईख तो नहीं खा ली है ? मरीज बोला—भूल-वश मैंने ईख अवश्य खा ली है। वैद्य जी कुपथ्य का पूर्ण त्याग

और संयम-नियम से नित्य रहने के लिये शिक्षा देकर घर लौट पड़े। मार्ग में अबुधचन्द्र ने पूछा—पिता जी आप केवल नाड़ी देख कर कैसे जान लिये कि मरीज ने ईख खा ली है ? वैद्य—मैं चार पाई के इधर-उधर देखा तो उसके पास ही ईख का छिलका पड़ा था, इससे मैं जान गया कि इसने ईख खा ली है। दूसरे दिन मरीज को औषधि देने के लिये वैद्य ने अपने पुत्र को भेजा। अबुधचन्द्र ने जाकर मरीज की नाड़ी देखकर औषधि दी और इधर-उधर बड़े तेजी से देखने लगा, तो पास में एक ऊँट का पलान देखने में आया। झटपट अबुधचन्द्र ने मरीज से कहा—क्यों जी ! तू ने ऊँट खा लिया है ? मरीज का भाई अति क्रोधी था, वह तड़प कर कहा—रे दुष्ट ! कहीं ऊँट खाया जाता है ? निदान दो-चार डाँट-फटकार सहकर अबुधचन्द्र अपने घर आया। एक दिन पुत्र की दुष्टता एवं अज्ञान पर वैद्य जी बहुत दुखी होकर और पुत्र को बुलाकर समझाने लगे—देखो बेटा ! हमारा बैठक-उठक बड़ों-बड़ों में है, इसलिये तुम भी अच्छा-अच्छा विचार सीखो। मैंने सुना है कि तू ने शराब पीने की आदत बना ली है, घर में आते हो तो अपनी माता को मारते और गाली देते हो और जो बात सुनते हो उसको भली प्रकार न समझ कर उलटा-पलटा करने लगते हो; अतः सुबुद्धि सीखो ! ब्राह्मण के मुख में अग्नि वास करती है, वे कहते हैं—

दोहा—पर धन पत्थर धूरि सम, पर त्रिय मातु समान।
सब प्राणी निज आतमा, जानत सन्त सुजान ॥

ऐसा सुन कर अबुधचन्द्र ने कहा—अच्छा पिता जी ! जहाँ तक होगा मैं ऐसा ही करूँगा। एक दिन अबुधचन्द्र बाजार में गया और हलवाई की दुकान से मिठाई तौला कर खूब खाया, पुनः "पर धन पत्थर धूरि सम" समझ कर मिठाई के परातों को शीघ्रता पूर्वक एक-एक करके सब नाली में डाल दिया और आगे बढ़ा तो एक स्त्री मिली, उसे भी दो-चार घूसा मार कर भागा। यह आतुरता पूर्वक जा ही रहा

था कि इतने में एक शराब की दूकान देखने में आई और वहाँ से शराब की दो बोतलें लेकर एक को तुरन्त पी गया और एक को हाथ में लेकर बिना दाम दिये आगे बढ़ा। मार्ग में जाते-जाते इसे तम्बाकू पीने की इच्छा हुई, इसने सोचा तम्बाकू तो पास में है और चिलम पत्ते की बन जायगी, किन्तु अग्नि कहाँ मिले ? इतना विचार कर ही रहा था कि सामने देव-मंदिर में एक ब्राह्मण सोये हुए थे। इसने सोचा ब्राह्मण के मुख में अग्नि होती ही है, अतः गोबर की एक सूखी कण्डी ब्राह्मण के मुख में खोंस दी जिससे सुलग कर आग हो जाय। ब्राह्मण देव झझक कर जाग उठे और अबुधचन्द्र को लगे खदेड़ने। अबुधचन्द्र भाग कर आया तो क्या देखता है कि पिता जी ऊपर मुख किये सोये हैं। निदान हाथ में लिये हुए शराब को पिता के मुख में छोड़ने लगा पिता झुँझलाकर बोला—रे दुष्ट। यह क्या सत्तानाश किया, हाय ईश्वर ! इसने हमारे धर्म-कर्म को भी नष्ट किया। अबुधचन्द्र बोला—पिता जी ! आप ही तो कहें हैं—"सब प्राणी निज आतमा" अतः मैं अपने समान आप को भी समझ कर यह सोचा कि मैं शराब पी रहा हूँ, तो पिता जी भी हमारे समान ही हैं; अतएव आपको भी शराब पिलाने लगा। इतनी बात करते ही हलवाई, शराब वाला, स्त्री और विप्र महाराज आकर द्वार पर पुकारने लगे—वैद्य जी ! वैद्य जी !! बाहर आइये !!! वैद्य जी बाहर आये और चारों के आने का कारण पूछे। वे सब अपनी-अपनी कथा कह सुनाये। वैद्य ने कहा—क्यों अबुधचन्द्र! हलवाई की मिठाई क्यों नाली में गिरायी ? अबुधचन्द्र—आप ही तो कहे हैं कि "परधन पत्थर धूरि सम" इसलिये मैं दूसरे की मिठाइयों को पत्थर-धूल के समान जानकर और दूकान से नाली में गिराकर साफ करने लगा। बस यही शराब वाले दुकानदार साहब के विषय में भी समझ लीजिये। वैद्य जी—इस स्त्री को क्यों मारा और ब्राह्मण देव के मुख में कण्डा क्यों खोंसा ? अबुधचन्द्र—नित्य माता को मारने की आदत पड़ी थी, अतः "परत्रिय मातु समान" समझकर इसे ही

मारने लगा और अग्नि की आवश्यकता होने से इन ब्राह्मण देव के मुख में कण्डा खोंसा। वैद्य जी--रे अबुधचन्द्र। तू निरानिर अबुध ही है। अपने पुत्र के अज्ञान से दुखी होकर वैद्य जी चारों से क्षमा माँगकर किसी प्रकार छुट्टी लिये।

सिद्धान्त--वैद्य यह जीव है और मन ही अबुधचन्द्र है। यह अबुध रात-दिन जीव के उल्टे कर्तव्य करके पिता जीव को कष्ट दिया करता है। जब मोह त्याग कर पिता जीव पुत्र अबुधमन पर विशेष नियंत्रण (देख-भाल, कड़ाई) रखे, तभी सुख-शान्ति पायेगा, नहीं तो सुख-शान्ति कभी नहीं पा सकता।

शब्द—११

हेरे मन मूढ़ हठी शठ वादी ॥ टेक ॥

क्यों नहिं सुनत वचन शुचि अमृत, गुरुपद सुख आजादी
विषय हेतु भरमत निशिवासर, करत जन्म बरबादी १
देखत सब संसार विघ्न मय, परवश रूप दुखादी
प्राप्ति हेतु परियत्न करत तेहि, लखत न मन की यादी २
यह मन चंचल चोर छली अति, सुखद दिये दुख दादी
संगहि बसि करि निशि दिन चोरी, नृप से रंक बनादी ३
पंच विषय दुख दाह निरन्तर, मिल अनमिलसब लादी
बिना प्रयोजन कष्ट असंख्यन, तलफि रहा प्रतिवादी ४
अजहूँ चेत शमन कर मन को, लहि निज परख आजादी
गुरु के चरण शरण रहिं निशिदिन, करहु नाश भवव्याधी ५

टीकाः—ऐ मूर्ख, जिद्दी तथा झगड़ालू मन ! ॥ टेक ॥ स्वतंत्र स्वरूप ज्ञान बोधक पवित्र अमृतमय गुरु के उपदेशों को क्यों नहीं सुनता ? तू रात-दिन विषयों के लिये दौड़ता है और नर-तन-रत्न नष्ट कर रहा

है ॥ १ ॥ तू देखता है कि संसार के सारे भोग विघ्नपूर्ण, परवश तथा दुःखमय हैं; परन्तु उसी की प्राप्ति के लिये तू प्रयत्न करता है, अपनी इस खराब आदत को समझ कर उसका त्याग नहीं करता ॥ २ ॥ यह मन चंचल और चोर है, देखने में सुखस्वरूप है; वास्तव में दुःखदायी है। यह अनादिकाल से जीव के साथ में बस कर उसे राजा से गरीब बना दिया है ॥ ३ ॥ शब्दादि पाँचो विषयों के भोगों की आसक्ति आदि में निरन्तर दुःखों की जलन है, भोग मिल कर तथा बिछुड़कर जीव को दुःखों का ही बोझा देते हैं यह झगड़ालू मन बिना प्रयोजन ही असंख्यों दुखों को उठाकर पीड़ित हो रहा है ॥ ४ ॥ हे जीव! आज भी सावधान हो और इस विकारी मन का नाश कर और अपने स्वतंत्र पारखज्ञान में स्थित हो। तथा विवेक-वैराग्य सम्पन्न सद्गुरु की शरण में रात-दिन निवास करके सांसारिक रोगों को नष्ट कर ॥ ५ ॥

शब्द—१२

सुन मन मूढ़ चाह तजि दे रे ॥ टेक ॥

तू कहँ दौड़त विषय विवश ह्वै, हिय वैराग्य भरो रे
विषयन की तृष्णा तजि सबहीं, शुचि विश्राम लहो रे १
है परमाणु देश जड़ चंचल, सब सुख विघ्न भरो रे
सकल पदारथ क्षणिक जगत के, नहिं थिर देखि परो रे २
बन्धन हेतु दुःख के दाता, ऐसा करु निश्चय रे
विष मोदक मय जानि भयंकर, देवे दुख नित जो रे ३
तृष्णा का फल दुख ही होवे, नहिं कारण सुख के रे
याते गिरो न कभी मोह वश, विषय रूप गड्ढे रे ४
विषयन की तृष्णा बिन त्यागे, सुख नहिं जीव लहो रे
जानि दुसह दुख त्यागि ताहि को, निज पद शांति गहो रे ५

टीकाः—ऐ मूर्ख मन ! सुन, विषय-इच्छाओं को छोड़ दे ॥ टेक ॥ तू विषयों के वश में पड़ा कहाँ नाच रहा है ? हृदय में वैराग्य धारण कर और विषयों की सभी तृष्णाओं को त्याग कर पवित्र विश्रान्ति प्राप्त कर ॥ १ ॥ पाँचों विषयों के भोग जड़ परमाणु के देश हैं, अतः परिवर्तन शील हैं, माने गये सभी सुख विघ्नों से भरे हैं और संसार के सारे पदार्थ क्षण-भंगुर हैं, ये स्थिर नहीं दिखाई देते हैं ॥ १ ॥ ऐसा निश्चय करे कि विषयासक्ति बन्धन के कारण और दुःखदायी हैं। विष से भरे लड्डू के समान ही पाँचों विषय भयंकर और नित्य दुःख देने वाले हैं ॥ ३॥ विषय-तृष्णा का परिणाम दुःख ही होगा, वह सुख का कारण नहीं हो सकता। अतः अज्ञान-वश कभी विषय के गड्ढे में मत गिरो ॥ ४ ॥ जीव विषयों की तृष्णा का त्याग किये बिना वास्तविक सुख नहीं पा सकता। अतएव उसे असह्य पीड़ा-कारक समझकर त्यागो और स्व-स्वरूप-स्थिति की शान्ति प्राप्त करो ॥ ५ ॥

शब्द – १२

ऐसी मन वृत्ति अहै दुखकारी ॥ टेक ॥

दया क्षमा सत शील सुधा तजि, गहत जु भव दुख भारी
यह मन नीचहिं मोच पान करि, निशिदिन करत खुवारी १
कहँ सुख शांति सेज पर सोवत, काम क्रोध मद जारी
कहँ अब चलत श्वान सम पामर, भक्ति भाव सब डारी २
मन अभ्यास प्रबल विषयन में, निशिदिन भरमि दुखारी
हित अनहित निजपर नहिं जानत, चाहपूर्ति निजकारी ३
सब सुख प्रद मुद मंगल कारण, गुरु कबीर भय हारी
तेहि पद गहे मिटै दुख दारिद, संतत रहत सुखारी ४

टीकाः—मन की चालें इस प्रकार दुःखदायी हैं कि— ॥ टेक ॥ अमृत मय दया, क्षमा, सत्य, शीलादि को त्याग कर संसार के महान दुःखों को उठाती रहती है। यह नीच मन विषय विष ग्रहण कर रात-दिन विनाश-

पथ में जा रहा है ॥ १ ॥ कहाँ तो काम, क्रोध, मदादि नष्ट कर शान्ति रूपी सुख-शय्या पर शयन करना और कहाँ भक्ति-भाव आदि परमार्थ-पथ त्याग कर नीच कुत्ते के समान विषयों के लिये भटकना ॥ २ ॥ मन का विषयों में प्रबल अभ्यास हो गया है, इसलिये वह रात-दिन विषयों में भटकता और दुखी रहता है। यह मन विषय-इच्छा पूर्ण करने के आगे कल्याण-अकल्याण तथा अपना-पराया कुछ नहीं जानता ॥ ३ ॥ सद्गुरु कबीर का निर्भय ज्ञान आत्यंतिक सुख, प्रसन्नता और मंगल का कारण है। अतएव उन्हीं की स्थिति ग्रहण करने से यह अज्ञान कृत दुःख दरिद्रता मिटेगी और जीव सदा के लिये सुखी होगा ॥ ४ ॥

सवैया

चंचल मन कछु मानै नहीं, बहु इन्द्रिनकेसंगभोगभोग्यो है
तृप्त न होत कभी मृगनीरसो, प्यास विषयसुख आगिलग्यो है
थीर रहैक्षण एक न मूरख, सुक्ख अन्होंन कि चाह जग्यो है
कौन उपाय धरूँ उर धीरज, वंचक मन बहु बार ठग्यो है

टीका:—इन्द्रियों-द्वारा बहुत विषय-भोगों को भोग डाला, परन्तु चंचल मन थोड़ा भी सन्तुष्ट नहीं होता। जैसे धूप की लहरियों में पानी समझ कर प्यासा मृगा पानी के लिये दौड़ता रहता है, परन्तु वह अतृप्त ही मर जाता है; इसी प्रकार सुख-आशा-वश मन विषयों में दौड़ता और अतृप्त रहता है। यह मूढ़ मन एक क्षण भी स्थिर नहीं होता और न प्राप्त होने योग्य विषय-सुखों की इच्छा उठाता रहता है। किस प्रकार से हृदय में धैर्य धारण करूँ, यह धूर्त मन अनेक बार हमें ठग चुका है ॥ ५ ॥

शब्द—१४

हे मन मूढ़ सम्हरि अब जाओ ॥ टेक ॥

सुन्दर नर तन पाय कल्पतरु, अवसर शुभ अपनाओ
साहस श्रद्धा प्रेम भक्ति गहि, श्री गुरु शरणे आओ १

कहत सुनत देखत दिन गुजरे, हाथ कछू नहिं आओ
तबहूँ न चेत करत मन मूरख, मृग तृष्णा लव लाओ २
तृप्त अखण्ड जानि निज रूपहिं, दुष्कृत सकल दुराओ
परखि ज्ञान बल ठहरि रहे जो, सहज मोक्ष पद पाओ ३
चौरासी की मिटै भरमना, गुरू ज्ञान जो गाओ
लहि संतोष दया बल तिनके, अजर अमर पद पाओ ४

टीका:—हे मूढ़ मन ! अब सावधान हो जा ॥ टेक ॥ कल्पवृक्ष के समान सुन्दर मानव-तन पाकर उसके कल्याणमय अवसर का सदुपयोग कर ! कल्याण-मार्ग में हिम्मत, श्रद्धा प्रेम और भक्ति ग्रहण करके वैराग्वान सद्‌गुरु की शरण ग्रहण कर ॥ १ ॥ धर्म करूँगा, भक्ति करूँगा संसार से वैराग्य लूँगा, मोक्ष लूँगा—ऐसा कहते, सुनते और देखते तेरे सारे दिन बीते जा रहे हैं । अन्त में तेरे हाथ में कुछ आने वाला नहीं है । आज भी यह मूढ़ मन सावधान नहीं होता, मृगतृष्णामय विषयों में प्रेम करता है ॥ २ ॥ हे जीव ! अपना स्वरूप तृप्त और अखण्ड जान कर सारे पापकर्म छोड़ दो । अपनी ज्ञान-शक्ति से सबकी परख करके, सबकी आसक्ति का त्याग करे तो सहज ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाय ॥ ३ ॥ यदि तुम गुरु-ज्ञान का कथन, मनन तथा आचरण करो तो चौरासी का भटकना समाप्त हो जाय । अतएव सदगुरु के कृपाबल का आश्रय लेकर सन्तोषपूर्ण अजर-अमर पद को प्राप्त करो ॥ ४ ॥

कल्पवृक्ष : मानवतन

दृष्टांत—एक स्थान पर कल्पवृक्ष लगा था । एक थका-माँदा मनुष्य उसके नीचे गया और सोचने लगा कि यहाँ एक स्वच्छ सरोवर होता तो मैं उसमें जल पीता और स्नान करता । इतने में वहाँ सरोवर दिखाई दिया । वह आश्चर्य से पूर्ण हो गया और जाकर सरोवर में जल पीया स्नान किया और पुनः वृक्ष के नीचे आ बैठा । उसे भूख लगी थी । उसके मन में कल्पना उठी कि यहाँ एक थाली उत्तम व्यंजन होता

तो क्या पूछना था। इतने में वह भी उपस्थित हो गया। वह व्यंजन जीम लिया और कल्पना करने लगा कि यहाँ गद्दा-तकिया के सहित पलंग होता तो मैं उस पर आराम करता, इतने में क्या देखता है कि उसके सामने मनवांछित शय्या तैयार है। वह उस पर लेट गया और कल्पना करने लगा कि एक सुन्दरी नवयुवती होती और मेरे पैर दाबती तो क्या आनन्द आता ? वह कल्पवृक्ष था ही एक सुन्दरी उपस्थित हो गयी और उसके पैर दाबने लगी। वह आश्चर्यचकित था। इतने में उसके मन में कल्पना उठी कि जिसकी यह स्त्री है वह आकर कहीं हमें पीटने न लगे, फिर तो कल्पना की देरी थी, एक मनुष्य आकर उसे पीटने लगा।

उपर्युक्त दृष्टांत कल्पित है; क्योंकि कल्पवृक्ष अन्य कहीं नहीं। यह मानव-शरीर ही कल्पवृक्ष है। इसमें जैसी वासना रखी जाय, वैसे उत्थान-पतन, पाप-पुण्य तथा सुख-दुःख जीव को प्राप्त होंगे। अतएव कल्याण की वासना रख कर कल्याण ही प्राप्त करना चाहिये। मानव-शरीर का अवसर अनोखा है।

शब्द—१५

हमारे मन आलस काहे करो ॥ टेक ॥

बड़ी भाग्य से गुरुपद पायो, दृढ़ उर भक्ति धरो
परम प्रीति उर राखि निरन्तर, गुरु चरणन कर जोरिपरो १
लोक लाज मर्याद तजो सब, सतसंगत में नेह करो
मन अभिमान जाय जब वहिका, निज पद देखि परो २
सब दुख दारिद मार भगाओ, गुरु के मग विचरो
यकरस बोध को धारण करिके, जड़ सुख भास टरो ३
धीरज साहस जोर बढ़ाओ, रण में नहिं पछरो
गहि वैराग्य विलग ह्वै जगसे, ज्ञान खड्ग लै खूब लरो ४

टीकाः—मेरे मन ! कल्याण-कार्यों में आलस्य क्यों करते हो ? ।।टेक बड़े सौभाग्य से गुरु की शरण तथा स्वरूपज्ञान प्राप्त किये हुए, अब हृदय में दृढ़तापूर्वक भक्ति धारण करो। सद्गुरु के प्रति हृदय में सदैव अत्यन्त श्रद्धा रखो, विनम्र करबद्ध उन्हीं के चरणों में पड़ो ।। १ ।। लोक-लज्जा तथा लोक, मर्यादा ये सब छोड़ कर सन्तों की सङ्गत में प्रेम करो ! जब मन के सारे अहंकार दूर हो जायँगे, तब उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार होगा ।। २ ।। अज्ञान तथा विषय इच्छाकृत सारे दुःख एवं दरिद्रता को मारकर खदेड़ दो और गुरुमार्ग में रमण करो। स्वरूपबोध को एकरस धारण करके जड़-सुखासक्ति को छोड़ दो ।। ३ ।। साधना-मार्ग में धैर्य, साहस और बल बढ़ाओ, मानसिक युद्ध में पीछे न हटो। वैराग्य धारण करो, संसार-प्रपंचों से पृथक हो जाओ और ज्ञान-खंग लेकर मानस युद्ध में खूब लड़ो ।। ४ ।।

जीव-मन का वार्तालाप

दृष्टांतः—जीव मन से कहता है—हे मन! तू हमारा मित्र भी बनता है और धोखा भी देता है। भला! जब मैं एकान्त निर्विक्षेप रहने, सद्ग्रंथ-अध्ययन करने, स्वरूपस्थिति करने, समाधि लगाने में बैठता हूँ तब तू देश-विदेश, शहर-बाजार गली-गली टहलने के लिये पैर बढ़ाता है और इतनी शीघ्रता करता है कि कहा भी नहीं मानता। कहीं विषय भोगों की ओर ले जाता, कहीं सम्बंधियों का स्मरण कराता, कहीं समाज बाँध कर शिक्षा प्रचार में दौड़ता, कहीं शिष्य-शिष्या की वृद्धि में हैरान होता, कहीं अनुकूल-प्रतिकूल और हानि-लाभ मान कर राग-द्वेष का प्रकरण बाँध कर इतना तूफान रचता है कि कदापि शान्ति नहीं लेने देता। मान-भोग का तो इतना इच्छुक बन गया है कि उसको त्याग कर विवेक-वैराग्य भक्ति-मुक्ति तुम्हें कुछ अच्छे ही नहीं लगते। क्या कहूँ, तुझसे मैं घबरा गया, तेरे साथ से भर पाया, न तुझे छोड़ कर हमें कहीं स्थान मिलता है और न हमें त्याग कर तू ही कहीं जगह पाता है। मन बोला—हे चैतन्य सरकार ! आप ऊबिये-घबराइये नहीं, मैं आप ही के सुख के

लिये रात-दिन दौड़ता हूँ। कैसी बुद्धिमानी है, इधर संसार का विहार कराते हुए मान-भोग का सुख भी अनुभव कराता हूँ, उधर परमार्थ-मार्ग में चलते-चलते अंत में मुक्ति भी मिल जायगी। जीव—अरे मन! तू हमारे परमार्थ में मिलकर हमें गड्ढा में गिराना चाहता है। भला! भोग और मुक्ति दोनों साथ-साथ कैसे ? ऐसे उल्टा-पल्टा पाठ पढ़ा-पढ़ा कर ही तू अनादि-काल से मुझ शुद्ध स्वरूप को विकारी बना दिया, अब तेरा सम्बन्ध ही मुझे दुःख रूप ज्ञात होता है। तू न रहे तो मैं स्वाभाविक मुक्त स्वरूप हूँ, फिर दुःखपूर्ण जगत् का सम्बन्ध ही कैसे हो। जो विजाति और असार-संसार मुझ शुद्ध स्वरूप के लिये नहीं के तुल्य है, उसकी सर्व उपाधि तू ही तो हमारे सिर पर रात-दिन मढ़ता रहता है। फिर तू मित्र भी बनता है। मन—हे चैतन्य सरकार! जन्म, मरण, गर्भवास चारों खानियों में—मैं साथ रह कर आप को सुख दिया, ऐसे चिरसंगी पर तो इतना क्रोध नहीं करना चाहिये। जीव—हे मन! तू हमारे साथ रहा तो दुःख ही तो देता रहा, तू न साथ होता तो ये उपाधि ही क्यों होती। तेरे सांसारिक सुखों से मैं भर पाया, अब तू कृपा कर, तेरे सामने हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैरों पड़ता हूँ, तू हमारा पिण्ड छोड़ दे और जीवन भर तू हमसे न मिले तो मैं बहुत सुखी हो जाऊँ। मन—हे चैतन्य सरकार आप की शक्ति से मैं आज तक शक्तिशाली था; किन्तु ध्यान रखियेगा! जो हमारे ऊपर यह कठिन आघात किया गया है, अर्थात् भोगों से मुझे पृथक किया गया है, समय पाकर मैं आप से इसका बदला अवश्य लूँगा। मुझे अभी सुख-भोगों की खटक लगी है, भोगों से पृथक होना तो मैं कदापि चाहता ही नहीं; किन्तु आपकी शक्ति न पाने से विवशता पूर्वक शान्त होता हूँ। परन्तु स्मरण रहे। आपके वैराग्य एवं साधना के बल से मैं मृतक रूप तो होता हूँ. पर जब तक आप इस शरीर में रहेंगे तब तक मैं जीवित-सा बना रहूँगा और अब स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि आप किञ्चित भी अपने कल्याण पथ से असावधान होंगे, तुरन्त आपको मैं इतने

गहरे गड्ढे में गिराऊँगा कि उससे आपका निकलना कठिन हो जायगा। फिर मुक्ति-गति तो दूर रही, चौरासी चक्र में भ्रमते-भ्रमते आदि-अन्त न पाओगे। जीव—ठीक है, तेरे ऐसे कहने पर तो मुझे महात्मा श्रीकबीर साहेब का वचन स्मरण हो आया।

साखी

मन को मिरतक देखिये, मत माने विश्वास।
साधु तहाँ लौं भय करें, जब लौं पिंजर साँस ॥"

अच्छा हे मन! यह बतला कर तो तूने हमारे प्रति गुरु का काम किया; किन्तु थोड़ा कष्ट करके यह बतला दे कि किन-किन लक्षण वाले साधकों को तू संसार में गिराने में समर्थ है? मन—सुनिये! सुखाध्यासी-आरामतलबी, परमार्थ के पुरुषार्थों से आलसी, मान-भोगों के लोलुपी, असावधान, अहंकारी, सम्बंधियों का मोही, साधु-गुरु से पटैत, अश्रद्धालु इत्यादि। ऐसे लक्षणों युक्त साधकों को तो मैं गेंद की भाँति उछाल कर संसारचक्र में गिरा देता हूँ। यहाँ तक कि सूक्ष्म मान-मर्यादा के मदी एवं विद्या-प्रमादी, शिष्य-शिष्यादि के इच्छुक तथा ज्ञान गर्वी को भी धीरे-धीरे गिरा देने में समर्थ हूँ। मैं केवल सद्गुरु-सन्तों के निष्ठक और निरालस-सत्-कर्तव्य-रत सहनशील-नम्र, धीर, सावधान, मान-सुख के त्यागी वीतराग से ही डरता हूँ। उन्हीं से हमारा कोई-वश नहीं चलता। जीव—अच्छा! तो मैं भी बोरिया-बिस्तर बाँधकर सावधानतापूर्वक तेरी रखवाली ही में बैठता हूँ। हे मन! अपने पारख बल से मैं तुझे सदा भिन्न देखते-देखते तेरी चालों को तोड़ता रहूँगा और तुम्हें शक्तिहीन बनाकर मृतक कर डालूँगा। फिर तो अपने आप एक दिन शरीर प्रारब्ध का नाश हो जायगा और मैं सदा के लिये निश्चिंत विदेह मुक्त हो जाऊँगा। जिस शुद्ध पारख निराधार विदेहमुक्ति में तेरा और तेरे दुःखमय संसार का गन्ध तक नहीं है। इस प्रकार साधक मन से कह कर अपनी विदेह स्थिति का गुनावन करने लगा—

पद

छुटि जाई जगत् कुदेशवा,
रहब हम अपने सुदेशवा ॥ टेक ॥

तन मन जगत् पवन जल धरणी,
जहँ नहिं रैन दिनेशवा ॥ १ ॥

मिलन वियोग रोग भय चिन्ता,
हर्ष शोक नहिं लेशवा ॥ २ ॥

भूख प्यास सुख दुख न अवस्था,
अमर असंग अशेषवा ॥ ३ ॥

सब अभिलाष पूर जेहि पाये,
नहिं कछु करन को शेषवा ॥ ४ ॥

गत दुख द्वन्द्व विदेह परम पद,
अचल अचिन्त हमेशवा ॥ ५ ॥

शब्द—१६

रहस्य गुरु काहे न धरो हिय सार ॥ टेक ॥
जगत जाल में सोचत निशिदिन, प्रति क्षण कमी दुखार १
तहाँ न ऊब डूब मन लावत, निज हित क्यों तु बिसार २
साधु गुरू सद्ग्रन्थ पुकारत, तन मन भ्रम दुखकार ३
श्रद्धा सत्य जोश भरि क्षण-क्षण मनोवेग कर छार ४
सूरत स्वतः स्वरूप अचल निज, आवागमन निवार ५

टीका:—हे मन ! जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण सद्गुरु प्रदत्त सद्गुण-सदाचार क्यों न हृदय में धारण करो ॥ टेक ॥ संसार के प्रपंच में पड़ा हुआ तू रात-दिन सुख-प्राप्ति की सरल युक्ति सोचता रहता है, परन्तु तुम्हें भोगों में प्रतिक्षण कमी और दुःख का अनुभव हुआ करता है ॥ १ ॥ उक्त दुःखपूर्ण जगज्जंजाल से तू नहीं घबराता है, फिर अपने कल्याण-मार्ग से क्यों घबराता है, उसे क्यों भूल रहा है ॥ २ ॥ साधु-गुरु प्रवचनों

एवं सदग्रन्थों में यही कहते हैं कि तन और मन भ्रमपूर्ण तथा दुःखकारक हैं ।। ३ ।। अतएव सत्य के लिये अपने मन में श्रद्धा और जोश क्षण-क्षण भरते हुए मन के उद्वेगों एवं विकारों को धूल करते रहो ।। ४ ।। अपना स्वरूप अविचल है, अतएव उसमें स्थित होकर आवागमन चक्कर से मुक्त होओ ।। ५ ।।

व्याख्या—जीवन क्षणभंगुर है, फिर भी कल्याण साधन करने के योग्य होने से महत्वपूर्ण है। अतएव सभी क्षणभंगुर वस्तुओं की ममता त्याग कर कल्याण-साधन में लगो।

सवैया

दो दिन जीवन है जग में, मद में मत भूल स्वधन प्रभुताई ।
गाल बजावत हांकत है, जित ही तित ही अपनी ही बड़ाई ।।
सो जानत नाहिं ये काल कलावश, हैं सबहीं क्षण में विनशाई ।
नेकी करो नर दो दिन जोवन, ये धन धाम सबै छुटि जाई ।।१।।

शब्द—१७

कुशल निज सबसे होऊँ निराश ।। टेक ।।

निज-निज हित सम्बंध करत सब, पूर हेतु सुख आश १
अहै स्वतंत्र स्वरूप सबहिं का, तन मन भूलि निवास २
गर्ज विवश सब दुखहि छुड़ावन, एक से एक हुलास ३
सूरत निज स्वरूप निरधारहिं, तहँ ही अटल निवास ४

टीका:—सबसे इच्छारहित होने में हो अपना कल्याण है ।। टेक ।। संसार के सभी जीव अपने-अपने स्वार्थ एवं मन की आशा की पूर्ति के लिये तुमसे प्रेम करते हैं ।। १ ।। सभी जीवों का स्वरूप स्वतंत्र है, कोई किसी का नहीं है, अपने आपको भूलकर ही वे जीव शरीर और मन में निवास कर रखे हैं ।। २ ।। अपने स्वार्थ-वश तथा अपनी दुःख निवृत्ति के लिये ही एक दूसरे से प्रसन्नता या प्रेम प्रकट करते हैं ।। ३ ।। अतएव अपना स्वरूप असंग समझ कर उसी में अविचल भाव से सन्तुष्ट होना चाहिये ।।४।।

शब्द—१८

चेत नर अपना आप अधार ।

सतत निज जीव का करो विचार ॥ टेक ॥

शुद्ध अखण्ड अनाशी चेतन, सबको जानन हार १
ताहिं विसारि भ्रमत नित चंचल, देह वासना ख्वार २
करि पुरुषार्थ गुरू मग लागो, फिर न बहो दुखधार ३
कहहिं कबीर फंद सब टूटै, गहो अटल पद सार ४

टीका:— ऐ मनुष्य ! तू अपने आपका आश्रय खोज और निरन्तर अपने अविनाशी स्वरूप का विचार कर ॥ टेक ॥ चेतन निर्मल, अखण्ड, अविनाशी तथा सबका जानने वाला है ॥ १ ॥ उस अपने आप दिव्य स्वरूप को भूल कर जीव सदैव चंचल होकर भटकता है और शरीराभिमान में पड़ा अपने को पतित कर रहा है ॥ २ ॥ साधना का पुरुषार्थ करो और गुरु मार्ग में लगो तथा पुनः संसरा सागर के दुःखधारा में न बहो ॥ ३ ॥ गुरु कबीर कहते हैं कि अविचल स्वस्वरूप में स्थित होओ फिर तुम्हारे सारे बन्धन टूट जायँगे ॥ ४ ॥

शिक्षाः— संसार-शरीरादि का प्रेम छोड़ कर अपने चैतन्य स्वरूप में प्रेम करो जिससे जरा-मरण रहित मुक्त हो जाओ ।

अपने अविनाशी स्वरूप का प्रेम

दृष्टांतः— एक वैराग्यशील स्थितवान् महात्मा एकान्त स्थल में समाधिस्थ थे। इतने में एक मनुष्य आया और महात्मा को अकेले देख कर बोला—कहिये महात्मा जी ! आप अकेले क्यों बैठे हैं ? उपाधि रूप समझ कर महात्मा कुछ नहीं बोले, चुप रह गये । मनुष्य ने पुनः वही बात दोहरायी "क्यों अकेले बैठे हैं"? महात्मा जी क्षमा की दृष्टि से बोले—भैया ! अभी तक मैं अकेला नहीं था, परन्तु तुम्हारे आने पर अवश्य अकेला हो गया हूँ । मनुष्य—आपके पास तो

कोई और नहीं दीख पड़ता था, फिर आप दुकेला कैसे थे ? महात्मा—एक मैं एक मेरी शान्ति देवी, इस प्रकार हम दो थे। किन्तु तुम्हारे आने पर शान्ति देवी से पृथक होकर मैं अकेला ही रह गया हूँ। मनुष्य—एकान्त में रहते-रहते आपको व्याकुलता नहीं होती ? महात्मा—जैसे कोई महाकामी पुरुष एकान्त में मनइच्छित सुन्दरी पा जाय, लोभी मनइच्छित धन, मोही बहुत दिन का बिछुड़ा हुआ हार्दिक मित्र या पुत्र पा जाय और कई दिन का भूखा मनुष्य एकान्त में मेवा-मिष्ठान्न एवं व्यंजनों से भरा हुआ थाल पा जाय, तो वे जैसे और दूसरे को नहीं चाहेंगे, किसी विक्षेपतारहित केवल उन्हें अकेले ही भोगना चाहेंगे, लोभी अकेले धन ले जाना चाहेगा, तीसरा रहित मित्र-मित्र बात-चीत करना चाहेंगे। वैसे मैं स्वरूप स्थित रूपी वधू बिना, स्वरूपज्ञान रूपी अविनाशी धन बिना, सद्गुण रूपी मित्र बिना, तथा समाधिस्थ सुख रूपी व्यंजन बिना अत्यन्त दुखी था; किन्तु अब उपर्युक्त पदार्थों को प्राप्त कर एकान्त में उन सबों का एकरस निर्विक्षेप सुख लेना चाहता हूँ। फिर हमें क्यों व्याकुलता होगी, तात्पर्य यह है कि जीव अनादि काल से अभ्यास-वश शरीर धारण कर-करके प्राणी-पदार्थों में दृढ़ आसक्ति टिका रक्खा है। परन्तु वे सब चंचल, नाशवान होने से छूट जाते हैं और इसी माया की आसक्ति-वश जीव जन्म-जन्मान्तरों में कष्ट भोगता रहता है। इसलिये अब संसार-शरीरादि सम्पूर्ण भासमान का प्रेम तथा आसक्ति त्याग कर अपने अविनाशी स्वरूप में दृढ़ प्रेम करना है। क्योंकि एक ओर दृढ़ प्रेम करना है। क्योंकि एक ओर दृढ़ प्रेम—आसक्ति हो जाने से दूसरी ओर की आसक्ति छूट जाती है। रहीं बात संसार से प्रेम तथा आसक्ति हटा कर अपने स्वरूप में प्रेम करने की, तो उसका यह कारण है कि विजाति तन-मन पंच विषय जड़ पदार्थ चंचल नाशवान और पृथक हैं, अतः उनमें प्रेम करने से दुःख होता है, क्योंकि मिल-बिछुड़ कर विजाति पदार्थ कष्ट देते रहते हैं और जड़ासक्ति से ही जन्मादिक दुख-द्वन्द्वों की भी प्राप्ति

होती रहती है। और स्व-स्वरूप, सुख-दुःख द्वन्द्वों से परे, निष्क्रिय, शान्त, असङ्ग और अविनाशी है तथा अपना स्वतः स्वरूप ही है। अतएव अपना स्वरूप अपने से कभी छूटने वाला नहीं, चंचल नहीं। इस कारण स्व-स्वरूप में प्रेम करने से चंचल दुःख रूप संसार के राग रूपी काल से पीछा छूटता है, जन्म-मरण की जड़ उखड़ती है और अविनाशी, अघट शान्ति मिलती है, अभय और स्वतंत्र देश मिलता है, इस कारण सबके सम्बन्ध रहित, अपने माने हुए शरीर को भी अभाव कर, इस देह को केवल औषधिवत् अन्न-जल, वस्त्रादि नैराश्यता पूर्वक देते हुए शांति संतोष, विवेक, वैराग्यादि रूपी सद्‌साधन में तन्मय होकर अविनाशी स्वरूप में लीन रहता हूँ, जिसमें मिलन, वियोग, भय, असमंजस, चिन्ता, कामना, आशा, तृष्णा, हर्ष, शोक, व्याकुलता आदि नहीं हैं; वह तो सर्व दुःखों से अत्यन्त निवृत्त, सर्वदा, सर्वथा स्वच्छंद; निःसंग; अविनाशी, अचल और शांत ही है।

विनय—साखी

नमों नमों गुरुदेव पद, हरण सकल भव जाल।
दीन जानि प्रभु रच्छिये, अधम अधम ये बाल ॥१॥

टीका:— सम्पूर्ण भव-बन्धनों को काटने वाले सद्‌गुरु के चरणों में नमस्कार है। इस अधमाधम बालक को दीन जान कर इसकी रक्षा कीजिये ॥१॥

चौपाई

गुरु सम नहिं कोइ हित मेरे।
जो बिन हेतु कृपा प्रभु प्रेरे ॥ २ ॥
परम कृपाल सुशांत स्वरूपा।
शरण आय नाशत भ्रम कूपा ॥ ३ ॥

टीका:— बिना कारण कृपादृष्टि की प्रेरणा करने वाले सद्‌गुरु के

समान हमारा कोई रक्षक नहीं है ॥ २ ॥ आप परम कृपालु, शान्त स्वरूप तथा शरणार्थियों के भ्रम-बन्धनों को मिटाने वाले हैं ॥ ३ ॥

पारख ज्ञान प्रकाश दिनेशा ।
नाशत जड़ तम रहत न लेशा ॥ ४ ॥
सर्वोपर कब्बीर कृपाला ।
जेहि से पारख ज्ञान उजाला ॥ ५ ॥

टीका:— पारखज्ञान का प्रकाश सूर्यवत् दिव्य है, वह अज्ञान एवं विषयासक्ति को इस प्रकार मिटा देता है कि उसका लेश भी नहीं रह जाता ॥ ४ ॥ कृपालु सद्गुरु कबीर सर्वोपरि ज्ञानी हैं, आप से पारखज्ञान का प्रकाश हुआ ॥ ५ ॥

बीजक उत्तम ज्ञान निराला ।
शिक्षा विविध प्रकार रसाला ॥ ६ ॥
सो अपनाय लीन्ह जो सन्ता ।
सुखी भये ते तजि सब हन्ता ॥ ७ ॥

टीका:— सद्गुरु कबीर-प्रणीत बीजक में उत्तम और विलक्षण ज्ञान तथा कल्याणप्रद अनेक प्रकार की रसपूर्ण शिक्षायें भरी हैं ॥ ६ ॥ उन्हें जिन सन्तों ने ग्रहण कर लिया, वे सारे अहंकारों को त्याग कर सुखी हो गये ॥ ७ ॥

पूरण काशी लाल विशाला ।
राम रहस्य गुरु दीन दयाला ॥ ८ ॥
श्री विवेक गुरु दै आधारा ।
करि न सकौं कछु प्रत्युपकारा ॥ ९ ॥

टीका:— सद्गुरु श्री पूरण साहेब, श्री काशी साहेब, श्री लाल साहेब, श्री विशाल साहेब, श्री राम रहस साहेब, श्री गुरु दयाल साहेब तथा वेष-

बोध-दाता सद्गुरु श्री विवेक-साहेब—आप सब इस दास, को आधार देकर परमार्थ-मार्ग में दृढ़ किये आप गुरुजनों का मैं कुछ प्रत्युपकार करने योग्य नही हूँ ॥ ८, ९ ॥

सूरत दास गुरु पद रज, बन्दौं बारम्बार।
जाहिं मिले दुख नाश भौ, पुनि न बहौं भवधार ॥१०

टीका:— यह दीन "सूरतदास" आप सद्गुरु सन्तों की चरणधूलि को बारम्बार बन्दना करता है। जिनके ज्ञान मिलने से अविद्या रूपी दुःख नाश हो गया, उन साधु-गुरु के चरण-कमलों में दीन-अधीन होकर बार-बार बलिहार है। हे साधु-गुरुदेव ! ऐसी सुबुद्धि दीजिये कि फिर से अब मैं कामादि दुर्गुण रूपी भवधारा में न बहूँ, जीवन पर्यन्त आपका पद प्रेमी बना रहूँ और संसार-बन्धन से मुक्त हो जाऊँ ॥ १० ॥

रहस्य युत सन्त-गुरु की वन्दना

दोहा—मंगलमय मंगल करन, दीन बन्धु गुरु सन्त।
जन्म मरण दुख दमन हित, बारम्बार नमन्त ॥

चौपाई

कृपा सिन्धु साहिब सुख कन्दा। संसृति हर सच्चिद निर्द्वन्दा ॥
सब जड़ भास आश से होता। परम रूप नित पद में लीना ॥
तन उदास नैराश जगत् से। सब प्रकार आधार भगत के ॥
तव पद गहि चाहत भव तरना। करहु कृपा प्रभु दुख के हरना ॥

दोहा—जेहि के काम न क्रोध भय, लोभ मोह मद पार।
निरत निरन्तर निध्य पद, ताहि नमन त्रयबार ॥

जग दुख विगत विरत भव भोगा। साधन साधि समाधि अशोगा ॥
सब में समता राग न रोषा। तन मन वचन विमल गत दोषा ॥
दयाशील संतोष विचारा। धीरज सत्य सकल गुण धारा ॥
निज पर हित रत मति सुपुनीते। सरल उदार अमल अति चीते ॥
पर गुण सुख लखि तनिक न तापा। तनिक न लालच लोभ कलापा ॥
कंचन कांच भोग सुख रोगू। प्रमदा बन्धन जानि अभोगू ॥

शत्रु मित्र अपमान रु माना। सुख दुख हानि लाभ सम जाना ॥
तृण सम अखिल लोक सुख जानहिं। दुख को दुख सुख सुख नहिं मानहिं॥

दोहा—यह जीवन यह तन जगत्, जानहिं सपन समान।
सांच सबन्ध प्रतीति करि, छिनहि न बिलमैं आन ॥
मन वाणी कर्तव्य के, द्रष्टा रहत सदेव।
सरुज शरीर कुपथ्य जिमि, बुध जन करहिं न सेव ॥

निज तन मन वच से पर काहीं। दुख न देयँ जिय जानि कदाहीं ॥
संकोची शीतल निर्मानी। शठ सन हठ न करहिं दुख जानी ॥
यथा प्राप्त संतोष सुखारे। जड़ पदार्थ कर आश न धारे ॥
गुण ग्राही दुर्गुण से दूरी। अपिशुन हंस वृत्ति चित पूरी ॥
हर क्षण कुशल अबन्ध रहन में। धीर विषम सम द्वन्द सहन में ॥
अनुभव वृन्द गुणन के सागर। स्वारथ जित परमारथ नागर ॥
स्रवत अमिय निर्णय मुख जाके। सुजन पान श्रुति हिय छाके॥
कहनि रहनि सुनि लखि जेहि केरी। जिज्ञासुहिं दुख द्वन्द्व निवेरी ॥

दोहा—ऐसे सद्गुरु सन्त जन, भवसागर के यान।
तेहि पद पङ्कज पर्शिके, पार चहत हौं जान ॥

प्रार्थना-छन्द

हे दीन बन्धू सद्गुरू ! हे सब विवेकी सन्त जन।
अपराध सब मेरे क्षमा करके लगायेंगे शरन ॥
क्या शक्ति है इस दास में जो दे सके उपदेश है।
जो कुछ कहा ये आप ही गुरु-सन्त के आदेश है ॥ १ ॥

है प्रार्थना कर जोर कर सब भाँति निरहंकार हो।
जो भूल हो इस दास से लोजै सम्हार सुधार सो ॥
मेरी चपलता बालपन पर ध्यान नहिं टुक देयँगे।
सब भाँति अबल अजान लखि अपनी शरण में लेयँगे ॥ २ ॥

पद

हरचो मम पीर दरश गुरु दइके ॥ टेक ॥

अमृतमय उपदेश सुनायो, दुर्गुण दूरि करइके ।
तृष्णा चाह को ताप मिटायो, उर सन्तोष जुड़इके ॥ १ ॥
डूबत रह्यों मोह के सागर, अहं तरंग समइके ।
गहि कैं बाँह उबारचो मोको, जग दुखद्वन्द्व नशइके ॥ २ ॥
अपने बाद जगत यह चंचल, नहिं कछु स्ववश रहइके ।
तेहि अभिमान लख्यों अब मिथ्या, तव पारख पद लइके ॥ ३ ॥
हानि लाभ सुख दुख सब मिथ्या, परख में लक्ष्य करइके ।
अजर अमर अमृत पद पायों, सब अभिलाष पुरइके ॥ ४ ॥

पद

अब नहिं चाहिये कछु औरि ॥ टेक ॥

धाम धन धरणी धवल, धामिन सकल सुख सौरि ।
तरुण तनु तनुजा तनय, तामिस्र अन्तक कौरि ॥ १ ॥
रज्जु अहि भासत धरणि, जल पाइ किरण तमोरि ।
पञ्च विषय पयूष ह्यूँ, पाये अविद्या घोरि ॥ २ ॥
विमल दृष्टि उघारि गुरु, दीन्ह्यों परम पद पौरि ।
सर्व को साक्षी सर्व पर, परख पारख ठौरि ॥ ३ ॥
जग सुषुप्ति समान निज से, दूरि कोस करोरि ।
पूर्णकाम असंग अविचल, रूप सच्चिद् मोरि ॥ ४ ॥
सर्व भाँति अघाइ जग से, नाथ शरणा तोरि ।
चहत तव अभिलाष दाया, देहु बन्धन छोरि ॥ ५ ॥

सातों पाठ चारों प्रकरण सहित सद्ग्रंथ विवेक प्रकाश सटीक गुरु की दया से सम्पूर्ण समाप्त



प्रकरण-फल-छन्द

कथनी किये नहिं काम पूरा
जो रहस्य न धारिए ।
यहि हेतु संसृति जानि जग
अब आप धाम पधारिए ॥
मन वेग सुख आसक्ति वो
जड़ ग्रन्थि वेग निवारिए ।
सब ओर से मुख फेर कर
बस आप आप सम्हारिए ॥ १ ॥

सोरठा

गुरु रहस्य बिन जीव,
चंचल मन प्रतिक्षण रहत ।
याते तेहि को कीव,
और काम नहिं मनुज कर ॥ १ ॥
स्वप्न खेल जगमेल,
जगत भेष क्षण में छुटत ।
सकल मान मद ठेल,
थीर होउ गुरु परख महँ ॥ २ ॥



सद्गुरु कबीर के उपदेश

कबीर गर्व न कीजिये, काल गहे कर केश।
ना जानौ कित मारिहैं, क्या घर क्या परदेश ॥१॥
कबीर गर्व न कीजिये, इस जोबन की आश।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास ॥२॥
कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुँइ लेटना, ऊपर जमसी घास ॥३॥
कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटी हाड़।
हय बर ऊपर छत्र तट, तो भी देवें गाड़ ॥४॥
कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय ॥५॥
कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह।
दिवस चारि का पेखना, अन्त खेह की खेह ॥६॥
कबीर सपने रैन के, उघरी आये नैन।
जीव परा बहु लूट में, जागूँ लेन न देन ॥७॥
कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंग न भूल ॥८॥
पानी केरा बुदबुदा, इस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायँगे, ज्यों तारा परभात ॥९॥
रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥१०॥
सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥११॥
कुल खोये कुल ऊबरे, कुल राखे कुल जाय।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय ॥१२॥

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल ॥१३॥
दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की साँस से, लोह भसम ह्वै जाय ॥१४॥
कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख उपजै, और ठगे दुख होय ॥१५॥
ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपुहि शीतल होय ॥१६॥
आवत गारी एक है उलटत होय अनेक।
कहैं कबीर नहिं उलटिये, वही एक ही एक ॥१७॥
जो कोइ समझै सैन में, तासों कहिये बैन।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कछु न कैन ॥१८॥
तेरो बैरी कोइ नहीं, तेरा बैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली-गली कर सैल ॥१९॥
पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिख लिख भये जु ईंट।
कबीर अन्तर प्रेम की, लागी नेक न छींट ॥२०॥
पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल्ल।
काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल ॥२१॥
कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाव ॥२२॥
मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक ॥२३॥
दौड़त दौड़त दौड़िया, जहँ तक मन की दौड़।
दौड़ि थका मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर ॥२४॥



श्री कबीर मंदिर बड़हरा, सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब के आधार में प्रकाशित धार्मिक, सरल हिन्दी पुस्तकें :—

सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कृत :—

१. विवेक प्रकाश मूल —साखी, शब्द, कवित्तादि गायन योग्य १.००

२. रहनि प्रबोधिनी मूल —साखी, शब्द, कवित्तादि गायन योग्य .४०

३. बोधसार मूल—साखी, शब्द, कवित्तादि गायन योग्य .६०

४. गुरु पारख बोध मूल —दोहा-चौपाई

श्री निर्बन्ध साहेब कृत :—

१. भजन प्रवेशिका—

गायन करने योग्य सौ से अधिक भजनों का गुटका .६७

अभिलाष दास कृत :—

१. बीजक सटीक (पारख प्रबोधिनी)—

शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या एवं अन्तर कथायें पक्की जिल्द प्लास्टिक कबर सहित १२.००

२. बीजक शिक्षा—

बीजक के उपदेशात्मक पदों पर विस्तृत व्याख्या शिक्षाप्रद ग्रन्थ पक्की जिल्द ५.००

३. विवेक प्रकाश सटीक —

गृहस्थी, विरक्ती, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी के योग्य सवासौ कथाओं तथा अनेक भजनों के सहित (पक्की जिल्द) १०.००

४. रहनि प्रबोधिनी सटीक —

सरल व्याख्या, २१७ प्रश्नोत्तर सामान्य से उच्चतर विषयों पर विशद विवेचन चौसठ सद्गुण सदाचरणों पर व्याख्या पक्की जिल्द ३.५०

५. बोधसार सटीक —

छः प्रकरणों में, सरल टोका सौ से ऊपर चित्ताकर्षक दृष्टांत, सादा २.६८ पक्की जिल्द ३.४८

६. कबीर अमृत वाणी सटीक—

गुरु कबीर की बारह सौ से भी अधिक साखियों पर सरल टीका ६१ विषयों पर विशद विवेचन सादा २.६८ पक्की जिल्द ३.४८

७. मानस मणि सटीक—
रामायण के २३ पात्रों—श्री राम, श्री भरत आदि के जीवन से शिक्षाओं का संग्रह, मूल पद की सरल टीका सर्वोपयोगी

८. श्री राम-लक्ष्मण प्रश्नोत्तर शतक सटीक—
विश्राम सागर से सौ उपदेशात्मक प्रश्नोत्तरों का संकलन
क्रमांक ७-८ दोनों पुस्तकें एक जिल्द में — २.००

९. तुलसी पंचामृत सटीक—
गोस्वामी तुलसीदास जी के 'सतसई' 'दोहावली' 'कवितावली' 'विनय पत्रिका' 'वैराग्य संदीपनी' का सार संग्रह सरल टीका — १.८०

१०. वैराग्य संजीवनी—
वैराग्यवर्धक छन्दों में अन्त में गायन योग्य पद भी है,
पक्का जिल्द २.००

११. सरल शिक्षा—
चाणक्य नीति, विदुर नीति, भर्तृहरि नीति आदि के वचन — २.००

१२. स्त्री बाल शिक्षा—हर श्रेणी की नारियों के लिये — १.६०

१३. कल्याण पथ—
५४ स्वतन्त्र लेख साधकों के लिये — सादा २.५० — पक्की जिल्द ३.२०

१४. कबीर पन्थी जीवन चर्या—
उन्तीस प्रकरणों में कबीर पंथ के दर्शन और आचार की व्याख्या १.००

१५. जगन्मीमांसा—
यह दार्शनिक ग्रन्थ है। वेद, कुरान, बाइबिल की सृष्टि पर आलोचनायें स्वतन्त्र पारख विचार से जगत् की अनादिता निरूपण — २.००

१६. आप किधर जा रहे हैं ?—
४० श्रेणियों के मनुष्यों को शिक्षा सर्वोपयोगी — १.००

१७. भजनावली—
डेढ़ सौ से अधिक भजन गुटका साइज — ०.८०

१८. हितोपदेश समाधान—
जिज्ञासु और महात्मा का सम्वाद — ०.६०

१९. अहिंसा शुद्धाहार—
हिंसा-मांसाहार का समुचित खण्डन — ०.६७

२०. आदेश प्रभा—
आठ बड़े-बड़े हरिगोतिका छन्द सर्वांगणीय उपदेश ०.४०

२१. सन्त महिमा बड़ी—आलोचनात्मक विशद विवेचन ०.६०

२२. सन्त महिमा छोटी—
बड़ी का पहला प्रकरण आलोचनात्मक गुटका ०.२०

२३. सरल बोध—
तत्व प्रकृति आदि जानने योग्य सौ से अधिक बातें ०.२५

२४. मैं कौन हूँ ?—अपने वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये ०.४०

२५. सन्त वचनामृत—जीवन में उतारने योग्य पचास उत्तम बातें ०.१६

२६. सन्त सम्राट सद्गुरु कबीर—
४८ गणमान्य विद्वानों के विचार एवं बीजक सटीक की भूमिका २.४०

२७. गुरु पारख बोध सटीक—अनेक शंकाओं का समाधान १.३५

२८. बीजक मूल—सद्गुरु कबीर की अन्यतम देन, प्रेस में

२९. ब्रह्मचर्य जीवन—ग्यारह अध्यायों तथा सैकड़ों प्रसङ्गों में ३.००

३०. कबीर कौन ?—कबीर साहेब के जीवन, दर्शन तथा विचार पर ०.४०

डा० नीलमणि कृत—

१. पुष्पांजली—
गाने योग्यपद

२. जीवन गीत—
जीवन दास, सजीवन दास ०.१६

उपर्युक्त पुस्तकें मँगाने के तीन पते :—

१ रामलाल जी वस्त्र विक्रेता
मु० पो० बभनान
जि० बस्ती (उ. प्र.)

२ बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर
राजादरवाजा वाराणसी १

३ सन्तसेवक कमल सिंह
मु० दर्रा, पो० पटेवा
व्हाया-नवापारा (राजिम)
जि० रायपुर (म० प्र०)

आपा तजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार।
सब जीवन से निर्वैर रहै, साधु मता है सार॥बी०॥

भावार्थ—अभिमान को तज देवे; माया की आसक्ति मिटा डाले; गुरु की सेवा करे तथा स्वरूपज्ञान का चिन्तन करे; नख से शिखा तक के सम्पूर्ण दुर्गुणों को शोध-शोध करके ध्वंस करे; सब प्राणियों से वैर-विरोध त्याग कर उदासीन हो रहे और शील स्वभाव को धारण करे तब स्वस्वरूप—बोध-स्थिति की प्राप्ति होती है।